ओ३म्

गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्

भाष्यकारः

श्री पं॰ क्षेमकरण दास त्रिवेदी

सम्पादिके

प्रज्ञा-मेधे

॥ ओ३म् ॥

गोपथब्राह्मण-भाष्यम्

आर्यभाषायामनुवादः भावार्थादिसहितम्

संस्कृते-व्याकरण-निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितम्

श्रीमद्राजाधिराज-प्रथित-महागुणमहिमधीर-वीर-चिरप्रतापि-श्री सयाजीराव-
गायक-वाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत-श्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्
ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन

श्री पं० क्षेमकरणदासत्रिवेदिनाथर्ववेदभाष्यकारेण

विरचितम्

सम्पादिके

आचार्या डॉ० प्रज्ञा देवी **मेधा देवी व्याकरणाचार्या**

ग्रन्थ-प्राप्तिस्थानम्—
(१) पाणिनि कन्या महाविद्यालय, तुलसीपुर वाराणसी-५, दूरभाषः ५४८६५
(२) चौखम्बा विद्या भवन, पो. बा. नं. ६९ वाराणसी
(३) मधुर प्रकाशन २८०४, सीताराम बाजार दिल्ली-६
(४) अमर स्वामी प्रकाशन, दयानन्द नगर गाजियाबाद

प्रकाशकः—
डॉ० इन्द्रदयाल सेठ, पी-एच० डी०
अथर्ववेद-भाष्य कार्यालय
३४ लूकरगञ्ज, इलाहाबाद

मुद्रकः—
विष्णु प्रेस
कतुआपुरा, वाराणसी

द्वितीय-संस्करणम् : १९७७
१००० प्रति

मूल्यम्—४०.००
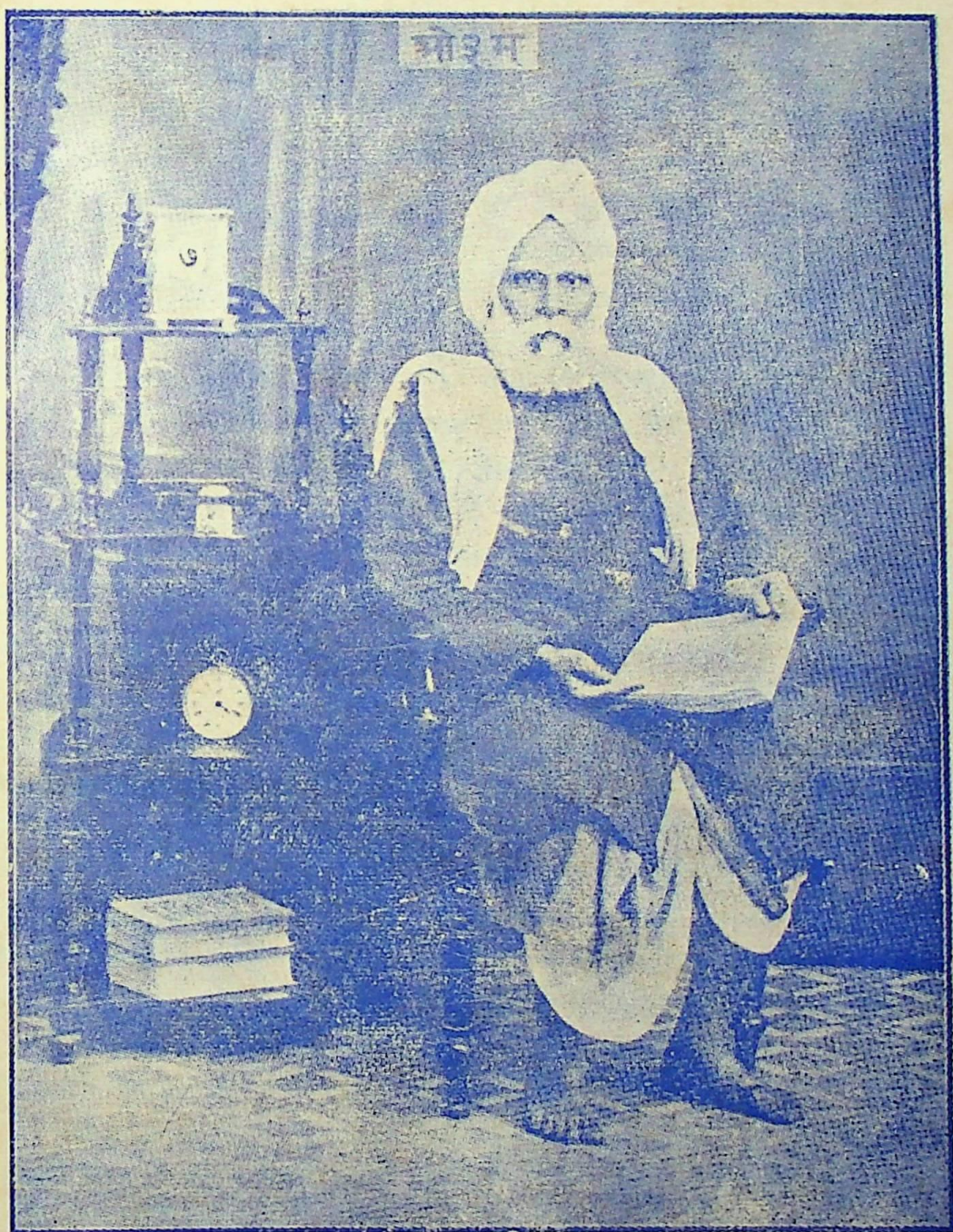
भाष्यकारः

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

सम्पादकीय

वैदिक वाङ्मय की परम्परा में अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण स्थान सर्वसम्मत है। जिस प्रकार कालक्रम से वैदिक ज्ञानधारा विलुप्त विच्छिन्न होती हुई आज भी अपने कुछ अवशेषों द्वारा अपने चिरजीवित होने का तथा देदीप्यमान अतीत का प्रमाण दे रही है, इसी रूप में गोपथ ब्राह्मण की इस समय उपलब्धि समझनी चाहिये। जब कि सहस्रशः दुर्लभ ग्रन्थ अपने नामावशेष के रूप में ही इस समय जीवित हैं तो गोपथ का मूल रूप में उपलब्ध होना सचमुच ही सौभाग्य की बात है, यद्यपि वर्त्तमान में उपलब्ध ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मणों की तुलना में यह सर्वाधिक उपेक्षित ब्राह्मण ग्रन्थ है ऐसा निश्चित रूप से उसके बहुसंख्य भ्रष्टपाठों, मूल संस्करणों की न्यूनताओं एवं इसके किसी भी भाष्य की अनुपलब्धि को देखकर कहा जा सकता है। महाभाष्य में [1]'नवधा अथर्वणः' कहकर अथर्ववेद की नौ शाखायें थीं ऐसा प्रकट किया गया है। इन सभी शाखाओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे होंगे, ऐसी पूर्ण सम्भावना है पर अब तो अथर्व की दो शौनक एवं पैप्पलाद शाखायें ही प्राप्त हैं नौ शाखाओं के नौ ब्राह्मणों की तो बात ही क्या? इस प्रकार अथर्ववेद जिसे ब्रह्मवेद[2] भी कहते हैं, उसका इकलौता जीवित ब्राह्मण होने के कारण इसकी उपादेयता एवं सुरक्षणीयता को कौन अस्वीकार कर सकता है।

यह अथर्ववेद का ब्राह्मण है, यह तथ्य इसके वर्णनों से भी प्रकट हो जाता है। इस ग्रन्थ के कई स्थानों पर अथर्व की उपयोगिता तथा महनीयता सिद्ध करने के लिये कई आख्यान दिये गये हैं।[3] उनका सार यही है कि जो कार्य ऋक्, यजु, साम इन तीनों वेदों से सम्पन्न नहीं हो सका वह अथर्व ने कर दिखाया अतः यह परम उपादेय है, पुनरपि गोपथ ब्राह्मण के अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह भी मानना होगा कि जिस शौनक शाखा वाला अथर्व आज उपलब्ध है उस शाखा का यह ब्राह्मण नहीं है। उपलब्ध गोपथ ब्राह्मण पैप्पलाद शाखा का है। पैप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवीरभिष्टये....' से प्रारम्भ होता है किन्तु शौनक शाखा में ऐसा नहीं। गोपथ ब्राह्मण में "शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते"[4] ऐसा कहा है इससे स्पष्ट पता चलता है कि यह पैप्पलाद शाखा वाले अथर्व का ही ब्राह्मण है।

ज्ञानकाण्ड वाला होने के कारण विषय की दृष्टि से अथर्ववेद का अन्तर्भाव प्रायः ऋग्वेद में ही हो जाता है अतः प्राचीन ग्रन्थों में 'त्रयो वेदाः' ऐसा कहने की परिपाटी है। प्रस्तुत ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कतिपय स्थलों में तीन वेद बताये हैं[5] किन्तु एक[6] स्थल

---

१. महाभाष्य १। १। १ पस्पशाह्निक

२. यज्ञकार्य के समय ब्रह्मा का ही यह प्रमुख वेद माना गया है अतः ब्रह्मवेद अथर्ववेद की संज्ञा हुई।

३. द्रष्टव्य गो० पू० २। १८–१९

४. गो. पू. १। २९

५. स त्रींन् वेदान् अभ्यश्राम्यत् गो. पू. १। ६

६. गो. पू. १। २९

पर स्पष्ट रूप से अथर्व को मिलाकर चार वेद बताये हैं। यह अथर्व के पृथक् अस्तित्त्व का प्रतिपादन उसकी अपनी महत्ता का ज्ञापन ही है, इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण ने अथर्ववेद के महत्त्व को बढ़ाया है यह कहा जा सकता है।

इस ब्राह्मण में अथर्व का उल्लेख करते समय 'अथर्वाङ्गिरस्' शब्द का प्रयोग बार-बार देखा गया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि अङ्गिरस् ऋषि में ही अथर्ववेद का प्रकाश हुआ है।

गोपथ का काल—यह गोपथ ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कहीं भी उदात्तादि स्वरों का प्रयोग नहीं प्राप्त होता, तथा इसकी भाषा में वैदिक शब्दों एवं निपातों का भी उतना प्रयोग नहीं है। ग्रन्थ की भाषा शैली एवं वाक्य-विन्यास भी इस प्रकार का प्रतीत होता है कि इसकी रचना काल तक संस्कृत भाषा की व्यापकता में न्यूनता आ चुकी थी, यह सब इसकी अर्वाचीनता का ही द्योतक है।

इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, जिन्हें कई स्थान पर "तदप्येतदृचोक्तम् इति ब्राह्मणम्[1]" कहकर प्रस्तुत किया गया है। इनमें सर्वाधिक उद्धरण ऐतरेय ब्राह्मण के हैं जिसे इसी भाष्य में अनुपद मूल संकेत देते हुये दिखा दिया गया है, इस प्रकार यह अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा अर्वाचीन है ऐसा प्रतीत होता है, निश्चित रचना काल बता सकना तो इस ग्रन्थ के ग्रन्थकर्त्ता के ज्ञान के समान ही व्यर्थ प्रयास है।

गोपथ ब्राह्मण का विषय—जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य यज्ञ निष्पत्ति, याज्ञिक-प्रक्रियाओं द्वारा विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करना है तदनुसार इस ब्राह्मण ग्रन्थ में भी मुख्य प्रतिपाद्य याज्ञिक प्रक्रिया ही है। अथर्ववेद में आधि-व्याधि नाश एवं भैषज्य-कर्म का बाहुल्य है पर गोपथ में अथर्व के इस प्रमुख विषय को छुआ भी नहीं गया, इसका कारण ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञ प्रतिपादन परिपाटी ही है। यज्ञ प्रतिपादन में बहुत सी आख्यायिकाओं एवं कण्डिकाओं के भाग तद्वत् अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत ग्रन्थों से लिये गये हैं, जिनमें अधिक भाग ऐतरेय ब्राह्मण का है। 'ओ३म्' की विवेचना या अन्य वर्णनों में इस ब्राह्मण ने व्याकरण तथा उपनिषद् से भी कुछ ऋण लिया है। इस प्रकार कुछ सुभाषितादि एवं अथर्व की प्रशंसा-परक आख्यान ही इस ब्राह्मण के अपने अंश कहे जा सकते हैं।

ग्रन्थ के पूर्वभाग के प्रारम्भ में ही 'ओ३म्' की महिमा विस्तृत रूप से गाई गई है। ओ३म् के इस वर्णन में माण्डूक्य तथा छान्दोग्य उपनिषद् का बहुत सा अंश वर्त्तमान है। एक विशेषता यह है कि इस ब्राह्मण में ओम् को द्विवर्ण तथा चतुर्मात्र माना है[2]। एकमात्रिक "अ" तथा द्विमात्रिक "ऊ"=ओ एवं म् ये चार मात्रायें हैं इन चारों मात्राओं से जगत् के विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति बताई गई है, पर माण्डूक्य आदि उपनिषदों में तो इसे तीन ही मात्रा वाला बताया गया है। सम्भवतः माण्डूक्य के 'सोऽयमात्मा चतुष्पा[3]त्'

---

१. द्र. गो. पू. ५। ५॥ यह अंश श. ब्रा. १२। ३। २। ७ से तुलनीय है।

२. द्रष्टव्य गो. पू. १। १६

३. माण्डूक्य उपनिषद् १। २

इस वचन के द्वारा चतुष्पात् आत्मा को मानने के कारण ओ३म् को चतुर्मात्र मानना उचित समझा हो, इसी प्रसङ्ग में ओम् की प्रकृति प्रत्ययादि के विषय में ३६ प्रश्न किये गये हैं तथा उनके उत्तर भी दिये गये हैं, जो बहुत ही रोचक हैं।

इस प्रकरण में ओंकार के सम्बन्ध में दो आलङ्कारिक मनोरञ्जक आख्यायिकायें उद्धृत करते हुये यह भी सिद्ध किया गया है कि उच्चारण करते समय प्रत्येक मन्त्र से पूर्व ओ३म् को बोलना चाहिये[1]।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचारी का महत्त्व तथा उसके कर्त्तव्यों का विवेचन बहुत ही उत्तमता से हुआ है। इन वर्णनों के मध्य में अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य-सूक्त की ऋचाओं को पुष्टचर्थ उद्धृत किया गया है। यहाँ वर्णित ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन प्रमुख रूप से तैत्तिरीय उपनिषद् से तुलनीय है। इसी प्रकरण में ब्रह्मचारी को गृहपत्नी द्वारा भिक्षा न दिये जाने पर उस गृहपत्नी का पुण्य-कर्म[2] और धनादि का नष्ट होना लिखा है,[3] इस प्रकार ब्रह्मचारी को भिक्षा देना अत्यावश्यक है यह बताया गया है[4]। आज के युग में यह बड़ी उत्तम सीख है। ब्रह्मचारी के लिये चारों वेदों का अध्ययन अत्यावश्यक है अतः प्रत्येक वेद के पढ़ने के लिये बारह-बारह वर्ष बाँट देने पर ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य आवश्यक है, यह बात भी इस प्रकरण में कही है।

इसके आगे अन्त तक यज्ञों का ही वर्णन है। बीच-बीच में यज्ञों के विभिन्न अवयवों का वर्णन करते समय आख्यायिकायें भी दी गई हैं। दर्शपौर्णमास तथा अन्य छोटे यज्ञों के साथ-साथ अग्निष्टोम आदि बड़े-बड़े सोमयागों की भी चर्चा है तथा उस सम्बन्ध में बहुत सी बातें आख्यायिकाओं के माध्यम से बताई गई हैं।

ग्रन्थ में कतिपय स्थलों में मांस अभक्षण की भी चर्चा है। इससे पता चलता है कि वैदिक सिद्धान्तानुसार ग्रन्थकार का आशय भी मांस को अभक्ष्य मानने में ही है। जिन किन्हीं वाक्यों से ऐसा भ्रम होता भी है उनका भाष्यकार ने समुचित अर्थ प्रदर्शित कर दिया है या उसे प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है।

एक स्थल पर बहुपत्नीवाद की गन्ध की प्रतीति होने पर भाष्यकार ने स्पष्ट उसे अवैदिक कहकर अपना अभिमत प्रकाशित किया है। हमने वहाँ टिप्पणी देकर यह स्पष्ट किया है कि वहाँ साम और ऋक् की आलंकारिक चर्चा है न कि लौकिक पति-पत्नी की। वस्तुतः किन्हीं ब्राह्मणों में ऐसे स्थलों पर बहुपत्नीत्व की चर्चा भी उपलब्ध हो तो वह उस

---

१. क—"न माम् अनीरयित्वा ब्राह्मणाः ब्रह्म वदेयुः, यदि वदेयुः अब्रह्म तत् स्यादिति" ॥ गो. पू. १ । २३ ॥ ख—"मामिकामेव व्याहृतिमादितः आदितः कृणुध्वम् इत्येवं मामका आधीयन्ते······तस्मात् ब्रह्मवादिनः ओंकारमादितः कुर्वन्ति" ॥ गो. पू. १ । २८ ॥

२. "तस्मात् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां दद्यात् गृहिणी मामेयमिष्टापूर्त्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति ॥ गो. पू. २ । ६ ॥

३. द्र. गो. पू. २ । ६ ॥

४. भिक्षा न देने से गृहपत्नी के पुण्य-कर्मों का इसलिये नाश होता है कि इससे तपस्वी ब्रह्मचारी का अपमान है। मनु महाराज ने तो यह भी कहा है (मनु० २ । ५०) कि जो भिक्षा देने से मना करने वाला कन्जूस प्रवृत्ति का हो उससे भिक्षा ब्रह्मचारी माँगे ही नहीं ॥

समय के गिरे हुये काल के अनुसार इतिहास पर आधारित विवरण ही होना चाहिये। इस प्रकार के विवरणों से वैदिक सिद्धान्त दूषित नहीं होता। ऐतिहासिक विवरणों के आधार पर धर्म की गति का निर्धारण नहीं होता है क्योंकि इतिहास का कार्य तो अतीत में घटित तथ्यों का संकलन मात्र है उसमें तो अच्छे बुरे सभी वृत्तान्त होंगे, उन सभी को धर्म में कैसे गिना जा सकता है? अतः ऐसे तथ्यों को धार्मिक तथ्यों के रूप में लेना ही नहीं चाहिये।

गोपथ ब्राह्मण तथा ज्योतिष—गोपथ ब्राह्मण में यथावसर ज्योतिष एवं खगोल विद्या की भी बातें आई हैं जिनसे कई वैदिक तथ्यों का महत्त्वपूर्ण उद्घाटन होता है।

ऋतु, संवत्सर तथा मासों का वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है[1]। यहाँ ३, ६ अथवा ७ ऋतुयें भी मानी गई हैं। स्पष्टतः यह उस समय के प्रचलित विभिन्न मत हैं। इसी प्रसङ्ग में १२ मासों की चर्चा भी हुई है। यद्यपि उनके नामों का विवरण इसमें नहीं है। बिना कोई नाम लिये १३ वें [2]अधिमास का भी वर्णन हुआ है अर्थात् १२ अथवा १३ मास के वर्ष का उल्लेख है।

ज्योतिष से सम्बन्धित एक प्रसङ्ग यहाँ अत्यन्त उद्धरणीय है—एक स्थान पर 'फल्गुनी पौर्णमासी' का नाम लिया गया है इससे ज्ञात होता है कि चित्रा, विशाखादि नक्षत्रों के नाम से पूर्णमासी तथा मासों के नाम रखने की परम्परा तब प्रारम्भ हो चली थी।[3]

इसी वाक्य का पूरा उद्धरण यह कहता है—कि फल्गुनी पौर्णमासी ही संवत्सर का मुख है।[4] यह उद्धरण ज्योतिर्विदों के लिये अतीव ध्यातव्य है। आज तो वर्ष का प्रारम्भ फाल्गुन पौर्णमासी के अनन्तर होता है। यह उचित नहीं जँचता। जब से नये मास का प्रारम्भ हुआ है तब से ही नये वर्ष का प्रारम्भ मानना चाहिये। चैत्र का प्रारम्भ १५ दिन बाद तथा वर्ष का प्रारम्भ १५ दिन पूर्व होने में कोई औचित्य या सामञ्जस्य नहीं लगता पर गोपथ ब्राह्मण के इस महनीय वाक्य से यह संकेत मिलता है कि वर्ष का प्रारम्भ भी चैत्र मास के प्रारम्भ के साथ ही अर्थात् फल्गुनी पौर्णमासी के ठीक अनन्तर माना जाता था। यही ज्योतिष की दृष्टि से तर्क संगत भी है। बाद के समय में १५ दिन की यह भूल कब से प्रारम्भ हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ में एक स्थान पर उत्तरायण तथा दक्षिणायन का भी वर्णन है जो कि अन्य प्राचीन ग्रन्थों से तुलनीय है[5]। इसमें ही एक यह भी उद्धरण है कि पृथ्वी गोल है

---

१. द्रष्टव्य गो. पू. ५। ५॥

२. यजुर्वेद २२। ३१ में अधिमास = मलमास की अंहसस्पति संज्ञा है। ऋग्वेद १। २५। ८ में १२ मास एवं १३ वें लौंद मास का स्पष्ट उल्लेख है॥

३. वेद में १२ मासों के नाम इस प्रकार आये हैं—"मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ, नभस्य, इष, ऊर्ज, सह, सहस्य, तप, तपस्य" (यजु० २२। ३१) इन दो-दो मासों के जोड़े वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर इन छः ऋतुओं के द्योतक हैं॥

४. "एतद्वै संवत्सरस्य मुखं यत् फल्गुनी पौर्णमासी" · · "द्र. गो. उ. १। १९॥

५. द्र. गो. उ.६।६ यह तैत्तिरीय संहिता ६। ५। ३ से तुलनीय है॥

तथा घूमती है । सूर्य कभी छिपता नहीं, अपितु घूमती हुई पृथिवी के ओट में पड़ जाता है[१] ।

गोपथ में आये कुछ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ—निरुक्त के अनुसार गोपथ ब्राह्मणकार भी "अर्थनित्यः परीक्षेत" (निरु० २ । १) के पूर्ण समर्थक हैं। निरुक्तकार ने जिस प्रकार निर्वचन के सम्बन्ध में "अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्" का सिद्धान्त स्थिर किया है, उसका पूर्ण अनुसरण ग्रन्थकार करते हैं ।[२]

प्रस्तुत ग्रन्थ में आयी कुछ मार्मिक शब्द व्युत्पत्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

(क) सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते (गो. पू. १ । १) यहाँ एक कथा के आधार पर बताया गया है कि सुवेद अर्थात् वेद के अच्छे जानकार होने से ही पसीने को स्वेद कहा जाता है। वेदाभ्यास करने पर पसीना निकला वह पसीना ही उसके वेदाध्ययन का परिचायक या प्रतीक था अतः वह पसीना ही 'सुवेद' होने से अन्ततः वह स्वेद बन गया।

(ख) तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते (गो. पू. २ । २१) यहाँ रसपूर्ण अर्थात् आनन्द पूर्ण होने से ही इसकी रथ संज्ञा बताई गई है।

(ग) श्रेष्ठां धियं क्षियतीति दीक्षितः (गो पू. ३ । १९) अर्थात् श्रेष्ठ बुद्धि का ज्ञापक होने से दीक्षित संज्ञा है। यहाँ "धीक्षित" ही दीक्षित है।

(घ) छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति (गो. उ. २ । ५) ॥ यह यज्ञार्थक 'मख' शब्द की अतीव उपयोगी तथा सुन्दर व्युत्पत्ति है, इसमें बताया है कि 'ख' का अर्थ छिद्र है; इसका 'मा' शब्द द्वारा प्रतिषेध किया है, अर्थात् ऐसा कृत्य जो कि सभी छिद्रों या अशुद्धियों से विरहित हो। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ में कोई अशुद्धि या भूल न होनी चाहिये।

(ङ) अथर्ववेद के प्रसिद्ध कुन्ताप सूक्त के कुन्ताप शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति प्रस्तुत है—'कुयं वै नाम कुत्सितं तद्यत्तपति, तस्मात् कुन्तापः' (गो. उ. ६ । १२) स्पष्टतः यह अन्वर्थ व्युत्पत्ति है।

(च) गो. उ. ३ । २० में साम शब्द की सुन्दर व्युत्पत्ति की गई है। इसमें सा + अम यह पदच्छेद बताया गया है। वस्तुतः यह व्युत्पत्ति इससे पूर्व की बृहदारण्यकोपनिषद् ६ । ४ । २० से तुलनीय है।

गोपथ ब्राह्मण के सुभाषित—प्रस्तुत ब्राह्मण में कुछ बड़े ही मार्मिक सुन्दर सटीक सुभाषितों का प्रयोग किया गया है। जिसके कुछ उदाहरण पाठकों के रसास्वादनार्थ प्रस्तुत हैं—

(क) "परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः" (गो. पू. १ । १)।

अर्थात् देवता ज्ञानी पुरुष परोक्ष से प्रेम करते हैं तथा प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले होते हैं। यह उस अचिन्त्य शक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह ईश्वर परोक्ष होकर भी प्रिय है तथा अन्य दृश्यमान भौतिक पदार्थ प्रत्यक्ष होकर भी द्वेष-योग्य हैं।

---

१. द्र. गो. उ. ४ । १०॥

२. द्र. "रूपसामान्यादर्थसामान्यात्" ॥ गो. पू. १ । २६ ।

(ख) 'यज्ञे अकुशला ऋत्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्मचर्यमपराग्या वा तद्वै यज्ञस्य विरिष्टम् इत्याचक्षते' (गो० पू० १।१३)

यहाँ यज्ञ के सम्बन्ध में कहा कि यदि यज्ञ में ऋत्विज् अकुशल, ब्रह्मचर्य धारण न करने वाले, वैराग्य रहित होते हैं तो यज्ञ का नाश हो जाता है। इसके आगे भी इस कण्डिका का सम्पूर्ण भाग अत्यन्त ही द्रष्टव्य है जिसमें वड़ी मनोरञ्जकता से यह स्पष्ट किया है कि ऋत्विजों के अकुशल अयोग्यय होने पर किस प्रकार क्रमशः ऋत्विज्, यजमान, ऋत्विजों की दक्षिणायें यजमान के पुत्र-पशु एवं योग-क्षेम सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यज्ञ में श्रेष्ठ सदाचारी ऋत्विज् अवश्य होने चाहियें।

(ग) 'यथा आमपात्रम् उदक आसिक्ते निर्मृज्येत् एवं यजमानाः निर्मृज्येरन्' (गो० पू० ४।१३)।

यहाँ भी संवत्सर एवं महाव्रत का वर्णन करते हुये ऋत्विजों की पात्रता के सम्बन्ध में कहा है कि ऋत्विज् तेजस्वी, सत्यवादी संशितव्रत होने चाहियें, जो ऐसे नहीं होते उनके द्वारा कराया हुआ यज्ञ ऐसे ही नष्ट हो जाता है जैसे कच्चे मिट्टी के घड़े में भरा हुआ जल घड़े के टूट जाने कें कारण बह जाता है, यजमान का यज्ञ भी इसी प्रकार बह जाता है नष्ट हो जाता है।

(घ) 'कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते, नैव शस्यं निर्वर्त्तयति' (गो० पू० २।२३)

अर्थात् घड़े में मिट्टी के ढेले के डालने पर उसका उपयोग न तो सफाई के लिये हो पाता है, न ही उससे धान्य सम्पत्ति हो पाती है इसका तात्पर्य यही कि उपयोगी वस्तु का भी यदि अस्थान में प्रक्षेप कर दिया जाय तो उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

(ङ) 'एनं पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति उपोत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति य एवं वेद स वा एष संवत्सरः' (गो० पू० ४।१७)।

यहाँ यह बताया है कि पहली अवस्था में पिता के सहारे पुत्र जीता है किन्तु पिछली अवस्था = बुढ़ापे में पिता पुत्रों के सहारे जीता है जो यह समझता है वही संवत्सर यज्ञ का वेत्ता है। वस्तुतः बुढ़ापे में माता-पिता की सेवा ही वास्तविक श्राद्ध एवं तर्पण है इस विषय में यहाँ बड़ा हृदयग्राही प्रकाश डाला गया है।

(च) 'परिमितं भूतम् अपरिमितं भव्यम्' (गो० उ० ५।३)

अर्थात् भूत सीमित है परन्तु भविष्य असीम है इसलिये किसी बुरे कार्य के कर लेने पर केवल सदैव दु:ख ही करते रहने की आवश्यकता नहीं है अपितु वर्त्तमान को सुधार कर भविष्य बनाने की चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि भविष्य असीम है। निराशा में डूबे हुये व्यक्ति के लिये ये वाक्य आशा-सञ्चाररूपी औषध है।

गोपथ की मूल पाठगत अशुद्धियाँ—प्रस्तुत गोपथ ब्राह्मण के भाष्यकार श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी के समक्ष भाष्य करते समय एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से सन् १८७२ में प्रकाशित श्री पं० राजेन्द्रलाल मित्र सम्पादित गोपथ मूल की प्रति एवं

सन् १८९१ में प्रकाशित श्री पं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता द्वारा सम्पादित मूल गोपथ की प्रति ये दो ही संस्करण उपलब्ध थे। श्री मित्र जी के पास गोपथ मूल की हस्त-लिखित प्रतियों का प्रायः अभाव होने से इस सर्वप्रथम प्रकाशित संस्करण में अशुद्धियों की भरमार है। थोड़ा भी अर्थ के विचार करने पर जिन पाठों को शुद्ध या सम्भावित कह कर टिप्पणी में दिखाया जा सकता था, वह भी नहीं किया गया। बीच-बीच में कई-कई पंक्तियाँ त्रुटित एवं च्युत हैं[1]। इस विषय में श्री जीवानन्द जी विद्यासागर ने भी मित्र संस्करण का ही प्रायः अनुकरण किया है। पाठ भ्रष्टता की दृष्टि से दोनों ही संस्करण प्रायः एक जैसे हैं।

यतः भाष्यकार अपने भाष्य से पाँच वर्ष पूर्व १९१९ में E. J BRILL, LEIDEN में छपे Dr. DIEUKE GAASTRA द्वारा सम्पादित संस्करण से पूर्णतया अपरिचित हैं अतः पाठ के संशोधन में यह (जर्मन सस्करण) गोपथ का मूल संस्करण जो अतीव उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है उससे त्रिवेदी जी लाभ नहीं उठा सके हैं। निःसन्देह यह संस्करण यदि उन तक उस समय पहुँच पाता तो गोपथ मूल एवं भाष्य दोनों में ही अत्यन्त यथेष्ट परिवर्तन हो सकते थे। इस संस्करण में पूर्व दोनों संस्करणों की अपेक्षा पर्याप्त परिश्रम किया गया है, यद्यपि कुछ भ्रष्टपाठ एवं त्रुटित पाठ इस संस्करण में भी हैं पर वे इन दोनों संस्करणों की अपेक्षा से नगण्य ही हैं। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इतने भ्रष्ट मित्र संस्करण की सन् १९७२ में पुनः इन्डोलॉजिकल बुक हाउस द्वारा फोटो कॉपी करा ली गई है, जिससे अशुद्धियाँ तद्वत् रह गईं। अब तो जर्मन संस्करण को देखकर शुद्ध करके छपवाना चाहिये था। वैदिक ग्रन्थों के प्रति भारतीयों की यह उपेक्षा, उदासीनता, परिश्रम न्यून तथा धनोपार्जन एवं यश अधिक अर्जित करने की प्रवृत्ति बड़ी ही चिन्तावह है। व्यापारिक दृष्टिकोण के समक्ष आर्ष ग्रन्थों के संरक्षण का प्रश्न समाप्त-प्राय सा हो रहा है।

भाष्यकार ने यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मणादि से कण्डिकाओं का मिलान करके कुछ भ्रष्टपाठों को शुद्ध करने का प्रयास किया है परन्तु अधिकांश भ्रष्ट पाठों को आर्षशैली, आर्ष प्रयोग कहकर पूर्ववत् पाठ रहने दिया है। स्पष्ट लेखक प्रमाद द्वारा हुई त्रुटियों को भी "आर्षो ह्रस्वत्वम्" "आर्षो दीर्घः" इत्यादि कहकर वह उसे साधु सिद्ध कर देते हैं। ऐसे शब्दों की भाष्यगत शब्द सिद्धियों में भरमार है। प्रस्तुत संस्करण में जर्मन संस्करण के आधार पर ऐसे शब्दों का संशोधन करके प्रायः उनकी आर्ष-प्रयोगः भाषा को निकाल कर शब्द सिद्धियाँ ठीक कर दी गई हैं। यथासंभव ऐसे स्थलों में टिप्पणियाँ देकर पूर्व संस्करण के भ्रष्टपाठ को भी दिखा दिया गया है। यहाँ कुछ शब्दों के नमूने जिन्हें भाष्यकार द्वारा आर्ष-प्रयोगः कहा गया था, दिखाये जा रहे हैं—

आर्ष-प्रयोगः कहे हुये पाठ			शुद्ध परिवर्त्तित पाठ
विन्वन्ति	(आर्षरूपम्)	गो. पू. २ । १९	विदन्ति
विद्यूते	(ऊकारः आर्षः)	,, ,, १ । २७	विद्यते

---

१. गो. उ. २ । १३ प्रस्तुत संस्करण का पृष्ठ ३३५ पंक्ति २० यहाँ पूरी पंक्ति त्रुटित है।

आथर्वाणः	(आर्षो ह्रस्वः)	गो. पू. २ । २२	अथर्वाणः
कञ्चना	(आर्षो दीर्घः)	,, ,, ३ । १५	कञ्चन
वेदा	(आर्षो दीर्घः)	,, ,, ४ । ८	वेद
अतिरिच्येते	(आर्षप्रयोगः)	,, ,, ४ । १८	अतिरिच्यते
प्रश्नायेयुः	(आर्षरूपम्)	,, ,, ५ । २	प्रस्नायेयुः
ब्रह्मणस्याम्	(आर्षो ह्रस्वः)	,, ,, ५ । २४	ब्राह्मणस्योम्
तानूनप्तृत्त्वम्	(आर्षो दीर्घः)	गो. उ. २ । २	तानूनप्त्रत्त्वम्
बभूवुः	(आर्षं बहुवचनम्)	गो. पू. ३ । ८	बभूव

पाठाशुद्धि समझते हुए भी पाठान्तरों के अभाव में जो पाठ हमने तद्वत् रहने दिये हैं उनके कुछ उदाहरण निम्न हैं—

आर्ष-प्रयोगः कहे गये पाठ		अपेक्षित शुद्ध पाठ
शृण्विति	गो. पू. २ । २२	शृणोति
परिशिषेदेत्	,, ,, ३ । ५	परिषेधेत्
अद्यत्ति	,, ,, ३ । १०	अत्ति
प्रातर्यावद्भ्यः	,, ,, ४ । ७	प्रातर्यावभ्यः
आश्यन्नः	,, ,, ३ । १६	आश्यान्नः

यद्यपि पाठान्तरों के अभाव में बहुत से भ्रष्टपाठ समझते हुये भी हमने तद्वत् रख दिये हैं पुनरपि बहुत से ऐसे पाठ संशोधित भी किये हैं जो स्पष्ट रूप से व्याकरणानुसार असाधु थे इनकी व्याकरण प्रक्रिया भी हमने ठीक की है। इनके कुछ नमूने यहाँ प्रदर्शित हैं—

पूर्व संस्करण			प्रस्तुत संस्करण
मेहि	गो. पू. २ । २०	(मा+एहि=मैहि)	मैहि
प्रायच्छत्	,, ,, २ । २१	(अर्थसङ्गत्यनुसार)	प्रायच्छन्
तिष्ठन्	,, ,, २ । १६	(व्याकरणानुसारी)	अतिष्ठन्
अत्तुर्वै पुरुषः	,, ,, २ । १५	(जर्मन सं० में भी अभक्तर्तुर्वै पुरुषः पाठ है, [1]अभक्तुर्वै पुरुषः अर्थानुसार बदला है)	
पर्युपसीदेरन्	,, ,, २ । १४		पर्युपासीरन्

यहाँ षद्लृ धातु के परस्मैपद होने से पर्युपसीदेरन् नहीं होगा, आस धातु से पर्युपासीरन् पाठ उचित है।

कण्डिकाओं के मूल पाठों को ठीक न समझ सकने के कारण भी भाष्यगत शब्द सिद्धियों में कतिपय भयंकर एवं हास्यास्पद भूलें हुई हैं, तद्यथा—

(१) गो० पू० १।२१ में 'वाकोवाक्यम्' शब्द के अर्थ को ठीक न समझ सकने के कारण 'वाकः' 'वाक्यम्' ये पृथक्-पृथक् पद मानकर सिद्धि की गई है जिससे भाष्य भी

---

१. यहाँ भाष्य भी इस परिवर्तित पाठानुसार हमने कर दिया है।।

नितान्त असङ्गत हो गया है, जब कि 'वाकोवाक्यम्' उक्ति प्रत्युक्ति रूप आख्यान ग्रन्थ की संज्ञा है ।

(२) दीक्षिती (गो० पू० ५।२४) यहाँ इतच् ङीप् किया है, जिससे अर्थ संगत नहीं होता है । जर्मन संस्करणानुसार हमने दीक्षिता क्तान्त पद रखा है ।

(३) गो० पू० १।२२ में सहस्रकृत्वा इस अशुद्ध शब्द को सिद्ध करने के लिये भाष्य में सहस्रकृत्वः बनाकर पुनः सहस्रकृत्वः इत्यस्य उपधादीर्घो बाहुलकात् कहकर सहस्रकृत्वा बनाया गया है । इसी कण्डिका में सिद्धन्ति भ्रष्टपाठ को यथावस्थित रखकर व्यत्यय से सिध्यन्ति माना है ।

(४) गो० पू० १।२३ में 'ऋगि ऋग्' ऐसा पाठ है । यह ऋगि पाठ ऋच् शब्द का सप्तमी एकवचन का रूप है अतः ऋचि होना चाहिये । स्पष्ट है कि लेखक प्रमाद से पूर्व हस्तलेखों में ऋगि पाठ हो गया होगा । श्री त्रिवेदी जी ने इस ऋगि को ही शुद्ध मानकर 'चस्य गः' लिखकर उसकी सिद्धि कर दी है । इस प्रकार बहुत से नमूने दिखाये जा सकते हैं ।

कुछ ऐसे भी शब्दों के निर्वचन भाष्यकार ने किये हैं जो उस प्रक्रिया से शब्द के निष्पन्न होने पर भी व्याकरण-प्रक्रियानुसार ठीक नहीं या कष्ट साध्य है । तद्यथा—परिदेवयाञ्चक्रिरे (गो० पू० १।२८) की सिद्धि में भाष्यकार ने परिदेवयाम् की सिद्धि उणादि से कयन् प्रत्यय करके की है जब कि 'परिदेवयाञ्चक्रिरे' सम्पूर्ण रूप ही लिट् लकार वहुवचन[1] का है । ऐसे स्थलों में मूल पाठ को शुद्ध करते हुये भाष्यगत उनकी सिद्धियों एवं भाष्य को भी यथावश्यक इस संस्करण में शुद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है । पूरी संगति लगाते हुये इस कार्य को करने में हमें बड़ी ही कठिनता हुई हैं । वस्तुतः देखा जाये तो गोपथ भाष्य छापने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं कठिन कार्य यहाँ मूल संशोधन का था क्योंकि भाष्य के साथ-साथ शुद्ध मूल पाठ की प्रति भी पाठकों को उपलब्ध कराना आवश्यक था । यत. ये पाठ बहुसंख्य थे अतः अनेक स्थलों में एवं प्रारम्भ के प्रायः ७-८-९ फर्मों में टिप्पणी भी पाठ परिवर्त्तन की प्रायः नहीं दी जा सकी क्योंकि भ्रष्टपाठों की बहुलता को सोचकर ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप में सभी पाठ दिखाने की इच्छा बन गई थी किन्तु हमें दो-तीन फर्मों के पश्चात् ही यह अनुभव हुआ कि टिप्पणी पाठकों की सुविधा की दृष्टि से तत्-तत् स्थलों में ही देनी उचित है अतः वहीं देनी प्रारम्भ कर दी । उपर्युक्त भ्रष्टपाठों के नमूने प्रायः ऐसे ही हैं जहाँ हमने टिप्पणियाँ नहीं दी है । जिन संशोधित पाठों में हम टिप्पणी न दे सके उनकी कुछ सूची निम्न है—

		अशुद्ध		शुद्ध
गो० पू०	२।१३	ह्यप्रश्नान्		ह्यः प्रश्नान्
,, ,,	२।१३	व्याचक्षीय		व्याचक्षीत
,, ,,	२।१८	प्रतिश्रुत	(प्रतिशृणु के स्थान में प्रतिश्रुत तिङन्त माना है)	प्रतिश्रुतम्

---

१. द्रष्टव्य गो० पू० १।२८

	अशुद्ध	शुद्ध
गो०पू० २।२१	जिघत्सुरतमः	जिघत्सुतमः
,, ,, २।२१	अभिहुत्वा	अभिहुत्य
,, ,, २।२१	अग्निः पदम्	अग्निपदम्
,, ,, २।२१	ब्राह्मणम्	ब्राह्मचम्
,, ,, ३।४ पं०१६	अशांसीन्ये (यहाँ यह पाठ अपपाठ है क्योंकि शंसन होता का कर्म है)	
,, ,, ३।४	ये ऽङ्गिरसः (इस पाठ की पुनरावृत्ति है)	

गोपथ के मूल संस्करणों में इतने अधिक भ्रष्टपाठों का गोपथ की उपेक्षा के अतिरिक्त एक और भी महत्त्वपूर्ण कारण ये है कि गोपथ ब्राह्मण का कोई भाष्य प्रस्तुत भाष्य के अतिरिक्त नहीं उपलब्ध होता यदि श्री राजेन्द्रलाल मित्रादि को इसका भाष्य भी करना होता तो पदे-पदे पाठों पर पूर्ण गहनता से विचार करना पड़ता। हमारे भाष्यकार के सामने यह बहुत बड़ी कठिनता थी कि इससे पूर्व अर्थ की दृष्टि से पाठ शुद्धि पर विचार ही नहीं किया गया, सर्व प्रथम उन्हें ही इस विषय में घोर परिश्रम करना पड़ा। प्रमाणाभाव में आर्ष-प्रयोगः कहकर अशुद्धियों को उन्हें टालने की आवश्यकता पड़ी।

इस संस्करण में पाठशुद्धि के प्रति इतना सचेष्ट रहने पर भी यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि अब सर्वथा पाठ शुद्ध किये जा चुके हैं। भूलें अनेकों बाधाओं के कारण अब भी रह गयी हैं जिनका हमें दुःख है तद्यथा––

(१) तत्सम्राजस्य सम्राट्त्वम् गो० पू० ५।१३ यह पाठ जर्मन एवं सभी संस्करणों में ऐसा ही है किन्तु पं० चमूपति द्वारा सम्पादित वेदार्ष कोष में 'तत्सम्राजः सम्राट्त्वम्' गो० पू० ५।१३ पाठ है। इसके अनुसार हमने संशोधन किया किन्तु मुद्रण की अनवधानता से पूर्ववत् वही पाठ रह गया। इसी प्रकार––

अशुद्ध	पृ०	शुद्ध	अशुद्ध	पृ०	शुद्ध
पुनन्त	११५	पुनन्तः	रुपायामो	१४५	रुपयामो
तिस्त्रो	१४०	तिस्रो	शक्रुत्	१४५	सक्रुत्
ध्याप्नोति	३३३	प्राप्नोति	सपवेदम्	२१	सर्पवेदम्
व्याहृतिर्गायत्रम्	३२	व्याहृति गायत्रम्			

कण्डिका २।१० में तन्वमभि पर नं० २ की टिप्पणी का चिह्न छप गया है यह टिप्पणी चिह्न कण्डिका की चौथी पंक्ति "वै" पर जानी चाहिये।

मेरा निश्चित विचार है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन करते हुये किसी को भी श्रौत क्रियाओं एवं उसमें वर्णित यज्ञ यागादि का सामान्य परिचय अवश्य होना चाहिये इसका ज्ञान न होने से अर्थ एवं पाठ में भ्रान्ति सुनिश्चित है। प्रस्तुत भाष्य में ऐसे स्थल बहुत हैं जहाँ तद्वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया का संकेत न करके शाब्दिक अर्थ मात्र से काम चलाया गया है। तद्यथा—गो० उ.३।८ को देखें। यहाँ सोम याग की एक प्रक्रिया का रहस्योद्घाटित है। इसके ज्ञान के लिये याज्ञिक प्रक्रिया की पूर्वपीठिका का ज्ञान होना चाहिये वह इस प्रकार है—सभी श्रौतयज्ञों में वषट्कार से आहुति देते हैं किन्तु सोमयाग में विशेषता यह

है कि वहाँ अनुवषट्कार (एक वषट्कार के पश्चात् दूसरा वषट्कार) भी किया जाता है जो कि प्रधानाहुति का समर्थक एवं समाप्ति सूचक है ।

संवत्सर के अन्तर्गत छहों ऋतुओं के देवताओं के लिये ऋतुयाज के नाम से सोमरस दिया जाता है । यतः इन ऋतुओं में प्राणी को सृष्टि के पूर्ण काल तक अन्न प्राप्त करना अत्यन्त अपेक्षित है अतः ऋतुयाज में समाप्तिसूचक अनुवषट्कार नहीं होता क्योंकि ऋतुओं को पूर्णता की सूचना देने पर उनके द्वारा प्राप्त होने वाली अन्नादिक वस्तुओं में भी समाप्ति सम्भावित है अतः अनुवषट्कार न करने के कारण सोमरस का शेष भक्षण भी अन्न की सर्वदा प्राप्ति की इच्छा के कारण नहीं होता, केवल ओष्ठ में सोमरस का लेपन करके विधि पूर्ण मान लेते हैं इसीलिये कण्डिका में 'तथैव ह भवति लिम्पेदिति' कहा है ।

कण्डिका में 'स योऽत्र भक्षयेत्'·········आदि वाक्यों का भाव है उस सोमरस का शेष भक्षण जो करे उसे कहें कि बिना अनुवषट्कार किये हुए भक्ष को तुमने अपने शरीर में प्राप्त कर लिया है अतः तुम नहीं जीवोगे अर्थात् उसका भक्षण करके अपने-आप को पूर्णता प्राप्त कर लेने वाला मान लेने से याग में समृद्धि फल को नहीं प्राप्त कर सकोगे । यह यहाँ भाव है । इसी प्रकार गो. उ. १।६ का स्थल देखें, जिसकी पूर्वपीठिका इस प्रकार है—

शतपथ एवं अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में देवताओं के दो भेद किये गये हैं । एक दिव्य देवता तथा दूसरे मर्त्यलोक निवासी वेदज्ञ विद्वान् व्यक्ति । इन दोनों देवताओं की प्रसन्नता एवं आशीर्वाद लाभ के लिये यज्ञ किया जाता है प्रस्तुत कण्डिका में स्पष्ट किया है कि देवताओं के यज्ञीय भाग लेने की प्रक्रिया से अवान्तर दो भेद हैं । एक सोमपा दूसरे असोमपा देवता । दूसरे वर्ग में हुताद देवता एवं अहुताद देवता । द्वितीय वर्ग के अहुताद देवताओं में मनुष्य लोकवासी विद्वानों की गणना है । ये मन्त्र द्रष्टा ब्राह्मण ऋषियों की देवानुग्रह प्राप्त सन्तान है अतः उन ऋषियों के अनुग्रहकारी देवता से संबद्ध होने के कारण विभिन्न ऋषि विभिन्न देवता स्वरूप हैं । इन ऋषियों और उनकी सन्तानों को मनुष्य देवता के रूप से यज्ञ में अग्नि मुख से आहुति नहीं दी जाती है इसलिये इनको यज्ञीय दक्षिणाग्नि में पके हुते अन्वाहार्य नाम के चार व्यक्तियों के भोजन योग्य मात्र को दक्षिणा स्वरूप से देकर प्रसन्न किया जाता है । इस प्रकार ये ब्राह्मण देवता अग्नि मुख में हवन के बिना यज्ञीय पाक को खाते हैं अतः अहुताद है । जब इनको अन्वाहार्य संज्ञक यज्ञाग्नि सिद्धपाक को दक्षिणा स्वरूप से दे दिया जाता है तो वे इस यजमान के घर में अपने आशीर्वाद से इषम् = अन्न ऊर्जम् = बल को परिपूर्ण कर देते हैं किन्तु प्रथम ही इनको यज्ञीय पाक का भाग न देने पर यजमान के इष एवं ऊर्ज को लेकर ये चले गये थे, और अब भी जा सकते हैं ।

स्थाली-पुलाक न्याय से हमने यहाँ दो स्थलों का याज्ञिक प्रक्रियानुसार अर्थ प्रदर्शित किया है । ऐसे कतिपय स्थलों में टिप्पणी में भी हमने याज्ञिक भाव को स्पष्ट किया है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं किया जा सका क्योंकि उससे ग्रन्थ के कलेवर विस्तार का भय था । वैसे गोपथ पर इस दृष्टिकोण से पृथक् कार्य की अपेक्षा है ताकि जिन परम्पराओं की सुरक्षार्थ यह गोपथ है उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सके ।

गोपथ ब्राह्मण पर प्रस्तुत भाष्य—किसी भी भाष्य की सहायता के बिना इस पर भाष्य करना निश्चय ही एक बड़े साहस का काम है। पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी इस विषय में विद्वानों के हार्दिक बधाई तथा साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में भी एक महान् कार्य कर दिखाया। जिस कार्य को युवक भी जल्दी न कर सकें उसको एक ढलती आयु का व्यक्ति पूरा करे, यह उनके अतिशय उत्साह तथा अध्ययन-शीलता का ही परिणाम है।

गोपथ ब्राह्मण के इस भाष्य में विभिन्न पाठों को ऐतरेयादि से मिलान करके शुद्ध रूप देने का भरसक प्रयास किया गया है। जो कण्डिका अन्य ब्राह्मणों से मेल रखती थी, उसकी तुलना के लिये प्रायः सभी उद्धरण दे दिये गये हैं। इस ब्राह्मण में उद्धृत ऋचायें भी पूरी-पूरी देकर उनका अर्थ भी कर दिया गया है।

अर्थ करते समय प्रायः यौगिक प्रक्रिया का सहारा लिया गया है। शब्दों का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ ही मान्य समझा गया है। अर्थ को विस्तृत करने हेतु उनके रूढ़ अर्थों से प्रायः बचने की चेष्टा की गई है, प्रायः प्रत्येक शब्द का व्याकरण सम्मत धातु प्रत्यय आदि दिखाते हुये उन्हें सिद्ध करने की पूरी चेष्टा की गई है। यह एक परिश्रम-साध्य एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है।

इस भाष्य में यौगिक प्रक्रिया के आश्रयण से कहीं भी अनित्य इतिहास या अनुचित वर्णन नहीं आने पाया है। विभिन्न ऋषियों के नाम भी यौगिक ही माने गये हैं।

इस भाष्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें यथावसर वैदिक सिद्धान्तों को महर्षि दयानन्द कृत ग्रन्थों के वचनों को उद्धृत करते हुये सुपुष्ट किया गया है। इसके विपरीत किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया गया। पशुबन्धादि शब्दों को देखकर जहाँ अन्य ब्राह्मणों के भाष्यकारों ने उसे बूचड़खाना बना डाला है, भाष्यकार ने यहाँ ऐसा कदापि नहीं होने दिया है। अपनी बात की पुष्टि में अन्य ऋषि कृत प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण भी यथावसर पर्याप्त दिये हैं जो कि भाष्य की महत्ता को बढ़ाते हैं। इस दृष्टि से इस भाष्य का जितना प्रचार प्रसार विशेष रूप से आर्य जगत् में होना चाहिये वह सन्तोष जनक नहीं। आर्य जगत् में इस भाष्य के समुचित स्थान न प्राप्त कर सकने के कारण ही आज तक अन्य इतिहासज्ञों द्वारा भी यह कम ही उद्धृत हुआ है। आज तक इसके पुनर्मुद्रण के सम्बन्ध में शिरोमणि सभाओं द्वारा भी विचार न किया जा सका। आर्य विद्वानों के ग्रन्थों की उनके निधन के पश्चात् ऐसी उपेक्षा होती है यह अति दुःखद है। प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से श्री त्रिवेदी जी के पौत्र करा रहे हैं, यह उनका बड़ा साहसिक कार्य है।

उपसंहार—१९७० में श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी के अथर्ववेदभाष्य के ४ काण्ड पुनः प्रकाशित किये जाने पर लोगों की माँग गोपथ ब्राह्मण के प्रकाशित करने में अत्यधिक हुई। यतः ये प्रकाशन कार्य श्रद्धेय त्रिवेदी जी के ही पौत्र श्री डा० इन्द्रदयाल जी सेठ जो नाइजीरिया यूनिवर्सिटी में गणित के प्राध्यापक हैं व्यक्तिगत रूप से करा रहे थे, अतः आर्थिक दृष्टिकोण से उन्होंने भी यही सम्मति रखी कि अथर्ववेद भाष्य के प्रकाशन से

पूर्व गोपथ ब्राह्मण भाष्य का सम्पादन हो फलतः कार्य प्रारम्भ कर दिया गया किन्तु मेरे बार-बार बाहिर जाने एवं विद्यालयीय कार्यों में अनिवार्यतया संलग्न होने के कारण यह कार्य बड़ी मन्थर गति से चलता रहा। कई प्रतियों के मिलानादि के कारण इसमें पर्याप्त समय लगाने की आवश्यकता पड़ती थी, ऐसा न होने पर कार्य रुक रुककर ही चलता रहा पर जैसा कि लक्ष्य प्राप्ति के लिये निरन्तर गति की अनिवार्यता अपेक्षित है मन्दता तीव्रता तो साधन की शक्ति पर निर्भर है, हम गतिशील रहे अतः परमेश की महती अनुकम्पा से यह कार्य आज अपने आप में पूर्ण होकर सुधीजनों के समक्ष है। मेरे बाहिर आदि जाने के कारण प्रकाशन की त्रुटियाँ रह गई होंगी और हैं इसके लिये मैं सहृदय पाठकों से यही कहूँगी वे समय-समय पर मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट करते रहें जिन्हें अगले संस्करण में ठीक किया जा सकेगा। संस्था को चलाते हुये ऐसे समयापेक्षित कार्य करने कितने कठिन हैं यह कोई भुक्तभोगी ही जान सकते हैं, पुनरपि कार्य भी इसी झपेट में ही हुआ करते हैं, जीवन में कोई भी महत्त्वाकांक्षी-जन कार्य के लिये सर्वथा शान्ति एवं अपेक्षित समय नहीं उपलब्ध कर पाते होंगे, ऐसे ही चलता होगा।

प्रकाशन के इस कार्य में श्रद्धेय त्रिवेदी जी के पौत्र डॉ० इन्द्रदयाल जी सेठ एवं उनकी धर्मनिष्ठा पत्नी डॉ० कीर्त्ति सेठ डी० फिल प्राध्यापिका शिक्षाशास्त्र प्रयाग विश्व-विद्यालय, पौत्री श्रीमती सुशीला देवी जी जौहरी भू० पू० प्राचार्या भगवानदीन आर्य-कन्या महाविद्यालय लखीमपुर खीरी तथा प्रदौहित्र श्री अजय कुमार जी जौहरी आदि सभी का अत्यन्त ही उत्साह रहा है। श्री त्रिवेदी की वंशपरम्परा में तीसरी एवं चौथी पीढ़ी में भी वैदिक कार्यों के प्रति वही अनुराग वही निष्ठा समाई हुई है यह सौभाग्य की बात है। श्री त्रिवेदी जी के गहन तप और निष्ठा का ही यह परिणाम है। वस्तुतः आप सभी लोग इस विषय में कोटिशः बधाई के पात्र हैं।

इस सम्पादन कार्य में यथावसर पाठों के विवेचन एवं कहीं-कहीं कण्डिकाओं के याज्ञिक अर्थों की सङ्गति में श्री डॉ० युगल किशोर जी मिश्र वेदाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी० ने उदारता पूर्वक समय लगाया है, अतः वे बहुशः धन्यवाद के भागी हैं। मेरे लघुभ्राता श्री सुद्युम्न एम० ए०, व्याकरणाचार्य, पी एच० डी० प्राध्यापक मु० म० टाउन डिग्री कॉलेज बलिया ने मेरा कई महत्त्वपूर्ण उपयोगी स्थलों की ओर ध्यान दिलाया है तदर्थ मैं उनकी आभारी हूँ। ईश्वर करे वे सदैव सुयश के भागी हों। अपनी अनुजा बहिन मेधा देवी व्याकरणाचार्या के सम्बन्ध में क्या कहूँ कार्य तो सब हमारा मिला-जुला ही होता है, तथापि वे "नींव की ईंट" बने रहना ही अधिक पसन्द करती हैं अतः बहुत विरोध

के अनन्तर सम्पादक में उनका नाम प्रविष्ट कर पाई हूँ। उन्हें भय था कि इस प्रक्रिया से भूमिका में उल्लिखित आशीः राशि से वे वञ्चित रहेंगी पर यह तो असम्भव है। उनकी कर्म-निष्ठा, त्याग एवं निष्काम-भावना सामान्य स्थिति से ऊपर है इसे देख कौन पुलकित न होगा ?

मैं इस प्रकरण को अपूर्ण ही समझूँगी यदि अपनी शास्त्री द्वितीय वर्ष की छात्राओं कु० प्रियम्वदा, कु० माधुरी रानी, कु० सूर्या के नामों का उल्लेख न करूँ। ये पुत्रियाँ हस्तलेख मिलान प्रूफ संशोधनादि कार्यों में मेरे साथ बड़ी जिज्ञासा, तत्परता एवं मनोयोग से समय लगाती थीं। उनकी ये प्रवृत्ति कार्यदक्षता के लिये नितान्त उचित है। परमात्मा करे वे सदैव स्वस्थ चिरायु रहते हुये वैदिक कार्यों के प्रति निष्ठावान् तथा ऋषि भक्त हों।

अन्त में विष्णु मुद्रणालय के सञ्चालक श्री कालीनाथ जी का भी मैं हार्दिक धन्यवाद करती हूँ कि जिन्होंने अनेक विघ्नों के रहते हुये भी इस कार्य को सम्पन्न किया।

३१ जु० गुरुपूर्णिमा
सं० २०३४ वि०
दयानन्दाब्द १५३
सन् १९७७

विनीता—
प्रज्ञा देवी
पाणिनि कन्या महाविद्यालय
तुलसीपुर, वाराणसी–५

॥ ओ३म् ॥

गोपथ ब्राह्मण भाष्य भूमिका ॥

१—ईश्वर प्रार्थना ॥

**त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनाषहम् ॥ १ ॥**

मन्त्र १–३ अथर्व० २० । १०८ । १–३, ऋग्० ८ । ९८ [सायणभाष्य ८७] । १०–१२, साम० उ० ४ । २ । तृच १३ ॥

(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्म करने वाले ! (विचर्षणे) हे विविध प्रकार देखने वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (ओजः) पराक्रम, (नृम्णम्) धन (आ) और (पृतनासहम्) सङ्ग्राम जीतने वाले (वीरम्) वीर को (आ) भले प्रकार (भर) पुष्ट कर ॥ १ ॥

हे परमात्मन् ! आपके अनुग्रह से हम सैकड़ों शुभ कर्म करते हुये बलवान्, धनवान् और वीर पुरुषों वाले होवें ॥ १ ॥

**त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ २ ॥**

(वसो) हे बसाने वाले ! (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (हि) ही (नः) हमारा (पिता) पिता और (त्वम्) तू ही (माता) माता (बभूविथ) हुआ है, (अध) इसलिये (ते) तेरे (सुम्नम्) सुख को (ईमहे) हम माँगते हैं ॥ २ ॥

हे परमेश्वर ! आप सदा से सब सृष्टि के पालन और पोषण करने वाले हैं, हम आप से प्रार्थना करते हुये सैकड़ों उपकार करके सदा सुखी होवें ॥ २ ॥

**त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥**

(शुष्मिन्) हे महाबली ! (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से बुलाये गये ! (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (वाजयन्तम्) बलवान् बनाने वाले (त्वाम्) तुझको (उप) आदर से (ब्रुवे) मैं बुलाता हूं, (सः) सो तू (नः) हमें (सुवीर्यम्) बड़ा वीरपन (रास्व) दे ॥ ३ ॥

हे अनन्त बल जगदीश्वर ! आप कृपा करें । जिससे हम महापराक्रमी और महापुरुषार्थी होकर सदा आनन्द पावें ॥ ३ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ४ ॥

अथर्व० ७ । ५० । ८ ॥

[हे सर्वपोषक परमेश्वर !] (कृतम्) कर्म [वेदविहित व्यवहार] (मे) मेरे (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथ में और (जयः) जीत (मे) मेरे (सव्ये) बायें [हाथ] में (आहितः) ठहरी हो । मैं (गोजित्) भूमि जीतने वाला, (अश्वजित्) घोड़े जीतने वाला, (धनंजयः) धन जीतने वाला और (हिरण्यजित्) तेज जीतने वाला (भूयासम्) रहूं ॥ ४ ॥

हे परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें जिससे हम सदा वेदविहित कर्म में पुरुषार्थ के साथ आगे बढ़ते हुये संसार में सुखी रहें, और सुपात्र वीर होकर आपसे आपकी कृपा का दान लेवें ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ःस्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ५ ॥

अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले, (सुकृतः) सुकर्मी लोग (स्वायाः) अपने (तन्वः) शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं । (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग [सुख] में (अश्लोणाः) बिना लंगड़े हुये और (अङ्गैः) अङ्गों से (अह्रुताः) बिना टेढ़े हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) पुत्रों [सन्तानों] को (पश्येम) देखें ॥ ५ ॥

हे जगत्पिता परमेश्वर ! हम सब ब्रह्मचर्य आदि सेवन से वेदानुगामी सुकर्मी और निरोग रहें और उस स्वर्ग में रहकर हम सब मिलकर प्रयत्नपूर्वक स्थिर सुख पावें ॥ ५ ॥

२—गोपथब्राह्मण क्या है ॥

चार वेदों के चार ब्राह्मण हैं, ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का साम, और अथर्ववेद का गोपथ । विदित नहीं है कि गोपथब्राह्मण के कौन कर्ता थे । यह पद तो तीन शब्दों से बना है, गो+पथ+ब्राह्मण, जिनकी सिद्धि इस प्रकार है—गमेर्डोः (उ० २ । ६७) गम्लृ गतौ–जाना, जानना और पाना—डो प्रत्यय । पाने योग्य पदार्थ गो शब्द वाणी, भूमि, स्वर्ग, इन्द्रिय आदि का वाचक है । पथ गतौ––अच् प्रत्यय । पथ नाम मार्ग का है । बृंहेर्नोऽच्च (उ० ४ । १४६) बृहि वृद्धौ––मनिन्, नकार का अकार और रत्व होकर ब्रह्मन् शब्द [ब्रह्म और ब्रह्मा] सिद्ध होता है फिर तस्येदम् (पा० ४ । ३ । १२०) ब्रह्मन्—अण् । इस प्रकार ब्राह्मण [न० लिङ्ग] शब्द बना, जिसका अर्थ ब्रह्म परमेश्वर वा वेद का ज्ञान है । इससे गोपथब्राह्मणम् का यह अर्थ है–गो, वाणी अर्थात् वेदवाणी, भूमि अर्थात् पृथिवी

का राज्य और स्वर्ग अर्थात् सुख पाने के मार्ग का ईश्वरीय वा वैदिक ज्ञान। अर्थात् इस ग्रन्थ के पढ़ने और विचारने से वेदों के पढ़ने, राज्य प्रबन्ध करने और परम आनन्द पाने के लिये मनुष्य का पुरुषार्थ पढ़ता है॥

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की वेदों की पठन पाठन विधि, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका प्रथमवार पृ॰ ३२० में इस प्रकार लिखते हैं— **मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना सहित व्याकरण, अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य शिक्षा, कल्प, निघण्टु निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त, ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक ठीक जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ, ये चार ब्राह्मण। इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य सत्य वेद व्याख्यान किये हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें**—इस लेख से प्रकट है कि वेदार्थ जिज्ञासुओं के लिये चारों ब्राह्मण महान् उपयोगी हैं जिनमें से यह एक गोपथब्राह्मण है॥

३—गोपथ के भाष्य करने में कठिनाई॥

मेरे पास गोपथब्राह्मण की दो पुस्तकें हैं, एक पं॰ राजेन्द्रलाल मित्र सम्पादित, छापा एशियाटिक सोसैटी कलकत्ता सन् १८७२ ईस्वी, दूसरा पं॰ जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित छापा कलकत्ता सन् १८९१ ईस्वी। पं॰ राजेन्द्रलाल मित्र ने प्रयत्न करके हस्तलिखित पुस्तकों को मिलाकर अपना पुस्तक पहिले ही पहिले छपवाया, उसके पीछे पण्डित जीवानन्द का छपा। दोनों पुस्तकों में कुछ तो लेख प्रमाद और कुछ छापे की अशुद्धियां हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के प्रयोगों में प्रायः आर्ष शैली है— जैसे (इषे त्वा) के स्थान पर (इखे त्वा—पू॰ १। २९), (सरसतायै) के स्थान पर (सरस्वतायै—उ॰ ४। १८), (पारुच्छेपी) के स्थान पर (पारुक्षेपी–उ॰ ६। १), (कवीँरिच्छामि) के स्थान पर (कवीं ऋच्छामि–उ॰ ६। २) इत्यादि इत्यादि। ऐसी अशुद्धियों और शैलियों के यथार्थ रूप वेद मन्त्रों और ऐतरेय ब्राह्मण से यथासम्भव मैंने शुद्ध कर दिये हैं॥

एक और कठिनाई है कि अब तक इस ब्राह्मण का न तो कोई भाष्य और न कोई अनुवाद उपस्थित है राजेन्द्रलाल मित्र ने इसके भाष्य के लिए बहुत प्रयत्न किया परन्तु न मिलने से इन्होंने मूल मात्र ही यथासम्भव शोधकर छपा दिया। पं॰ राजेन्द्रलाल ने अपने गोपथब्राह्मण की भूमिका में और मौरिसब्लूम्सफील्ड साहिब ने अपने पुस्तक (The Atharva Veda and the Gopatha Brahmana by Maurice Bloomsfield) में अंगरेजी भाषा में कुछ टिप्पणियाँ दी हैं। वे किसी अंश में उपयोगी हैं। उन महाशयों को धन्यवाद है जिन्होंने अपने अन्वेषण का फल प्रका-

शित कर दिया है। मैंने भी पुराने भाष्य और अनुवाद के लिये बहुत खोज किया, परन्तु कोई न मिला।

जब मेरा अथर्ववेद भाष्य हिन्दी अनुवाद सहित पूरा होकर संवत् १९७८ विक्रमीय (सन् १९२१ ईस्वी) में छपकर प्रकाशित हो गया, बहुत से विद्वान् महाशयों ने अनेक पुस्तकों के भाष्य करने की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया, उनमें गोपथ के लिये बहु सम्मति थी, और मैंने विचार कर कि यह प्राचीन वैदिक ग्रन्थ भी महान् उपयोगी है, इसीके लिये प्रयत्न किया। अपनी वृद्धावस्था के कारण मुझे ग्रन्थ के पूरे हो जाने की आशा न थी, परन्तु सर्वशक्तिमान् परमात्मा की महती कृपा से अब यह ग्रन्थ भाषानुवाद, टिप्पणियों, व्याकरण प्रक्रियाओं और विनियोगीय वेद मन्त्रों आदि सहित सर्वसाधारण के सामने छपकर उपस्थित है। सब विचारशील स्त्री पुरुष आत्मोन्नति करने और वेदार्थ जानने में उससे लाभ उठावें। संस्कृत कोषों में वैदिक शब्द और ब्राह्मण शब्द बहुधा नहीं मिलते विद्वान् लोग इस ओर भी ध्यान देवें॥

४—गोपथब्राह्मण का विषय॥

गोपथब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण कहा जाता है, परन्तु उसमें यज्ञ करने के लिये चारों वेदों के मन्त्रों का विनियोग है। इससे विदित है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार वेद संहिताओं के अलग अलग नाम हैं और चारों नाम एक दूसरे के भी बोधक हैं। और यह भी प्रकट है कि चारों वेदों का नाम अलग अलग करके तथा मिलाकर त्रयी वा त्रयी विद्या [कर्म, उपासना और ज्ञान] है। गोपथ पू० २। १८ में वर्णन है--(एष ह वै विद्वांत्सर्ववित् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोवित्) यही विद्वान् सब जानने वाला ब्रह्मा [प्रधान ऋत्विज्] है जो भृगु-अङ्गिराओं [प्रकाशमान ज्ञानों, चारों वेदों] का जानने वाला पुरुष है। भगवान् यास्क मुनि निरुक्त १। ८ में लिखते हैं—(ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः) एक ब्रह्मा उत्पन्न हुये हुये कर्म में विद्या बताता है, ब्रह्मा सब विद्याओं वाला, और सब जानने योग्य होता है, ब्रह्मा वेदविद्या के कारण बढ़ा हुआ होता है। यह भी प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा चतुर्मुखी अर्थात् चतुर्वेदी होता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि भृग्वङ्गिरस्, अथर्ववेद, ब्रह्मवेद आदि शब्द वेद की संहिता विशेष [अथर्ववेद] के और चारों संहिताओं के नाम हैं, प्रकरण के अनुसार अर्थ कर लेना चाहिये॥

गोपथ में यज्ञ विषय [अर्थात् आहवनीय आदि अग्नियों द्वारा वेद मन्त्रों से अग्नि प्रज्वलन] दीख पड़ता है, परन्तु वस्तुतः आत्मिक यज्ञ अर्थात् आत्मा की उन्नति से पुरुषार्थ बढ़ाकर अन्न, प्रजा, पशु और स्वर्ग [सुख] की प्राप्ति का विधान वेद मन्त्रों द्वारा वर्णित है। (या वाक् सोग्निः, यः प्राणः स वरुणः, यन्मनः स इन्द्रः, यच्चक्षुः स बृहस्पतिः, यच्छ्रोत्रं स विष्णुः--गो० उ० ४। ११) जो वाणी है वह अग्नि [तापक पदार्थ] है, जो प्राण [श्वास] है, वह वरुण [स्वीकार करने योग्य पदार्थ]

है, जो मन है वह इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पदार्थ] है, जो आँख है वह बृहस्पति [बड़े बड़ों का पालने वाला पदार्थ] है, जो कान है वह विष्णु [व्यापक पदार्थ] है [यह यज्ञ के देवता हैं] । (पुरुषो वै यज्ञः, तस्य शिर एव हविर्धानं, मुखमाहवनीयः, उदरं सदः इत्यादि–गो० उ० ५ । ४) पुरुष ही यज्ञ है, उसका शिर ही हविर्धान [हवि का स्थान], मुख आहवनीय [यज्ञाग्नि] और उदर सद [सभा शाला] है, इत्यादि । (प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः य एवं वेद—गो० उ० ६ । १२) वह पुरुष प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है, जो ऐसा जानता है । इसी प्रकार के अनेक वाक्य आत्मिक यज्ञ के प्रतिपादक हैं । इसके अतिरिक्त विशेष करके सृष्टिविद्या, ओम् शब्द व्याख्या, गायत्री मन्त्र व्याख्या, ब्रह्मचर्यसेवन, शरीरविद्या, सत्य-भाषण आदि विषय मनोरोचक, उन्नतिकारक और पुरुषार्थवर्धक हैं—विषय सूची देखो ॥

५–गोपथब्राह्मण का विस्तार ॥

गोपथब्राह्मण (ओं ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्) इन पदों से आरम्भ होकर (यत्रैवंविदं शंसति यत्रैवंविदं शंसतीति ब्राह्मणम्) इन पदों पर समाप्त होता है । इसके दो भाग हैं, पूर्वभाग और उत्तरभाग । दोनों भागों में ग्यारह (११) प्रपाठक और दो सौ अट्ठावन (२५८) कण्डिकायें निम्न प्रकार से हैं ॥

गोपथब्राह्मण के प्रपाठक और कण्डिकायें ॥

प्रपाठक	कण्डिका	प्रपाठक	कण्डिका
पूर्व भाग		उत्तर भाग	
१	३९	१	२६
२	२४	२	२४
३	२३	३	२३
४	२४	४	१९
५	२५	५	१५
		६	१६
योग	१३५	योग	१२३

	प्रपाठक	कण्डिका
पूर्व भाग	५	१३५
उत्तर भाग	६	१२३
महायोग	११	२५८

६–धन्यवाद ॥

उस सर्वशक्तिमान् परमपिता जगदीश्वर को अत्यन्त धन्यवाद है जिसकी महती कृपा से अथर्व वेद भाष्य के पीछे यह गोपथब्राह्मण का भाष्य मेरे हाथ से पूरा होकर सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत है । वृद्धावस्था के कारण शरीर तो कुछ ढीला पड़ गया है, और मृत्युदेव कान में यह कहता रहता है ।

काल करे सो आज कर आज करे सो अब ।
पल में परलय होइगी फेर करेगा कब ॥

इस प्रेरणा से परमेश्वर पर भरोसा करके अन्य आवश्यकताओं से बचे समय को लगातार लगाये रहने से धीरे-धीरे यह भाष्य पूरा हो गया ॥

मैं यहाँ पर बदायूं निवासी श्रीमान् स्वामी रामभिक्षु जी महाराज को हार्दिक धन्यवाद देता हूं । उनकी प्रेरणा और विचारशीलता आदि सहायता से मेरे चित्त में उत्साह बढ़ता रहा । उक्त स्वामी जी मेरे पास वेदों का स्वाध्याय करने आये थे । जब तक वे रहे, इस भाष्य के और वेद मन्त्रों के देखने, विचारने, लिखने और मुद्रणपत्र (Proof sheet) शोधने तथा सूचीपत्र और अनुक्रमणिका आदि बनाने में प्रेम से मेरे सहायक हुये ॥

७—उपसंहार

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये--अथ० १९ । ६२ । १ ॥ [हे सर्वशक्तिमान् परमात्मन् !] (मा) मुझे (देवेषु) विद्वानों में (प्रियम्) प्रिय (कृणु) बना, (मा) मुझे (राजसु) राजाओं में (प्रियम्) प्रिय (कृणु) बना, (उत) और (अर्ये) वैश्यों में (उत) और (शूद्रे) शूद्रों में, और (सर्वस्य) प्रत्येक (पश्यतः) दृष्टि वाले का (प्रियम्) प्रिय [बना] ॥

हे परम पिता ! हमें पुरुषार्थ दीजिये जिससे हम वेदों के पठन-पाठन, विचार और अभ्यास से सब संसार के उपकार करने में उद्यत रहें ॥

ओ३म् । शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥

हे जगदीश्वर ! हमें एक आत्मिक शान्ति, दूसरी शारीरिक शान्ति और तीसरी सामाजिक शान्ति दीजिये ॥

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग,
[अलाहाबाद]
कार्तिकशुक्ला ७ संवत् १९८१ वि०,
ता० ३ नवम्बर १९२४ ई०।

जन्म, कार्त्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५
विक्रमीय [ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी]
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर–मडराक,
जिला अलीगढ़ ॥

———

गोपथब्राह्मण का विषय सूचीपत्र ॥

पूर्वभाग ॥

प्रपाठक १ ॥

प्रपाठक २ ॥

प्रपाठक ३ ॥

प्रपाठक ४ ॥

प्रपाठक ५ ॥

उत्तर भाग ॥

प्रपाठक १ ॥

कण्डिका | विषय | पृष्ठ

प्रपाठक २ ॥

प्रपाठक ३ ॥

कण्डिका विषय		पृष्ठ

प्रपाठक ४ ॥

प्रपाठक ५ ॥

क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२ लूकरगंज, प्रयाग

मार्गशीर्ष शुक्ला २ सं० १६८१ वि०

ता० २८ नवम्बर १९२४ ॥

ओ३म्

अथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणम्

पूर्व-भागः

—::o::—

प्रथमः प्रपाठकः

कण्डिका १

ओ३म् ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयन्त्वेकमेव तदैक्षत, महद्वै यक्षं, तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम इति, तदभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्, तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमाजायत तेनानन्दत्तमब्रवीत् महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति। तद्यदब्रवीत् महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत्तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ॥ १ ॥

कण्डिका १। ब्रह्म और सृष्टि की इच्छा ॥

(ओ३म् ब्रह्म ह वै इदमग्रे आसीत्) ओ३म् [रक्षक परमात्मा है] ब्रह्म [सबसे बड़ा परमात्मा] ही निश्चय करके इस [जगत्] के पहिले था। (स्वयम् तु एकम् एव तत् ऐक्षत) और अपने को अकेला ही उसने देखा (महत् वै यक्षम्, तत् एकम् एव अस्मि) मैं बड़ा ही पूजनीय हूँ, सो मैं अकेला ही हूं। (हन्त अहम् मत् एव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे इति) अरे! मैं अपने से ही अपने समान दूसरा देव [दिव्य पदार्थ] बनाऊं। (तत् अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) उसने सब ओर से श्रम किया, सब ओर से तप किया, भली भांति तप किया। (तस्य श्रान्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः यत् आर्द्र्यम् आ-अजायत) उस श्रम किये हुए, तपे हुये, भली भांति तपे हुये के ललाट पर चिकना द्रव्य, जो गीलापन है, सब ओर से प्रकट हुआ। (तेन अनन्दत्)

१-ओ३म्—अवतेष्टिलोपश्च (उ० १। १४२) अव रक्षणादौ—मन्, टिलोपः। अथवा अः = विराडादिः, उः = हिरण्यगर्भादिः, मकारः = ईश्वरादिः। हे रक्षक! परमेश्वरस्य सर्वोत्तमनाम। आरम्भः। अनुमतिः। ब्रह्म—बृंहेर्नोऽच्च (उ० ४। १४६) बृंहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य अकारः रत्वं च। ब्रह्म परिवृढं सर्वतः (निरु० १। ८) सर्ववृद्धः परमेश्वरः (ह) निश्चयेन (वै) एव (इदमग्रे) अस्य जगतः पूर्वम्—प्रलयकाले (ऐक्षत) ईक्ष दर्शने—लङ्। अपश्यत् (यक्षम्) यक्ष पूजा-

उससे वह प्रसन्न हुआ, (तम् अब्रवीत्) और उस [चिकने द्रव्य] से बोला—(महत् वै यक्षम् सुवेदम् अविदामहे इति) मैं बड़ा ही पूजनीय हूं, [अच्छे प्रकार जानने योग्य पदार्थ] को हमने जाना है (तत् यत् अब्रवीत्) वह जो उसने कहा–(महत् वै यक्षम् सुवेदम् अविदामहे इति) मैं बड़ा ही पूजनीय हूं सुवेद [अच्छे प्रकार जानने योग्य पदार्थ] को हमने जाना है–(तस्मात् सुवेदः अभवत्) इसलिये वह सुवेद [अच्छे प्रकार जानने योग्य पदार्थ] हुआ । (तम् वै) उस ही (एतम् सुवेदम् सन्तम्) इस सुवेद [अच्छे प्रकार जानने योग्य पदार्थ] होते हुये को (स्वेदः इति आचक्षते) स्वेद [पसीना] कहते हैं । (परोक्षेण) परोक्ष [आख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (परोक्षप्रियाः इव हि) परोक्षप्रिय [आख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष [वर्तमान अवस्था] के द्वेषी [विरोधी] (भवन्ति) होते हैं [अर्थात् दूरदर्शी लोग ब्रह्म के नियमों को विचार कर, क्षणभङ्गुर वर्त्तमान को छोड़कर आगे को सुधार करके उन्नति करते हैं । योग दर्शन पाद २ सूत्र १६ में कहा है—हेयं दुःखमनागतम्—न आया हुआ अर्थात् आगे का दुःख छोड़ने योग्य है] ॥ १ ॥

भावार्थः—ऋषि लोग विचारते हैं कि प्रलय में भी वर्तमान अविनाशी ब्रह्म सृष्टि करने के लिए अपना ज्ञान प्रकट करता है ॥ १ ॥

विशेषः—(सुवेद और अविदामहे) पदों में यह समता मानी है कि दोनों पद एक ही धातु [विद–ज्ञाने] से बने हैं, स्वेद शब्द ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे घञ् से पसीना अर्थ में बनता है किन्तु यहां (सुवेद) को ही (स्वेद) पसीना माना है ॥

कण्डिका २

स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त । ताभिरनन्दत्,

---

याम्—घञ् । पूजनीयम् (हन्त) हर्षे, खेदे (मत्) मत्सकाशात् । आत्मनः (मन्मात्रम्) प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (पा० ५ । २ । ३७) मत्—मात्रच् । आत्मसदृशम् (निर्ममे) माङ् माने-लडर्थे लिट् । रचयामि । (ललाटे) लल ईप्सायाम्–अच् + अट गतौ–अण् । ललम् = ईप्साम् अटति ज्ञापयतीति ललाटम् । कपाले (स्नेहः) ष्णिह प्रीतौ स्नेहने च–घञ् । तैलादिरसः । स्निग्धता (आर्द्र्यम्) आर्द्र-ष्यञ् । सजलत्वम् (तम्) स्नेहम् (सुवेदम्) विद ज्ञाने—खल् । सुखेन ज्ञेयम् । (अविदामहे) विद ज्ञाने विद्लृ लाभे वा–लङ्, छान्दसं रूपम् । वयं ज्ञातवन्तः । वयं लब्धवन्तः (स्वेदः) ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे—घञ् । घर्मः, प्रस्रवणम् । अत्र तु सुवेद एव स्वेदः आचक्षते । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि–लट् । समन्तात् कथयन्ति परोक्षेण—परोक्षे लिट् (पा० ३ । २ । ११५) इति निर्देशात् परस्यौकारः । अप्रत्यक्षेण प्रलये वर्त्तमानेन ब्रह्मणा (परोक्षप्रियाः) परोक्षे भविष्ये रुचिराः (इव) यथा (देवाः) विद्वांसः (प्रत्यक्षद्विषः) वर्तमानावस्थाविरोधिनः ॥

तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चेति, तस्मात् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारात्वं यच्चासु ध्रियते। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति, तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मादापा अभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते ।। २ ।।

कण्डिका २ ।। ब्रह्म के रोमों से पसीने की धारायें और सृष्टि की इच्छा ।।

(सः भूयः अश्राम्यत्) उस [परमात्मा] ने फिर श्रम किया, (भूयः अतप्यत्) फिर तप किया (भूयः आत्मानं समतपत्) और फिर अपने को भली भांति तपाया। (तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य) उस श्रम किये हुए, तपे हुए, भली भांति तपे हुये [परमात्मा] के (सर्वेभ्यः रोमगर्तेभ्यः) सब रोम कूपों से (पृथक् स्वेदधाराः) अलग अलग पसीने की धारायें (प्र अस्यन्दन्त) बहने लगीं। (ताभिः अनन्दत्) उनसे वह प्रसन्न हुआ (तत् अब्रवीत्) तब वह बोला— (आभिः वै अहम् इदं सर्वं धारयिष्यामि यत् इदं किञ्च) इन [पसीने की धाराओं] से ही मैं इस सबको धारण करूँगा, यह जो कुछ भी [होगा] (आभिः वै अहम् इदं सर्वं जनयिष्यामि यत् इदम् किञ्च) इनसे ही मैं इस सब को उत्पन्न करूँगा, यह जो कुछ भी [होगा] (आभिः वै अहम् इदम् सर्वम् आप्स्यामि यत् इदं किञ्च इति) इनसे ही मैं इस सबमें व्यापूंगा यह जो कुछ भी [होगा]। (तत् यत् अब्रवीत्) वह जो उसने कहा—(आभिः वै अहम् इदं सर्वं धारयिष्यामि यत् इदं किञ्च इति) इन [पसीने की धाराओं] से ही मैं इस सबको धारण करूंगा, यह जो कुछ भी [होगा] (तस्मात् धाराः अभवन्) उसी से वे धारायें [धारण शक्तियां]

२—सः। परमात्मा। ब्रह्म भूयः। भू+यसु प्रयत्ने-क्विप्, भुवे भावाय यस्यति यतत इति[1]। पुनः (अस्यन्दन्त) स्यन्दू प्रस्रवणे—लङ्। अस्रवन् (आभिः) स्वेदधाराभिः (धारयिष्यामि) धृञ् धारणे—लृट्। स्थापयिष्यामि (किंच) किमपि (जनयिष्यामि) जन जनने, जनी प्रादुर्भावे वा—लृट् उत्पादयिष्यामि (आप्स्यामि) आप्लृ व्याप्तौ—लृट्। व्याप्स्यामि। (इति) वाक्यसमाप्तौ। धाराः। धृञ् धारणे—णिच्—अङ्। प्रवाहसन्ततयः। धारणशक्तयः (धारात्वम्)

---

१. वस्तुतः व्याकरण के नियमानुसार बहु शब्द से अतिशय में ईयसुन् प्रत्यय होकर बहोर्लोपो भू च बहोः (पा० ६। ४। १५८) सूत्र के अनुसार बहु को भू आदेश तथा प्रत्यय के आदि 'ई' का लोप होकर नपुंसकलिङ्ग में भूय शब्द की सिद्धि समीचीन प्रतीत होती है ।। सम्पा० ।।

हुईं । (तत् च धाराणां धारात्वं यत् आसु ध्रियते) और वह धाराओं का धारापन [धारण सामर्थ्य] है जो इन सब में धरा गया है (तत् यत् अब्रवीत्) वह जो उसने कहा—(आभिः वै अहम् इदं सर्वं जनयिष्यामि यत् इदं किञ्च इति) इनसे ही मैं इन सब को उत्पन्न करूंगा यह जो कुछ भी [होगा] (तस्मात् जायाः अभवन्) उससे वे [पसीने की धारायें] जायायें [माताओं समान उत्पन्न करने वाली शक्तियां] हुईं, (तत् च जायानां जायात्वं यत् आसु पुरुषः जायते) और वह जायाओं का जायापन [उत्पादन सामर्थ्य] है जो इनमें पुरुष [जीव] उत्पन्न होता है, (यत् च पुत्रः) और जो पुत्र [संतान वा जीव] होता है । (पुत् नाम नरकम्) पुत् [जिस अवस्था में पापी लोग जाते हैं] नाम वाला नरक (अनेकशततारम्) अनेक सैकड़ों दबाव वाला है, (तस्मात् पुत्रः त्राति) उस [नरक] से पुत्र बचाता है, (तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्) वह पुत्र का पुत्रपन [नरक से बचाना] है । (तत् यत् अब्रवीत्) वह जो उसने कहा —(आभिः वै अहम् इदं सर्वम् आप्स्यामि यत् इदं किञ्च इति) इन [पसीने की धाराओं] से ही मैं इस सबमें व्यापूंगा यह जो कुछ भी [होगा]—(तस्मात् आपः अभवन्) उससे वे आप् [व्यापक जल] हुये, (तत् अपाम् अप्त्वम्) वह जलों का जलपन [व्यापकपन] है । (सः वै सर्वान् कामान् आप्नोति यान् कामयते) वह अवश्य सब कामनायें पाता है जिन्हें वह चाहता है [जो ऐसा विद्वान् है—देखो कण्डिका ३, ४] ॥ २ ॥

भावार्थः—जगत् की उत्पत्ति से ब्रह्म के पसीने की तीन अवस्थायें मानी हैं, एक धारण सामर्थ्य, दूसरी उत्पादन सामर्थ्य और तीसरी व्यापन सामर्थ्य ॥ २ ॥

विशेषः—१ इस कण्डिका के इन पदों में समता मानी है. (धारयिष्यामि तथा धाराः) दोनों पद धृञ् धारणे से, (जनयिष्यामि तथा जायाः) जन वा जनी जनने से और (आप्स्यामि तथा आपः) आप्लृ व्याप्तौ, प्राप्तौ से बने हैं ।।

विशेषः—२ यहाँ कण्डिका १-२ का मिलान करो—"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ।। हिरण्यगर्भ, तेज वाले लोकों का आधार, पहिले ही वर्तमान था, वही प्रकट होकर पृथिवी आदि पंचभूत का एक पति हुआ, उसने पृथिवी और सूर्य को धारण किया, उस सुखदायक प्रजापति की दिव्य गुण के लिए भक्ति के साथ हम सेवा करें—अथर्व० ४ । २ । ७ । (आपो वत्सं

धारणसामर्थ्यम् (ध्रियते) स्थाप्यते जायाः—जनेर्यक् (उ० ४ । १११) जन जनने—यक् । मातृसदृश्य उत्पादनशक्तयः । पुरुषः । पुरः कुषन् (उ० ४ । ७४) पुरः—अग्रगमने—कुषन् । जीवः । पुत्रः । पुवो ह्रस्वश्च (उ० । ४ । १६५) पूञ् पवने—क्त्रः, धातोर्ह्रस्वत्वम्, अथवा पुत्+त्रैङ् पालने—कः । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा—निरु० २ । ११ । सन्तानः । जीवः (पुत्) पुत पुत्त गतौ—क्विप् । गच्छन्ति पापिनो यत्र नरकम् । नरकम् । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् (उ० ५ । ३५) नॄ नये—वुन् । दुःखभोगावस्थाभेदः । (अनेकशततारम्) तॄ प्लवनसंतरणयोः स्वार्थे णिच्—घञ् बहुविधाभिभवयुक्तम् । त्राति । त्रायते

जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् । तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥) पहिले ही पहिले बालक रूप संसार को उत्पन्न करती हुई जल धाराओं ने गर्भ, बालक रूप संसार को यथावत् प्रकट किया और उस उत्पन्न होते हुए जो [बालक, संसार] का जरायु [गर्भ की झिल्ली] तेजोमय परमात्मा था, उस सुखदायक प्रजापति की दिव्य गुण के लिये भक्ति के साथ हम सेवा करें—अथर्व० ४ । २ । ८ ॥

कण्डिका ३ ॥

ता अपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षत, तासु स्वां छायामपश्यत् तामस्येक्षमाणस्य स्वयं रेतोऽस्कन्दत्तदप्सु प्रत्यतिष्ठत् तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यदभ्यतपत्, समतपत्, ताः श्रान्तास्तप्ताः सन्तप्ताः सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवंस्तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वाद्व्यस्ता अशान्ता रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठन्नथेतराः पेयाः स्वाद्व्यः शान्तास्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यदभ्यतपत्, समतपत्, ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्तदभृज्यत, यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्, तद् भृगोर्भृगुत्वं भृगुरिव वै स सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ । ब्रह्म के बीज का जल में गिरना, समुद्र और भृगु की उत्पत्ति ॥

(ताः अपः सृष्ट्वा अनु ऐक्षत) उन जलों को उत्पन्न करके उसने फिर देखा, (तासु स्वां छायाम् अपश्यत्) उनमें अपनी छाया [कान्ति, तेज] को देखा। (ताम् ईक्षमाणस्य अस्य) उस [छाया] को देखते हुये इस [ब्रह्म] का (रेतः स्वयम् अस्कन्दत्) बीज अपने आप टपका (तत् अप्सु प्रति अतिष्ठत्) और वह जलों में ठहर गया। (ताः तत्र एव अभि अश्राम्यत्) उनको वहाँ ही उसने सब ओर से श्रम दिया [दबाया], (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भाँति तपाया। (ताः श्रान्ताः तप्ताः सन्तप्ताः) वे दबाये हुये, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुये [जल] (रेतसा सार्द्धम् एव) बीज के साथ ही (द्वैधम् अभवन्) दो प्रकार से हो गये। (तासाम् अन्याः अन्यतराः) उनमें से कोई, दोनों में से कोई एक [जलधारायें] (अतिलवणाः) अति खारी (अपेयाः) न पीने योग्य और (अस्वाद्व्यः) अरोचक थीं, (ताः अशान्ताः रेतः) वे अशान्त बीज [होती हुयी] (समुद्रं वृत्वा) समुद्र [परमात्मा] को स्वीकार करके (अतिष्ठन्) ठहरीं [देखो कण्डिका ७]। (अथ

(आपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उ० २ । ५८) आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्, जसि दीर्घः। व्यापनशक्तयः। जलानि ॥

३—(अपः) जलानि (छायाम्) माछाशसिभ्यो यः (उ० । ४ । १०९) छो छेदने—यप्रत्ययः। प्रकाशावरणम्। कान्तिम्। प्रतिबिम्बम् (अस्य) ब्रह्मणः (ईक्षमाणस्य) पश्यतः (रेतः) बीजम् (अस्कन्दत्) अक्षरत् (द्वैधम्) द्वित्र्योश्च धमुञ् (पा० ५ । ३ । ४५) द्वि-धमुञ्। द्विविधम् (अस्वाद्व्यः) अरुचिकराः (समुद्रम्) सम् + उत् + द्रु—डप्रत्ययः। समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा—

इतरा:) और दूसरी [जलधारायें] (पेया:) पीने योग्य, (स्वाद्व्य:) रोचक और (शान्ता:) शान्त थीं, (ता: तत्र एव अभि अश्राम्यत्) उनको वहाँ ही उसने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भाँति तपाया। (ताभ्य: श्रान्ताभ्य: तप्ताभ्य: सन्तप्ताभ्य:) उन दबाई हुई, तपाई हुई, भली भाँति तपाई हुई [जल धाराओं] से (यत् रेत: आसीत्) जो बीज हुआ, (तत् अभृज्यत) वह पक गया [अथवा चमक उठा]। (यत् अभृज्यत) जो वह पक गया [वा चमक उठा], (तस्मात्) उससे (भृगु:) वह भृगु [भर्ग वाला अर्थात् चमकीला तत्त्व विशेष] (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ, (तत्) वह (भृगो:) भृगु का (भृगुत्वम्) भृगुपन [पक्वपन वा चमकीलापन] है। (भृगु: इव वै) भृगु के समान ही (स: सर्वेषु लोकेषु भाति) वह सब लोकों [जीवों] में चमकता है, (य: एवं वेद) जो ऐसा विद्वान् है ।। ३ ।।

भावार्थ:— ब्रह्म ने जल रूप तत्त्व के दो रूप किये एक अतिसूक्ष्म परमाणु रूप जिसको हम ग्रहण नहीं कर सकते, और दूसरा स्थूल रूप प्रकाश आदि ।।

विशेष:—१ अभृज्यत तथा भृगु: दोनों पद भ्रस्ज पाके, दीप्तौ च इस एक ही धातु से बने हैं यह दोनों में समता है ।।

विशेष:—२ मनु महाराज अ० १ श्लोक ८, ९, १२, १३ में ऐसा कहते हैं—सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा: प्रजा:। अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।। ८ ।। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह: ।। ९ ।। तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ।। १२ ।। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे। मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।। १३ ।। उस [परमात्मा] ने अपने शरीर से अनेक प्रजायें उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए सब ओर से ध्यान करके अप् [जल तत्त्व] को पहिले उत्पन्न किया और उसमें बीज छोड़ दिया ।। ८ ।। वह [बीज] सूर्य के समान प्रकाशवाला चमकीला अण्डा हो गया, उस अण्डे में सब लोगों का पितामह ब्रह्मा [परमात्मा] अपने आप प्रकट हुआ ।। ९ ।। उस अण्डे में उस भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमात्मा] ने वर्ष भर रह कर अपने आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे को दो टुकड़े कर दिया ।। १२ ।। उस [परमात्मा] ने उन दो टुकड़ों से सूर्य और पृथिवी, बीच में आकाश, आठ दिशाओं और जलों के नित्य स्थायी स्थान को बनाया ।। १३ ।।

निरु० १४ । १६ । परमात्मानम् । जलौघम् (वृत्वा) स्वीकृत्य (अभृज्यत) भ्रस्ज पाके लङ् । पक्वमभवत् । अदीप्यत (भृगु:) प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ० १ । २८) भ्रस्ज पाके च—कु:, सम्प्रसारणं सलोपो न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वं च । भृगव:, मध्यस्थानीदेवता:—निरु० ११ । १९ । भर्गयुक्त: । परिपक्व: । तेजस्वी । परमात्मरूपम् (वेद) विद ज्ञाने—लट् । वेत्ति । जानाति ।।

कण्डिका ४

स भृगुं सृष्ट्वाऽन्तरधीयत, स भृगुः सृष्टः प्राङेजत तं वागन्ववदद्वायो वायो इति, स न्यवर्त्तत, स दक्षिणां दिशमेजत तं वागन्ववदत् मातरिश्वन् मातरिश्वन्निति, स न्यवर्त्तत स प्रतीचीं दिशमेजत तं वागन्ववदत् पवमानः पवमान इति, स न्यवर्त्तत स उदीचीन्दिशमेजत तं वागन्ववदद्वात वातेति तमब्रवीन्नन्व-विदामह इति, नहीत्यथार्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तद्यदब्रवीदथार्वाङेनमेता-स्वेवाप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्, तदथर्वणोऽथर्वत्वम्। तस्य ह वा एतस्य भगवतोऽथर्वण ऋषेर्यथैव ब्रह्मणो लोमानि यथाऽङ्गानि यथा प्राण एवमेवास्य सर्व आत्मा समभवत्तमथर्वाणं ब्रह्माऽब्रवीत् प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति। तद्यदब्रवीत् प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति, तस्मात् प्रजापतिरभवत्, तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वमथर्वा वै प्रजापतिः, प्रजापतिरिव वै स सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

कण्डिका ४। अथर्वा और प्रजापति ॥

(स भृगुं सृष्ट्वा अन्तर् अधीयत) वह [परमात्मा] भृगु [पकाने वाले वा चमकीले तत्त्व] को उत्पन्न करके अन्तर्धान हो गया। (सः भृगुः सृष्टः प्राङ् एजत = ऐजत) वह भृगु उत्पन्न होकर पूर्व को चला। (तं वाक् अनु अवदत्) उस से वाणी [वेद वाणी] कहने लगी—(वायो वायो इति) हे वायु! वायु! [चलनेवाले पवन]। (स न्यवर्तत) वह लौटा। (स दक्षिणां दिशम् एजत) वह दक्षिण दिशा को चला। (तं वाक् अनु अवदत्) उससे वाणी कहने लगी—(मातरिश्वन् मातरिश्वन् इति) हे मातरिश्वन्! हे मातरिश्वन्! [आकाश में बढ़ने वाले पवन]। (स न्यवर्तत) वह लौटा। (स प्रतीचीं दिशम् एजत) वह पश्चिम दिशा को चला। (तं वाक् अनु अवदत्) उससे वाणी कहने लगी—(पवमानः पवमान इति) हे पवमान! पवमान [शोधने वाले पवन]। (सः न्यवर्तत) वह लौटा। (स उदीचीं दिशम् एजत) वह उत्तर दिशा को चला। (तं वाक् अनु अवदत्) उससे वाणी कहने लगी (वात वात इति) हे वात! वात! [सेवनीय पवन]। (तम् = ताम्) उस [वाणी] से (अब्रवीत्) वह बोला (ननु अविदामहे इति) क्या [उस परमात्मा को] हमने जाना है? [वाणी ने कहा]

४—(अन्तरधीयत) अन्तर् + डुधाञ् धारणपोषणयोः कर्मणि लङ्। अन्त-र्हितोऽदृष्टोऽभवत् (प्राङ्) प्र + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। पूर्वस्यां दिशि। (एजत) एजृ कम्पने—लङ्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (पा० ६।४।७५) आडभावः। अकम्पत। अगच्छत्। (वाक्) वेदवाणी (अनु) अनन्तरम् (वायो) कृवापाजिमि० (उ० १।१) वा गतिगन्धनयोः—उण् युक् च। हे गतिशील पवन (मातरिश्वन्) श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० १।१५९) मातरि + टुओश्वि गति-वृद्ध्योः, श्वस प्राणने, शीङ् स्वप्ने वा—कनिन्। मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा—निरु० ७।२६। मातरि मानकर्तरि आकाशे हे वृद्धिशील

(नहि इति) नहीं [जाना है] (अथ अर्वाङ्) अब सामने (एनम्) इस [पुरुष] को (एतासु एव) इन ही (अप्सु) जलों [भाप समान व्यापक तन्मात्राओं] में (अन्विच्छ इति) खोज । (तत् यत्) वह जो (अब्रवीत्) उस [वाणी] ने कहा—(अथ अर्वाङ् एनम् एतासु एव अप्सु अन्विच्छ इति) अब सामने इस [पुरुष] को इन्हीं जलों [भाप समान व्यापक तन्मात्राओं] में खोज—(तत् अथर्वा अभवत्) वह अथर्वा [निश्चल परमात्मा] हुआ [अर्थात् अथर्वा पद अथ और अर्वाङ् से बना है] । (तत् अथर्वणः अथर्वत्वम्) वह अथर्वा का अथर्वापन है [फिर सामने होना है] । (यथा एव ब्रह्मणः लोमानि) जैसे ही ब्रह्म के रोम, (यथा अङ्गानि) जैसे अङ्ग [हाथ पैर आदि] थे और (यथा प्राणः) जैसा प्राण था (एवम् एव) वैसा ही (अस्य तस्य एतस्य) इस बहुत प्रसिद्ध (भगवतः) भगवान् [ऐश्वर्यवान्] (अथर्वणः ऋषेः) अथर्वा ऋषि का (ह) भी (वै) निश्चय करके (सर्वः आत्मा) सब आत्मा [शरीर] (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ । (तम् अथर्वाणं ब्रह्म अब्रवीत्) उस अथर्वा से ब्रह्म बोला । (प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व इति) प्रजापति की प्रजाओं [जीव जन्तु आदि पदार्थों] को उत्पन्न करके पाल । (तत् यत् अब्रवीत्) वह जो उस [ब्रह्म] ने कहा—(प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्व इति) प्रजापति की प्रजाओं को उत्पन्न करके पाल—(तस्मात् प्रजापतिः अभवत्) उससे वह प्रजापति हुआ, (तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम्) वह प्रजापति का प्रजापतित्व है । (अथर्वा वै प्रजापतिः) अथर्वा ही प्रजापति है । (प्रजापतिः इव वै) प्रजापति के समान ही (सः सर्वेषु लोकेषु भाति) वह पुरुष सब लोकों में चमकता है, (यः एवं वेद) जो ऐसा विद्वान् है ।। ४ ।।

भावार्थः ऋषि लोग ज्ञानशक्ति से पवन द्वारा सब दिशाओं में ब्रह्म को खोजने लगे, अन्त में ब्रह्म को सब परमाणुओं में सर्वथा व्यापक पाया । ब्रह्म के ही नाम यहाँ भृगु, अथर्वा और प्रजापति हैं ।। ४ ।।

पवन (पवमानः) पूञ् पवने-शानच् मुक् च । हे शोधक पवन (वात) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३ । ८६) वा गतिगन्धनयोः-तन् । हे सेवनीय पवन (अर्वाङ्) स्नामदिपद्यर्त्ति० (उ० ४ । ११३) ऋ गतौ--वनिप्, इति अर्वन् । ऋत्विग्-दधृग्० (पा० ३ । २ । ५९) अर्वन्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, अर्वन्तम् अञ्चतीति । अभिमुखः । (अथर्वा) अथर्वाणोऽथन[1]वन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्ति० (उ० ४ । ११३) अ+थर्व चरणे=गतौ—वनिप् । यद्वा अथ+ऋ गतौ—वनिप्, अत्र तु अथ+अर्वाङ् । निश्चलः । मङ्गल-शीलः । आनन्तर्येण समीपः । परमात्मा । वेदः । वेदज्ञाता पुरुषः । (ऋषेः) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) ऋषी गतौ—इन् कित् । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । दर्शकस्य । दर्शनीयस्य (आत्मा) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४ । १५३) अत सातत्यगमने – मनिण् । स्वरूपम् । देहः । जीवः । ब्रह्म ।।

---

१. अथर्वणवन्तः यह समीचीन पाठान्तर है ।

।। कण्डिका ५ ।।

तमथर्वाणमृषिमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्, समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात् सन्तप्तात् दशतयानथर्वण ऋषीन्निरमिमतैकर्चान् द्वृचाँस्तृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षडर्चान् सप्तर्चानष्टर्चान्नवर्चान्दशर्चानिति । तानथर्वण ऋषीनभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्, तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यो दशतयानाथर्वणानार्षेयान्निरमिमतैकादशान् द्वादशांस्त्रयोदशांश्चतुर्दशान् पञ्चदशान् षोडशान् सप्तदशानष्टादशान्नवदशान् विंशानिति । तानथर्वण ऋषीनाथर्वणांश्चार्षेयानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यो यान् मन्त्रानपश्यत् स आथर्वणो वेदोऽभवत् तमाथर्वणं वेदमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् सन्तप्तादोमिति मन एवोद्र्ध्वमक्षरमुदक्रामत्, स य इच्छेत्सर्वैरेतैरथर्वभिश्चाथर्वणैश्च कुर्वीयेत्येतयैव तं महाव्याहृत्या कुर्वीत । सर्वैर्ह वा अस्यैतैरथर्वभिश्चाथर्वणैश्च कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतया महाव्याहृत्या कुरुते ।। ५ ।।

कण्डिका ५ ।। दस अथर्वा ऋषि, दस आथर्वण, वेद और ओम् ।।

(तम् अथर्वाणम् ऋषिम्) उस अथर्वा ऋषि [अर्थात् अपने] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भांति तपाया । (तस्मात् श्रान्तात् तप्तात् सन्तप्तात्) उस दबाये हुए, तपाये हुए भली भांति तपाये हुए [अथर्वा] से (दशतयान् अथर्वणः ऋषीन्) दस प्रकार वाले अथर्वा (निश्चल) ऋषियों [दर्शनीय वेदज्ञानों] को (निर् अमिमत्) उसने बनाया, [अर्थात्] (एक–ऋचान्) एक [ओम् परमात्मा] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेद ज्ञानों] को, (द्वि––ऋचान्) दो [स्थावर और जङ्गम संसार] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (तृचान्) तीन [भूत, भविष्यत्, वर्तमान] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (चतुर्––ऋचान्) चार [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (पंच–ऋचान्) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पांच तत्त्वों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (षट्–ऋचान्) छह [वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, ऋतुओं] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (सप्त—ऋचान्) सात [दो कान, दो नयने, दो आँखें, एक मुख अथर्व १० । २ । ६] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को, (अष्ट–ऋचान्) आठ [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि,

---

५––अथर्वाणम् - गो० पू० १ । ४ निश्चलम् । ऋषिम्—गो० पू० १ । ४ । सन्मार्गदर्शक स्वात्मानम् (दशतयान्) संख्याया अवयवे तयप् (पा० ५ । २ । ४२) दशन्–तयप् दशप्रकारान् (ऋषीन्) दर्शनीयान् वेदमन्त्रान् (निर् अमिमत) माङ् माने–लङ् आर्षं बहुवचनम् । अमिमीत । निर्मितवान् (एकऋचान्) ऋच स्तुतौ—क्विप् । ऋग्वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (पा० ५ । ४ । ७४) एक + ऋच्–अप्रत्ययः समासान्तः । एकस्य ओम् इत्यस्य परमात्मनः ऋक्

योग के आठ अंगों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को (नव–ऋचान्) नव [आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्। निष्ठावृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम्– ति शब्दकल्पद्रुमः–इन नौ कुल लक्षणों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [ज्ञानों] को और (दश ऋचान्–इति) दस [दान, शील, क्षमा, वीरता, ध्यान, बुद्धि, सेना, उपाय, दूत, ज्ञान, इन दस बलों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेद ज्ञानों] को [इस विषय के लिये देखो – अथर्व० १६। २३। २० १६. १। ७] (तान्) उन (अथर्वणः) अथर्वा [निश्चल] (ऋषीन्) ऋषियों [दर्शनीय वेद ज्ञानों] को (अभि अश्राम्यत्) सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भांति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) उन दबाये हुये, तपाये हुये, भली भांति तपाये हुये [निश्चल वेदज्ञानों] से (दशतयान्) दस प्रकार वाले (आथर्वणान्) आथर्वण [निश्चल ब्रह्म से आये हुये] (आर्षेयान्) आर्षेयों [ऋषियों, वेदज्ञानों में विख्यात सूक्ष्म विज्ञानों] को (निर् अमिमत) उस [ब्रह्म] ने बनाया– [अर्थात्] (एकादशान्) ग्यारहवें [प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, दस प्राणों के सहित ग्यारहवें जीवात्मा] से सम्बन्ध वाले, (द्वादशान्) बारहवें [चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, अग्रहायण, पौष, माघ, ग्यारह, महीनों के सहित फाल्गुन महीने] से सम्बन्ध वाले, (त्रयोदशान्) तेरहवें [उछालना, गिराना, सिकोड़ना, फैलाना, और चलना पांच कर्म—तथा छोटाई, हलकाई, प्राप्ति, स्वतन्त्रता' बड़ाई, ईश्वरपन और जितेन्द्रियता, इन बारह के सहित तेरहवें सत्य संकल्प] से सम्बन्ध वाले (चतुर्दशान्) चौदहवें [कान, आंख नासिका जिह्वा, त्वचा—पांच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् हाथ, पांव, पायु, उपस्थ पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त के सहित चौदहवें अहङ्कार] से सम्बन्ध वाले, (पञ्चदशान्) पन्द्रहवें [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, और चित्र—सात रूप, तथा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त–छह रस और चौदहवें सुरभि गन्ध के सहित पन्द्रहवें असुरभि गन्ध] से सम्बन्ध वाले, (षोडशान्) सोलहवें [प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, प्रकाश, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक इन पन्द्रह कलाओं के सहित सोलहवीं कला के नाम] से सम्बन्ध

स्तुत्या विद्या येषु तान् वेदान् (द्वि–ऋचान्) सिद्धिः पूर्ववत्। द्वयोः स्थावरजङ्गमयोः स्तुत्यविद्यायुक्तान् वेदान्। तृचान्–त्रि + ऋचान्। न संप्रसारणे संप्रसारणम् (पा० ६। १। ३७) अत्र वार्तिकम्—ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि। ऋचि परतः त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणम्, ऋलोपश्च। ऋक्पूरब्० (पा० ५। ४। ७४) तृच्–समासान्तः अप्रत्ययः। त्रयाणां भूतभविष्यद्वर्तमानानां स्तुत्यविद्यायुक्तान् वेदान्। एवम् (चतुर्ऋचान्, पञ्चर्चान्) इत्यादि पदेषु सिद्धिरर्थश्च योजनीयः (आथर्वणान्) तत आगतः (पा० ४। ३। ७४) अथर्वन्–अण्। अन् (६। ४। १६७) इति अणि प्रकृतिभावः। अथर्वणो निश्चलात् परमे-

वाले, (सप्तदशान्) सत्रहवें [चार दिशा, चार विदिशा, एक उपर की एक नीचे की, दस दिशायें—सत्व, रज, और तम तथा ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन सोलह के सहित सत्रहवें संसार] से सम्बन्ध वाले, (अष्टादशान्) अट्ठारहवें [धैर्य, सहन, मन का रोकना, चोरी न करना, शुद्धता जितेन्द्रियता, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना—यह दश धर्म—तथा ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सुवर्ण, घृत, सूर्य, जल—इन सात मंगलों के सहित अठारहवें राजा] से सम्बन्ध वाले, (नवदशान्) उन्नीसवें [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चार वर्ण, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—चार आश्रम, सत्संग सुनना, विचारना, ध्यान करना—चार कर्म, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि, बढ़े हुये का सन्मार्ग में व्यय करना, चार पुरुषार्थ—मन बुद्धि इन अट्ठारह के सहित उन्नीसवें अहङ्कार] से सम्बन्ध वाले (विंशान् इति) और बीसवें [पृथिवी आदि पांच सूक्ष्मभूत, पृथिवी आदि पांच स्थूल भूत—कान, आंख, नासिका, जिह्वा, त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, हाथ, पांव, पायु, इन उन्नीस के सहित बीसवें उपस्थेन्द्रिय] से सम्बन्ध वाले [सूक्ष्म विज्ञानों को उस ब्रह्म ने बनाया]—[इस विषय के लिये देखो अथर्व काण्ड १६ सूक्त २३ मन्त्र ८–१७]। (तान्) उन (अथर्वणः) अथर्वा [निश्चल] (ऋषीन्) ऋषियों [सन्मार्ग दर्शक वेदज्ञानों] (च) और (आथर्वणान्) आथर्वण [निश्चल ब्रह्म से आये हुये] (आर्षेयान्) आर्षेयों [ऋषियों वेदज्ञानों में विख्यात सूक्ष्म विज्ञानों) को (श्रमि–अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया (अभि अतपत्) सब ओर तपाया, (सम् अतपत्) भली भांति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) उन दबाये हुए, तपाये हुए, भली भांति तपाये हुये [बीसों] से (यान्) जिन (मन्त्रान्) मन्त्रों [अति सूक्ष्म विचारों] को (अपश्यत्) उस [ब्रह्म] ने देखा, (सः) वह (आथर्वणः) आथर्वण [निश्चल ब्रह्म का] (वेदः) वेद (अभवत्) हुआ [अर्थात् समस्त चारों वेदोक्त विज्ञान प्रकट हुवे] (तम्) उस (आथर्वणम् वेदम्) आथर्वण वेद [निश्चल ब्रह्म के विज्ञान] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भांति तपाया। (तस्मात् श्रान्तात् तप्तात् सन्तप्तात्) उस दबाये हुये, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुये [वेद] से (ओम् इति मनः एव) ओम् [सर्वरक्षक अर्थात्] मन [मननशील ब्रह्म] ही (ऊर्ध्वम्)

श्वराद् आगतान् प्राप्तान् (आर्षेयान्) पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् (पा० ४। ४। १०४) ऋषि–ढञ् बाहुलकात्। ऋषिषु विख्यात आर्षेयः— महीधर भाष्ये, यजु० ७। ४६। आर्षेयः ऋषिषु साधुस्तत्सम्बुद्धौ—दयानन्द भाष्ये यजु० २१। ६१। ऋषिषु वेदमन्त्रेषु विख्यातानि सूक्ष्मविज्ञानानि (एकादशान्) तस्य पूरणे डट् (पा० ५। २। ४८) एकादशन्–डट्। अर्शआदिभ्योऽच् (पा० ५। २। १२७) एकादश-अच्। प्राणापानोदानव्यानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्त धनञ्जयाः-इति दशभिः प्राणैः सहितस्यैकादशस्य जीवात्मनः सम्बद्धानि विज्ञानानि (द्वादशान्) आदीनि पदान्येवमेव साधनीयानि योजनीयानि च

ऊंचा [उत्कृष्ट] (अक्षरम्) अक्षर [अविनाशी ब्रह्म शब्द] (उत् अक्रामत्) निकला। (सः यः) वह पुरुष जो (इच्छेत्) चाहे-(एतैः सर्वैः) इन सब (अथर्वभिः) अथर्वाओं [निश्चल वेद ज्ञानों] से (च) और भी (आथर्वणैः) आथर्वणों [निश्चल ब्रह्म के विज्ञानों] से (कुर्वीय इति) मैं [पुरुषार्थ] करूँ-वह (एतया एव) इस ही (महाव्याहृत्या) महाव्याहृति [महावाक्य ओम्] से (तम्) उस [पुरुषार्थ] को (कुर्यात्) करे। (अस्य) उस [पुरुष] का (एतैः सर्वैः) इन सब (अथर्वभिः) अथर्वाओं [निश्चल वेदज्ञानों] से (च च) और भी (आथर्वणैः) आथर्वणों [निश्चल ब्रह्म के विज्ञानों] से (ह वै) ही अवश्य (कृतम्) कर्म (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा विद्वान् है, (च यः) और जो (एवम् विद्वान्) ऐसा विद्वान् [जानकार होकर] (एवम्) इस प्रकार से (एतया महाव्याहृत्या) इस महाव्याहृति [ओम्] से (कुरुते) कर्म करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—ऋषि महात्माओं ने ब्रह्म को उसके प्रकट किए हुए ज्ञानों और विज्ञानों द्वारा सब ज्ञानों और विज्ञानों का सार एक ओ३म् को सर्वरक्षक सर्वव्यापक परमात्मा माना है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ ॥

स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यद् भूय आत्मानं समतपत् स आत्मन एवं त्रींल्लोकान्निरमिमत पृथिवीमन्तरिक्षन्दिवमिति। स खलु पादाभ्यामेव पृथिवीं निरमिमतोदरादन्तरिक्षम्, मूर्ध्नोदिवम्। स तांस्त्रींल्लोकानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्स-मतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमताग्नि वायुमादि-त्यमिति। स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमतान्तरिक्षाद्वायुन्दिव आदित्यम्। स तांस्त्रीन् देवानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्य-स्त्रीन् वेदान्निरमिमत ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति, अग्ने ऋग्वेदं, वायोर्यजुर्वेद मादित्यात्सामवेदम्। स तांस्त्रीन् वेदानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्ते-भ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्तिस्रो महाव्याहृतीर्निरमिमत भूर्भुवः स्वरिति। भूरि-त्यृग्वेदात्, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्। स य इच्छेत्सर्वैरेतैस्त्रिभि-र्वेदैः कुर्वीयेत्येताभिरेव तं महाव्याहृतिभिः कुर्वीत सर्वैर्ह वा अस्यैतैस्त्रिभिर्वेदैः कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेताभिर्महाव्याहृतिभिः कुरुते ॥ ६ ॥

(ओम्) पू० १। १। सर्वरक्षकः परमेश्वरः (मनः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) मन ज्ञाने-असुन्। मननशीलं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टम् (अक्षरम्) न क्षरतीति। अविनाशि ब्रह्म (उत् अक्रामत) उदगच्छत् (कुर्वीय) अहं पुरुषार्थं कुर्याम् (तम्) पुरुषार्थम् (महाव्याहृत्या) महती चासौ व्याहृति-श्चेति। महावाक्येन (कुर्वीत) कुर्यात् (कुरुते) कर्म करोति ॥

६--(पृथिवीम्) प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च (उ० १। १५०) प्रथ ख्यातौ विस्तारे च--षिवन्, संप्रसारणं, ङीष्। सर्वं विस्तारकं परमात्म-

कंडिका ६ ॥ तीन लोक, तीन देवता, तीन वेद और तीन महाव्याहृति

(सः भूयः आत्मानम् अश्राम्यत्) उस [परमात्मा] ने फिर अपने को दबाया, (भूयः अतप्यत्) फिर तपाया, (भूयः सम् अतपत्) फिर भली भांति तपाया। (सः आत्मनः एव त्रीन् लोकान् निर् अमिमत) उसने अपने में से ही तीन लोक बनाये [अपने तीन रूप प्रकट किये], (पृथिवीम्, अन्तरिक्षम्, दिवम् इति) पृथिवी [सब का फैलाने वाला] अन्तरिक्ष [सब के भीतर देखने वाला] और प्रकाश लोक [सर्व प्रकाशक रूप]। (स खलु पादाभ्याम् एव पृथिवीं निर् अमिमत) उसने निश्चय करके दोनों पावों से ही पृथिवी [सर्व प्रसारक रूप] को बनाया. (उदरात् अन्तरिक्षम्) पेट से अन्तरिक्ष [सब के भीतर दीखने वाला रूप] और (मूर्द्ध्नः दिवम्) मस्तक से प्रकाश लोक [सर्व प्रकाशक रूप] को (सा तान् त्रीन् लोकान्) उसने तीनों लोकों [अपने तीनों रूपों] को (अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से दबाया. सब ओर से तपाया और भली भांति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) उन दबाये हुए तपाये हुए, भली भांति तपाये हुओं से (त्रीन् देवान् निर् अमिमत) तीन देवता [अपने दिव्यरूप] बनाये, (अग्निम्) अग्नि [सर्वज्ञ] (वायुम्) वायु [सर्वव्यापक] और (आदित्यम् इति) आदित्य [सब प्रकाशस्वरूप]। (सः खलु) उसने निश्चय करके (पृथिव्याः एव) पृथिवी [अपने सर्व विस्तारक स्वरूप] से ही (अग्निम्) अग्नि [अपना सर्वज्ञ स्वरूप] (निर् अमिमत) बनाया, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष [सब में दीखने वाले स्वरूप] से (वायुम्) वायु [सर्वव्यापक स्वरूप] और (दिव) प्रकाश लोक [प्रकाशक स्वरूप] से (आदित्यम्) आदित्य [सर्व प्रकाशक स्वरूप] (सः तान् त्रीन् देवान्) उसने उन तीन देवताओं [दिव्य स्वरूपों] को (अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया और भली भांति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) उन दबाए हुए, तपाये हुए, भली भाँति तपाये हुओं से (त्रीन् वेदान्) तीनों वेदों को (निर् अमिमत) बनाया—(ऋग्वेदम्) ऋग्वेद [पदार्थों की गुण प्रकाशक विद्या], (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद [सत्कर्मों की विद्या] और (सामवेदम् इति) सामवेद [मोक्ष विद्या—अर्थात् अथर्ववेद सहित चारों वेदोक्त परमेश्वर के कर्म, उपासना, ज्ञान रूप त्रयी विद्या को बनाया] (अग्नेः) अग्नि [अपने सर्वज्ञ स्वरूप] से (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद [पदार्थों की गुण प्रकाशक विद्या] (वायोः) वायु [सर्वव्यापक स्वरूप] से (यजुर्वे-

---

रूपम् । भूमिम् । (अन्तरिक्षम्) अन्तर् + ईक्ष दर्शने—घञ् । सर्वमध्ये दृश्यमानं रूपम्। आकाशम् (दिवम्) दिवु क्रीडाविजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्विप् । सर्वप्रकाशकं रूपम् । सूर्यम्—(अग्निम्) अङ्गेर्नलोपश्च (उ० ४ । ५०) अगि गतौ—निः, नलोपः । सर्वज्ञरूपम् । वह्निम् (वायुम्) क० ३ । सर्वाधारकं रूपम् (आदित्यम्) अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । ११२) आङ् + डुदाञ् दाने वा दीपि दीप्तौ—यक्, निपातनात् सिद्धिः । आदीप्यमानम् । सर्वप्रकाशकं,

दम्) यजुर्वेद [सत्कर्मों की विद्या] और (आदित्यात्) आदित्य [सर्व प्रकाशक स्वरूप] से (सामवेदम्) सामवेद [मोक्षविद्या] को । (सः तान् त्रीन् वेदान्) उसने उन तीनों वेदों को (अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया और भली भांति तपाया. (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः) उन दबाये हुए, तपाये हुए, भली भांति तपाये हुओं से (तिस्रः महाव्याहृतीः) तीन महाव्याहृतियों [महावाक्यों] को (निर् अमिमत) उस [परमात्मा] ने बनाया— (भूः) भूः [सर्वाधार] (भुवः) भुवः [सर्वव्यापक] और (स्वः इति) स्वः [सुख स्वरूप परमात्मा है—इनको]—(भूः इति) भूः को (ऋग्वेदात्) ऋग्वेद से (भुवः इति) भुवः को (यजुर्वेदात्) यजुर्वेद से और (स्वः इति) स्वः को (सामवेदात्) सामवेद से । (सः यः) वह पुरुष जो (इच्छेत्) चाहे—(एतैः सर्वैः) इन सब (त्रिभिर्वेदैः) तीनों वेदों से (कुर्वीय इति) मैं [पुरुषार्थ] करूँ—(तम्) उस [पुरुषार्थ] को (एताभिः एव महाव्याहृतिभिः) इन ही महाव्याहृतियों से (कुर्वीत) वह करे । (अस्य) उस [पुरुष] का (एतैः सर्वैः) इन सब (त्रिभिः वेदैः) तीनों वेदों से (ह वै) ही अवश्य (कृतम्) कर्म (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है, (च यः) और जो (एवम् विद्वान्) ऐसा विद्वान् [होकर] (एताभिः महाव्याहृतिभिः) इन महाव्याहृतियों से (कुरुते) कर्म करता है ।। ६ ।।

भावार्थ:—परमेश्वर ने अपने सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता से कर्म, उपासना, ज्ञान त्रयी विद्या और भूर्भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों को मनुष्यों के सुख के लिए प्रकाशित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, अग्नि वायु आदित्य आदि परमेश्वर के नाम हैं और तीन वेदों अर्थात् त्रयी विद्या कहने से अथर्ववेद सहित चारों वेदों का ग्रहण है। पृथिवी आदि बहुत से शब्द ईश्वर नाम वाची महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास में व्याख्यात हैं। अग्नि आदि ईश्वर के नाम हैं। इसका प्रमाण—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। यजु० ३२ । १ । अर्थ : - (तत् एव) वही [ब्रह्म] (अग्निः)

स्वरूपम् । (वेदान्) हलश्च (पा० ३ । ३ । १२१) विद ज्ञाने, विद सत्तायां विद विचारणे—घञ् । त्रयीविद्यायुक्तान् परमेश्वरीयबोधान् (ऋग्वेदम्) ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणान् अनया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्च ऋग्वेदः । पदार्थगुणप्रकाशिकां विद्याम् (यजुर्वेदम्) अर्तिपृवपियजि० (उ० २ । ११७) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—उसिः । सत्कर्मप्रकाशिकां विद्याम् (सामवेदम्) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४ । १५३) षो अन्तकर्मणि—मनिन् । दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (भूः) भू सत्तायां प्राप्तौ—रुक् । सर्वाधारः परमेश्वरः (भुवः) भूरिञ्जिभ्यां कित् (उ० ४ । २१७) भू सत्तायां प्राप्तौ—असुन् । सर्वव्यापकः शुद्धस्वरूपः परमेश्वरः (स्वः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ३ । २ । ७५) सु+ऋ गतौ विच्, यद्वा स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । सुखस्वरूपः । परमेश्वरः ।।

अग्नि [ज्ञान स्वरूप] [तत् आदित्यः] वही आदित्य [सर्वप्रकाशक], (तत् वायुः) वही वायु [अनन्त बलवान् और सर्वधर्ता] (तत् उ चन्द्रमाः) वही चन्द्रमा [आनन्दकारक] तत् एव शुक्रम्) वही शुक्र [शुद्ध स्वभाव वाला] (तत् ब्रह्म) वही ब्रह्म [सब से बड़ा] (ताः आपः) वही आप [सर्वव्यापक] और (सः प्रजापतिः) वही प्रजापति [उत्पन्नों का पालन करने वाला] है। चारों वेद ईश्वर कृत हैं, इसका प्रमाण (तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत) ऋ० १० । ९० । ९ । यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १९ । ६ । १३ । (तस्मात् यज्ञात्) उस पूजनीय (सर्वहुतः) सबके दाता परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुण प्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) सामवेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये। (तस्मात्) उससे (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्द दायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उससे (यजुः) यजुर्वेद [सत् कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान करो—ऐतरेय ब्राह्मण ५ । ३२ ॥

कण्डिका ७ ॥

ता या अमू रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठंस्ताः प्राच्यो दक्षिणाच्यः प्रतीच्य उदीच्यः समवद्रवन्त । तद्यत्समवद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते । ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमह इति । यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते । परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः । स समुद्रादमुच्यत स मुच्युरभवत्तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते । परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः । तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत् तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते । परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ॥ ७ ॥

कण्डिका ७ ॥ समुद्र, वरुण, मृत्यु और अङ्गिरा ॥

(ताः या अमूः) वे जो कुछ [व्यापक तन्मात्रायें जल की भाप समान] (रेतः) बीज [होकर] (समुद्रम्) समुद्र [सर्वव्यापक परमात्मा] को (वृत्वा) लेकर (अतिष्ठन्) ठहरीं [कण्डिका ३ देखो], (ताः) वे सब (प्राच्यः) सामने वाली वा पूर्व, (दक्षिणाच्यः) दाहिनी वा दक्षिण, (प्रतीच्यः) पीछे वाली वा पश्चिम और (उदीच्यः) बाईं वा उत्तर दिशा से (सम् अवद्रवन्त = अव अद्रवन्त) बह कर आयीं । (तत् यत् सम् अव अद्रवन्त) वे जो बह कर आयीं, (तस्मात्)

७—(वृणीमहे) स्वीकुर्मः (वरणः) सुयुरुवृञो युच् (उ० २ । ७४) वृञ् वरणे—युच् । स्वीकरणीयः (वरुणः) कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३ । ५३) वृञ् वरणे—उनन् । वरणीयः स्वीकरणीयः (मुच्युः) भुजिमृङ्भ्याम् युक्त्युकौ (उ० ३ ।

इसलिये (**समुद्रः**) समुद्र [सर्व व्यापक परमात्मा] (**उच्यते**) कहा जाता है। (**ताः भीताः**) वे डरी हुई (**अब्रुवन्**) बोलीं—(**भगवन्तम् एव**) भगवान् [श्रीमान् आप] को ही (**वयम्**) हम (**राजानम्**) राजा (**वृणीमहे इति**) ग्रहण करती हैं। (**यत् च**) और जो (**वृत्वा**) ग्रहण करके (**अतिष्ठन्**) वे ठहरीं, (**तत्**) उस से (**वरणः अभवत्**) वह वरण [ग्रहण योग्य] हुआ। (**तं वै एतं वरणं सन्तम्**) उस ही ऐसे वरण [ग्रहण योग्य] होते हुये को—(**वरुणः इति आचक्षते**) यह वरुण [स्वीकरणीय] है—ऐसा वे कहते हैं (**परोक्षेण**) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्तमान ब्रह्म] के द्वारा (**परोक्षप्रियाः इव हि**) परोक्ष प्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (**देवाः**) देवता [विद्वान् लोग] (**प्रत्यक्षद्विषः**) प्रत्यक्ष [वर्तमान अवस्था] के द्वेषी (**भवन्ति**) होते हैं। [देखो कण्डिका १]। (**सः**) वह [वरुण परमेश्वर] (**समुद्रात्**) समुद्र [सर्वव्यापक परमेश्वर से (**अमुच्यत**) छूटा, (**सः**) वह (**मुच्युः**) मुच्यु [छुटा हुआ ईश्वर] (**अभवत्**) हुआ। (**तम्**) उस [दूरवर्ती] (**वै**) निश्चय करके (**एतम्**) इस [समीपवर्ती] (**मुच्यु सन्तम्**) मुच्यु [छुटे हुये ईश्वर] होते हुवे को (**मृत्युः इति आचक्षते**) यह मृत्यु [छुटा हुआ वा छुड़ाने वाला मारने वाला वा वियोग करने वाला ईश्वर] है—ऐसा वे कहते हैं। (**परोक्षेण**) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (**परोक्षप्रियाः इव हि**) परोक्षप्रिय [आँख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (**देवाः**) देवता [विद्वान् लोग] (**प्रत्यक्षद्विषः**) प्रत्यक्ष [वर्त्तमान अवस्था] के द्वेषी (**भवन्ति**) होते हैं—[देखो कण्डिका १]। (**तं वरुणम्**) उस वरुण [स्वीकरणीय] (**मृत्युम्**) मृत्यु [छुटने वा छुड़ाने वाले स्वरूप] को (**अभि अश्राम्यत्**) उस [परमात्मा] ने सब ओर से दबाया, (**अभि अतपत्**) सब ओर से तपाया (**सम् अतपत्**) भली भाँति तपाया, (**तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य**) उस दबाये हुये, तपाये हुये, भली भांति तपाये हुये के (**सर्वेभ्यः अङ्गेभ्यः**) सब अङ्गों से (**रसः अक्षरत्**) रस बहा। (**सः अङ्गरसः अभवत्**) वह अङ्गरस [सब के अङ्गों का रस] हुआ, (**तम् वै एतम्**) उस निश्चय करके समीप और दूरवर्ती (**अङ्गरसं सन्तम्**) अङ्गों का रस होते हुये को—(**अङ्गिरा इति आचक्षते**) यह अङ्गिरा [सर्वव्यापक] है—ऐसा वे कहते हैं। (**परोक्षेण**) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (**परोक्षप्रियाः इव हि**) परोक्ष प्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगो के समान ही (**देवाः**) देवता [विद्वान् लोग] (**प्रत्यक्षद्विषः**) प्रत्यक्ष [वर्त्तमान अवस्था] के द्वेषी (**भवन्ति**) होते हैं [देखो कण्डिका १]॥ ७॥

---

२१) मुच्लृ मोक्षणे—युक्। मुक्तः। प्राप्तमोक्षः (मृत्युः) भुजिमृङ्भ्याम् युक्त्युकौ मृङ् प्राणत्यागे—त्युक्। सर्वस्मात् त्यक्तः पृथग्भूतः। सर्वेषां त्याजयिता। मारयिता। वियोजकः (अक्षरत्) क्षर संचलने—लङ्। संचलितवान् (अङ्गरसः) सर्वभूतानामङ्गानां रसः सारो वीर्यं वा (अङ्गिराः) अङ्गेरसिः (उ० ४। २३६) अगि गतौ असिः, तस्य च इरुडागमः। सर्वव्यापकः। महाज्ञानी॥

भावार्थ:—सब परमाणुओं का संयोग वियोग परमात्मा की शक्ति से होता है और परमात्मा के अलग अलग अङ्गों की कल्पना करने पर भी वह इतना बड़ा सर्वव्यापी है कि सब पदार्थों के बाहर भीतर वर्तमान रहने पर वह कुछ नहीं घटता, जैसा कि इसका वेद में वर्णन है।

(पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते) अथर्व० १०।८।२९। (पूर्णात्) पूर्ण [ब्रह्म] से (पूर्णम्) सम्पूर्ण [जगत्] (उत् अचति) उदय होता है। (पूर्णेन) पूर्ण [ब्रह्म] करके (पूर्णम्) सम्पूर्ण [जगत्] (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) और भी (तत्) उस [कारण] को (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें (यतः) जिस [कारण] से (तत्) वह [सम्पूर्ण जगत्] (परिषिच्यते) सब प्रकार सींचा जाता है॥ ७॥

कण्डिका ८

तमङ्गिरसमृषिमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात्सन्तप्ताद्विंशिनोऽङ्गिरस ऋषीन्निरमिमत, तान् विंशिनोऽङ्गिरस ऋषीनभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्, तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यो दशतयानाङ्गिरसानार्षेयान्निरमिमत, षोडशिनोऽष्टादशिना द्वादशिन एकर्चांस्तृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षडर्चान् द्व्यृचान् सप्तर्चानिति। तानङ्गिरस ऋषीनाङ्गिरसांश्चार्षेयानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यो यान् मन्त्रानपश्यत्स आङ्गिरसो वेदोऽभवत्तमाङ्गिरसं वेदमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्माच्छ्रान्तात्तप्तात् सन्तप्ताज्जनदिति द्वैतमक्षरं व्यभवत्। स य इच्छेत्सर्वैरेतैरङ्गिरोभिश्चाङ्गिरसैश्च कुर्वीयेत्येतयैव तं महाव्याहृत्या कुर्वीत सर्वैर्ह वा अस्यैतैरङ्गिरोभिश्चाङ्गिरसैश्च कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतया महाव्याहृतया कुरुते॥ ८॥

कण्डिका ८॥ बीस अङ्गिरा, दश आङ्गिरस, वेद और जनत् महाव्याहृति॥

(तम्) उस [अपने] (अङ्गिरसम्) अङ्गिरा [सर्वव्यापक] (ऋषिम्) ऋषि [सन्मार्ग दर्शक स्वरूप] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से तपाया, भली भाँति तपाया। (तस्मात् श्रान्तात् तप्तात् संतप्तात्) उस दबाये हुये, तपाये हुये, भली भांति तपाये हुये से (विंशिनः) बीसवें [पृथिवी आदि पांच सूक्ष्म भूत, पृथिवी आदि पांच स्थूल भूत, कान, आंख, नासिका, जिह्वा, त्वचा, पांच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, हाथ, पांव, पायु इन उन्नीस के सहित बीसवें उपस्थेन्द्रिय] से सम्बन्ध वाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरा

८—(विंशिनः) तस्य पूरणे डट् (पा० ५।२।४८) विंशति—डट्। अत इनिठनौ (पा० ५।२।११५) विंश—इनिः। भाषोक्तपृथिव्याद्येकोनविंशतिपदार्थैः सहितस्य विंशस्य उपस्थेन्द्रियस्य सम्बद्धानि वेदज्ञानानि (अङ्गिरसः) क० ७। सर्वव्यापकानि (ऋषीन्) सन्मार्गदर्शकानि वेदज्ञानानि

[सर्वव्यापक] (ऋषीन्) ऋषियों [सन्मार्ग दर्शक वेद ज्ञानों] को (निर्-अमिमत) बनाया। (तान् विंशिनः) उन बीसवें से सम्बन्ध वाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरा [सर्वव्यापक] (ऋषीन्) ऋषियों [वेद ज्ञानों] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से तपाया, भली भाँति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः संतप्तेभ्यः) उन दबाये हुए, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुये [बीसों] से (दशतयान्) दस प्रकार वाले (आङ्गिरसान्) अङ्गिरा [व्यापक ब्रह्म] से आये हुये (आर्षेयान्) आर्षेयों [ऋषियों वेद मन्त्रों में विख्यात सूक्ष्म विज्ञानों] को (निर् अमिमत) उस [ब्रह्म] ने बनाया, [अर्थात्] (षोडशिनः) सोलहवें [प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, प्रकाश, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न वीर्य, तप मन्त्र, कर्म, लोक इन पन्द्रह कलाओं के सहित सोलहवीं कला के नाम] से सम्बन्ध वाले (अष्टादशिनः) अठारहवें [धैर्य, सहन, मन का रोकना, चोरी न करना, शुद्धता, जितेन्द्रियता बुद्धि, विद्या सत्य, क्रोध न करना, यह दस धर्म, तथा ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सुवर्ण, घृत, सूर्य, जल इन सात मंगलों के सहित अठारहवें राजा] से सम्बन्ध वाले, (द्वादशिनः) बारहवें [चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, अग्रहायण, पौष, माघ इन ग्यारह महीनों के सहित फाल्गुन महीने] से सम्बन्ध वाले, (एक-ऋचान्) एक [ओ३म् परमात्मा] की स्तुति योग्य, (तृचान्) तीन [भूत, भविष्यत्, वर्तमान] की स्तुति योग्य विद्या वाले (चतुर्-ऋचान्) चार [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] की स्तुति योग्य विद्या वाले (पञ्च-ऋचान्) पाँच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] तत्त्वों की स्तुति योग्य विद्या वाले, (षट् ऋचान्) छह [वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर ऋतुओं] की स्तुति योग्य विद्या वाले, (द्वि-ऋचान्) दो [स्थावर और जङ्गम संसार] की स्तुति योग्य विद्या वाले, (सप्त-ऋचान्) सात [दो कान, दो नथने, दो आँख, एक मुख—अथर्व० १०।२।६] की स्तुति योग्य विद्या वाले [इन सूक्ष्म विज्ञानों को बनाया]। (तान्) उन (अङ्गिरसः) अङ्गिरा [सर्वव्यापक] (ऋषीन्) ऋषियों [सन्मार्ग दर्शक वेद ज्ञानों] को (च) और (आङ्गिरसान्) आङ्गिरस अर्थात् अङ्गिरा [व्यापक ब्रह्म] से आये हुये (आर्षेयान्) आर्षेयों [ऋषियों वेद मन्त्रों में विख्यात सूक्ष्म विज्ञानों] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भाँति तपाया। (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) उन दबाये हुये, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुये [बीसों] से (यान्) जिन (मन्त्रान्) मन्त्रों [अति सूक्ष्म विज्ञानों] को (अपश्यत्) उस [ब्रह्म] ने देखा, (सः) वह (आङ्गिरसः) आङ्गिरस

(आङ्गिरसान्) तत आगतः (पा० ४।३।७४) अङ्गिरस्—अण्। अङ्गिरसः सर्वव्यापकात् परमेश्वराद् आगतान् प्राप्तान्। (आर्षेयान्) क० ७। ऋषिषु वेद-मन्त्रेषु विख्यातानि सूक्ष्मविज्ञानानि (षोडशिनः) षड्+दशन्—डट् पूरणेऽर्थे तत इनिः। प्राणादिपंचदशकलासहितस्य सम्बद्धान् (जनत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्-जगच्छतृवच्च (उ० २।८४) जन जनने—अतिः। सर्वजनयितृ ब्रह्म। (द्वैतम्)

[सर्व व्यापक ब्रह्म का] (वेदः) वेद (अभवत्) हुआ [अर्थात् चारों वेदोक्त विज्ञान प्रकट हुआ]। (तम्) उस (आङ्गिरसं वेदम्) आङ्गिरस वेद [व्यापक ब्रह्म के विज्ञान] को (अभि अश्राम्यत्) उस [ब्रह्म] ने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भाँति तपाया। (तस्मात् श्रान्तात् तप्तात् सन्तप्तात्) उस दबाये हुये, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुये [वेद] से (जनत् इति) जनत् [उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है] (द्वैतम्) दोनों [स्थावर जंगम] में पाया गया (अक्षरम्) अक्षर [अविनाशी ब्रह्म शब्द] (वि अभवत्) बाहिर हुआ। (सः यः) वह पुरुष जो (इच्छेत्) चाहे—(एतैः सर्वैः) इन सब (अङ्गिरोभिः) अङ्गिराओं [व्यापक वेद ज्ञानों] से (च च) और भी (आङ्गिरसैः) आङ्गिरसों [व्यापक ब्रह्म के विज्ञानों] से (कुर्वीय इति) मैं [पुरुषार्थ] करूँ—(तम्) उस [पुरुषार्थ] को (एतया एव) इस ही (महाव्याहृत्या) महाव्याहृति [महावाक्य जनत्] से (कुर्वीत) करे। (अस्य) उस [पुरुष] का (एतैः सर्वैः) इन सब (अङ्गिरोभिः) अङ्गिराओं [व्यापक वेद ज्ञानों] से (च च) और भी (आङ्गिरसैः) आङ्गिरसों [व्यापक ब्रह्म के विज्ञानों] से (ह वै) ही अवश्य (कृतम्) कर्म (भवति) हो जाता है. (यः एवं वेद) जो ऐसे व्यापक ब्रह्म को जानता है, (च यः) और जो (एवं विद्वान्) व्यापक ब्रह्म को जानता हुआ (एवम्) इस प्रकार से (एतया महाव्याहृत्या) इस महाव्याहृति [जनत्] से (कुरुते) कर्म करता है॥ ८॥

भावार्थः—मनुष्य बुद्धि को लगातार सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञानों द्वारा बढ़ाकर परमात्मा के ज्ञान से पुरुषार्थ के साथ आत्मोन्नति करे॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान कण्डिका ५ से करो। कण्डिका ५ में वर्णित (ओम्) के समान यहाँ पर भी (जनत्) को महाव्याहृति माना है॥ ८॥

कण्डिका ९॥

स ऊद्ध्वोऽतिष्ठत् स इमांल्लोकान् व्यष्टभ्नात्, तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊद्ध्र्वस्तिष्ठति, तद् व्रतं स मनसा ध्यायेद्यद् वा अहं किंचन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति तद्ध स्म तथैव भवति।

तदप्येतदृचोक्तम्। श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्यानां क्षितये सम्बभूव ऋज्यद् भूतं यदमृज्यतेदं निवेशनमनृणं दूरमस्येति। ता वा एता अङ्गिरसां यामयो यन्मेनयः करोति मेनिभिर्वीर्य्यं य एवं वेद॥ ९॥

कण्डिका ९॥ ब्रह्म और वेद की सर्वोत्तमता॥

(सः) वह [परमात्मा] (ऊद्ध्र्वः) ऊंचा होकर (अतिष्ठत्) ठहरा, (सः) उसने (इमान् लोकान्) इन लोकों [दीखते हुए पदार्थों] को (वि

द्वि+इण् गतौ—क्तः। द्वीतम्—स्वार्थे अण्। द्वयोः स्थावरजङ्गमयोर्मध्ये इतं प्राप्तम्॥ अन्यत् गतं क० ५॥

९—(लोकान्) लोक दर्शने—घञ्। दृश्यमानान् पदार्थान्। (अधीयानः)

अस्तभ्नात्) विविध प्रकार थाँभा । (तस्मात्) इसी से (अङ्गिरसः) अङ्गिराओं [सर्वव्यापक वेदज्ञानों] को (अधीयानः) पढ़ता हुआ मनुष्य (ऊर्द्ध्वः) ऊँचा होकर (तिष्ठति) ठहरता है । (तत् व्रतम्) इस व्रत [नियम] को (सः) वह मनुष्य (मनसा) मनन के साथ (ध्यायेत्) विचारे (यत् किञ्चन वै) जो कुछ भी (अहम्) मैं (मनसा) मनन के साथ (ध्यास्यामि) विचारूंगा, (तथा एव तत् भविष्यति) वैसा ही वह होगा, (तत् ह स्म) वह ही अवश्य (तथा एव भवति) वैसा ही होता है ।

(तत् अपि) वह भी (एतत् ऋचा) ऋचा [इस स्तुति योग्य वाणी] करके (उक्तम्) कहा गया है-(श्रेष्ठः ह वेदः) श्रेष्ठ ही वेद (तपसः) तप [ऐश्वर्यवान् ब्रह्म] से (अधिजातः) प्रकट होकर (ब्रह्मज्यानाम्) ब्रह्मज्ञानियों की हानि करने वालों के (क्षितये) नाश के लिए (सम्बभूव) समर्थ हुआ । (ऋज्यत्) चलता हुआ (भूतम्) सत्तामात्र जगत् (यत्) जिस [ब्रह्म] ने (असृजत्) बनाया है, (इदम्) यह [जगत्] (अस्य) उस [ब्रह्म] का (अनृणम्) विना उधार वाला [अर्थात् अपना निज का] (दूरम्) दूर तक (निवेशनम् इति) घर है [यह मन्त्र किसी वेद में नहीं है]। (ताः वै एताः) वे निश्चय करके यह (यत्) जो (अङ्गिरसाम्) वेद ज्ञानों की (यामयः) नियम शक्तियां हैं, (मेनयः) वे वज्र [तुल्य दृढ़] हैं । (मेनिभिः) वज्रों [दृढ़ नियमों] से (वीर्यम्) वीरता (करोति) करता है, (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—सर्वोत्तम सर्वव्यापक परमात्मा के वेदोक्त नियमों पर चल कर सत्यकल्पी ब्रह्मज्ञानी पुरुष विघ्नों को हटाकर संसार में वीर होते हैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १० ॥

स दिशोऽन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीमुदीचीं ध्रुवामूर्द्ध्वामिति । तास्त-

---

अधि+इङ् अध्ययने--शानच् । पठन् सन् । (ऋचा) ऋक् = वाक्--निघ० १ । ११ । स्तुत्या वाण्या (तपसः) तप दाहे—ऐश्वर्ये च—असुन् । ऐश्वर्यवतो ब्रह्मणः सकाशात् (ब्रह्मज्यानाम्) कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः[1] (वा० पा० सि. कौ. ३ । २ । ३) ब्रह्म+ज्या वयोहानौ—डप्रत्ययः, अन्तर्गतण्यर्थः । ब्रह्मणां ब्रह्मज्ञानिनां हानिकराणाम् (क्षितये) नाशाय (ऋज्यत्) वर्तमाने पृषद्वृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २ । ८४) ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु—अतिप्रत्ययः युगागमः । गतिशीलम् (भूतम्) भू सत्तायाम्—क्तः । सत्तामात्रं जगत् (निवेशनम्) निः+विश प्रवेशने—आधारे ल्युट् । गृहम् (अनृणम्) ऋणशून्यं स्वकीयं निजम् । (यामयः) वसिवपियजि० (उ० ४ । १२५) यम नियमने—इञ् । नियमशक्तयः । (मेनयः) वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४ । ४८) मीञ् हिंसायाम्—बाहुलकात् निः । मेनिर्वज्रः-निघ० २ । २० । वज्राः । वज्रतुल्यदृढ़ाः ॥ ९ ॥

---

१. यह वार्तिक भाष्य में खण्डित कर दी गई है । सम्पा०

त्रैवाभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यः पञ्च वेदान्निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति । स खलु प्राच्या एव दिशः सर्पवेदं निरमिमत, दक्षिणस्याः पिशाचवेदं, प्रतीच्या असुरवेद-मुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्द्ध्वायाश्च पुराणवेदम् । स तान् पञ्च वेदानभ्य-श्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः पञ्च महाव्याहृती-र्निरमिमत वृधत् करद् गुहत् महत् तदिति । वृधदिति सर्पवेदात्, करदिति पिशाचवेदात्, गुहदित्यसुरवेदात्, महदितीतिहासवेदात्, तदिति पुराण-वेदात्, स य इच्छेत्सर्वैरेतैः पञ्चभिर्वेदैः कुर्वीयेत्येताभिरेव तं महाव्याहृतिभिः कुर्वीत सर्वैर्ह वा अस्यैतैः पञ्चभिर्वेदैः कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेव-मेताभिर्महाव्याहृतिभिः कुरुते ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ सर्पवेदादि ५ वेद, वृधत् आदि ५ महाव्याहृति ॥

(सः दिशः अनु ऐक्षत) वह [परमात्मा] दिशाओं को देखने लगा, (प्राचीम्) पूर्व वा सामने वाली, (दक्षिणाम्) दक्षिण वा दाहिनी, (प्रतीचीम्) पश्चिम वा पीछे वाली, (उदीचीम्) उत्तर वा बाईं, (ध्रुवाम्) दृढ़ वा नीचे वाली, (ऊर्द्ध्वाम् इति) और ऊपर वाली। (ताः तत्र एव अभि अश्राम्यत्) उन को वहाँ ही उसने सब ओर से दबाया, (अभि अतपत्) सब ओर से तपाया, (सम् अतपत्) भली भाँति तपाया। (ताभ्यः श्रान्ताभ्यः तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यः) उन दबाई हुई, तपाई हुई भली भाँति तपाई हुई से (पञ्च वेदान्) पाँच वेदों [विद्याओं] को (निर् अमिमत) उसने बनाया—(सर्पवेदम्) सर्प वेद [चलते हुये लोकों की विद्या], (पिशाचवेदम्) पिशाच वेद [अवयवों की व्यापक विद्या वा मांस खाने वाले रोगों की विद्या], (असुरवेदम्) असुर वेद [प्राण वालों की विद्या] (इतिहासवेदम्) इतिहास वेद [बड़े लोगों वा कार्यों की वृत्तान्त विद्या], (पुराणवेदम् इति) और पुराणवेद (पुराने लोगों अथवा कारणों की वृत्तान्त विद्या]। (सः खलु) उसने निश्चय करके (प्राच्याः एव दिशः) पूर्व वा सामने वाली दिशा से (सर्पवेदम्) सर्प वेद को (निर् अमिमत) बनाया—(दक्षिणस्याः) दक्षिण वा दाहिनी से (पिशाचवेदम्) पिशाच वेद को, (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली से (असुर-वेदम्) असुर वेद को, (उदीच्याः) उत्तर वा बाईं से (इतिहासवेदम्) इतिहास वेद को, (ध्रुवायाः च ऊर्द्ध्वायाः च) नीचे वाली और ऊँचे वाली से (पुराण-

---

१०—(सर्पवेदम्) सृप्लृ गतौ—अच् । ये सर्पन्ति गच्छन्ति ते लोकास्तेभ्यः । इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति । शत० ब्रा० ७ । ३ । १ । २५ । इति दयानन्दः—यजुर्वेदभाष्ये १३ । ६ । अत्रैव सर्पन्ति सर्पा लोकाः इति च महीधरः । गमनशीलानां लोकानां विद्याम् । (पिशाचवेदम्) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० ३ । १ । १३५) पिश अवयवे—कः । कर्मण्यण् (पा० ३ । २ । १) पिश + अञ्चु गतौ —अण् । अवयवव्यापिकां विद्याम् । यद्वा पिशित + अश भोजने—अण्, पृषो-

वेदम्) पुराण वेद को । (सः) उस [परमात्मा] ने (तान् पञ्च वेदान्) उन पाँच वेदों को (अभि अश्राम्यत् अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से दबाया, सब ओर से तपाया, भली भाँति तपाया । (तेभ्यः श्रान्तेभ्यः तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः) इन दबाये हुए, तपाये हुये, भली भाँति तपाये हुओं से (पञ्च महाव्याहृतीः) पाँच महाव्याहृतियों को (निर् अमिमत) बनाया—(वृधत्) वृधत् [बढ़ती वाला परिपूर्ण ब्रह्म है], (करत्) करत् [कर्ता ब्रह्म], (गुहत्) गुहत् [सब में छिपा अन्तर्यामी ब्रह्म], (महत्) महत् [पूजनीय ब्रह्म है], (तत् इति) तत् [फैला हुआ ब्रह्म है], (वृधत् इति) वृधत् [महावाक्य को] (सर्पवेदात्) सर्प वेद से, (करत् इति) करत् को (पिशाचवेदात्) पिशाच वेद से, (गुहत् इति) गुहत् को (असुरवेदात्) असुर वेद से (महत् इति) महत् को (इतिहासवेदात्) इतिहास वेद से और (तत् इति) तत् [वाक्य] को (पुराणवेदात्) पुराण वेद से । (सः यः) वह पुरुष जो (इच्छेत्) चाहे—(एतैः सर्वैः) इन सब (पञ्चभिः वेदैः) पाँच वेदों से (कुर्वीय इति) मैं [पुरुषार्थ], करूँ, (तम्) उस [पुरुषार्थ] को (एताभिः एव महाव्याहृतिभिः) इन ही महाव्याहृतियों से (कुर्वीत) करे । (अस्य) उस [पुरुष] का (एतैः सर्वैः पञ्चभिः वेदैः) इन सब पाँच वेदों से (ह वै) ही अवश्य (कृतम्) कर्म (भवति) होता है, (यः एवं वेद) जो व्यापक ब्रह्म को जानता है, (च यः) और जो (एवं विद्वान्) व्यापक ब्रह्म को जानता हुआ (एवम्) इस प्रकार से (एताभिः महाव्याहृतिभिः) इन महाव्याहृतियों से (कुरुते) कर्म करता है ॥ १० ॥

भावार्थः—परब्रह्म सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् है, उसकी सत्ता को ब्रह्मज्ञानी लोग सर्वव्यापिनी दिशाओं में सब जगह देखते और पुरुषार्थ करके उन्नति करते कराते हैं ॥ १० ॥

विशेषः—१ इस कण्डिका का मिलान अथर्ववेद १५ । ६ । १०, ११, १२ से करो, वहाँ ऐसा वर्णन है—वह [व्रात्य परमात्मा] बड़ी दिशा की ओर

दरादिरूपम् । मांसभक्षकाणां रोगाणां विद्याम् (असुरवेदम्) शॄस्वृस्निहि त्रप्यसि० (उ० १ । १०) असु क्षेपणे, वा अस गतिदीप्त्यादानेषु—उप्रत्ययः, रो मत्वर्थीयः । असुराः.........असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः—निरु० ३ । ८ । प्राणवतां विद्याम् । (इतिहासवेदम्) इति ह पारम्पर्योपदेश आस्ते अस्मिन् । इति ह+आस उपवेशने विद्यमानतायां च—घञ् । महापुरुषाणां वृत्तान्तविद्याम् । (पुराणवेदम्) पुरा + णीञ् प्रापणे—डः, णत्वं च । प्राचीनानां पुरुषाणां कारणानां वा वृत्तान्तविद्याम् (वृधत्) वर्त्तमाने पृषद्-बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २ । ८४) वृधु वृद्धौ—अतिः । वृद्धियुक्तं परिपूर्णं ब्रह्म (करत्) पूर्वसूत्रेण, डुकृञ् करणे—अतिः । सर्वकर्तृ ब्रह्म (गुहत्) पूर्वसूत्रेण, गुहू संवरणे—अतिः । गुप्तम् । अन्तर्यामि ब्रह्म । (महत्) पूर्वसूत्रेण, मह पूजायाम्—अतिः । पूजनीयं ब्रह्म (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् (उ० १ । १३२) तनु विस्तारे—अदिः डित् । विस्तृतं ब्रह्म ॥

विचरा १० ॥ इतिहास [बड़े लोगों का वृत्तान्त] और पुराण [पुराने लोगों का वृत्तान्त] और गाथायें [गाने योग्य वेद मन्त्र शिक्षाप्रद श्लोक आदि] और नाराशंसी [वीर नरों की गुणकथायें] उस [व्रात्य परमात्मा] के पीछे चलीं ॥ ११ ॥ वह [विद्वान्] पुरुष निश्चय करके इतिहास का पुराण का गाथाओं का और नाराशंसियों का प्रिय धाम [घर] होता है, जो ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को जानता है ॥ १२ ॥

विशेष:—२ सर्प शब्द का अर्थ लोक है, देखो—दयानन्द भाष्य और महीधर भाष्य यजुर्वेद । १३ । ६, (असुराः) प्राण वाले—निरु० ३ । ८ ॥

कण्डिका ११ ॥

स आवतश्च परावतश्चान्वैक्षत, तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्य शमित्यूर्ध्वमक्षरमुदक्रामत् । स य इच्छेत्सर्वाभिरेताभिरावद्भिश्च परावद्भिश्च कुर्वीयेत्येतयैव तं महाव्याहृत्या कुर्वीत सर्वाभिर्ह वा अस्यैताभिरावद्भिश्च परावद्भिश्च कृतं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतया महाव्याहृत्या कुरुते ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ महाव्याहृति शम् ॥

(सः) वह [परमात्मा] (आवतः) पास वाली [दिशाओं] को (च च) और भी (परावतः) दूर वाली [दिशाओं] को (अनु ऐक्षत) देखने लगा । (ताः तत्र एव अभि अश्राम्यत्) उनको वहाँ ही उसने सब ओर से दबाया. (अभि अतपत् सम् अतपत्) सब ओर से तपाया, भली भांति तपाया । (ताभ्य श्रान्ताभ्यः तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यः) उन दबाई हुई, तपाई हुई, भली भांति तपाई हुई से (शम्) शम् [शान्ति वाला वा शान्तिकारक ब्रह्म है] (इति ऊर्ध्वम्) यह ऊँचा [उत्कृष्ट] (अक्षरम्) अक्षर [अविनाशी ब्रह्म शब्द] (उद् अक्रामत्) निकल आया । (सः यः इच्छेत्) वह पुरुष जो चाहे (एताभिः सर्वाभि) इन सब (आवद्भिः) पास वाली (च च) और भी (परावद्भिः) दूर वाली [दिशाओं] से (कुर्वीय इति) मैं पुरुषार्थ करूँ—(तम्) उस [पुरुषार्थ] को (एतया एव महाव्याहृत्या) इस ही महाव्याहृति [शम्] से (कुर्वीत) करे । (अस्य) उस [पुरुष] का (एताभिः आवद्भिः च च परावद्भिः) इन सब पास वाली और भी दूर वाली [दिशाओं] से (ह वै) अवश्य ही (कृतम्) कर्म (भवति) होता है (यः एवं वेद) जो व्यापक ब्रह्म को जानता है, (च यः) और जो (एवं विद्वान्) व्यापक ब्रह्म को जानता हुआ (एवम्) इस प्रकार से (एतया महाव्याहृत्या) इस महाव्याहृति [शम्] से (कुरुते) कर्म करता है ॥११॥

११—(आवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (पा० ५ । १ । ११८) आङ् उपसर्गाद् धात्वर्थे वतिः । आगताः । समीपस्थाः दिशः (परावतः) पूर्वसूत्रेण परा—वतिः । परागताः दूरस्था दिशः (शम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ३ । २ । ७५) शमु उपशमने—विच् । शांतिकारकं ब्रह्म ॥

भावार्थः--मनुष्य परब्रह्म को पास और दूर वर्तमान जानकर उसके शान्त स्वरूप का ध्यान करके अपने आत्मा को शान्त रक्खे ॥ ११ ॥

कण्डिका १२ ॥

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्स मनस एव चन्द्रमसन्निरमिमत, नखेभ्यो नक्षत्राणि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतीन्, क्षुद्रेभ्यः प्राणेभ्योऽन्यान् बहून् देवान्। स भूयोऽश्राम्यद् भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत् स एतं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत्।

तदप्येतदृचोक्तम्। अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुमिति। अथाप्येष प्राक्रोडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति सप्त स्तुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पदार्थ ॥

(सः भूयः आत्मानम् अश्राम्यत्) उस [परमात्मा] ने फिर अपने को दबाया, (भूयः अतप्यत्) फिर तपाया, (भूयः सम् अतपत्) फिर भली भांति तपाया। (सः मनसः एव) उसने मनन सामर्थ्य से ही (चन्द्रमसम्) आनन्द देने वाले चन्द्रलोक को (निर् अमिमत) बनाया (नखेभ्यः) नखों अर्थात् बन्धन वा आकर्षण सामर्थ्यों से (नक्षत्राणि) चलने वाले तारागणों को, (लोमभ्यः) लोमों वा छेदन सामर्थ्यों से (ओषधिवनस्पतीन्) सोमलता आदि ओषधियों और वनस्पतियों को (क्षुद्रेभ्यः) सूक्ष्म (प्राणेभ्यः) प्राणों वा जीवन सामर्थ्यों से (अन्यान् बहून् देवान्) दूसरे बहुत से दिव्य पदार्थों को। (सः भूय आत्मानम् अश्राम्यत्) उसने फिर अपने को दबाया, (भूयः अतप्यत्) फिर तपाया, (भूयः सम् अतपत्) फिर भली भांति तपाया। (सः) उस [परमात्मा] ने (एतम्) इस (त्रिवृतम्) [सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से प्रत्येक] तिगुने किये हुए (सप्ततन्तुम्) [तीन काल, तीन लोक अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय और एक जीवात्मा इन] सात तन्तु [विस्तार] वाले (एकविंशति-

---

१२--(मनसः) मननसामर्थ्यात् (चन्द्रमसम्) स्फायितञ्चि० (उ० २। १३) चदि आह्लादने—रक्। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः—निरु० ११। ५। चन्द्रमानन्दं मिमीते। चन्द्रे मो डित् (उ० ४। २२८) चन्द्र+माङ् माने—असिः डित्। आनन्दप्रदचन्द्रलोकम् (नखेभ्यः) नहेर्हलोपश्च (उ० ५। २३) णह बन्धने—खप्रत्ययः, हलोपः। यद्वा णख गतौ—अच्। बन्धनस्य आकर्षणस्य सामर्थ्येभ्यः (नक्षत्राणि) अमिनक्षियजि० (उ० ३। १०५) णक्ष गतौ—अत्रन्। गतिशीलान् तारागणान्। (लोमभ्यः) नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्० (उ० ४। १५१) लूञ् छेदने—मनिन्। गात्रकेशेभ्यः, छेदनसामर्थ्येभ्यो वा। (क्षुद्रेभ्यः) स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २। १३) क्षुदिर् सम्प्रेषणे—रक्। पिष्टेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः (प्राणेभ्यः) प्र+अन प्राणने-अच् घञ् वा। कायस्थवायुभ्यो जीवनसामर्थ्येभ्यो वा (देवान्) दिव्यपदार्थान् (त्रिवृतम्) सत्त्वरजतमोभिः त्रिगुणीकृतम् (सप्ततन्तुम्) सितनिगमि० (उ० १। ६९) तनु विस्तारे—तुन्। कालत्रयेण, लोकत्रयेण, अर्थात् सृष्टिस्थितिप्रलयेन

संस्थम्) [पांच सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक अन्तःकरण] इन इक्कीस के साथ यथावत् ठहरे हुए (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग से बने संसार] को (अपश्यत्) देखा । (तत् अपि) वह भी (एतत् ऋचा) इस ऋग्द्वारा (उक्तम्) बोला जाता है—(अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् इति) ऋग्वेद १० । ५२ । ४ । (अथ अपि) और भी (एषः) यह (प्राक्रोडितः) क्रोडपत्रीय [न्यूनतापूरक] (श्लोकः) श्लोक (प्रति अभिवदति) बोला जाता है—(सप्त स्तुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति) [यह श्लोक आगे है—गो० पू० ५ । २५] १२ ॥

भावार्थः—परमात्मा ने अपने सामर्थ्य से सब चन्द्र आदि लोक और सब संसार बनाया है ॥ १२ ॥

विशेषः—(१) पुरुषसूक्त अथर्ववेद १९ । ६ । ७ । ऋग्वेद १० । ९० । १३ । और यजुर्वेद ३१ । १२ । में ऐसा कहा है—चन्द्रमा मनसो जातः······ [इस पुरुष के] मन [मनन सामर्थ्य] से चन्द्रलोक उत्पन्न हुआ, अर्थात् चन्द्रमा से मनन शक्ति और पदार्थ पुष्टि होती है ॥

विशेषः—(२) (अग्निर्यज्ञम्) यह ऋग्वेद १० । ५२ । ४ के उत्तरार्ध की प्रतीक है जो इस प्रकार है "अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं ,त्रिवृतं सप्ततन्तुम्" अर्थात् विद्वान् अग्नि [प्रकाशमान परमात्मा] हमारे लिये (पञ्चयामम्) [प्राण, अपान, व्यान, उदान, और समान इन] पाँच प्राणों से चलने वाले (त्रिवृतम्) [सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों से प्रत्येक] तिगुने किये हुये (सप्ततन्तुम्) [तीन काल, तीन लोक अर्थात् सृष्टि स्थिति प्रलय और एक जीवात्मा इन] सात तन्तु [विस्तार] वाले (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग से बने हुये संसार] को (कल्पयाति) बनाता है ॥

विशेषः—(३) पुरुषसूक्त अथर्ववेद १९ । ६ । १५, ऋग्वेद १० । ९० । १५ और यजुर्वेद ३१ । १५ । में इस प्रकार वर्णन है—"सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः" सात [तीन काल, तीन लोक अर्थात् सृष्टि स्थिति प्रलय और एक जीवात्मा] इस [संसार रूप यज्ञ] के घेरे [के समान] थे, और तीन बार सात [इक्कीस अर्थात् पाँच सूक्ष्मभूत, पांच स्थूलभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक अन्तःकरण] समिधायें किये गये हैं ॥

विशेषः—(४) "सप्त स्तुत्याः सप्त च······" यह श्लोक आगे है । गोपथ पू० ५ । २५ वहीं इसका अर्थ किया जायगा ॥

जीवात्मभिश्च सह विस्तारवन्तम् (एकविंशतिसंस्थम्) पञ्च सूक्ष्मभूतानि पञ्च स्थूलभूतानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकम् अन्तःकरणं चेति, एभिः सह सम्यक् स्थितम् (यज्ञम्) यजयाचयत० (पा० ३ । ३ । ९०) यज देवपूजा-सङ्गतिकरणदानेषु-नङ् । संगत्या संयोगेन कृतं संसारम् (प्राक्रोडितः) प्र+आङ्+क्रुड निमज्जने—क्तः । अङ्के गतः । क्रोडपत्रीयः । न्यूनतापूरकः ॥

कण्डिका १३ ॥

तमाहरत् येनायजत तस्याग्निर्होताऽऽसीत्, वायुरध्वर्य्युः, सूर्य्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा, पर्जन्यः सदस्यः, ओषधिवनस्पतयश्चमसाः, अध्वर्य्यवो विश्वेदेवा होत्रका, अथर्वाङ्गिरसो गोप्तारस्तं ह स्मैतमेवं विद्वांसः पूर्वे श्रोत्रिया यज्ञं ततं सावसाय ह स्माहेत्यभिव्रजन्ति, मा नोऽयं घर्म उद्यतः प्रमत्तानाममृताः प्रजाः प्रसाक्षीदिति, तान् वा एतान् परिरक्षकान् सदःप्रसर्पकानित्याचक्षते दक्षिणा-समृद्धांस्तदु ह स्माह प्रजापतिर्यद्वै यज्ञेऽकुशला ऋत्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्म-चर्यमपराग्या वा तद्वै यज्ञस्य विरिष्टमित्याचक्षते। यज्ञस्य विरिष्टमनु यजमानो विरिष्यते, यजमानस्य विरिष्टमन्वृत्विजो विरिष्यन्त, ऋत्विजां विरिष्टमनु दक्षिणा विरिष्यन्ते, दक्षिणानां विरिष्टमनु यजमानः पुत्रपशुभिर्विरिष्यते, पुत्रपशूनां, विरिष्टमनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन विरिष्यते, स्वर्गस्य लोकस्य विरिष्टमनु तस्यार्द्धस्य योगक्षेमो विरिष्यते, यस्मिन्नर्द्धे यजन्त इति ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ ब्रह्मयज्ञ और उसकी त्रुटि में अनिष्ट फल ॥

(तम् आहरत्) उस [पदार्थ] को वह [परमात्मा] लाया (येन अयजत) जिससे उसने यज्ञ किया। (तस्य) उस [यज्ञ] का (अग्निः) अग्नि [बिजली] (होता) होता [हवन करने वाला] (आसीत्) हुआ, (वायुः) वायु [प्राण वा जीवन वायु] (अध्वर्युः) अध्वर्यु [अहिंसा चाहने वाला याजक], (सूर्यः) सूर्य [प्रेरक प्रकाशमान लोक] (उद्गाता) उद्गाता [वेदों का उत्तम गानेवाला], (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक [आनन्द कारक लोक] (ब्रह्मा) ब्रह्मा [बढ़ा हुआ सब वेद जानने वाला याजक], (पर्जन्यः) सींचने वाला मेघ (सदस्यः) सदस्य [भूल सुधारने वाला] (ओषधिवनस्पतयः) सोमलता आदि ओषधि और वनस्पतियाँ (चमसाः) चमचे [यज्ञ पात्र], (अध्वर्यवः) अहिंसा चाहनेवाले (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा [सब दिव्य पदार्थ] (होत्रकाः) होत्रक लोग [सहायक होता जन], (अथर्वाङ्गि-रसः) अथर्वाङ्गिरा [निश्चल ब्रह्म के वेद मन्त्र] (गोप्तारः) गोप्ता [रक्षक हुए]। (तम्) उस [प्रलय में वर्तमान] (ह स्म) अवश्य ही (एतम्) इस [सृष्टि में वर्तमान] (एवम्) व्यापक ब्रह्म को (विद्वांसः) जानने हारे (पूर्वे) पहिले (श्रोत्रियाः) वेद पढ़ने वाले लोग (ततम्) फैले हुए (यज्ञम्) यज्ञको (सावसाय = सह अवसाय) एक साथ पूरा कर के (अभि व्रजन्ति) सब ओर जाते हैं (ह स्म आह) अवश्य ही वह [ब्रह्म ज्ञानी] कहता है (अयम् उद्यतः घर्मः) यह सिद्ध किया हुआ यज्ञ (नः) हम (अमृताः) न मरी हुई [पुरुषार्थी] (प्रजाः) प्रजाओं को (प्रमत्तानाम्) प्रमादियों [चूकने वालों]

१३—(अध्वर्युः) अध्वानं सत्पथं रातीति। अध्वन्+रा दाने—कः। यद्वा न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा। न+ध्वृ कुटिलीकरणे-अच्। अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः—निरु० १। ८। मृगय्वादयश्च (उ० १। ३७) अध्वर + या प्रापणे—कुः। यद्वा सुप आत्मनः क्यच्

में (मा प्रसाक्षीत् इति) न मिलावे। (तान्) उन [प्रलय में वर्तमान] (वै) निश्चय करके (एतान्) इन [सृष्टिकाल में वर्तमान] (सदः प्रसर्पकान्) सभा [यज्ञ] में आने वाले (परिरक्षकान्) बड़े रक्षकों को (दक्षिणासमृद्धान्) दक्षिणा [प्रतिष्ठादान] से परिपूर्ण (आचक्षते इति) वे लोग बताते हैं-(तत् उ ह स्म) यह अवश्य ही (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक परमात्मा] (आह) कहता है। [और यह भी वह कहता है] (यत् वै) जब ही (यज्ञे) यज्ञ में (अकुशलाः) अयोग्य (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्य (इन्द्रियों को वश में रखना और वेदों का पढ़ना आदि तप] (अचरितिनः) न करने वाले (वा) अथवा (अपराग्याः) बड़े रागी (ऋत्विजः) ऋत्विज लोग (भवन्ति) होते हैं, (तत् वै) तब ही (यज्ञस्य विरिष्टम्) यज्ञ का नाश होता है—(इति आचक्षते) ऐसा लोग कहते हैं। (यज्ञस्य विरिष्टम् अनु) यज्ञ के नाश के साथ (यजमानः) यजमान (विरिष्यते) नष्ट हो जाता है। (यजमानस्य विरिष्टम् अनु) यजमान के नाश के साथ (ऋत्विजः) ऋत्विज [याजक लोग] (विरिष्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं, (ऋत्विजाम् विरिष्टम् अनु) ऋत्विजों के नाश के साथ (दक्षिणाः) दक्षिणायें (विरिष्यन्ते) नष्ट हो जाती हैं, (दक्षिणानाम् विरिष्टम् अनु) दक्षिणाओं के नाश के साथ (यजमानः) यजमान (पुत्रपशुभिः) पुत्र और पशुओं सहित (विरिष्यते) नष्ट हो जाता है. (पुत्रपशूनां विरिष्टम् अनु) पुत्रों और पशुओं के नाश के साथ (यजमानः) यजमान (स्वर्गेण लोकेन) स्वर्ग लोक से (विरिष्यते) नष्ट हो जाता है (स्वर्गस्य लोकस्य विरिष्टम् अनु) स्वर्ग लोक के नाश के साथ (तस्य)

(पा० ३।१।८) अध्वर—क्यच्। क्याच् छन्दसि (पा० ३।२।१७०) उप्रत्ययः, अलोपः। अध्वर्युरध्वर्युरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेताऽध्वरं कामयत इति वा—निरु० १।८, अहिंसाकामः। याजकः। ब्रह्मा—बृंहेर्नोऽच्च (उ० ४।१४६) बृंहि वृद्धौ—मनिन्, नस्य अकारः। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः—निरु० १।८, सर्ववेदवेत्ता। सर्वनायको याजकः (होत्रकाः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४।१६८) हु दानादानयोः—त्रन्, ततः कन्। टाप्। होत्राभ्यश्छः (पा० ५।१।१३५) होत्राशब्द ऋत्विग्वाची स्त्रीलिङ्गः। बहुवचनाद् विशेषग्रहणम्। सहायकहोतारः। (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्वणो निश्चलब्रह्मणो वेदमन्त्राः (गोप्तारः) रक्षकाः (विद्वांसः) ज्ञानवन्तः (श्रोत्रियः) श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (पा० ५।२।८४) छन्दस्+घन्। वेदाध्येतारः। सावसाय=सह+अव+षो अन्तकर्मणि—ल्यप्। समाप्य(उद्यतः) उत्+यम्—क्तः। सिद्धः। प्रस्तुतः (घर्मः) घर्मग्रीष्मौ (उ० १।१४९) घृ क्षरणदीप्त्योः—मक्। यज्ञः—निघ० ३।१७। (अमृताः) न मृताः। पुरुषार्थयुक्ताः। (प्रमत्तानाम्) प्रमादिनां मध्ये (मा) निषेधे (प्रसाक्षीत्) प्र+षच समवाये—लुङ् चकारस्य ककारः। असाचीत्। संगमयेत् (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्म+चर+गतौ—यत्। आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादितपः (अचरितिनः) न+चरित—इनिः। अकुर्वाणः (अपराग्याः)

उसकी (**अर्द्धस्य**) ऋद्धि [सम्पत्ति] का (**योगक्षेम:**) योगक्षेम [पाने योग्य का पाना और पाये हुये का बचाना] (**विरिष्यते**) नष्ट हो जाता है (**यस्मिन् अर्द्धे**) जिस सम्पत्ति में (**यजन्ते**) लोग यज्ञ करते हैं—(**इति ब्राह्मणम्**) यह ब्राह्मण [वेद ज्ञान] है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानियों का विचार है कि ब्रह्म यज्ञ अर्थात् संसार की सृष्टि अवस्था में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि याजक माने हैं। यदि वे अपना अपना काम ठीक ठीक न करें तो सारी सृष्टि नष्ट हो जावे और यजमान अर्थात् ईश्वर भी कृतकृत्य न होवे ॥ १३ ॥

कण्डिका १४ ॥

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसं ब्रह्माणं यज्ञविरिष्टी वा यज्ञविरिष्टिनो वेत्युपाधावेरन् नमस्ते अस्तु भगवन् यज्ञस्य नो विरिष्टं सन्धेहीति, तद्यत्रैव विरिष्टं स्यात्तत्राग्नीनुपसमाधाय शान्त्युदकं कृत्वा पृथिव्यै श्रोत्रायेति त्रिरेवाग्नीन् सम्प्रोक्षति, त्रिः पर्य्युक्षति, त्रिः कारयमाणमाचामयति च, सम्प्रोक्षति च, यज्ञवास्तु च सम्प्रोक्षत्यथापि वेदानां रसेन यज्ञस्य विरिष्टं सन्धीयते, तद्यथा लवणेन सुवर्णं सन्दध्यात् सुवर्णेन रजतं रजतेन, लोहं लोहेन, सीसं सीसेन, एष्वेवमेवास्य यज्ञस्य विरिष्टं सन्धीयते, यज्ञस्य सन्धितिमनु यजमानः सन्धीयते, यजमानस्य सन्धितिमन्वृत्विजः सन्धीयन्ते, ऋत्विजां सन्धीतमनुदक्षिणाः सन्धीयन्ते दक्षिणानां सन्धितिमनु यजमानः पुत्रपशुभिः सन्धीयते, पुत्रपशूनां सन्धितिमनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन सन्धीयते, स्वर्गस्य लोकस्य सन्धितिमनु तस्यार्द्धस्य योगक्षेमः सन्धीयते, यस्मिन्नर्द्धे यजन्त इति ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ यज्ञ के दोष निवारण से इष्टफल की प्राप्ति ॥

(**तम्**) उस (**ह स्म**) अवश्य ही (**एतम्**) इस (**एवम्**) ऐसे [अनवूझ] (**विद्वांसम्**) विद्वान् (**ब्रह्माणम्**) ब्रह्मा [यज्ञनायक] को (**यज्ञविरिष्टी**) यज्ञ नाश करने वाला [ब्रह्मा] है (**वा वा**) अथवा (**यज्ञविरिष्टिनः**) यज्ञ नाश करने वाले [सब याजक] हैं (**इति उपाधौ**) इस उपनाम में (**एरन्**) चलावें। (**नमस्ते अस्तु भगवन् यज्ञस्य नो विरिष्टं सन्धेहि इति**) हे भगवन् तेरे लिए नमस्कार हो, हमारे यज्ञ के दोष को सुधार दे [यह वाक्य बोले]। (**तत् यत्र एव**) सो जहाँ ही

अप+राग-यत्। अत्यन्तरागिणः। अतिलोभिनः। (विरिष्टम्) वि+रिष हिंसायाम्—क्तः। विनाशम् (अनु) अनुसृत्य (अर्द्धस्य) ऋधु वृद्धौ—घञ्। ऋद्धेः सम्पत्तेः (योगक्षेमः) योगेन युक्तः क्षेमो योगक्षेमः। योगः प्राप्यस्य प्रापणं क्षेमः प्राप्तस्य रक्षणं तदुभयः। ब्राह्मणम्-ब्रह्म—अण्। ब्रह्मणो ज्ञानम् ॥

१४—(एवम्) पूर्वोक्तप्रकारम्। अज्ञानिनम् (यज्ञविरिष्टी) यज्ञ+विरिष्ट—इनिः। यज्ञदूषकः (उपाधौ) उप+आ+धा—किः। नामचिह्ने।

(विरिष्टं स्यात्) दोष होवे (तत्र अग्नीन् उपसमाधाय) वहां अग्नियों को ठीक करके (शान्त्युदकं कृत्वा) शान्ति जल [शंनो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्रवन्तु नः (अथर्व० १ । ६ । १) इस मन्त्र के साथ आचमन आदि के लिए शान्ति जल] करके (पृथिव्यै श्रोत्रायेति) पृथिव्यै श्रोत्राय० इत्यादि [अथर्व० ६ । १० । १ मन्त्र से] (त्रिः एव) तीन बार ही (अग्नीन्) अग्नियों को (सम्प्रोक्षति) [घृत से] भली प्रकार सींचे (त्रिः) तीन बार (पर्य्युक्षति) सब ओर से सींचे, (च) और (कारयमाणम्) कर्म कराने वाले को (आचामयति) आचमन करावे (च) और (सम्प्रोक्षति) [जल से] भले प्रकार सींचे, (च) और (यज्ञवास्तु) यज्ञशाला को (सम्प्रोक्षति) भले प्रकार सींचे। (अथ अपि) तब ही (वेदानां रसेन) वेदों के रस [ध्वनि] से (यज्ञस्य विरिष्टम्) यज्ञ का दोष (सन्धीयते) सुधर जाता है। (तत् यथा) सो जैसे (लवणेन) लवण [खार] के साथ, (सुवर्णं सुवर्णेन) सोने को सोने से, (रजतं रजतेन) चांदी को चांदी से, (लोहं लोहेन) लोहे को लोहे से (सीसं सीसेन) सीसा [धातु विशेष] को सीसे से (सन्दध्यात्) जोड़े, (एषु) इन [कर्मों में] (एवम् एव) ऐसे ही (अस्य यज्ञस्य विरिष्टम्) इस यज्ञ का दोष (सन्धीयते) सुधर जाता है। (यज्ञस्य सन्धितिम् अनु) यज्ञ के सुधार के साथ (यजमानः सन्धीयते) यजमान सुधर जाता है । (यजमानस्य सन्धितिम् अनु) यजमान के सुधार के साथ (ऋत्विजः सन्धीयन्ते) ऋत्विज सुधर जाते हैं। (ऋत्विजां सन्धितिम् अनु) ऋत्विजों के सुधार के साथ (दक्षिणाः सन्धीयन्ते) दक्षिणायें सुधर जाती हैं। (दक्षिणानां सन्धितिम् अनु) दक्षिणाओं के सुधार के साथ (यजमानः) यजमान (पुत्रपशुभिः सन्धीयते) पुत्रों और पशुओं सहित सुधर जाता है। (पुत्रपशूनां सन्धितिम् अनु) पुत्रों और पशुओं के सुधार के साथ (यजमानः) यजमान (स्वर्गेण लोकेन सन्धीयते) स्वर्ग लोक के साथ सुधर जाता है। (स्वर्गस्य लोकस्य सन्धितिम् अनु) स्वर्ग लोक के सुधार के साथ (तस्य) उस [यजमान] को (अर्द्धस्य) ऋद्धि [सम्पत्ति] का (योगक्षेमः) योगक्षेम [पाने योग्य का पाना और पाये हुये का बचाना] (सन्धीयते) सुधर जाता है, (यस्मिन् अर्द्धे) जिस सम्पत्ति में (यजन्ते) वे यज्ञ करते हैं, (इति ब्राह्मणम्) यह ब्राह्मण [वेद ज्ञान] है ॥ १४ ॥

उपनाम्नि (एरन्) ईर गतौ—लुङ्, आर्षरूपं लोडर्थे। ऐरयन्। प्रेरयन्तु (उपसमाधाय) यथाविधि समाहितान् कृत्वा (त्रिः) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (पा० ५ । ४ । १८) त्रि—सुच्। त्रिवारम् (सम्प्रोक्षति) उक्ष सेचने। घृतेन यथाविधि सिंचति (कारयमाणम्) कारयतेः—शानच्। कर्मकारयितारम् (रसेन) रस शब्दे आस्वादने च—अच्। रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः—निरु० ११ । २५ । रसो वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । रसनेन ध्वनिना (लवणेन) लूञ् छेदने—ल्युट्। क्षारविशेषेण (सन्दध्यात्) संयोजयेत् (सन्धितिम्) सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च (पा० ७ । ४ । ४५) अत्र 'क्तिन्यपि दृश्यते" इति उक्तत्वात् सम्+दधातेः—क्तिन्, इत्वं च। संहितिम्। संयोगम्। मेलनम्।

भावार्थः—जहां ऋत्विज् लोग विद्वान् क्रियाकुशल होते हैं, वहां यज्ञ की समाप्ति उत्तमता से होती है और सब यजमान तथा ऋत्विजों के आनन्द और सम्पत्ति बढ़ते हैं ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ ॥

तदुह स्माहाथर्वा देवो विजानन्यज्ञविरिष्टानन्दानीत्युपशमयेरन् यज्ञे प्रायश्चित्तिः क्रियतेऽपि च यदु बह्विव यज्ञे विलोमः क्रियते न चैवास्य काचनार्त्तिर्भवति न च यज्ञविष्कन्धमुपयात्यपहन्ति पुनर्मृत्युमपात्येति पुनराजातिं कामचारोऽस्य सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद यश्चैवं विद्वान् ब्रह्मा भवति यस्य चैवं विद्वान् ब्रह्मा दक्षिणतः सदोऽध्यास्ते यस्य चैवं विद्वान् ब्रह्मा दक्षिणत उदङ्मुख आसीनो यज्ञ आज्याहुतीर्जुहोतीति ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ यज्ञ की सफलता का लाभ ॥

(तत् उ ह स्म) यह ही निश्चय करके (विजानन्) विज्ञानी, (देवः) देव [प्रकाशमान वा विजयी] (अथर्वा) अथर्वा [निश्चल ब्रह्म] (आह) कहता है (यज्ञविरिष्टानन्दानि) यज्ञ के दोषों के विघ्नों को (उपशमयेरन् इति) शान्त करें। [इस लिये] (यज्ञे) यज्ञ में (प्रायश्चित्तिः) प्रायश्चित्त [पाप दूर करने के लिये तप आदि कर्म] (क्रियते) किया जाता है, (अपि च) और भी (यत् उ बहु इव) जो कुछ बहुत सा (विलोमः) उलट पुलट (क्रियते) किया जाता है, (अस्य च) उसकी भी (एव) निश्चय करके (काचन आर्तिः) कोई भी पीड़ा (न भवति) नहीं होती (च न) और न (यज्ञविष्कन्धम्) यज्ञ के पतन को (उपयाति) वह पाता है। (पुनः मृत्युम् अपहन्ति) फिर वह मृत्यु को हटा देता है, (पुनः आजातिम् अपात्येति) और फिर वह अल्प जीवन को लांघ जाता है [दीर्घ आयु कर लेता है]। (अस्य) उस [मनुष्य] का (कामचारः) अपनी इच्छा से विचरना (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकों में (भाति प्रकाशित होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है, (च यः) और जो (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब वेद जानने वाला यज्ञनायक] (भवति) होता है, (यस्य च) और जिस [मनुष्य] का (एवं विद्वान्) ऐसा जानने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा (दक्षिणतः) दाहिनी ओर को (सदः अध्यास्ते) शाला में बैठता है, (यस्य च)

१५—(यज्ञविरिष्टानन्दानि) यज्ञविरिष्ट+नञ्+टुनदि समृद्धौ संतोषे च—अच्। यज्ञस्य दोषाणाम् अनन्दानि विघ्नान् (उपशमयेरन्) शान्तानि कुर्वन्तु (प्रायश्चित्तिम्) प्रायस्य चित्तिचित्तयोः (वा० पा० ६। १। १५७) प्राय+चिती सज्ञाने—क्तिन्, सुडागमः। प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्। पापक्षयसाधन तप आदिकम् (विलोमः) विपरीतव्यवहारः (आर्त्तिः) आङ्+ऋ हिंसने गतौ च—क्तिन्। पीडा (यज्ञविष्कन्धम्) यज्ञ+वि+स्कन्द शोषणे गत्यां च—घञ्, धश्चान्तादेशः। यज्ञस्य शोषणं पतनम् (उपयाति) प्राप्नोति यजमानः।

और जिस का (एवं विद्वान्) ऐसा जानने वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा (दक्षिणतः) दाहिनी ओर को (उदङ्मुख आसीनः) उत्तर मुख बैठा हुआ (यज्ञे) यज्ञ में (आज्याहुतीः) घी की आहुतियां (जुहोति) देता है, (इति ब्राह्मणम्) यह ब्राह्मण [ब्रह्म ज्ञान] है॥ १५॥

भावार्थः—जब ब्रह्मा सर्ववेदवेत्ता और कर्मकुशल होता है, तब यजमान का यज्ञ सफल होता है॥ १५॥

कण्डिका १६॥

ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे, स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्युष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमान्यनुभवेयमिति स ब्रह्मचर्य्यमचरत्। स ओमित्येतदक्षरमपश्यद् द्विवर्णञ्चतुर्मात्रं सर्वव्यापि सर्वविभ्वयातयामब्रह्म ब्राह्मीं व्याहृतिं ब्रह्मदैवतं तया सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्युष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमान्यन्वभवत्तस्य प्रथमेन वर्णेनापस्नेहश्चान्वभवत्तस्य द्वितीयेन वर्णेन तेजो ज्योतींष्यन्वभवत्॥ १६॥

कण्डिका १६॥ ब्रह्मा का ब्रह्मचर्य, ओम् जगत् की सृष्टि॥

(ब्रह्म ह वै) ब्रह्म ने निश्चय करके (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा [अपने सामर्थ्य विशेष] को (पुष्करे) आकाश में (ससृजे) उत्पन्न किया। (सः खलु ब्रह्मा सृष्टः) वह भी ब्रह्मा उत्पन्न होकर (चिन्ताम् आपेदे) चिन्ता को प्राप्त हुआ—(अहम्) मैं (केन एकेन अक्षरेण) कौन से एक अक्षर [अविनाशी ब्रह्म] से (सर्वान् च कामान्) सब ही कामनाओं, (सर्वान् च लोकान्) और सब लोकों, (सर्वान् च देवान्) और सब दिव्य पदार्थों, (सर्वान् च वेदान्) और सब वेदों, (सर्वान् च यज्ञान्) और सब यज्ञों [देवपूजा संगतिकरण और दान] (सर्वान् च शब्दान्) और सब शब्दों (सर्वाः च व्युष्टीः) और सब विविध बस्तियों, (सर्वाणि च स्थावरजङ्गमानि भूतानि) सब स्थावर और जङ्गम सत्ताओं को (अनुभवेयम् इति) बनाऊँ। (सः ब्रह्मचर्य्यम् अचरत्)

(अपहन्ति) हन हिंसागत्योः। दूरे गमयति (अपात्येति) अप+अति+इण् गतौ—लट्। उल्लङ्घ्य गच्छति (आजातिम्) आङ् ईषदर्थे। अल्पजीवनम्। (कामचारः) स्वेच्छागमनम्॥

१६—(पुष्करे) पुषः कित् (उ० ४। ४) पुष्यतेः करन् कित्। पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतानि—निरु० ५। १४। अन्तरिक्षे। अवकाशे (व्युष्टीः) वि+वस निवासे-क्तिन्। विविधवसतीः (भूतानि) भू सत्तायां-क्तः। सत्तामात्राणि (अनुभवेयम्) अनु-भू सत्तायाम्। कुर्याम्। उत्पादयेयम् (ब्रह्मचर्य्यम्) क० १३। ओम्-क० ५ (अयातयामब्रह्म) न+या प्रापणे-क्तः। अर्त्तिस्तुसुहु० (उ० १। १४०) या प्रापणे-मन्। यद्वा यम उपरमे—घञ्। न यातो गतो यामः समयो यस्मात् तेन तथाभूतेन ब्रह्मणा युक्तम्।

उसने ब्रह्मचर्य्य [इन्द्रियों को वश में रखना और वेदों को पढ़ना आदि तप] किया। (सः) उसने (ओम् इति एतत् अक्षरम्) ओम् इस अक्षर [कण्डिका ५] (द्विवर्णम्) दो वर्ण वाले, (चतुर्मात्रम्) चार मात्रा वाले, (सर्वव्यापि) सर्वव्यापक, (सर्वविभु) सर्वशक्तिमान्, (अयातयामब्रह्म) निर्विकार ब्रह्म वाले, (ब्राह्मीं व्याहृतिम्) ब्रह्म की व्याहृति. (ब्रह्मदैवतम्) ब्रह्म देवता वाले को (अपश्यत्) देखा। (तया) उस [ओम् व्याहृति] से (सर्वान् च कामान्) सब कामनाओं, (सर्वान् च लोकान्) और सब लोकों (सर्वान् च देवान्) और सब दिव्य पदार्थों, (सर्वान् च वेदान्) और सब वेदों, (सर्वान् च यज्ञान्) और सब यज्ञों [देवपूजा संगतिकरण दान], (सर्वान् च शब्दान्) और सब शब्दों (सर्वाः च व्युष्टीः) और सब विविध वसतियों, (सर्वाणि च स्थावरजङ्गमानि भूतानि) और सब स्थावर जङ्गम सत्ताओं को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया। (तस्य) उस [ओम्] के (प्रथमेन वर्णेन) पहिले वर्ण [अर्थात् ओकार] से (आपः स्नेहः च) व्यापक जल और चिकनाई को (अन्वभवत्) उसने बनाया। (तस्य द्वितीयेन वर्णेन) उसके दूसरे वर्ण [अर्थात् मकार] से (तेजः) तेज [पराक्रम] और (ज्योतींषि) ज्योतियों [प्रकाशमान पदार्थों] को (अन्वभवत्) उसने बनाया ॥ १६ ॥

भावार्थः—ब्रह्म, ब्रह्मा और ओम् परमात्मा के नाम हैं, उसने अपने सामर्थ्य से सब सृष्टि को बनाया है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७ ॥

तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीमग्निमोषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दस्त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तमृतुं वाचमध्यात्मं जिह्वां रसमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ ओम् की पहिली स्वर मात्रा से पृथिवी आदि की उत्पत्ति

(तस्य) उस [ओम्] की (प्रथमया स्वरमात्रया) पहिली स्वर मात्रा [अकार] से (पृथिवीम्, अग्निम् ओषधिवनस्पतीन्) पृथिवी, अग्नि, ओषधियों, वनस्पतियों,

---

(ब्राह्मीम्) ब्रह्मन्—अण्, ङीप्, टिलोपः। ब्रह्मसम्बन्धिनीम् (ब्रह्मदैवतम्) स्वार्थे अण्। ब्रह्मदेवतायुक्तम् (अन्वभवत्) अनुभूतवान्। अकरोत् (आपः स्नेहः च) सुपां सुलुक्० (पा० ७। १। ३९) द्वितीयार्थे प्रथमा। अपो व्याप्तानि जलानि स्नेहं च। (तेजः) तिज निशाने वा तेज निशाने पालने च—असुन्। उष्णस्पर्श-युक्तं द्रव्यभेदम्। प्रभावम्। पराक्रमम्, वीर्य्यम् (ज्योतींषि) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २। ११०।) द्युत दीप्तौ—इसिन् दस्य जः। दीप्यमानान् पदार्थान् ॥

१७—(गायत्रम्) अमिनक्षियजि० (उ० ३। १०५) गै शब्दे—अत्रन्, स च णित्। आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७। ३। ३३) इति युक्। गायत्र गायतेः

(ऋग्वेदम्) ऋग्वेद [पदार्थों की गुण प्रकाशक विद्या] (भूः इति) भूः [सर्वाधार परमात्मा है] (व्याहृतिम्) व्याहृति, (गायत्रम्) गाने योग्य (छन्दः) आनन्द-दायक वा पूजनीय कर्म, (त्रिवृतम्) [परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान] तीन के साथ वर्तमान (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार, (प्राचीं दिशम्) पूर्व वा सम्मुख वाली दिशा, (वसन्तम् ऋतुम्) वसन्त ऋतु, (अध्यातमम्) आत्मा के जताने वाला यन्त्र [अर्थात्] (वाचम्) वाणी, (जिह्वाम्) जीभ, और (रसम् इति) रस [चखने का सामर्थ्य] (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों [ज्ञान और कर्म के साधनों] को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया। ।। १७ ।।

भावार्थः—परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि को बनाया है ।। १७ ।।

विशेषः—कण्डिका १६ से २१ तक का मिलान कण्डिका ५ ६ से करने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ने ही सबको रचा है ।।

कण्डिका १८

तस्य द्वितीयया स्वरमात्रयाऽन्तरिक्षं वायुं यजुर्वेदं भुव इति व्याहृतिं त्रैष्टुभं छन्दः पञ्चदशं स्तोमं प्रतीचीं दिशं ग्रीष्ममृतुं प्राणमध्यातमन्नासिके गन्धघ्राणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ।। १८ ।।

कण्डिका १८ ।। ओम् की दूसरी स्वरमात्रा से वायु आदि की उत्पत्ति ।।

(तस्य) उस [ओम्] की (द्वितीयया स्वरमात्रया) दूसरी स्वर मात्रा [उकार] से (अन्तरिक्षं वायुम्) अन्तरिक्ष, वायु, (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद [सत्कर्मों की विद्या], (भुवः इति) भुवः [सर्वव्यापक ब्रह्म है] (व्याहृतिम्) व्याहृति, (त्रैष्टुभम्) तीन [सत्त्व रज और तम] के बन्धन वाले (छन्दः) आनन्ददायक वा पूजनीय कर्म, (पञ्चदशम्) [पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और

स्तुतिकर्मणः—निरु० १। ८। गानयोग्यम् (छन्दः) चन्देरादेश्च छः (उ० ४। २१९) चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः। यद्वा छदि संवरणे स्तुतौ च—असुन्। छन्दति, अर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। छन्दांसि छादनात्—निरु० ७। १२। आह्लादकं पूजनीयं वा कर्म (त्रिवृतम्) त्रिभिः परमेश्वरस्य कर्मोपासनाज्ञानैः सह वर्तमानम्। स्तोमम्—अर्तिस्तुसुहु० (उ० १। १४०) ष्टुञ् स्तुतौ-मन्। स्तुत्यव्यवहारम् (अध्यातमम्) अव्ययम्। आत्मानमधिकृत्य ज्ञानमधिकरणं वा। आत्मनिरूपकं यन्त्रम् (इन्द्रियाणि) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० ५। २। ९३) इन्द्र—घच्। इन्द्रियं धननाम, निघ० २। १०। इन्द्रस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य आत्मनो लिङ्गानि। ऐश्वर्याणि। ज्ञानकर्मसाधनानि चक्षुरादीनि ।।

१८—(त्रैष्टुभम्) त्रि + ष्टुभ निरोधे—क्विप्। ततोऽण्। त्रयाणां सत्त्वरजस्तमसां स्तोभनं बन्धं यस्मिन् तत्। (पञ्चदशम्) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः

उदान+पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण+पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश] इन पन्द्रह पदार्थ वाले (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार, (प्रतीचीं दिशम्) पश्चिम वा पीछे वाली दिशा, (ग्रीष्मम् ऋतुम्) ग्रीष्म ऋतु, (अध्यात्मम्) आत्मा के जताने वाले यन्त्र [अर्थात्] (प्राणम्) प्राण वा श्वास, (नासिके) दो नथने, (गन्धघ्राणम् इति) गन्ध सूंघने के सामर्थ्य (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों [ज्ञान और कर्म के साधनों] को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया ।। १८ ।।

भावार्थः--अन्तरिक्ष, वायु आदि को परमेश्वर ने बनाया है ।। १८ ।।

कण्डिका १९ ।।

तस्य तृतीयया स्वरमात्रया दिवमादित्यं सामवेदं स्वरिति [1]व्याहृतिंजागतं छन्दः सप्तदशं स्तोममुदीचीं दिशं वर्षा ऋतुं ज्योतिरध्यात्मं चक्षुषी दर्शनमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ।। १९ ।।

कण्डिका १९ ।। ओम् की तीसरी स्वरमात्रा से सूर्य आदि की रचना ।।

(तस्य) उस [ओम्] की (तृतीयया स्वरमात्रया) तीसरी स्वरमात्रा [ओकार] से (दिवम्) प्रकाश लोक (आदित्यम्) सूर्यमण्डल, (सामवेदम्) सामवेद [मोक्षविद्या], (स्वः इति) स्वः [सुखस्वरूप परमात्मा है] (व्याहृतिम्) व्याहृति, (जागतम्) जगत् के हितकारक (छन्दः) आनन्ददायक कर्म, (सप्तदशम्) सत्रहवें [चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की—दश दिशायें सत्त्व रज और तम, ईश्वर, जीव और प्रकृति इन सोलह के सहित सत्रहवें संसार—का० ५] से संबन्ध वाले (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार, (उदीचीं दिशम्) उत्तर वा बाईं दिशा, (वर्षाः ऋतुम्) वर्षा ऋतु (अध्यात्मम्) आत्मा के जताने वाले यन्त्र [अर्थात्] (ज्योतिः) ज्योति, (चक्षुषी) दो आंख, (दर्शनम् इति) देखने के सामर्थ्य (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों [ज्ञान और कर्म के साधनों] को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया । १९ ।।

भावार्थः--सूर्य आदि लोक और अनेक व्यवहार के साधन परमेश्वर ने बनाये हैं ।। १९ ।

सङ्ख्येये (पा० २ । २ । २५) इति पञ्चाधिको दश यत्र ते पञ्चदशाः । बहुव्रीहौ संङ्ख्येये डजबहुगणात् (पा० ५ । ४ । ७३) पञ्चदशन्—डच् । पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यस्मिन् तत् तथाभूतम् (गन्धघ्राणम्) गन्धग्रहणसामर्थ्यम् ।।

१९—(जागतम् तस्मै हितम् (पा० ५ । १ । ५) जगत्–अण् । संसारहितकरम् । अन्यद्गतम् ।।

---

1. क, १७, १८, १९ इत्यत्र पू. सं. 'व्याहृतिः' इति पाठः । सम्पा०

कण्डिका २० ॥

तस्य वकारमात्रयाऽपश्चन्द्रमसमथर्ववेदन्नक्षत्राण्योमिति स्वमात्मानं जनदित्यङ्गिरसामानुष्टुभं छन्दः एकविंशं स्तोमं दक्षिणां दिशं शरदमृतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ ओम् की वकार मात्रा से जल आदि की रचना ॥

(तस्य) उस [ओम्] की (वकारमात्रया) वकार [संप्रसारण से उकार] मात्रा से (अपः) जल, (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा, (नक्षत्राणि) नक्षत्रों [घूमते हुये तारागणों], (अथर्ववेदम्) अथर्ववेद [निश्चल ब्रह्म के ज्ञान], (ओम् इति स्वम् आत्मानम्) ओम् इस अपने आत्मा, (जनत् इति) जनत् [उत्पन्न करने वाला ब्रह्म है—कण्डिका ८] इस (अङ्गिरसाम्) अनेक ज्ञानों के (आनुष्टुभम्) निरन्तर स्तुति वाले (छन्दः) आनन्ददायक कर्म, (एकविंशम्) [पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच स्थूलभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक अन्तःकरण कण्डिका १२] इक्कीस से सम्बन्ध वाले (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार, (दक्षिणां दिशम्) दाहिनी वा दक्षिण दिशा, (शरदम् ऋतुम्) शरद् ऋतु, (अध्यात्मम्) आत्मा के जताने वाले यन्त्र, [अर्थात्] (मनः) मन, (ज्ञानम्) ज्ञान, (ज्ञेयम् इति) ज्ञेय [जानने योग्य वस्तु], (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों [ज्ञान और कर्म के साधनों] को (अन्वभवत्) उस ब्रह्मा ने बनाया ॥ २० ॥

भावार्थः—परमात्मा ने ही जल आदि सब पदार्थ रचे हैं ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

तस्य मकारश्रुत्येतिहासपुराणं वाकोवाक्यं गाथानाराशंसीरुपनिषदोऽनुशासनानीति[1] वृधत् करद् गुहन् महत्तच्छमोमिति व्याहृतीः स्वरशम्यनानातन्त्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्राण्यन्वभवच्चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं छन्दस्तृणवत्त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ ध्रुवामूर्ध्वां दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्रमध्यात्मं शब्दश्रवणमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ ओम् से इतिहास पुराण आदि का ज्ञान ॥

(तस्य) उस [ओम्] की (मकारश्रुत्या) मकार के श्रवण से (इतिहासपुराणम्) इतिहास और पुराण [बड़े लोगों और पुराने लोगों की वृत्तान्त विद्या—

२०—(अपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च (उ० ४। २०८) आप्लृ व्याप्तौ—असुन्। अप उदकनाम—निघ० १। १२। जलम् (आनुष्टुभम्) अनु + ष्टुभ पूजायाम्—क्विप्, ततोऽण्। स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४ निरन्तरस्तुतियुक्तम् (एकविंशम्) एकविंशतिः संख्या यस्मिन् स एकविंशः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (पा० ५। ४। ७३) पञ्चसूक्ष्मस्थूलज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणैः सम्बद्धम् ॥

---

१. वाको वाक्यगाथा ···ऽनुशासनानामिति पू० सं० पाठः स चायुक्तः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १०], (वाक:) वाक [बोलने के सामर्थ्य], (वाक्य[१] गाथानाराशंसी:) वाक्य [पदों के मिलान], गाथा [गाने योग्य वेदमन्त्र आदि] और नाराशंसी [वीर नरों की गुण कथाओं--क० १० विशेष: १ देखो] (अनुशासनानाम्) अनुशासनों [शिक्षा वा उपदेशों] की (उपनिषद: इति) उपनिषदों [ब्रह्म विद्याओं] अर्थात् — (वृधत्) वृधत् [बढ़ती वाला परिपूर्ण ब्रह्म है], (करत्) करत् [सृष्टिकर्ता ब्रह्म है], (गुहत्) गुहत् [छिपा हुआ, अन्तर्यामी ब्रह्म है], (महत्) महत् [पूजनीय ब्रह्म है] (तत्) तत् [फैला हुआ ब्रह्म है —पाँच महाव्याहृति, क० १०], (शम्) [शान्ति वाला वा शान्तिकारक ब्रह्म है महाव्याहृति क० ११] और (ओम्) ओम् [सर्वरक्षक ब्रह्म है महाव्याहृति—क० ५] (इति व्याहृती:) [इन सात] व्याहृतियों, (स्वरशम्यनानातन्त्री:) स्वर से शान्त वा स्वस्थ करने वाली अनेक तन्त्रियों [वीणा आदि विद्याओं], (स्वरनृत्यगीतवादित्राणि) स्वर सहित नाचने, गाने, बजाने [मृदङ्ग आदि बाजों] की विद्याओं को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया। (चैत्ररथम्) विचित्र रमणीय गुण वाले (दैवतम्) दिव्य पदार्थों के समूह, (वैद्युतम्) विविध प्रकाश वाली (ज्योति:) ज्योति [सूर्य आदि], (बार्हतम्) वेद वाणियों से जताये गये (छन्द:) आनन्ददायक कर्म, (तृणवत् त्रयस्त्रिंशौ) तीन कालों में स्तुति किये गये तैंतीस देवता वाले [कथं गायत्री······अथर्व० ८ । ९ । २०] (स्तोमौ) दो स्तुति योग्य व्यवहार [सृष्टि और प्रलय], (ध्रुवाम् ऊर्द्ध्वां दिशम्) नीचे और ऊपर की दिशा, (हेमन्तशिशिरौ ऋतू) हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतुओं, (अध्यात्मम्) आत्मा के जताने वाले यन्त्र [अर्थात्] (श्रोत्रम्) कान, (शब्दश्रवणम् इति) शब्द और सुनने के सामर्थ्य, (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों [ज्ञान और कर्म के साधनों] को (अन्वभवत्) उस [ब्रह्मा] ने बनाया ॥ २१ ॥

२१—(वाकोवाक्यम्) वच व्यक्तायां वाचि—सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति असुन् प्रत्ययान्त: 'वाक:' शब्द: ण्यत्प्रत्ययान्तश्च 'वाक्यम्'; ततश्चोभयो: द्वन्द्वसमास: एकवद्भावश्च। वाकश्च वाक्यञ्चेति वाकोवाक्यम्, उक्तिप्रत्युक्तिरूपमाख्यानम् (गाथा) उषिकुषिगा० (उ० २ । ४) गै गाने—थन्। गान योग्यवेदमन्त्रादि: (नाराशंसी) नर+शंसु स्तुतौ-अण्, दीर्घश्च, नाराशंस—स्वार्थे अण् ङीप्। येन नरा: प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्र:—निरु० ९ । ९ । वीरनराणां कीर्तनानि (अनुशासनानि) शिक्षा:। उपदेशान् (उपनिषद:) उपनिषीदति प्राप्नोति ब्रह्म यया। उप+नि+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्विप्। ब्रह्मविद्या: (शम्य = शम्या:) शमो दर्शने, शम आलोचने, शमु शान्तिकरणे—यत्। स्वस्थकारिका: (नानातन्त्री:) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ई: (उ० ३ । १५८) नाना+तत्रि कुटुम्बधारणे–ई: प्रत्यय:। बहुविधवीणादिविद्या: (वादित्राणि) भूवादिगृभ्यो णित्रन् (उ० ४ । १७१) वद वाचि–णिच्—णित्रन्। मृदङ्गादीनां

---

१. वाकोवाक्य प्रश्नोत्तरात्मक शैली के विभिन्न ग्रन्थों में आये स्थल विशेषों का नाम है। पूर्व संस्करण में मूलपाठ की भ्रष्टता से यहाँ अर्थ में असङ्गति हुई है ॥ सम्पा० ॥

भावार्थ:--परमात्मा के सामर्थ्य से शब्द तथा बोलने और सुनने आदि के सामर्थ्य और साधन संसार में उत्पन्न हुये हैं ।। २१ ।।

विशेष:—तैंतीस देवता हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,— ११ रुद्र अर्थात् प्राण अपान, व्यान, समान उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय--यह दस प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा— १२ आदित्य अर्थात् महीने, १ इन्द्र अर्थात् बिजुली, १ प्रजापति अर्थात् यज्ञ—महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद विषय पृष्ठ ६६–६८ ।।

कण्डिका २२ ।।

सैषैकाक्षराऽऽृग् ब्रह्मणस्तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव ब्रह्म वेदस्याथर्वणं शुक्रमत एव मन्त्राः प्रादुर्बभूवुः स तु खलु मन्त्राणामतपसाशुश्रूषाऽनध्यायाध्ययनेन यदूनञ्च विरिष्टञ्च यातयामञ्च करोति तदथर्वणां तेजसा प्रत्याप्याययेन्मन्त्राश्च मामभिमुखीभवेयुर्गर्भा इव मातरमभिजिघांसुः पुरस्तादोङ्कारं प्रयुङ्क्त एतयैव तदृचा प्रत्याप्याययेदेषैव यज्ञस्य पुरस्ताद्युज्यत एषा पश्चात् सर्वत एतया यज्ञस्तायते ।

तदप्येतदृचोक्तम् । या पुरस्ताद्युज्यत एषा ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्निति ।

तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत् त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिष्युपविश्य सहस्रकृत्व[1] आवर्त्तयेत् [2]सिध्यन्त्यस्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम् ।। २२ ।।

कण्डिका २२ ।। ओम् को सहस्र बार जपने की महिमा ।।

(सा एषा एकाक्षरा ऋग्) वह यह एक अक्षर [अविनाशी ओम्] वाली ऋचा [स्तुति योग्य वाणी] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा--क० १६] के (तपसः) तप से (अग्रे) पहिले ही पहिले (प्रादुर्बभूव) प्रकट हुआ। (ब्रह्म) ब्रह्म [ओम्]

ताडनविद्याः (चैत्ररथम्) चित्ररथ—अण् । विचित्ररमणीयगुणयुक्तम् (दैवतम्) देव एव देवता, समूहे—अण् । देवानां दिव्यपदार्थानां समूहम् (वैद्युतम्) विद्युत्—अण् । विविधद्युतियुक्तम् (बार्हतम्) बृहती—अण् । बृहतीभिर्वेदवाणीभिर्विहितम् (तृणवत्त्रयस्त्रिंशौ) नूयत इति नवत् । वर्तमाने पृषद्बृहन्मह० (उ० २ । ८४) णु स्तुतौ—अतिः । त्रयस्त्रिंशत् संख्या यस्मिन् स त्रयस्त्रिंशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (पा० ५ । ४ । ७३) बहुव्रीहौ डच् । त्रिषु कालेषु नवद्भिः स्तूयमानैर्वसुरुद्रादित्येन्द्रप्रजापतिभिः त्रयस्त्रिंशद्देवैर्युक्तम् (स्तोमौ) स्तुत्यव्यवहारौ सृष्टिप्रलयौ ।।

२२—(आथर्वणम्) अथर्वन्—अण् । अथर्वणो निश्चलाद् ब्रह्मणः प्राप्तम् । (शुक्रम्) वीर्यं सामर्थ्यम् (अतः) अस्मात् परमात्मनः (अशुश्रूषा) श्रु श्रवणे

---

१. "सहस्रकृत्वा" इति पू० सं० पाठः ।

२. सिद्धन्ति इति पू० सं० पाठः ।। सम्पा० ।।

(वेदस्य वेद का (आथर्वणम्) अथर्वा [निश्चल ब्रह्म] से प्राप्त हुआ (शुक्रम्) सामर्थ्य है। (अतः एव मन्त्राः प्रादुर्बभूवुः) उसी [ओम्] से मन्त्र प्रकट हुये। (सः तु खलु) और वह [पुरुष] निश्चय करके (अतपसा) तप के बिना, (अशुश्रूषा = अशुश्रूषया) सेवा के बिना और (अनध्यायाध्ययनेन) अध्याय [पाठक्रम] तथा अध्ययन [पठन] के बिना (मन्त्राणाम्) मन्त्रों को (यत् ऊनम्) जो घटती (च च) और (विरिष्टम्) दोष (च) और (यातयामम्) समय का खोना (करोति) करे (तत्) उसको (अथर्वणाम्) निश्चल वेदों के (तेजसा) तेज से (प्रत्याप्याययेत्) भरपूर करे, (मन्त्राः च) और मन्त्र भी (माम्) लक्ष्मी के (अभिमुखीभवेयुः) सामने होवें (गर्भा इव मातरम्) जैसे गर्भ माता के [सामने होते हैं] । (अभिजिघाँसुः) सब ओर गति वाला [जिज्ञासु पुरुष] (पुरस्तात्) पहिले (ओङ्कारम्) ओङ्कार को (प्रयुङ्क्ते) बोले। (एतया एव ऋचा) इसी ही ऋचा से (तत्) उस [दोष] को (प्रत्याप्याययेत्) भरपूर करे (एषा एव) यही [ऋचा] (यज्ञस्य पुरस्तात्) यज्ञ के पहिले और (एषा पश्चात्) यही पीछे (युज्यते) बोली जाती है। (एतया) इस [ऋचा] से (सर्वतः यज्ञः तायते) सब प्रकार यज्ञ फैलता है।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) वह भी इस ऋचा करके कहा गया है, (या) जो [ऋचा] (पुरस्तात्) [जप से] पहिले (युज्यते) बोली जाती है— (ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् इति) ऋचोऽक्षरे ...... अथ० ९ । १० । १८ ॥

(तत् एतत् अक्षरम्) सो इस अक्षर [अविनाशी ओम् शब्द] को (ब्राह्मणः) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] (यं कामम् इच्छेत्) जिस इष्ट पदार्थ को चाहे (त्रिरात्रोपोषितः) तीन रात्रि उपवास करता हुआ [अनाहार रहता हुआ], (प्राङ्मुखः) पूर्व को मुख किये हुये, (वाग्यतः) वाणी रोके हुये [मौन चुपचाप]

गतौ च—सन्—अ, टाप् । अशुश्रूषया । सेवया विना (यातयामम्) कं० १६ । या प्रापणे—क्तः । अतिस्तुसुहु० (उ० १ । १४०) या प्रापणे—मन्, यद्वा यम नियमने—घञ् । विगतसमयम् । समयनाशम् (प्रत्याप्याययेत्) प्रति + आङ् + प्यैङ् वृद्धौ—णिच् । प्रवर्धयेत् । प्रपूरयेत् (माम्) माङ्[1] माने—कः टाप् । लक्ष्मीम् । सम्पत्तिम् (अभिजिघांसुः) अभि + हनं हिंसागत्योः—सन्—उप्रत्ययः । सर्वतो गमनेच्छुकः । जिज्ञासुः (प्रयुङ्क्ते) प्रयोजयेत् । उच्चारयेत् (तायते) विस्तीर्यते (ऋचः) मन्त्रात् (व्योमन्) नामन्सीमन्व्योमन्० (उ० ४ । १५१) वि + अव रक्षणे—मनिन् । विविधरक्षके वेदे (ब्राह्मणः) ब्रह्मन्—अण् । ब्रह्मज्ञानी पुरुषः (त्रिरात्रोपोषितः) त्रिरात्र + उप + वस निवासे, स्तम्भे च—क्तः । त्रिरात्रपर्य्यन्तं कृतोपवासः (प्राङ्मुखः) पूर्वाभिमुखः (वाग्यतः) कृतवाक्-

---

१. यह पाठ एवं व्युत्पत्ति चिन्त्य है । सम्पा० ॥

(बर्हिषि उपविश्य) कुशासन पर बैठकर (सहस्रकृत्वः) सहस्र बार (आवर्तयेत्) फेरता रहे [जपे], (अस्य अर्थाः सर्वकर्माणि च) उसके मनोरथ और सब काम (सिध्यन्ति) सिद्ध होते हैं (इति ब्राह्मणम्) यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्य सदा और सर्वत्र ओम् के जप से बुद्धि को निर्मल करके वेदार्थ पद विचारते हुए पुरुषार्थ के साथ अपने मनोरथ पूरे करें ॥ २२ ॥

विशेषः—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित लिखा जाता है ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ अथर्व० का० ९ सू० १० म० १८ ॥ भेद से ऋग्वेद १ । १६४ । ३९ । निरु० १३ । १० ॥

(यस्मिन्) जिस (अक्षरे) व्यापक [वा अविनाशी] (परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) विविध रक्षक [वा आकाशवत् व्यापक] ब्रह्म में (ऋचः) वेद विद्यायें और (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी सूर्यादि लोक] (अधि) ठीक ठीक (निषेदुः) ठहरे हैं । (यः) जो [मनुष्य] (तत्) उस [ब्रह्म] को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) वेद विद्या से (किम्) क्या [लाभ] (करिष्यति) करेगा, (ये) जो [पुरुष] (इत्) ही (तत्) उस [ब्रह्म] को (विदुः) जानते हैं, (ते अमी) वे यही [पुरुष] (सम्) शोभा के साथ (आसते) रहते हैं ॥

कण्डिका २३ ॥

वसोर्धाराणामैन्द्रनगरन्तदसुराः पर्य्यवारयन्त, ते देवा भीता आसन् क इमानसुरानपहनिष्यतीति, त ओङ्कारं ब्राह्मणः पुत्रं ज्येष्ठं ददृशुस्ते तमब्रुवन् भवता मुखेनेमानसुरान् जयेमेति । स होवाच किं मे प्रतीवाहो भविष्यतीति वरं वृणीष्वेति वृणा इति स वरमवृणीत न मामनीरयित्वा ब्राह्मणाः ब्रह्म वदेयुर्यदि वदेयुरब्रह्म तत् स्यादिति तथेति ते देवा देवयजनस्योत्तरार्द्धेऽसुरैः संयता आसंस्तानोङ्कारेणाग्नीध्रीयाद्देवा असुरान् पराभावयन्त, तद्यत्पराभावयन्त तस्मादोङ्कारः पूर्व उच्यते । यो ह वा एतमोङ्कार न वेदावशः स्यादित्यथ य एवं वेद ब्रह्म वशः स्यादिति सूत्र तस्मादोङ्कार ऋच्यृग्[1] भवति यजुषि यजुः साम्नि साम सूत्रे सूत्रं ब्राह्मणे ब्राह्मणं श्लोके श्लोकः प्रणवे प्रणव इति ब्राह्मणम् ॥ २३ ॥

संयमः (बर्हिषि) कुशासने (सहस्रकृत्वः) संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (पा० ५ । ४ । १७) सहस्र—कृत्वसुच् । सहस्रवारान् (आवर्तयेत्) अभ्यासेन जपेत् (अर्थाः) मनोरथाः ॥

---

१. ऋग्यृग् इति पू० सं० पाठः । सम्पा० ॥

कण्डिका २३ ॥ आख्यायिका–ओम् द्वारा असुरों से देवताओं की रक्षा ।

(वसोः) श्रेष्ठ गुण के (धाराणाम्) प्रवाहों का (ऐन्द्रनगरम्) इन्द्र का नगर [जीवात्मा का घर अर्थात् मनुष्य शरीर] है। (तत् असुराः) उसको असुरों [कुविचारों] ने (पर्य्यवारयन्त) घेर लिया। (ते देवाः भीताः आसन्) वे देवता [इन्द्रियाँ वा विद्वान्] डरने लगे—(कः इमान् असुरान् अपहनिष्यति इति) कौन इन असुरों को मार डालेगा। (ते ओङ्कारं ब्रह्मणः ज्येष्ठं पुत्रं ददृशुः) उन्होंने ओङ्कार, ब्रह्मा के जेठे पुत्र [पुत् अर्थात् नरक से बचाने वाले सन्तान वा मन्त्र] को देखा। (ते तम् अब्रुवन्) वे उससे बोले—(भवता मुखेन इमान् असुरान् जयेम इति) हम आप मुखिया के द्वारा इन असुरों को जीतें। (स ह उवाच) वह बोला–(किं मे प्रतीवाहः भविष्यति इति) मेरे लिये क्या प्रतिफल होगा। [वे बोले]—(वरं वृणीष्व इति) तू वर [अभीष्ट फल] मांग। [वह बोला]--(वृणै इति) मैं मांगू? (सः वरम् अवृणीत) उसने वर माँगा--(माम् अनीरयित्वा ब्राह्मणाः ब्रह्म न वदेयुः) मुझको न बोल कर ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] वेद को न बोलें, (यदि वदेयुः तत् अब्रह्म स्यात्) जो वे [मुझे न बोलकर] बोलें, वह वेद विरुद्ध होवे। [वे बोले]--(तथा इति) वैसा ही हो। (ते देवाः देवयजनस्य उत्तरार्द्धे असुरैः संयताः आसन्) वे देवता देवयज्ञ के पिछले आधे भाग में असुरों से घेरे गये। (तान् असुरान् ओङ्कारेण आग्नीध्रीयात् देवाः पराभावयन्त) उन असुरों को ओङ्कार द्वारा अग्नि के प्रकाश करने वाले याजक के स्थान [यज्ञ मंडप] से देवताओं ने हरा दिया। (तत् यत् पराभावयन्त, तस्मात् ओङ्कारः पूर्वं उच्यते) सो जो उन्होंने हराया, उसी से ओङ्कार पहिले बोला जाता है। (यः ह वै एतम् ओङ्कारं न वेद अवशः स्यात् इति) जो मनुष्य निश्चय करके इस ओङ्कार को न जाने, वह अप्रिय होवे। (अथ यः एवं ब्रह्म वेद, वशः स्यात् इति) और जो व्यापक ब्रह्म को जाने, वह प्रिय होवे। (तस्मात् ओङ्कारः ऋचि ऋग्, यजुषि यजुः, साम्नि साम, सूत्रे सूत्रं, ब्राह्मणे ब्राह्मणं, श्लोके श्लोकः, प्रणवे प्रणवः भवति इति ब्राह्मणम्) इसलिये ओङ्कार ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति

२३—(वसोः) श्रेष्ठगुणस्य (धाराणाम्) प्रवाहानाम् (ऐन्द्रनगरम्) इन्द्र—अण्। इन्द्रस्य जीवस्येदं नगरम्। इन्द्रियायतनं शरीरम् (पुत्रम्) क० २। पुतो नरकात् त्रायकं सन्तानं वेदमन्त्रं वा (ज्येष्ठम्) सर्वश्रेष्ठम्। सर्ववृद्धम् (भवता) भगवता (मुखेन) डित्खनेर्मुट् चोदात्तः (उ० ५। २०) खनेरलचौ, तयोर्डित्वं धातोर्मुट् च। मुखमिव मुख्येन प्रधानेन (मे) मह्यम् (प्रतीवाहः) पुरस्कारः (वरम्) अभीष्टफलम् (वृणीष्व) याचस्व (अनीरयित्वा) ईर गतौ—क्त्वा। अनुदीर्य। अनुच्चार्य (अब्रह्म) ब्रह्मणा वेदेन विरुद्धम् (संयताः) यम नियमने—क्तः। निरुद्धाः (आग्नीध्रीयात्) अग्निमिन्धे दीपयति अग्नीत्। अग्नि+ञि इन्धी दीप्तौ--क्विप्। तस्य शरणम्। अग्नीधः शरणे रण् भं च (वा० पा० ४। ३। १२०) अग्नीध्—रण्, ततः स्वार्थे छप्रत्ययः। अग्नीधः अग्नि-प्रकाशकस्य याजकस्य शरणाद् गृहात्। यज्ञमंडपात् (पराभावयन्त) पराज-

विद्या] में ऋग्वेद, यजुर्वेद [सत्कर्मों की विद्या] में यजुर्वेद, सामवेद [मोक्षविद्या] में सामवेद, सूत्र [अथर्ववेद वा शास्त्र तत्त्व] में सूत्र, ब्राह्मण [ब्रह्म विद्या] में ब्राह्मण, श्लोक [यश] में श्लोक, प्रणव [स्तुति योग्य ओङ्कार] में प्रणव होता है, यह ब्राह्मण [ब्रह्म ज्ञान] है ॥ २३ ॥

भावार्थः--ब्रह्मज्ञानी लोग वेदमन्त्रों में ओम् के जप से पापों से छूट कर आत्मोन्नति करते हैं ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ ॥

ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपदिकं किं नामाख्यातं किं लिङ्गं किं वचनं का विभक्तिः कः प्रत्ययः कः स्वर उपसर्गो निपातः किं वै व्याकरणं को विकारः को विकारी कतिमात्रः कतिवर्णः कत्यक्षरः कतिपदः कः संयोगः किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति किं छन्दः को वर्ण इति पूर्वे प्रश्ना अथोत्तरे मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणमृग्यजुः साम कस्माद् ब्रह्मवादिन ओङ्कारमादितः कुर्वन्ति किं दैवतं किं ज्योतिषं किं निरुक्तं किं स्थानं का प्रकृतिः किमध्यात्ममिति षट्त्रिंशत् प्रश्नाः पूर्वोत्तराणां त्रयो वर्गा द्वादशका एतैरोङ्कारं व्याख्यास्यामः ॥ २४ ॥

कण्डिका २४ ॥ ओङ्कार के विषय में ३६ प्रश्न ॥

(ओङ्कारं पृच्छामः) ओङ्कार [के विषय] को हम पूछते हैं—(कः धातुः) कौन धातु है। १। (किं प्रातिपदिकम्) क्या प्रातिपदिक है। २। (किं नाम आख्यातम्) क्या नाम [संज्ञा] और आख्यात [क्रियापद] है। ३-४। (किं लिङ्गम्) क्या लिङ्ग है। ५। (किं वचनम्) क्या वचन है। ६। (का विभक्तिः) क्या विभक्ति है। ७। (कः प्रत्ययः) कौन प्रत्यय है। ८। (कः स्वरः उपसर्गः निपातः) कौन स्वर, उपसर्ग और निपात है। ९, १०, ११। (किं वौ व्याकरणम्) क्या [इसका] निश्चित व्याकरण है। १२। (कः विकारः) कौन विकार है। १। (कः विकारी) क्या विकार वाला है। २। (कतिमात्रः) कितनी मात्रा वाला है। ३। (कतिवर्णः) कितने वर्ण वाला है। ४। (कत्यक्षरः) कितने अक्षर वाला है। ५। (कतिपदः) कितने पद वा पाद वाला है। ६। (कः संयोगः) कौन संयोग है। ७। (किं स्थानानुप्रदानकरणम्) कौन सा स्थान का अनुप्रदान और करण है। ८, ९। (शिक्षकाः किम् उच्चारयन्ति) शिक्षक लोग क्या बोलते हैं। १०। (किं छन्दः) क्या छन्द है। ११। (कः वर्णः) कौन वर्ण [रङ्ग] है। १२। (इति पूर्वो प्रश्नाः) यह पहिले प्रश्न हैं। (अथ उत्तरे) अब

यन्त (अवशः) वश कान्तौ--अच्। अकमनीयः। अप्रियः (वशः) कमनीयः। प्रियः (ऋचि) ऋग्वेदे (सूत्रे) शास्त्रतत्त्वे (ब्राह्मणे) ब्रह्मज्ञाने (श्लोके) यशसि (प्रणवे) प्र+णु स्तुतौ - अप्। प्रकर्षेण स्तूयमाने। ओङ्कारे ॥

२४--(मन्त्रः) सप्तम्यर्थे प्रथमा। मन्त्रे। (कल्पः) कल्पे। संस्कारविधाने। (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञाने (ऋग्) ऋग्वेदे (यजुः) यजुषि। यजुर्वेदे। (साम) साम्नि। सामवेदे ॥

पिछले [प्रश्न] हैं--(मन्त्रः) मन्त्र [गूढ़ विचार] में । १ । (कल्पः) कल्प [संस्कारविधान] में । २ । (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण ग्रन्थ में । ३ । (ऋग्) ऋग्वेद में । ४ । (यजुः) यजुर्वेद में । ५ । (साम) सामवेद में । ६ । (कस्मात् ब्रह्मवादिनः ओङ्कारम्) किसलिये ब्रह्मवादी लोग ओङ्कार को (आदितः कुर्वन्ति) आरम्भ में करते हैं, (किं दैवतम्) क्या देवता है । ७ । (किं ज्योतिषम्) क्या ज्योति है । ८ । (किं निरुक्तम्) क्या निरुक्त है । ९ । (किं स्थानम्) क्या स्थान है । (का प्रकृतिः) क्या प्रकृति है । ११ । (किं अध्यात्मम्) क्या अध्यात्म [आत्मज्ञान] है । १२ । (इति षट्त्रिंशत् प्रश्नाः) यह छत्तीस प्रश्न हैं, (पूर्वोत्तराणां त्रयः वर्गाः द्वादशकाः) पहिले और पिछले प्रश्नों के तीन वर्ग द्वादशक [बारह बारह के समूह] हैं । (एतैः ओङ्कारं व्याख्यास्यामः) इन [प्रश्नों] से ओङ्कार की हम व्याख्या करेंगे ॥ २४ ॥

विशेषः--इन छत्तीस प्रश्नों के उत्तर आगे कण्डिका २६ से आरम्भ होंगे ।

कण्डिका २५ ॥

इन्द्रः प्रजापतिमपृच्छद् भगवन्नभिसूय पृच्छामीति, पृच्छ वत्सेत्यब्रवीत् किमयमोङ्कारः कस्य पुत्रः किञ्चैतच्छन्दः किञ्चैतद्वर्णः किञ्चैतद् ब्रह्मा ब्रह्म सम्पद्यते तस्माद् वै तद्भद्रमोङ्कारं पूर्वमालेभे स्वरितोदात्त एकाक्षर ओङ्कार ऋग्वेदे, त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओङ्कारो यजुर्वेदे, दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओङ्कारः सामवेदे, ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओङ्कारोऽथर्ववेद उदात्तोदात्तद्विपद अ उ इत्यर्द्ध-चतस्रो मात्रा मकारे व्यञ्जनमित्याहुर्या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् ब्राह्म्यं पदं, या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् वैष्णवं पदं, या सा तृतीया मात्रैशान-देवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पद, या सार्द्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्या व्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धस्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामकमोङ्कारस्य चोत्पत्तिर्विप्रो यो न जानाति तत्पुनरुपनयनं तस्माद् ब्राह्मणवचनमादर्त्तव्यं यथा लातव्यो गोत्रो ब्रह्मणः पुत्रो गायत्रं छन्दः शुक्लो वर्ण पुंसो वत्सो रुद्रो देवता ओङ्कारो वेदानाम् ॥ २५ ॥

कण्डिका २५ ॥ आख्यायिका ओङ्कार के विषय में इन्द्र के प्रश्न और प्रजापति के उत्तर ॥

(इन्द्रः) इन्द्र [जीवात्मा] ने (प्रजापतिम्) प्रजापति [इन्द्रिय आदि के पालने वाले जीवात्मा अर्थात् अपने] से (अपृच्छत्) पूछा - (भगवन्) हे भगवन् ! [ऐश्वर्य वाले] (अभिसूय) [विद्या में] सब ओर से स्नान करके (पृच्छामि इति) मैं पूछता हूँ । [प्रजापति ने कहा]--(वत्स पृच्छ) बच्चा ! पूछ (इति) ऐसा [प्रजापति] (अब्रवीत्) बोला—(किम् अयम् ओङ्कारः) यह ओङ्कार क्या है--१, (कस्य पुत्रः) यह किस

२५—(इन्द्रः) जीवात्मा (प्रजापतिम्) प्रजानामिन्द्रियादीनां पालकमा-त्मानम् (अभिसूय) अभि+षुञ अभिषवे—ल्यप् । विद्यायामभितः स्नात्वा ।

का पुत्र [नरक से बचाने वाला सन्तान] है--२, (किञ्च एतत् छन्दः) और यह क्या छन्द है [आनन्ददायक कर्म वा गायत्री आदि छन्द]--३, (किं च एतत् वर्ण.] और यह क्या रङ्ग है—४, (किं च एतत् ब्रह्म ब्रह्मा सम्पद्यते) और कौन से इस ब्रह्म को ब्रह्मा [सब वेदों का जानने वाला] प्राप्त करता है, (तस्मात् वै तत् भद्रम् ओङ्कारं पूर्वम् आलेभे) और उससे ही वह [ब्रह्मा] उस मंगलकारी ओङ्कार को पहिले पाता है--५ ।

[यहाँ शंका होती है]--(स्वरितोदात्तः एकाक्षरः ओंकारः ऋग्वेदे) स्वरित और उदात्त स्वर वाला, एक अक्षर वाला, ओंकार ऋग्वेद में है। (त्रैस्वर्योदात्तः एकाक्षरः ओंकारः यजुर्वेदे) तीनों स्वर [ह्रस्व दीर्घ प्लुत] के सहित उदात्त एक अक्षर वाला ओंकार यजुर्वेद में है। (दीर्घप्लुतोदात्तः एकाक्षरः ओंकारः सामवेदे) दीर्घ-प्लुत के सहित उदात्त एक अक्षर वाला ओंकार सामवेद में है। (ह्रस्वोदात्तः एकाक्षरः ओंकारः अथर्ववेदे) ह्रस्व स्वर के साथ उदात्त एक अक्षर वाला ओंकार अथर्ववेद में है। (उदात्तोदात्तद्विपदः अ उ इति अर्धचतस्रः मात्राः, मकारे व्यञ्जनम् इति आहुः) उदात्त सहित उदात्त दो पद वाला अ उ यह साढ़े चार मात्रायें हैं और मकार में व्यञ्जन है, ऐसा कहते हैं।

[शंका समाधान] (या प्रथमा मात्रा सा ब्रह्मदेवत्या वर्णेन रक्ता) जो पहिली मात्रा है वह ब्रह्म देवता वाली रङ्ग से लाल है, (यः तां नित्यं ध्यायते सः ब्राह्म्यं पदं गच्छेत्) जो पुरुष नित्य उस [मात्रा] का ध्यान करे, वह ब्राह्म्य पद [ब्रह्म के स्थान] को प्राप्त हो। (या द्वितीया मात्रा सा विष्णुदेवत्या वर्णेन कृष्णा) जो दूसरी स्वर मात्रा है वह विष्णु देवता वाली रङ्ग से काली है. (यः तां नित्यं ध्यायते सः वैष्णवं पदं गच्छेत्) जो पुरुष उसका नित्य ध्यान करे वह वैष्णव पद [विष्णु=सर्व-व्यापक परमात्मा के स्थान] को पावे। (या तृतीया मात्रा सा ऐशानदेवत्या वर्णेन कपिला) जो तीसरी स्वर मात्रा है वह ऐशान देवता वाली रङ्ग से पीली है, (यः तां नित्यं ध्यायते सः ऐशानं पदं गच्छेत्) जो उस मात्रा का नित्य ध्यान करे, वह ऐशान पद [ईशान सबके ईश्वर परमात्मा के स्थान] को पावे। (या अर्धचतुर्थी मात्रा, सा सर्वदेवत्या व्यक्तीभूता खं विचरति वर्णेन शुद्धस्फटिकसन्निभा) जो आधी के साथ चौथी [डेढ़] स्वर मात्रा है वह सब देवताओं वाली प्रकाशमान होकर आकाश में विचरती है, रङ्ग से उज्ज्वल बिल्लौरमणि के समान है, (यः तां नित्यं ध्यायते स अनामकं पदं

स्नातको भूत्वा (त्रैस्वर्योदात्तः) त्रिस्वर-ष्यञ् । त्रिस्वरेण ह्रस्वदीर्घप्लुतेनोदात्तः । (अर्धचतस्रः) अर्धेन सह चतस्रः (ध्यायते) चिन्तयति (गच्छेत्) प्राप्नुयात् (ब्राह्म्यम्) ब्रह्मन्+ष्यञ् । ब्रह्मसम्बन्धि । (अर्धचतुर्थी) अर्धेन सह चतुर्थी (व्यक्तीभूता) प्रकाशमाना सती (शुद्धस्फटिकसन्निभा) उज्ज्वलस्फटिकमणिसदृशा (अनामकम्) नामशून्यम् (उत्पत्तिः) द्वितीयार्थे प्रथमा । उत्पत्तिम् (उपनयनम्) विद्यारम्भसंस्कारः (ब्राह्मणवचनम्) ब्रह्मवादिनः कथनम् (लातव्यः) ला

गच्छेत्) जो पुरुष उस [स्वर मात्रा] का नित्य ध्यान करे, वह अनामक पद [नामशून्य परमात्मा के स्थान] को पावे । (ओंकारस्य च उत्पत्तिः यः विप्रः न जानाति तत् पुनः उपनयनम्) और ओंकार की उत्पत्ति को जो ब्राह्मण नहीं जानता उसका फिर उपनयन संस्कार होवे [अर्थात् वेद की विद्या फिर आरम्भ से पढ़े] ।

(तस्मात् ब्राह्मणवचनम् आदर्त्तव्यम्) इसलिये ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का वचन आदर योग्य है--[पाँच प्रश्नों के यह उत्तर हैं] (यथा) जैसे [यह बात] (लातव्यः) ग्रहण योग्य है । (गोत्रः) पृथिवी का रक्षक १, (ब्रह्मणः पुत्रः) ब्रह्मा का पुत्र [कण्डिका १६] २, (गायत्र छन्द) गायत्री [दैवी गायत्री] छन्दः ३, (शुक्लः वर्णः) शुक्ल वर्ण [आदित्य वर्ण] ४, और (पुंसः[1]) बढ़ाने वाला (वत्सः) बसाने वाला, (रुद्रः) ज्ञान देने वाला, (वेदानां देवता) सब वेदों का देवता [प्रकाश्य विषय] (ओंकारः) ओंकार है ५, ॥ २५ ॥

भावार्थः--मनुष्य को चाहिये कि ज्ञान पूर्वक ओंकार का विविध प्रकार ध्यान करके आत्म शक्ति बढ़ाकर सदा उन्नति करे ॥ २५ ॥

कण्डिका २६ ।

को धातुरित्यापृर्धातुरवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यन्नेदीयस्तस्मा-दापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकमदर्शनं प्रत्ययस्य नाम सम्पद्यते निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति ।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

को विकारी च्यवते प्रसारणमाप्नोति रावावपकारौ[2] विकार्य्यावादित ओङ्कारो विक्रियते द्वितीयो मकार एवं द्विवर्ण एकाक्षर ओमित्योङ्कारो निर्वृत्तः ॥ २६ ॥

कण्डिका २६॥ कण्डिका २४ के ओम् विषयक प्रश्नों के उत्तर ।

(कः धातुः इति) कौन धातु है--[इसका उत्तर] (आपृः धातुः अवतिम्

आदाने--तव्यत् । ग्राह्यः (गोत्रः) गो + त्रैङ् पालने--कः । भूमिरक्षकः (पुंसः[1]) पुंस अभिवर्धने--अच् । अभिवर्धकः (वत्सः) वृतृवदिवचिवसि० (उ० ३ । ६२) वस निवासे--सः । निवासयिता (रुद्रः) रु गतौ--क्विप्, तुक् + रा दाने--कः ज्ञानदाता (देवता) प्रकाश्यविषयः । (ओंकारः) ओंकारस्य (वेदानाम्) वेदानां मध्ये ॥

---

१. यहाँ "पुमान् पुरुमना भवति । पुंसतेर्वा" (निरु० ६ । १५) अर्थात् [स्त्री की अपेक्षा] बहुत उदार होता है, या पुरुषार्थी होता है, ऐसी व्युत्पत्ति निरुक्त की है । इसी प्रकार रुद्र के लिये निरुक्त १० । ५ देखें । सम्पा० ॥

२. भ्रष्टोऽयं पाठः । "आपाववकारौ" एष युक्तः पाठः प्रतीयते, तदनुसारी चार्थः संशोध्य प्रकाश्यते । जर्मनसंस्करणे तु "आप्नोतेराकारपकारौ" इति पाठः स चापि युक्तः । सम्पा० ॥

अपि एके) आपृ [व्यापना] धातु है, अवति [रक्षा करना] को भी कोई कोई [कहते है] (रूपसामान्यात् अर्थसामान्यं नेदीयः तस्मात् आपेः ओंकारः सर्वम् आप्नोति इति अर्थः) रूप की समानता [धातु आदि की आकृति] की अपेक्षा अर्थ की समानता अधिक निकट होती है, इसलिये आप् [व्यापना] धातु से ओंकार सबमे व्यापता है यह अर्थ है १ । (कृदन्तम् अर्थवत् प्रातिपदिकम्) कृदन्त अर्थवान् शब्द प्रातिपदिक होता है, [अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (पा० १ । २ । ४५) अर्थवान् शब्द धातु और प्रत्यय को छोड़ कर प्रातिपदिक होता है] २ (अदर्शनं प्रत्ययस्य नाम संपद्यते) प्रत्यय के [लोप हो जाने की] अदर्शन संज्ञा होती है । ३ [प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (पा० १ । १ । ६२) प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्यय से होने वाला कार्य होता है] (निपातेषु च एनं वैयाकरणाः उदात्तं समामनन्ति) और निपातों में इस [ओंकार] को व्याकरण जानने वाले लोग उदात्त मानते हैं । (तत् अव्ययीभूतम् अन्वर्थवाची शब्दः कदाचन न व्येति इति) सो अव्यय होता हुआ पद, अनुकूल अर्थ बताने वाला शब्द कभी भी विकार नहीं पाता है । (सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्) तीनो लिङ्गों में और सब विभक्तियों में जो सदृश है और जो सब वचनों में विकार नहीं पाता है, वह अव्यय [विकारशून्य निपात] है— [स्वरादिनिपातमव्ययम् (पा० १ । १ । ३७) स्वरादि तथा निपात अव्यय हैं] (कः विकारी) कौन विकार वाला है—[इसका उत्तर] (आप्नोतिः प्रसारणं च्यवते) आप् धातु [व्यापना] सम्प्रसारण को पाता है [इग्यणः सम्प्रसारणम् (पा० १ । १ । ५) यण् के स्थान में इक् करने को सम्प्रसारण कहते हैं] (आपो अवकारो विकार्यौ) आकार और पकार तथा अकार और वकार दोनों विकार योग्य हैं (आदितः ओंकारः विक्रियते द्वितीयःमकारः) आदि में ओंकार रूपान्तर वाला होता है और मकार दूसरा वर्ण है । (एवं द्विवर्णः एकाक्षरः ओम् इति ओंकारः निर्वृतः) इस प्रकार दो वर्ण [ओ + म्] वाला, एक अक्षर वाला ओम् अर्थात् ओंकार सिद्ध होता है ९, १०, ११ ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस कण्डिका में यह विचारणीय है—कौन धातु है ? उत्तर-आपृ वा आप्लृ [व्यापना] और अव [रक्षा आदि करना] । (२) प्रातिपदिक क्या है ? उत्तर-कृदन्त अर्थवान् शब्द प्रातिपदिक हैं-(३) स्वर क्या है ? उत्तर-उदात्त । (४) निपात क्या है ? उत्तर-अव्यय होकर निपात होता है (५) विकारी क्या है ? उत्तर-आप् धातु अर्थात् आप् और अव् दोनों धातु को संप्रसारण होता है, अर्थात् आप् के पकार को बकार होकर बकार को वकार, और वकार को उकार हुआ, इसी प्रकार अव् के वकार को सम्प्रसारण उकार फिर आप् धातु के आ और उ को, और अव् के अ उ को गुण ओ, मकार प्रत्यय होकर ओम् पद सिद्ध होता है ।

२६—(नेदीयः) अन्तिक-ईयसुन् । अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ (पा० ५ । ३ । ६३) नेदादेशः । समीपतरम् (सम्पद्यते) प्राप्नोति (वैयाकरणाः) व्याकरण+अण् । न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम् पूर्वौ तु ताभ्यामैच् (पा० ७ । ३ । ३) यकारात् पूर्वमैच् । व्याकरणवेत्तारः (समामनन्ति) म्ना अभ्यासे । मन्यन्ते । (निर्वृतः) वृतु वर्तने-क्तः । निष्पन्नः । साधितः ॥

उणादि कोष में तो ओम् की सिद्धि इस प्रकार है--अवतेष्टिलोपश्च (उ० १ । १४२) अव रक्षणे--मन्, अन् भाग का लोप और अव् को ऊठ् होकर और ऊठ् को गुण होकर ओम् शब्द सिद्ध हुआ (६) । कितने वर्ण वाला और (७) कितने अक्षर वाला है-इनके उत्तर, ओम् दो वर्ण वाला एक अक्षर वाला है । लिङ्ग, वचन, विभक्ति और निपात इन चार प्रश्नों के उत्तर 'सदृशं त्रिषु······' इस कारिका में हैं । ८, ९, १०, ११ ।

विशेषः--कण्डिका २४ के सब ३६ प्रश्नों के उत्तर कण्डिका २६ और २७ में हैं । हमारी समझ में ठीक ठीक नहीं बैठे, पाठक जन विचार लेवें ॥

कण्डिका २७ ॥

कतिमात्र इत्यादेस्तिस्रो मात्रा अभ्यादाने हि प्लवते मकारश्चतुर्थी किं स्थानमित्युभावोष्ठौ स्थानं नादानुप्रदानकरणौ च द्वयस्थानं सन्ध्यक्षरमवर्णलेशः कण्ठचो यथोक्तशेषः पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च द्वितीयस्पृष्टकरणस्थितश्च न संयोगो विद्यत[1] आख्यात पसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्य्याः पूर्वे बभूवुः श्रवणादेव प्रतिपद्यन्ते न कारणं पृच्छन्त्यथापरपक्षीयाणां कविः पञ्चालचण्डः परिपृच्छको बभूवां[2] वु पृथगुद्गीथदोषान् भवन्तो ब्रुवन्त्विति तद्वाप्युपलक्षयेद्वर्णाक्षरपदांकशो विभक्त्यामृषिनिषेवितामिति वाचं स्तुवन्ति तस्मात् कारणं ब्रूमो वर्णानामयमिदं भविष्यतीति षडङ्गविदस्तत्तथाऽधीमहे । किञ्छन्द इति गायत्रं हि छन्दो गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता द्वौ द्वादशकौ वर्गावेतद् वै व्याकरणं धात्वर्थवचनं शैक्ष्यं छन्दोवचनं चाथोत्तरौ द्वौ द्वादशकौ वर्गौ वेदरहसिकी व्याख्याता मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणमृग्यजुःसामाथर्वण्येषा व्याहृतिश्चतुर्णां वेदानामानुपूर्व्येणोंभूर्भुवःस्वरिति व्याहृतयः ॥ २७ ॥

कण्डिका २७ ॥ कण्डिका २४ के ओम् विषयक प्रश्नों के उत्तर ॥

(कतिमात्रः इति) वह [ओम्] कितनी मात्रा वाला है ? [उत्तर] (आदेः तिस्रः मात्राः अभ्यादाने हि प्लवते मकारः चतुर्थीम्) आरम्भ से तीन मात्राओं को मन्त्र के आरम्भ में ही वह [ओम्] प्राप्त होता है [प्लुत हो जाता है] और मकार चौथी मात्रा को [ओमभ्यादाने (पा० ८ । २ । ७८) ओम् शब्द मन्त्र के आरम्भ में प्लुत होता है] १२ । (किं स्थानम् इति) क्या स्थान

२७--(विद्यते) विद सत्तायाम् लट् । विद्यते । ज्ञायते (संस्थानाध्यायिनः) संस्थान+आ+ध्यै+चिन्तने-णिनिः । संस्थाचिन्तनशीलाः (आचार्याः) आङ्+चर गतौ-ण्यत् । वेदव्याख्यातारः (पञ्चालचण्डः) तमिविशिविडि० (उ० १ । ११८)

---

1. 'विद्युते' इति पाठान्तरम् ।

2. बभूवां वु इत्यस्य स्थाने "बभूव" इति समीचीनः पाठः प्रतीयते । सम्पा० ॥

है ? [उत्तर] (उभौ ओष्ठौ स्थानं नादानुप्रदानकरणौ च) [उकार और मकार के] दोनों ओंठ स्थान हैं और दोनों नाद बढ़ाने वाले प्रयत्न हैं, (द्वयस्थानं सन्ध्यक्षरम्) दो स्थान वाला सन्धि-अक्षर होता है, (अवर्णलेशः कण्ठ्यः) अकार वर्णमात्र कण्ठ स्थान वाला है, (यथोक्तशेषः पूर्वः विवृतकरणस्थितः च) और ऊपर कहे हुए [उकार मकार] का शेष पहिला वर्ण [अकार] विवृति प्रयत्न में ठहरा हुआ है, (द्वितीयः स्पृष्टकरणस्थितः च) और दूसरा [मकार] स्पृष्ट प्रयत्न में ठहरा हुआ है । ६, १०, १३, १४, १५ [कौन संयोग है, इसका उत्तर] (संयोगः न विद्यते) संयोग नहीं है । [हलोऽनन्तराः संयोगः (पा० १ । १ । ७) मध्य में अच् बिना हल् संयोग हो] १६, [कौन आख्यात है, कौन उपसर्ग है, कौन स्वर है, कौन लिङ्ग है, कौन विभक्ति है, कौन वचन है--इन छह प्रश्नों के उत्तर] (संस्थानाध्यायिनः पूर्वे आचार्याः बभूवुः आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिंगविभक्तिवचनानि च श्रवणात् एव प्रतिपद्यन्ते कारणं न पृच्छन्ति) व्यवस्था विचारने वाले पहिले आचार्य हुए थे, आख्यात, उपसर्ग, अनुदात्त, स्वरित, लिंग, विभक्ति और वचन को सुनने से ही वे जान लेते हैं और कारण को नहीं पूंछते । १७–२३ [देखो कण्डिका २६]

(अथ अपरपक्षीयाणां कविः पञ्चालचण्डः परिपृच्छकः बभूवाम् = बभूव) फिर दूसरे पक्ष वालों का कवि पञ्चाल देशवासियों में तीव्र मनुष्य पूंछने वाला हुआ । (उद्गीथदोषान् वु पृथक् भवन्तः ब्रुवन्तु इति) उद्गीथ [उत्तम गीति से वेद गाने] के दोषों को निश्चय करके अलग अलग आप [आचार्य] लोग बतावें, (तद् वा अपि वर्ण-अक्षर-पद-अंकशः विभक्त्याम् उपलक्षयेत्) और वह भी वर्ण वर्ण, अक्षर अक्षर, पद पद, और अंक अंक, करके विभक्ति में बतावे । [इसका उत्तर] (ऋषि-निषेवितां वाचम् स्तुवन्ति इति तस्मात् कारणं ब्रूमः) ऋषियों की निरन्तर सेवित वाणी को लोग सराहते हैं, इसलिए हम कारण बतलाते हैं । (वर्णानाम् अयम् इदं भविष्यति इति षडंगविदः तत् तथा अधीमहे) वर्णों में यह वर्ण यह रूप हो जायेगा, यह षडङ्ग [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह वेद के छह अङ्ग] जानने वाले [मानते हैं], उसको वैसा ही हम पढ़ते हैं ।

(किं छन्दः इति) क्या छन्द है ? [उत्तर] (गायत्रं हि छन्दः) गायत्री ही छन्द है । (देवानां गायत्री वै एकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता) देवताओं की गायत्री [पिङ्गल शास्त्र की दैवी गायत्री] एक अक्षर वाली और श्वेतवर्ण की कही गई है ॥ २४ ॥

(द्वौ द्वादशकौ वर्गौ एतत् वै व्याकरणम् धात्वर्थवचनं शैक्ष्यं छन्दोवचनं च) दो द्वादशक [बारह बारह के] वर्ग हैं, यह धातु और अर्थ बताने वाला, छन्द बताने

पचि विस्तारे व्यक्तीकरणे च कालन् प्रत्ययः । अमन्ताड् डः (उ० १ । ११४) चण दाने हिंसने च डप्रत्ययः, यद्वा चडि कोपे–घञ् । पञ्चालेषु देशविशेषवासिषु चण्डः कोपनः (परिपृच्छकः) प्रच्छ जिज्ञासायां–ण्वुल् । सर्वतः प्रष्टा (वु)

वाला शिक्षा योग्य व्याकरण है [अर्थात् चौबीस भाग में व्याकरण विषय है] । (अथ उत्तरौ द्वौ द्वादशकौ वर्गौ वेदरहसिकी व्याख्याता) और पिछले दो बारह बारह के वर्ग [द्विवचन = एकवचन, अर्थात् पिछला एक द्वादशक] है, [इनमें] वेदरहसिकी [वेदों की निर्जन स्थान में विचारने योग्य विद्या] बतलायी गयी है । (मन्त्रः कल्पः ब्राह्मणम् ऋग् यजुः साम अथर्वाणि एषा व्याहृतिः) मन्त्र [गूढ़ विचार] में, कल्प में ब्राह्मण ग्रन्थ में, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में यह [ओम्] व्याहृति है, १–८ । (चतुर्णां वेदानाम् आनुपूर्व्येण ओम् भू. भुवः स्वः इति व्याहृतयः) चारों वेदों की क्रम से ओम् भूः, भुवः, स्वः, व्याहृतियां हैं, ९––१२ [मिलान करो कण्डिका ६ तथा १७—२१] । २७ ॥

भावार्थः––मनुष्य व्याकरण आदि से ओम् शब्द के अर्थों को एकान्त में विचार कर विघ्नों को हटाकर आनन्द भोगे । २७ ॥

विशेषः—कण्डिका २४ के सब ३६ प्रश्नों के उत्तर कण्डिका २६ और २७ में हैं । हमारी समझ में ठीक ठीक नहीं बैठे, पाठक जन विचार लें ॥

कण्डिका २८ ॥

असमीक्षप्रवह्लितानि श्रूयन्ते द्वापरादावृषीणामेकदेशो दोषपतिरिह चिन्तामापेदे त्रिभिः सोमः पातव्यः समाप्तमिव भवति तस्मादृग्यजुःसामान्यपक्रान्ततेजांस्यासंस्तत्र महर्षयः परिदेवयाञ्चक्रिरे महच्छोकभयं प्राप्ताः स्मो न चैतत् सर्वैः समभिहितं ते वयं भगवन्तमेवोपधावाम सर्वेषामेव शर्म भवानीति ते तथेत्युक्त्वा तूष्णीमतिष्ठन्नानुपसन्नेभ्य इत्युपोपसीदामीति नीचैर्बभूवुः । स एभ्य उपनीय प्रोवाच मामिकामेव व्याहृतिमादितः आदितः कृणुध्वमित्येवं मामका आधीयन्ते ।

नर्त्ते भृग्वङ्गिरोविद्भ्यः सोमः पातव्य ऋत्विजः पराभवन्ति यजमाना रजसापध्वस्यति श्रुतिश्चापध्वस्ता तिष्ठतीत्येवमेवोत्तरोत्तराद्योगात्तोकं तोकम्प्रशाध्वमित्येवं प्रतापो न पराभविष्यतीति तथा ह तथा ह भगवन्निति प्रतिपेदिर आप्याययंस्ते तथा वीतशोकभया बभूवुः । तस्माद् ब्रह्मवादिन ओंकारमादितः कुर्वन्ति ॥ २८ ॥

कण्डिका २८ । ओम् को आदि में बोलने का वर्णन ॥

(असमीक्षप्रवह्लितानि श्रूयन्ते) विचारशून्य उड़ाऊ बातें सुनी जाती है— (द्वापरादौ ऋषीणाम् एकदेशः दोषपतिः इह चिन्ताम् आपेदे त्रिभिःसोमः पातव्यः समाप्तम् इव भवति) द्वापर के आरम्भ में ऋषियों के बीच एक देश का रहने वाला

निश्चयेन (वेदरहसिकी) वेदानां रहस्या निर्जनदेशे विचारणीया विद्या (शैक्ष्यम्) शिक्षा––ष्यञ् । शिक्षणीयम् ॥

२८—(असमीक्षप्रवह्लितानि) न+सम्+ईक्ष दर्शने—घञ्, प्र+ह्वल चलने-क्तः । समीक्षेण पर्यालोचनेन विना प्रचलितानि वचांसि (दोषपतिः)

दोषपति (बुराइयों का स्वामी) इस बात में चिन्ता करने लगा—तीन [वेदविशेषों] के साथ सोमरस पीना चाहिये—पूरा किया हुआ सा कर्म होता है। (तस्मात् ऋग्यजुःसामानि अपक्रान्ततेजांसि आसन्) उससे [चौथे वेद के छुट जाने से] ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद बिना तेज वाले हो गये। (तत्र महर्षयः परिदेवयाश्चक्रिरे) उस पर महर्षि लोग विलाप करने लगे—(महत् शोकभयं प्राप्ताः स्मः) हमको बड़ा शोक और भय प्राप्त हुआ है। (न च एतत्, सर्वैः समभिहितम्) और यही नहीं [किन्तु] सबने मिलकर कहा—(ते वयम् भगवन्तम् एव उपधावाम) सो हम ऐश्वर्यवान् [ओम्] के ही पास दौड़ कर चलें। [वे गये और ओम् ने कहा]—(सर्वेषाम् एव शर्म भवानि इति) सब लोगों का ही शरण [रक्षा साधन] मैं हो जाऊँ। (तथा इति ते उक्त्वा तूष्णीम् अतिष्ठन्) वैसा ही हो—ऐसा कहकर वे चुपचाप बैठ गये। [फिर बोले] (न अनुपसन्नेभ्यः इति) पास न रहने वालों [नास्तिकों] के लिये [शरण] मत हो [ओम् बोला] (उपोपसीदामि इति) [तुम्हारे] अति समीप मैं बैठता हूँ। (नीचैः बभूवुः) वे [ऋषि] नीचे को हो गये। (सः उपनीय एभ्यः प्र उवाच) वह [ओम्] पास जाकर इनसे कहने लगा—(मामिकाम् एव व्याहृतिम् आदितः आदितः कृणुध्वम् इति एवं मामकाः आधीयन्ते) मेरी ही व्याहृति को प्रत्येक मन्त्र के आदि में करो, इस प्रकार मेरे लोग सब ओर से धारण किये जाते हैं।

(भृग्वङ्गिरोविद्भ्यः ऋते सोमः न पातव्यः) भृगु अङ्गिराओं [प्रकाशमान परमात्मा के चारों वेदों] के जानने वाले के बिना सोम रस न पीना चाहिये। [जो दूसरे लोग सोम रस पीवें तो] (ऋत्विजः पराभवन्ति यजमानः रजसा अपध्वस्यति श्रुतिः च अपध्वस्ता तिष्ठति इति) ऋत्विज् लोग हार जाते हैं, यजमान राग [मोह] से गिर पड़ता है और श्रुति नष्ट होकर रहती है—(एवम् एव उत्तरोत्तरात् योगात् तोकं तोकं प्रशाध्वम् इति) इस प्रकार से ही पिछले पिछले संयोग से संतान संतान को शासन करो, (एवं प्रतापः न पराभविष्यति इति) इस प्रकार प्रताप न हार पावेगा। (तथा आह तथा आह) वैसा ही उसने कहा, वैसा ही उसने कहा। [ऋषि लोग बोले] (भगवन् इति) हे भगवन्! [हम वैसा ही करेंगे] (प्रतिपेदिरे आप्याययन्) वे समीप गये और बढ़ने लगे। (ते तथा वीतशोकभयाः बभूवुः)

निन्दितकर्मणां पालकः (अपक्रान्ततेजांसि) विगतज्योतींषि (परिदेवयाश्चक्रिरे) परि+दिवु परिकूजने—चुरादित्वात् णिच्, प्रत्ययान्तत्वात् आम् प्रत्ययः। अयामन्ता० (पा० ६। ४। ५५) इति णेरयादेशः, कृञ्चानुप्रयुज्यते० (पा० ३। १। ४०) इति कृञ् धातोरनुप्रयोगः। लिटि बहुवचने 'चक्रिरे' इति रूपम्। विलापं कृतवन्तः। (न) निषेधे (अनुपसन्नेभ्यः) नञ्+उप+षद्लृ गतौ–क्तः। असमीपस्थेभ्यः। नास्तिकेभ्यः (मामिकाम्) मदीयाम् (ऋते) विना (योगात्) संयोगात् (प्रशाध्वम्) प्रशासनं कुरुत (भगवन्) हे ऐश्वर्यवन्॥

वे इस प्रकार से शोक रहित और निर्भय हो गये। (तस्मात् ब्रह्मवादिनः ओङ्कारम् आदितः कुर्वन्ति) इसलिये ब्रह्मवादी लोग ओङ्कार को आदि में करते हैं ॥ २८॥

भावार्थः—ब्रह्मवादी लोग ओङ्कार को प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में बोल कर निर्भय होकर आनन्द पाते हैं ॥ २८॥

कण्डिका २६ ॥

किं देवतमित्यृचामग्निर्देवतन्तदेव ज्योतिर्गायत्रं छन्दः पृथिवी स्थानम्। अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातममित्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते।

यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिः त्रैष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षं स्थानम्। इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते।

साम्नामादित्यो देवतं तदेव ज्योतिर्जागतं छन्दो द्यौः स्थानम्। अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदायेत। नि होता सत्सि बर्हिषीत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते।

अथर्वणां चन्द्रमा देवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांस्यापः स्थानम्। शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते। अद्भ्यः स्थावरजङ्गमो भूतग्रामः सम्भवति, तस्मात् सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्। अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिता इत्यब्रिति प्रकृतिरपामोङ्कारेण चैतस्माद् व्यासः पुरोवाच भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतोऽन्यान् वेदानधीयीत नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीत अथ सामवेदे खिलश्रुतिः ब्रह्मचर्य्येण चैतस्मादथर्वाङ्गिरसो ह यो वेद स वेद सर्वमिति ब्राह्मणम्॥ २९॥

कण्डिका २९॥ चारों वेद और देवता आदि॥

(किं देवतम् इति) क्या देवता है, [और क्या ज्योति क्या छन्द और क्या स्थान है इनका उत्तर] (ऋचाम् अग्निः देवतं तत् एव ज्योतिः गायत्रं छन्दः पृथिवी स्थानम्) ऋग्वेद के मन्त्रों में [पहिले मन्त्र का] अग्नि देवता, वही ज्योति, गायत्री छन्द, पृथिवी स्थान है। (अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्—इति एवम् आदिं कृत्वा ऋग्वेदम् अधीयते) अग्निमीडे—इत्यादि ऋग्वेद के पहिले मन्त्र को इस प्रकार आरम्भ करके ऋग्वेद पढ़ते हैं।

(यजुषां वायु देवतं तत् एव ज्योतिः त्रैष्टुभं छन्दः अन्तरिक्षम् स्थानम्) यजुर्वेद के मन्त्रों में [पहिले मन्त्र का] वायु देवता, वही ज्योति, त्रिष्टुप् छन्द और अन्तरिक्ष [मध्यलोक] स्थान है। (इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे—इति एवम् आदिं कृत्वा यजुर्वेदम् अधीयते) इषे

---

२६ - (ऋचाम्) ऋग्वेदमन्त्राणां मध्ये (गायत्रम्) स्वार्थे अण्। गायत्री। (अधीयते) अधि+इङ् अध्ययने-लट् बहुवचनम्। पठन्ति (त्रैष्टुभम्) स्वार्थे अण्। त्रिष्टप् (जागतम्) स्वार्थे अण्। जगती (आपः) व्यापकानि जलानि॥

त्वा—इत्यादि यजुर्वेद के पहिले मन्त्र को इस प्रकार आरम्भ करके यजुर्वेद पढ़ते हैं।

(साम्नाम् आदित्यः देवतं तत् एव ज्योतिः जागतं छन्दः द्यौः स्थानम्) सामवेद के मन्त्रों में [पहिले मन्त्र का] आदित्य देवता, वही ज्योति, जगती छन्द और प्रकाश लोक स्थान है। (अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि—इति एवम् आदिं कृत्वा सामवेदम् अधीयते) अग्न आयाहि० इत्यादि [साम-वेद के पहिले मन्त्र को] इस प्रकार आरम्भ करके सामवेद पढ़ते हैं [इस मन्त्र का छन्द गायत्री है, यहाँ जागत वा जगती माना है]।

(अथर्वणां चन्द्रमाः देवतं तत् एव ज्योतिः, सर्वाणि छन्दांसि, आपः स्थानम्) अथर्ववेद के मन्त्रों में [इस मन्त्र का] चन्द्रमा देवता, वही ज्योति, सब छन्द, आप् [व्यापक जल] स्थान है। (शन्नो देवीरभिष्टये इति एवम् आदिं कृत्वा अथर्ववेदम् अधीयते) शन्नो देवीः—इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र को इस प्रकार आरम्भ करके अथर्ववेद पढ़ते हैं। [यह मन्त्र अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त ६ का पहिला मन्त्र है, अथर्ववेद का पहिला मन्त्र यह है- ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे। शन्नो देवीः—इस मन्त्र का छन्द गायत्री है और यहाँ सब छन्द माने हैं।] (अद्भ्यः स्थावरजङ्गमः भूतग्रामः सम्भवति, तस्मात् सर्वम् अपोमयम्, सर्वं भूतं भृग्वङ्गिरोमयम्) आप् [जल] से स्थावर और जङ्गम प्राणियों का समूह उत्पन्न होता है, इसलिये सब जगत् आपोमय [जल से परिपूर्ण] है और सब प्राणीमात्र भृग्वङ्गिरोमय [प्रकाशमान ज्ञान वाले परमात्मा से परिपूर्ण] हैं, (एते त्रयःवेदाः भृगून् अङ्गिरसः अन्तरा श्रिताः इति, अप् इति, अपां प्रकृतिः ओङ्कारेण च) और यह तीनों वेद [अर्थात् कर्म उपासना ज्ञान] प्रकाशमान ज्ञान वाले [चारों वेदों] के भीतर आश्रित हैं, [अन्तर्गत हैं—देखो कण्डिका ३९], यही अप्, व्यापक जल रूप परमात्मा है और ओङ्कार द्वारा जलों की प्रकृति [रचना] है [कौन प्रकृति है—कण्डिका २४ के प्रश्न का यह उत्तर है]। (एतस्मात् व्यासः पुरा उवाच) इसलिये व्यास [वेदों के अर्थ प्रकाश करने वाले मुनि] ने पहिले कहा था—

(अद्भ्यः) जलेभ्यः (भूतग्रामः) प्राणिसमूहः (सम्भवति) उत्पद्यते (आपोमयम्) जलपरिपूर्णम्। (भूतम्) प्राणिसमूहः (भृग्वङ्गिरोमयम्) प्रकाशमानज्ञानस्वरूपपरमात्मना परिपूर्णम् (अन्तरा) विना (त्रयः वेदाः) कर्मोपासनाज्ञानरूपाः (भृगून्) प्रकाशमानान् (अङ्गिरसः) ज्ञानयुक्तांश्चतुर्वेदान् (अप्) व्यापकजलरूपपरमात्मा (प्रकृतिः) रचना (अपाम्) जलानाम् (व्यासः) वि+असु क्षेपणे - घञ्। विशेषेण वेदार्थप्रकाशको विद्वान् (पुरा) अग्रे (भृग्वङ्गिरोविदा) प्रकाशमानज्ञानयुक्तचतुर्वेदज्ञेन (संस्कृतः) उपनयनादिसंस्कारं प्राप्तः (अन्यान् वेदान्) वेदभिन्नशास्त्राणि (अधीयीत) पठेत। (अन्यत्र) वेदभिन्नशास्त्रेषु (भृग्वङ्गिरसः) प्रकाशमानज्ञानयुक्तचतुर्वेदान् (खिलश्रुतिः) खिल कणश आदाने—कः। सारभूतमन्त्रः (वेदः) विद ज्ञाने—कर्तरि घञ्। वेत्ता॥

(भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतः अन्यान् वेदान् अधीयीत) प्रकाशमान ज्ञानवाला [चारों वेदों के जानने वाले] से संस्कार किया हुआ [पढ़ाया हुआ पुरुष] दूसरे वेदों [शास्त्रों] को पढ़े, (अन्यत्र संस्कृतः भृग्वङ्गिरसः न अधीयीत) दूसरे [शास्त्रों] में संस्कार किया हुआ पुरुष प्रकाशमान ज्ञानवाले [चारों वेदों] को न पढ़े। (अथ सामवेदे खिलश्रुतिः) और सामवेद में भी खिलश्रुति [सारभूत मन्त्र] है—(ब्रह्मचर्येण च एतस्मात् अथर्वाङ्गिरसः ह यः वेद सः वेद सर्वम् इति ब्राह्मणम्) और इसलिये ब्रह्मचर्य्य के साथ निश्चल ब्रह्म के ज्ञानों [चारों वेदों] को निश्चय करके जो जानने वाला है वह सब जानता है, यह ब्राह्मण [ब्रह्म ज्ञान] है॥ २६॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्य के साथ वेदों में देवता, ज्योति, और स्थान का विचार करके मनुष्य सब विद्याओं में निपुण होवे॥ २६॥

विशेषः—यहाँ प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१—अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ० १।१।१॥ (पुरोहितम्) सबके अगुआ, (यज्ञस्य, श्रेष्ठ कर्म के (देवम्) प्रकाशक, (ऋत्विजम्) सब ऋतुओं में पूजनीय (होतारम्) दान करने हारे और (रत्नधातमम्) अत्यन्त रत्नों के धारण करने वाले (अग्निम्) अग्नि [ज्ञानमय परमेश्वर] की (ईडे) मैं बड़ाई करता हूँ॥

२—इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ यजु० १।१॥ [हे प्रजागण!] मैं (त्वा) तुझमें (इषे) व्यापक हूँ, मैं (त्वा) तुझको (ऊर्जे[1]) बलवान् बनाता हूँ। [हे प्रजाओ!] (वायवः) तुम सब वायु [वेगवान्] (स्थ) हो, (देवः) प्रकाशमय, (सविता) सबका चलाने वाला परमेश्वर (वः) तुमको (श्रेष्ठतमाय) अत्यन्त श्रेष्ठ (कर्मणे) कर्म के लिये (प्र+अर्पयतु) आगे बढ़ावे। (अघ्न्याः) हे अवध्य वा अहिंसक प्रजाओ! (इन्द्राय, परम ऐश्वर्य के लिये (भागम्) अपने भाग को (आ) भली भांति (प्यायध्वम्) तुम बढ़ाओ, (प्रजावतीः) हे उत्तम सन्तान वाली, (अनमीवाः) मानसिक पीड़ा से रहित और (अयक्ष्माः) क्षय आदि शारीरिक रोग से रहित प्रजाओ! (स्तेनः) चोर डाकू (व) तुम पर (मा ईशत) राज्य न कर सकें, और (मा अघशंसः) न कोई पाप चिन्तक [राज्य कर सके]। और तुम (ध्रुवाः) निश्चल चित्त और (बह्वी) बहुत सी होकर (अस्मिन्) इस (गोपतौ) स्वर्ग वा पृथ्वी वा गौ आदि के रक्षक परमेश्वर में (स्यात) वर्तमान रहो। [हे प्रजागण!] (यजमानस्य) यज्ञकर्ता धर्मात्मा पुरुष के (पशून्) दोपाये और चौपाये जीवों की (पाहि) तू रक्षा कर॥

---

१. यहाँ 'इषे' 'ऊर्जे' पद चतुर्थ्यन्त हैं। तिङन्तानुसारी अर्थ चिन्त्य है। सम्पा०॥

२ ३ १ २ ३१२ ३ २ ३ १ २ १ २र ३ १ २
३——अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ साम० पू० १ । १ । (अग्ने) हे अग्नि ! [ज्ञानस्वरूप परमेश्वर] (वीतये) ज्ञान के लिए और (हव्यदातये) भोजन की शुद्धि वा दान के लिये (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (आ याहि) आ । (होता) तू दानी होकर (बर्हिषि) यज्ञ में (नि सत्सि) सदा बैठता है ॥

४—शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ अथ० १ । ६ । १, यजु० ३६ । १२ ॥ (देवीः) दिव्य गुण से युक्त (आपः) जल-धारायें वा सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमारे (अभिष्टये) पूर्ण यज्ञ वा अभिलाषा के लिये (पीतये) पान रक्षा वा वृद्धि के लिए (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवे और (नः अभि) हमारे ऊपर (शंयोः) सुख की (स्रवन्तु) वर्षा करे ॥

कण्डिका ३०

अध्यात्ममात्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोंकारः, आत्मानं निरुद्ध्य सङ्गममात्रीं भूतार्थचिन्तां चिन्तयेदतिक्रम्य वेदेभ्य सर्वपरमध्यात्मफल प्राप्नोतीत्यर्थः, सवितर्कं ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थं पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात्, सर्वस्मिन्वाकोवाक्य इति ब्राह्मणम् ॥ ३० ॥

कण्डिका ३० ओङ्कार का चिन्तन और उसका फल ॥

(अध्यात्मम्, आत्मभैषज्यम्, आत्मकैवल्यम् ओङ्कारः) [आत्मज्ञान का अधिकरण क्या है—कण्डिका २४, उत्तर] आत्मज्ञान का अधिकरण, आत्मा का औषध और आत्मा का मोक्ष सुख ओङ्कार है । (सङ्गममात्रीं भूतार्थचिन्तां निरुध्य आत्मानम् चिन्तयेत्) संगति का लेश रखने वाली प्राणियों की चिन्ता को रोक कर आत्मा [परमात्मा] को विचारे । (अतिक्रम्य वेदेभ्यः सर्वपरम् अध्यात्मफलं प्राप्नोति इति अर्थः, सवितर्कं ज्ञानमयम् इति) [चिन्ता को] उल्लंघन करके वेदों के द्वारा अर्थात् सबसे श्रेष्ठ आत्मज्ञान के फल को पाता है, यह अर्थ है, अर्थात् वितर्कों [विचारों] के सहित ज्ञान से परिपूर्ण [परमात्मा को पाता है] । (एतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैः च यथार्थं पदम् अनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञः हि प्रबलः विषयी स्यात्) इन प्रश्नों और उत्तरों से [कण्डिका २४-२९] यथार्थ पद [सुबन्त और तिङन्त शब्द] को निरन्तर विचार कर प्रबल प्रकरण जानने वाला, और विषय समझने वाला मनुष्य होवे । (सर्वस्मिन्

३०—(अध्यात्मम्) आत्मज्ञानाधिकरणम् । (आत्मभैषज्यम्) आत्मौषधम् (आत्मकैवल्यम्) आत्ममोक्षसुखम् (आत्मानम्) परमात्मानम् (निरुध्य) प्रतिरुध्य (सङ्गममात्रीम्) सङ्गतिशीलाम् (भूतार्थचिन्ताम्) प्राणिविषयकस्मृतिम् (अतिक्रम्य) तां चिन्तामुल्लंघ्य (सर्वपरम्) सर्वोत्कृष्टम् (अध्यात्मफलम्)

वाकोवाक्यम् इति ब्राह्मणम्) सभी [उपर्युक्त] प्रश्नोत्तरात्मक स्थलों में यही ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ।। ३० ।।

भावार्थः—मनुष्य को चाहिये कि ओम् को सर्वाधार जानकर उसका चिन्तन करता हुआ आत्म-सामर्थ्य बढ़ावे और विषय को भली भांति समझ कर ठीक ठीक अर्थ का ग्रहण करे ।। ३० ।।

कण्डिका ३१ ।।

एतद्ध स्मैतद् विद्वांसमेकादशाक्षम्मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम । स तस्मिन् ब्रह्मचर्य्यं वसतो[1] विज्ञायोवाच किं स्विन्मर्य्यादा[2] अयं तं मौद्गल्यो अध्येति यदस्मिन् ब्रह्मचर्य्ये वसतीति तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव स आचार्य्यायाव्रज्याचचष्टे, दुरधीयानं वा अयं भवन्तमवोचद्योऽयमद्यातिथिर्भवति । किं सौम्य विद्वानिति । त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३ इति तस्य सौम्य यो विस्पष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी तन्मे ह्वयेति, तमाजुहाव, तमभ्युवाचासाविति भो३ इति किं सौम्य त आचार्य्योऽध्येतीति, त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३ इति, यन्नु खलु सौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः कथन्त एवमाचार्य्यो भाषते कथं नु शिष्टाः शिष्टेभ्य एवं भाषेरन् यं ह्येनमहं प्रश्नं पृच्छामि न तं विवक्ष्यति न ह्येनमध्येतीति । स ह मौद्गल्यः स्वमन्तेवासिनमुवाच, परेहि सौम्य ग्लावं मैत्रेयमुपसीदाधीहि भोः सावित्रीं गायत्रीश्चतुर्विंशतियोनिं द्वादशमिथुनां यस्या भृग्वङ्गिरसश्चक्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितं, तां भवान् प्रब्रवीत्विति स चेत्सौम्य दुरधीयानो भविष्यत्याचार्योवाच ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणो सावित्रीं प्राहेति वक्ष्यति, तत्त्वं ब्रूयात् दुरधीयानन्तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचद् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा संवत्सरादार्तिमार्क्ष्यसीति ।। ३१ ।।

कण्डिका ३१ ।। मौद्गल्य और मैत्रेय की कथा ।।

(एतद् ह स्म एतत्) यह बहुत प्रसिद्ध है— (विद्वांसम् एकादशाक्षम् मौद्गल्यम् ग्लावः मैत्रेयः अभ्याजगाम) विद्वान् [दो कान, दो आंख, दो नथने, एक मुख, एक ब्रह्मरन्ध्र एक नाभि, एक उपस्थ एक पायु] ग्यारह इन्द्रियों से युक्त शरीर वाले [सर्वथा स्वस्थ] मौद्गल्य [मुद्गल ऋषि के सन्तान] के पास ग्लाव [चन्द्र-

---

आत्मज्ञानफलम् (पदम्) सुप्तिङन्तं पदम् (पा० १। ४। १४) (विषयी) इन्द्रियगोचरज्ञानयुक्तः । (वाकोवाक्यम्) क० २१ द्र० ।

३१—(एकादशाक्षम्) अक्षू व्याप्तौ—अच् । नासिकाश्रोत्रनेत्राणां द्वयं द्वयं मुखमेकं ब्रह्मरन्ध्रमेकं नाभ्या सहाधःस्थानि त्रीणि, इत्थमेकादश अक्षाणि इन्द्रियाणि यस्मिन् तच्छरीरम्, ततः अर्शआद्यच् । एकादशेन्द्रिययुक्तशरीरवन्तं

---

१. पू० सं० "वसतीति" इति पाठः । सम्पा० ।।

२. अत्र जर्मनसंस्करणे 'मर्या' इति पाठः । सोऽपि युक्तः । तथा च "मर्या इति मनुष्यनाम मर्यादाभिधानं वा स्यात् । मर्यादा मर्यैरादीयते" इति निरुक्तम् ४ । २ ।। सम्पा० ।।

वंशीय] मैत्रेय [मित्रयु का शिष्य] आया। (सः तस्मिन् ब्रह्मचर्यं वसतः विज्ञाय उवाच) वह [मौद्गल्य में] उस [स्थान] पर ब्रह्मचर्य्य [वेदाभ्यास और इन्द्रियनिग्रह] से रहते हुवे का ज्ञान कर [मैत्रेय] बोला—(किं स्वित् मर्यादाः अयं मौद्गल्यः तम् अध्येति यत् अस्मिन् ब्रह्मचर्य्ये वसति इति) यह क्या मर्यादायें [प्रशस्त जीवन पद्धतियाँ] हैं [जिनको सीखने के लिये] यह मौद्गल्य उस [वेद] को पढ़ता है जिसके लिये इस ब्रह्मचर्य्य में मनुष्य रहता है [अर्थात् वेदाभ्यास के लिए इतना ब्रह्मचर्य करना ठीक नहीं है]। (तत् हि मौद्गल्यस्य अन्तेवासी शुश्राव) यह बात मौद्गल्य के शिष्य ने सुनी। (सः आचार्य्याय आव्रज्य आचचष्टे) वह आचार्य्य से आकर बोला—(अयं भवन्तं वै दुरधीयानम् अवोचत् यः अयम् अद्य अतिथिः भवति) इसने आपको निश्चय करके कुपढ़ बताया है जो यह आज अतिथि है। [मौद्गल्य ने कहा] (किं सौम्य विद्वान् इति) हे सौम्य! [प्रियदर्शन] क्या वह विद्वान है? [शिष्य बोला] (त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३ इति) महाराज! वह तीनों वेद बोलता है। [मौद्गल्य ने कहा] (सौम्य विजिगीषो तस्य यः विस्पष्टः अन्तेवासी तम् मे ह्वय इति) हे प्रियदर्शन, जीतने की इच्छा करने वाले! उसका जो विशेष करके स्पष्ट शिष्य है, उसे मेरे पास बुला। (तम् आजुहाव) वह [शिष्य] उसे बुला लाया, (तम् अभ्युवाच) और उस [मौद्गल्य] से बोला—(असौ इति भो३ इति) महाराज! वह यह है। [मौद्गल्य ने कहा] (सौम्य ते आचार्यः किम् अध्येति इति) हे प्रियदर्शन! तेरा आचार्य क्या पढ़ता है। [वह बोला] (त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३ इति) महाराज! वह तीनों वेदों को बोलता है। [मौद्गल्य ने कहा] (सौम्य यत् नु खलु अस्माभिः सर्वे वेदाः मुखतः गृहीताः कथं ते आचार्यः एवं भाषते) हे सौम्य! क्योंकि हमने सब वेद मुख से ग्रहण किये हैं, तेरा आचार्य कैसे ऐसा कहता है। (कथं नु शिष्टाः शिष्टेभ्यः एवं भाषेरन्) कैसे शिष्ट लोग शिष्टों से ऐसा बोलें। (यं हि एनं प्रश्नम् अहं पृच्छामि न तं विवक्ष्यति न हि एनम् अध्येति इति) जिस इस प्रश्न को मैं पूछता हूँ [जो] उसको वह न बतायेगा, वह इस [वेद] को नहीं पढ़ता है। (सः ह मौद्गल्यः स्वम् अन्तेवासिनम् उवाच) फिर वह मौद्गल्य अपने शिष्य से बोला—(सौम्य परेहि ग्लावं मैत्रेयम् उपसीद) हे प्रियदर्शन!

सर्वथास्वस्यम् (मौद्गल्यम्) मुदिग्रोर्गग्गौ (उ० १। १२८) मुद हर्षे - गक्। मुद्गं हर्षं लाति गृह्णातीति। मुद्ग + ला आदाने—कः। मुद्गलो मुनिः। ततः ष्यञ्। मुद्गलस्य सन्तानम् (ग्लावः) ग्लानुदिभ्यां डौः (उ० २। ६४) ग्लै हर्षक्षये डौः। ग्लौश्चन्द्रः। ग्लौ—अण्। चन्द्रवंशीयः (मैत्रेयः) मृगय्वादयश्च (उ० १। ३७) मित्र + या प्रापणे कुः। मित्रयुर्लोकव्यवहारवित्। मित्रयोः अपत्यमिति। गृष्ट्यादिभ्यश्च (पा० ४। १। १३६) मित्रयु-ढञ्। दाण्डिनायनहास्तिनायन० (पा० ६। ४। १७४) युशब्दलोपः। मैत्र—एय। यस्येति च (पा० ६। ४। १४८) मैत्र इत्यस्य अकारलोपः। मित्रयोरपत्यं पुमान् (अन्तेवासी) अन्ते + वस निवासे—णिनिः। शयवासवासिष्वकालात् (पा० ६। ३। १८) सप्तम्या

जा और चन्द्रवंशीय मैत्रेय से मिल, [और कह] (भोः चतुर्विंशतियोनिं द्वादशमिथुनां सावित्रीं गायत्रीम् अधीहि) महाराज ! चौबीस योनि [उत्पत्ति स्थान] वाली, बारह जोड़ा वाली [देखो कण्डिका], सविता देवता वाली गायत्री को पढ़ (यस्याः भृग्वङ्गिरसः चक्षुः यस्यां सर्वम् इदं श्रितम्, ताम् भवान् प्रब्रवीतु इति) जिसके भृगु—आङ्गिरस [प्रकाशमान सब वेद] नेत्र हैं, और जिसमें यह सब ठहरा हुआ है, आप उस गायत्री को समझावें । (आचार्य्यः उवाच) फिर आचार्य [मौद्गल्य] ने कहा—(सौम्य सः चेत् दुरधीयानः भविष्यति, [भवान्] वक्ष्यति, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणे सावित्रीं प्राह) हे सौम्य ! जो वह कुपढ़ होवे, [आप] कहें, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी को सावित्री [सविता देवता वाली] गायत्री बताता है । (तत्त्वं [भवान्] ब्रूयात्) [तब आप] ठीक ठीक कह दें—(भवान् वै तं मौद्गल्यं दुरधीयानम् अवोचत्) आपने ही उस मौद्गल्य को कुपढ़ कहा है. (सः त्वा यं प्रश्नम् अप्राक्षीत् तं पुरा न व्यवोचः, संवत्सरात् आर्तिम् आक्रष्यसि इति) उसने तुझसे जो प्रश्न पूछा था, वह तूने हमारे सामने नहीं बताया है, एक वर्ष तुझे पीड़ा खींचनी होगी ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्य परिश्रम से प्रश्नोत्तर के साथ वेदों का विचार कर तत्त्व का ग्रहण करें ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२ ॥

स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव, तं ह पप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे, तं होवाच दुरधीयानं तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचत्, स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः

अलुक् । अन्ते विद्यामध्येतुमध्यापकसमीपे वसतीति । शिष्यः । (आचार्य्याय) आङ्+चर गतौ—ण्यत् । वेदाध्यापकाय । "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते"—मनु० २ । १४० (अतिथिः) ऋतन्यञ्जि० (उ० ४ । २) अत सातत्यगमने- इथिन् । न विद्यते नियता तिथिरस्येति वा । सदा भ्रमणशीलः अभ्यागतः (सौम्य) सोमो देवता अस्य । सोमाट् ट्यण् (पा० ४ । २ । ३०) सोम—ट्यण् । सोमवत् स्वभावयुक्तः । प्रियदर्शन, मनोज्ञ (विजिगीषो) हे जेतुमिच्छुक (शिष्टाः) शासु अनुशिष्टौ—क्तः । सुबोधाः । धीराः (विवक्ष्यति) विविधं कथयिष्यति (परेहि) समीपे गच्छ (उपसीद) प्राप्नुहि (अधीहि) अधीष्व । पठ । (सावित्रीम्) सवितृ—अण् । सवितृदेवतावतीम् (गायत्रीम्) अमिनक्षियजि० (उ० ३ । १०५) गै गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक्, स्त्रियां ङीष् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणस्त्रिगमना वा विपरीता । गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्—निरु० ७ । १२ । यद्वा, गायन्तं त्रायते । गै गाने—शतृ+त्रैङ् पालने—कः । स्तुत्यं वेदमन्त्रविशेषम् । गायतां रक्षिकामृचम् (योनिम्) उत्पत्तिस्थानम् । (तत्त्वम्) यथार्थम् (पुरा) अग्रे (आर्तिम्) आङ्+ऋ गतौ हिंसने च—क्तिन् । पीडाम् (आक्रष्यसि) आकर्षणे करिष्यसि ॥

पुरा संवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति । स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासिन उवाच यथार्थं भवन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्तां दुरधीयानं वा अहं मौद्‌गल्यमवोचं स मा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचं, तमुपैष्यामि शान्ति करिष्यामीति । स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिर्मौद्‌गल्यमुपससादासावाग्रहं भो मैत्रेयः किमर्थमिति दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा यम्प्रश्नमप्राक्षीर्न्न तं व्यवोचं त्वामुपैष्यामि शान्ति करिष्यामीति, स होवाचात्र वा उपेतश्च सर्वश्च कृतं पापकेन त्वा यानेन चरन्तमाहूरथोऽयं मम कल्याणस्तं ते ददामि तेन याहीति । स होवाचैतदेवात्रात्विषश्चानृशंस्यश्च यथा भवानाहोपायामित्येवं भवन्तमिति तं होपेयाय तं होपेत्य पप्रच्छ किंस्विदाहुर्भोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुर्धियो विचक्ष्व यदि ताः प्रविश्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ।

तस्मा एतत् प्रोवाच वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति ।

तमुपसङ्गृह्य पप्रच्छाधीहि भोः कः सविता का सावित्री ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३२ ॥ मौद्गल्य और मैत्रेय का गायत्री मन्त्र पर वार्तालाप ॥

(सः तत्र आजगाम यत्र इतरः बभूव) वह वहां आया जहां दूसरा [मैत्रेय] था। (तं ह पप्रच्छ सः ह न प्रतिपेदे) उससे उसने पूंछा और वह [मैत्रेय] न बता सका। (तं ह उवाच) उस [मैत्रेय] से वह बोला –(भवान् तं मौद्‌गल्यं दुरधीयानम् अवोचत्) आपने उस मौद्‌गल्य को कुपढ़ बताया है, (सः त्वा यं प्रश्नम् अप्राक्षीत् तं पुरा न व्यवोचः संवत्सरात् आर्तिम् आकृष्यसि इति) उसने तुझसे जो प्रश्न पूंछा था वह तूने हमारे सामने नहीं बताया है, एक वर्ष तक तुझे पीड़ा खींचनी होगी। (सः ह मैत्रेयः स्वान् अन्तेवासिनः यथार्थम् उवाच) वह मैत्रेय अपने शिष्यों से ठीक ठीक बोला—(भवन्तः यथागृहं यथामनः विप्रसृज्यन्ताम्) आप लोग अपने अपने घर को जैसा मन हो चले जावें, (अहं वै मौद्‌गल्यं दुरधीयानम् अवोचम्) मैंने मौद्‌गल्य को कुपढ़ बताया है, (सः मा यं प्रश्नम् अप्राक्षीत् तं न व्यवोचम्) उसने मुझसे जो प्रश्न पूंछा था वह मैंने न बताया, (तम् उपैष्यामि शान्ति करिष्यामि इति) मैं उसके पास जाऊँगा और उसको शान्ति [सन्तुष्टता] करूंगा। (सः ह

३२—(प्रतिपेदे) प्रतिपादितवान्। बोधितवान् (यथागृहम्) गृहमनतिक्रम्य (यथामनः) यथेच्छम् (विप्रसृज्यन्ताम्) विविधं प्रकर्षेण गच्छन्ताम् (शान्तिम्) सन्तोषम्। प्रसन्नताम् (समित्पाणिः) होमार्थं हस्तयोः समिधायुक्तः (आग्रहम्) आग्रह-अर्शआद्यच्। अनुग्रहवन्तम् (कृतम्) करोते.--भूतकाले क्तः। कृतवन्तः (पापकेन) पापयुक्तेन। दुःखकरेण (आहुः) मनुष्याः कथयन्ति (कल्याणः) मङ्गलकरः (अत्विषम्) नञ् + त्विष दीप्तौ--कः। त्वेषप्रतीका

समित्पाणिः मैत्रेयः प्रातः आग्रहं मौद्गल्यम् उपससाद) वह [यज्ञ के लिये] समिधा हाथ में लिये हुये प्रातःकाल अनुग्रहशील मौद्गल्य के पास पहुँचा [और बोला] (भो असौ मैत्रेयः) महाराज ! वह मैं मैत्रेय हूँ [मौद्गल्य ने कहा—(किम् अर्थम् इति) किसलिये ? [मैत्रेय बोला]—(अहं वै भवन्तं दुरधीयानम् अवोचम्) मैंने आपको कुपढ़ बताया है, (त्वं मा यं प्रश्नम् अप्राक्षीः तं न व्यवोचम्) तूने मुझसे जो प्रश्न पूछा था, वह मैंने नहीं बताया, (त्वाम् उपैष्यामि शान्तिं करिष्यामि इति) तेरे पास आऊँगा और तेरी शान्ति करूँगा । (सः ह उवाच) वह [मौद्गल्य बोला]— (अत्र वै उपेतं च सर्वं च कृतं त्वा पापकेन यानेन चरन्तम् आहुः) यहां पर आये हुये सब काम कर चुके हुये तुझको पापी रथ से चलता हुआ बताते हैं, (अयम् मम रथः कल्याणः तं ते ददामि तेन याहि इति) यह मेरा [शिक्षारूपी] रथ कल्याणकारी है, वह मैं तुझे देता हूँ उससे चल । (सः ह उवाच) वह [मैत्रेय] बोला— (एतत् एव अत्र अत्विषं च अनृशंस्यं च) यही [आप का] कर्म यहां अभय और अक्रूर [अति दयालु] है । (यथा भवान् आह, एवं भवन्तम् उप—आयाम् इति) जैसा आप कहते हैं वैसे ही आप के पास मैं आया हूँ । (तं ह उप—इयाय) वह उस [मौद्गल्य] के पास आया, (तां ह उपेत्य पप्रच्छ) और पास आकर उससे पूछा—(भोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य, कवयः किंस्वित् आहुः) हे महाराज ! सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य—इसका अर्थ कवि लोग क्या कहते हैं. (धियः किम् आहुः) और धियः, इस पद को वे क्या कहते हैं, (विचक्ष्व) सो बता (यदि सविता प्रविश्य ताः प्रचोदयात् याभिः एति इति) यदि सविता प्रवेश करके उन्हें [कर्मों वा बुद्धियों को] आगे बढ़ाता है, जिनसे वह चलता है ।

(तस्मै एतत् प्र उवाच) उस [उस मैत्रेय] से वह यह बात बोला—(वेदाः छन्दांसि) वेद छन्द [आनन्द देने वाले कर्म] हैं, (कवयः देवस्य सवितुः वरेण्यं भर्गः अन्नम् आहुः) कवि लोग प्रकाशवान् सविता [सबके चलाने वाले] के अति श्रेष्ठ भर्गः [तेज] को अन्न कहते हैं । (कर्माणि धियः तत् उ ते ब्रवीमि) धियः

भयप्रतीका—निरु० १० । २१ अभयं कर्म (अनृशंस्यम्) नॄन् शंस्यति नृशंसम् । नञ्+शंसु हिंसायाम्—अण्, स्वार्थे यत् । अक्रूरम् । अतिदयालु कर्म (उपायाम्) उप+आङ्+या प्रापणे-लङ् । समीपे आगच्छम् । (उपेयाय) उप + इण् गतौ-लिट् । आजगाम (सवितुः) षू प्रसवे प्रेरणे च—तृन् । सविता सर्वस्य प्रसविता—निरु० १० । ३१ सर्वप्रेरकस्य (वरेण्यम्) वृञ एण्यः (उ० ३ । ९८) वृञ् वरणे— एण्यः । स्वीकरणीयम् । अतिश्रेष्ठम् (भर्गः) अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च (उ० ४ । २१६) भृजी भर्जने = पाके—असुन्, कुत्वञ्च । तेजः (कवयः) विद्वांसः (विचक्ष्व) विविधं कथय (प्रचोदयात्) प्रेरयेत् (उपसंगृह्य) आदरेण प्राप्य । (अधीहि) अन्तर्गतण्यर्थः । अध्यापय (सविता) प्रेरकः (सावित्री) सवितृ-अण् । सवितृदेवताका । सवितुः प्रेरकस्योपासिका ॥

कर्म हैं, यह भी तुझे बताता हूँ, (सविता प्रचोदयात्, याभि: एति इति) [जिनको] सविता [सबका चलाने वाला] आगे बढ़ाता है और जिनसे चलता है ।

(तम् उपसंगृह्य पप्रच्छ) उसके पास आदर से जाकर उस [मैत्रेय] ने पूछा—(भो: अधीहि क: सविता का सावित्री) महाराज ! पढ़ाओ कौन सविता है कौन सावित्री है ॥ ३२ ॥

भावार्थ:—मनुष्यों को प्रश्नोत्तर करके गायत्री आदि वेद मन्त्रों के अर्थ समझने चाहियें ॥ ३२ ॥

विशेष:—त्रिपदा सावित्री वा गायत्री मन्त्र—तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो न: प्रचोदयात् ॥ ऋ० ३ । ६२ । १०, यजु० ३ । ३५; २२ । ६; ३० । २; ३६ । ३; साम० उ० ६ । ३ । १० । (तत्) उस (देवस्य) प्रकाशमय (सवितु:) सबके चलाने हारे जगदीश्वर के (वरेण्यम्) अति उत्तम (भर्ग:) ज्योति को (धीमहि) हम धारण करें, (य:) जो परमेश्वर (न:) हमारी (धिय:) बुद्धियों वा कर्मों को (प्रचोदयात्) आगे बढ़ावे ॥

कण्डिका ३३ ॥

मन एव सविता, वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मन:, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्, १ अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री, यत्र ह्येवाग्निस्तत् पृथिवी यत्र वै पृथिवी तदग्निरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनं, २ वायुरेव सविताऽन्तरिक्षं सावित्री यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षं, यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ३, आदित्य एव सविता द्यौ: सावित्री यत्र ह्येवादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वै द्यौस्तदादित्य इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ४, चन्द्रमा एव सविता, नक्षत्राणि सावित्री, यत्र ह्येव चन्द्रमास्तन्नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ५, अहरेव सविता, रात्रि: सावित्री, यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिर्यत्र वै रात्रिस्तदहरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् ६, उष्णमेव सविता, शीतं सावित्री यत्र ह्येवोष्णं, तच्छीतं, यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्, अब्भ्रमेव सविता, वर्षं सावित्री, यत्र ह्येवाब्भ्रन्तद्वर्षं यत्र वै वर्षं तदब्भ्रमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ८, विद्युदेव सविता स्तनयित्नु: सावित्री यत्र ह्येव विद्युत् तत् स्तनयित्नु: यत्र वै स्तनयित्नुस्तद्विद्युदित्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ९, प्राण एव सविता अन्नं सावित्री, यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत् प्राण इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनं १०, वेदा एव सविता छन्दांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वैछन्दांसि तद् वेदा इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनं ११, यज्ञ एव सविता, दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तत् दक्षिणा यत्र

३३—(योनी) वहिश्रिश्रुयुद्रु० (उ० ४ । ५१) यु मिश्रणामिश्रणयो:—नि: । योनिरुदकनाम—निघ० १ । १२ गृहनाम—निघ० ३ । ४ उत्पत्ति:

वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम् १२, एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमोपाकारिमासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इत्यथैत आसस्तुराचित इव चितो बभूवाथोत्थाय प्राव्राजीदित्येतद्वाऽहं वेद नैतासु योनिष्वित एतेभ्यो वा मिथुनेभ्यः सम्भूतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३३ ॥ सावित्री वा गायत्री मन्त्र के चौबीस उत्पत्ति स्थान और बारह जोड़ा ॥

(मनः एव सविता वाक् सावित्री) [मौद्गल्य ने कहा]—मन ही सविता [चलाने वाला] और वाणी सावित्री [चलाने वाले की उपासिका वा सेविका है, (यत्र हि एव मनः तत् वाक्, यत्र वै वाक् तत् मनः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहाँ पर ही मन है, वहां वाणी है जहां पर ही वाणी है वहां मन है, यह दो योनि [उत्पत्ति स्थान] और एक जोड़ा है। १। (अग्निः एव सविता पृथिवी सावित्री) अग्नि ही सविता [चलाने वाला] और पृथिवी सावित्री [चलाने वाले की उपासिका] है, (यत्र हि एव अग्निः तत् पृथिवी यत्र वै पृथिवी तत् अग्निः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही अग्नि है वहां पृथिवी है, जहां पर ही पृथिवी है वहां अग्नि है. यह दो उत्पत्तिस्थान और एक जोड़ा है। २। (वायुः एव सविता अन्तरिक्षम् सावित्री) वायु ही सविता और अन्तरिक्ष सावित्री है, (यत्र हि एव वायुः तत् अन्तरिक्षम् यत्र वै अन्तरिक्षं तत् वायुः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही वायु है वहां अन्तरिक्ष है, और जहां पर ही अन्तरिक्ष है वहां वायु है, यह दो उत्पत्ति-स्थान और एक जोड़ा है। ३। (आदित्यः एव सविता द्यौः सावित्री) सूर्य ही चलाने वाला और प्रकाश चलाने वाले की सेवा करने वाली है, (यत्र हि एव आदित्यः तत् द्यौः यत्र वै द्यौः तत् आदित्यः इति द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही सूर्य है वहां प्रकाश है, जहां पर ही प्रकाश है वहां सूर्य है, यह दो उत्पत्तिस्थान और एक जोड़ा है। ४। (चन्द्रमाः एव सविता नक्षत्राणि सावित्री) चन्द्रमा ही चलाने वाला और नक्षत्र चलाने वालों की सेवा करने वाली है, (यत्र हि एव चन्द्रमाः तत् नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तत् चन्द्रमाः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही चन्द्रमा है, वहां नक्षत्र [तारागण] हैं, जहां पर ही नक्षत्र हैं वहां चन्द्रमा है यह दो उत्पत्ति

स्थानम् (मिथुनम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् (उ० ३। ५५) मिथ वधे मेधायां च—उनन् कित्। द्वयोः संयोगः। (अब्भ्रम्) अपो बिभर्ति, अप् + भृञ् भरणे—कः। मेघः (विद्युत्) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जि० (पा० ३। २। १७७) वि + द्युत दीप्तौ—क्विप्। तडित्। अशनिः (स्तनयित्नुः) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् (उ० ३। २९) स्तन देव शब्दे—इत्नुच्। मेघशब्दः। (प्राणः) प्र + अन जीवने—घञ्। नासाग्रस्थानवर्ती वायुः, तस्य कर्म बहिर्गमनम् (अन्नम्) कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३। १०) अन जीवने-नः प्रत्ययः। यद्वा

स्थान और एक जोड़ा है। ५। (अहः एव सविता, रात्रिः सावित्री,) दिन ही सविता है और रात्रि सावित्री है. (यत्र हि एव अहः तत् रात्रिः यत्र वै रात्रिः तत् अहः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही दिन है वहां रात्रि है, जहां पर ही रात्रि है वहां दिन है, यह दो उत्पत्ति स्थान और एक जोड़ा है। ६। (उष्णम् एव सविता, शीतं सावित्री) ताप ही चलाने वाला और ठण्ढ चलाने वाले की सेवा करने वाली है, (यत्र हि एव उष्णं तत् शीतम् यत्र वै शीतं तत् उष्णम् इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही ताप है वहां ठण्ढ है, जहां पर ही ठण्ढ है वहां ताप है, यह दो उत्पत्ति स्थान और एक जोड़ा है। ७। (अभ्रम् एव सविता वर्षम् सावित्री) मेघ ही सविता और वर्षा सावित्री है, (यत्र हि एव अभ्रम् तत् वर्षम् यत्र वै वर्षं तत् अभ्रम्, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही मेघ है वहां वर्षा है, जहां पर ही वर्षा है वहां मेघ है यह दो उत्पत्ति स्थान और एक जोड़ा है। ८। (विद्युत् एव सविता स्तनयित्नुः सावित्री) बिजुली ही चलाने वाला और गर्जन चलाने वाले की सेवा करने वाली है, (यत्र हि एव विद्युत् तत् स्तनयित्नुः यत्र वै स्तनयित्नुः तत् विद्युत् इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही बिजुली है वहां गर्जन है. जहां पर ही गर्जन है वहां बिजुली है, यह दो उत्पत्तिस्थान और एक जोड़ा है। ९। (प्राणः एव सविता अन्नं सावित्री) प्राण ही सविता है, अन्न सावित्री है (यत्र हि एव प्राणः तत् अन्नं यत्र वै अन्नं तत् प्राणः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां ही प्राण है, वहां अन्न है, जहां ही अन्न है वहां प्राण है, यह दो उत्पत्ति स्थान और एक जोड़ा है। १०। (वेदाः एव सविता छन्दांसि सावित्री) सब वेद ही चलाने वाला है और छन्द [आनन्दकारक कर्म वा गायत्री आदि छन्द] चलाने वाले की सेवा करने वाली है, (यत्र हि एव वेदाः तत् छन्दांसि. यत्र वै छन्दांसि तत् वेदाः इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही वेद हैं वहां छन्द हैं, जहां पर छन्द हैं वहां वेद हैं, यह दो उत्पत्तिस्थान और एक जोड़ा है। ११। (यज्ञः एव सविता दक्षिणाः सावित्री) यज्ञ [देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान] ही सविता है और दक्षिणायें सावित्री हैं, (यत्र हि एव यज्ञः तत् दक्षिणाः, यत्र वै दक्षिणाः तत् यज्ञः, इति एते द्वे योनी एकं मिथुनम्) जहां पर ही यज्ञ है वहां दक्षिणायें हैं, जहां पर ही दक्षिणायें हैं वहां यज्ञ है, यह दो उत्पत्ति स्थान और एक जोड़ा है। १२। [यह चौबीस उत्पत्ति स्थान और बारह जोड़ा हुये---देखो क० ३१] (एतत् ह स्म एतत्) यह बहुत प्रसिद्ध है—(विद्वांसम्)

अद भक्षणे—क्तः। खाद्यपदार्थः (छन्दांसि) चन्देरादेश्च छः (उ० ४। २१९) चदि आह्लादने—असुन् चस्य छः। आनन्दप्रदानि कर्माणि। गायत्र्यादीनि वा। (ओपाकारिम्) आ+उप+अकारिम्। करोतेः लुङि रूपमार्षम्। अकार्षम्। आसमन्तात् उपकृतवानस्मि (आसस्तुः) सितनिगमिमसि० (उ० १। ६९) आङ् ईषदर्थे+षस स्वप्ने—तुन्। अल्पशयनः (संस्थितः) सम्यक् स्थितः (एतः) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३। ८६) इण् गतौ—तन्। गतिशीलः। पुरुषार्थी। (आचितः)

विद्वान् को (ओपाकारिम्=आ उप अकारिम्) मैंने भली भांति उपकृत किया है (आसस्तुः ब्रह्मचारी ते संस्थितः इति) थोड़ा सोने वाला ब्रह्मचारी तेरे लिये ठीक ठीक खड़ा है। (अथ एतः आसस्तुः आचितः इव चितः बभूव) और गतिशील [पुरुषार्थी] थोड़ा सोने वाला पुरुष छकड़े के भार के समान संगृहीत होता है। (अथ उत्थाय प्राव्राजीत् इति एतत् वै अहं वेद) और उठकर वह भ्रमण करता है यही मैं जानता हूँ (एतासु योनिषु इतः एतेभ्यः वा मिथुनेभ्यः सम्भूतः मम ब्रह्मचारी आयुषः पुरा न प्रेयात् इति) इन उत्पत्ति स्थानों में गया हुआ अथवा इन जोड़ों से उत्पन्न हुआ मेरा ब्रह्मचारी आयु से पहिले न मरे ॥ ३३ ॥

भावार्थः—मनुष्य कण्डिका के अनुसार सविता और सावित्री का अर्थ विचार कर पूर्णायु भोगे ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४ ॥

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत, तत्तपस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत्, सः सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात् तत् सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः पृथिव्यर्चं समदधादृचाऽग्निमग्निना श्रियं, श्रिया स्त्रियं, स्त्रिया मिथुन, मिथुनेन प्रजां, प्रजया कर्म, कर्म्मणा तपः, तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३४ ॥ सावित्री वा गायत्री मन्त्र के प्रथम पाद की व्याख्या ॥

(इदं ब्रह्म ह श्रियं प्रतिष्ठाम् आयतनम् ऐक्षत) [मौद्गल्य कहता है] इस ब्रह्म ने ही श्री [संपत्ति वा शोभा अर्थात् गायत्री] की प्रतिष्ठा [गौरव] और आश्रय देखा। (तत् तपस्व, यदि तत् व्रते [भवान्] ध्रियेत तत् सत्ये प्रत्यतिष्ठत्) [हे मैत्रेय !] वह तप कर, यदि उस व्रत में आप रक्खे जावें तो आप सत्य में जम जावें।

आ+चिञ् चयने—क्तः। शकटभारः। (चितः) संगृहीतः (प्राव्राजीत्) लङर्थे लुङ्। प्रकर्षेण व्रजति (इतः) गतः (सम्भूतः) उत्पन्नः (प्रेयात्) प्र+इण् मरणे विधिलिङ्। म्रियेत ॥

३४—(श्रियम्) क्विब् वचिप्रच्छिश्रि० (उ० २। ५७) श्रिञ् सेवायाम्—क्विप्। ईश्वररचनाम्। शोभाम्। सम्पत्तिम् (प्रतिष्ठाम्) व्रतयागादेः समाप्तिम्। गौरवम् (आयतनम्) आ+यती प्रयत्ने—ल्युट्। आश्रयम्। यज्ञस्थानम्। (ब्राह्मणम्) वेदज्ञानिनम् (तत्) तस्मै (पर्य्यदधात्) सर्वतः

(सः सविता साविश्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात्) उस सविता [प्रेरक परमात्मा] ने सावित्री [मन्त्र] के साथ ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी पुरुष] को उत्पन्न करके उसके लिये सावित्री को ठहराया, (तत्सवितुः वरेण्यम् इति साविश्याः प्रथमः पादः) उस सविता का अति श्रेष्ठ [तेज] है--यह सावित्री का पहिला पाद है। (पृथिव्या ऋचम्, ऋचा अग्निम्, अग्निना श्रियम्, श्रिया स्त्रियम् स्त्रिया मिथुनम्, मिथुनेन प्रजाम्, प्रजया कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम्, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम् ब्राह्मणेन व्रतम् समदधात्) पृथिवी के साथ ऋग् [स्तुति योग्य विद्या] को उस [पहिले पाद] ने, ऋग् के साथ अग्नि को, अग्नि के साथ श्री [शोभा वा सम्पत्ति] को, श्री के साथ स्त्री को, स्त्री के साथ जोड़ [पुरुष संयोग] को, जोड़ के साथ प्रजा [सन्तान] को, प्रजा के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप [ब्रह्मचर्य आदि] को, तप के साथ सत्य [यथार्थता] को, सत्य के साथ ब्रह्म [वेदज्ञान] को, वेदज्ञान के साथ ब्राह्मण [वेदज्ञानी] को, ब्राह्मण के साथ व्रत [जितेन्द्रियता आदि] को ठहराया। (व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितः भवति, अशून्यः भवति, अविच्छिन्नः भवति, अविच्छिन्नः अस्य तन्तुः, अविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति, यः एव वेद यः च एवं विद्वान् एवम् एतं साविश्याः प्रथमं पाद व्याचष्टे) व्रत [जितेन्द्रियता आदि] से ही वह ब्राह्मण [वेदज्ञानी] तीक्ष्ण बुद्धि वाला [वा यत्नवान्] होता है, शून्य बिना [परिपूर्ण] होता है, अनकट होता है, अनकट उसका तांता [वंश] अनकट जीवन और अस्तित्व [ठहराव] होता है, जो ऐसा जानता है और जो ऐसा जानकार पुरुष इस प्रकार से सावित्री के इस पहिले पाद को बताता है ॥ ३४ ॥

भावार्थः--मनुष्य सावित्री के प्रथम पाद के साथ ऋग्वेद, पृथिवी अग्नि आदि के विचार से अपने और सन्तान आदि के जीवन को सुदृढ़ करे ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५ ॥

भर्गो देवस्य धीमहीति साविश्या द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षेण यजुः समदधात् यजुषा वायुं, वायुनाऽभ्रम्, अभ्रेण वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधि-

---

स्थापितवान् (तत्) तस्य (सवितुः) प्रेरकस्य परमेश्वरस्य (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठम् (ऋचम्) ऋग्वेदम्। स्तुत्यां विद्याम् (समदधात्) सम्यक् स्थापितवान् (मिथुनम्) द्वित्वविशिष्टं पुरुषम्। पुरुषसंयोगम् (तपः) ब्रह्मचर्य्याद्यनुष्ठानम् (व्रतम्) वरणीयं जितेन्द्रियत्वादि कर्म (संशितः) सम् + शो तनूकरणे--क्तः। तीक्ष्णबुद्धिः। सम्पादितव्रतविषयकयत्नः (अशून्यः) अभावरहितः। परिपूर्णः (अविच्छिन्नः) नञ् + वि + छिदिर् द्वैधीभावे--क्तः। अविभक्तः। परम्परागतः (तन्तुः) सितनिगमिमसि० (उ० । १ । ६९) तनु विस्तारे--तुन्। विस्तारः। वंशसन्ततिः (भवनम्) अस्तित्वम् (व्याचष्टे) चक्षिङ् कथने दर्शने च--लट्। विविधं कथयति ॥

वनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्या द्वितीयं पादं व्याचष्टे ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३५ ॥ सावित्री वा गायत्री मन्त्र के दूसरे पाद की व्याख्या ॥

(भर्गो देवस्य धीमहि इति सावित्र्याः द्वितीयः पादः) प्रकाशमान परमेश्वर के तेज को हम धारण करें– यह सावित्री का दूसरा पाद है। (अन्तरिक्षेण यजुः समदधात्, यजुषा वायुम्, वायुना अभ्रम्, अभ्रेण वर्षम्, वर्षेण ओषधिवनस्पतीन्, ओषधिवनस्पतिभिः पशून्, पशुभिः कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम्, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम्, ब्राह्मणेन व्रतम्) अन्तरिक्ष [आकाश] के साथ यजु [पूजनीय कर्म वा संगति कर्म] को उस [दूसरे पाद] ने ठहराया, यजु के साथ वायु को, वायु के साथ जल रखने वाले मेघ को, मेघ के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों [सोमलता, यव आदि] और वनस्पतियों [पीपल आदि] को, ओषधि और वनस्पतियों के साथ पशुओं [जीवों] को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप [ब्रह्मचर्य आदि] को, तप के साथ सत्य [यथार्थता] को, सत्य के साथ ब्रह्म [वेदज्ञान] को, वेदज्ञान के साथ ब्राह्मण [वेदज्ञानी] को, ब्राह्मण के साथ व्रत [जितेन्द्रियता आदि] को। (व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितः भवति, अशून्यः भवति, अविच्छिन्नः भवति, अविच्छिन्नः अस्य तन्तुः, अविच्छिन्नं जीवनं भवति, यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् एवम् एतं सावित्र्याः द्वितीयं पादं व्याचष्टे) व्रत [जितेन्द्रियता आदि] से ही वह ब्राह्मण [वेदज्ञानी] तीक्ष्ण बुद्धि वाला [वा यत्नवान्] होता है, शून्य बिना [परिपूर्ण] होता हैं, अनकट होता है अनकट उसका तांता [वंश], अनकट जीवन होता है, जो ऐसा जानता है और जो ऐसा जानकर पुरुष इस प्रकार से सावित्री के इस दूसरे पाद को बताता है ॥ ३५ ॥

भावार्थः मनुष्य सावित्री के दूसरे पाद के साथ यजुर्वेद, अन्तरिक्ष वायु आदि के विचार से अपने ओर सन्तान आदि के जीवन को सुदृढ़ करे ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६ ॥

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादो दिवा साम समदधात् साम्नाऽऽदित्यमादित्येन रश्मीन् रश्मिभिर्वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधिवन-

३५–(भर्गः) तेजः (देवस्य) प्रकाशमयस्य । परमेश्वरस्य (धीमहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः–विधिलिङि छान्दसं[1] रूपम् । दधीमहि । धरेमहि (यजुः) अर्तिपृवपियजि० (उ० २ । ११७) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु–उसिः । यजुर्वेदम् । संगतिकरणम् । सत्कर्मविद्याम् (पशून्) जीवान् । अन्यद् गतम् ॥

१. अत्र छन्दस्युभयथा (पा० ३ । ४) इत्यार्धधातुकत्वात् शप् न । सम्पा० ॥

स्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं, व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे ।। ३६ ।।

कण्डिका ३६ ।। सावित्री वा गायत्री मन्त्र के तीसरे पाद की व्याख्या ।।

(धियो यो नः प्रचोदयात्—इति सावित्र्याः तृतीयः पादः) जो हमारी बुद्धियों वा कर्मों को आगे बढ़ावे—यह सावित्री का तीसरा पाद है। (दिवा साम, साम्ना आदित्यम्. आदित्येन रश्मीन्, रश्मिभिः वर्षम्, वर्षेण ओषधिवनस्पतीन्, ओषधिवनस्पतिभिः पशून्, पशुभिः कर्म, कर्मणा तपः, तपसा सत्यम्, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणम्, ब्राह्मणेन व्रतम् समदधात्) प्रकाश के साथ साम [मोक्षज्ञान] को साम के साथ प्रकाशमान वा रस लेने वाले सूर्य को, सूर्य के साथ किरणों को, किरणों के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों [सोमलता यव आदि] और वनस्पतियों [पीपल आदि] को, ओषधि और वनस्पतियों के साथ पशुओं [जीवों] को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप [ब्रह्मचर्य आदि] को, तप के साथ सत्य [यथार्थता] को, सत्य के साथ ब्रह्म [वेदज्ञान] को, वेदज्ञान के साथ ब्राह्मण [वेदज्ञानी] को, ब्राह्मण के साथ व्रत [जितेन्द्रियता आदि] को उस [तीसरे पाद] ने ठहराया। (व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितः भवति, अशून्यः भवति, अविच्छिन्नः भवति, अविच्छिन्नः अस्य तन्तुः, अविच्छिन्नं जीवनं भवति, यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् एवम् एतम् सावित्र्याः तृतीयं पादं व्याचष्टे) व्रत [जितेन्द्रियता आदि] से ही वह ब्राह्मण [वेदज्ञानी] तीक्ष्ण बुद्धि वाला [वा यत्नवान्] होता है, शून्य बिना [परिपूर्ण] होता है, अनकट होता है, अनकट उसका तांता—[वंश], अनकट जीवन होता है, जो ऐसा जानता है और जो ऐसा जानकार पुरुष इस प्रकार से सावित्री के तीसरे पाद को बताता है ।। ३६ ।।

भावार्थ:—मनुष्य सावित्री के तीसरे पाद के साथ सामवेद द्यौलोक आदित्य आदि के विचार से अपने और सन्तान आदि के जीवन को सुदृढ़ करे ।। ३६ ।।

कण्डिका ३७ ।।

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं १, ब्रह्मणाऽकाशमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमा २, काशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो ३,

---

३६—(धियः) ध्यायतेः संप्रसारणं च (वा० पा० ३ । २ । १७८) ध्यै चिन्तने—क्विप् संप्रसारणं च । धीः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । बुद्धीः । कर्माणि (आदित्यम्) आदीप्यमानम् । रसानामादातारम् । सूर्यम् (रश्मीन्) अश्नोतेरशच् (उ० ४ । ४६) अशूङ् व्याप्तौ—मिः, धातोः रशचादेशः । किरणान् । अन्यद्गतम् ।।

---

१. यह प्रकरण तैत्तिरीय उपनिषद् २, १ से तुलनीय है ।। सम्पा० ।।

५

वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं ४, ज्योतिषाऽपोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा ५, अद्भिर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा ६, भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्ट ७, मन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः ८, प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं ९, मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा १० वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा ११, वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्ट १२, स्तानि ह वा एतानि द्वादशमहाभूतान्येवंविधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव परार्द्ध्यः ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३७ ॥ बारह महातत्त्वों की परम्परा ॥

(तेन ह वै एवम् विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्म अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) उस ही ऐसे [सावित्री का अर्थ जानने वाले] विद्वान् ब्राह्मण करके ब्रह्म [ईश्वर] सब प्रकार पाया गया, ग्रसा गया [पचाया गया वा सुधार के उसका रस लिया गया] और प्रधानता से छूआ गया है। १। (ब्रह्मणा आकाशम् अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) ब्रह्म [परमेश्वर] करके आकाश सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। २। (आकाशेन वायुः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्ट) आकाश करके वायु [पवन] सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ३। (वायुना ज्योतिः अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) वायु करके प्रकाश सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ४। (ज्योतिषा अपः+आपः अभिपन्नाः ग्रसिताः परामृष्टाः) प्रकाश करके जल सब ओर से पाया गया ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ५। (अद्भिः भूमिः अभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा) जल करके भूमि सब ओर से पायी गई, ग्रसी गई और प्रधानता से छूई गई है। ६। (भूम्या अन्नम् अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) भूमि करके अन्न सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ७। अन्नेन प्राणः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्टः) अन्न करके प्राण [जीवन सामर्थ्य] सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ८। (प्राणेन मनः अभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्) प्राण करके मन [अन्तःकरण] सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है। ९। (मनसा वाक् अभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा) मन करके वाणी सब ओर से पायी गई, ग्रसी गई और प्रधानता से छूई गई है। १०। (वाचा वेदाः अभिपन्नाः ग्रसिताः परामृष्टाः) वाणी करके वेद सब ओर से पाये

३७—(एवम्) अनेन प्रकारेण। सावित्र्यर्थविचारेण (ब्रह्म) परमेश्वरः (अभिपन्नम्) सर्वतः प्राप्तम् (ग्रसितम्) भक्षितम्। पाचितम्। रसाय गृहीतम्। (परामृष्टम्) परा+मृश आमर्शने प्रणिधाने च—क्तः। प्राधान्येन स्पृष्टम् (मनः) मन ज्ञाने—असुन्। संकल्पविकल्पात्मकमन्तःकरणम् (यज्ञः) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारः (महाभूतानि) पूर्वोक्तानि महातत्त्वानि (विधिप्रतिष्ठितानि) विधानेन स्थापितानि (तेषाम्) भूतानां मध्ये (परार्द्ध्यः) छन्दसि च (पा० ५। १। ६७) परार्द्ध-यत्। परार्द्धं प्रधानत्वमर्हतीति। अतिश्रेष्ठः॥

गये, ग्रसे गये और प्रधानता से छूये गये हैं । ११ । (वेदैः यज्ञः अभिपन्नः ग्रसितः परामृष्टः) वेदों करके यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान व्यवहार] सब ओर से पाया गया, ग्रसा गया और प्रधानता से छूआ गया है । १२ । (तानि ह वै एतानि द्वादश महाभूतानि एवंविधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञः एव परादूर्ध्यः) यही बारह महातत्त्व इस प्रकार विधान के साथ ठहरे हुये हैं, उनमें यज्ञ ही अति श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

भावार्थः—ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्म आदि बारह तत्त्वों के यथावत् ज्ञान से परम गति पाता है ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८ ॥

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विद्म एनमिति याथातथ्यमविद्वांसोऽयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितो १, वेदा वाचि प्रतिष्ठिता २, वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता ३, मनः प्राणे प्रतिष्ठितं ४, प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितो ५, ऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं ६ भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता ७, आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता ८, ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितं ९, वायुराकाशे प्रतिष्ठितः १० आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितं ११, ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितं १२, यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित्, पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाप्मानन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम् ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३८ ॥ दूसरे प्रकार से पूर्वोक्त बारह तत्त्वों का विचार

(तं ह स्म एतम् एवं विद्वांसः मन्यन्ते विद्मः एनम् इति याथातथ्यम् अविद्वांसः) उस ही [यज्ञ] को इस प्रकार जानने वाले मानते हैं—हम इस [यज्ञ] को जानते हैं—सचमुच वे अज्ञानी हैं । (अयम् यज्ञः वेदेषु प्रतिष्ठितः) यह यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण दानव्यवहार] वेदों में ठहरा हुआ है । १ । (वेदाः वाचि प्रतिष्ठिताः) वेद वाणी में ठहरे हुये हैं । २ । (वाक् मनसि प्रतिष्ठिता) वाणी मन में ठहरी हुई है । ३ । (मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्) मन प्राण में ठहरा हुआ है । ४ । (प्राणः अन्ने प्रतिष्ठितः) प्राण अन्न में ठहरा हुआ है । ५ । (अन्नं भूमौ प्रतिष्ठितम्) अन्न भूमि में ठहरा हुआ है । ६ । (भूमिः अप्सु प्रतिष्ठिता) भूमि जल में ठहरी हुई है । ७ । (आपः ज्योतिषि प्रतिष्ठिताः) जल प्रकाश में ठहरा हुआ है । ८ । (ज्योतिः वायौ प्रतिष्ठितम्) प्रकाश पवन में ठहरा हुआ है । ९ । (वायुः आकाशे प्रतिष्ठितः) पवन आकाश में ठहरा हुआ है । १० । (आकाशम् ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम्) आकाश ब्रह्म [परमात्मा] में ठहरा हुआ है । ११ । (ब्रह्म

३८—(तम्) पूर्वोक्तं यज्ञम् (विद्वांसः) जानन्तः (मन्यन्ते) जानन्ति । (विद्मः) वयं जानीमः (एनम्) यज्ञम् (याथातथ्यम्) यथातथा—ष्यञ् । वास्तविकं पदार्थम् (अविद्वांसः) अविदन्तः (पुण्याम्) पवित्राम् (सुरभीन्) मनोहरान् (अपहतपाप्मा) विनष्टपापः (अनन्तां श्रियम्) अनन्तसेवनीयसम्प-

ब्रह्मविंदि ब्राह्मणे प्रतिष्ठितम्) ब्रह्म वेद जानने वाले ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] में ठहरा हुआ है। १२। (यः ह वै एवं वित् सः ब्रह्मवित्, पुण्यां च कीर्तिं सुरभीन् च गन्धान् लभते) जो ही ऐसा जानने वाला है वह ब्रह्मज्ञानी है और पवित्र कीर्ति और सुन्दर गन्धों [चन्दनादि] को पाता है। (सः अपहतपाप्मा अनन्तां श्रियम् अश्नुते, यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् एवम् एतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदम् उपनिषदम् उपास्ते इति ब्राह्मणम्) वह पाप से छूटा हुआ पुरुष अनन्त श्री [सेवनीय सम्पत्ति] भोगता है जो ऐसा जानता है, और जो ऐसा विद्वान् इस प्रकार से इस वेदों की माता सावित्री रूप सम्पदा उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] को भजता है--यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ।। ३८ ।।

भावार्थः—ईश्वर और उसके कर्मों को वेद द्वारा यथावत् जानकर ब्रह्मज्ञानी बड़ा यश और आनन्द पाता है ।। ३८ ।।

विशेषः—इस कण्डिका का कण्डिका ३७ से मिलान करके गायत्री मन्त्र के अर्थों के साथ अपनी विचारशक्ति बढ़ाओ ।।

कण्डिका ३९ ।।

आपो गर्भं जनयन्तीरित्यपाङ्गर्भः पुरुषः स यज्ञोऽद्भिर्यज्ञः प्रणीयमानः प्राङ्तायते[1], तस्मादाचमनीयं पूर्वमाहारयति स यदाचामति त्रिराचामति द्विः परिशुम्भत्यायुरवरुह्य पाप्मानं निर्णुदत्युपसाद्य यजुषोद्धृत्य मन्त्रान् प्रयुज्यावसाय प्राचीः शाखाः सन्धाय निरङ्गुष्ठे पाणावमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृताय त्वोपस्तृणामीति पाणावुदकमानीय जीवास्थेति सूक्तेन त्रिराचामति। स यत्पूर्वमाचामति सप्त प्राणांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति या ह्येता बाह्याः शरीरान्मात्रास्तद्यथैतदग्निं वायुमादित्यं चन्द्रमसमपः पशूनन्यांश्च प्रजास्तानेतेनास्मिन्नाप्याययत्यापोऽमृतम्। स यद् द्वितीयमाचामति सप्तापानांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति या ह्येता बाह्याः शरीरान् मात्रास्तद्यथैतत्पौर्णमासीमष्टकाममावास्यां श्रद्धां दीक्षां यज्ञ दक्षिणास्तानेतेनास्मिन्नाप्याययत्यापोऽमृतम्। स यत्तृतीयमाचामति सप्त व्यानांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति या ह्येता बाह्याः शरीरान्मात्रास्तद्यथैतत् पृथिवीमन्तरिक्षं दिवन्नक्षत्राण्यृतूनार्त्तवान् संवत्सरांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययत्यापोऽमृतं पुरुषो ब्रह्माथाप्रियनिगमो भवति तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं पुण्डरीकमिति प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेते इति। पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। स यत्पूर्वमाचामति पुरस्ताद्धोमांस्तेनास्मिन्नवरुन्धे स यद् द्वितीयमाचामत्याज्यभागौ तेनास्मिन्नवरुन्धे, स

त्तिम् (अश्नुते) प्राप्नोति (सावित्रीसम्पदम्) गायत्रीरूपसम्पत्तिम् (उपनिषदम्) ब्रह्मविद्याम् (उपास्ते) भजते। सेवते ।।

---

१. 'प्राङ्णायते' इति पू० सं० पाठः, स चायुक्तः। सम्पा० ।।

यत्तृतीयमाचामति संस्थितहोमांस्तेनास्मिन्नवरुन्धे, स यद् द्विः परिशुम्भति तत्समित्संर्बर्हिः, स यत्सर्वाणि खानि सर्वं देहमाप्याययति यच्चान्यदातारं मन्त्रकार्य्यं यज्ञे स्कन्दति सर्वं तेनास्मिन्नवरुन्धे, स यदोंपूर्वान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्त आसर्वमेधादेते क्रतव एत एवास्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु देवेषु सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु सत्वेषु कामचारः कामविमोचनं भवत्यर्द्धे च न प्रमीयते य एवं वेद।

तदप्येतद् ऋचोक्तम्। आपो भृग्वङ्गिरो रूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्। सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्। अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः।

अपां पुष्पं मूर्तिराकाशं पवित्रमुत्तममित्याचम्याभ्युक्ष्यात्मानमनुमन्त्रयत इन्द्र जीवेति ब्राह्मणम्॥ ३९॥

इति अथर्ववेदे गोपथब्राह्मणपूर्वभागे प्रथमः प्रपाठकः॥ १॥

कण्डिका ३९॥ आचमन के विधान और लाभ॥

(आपो गर्भं जनयन्तीः इति—अथ० ४। २। ८) गर्भ [अर्थात् बालक रूप संसार] को उत्पन्न करते हुये जल [इस मन्त्र से सिद्ध होता है कि] (अपां गर्भः पुरुषः सः यज्ञः) जल का गर्भ [अन्तर्यामी] पुरुष [ब्रह्म] है वही यज्ञ है। (अद्भिः प्रणीयमानः यज्ञः प्राङ्तायते तस्मात् आचमनीयम् पूर्वम् आहारयति) जल के साथ चलाया हुआ यज्ञ पहिले विस्तृत किया जाता है इसलिये आचमन योग्य जल वह [व्रतधारी] पहिले विधि के साथ पीता है। (सः यत् आचामति त्रिः आचामति) वह जब आचमन करता है, तीन बार आचमन करता है, (द्विः परिशुम्भति) दो बार सजाता है [आगे देखो], (आयुः अवरुह्य पाप्मानं निर्णुदति) आयु पर चढ़कर [बढ़ाकर] पाप को निकाल देता है। (यजुषा उपसाद्य मन्त्रान् उद्धृत्य प्रयुज्य अवसाय, प्राचीः शाखाः सन्धाय निरंगुष्ठे पाणौ—अमृतम् असि, अमृत! उपस्तरणम् असि, अमृताय त्वा उपस्तृणामि इति [ब्राह्मणवचनानि] पाणौ उदकम् आनीय—जीवाः स्थ इति सूक्तेन [अथ० १९। ६९। १—४] त्रिः आचामति) देवपूजा के साथ पास आकर, मन्त्रों को निकाल कर, प्रयोग में ला कर और निश्चय करके, और पुरानी शाखाओं [वेदव्याख्याओं] को मिला कर, अगूंठा छोड़ कर हाथ में—तू अमृत [मृत्यु से बचाने वाला जल] है, हे अमृत! तू बहुत फैलाने वाला है, अमरपन के लिये तुझे फैलाता हूँ [पीता हूँ—इन तीन ब्राह्मण वचनों से] हाथ में

३९—(जनयन्तीः) जनयतेः शतृः। जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। जनयन्त्य। उत्पादयन्त्यः (प्रणीयमानः) प्रवर्तमानः (प्राङ्तायते) प्र+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, तनु विस्तारे कर्मणि लट्। तनोतेर्यकि (पा० ६। ४। ४४) इति आत्वम्। प्राङ् पूर्वं तायते। विस्तार्यते (आचमनीयम्) आचमनयोग्यं जलम् (आहारयति) विधिपूर्वकं पिबति (परिशुम्भति) शुम्भ शोभायाम्–णिजर्थे। परिशुम्भयति। सर्वतः शोभयति (अवरुह्य) आरुह्य। दीर्घं कृत्वा (यजुषा) देवपूजनेन (उद्धृत्य) उत्+धृञ् धारणे वा हृञ् हरणे—ल्यप्। पृथक् कृत्वा (प्रयुज्य) प्रयोगे नीत्वा

जल लेकर—तुम जीव वाले हो—इस सूक्त से [चार मन्त्रों से] तीन बार आचमन करता है। (सः यत् पूर्वम् आचामति सप्त तान् प्राणान् एतेन अस्मिन् आप्याययति [ताः च अपि], याः हि शरीरात् बाह्याः एताः मात्राः, तत् यथा एतत्, अग्निं वायुम् आदित्यं चन्द्रमसम् अपः अन्यान् पशून् च प्रजाः तान् एतेन अस्मिन् आप्याययति—आपः अमृतम्) वह जो पहिला आचमन करता है उन सात प्राणों [शरीर में भीतर जाने वाले जीवनवर्धक श्वासों] को इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है [और उन मात्राओं को भी पुष्ट करता है] जो यह शरीर से बाहर चलती हुई मात्रायें हैं, सो जैसे यह हैं—अग्नि १ [अर्थात् शारीरिक, पार्थिव, समुद्रीय, गुप्त प्रकट बिजुली आदि अग्नि विद्या] वायु २ [अर्थात् पवन विद्या जैसे पवन क्या है और उसका प्रभाव सब जीवों, सब पृथिवी सूर्य आदि लोकों पर क्या है], सूर्य ३ [अर्थात् सूर्य विद्या, जैसे सूर्य का पृथिवी आदि लोकों और उनके पदार्थों से और उन सबका सूर्य लोक से क्या सम्बन्ध है], चन्द्रमा ४ [अर्थात् चन्द्र विद्या, जैसे उपग्रह चन्द्रमा अपने ग्रह पृथिवी पर किस सम्बन्ध से क्या प्रभाव करता है और अन्य चन्द्रमाओं का अन्य ग्रहों से क्या सम्बन्ध है], जल ५ [अर्थात् जल विद्या, जैसे जल क्या है और वह भूमण्डल, मेघमण्डल, सूर्यमण्डल आदि लोकों से क्या सम्बन्ध रखता है], जीव वाले पशु ६ [अर्थात् पशु विद्या, जैसे गौ घोड़ा आदि जीव पृथिवी लोक और दूसरे लोकों में कैसे उपकारी होते हैं], और प्रजाओं ७ [अर्थात् प्रजा की विद्या कि परमात्मा की सृष्टि में भूलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि के मनुष्य और जीवजन्तुओं का सम्बन्ध आपस में और दूसरे लोक वालों से क्या है]—इन सबको इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है, [क्योंकि] जल अमृत है। (सः यत् द्वितीयम् आचामति सप्त तान् अपानान् एतेन अस्मिन् आप्याययति [ताः च अपि], याः हि शरीरात् बाह्याः एताः मात्राः, तत् यथा एतत्, पौर्णमासीम् अष्टकाम् अमावास्यां श्रद्धां दीक्षां यज्ञं दक्षिणाः, तान् एतेन अस्मिन् आप्याययति—आपः अमृतम्) वह जो दूसरा आचमन करता है, उन सात अपानों [शरीर से बाहर निकलने वाले

(अवसाय) अव+षो अन्तकर्मणि—ल्यप्। निश्चित्य (प्राचीः) पूर्वस्मिन् काले भवाः (शाखाः) वेदव्याख्याः (संधाय) सम्+दधातेः—ल्यप्। संयुज्य। (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत्। जलम् (उपस्तरणम्) उप+स्तृञ् विस्तारे आच्छादने च—ल्युट्। बहुविस्तारकम् (अमृताय) अमरणाय। (उपस्तृणामि) अधिकं विस्तारयामि। आचामामि। (एतेन) अनेन विधिना (अस्मिन्) दृश्यमाने शरीरे (एताः) एतेस्तुट् च (उ० १। १३३) इण् गतौ—अदिः प्रत्ययः, तस्य च तुडागमः। गमनशीलाः (अग्निम्) अग्निविद्याप्रकाशम् (वायुम्) पवनविद्याम् (आदित्यम्) आदीप्यमानसूर्यविद्याम् (चन्द्रमसम्) आह्लादकचन्द्रविद्याम् (अपः) व्यापकजलविद्याम् (पशून्) गवाश्वादिजीवान्। (अन्यान्) माछाशसिभ्यो यः (उ० ४। १०९) अन प्राणने—यप्रत्ययः। प्राणिनः। (आप्याययति) आ+प्यैङ् वृद्धौ—णिच्। समन्तात् वर्धयति। पोषयति (अपानान्)

प्रश्वासों] को इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है [और इन मात्राओं को भी पुष्ट करता है] जो शरीर से बाहर चलती हुई मात्रायें हैं, सो जैसे यह हैं-- पौर्णमासी १, [अर्थात् पूर्णमासेष्टि, जिसमें विचारा जाता है कि उस दिन चन्द्रमा पूरा क्यों दीखता है, पृथिवी, समुद्र आदि पर उसका क्या प्रभाव होता है], अष्टका २, [अष्टमी आदि तिथि का यज्ञ, जिसमें विद्वान् पितर लोग विचारते हैं कि ज्योतिष शास्त्र की मर्यादा से इन तिथियों में सूर्य और चन्द्र आदि लोकों का क्या प्रभाव पड़ता है]. अमावास्या ३, [अर्थात् दर्शेष्टि जिसमें विचार होता है कि अमावस को सूर्य और चन्द्रमा एक राशि में आकर क्या प्रभाव डालते हैं], श्रद्धा ४, [अर्थात् ईश्वर और वेदों में विश्वास], दीक्षा ५, [नियम और व्रत पालन की शिक्षा] यज्ञ ६, [परमेश्वर और विद्वानों का सत्कार. परस्पर संयोग और विद्या आदि का दान] और दक्षिणायें ७, [यज्ञ समाप्ति पर विद्वानों के सत्कार के लिये द्रव्य]—इन सबको इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है, [क्योंकि] जल अमृत है। (सः यत् तृतीयम् आचामति सप्त तान् व्यानान् एतेन अस्मिन् आप्याययति [ताः च अपि] याः हि शरीरात् बाह्याः एताः मात्राः, तत् यथा एतत्, पृथिवीम् अन्तरिक्षं दिवं नक्षत्राणि ऋतून् आर्त्तवान् संवत्सरान् तान् एतेन अस्मिन् आप्याययति—आपः अमृतम्) वह जो तीसरा आचमन करता है उन सात व्यानों [शरीर में फैले हुए पवनों] को इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है [और उन मात्राओं को भी पुष्ट करता है] जो शरीर से बाहर चलती हुई मात्रायें हैं, सो जैसे यह हैं पृथिवी १, [भूगर्भ विद्या, राज्य पालनादि विद्या], अन्तरिक्ष २, [वायुमण्डल, मेघमण्डल, आदि की विद्या], प्रकाश ३, [प्रकाश के ताप, आकर्षण और फैलाव आदि की विद्या]; नक्षत्रों ४,

---

प्रश्वासान्। शरीरबहिर्गामिनो दोषनाशकान् वायून् (पौर्णमासीम्[१]) पूर्णमास—अण्, ङीप्। पूर्णमासेष्टिम्। पूर्णचन्द्रसम्बन्धिनीं विद्याम् (अष्टकाम्) इष्यशिभ्यां तकन् (उ० ३। १४८) अशूङ् व्याप्तौ अश भोजने वा—तकन्, टाप्। अष्टका पितृदैवत्ये (वा० पा० ७। ३। ४५) इत्वाभावः। अष्टम्यादितिथौ पितृणां समागमेन ज्योतिषविद्याविचारम् (अमावास्याम्) अमा सह वसतः चन्द्रार्कौ यत्र। अमावस्यदन्यतरस्याम् (पा० ३। १। १२२) अमा + वस निवासे—ण्यत्, टाप्। कृष्णपक्षशेषतिथिम्, तद्दिने चन्द्रार्कावेकराशिस्थौ भवतः। दर्शेष्टिम् (श्रद्धाम्) ईश्वरवेदयोर्निश्चयम् (दीक्षाम्) नियमव्रतयोः शिक्षाम्। (यज्ञम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—नङ्। परमेश्वरविद्वत्सत्कारपरस्परसंयोगविद्यादिदानव्यवहारम् (दक्षिणाः) यज्ञसमाप्तौ विद्वद्भ्यः सत्कारद्रव्याणि। (व्यानान्) सर्वशरीरव्यापकान् वायून् (पृथिवीम्) भूगर्भविद्यां राज्यपालनादिविद्यां च (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकस्थवायुमण्डलमेघमण्डलादिविद्याम् (दिवम्) सूर्यतापाकर्षणविस्तारादिविद्याम् (नक्षत्राणि) णक्ष गतौ—अत्रन्। गतिशीलानां

---

[१]. पूर्णमासोऽस्यां वर्त्तत इति पौर्णमासी तिथिः, इत्यत्र पूर्णमासादण् (वा० ४। २। ३५) इति अण्॥ सम्पा०॥

[तारागणों के परस्पर आकर्षण रखने, अपने अपने मार्ग पर चलने उछलने डूबने आदि की विद्या], ऋतुओं ५, [वसन्त आदि ऋतुओं के क्रम और कारण आदि की विद्या], आर्तवों ६, [ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों, फूल फल आदि की उत्पत्ति और उपकार की विद्या], और संवत्सरों ७, [वर्ष में ऋतु महीने आदि कैसे बसते हैं और सब मनुष्य आदि प्राणी कैसे उसका उपभोग करते हैं, इसकी विद्या] –इन सबको इस [विधि] से इस [शरीर] में पुष्ट करता है, [क्योंकि] जल अमृत है। (**पुरुषः ब्रह्म, अथ आप्रियनिगमः भवति**) पुरुष ब्रह्म है और यह सब प्रकार प्रिय निगम [वैदिक सिद्धान्त] है, (**तस्मात् वै विद्वान् पुरुषम् इदम् पुण्डरीकम् इति**) [आचष्टे] इस लिए ही विद्वान् मनुष्य पुरुष को ऐश्वर्यवान् शुद्धस्वरूप ब्रह्म [कहता है] (**एषः सः प्राणः पुरि शेते सः पुरि शेते इति**) यही प्राण शरीर में रहता है, यही शरीर में रहता है। (**पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुषः इति आचक्षते**) शरीर में वर्तमान रहते हुये प्राण [जीवन साधन] को पुरुष [आत्मा वा परमात्मा] कहते हैं। (**परोक्षेण**) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्तमान ब्रह्म] के द्वारा (**परोक्षप्रियाः इव हि**) परोक्षप्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (**देवाः**) देवता [विद्वान् लोग] (**प्रत्यक्षद्विषः**) प्रत्यक्ष [वर्तमान अवस्था] के द्वेषी (**भवन्ति**) होते हैं [देखो कण्डिका १ तथा ७]।

[वही प्रकरण दूसरे प्रकार कहा जाता है] (**सः यत् पूर्वम् आचामति पुरस्ताद्धोमान् तेन अस्मिन् अवरुन्धे**) वह जो पहिला आचमन करता है पुरस्तात् होमों [पहिले होम विशेषों के फलों] को उस [विधि] से इस [शरीर] में पाता है। (**सः यत् द्वितीयम् आचामति आज्यभागौ तेन अस्मिन् अवरुन्धे**) वह जो दूसरा आचमन करता है दो आज्य भागों [अग्नि के उत्तर और दक्षिण भाग में घी की दो आहुति विशेष के फल] को उस [विधि] से इस [शरीर] में पाता है। (**सः यत् तृतीयम् आचामति संस्थितहोमान् तेन अस्मिन् अवरुन्धे**) वह जो तीसरा आचमन करता है संस्थितहोमों [अन्तिम होम विशेषों के फल] को उस [विधि] से इस [शरीर] में पाता है। (**सः यत् द्विः परिशुम्भति तत् समित्संबर्हिः**) वह जो दो बार सजाता है वह समिधा [काष्ठ] और विधिपूर्वक अग्नि है, (**सः यत् सर्वाणि खानि सर्वं देहम्**

तारागणानां परस्पराकर्षणादिज्ञानम् (ऋतून्) वसन्तादीनां क्रमकारणादिबोधम्। (आर्तवान्) ऋतु—अण्। ऋतुभवानां पुष्पफलादिपदार्थानां ज्ञानम् (संवत्सरान्) संपूर्वाच्चित् (उ० ३। ७२) सम् + वस निवासे—सरन्। संवसन्ति वसन्तादयो यत्र। कालोपभोगविद्याः (पुरुषः) पुरः कुषन् (उ० ४। ७४) पुर अग्रगमने—कुषन्। पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयन्त्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—निरु० २। ३। अग्रगामी परमात्मा (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च (उ० ४। १५७) इदि परमैश्वर्ये—कमिन्, नलोपः। परमैश्वर्ययुक्तम् (पुण्डरीकम्) फर्फरीकादयश्च (उ० ४। २०) पुण शुद्धौ धर्मकृत्यकरणे च—ईकन्, पृषोदरादित्वात् साधुः। शुद्धस्वरूपं ब्रह्म। (पुरिशयम्) पुरि + शीङ् स्वप्ने-अच्। पुरि शरीरे वर्त्तमानम् (पुरस्ताद्धोमान्) होमविशेषान्, तेषां फलम् (अवरुन्धे) प्राप्नोति (आज्यभागौ) अग्नेरुत्तरदक्षिणभागयोर्घृताहुतिद्वयम् (संस्थितहोमान्) यज्ञविशेषान् (समित्संबर्हिः)

आप्याययति, यत् च अन्यत् आतार मन्त्रकार्यं यज्ञे स्कन्दति सर्वं तेन अस्मिन् अवरुन्धे) वह जो सब इन्द्रियों और सब देह को पुष्ट करता है और जो कोई दूसरा सब प्रकार तराने वाला मन्त्र कार्य यज्ञ में आ जाता है, उस सबको उस [विधि] से इस [शरीर] में पाता है। (सः यत् ओं पूर्वान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते आसर्वमेधात् अस्य एते एते एव क्रतव) वह जो ओम् को पहिले कह के मन्त्रों को प्रयोग में लाता है सर्वमेध यज्ञ [सब पदार्थों पर धारणावती बुद्धि वाले यज्ञ] तक उसके यही यही सब कर्म होते हैं, (सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु देवेषु सर्वेषु वेदेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु सत्त्वेषु [अस्य] कामचारः कामविमोचनं भवति अर्द्धे च न प्रमीयते, यः एवं वेद) और सब लोकों में, सब देवों [दिव्य पदार्थों] में, सब वेदों में, सब तत्त्वों में, और सब जीवों में [इसका] सुकामना से विचरना और कुकामना का परित्याग होता है, और वह खण्डित आयु में नहीं मरता है, जो ऐसा जानता है।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) यह भी इस ऋचा [ब्राह्मण वचन] करके कहा गया है। (आपः भृग्वङ्गिरोरूपम् आपः भृग्वङ्गिरोमयम्। सर्वम् आपोमयं सर्वं भूतं भृग्वङ्गिरोमयम् एते त्रयः वेदाः भृगून् अङ्गिरसः अन्तरा अनुगाः) व्यापक जल प्रकाशमान ज्ञान वाले परमात्मा का रूप है, व्यापक जल प्रकाशमान परमात्मा से परिपूर्ण है। सब जगत् जलमय [जल से परिपूर्ण] है और सब प्राणीमात्र प्रकाशमान ज्ञानवाले परमात्मा से परिपूर्ण हैं। और यह तीनों वेद [अर्थात कर्म उपासना ज्ञान] प्रकाशमान ज्ञान वाले [चारों वेदों] के भीतर साथ साथ चलने वाले हैं। [यह षट्पदा अनुष्टुप् छन्द ब्राह्मण है, इसके पिछले चार पाद कण्डिका २९ में आये हैं, (अनुगाः) के स्थान पर वहां (श्रिताः) पद है॥

(अपां पुष्पं मूर्तिः आकाशम् पवित्रम् उत्तमम् इति आचम्य अभ्युक्ष्य इन्द्रजीव आत्मानम् अनुमन्त्रयते इति ब्राह्मणम्) व्यापक जल का विकाश और वृद्धि, आकाश [के समान व्यापक] पवित्र और उत्तम [ब्रह्म] है - इस [ब्राह्मण

यज्ञकाष्ठं विधानपूर्वकोऽग्निश्च (खानि) इन्द्रियाणि (आतारम्) आ+तॄ संतारणे—घञ्। समन्तात् तारकमुपकारकम् (स्कन्दति) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः। गच्छति (आसर्वमेधात्) आङ् मर्य्यादायाम्। सर्वपदार्थेषु मेधा धारणावती बुद्धिर्यस्मिन् स सर्वमेधो यज्ञः। तस्य समाप्तिपर्य्यन्तम् (क्रतवः) कृञः क्रतुः (उ० १। ७६) करोतेः—क्रतुः। क्रतुः कर्मनाम—निघ० २। १। प्रज्ञानाम निघ० ३। ९। कर्माणि। (एते एते) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० ०। ४२। इति द्वित्वम् (देवेषु) दिव्यपदार्थेषु (भूतेषु) तत्त्वेषु (सत्त्वेषु) जीवेषु (कामचारः) स्वकामेन विचरणम् (कामविमोचनम्) कुकामपरित्यागः (अर्द्धे) ऋधु वृद्धौ—घञ्। खण्डिते जीवने (प्रमीयते) मीङ् प्राणवियोगे = मरणे म्रियते (पुष्पम्) पुष पुष्टौ, क्यप्। विकाशः। विशिष्टप्रकाशः (मूर्तिः) मुर्च्छा मोहवृद्ध्योः—क्तिन्। न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्

वचन] से आचमन करके और मार्जन करके - इन्द्रजीव—अथर्व० १९ । ७० । १ । इस मन्त्र से अपने को मन्त्र के अनुकूल बनाता है, यह ब्राह्मण है ॥ ३९ ॥

भावार्थः--व्रतधारी पुरुष आचमनादि क्रिया से स्वस्थचित्त होकर अपने शिर के सात छिद्रों से सम्बन्ध वाले सात प्राण, सात अपान और सात व्यान वायु को वश में करके अग्नि, वायु आदि इस सप्तक, पौर्णमासी अष्टका आदि इस सप्तक तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि इस सप्तक, और दूसरी पदार्थ विद्याओं से उपकार लेकर संसार की भलाई करता है। अथर्व० १० । २ । ६ में वर्णन है—(कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्) कर्ता प्रजापति ने [प्राणी के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दो नथने, दोनों आंखें और एक मुख । जिनके विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से सन्मार्ग से चलते हैं ।। ३९ ॥

विशेषः १--इस कण्डिका का मिलान अथर्ववेद का० १५ सूक्त १५, १६ और १७ से करो वहाँ मन्त्रों और भाष्य में प्राण, अपान और व्यान तथा अग्नि आदि पदार्थों का सविस्तार वर्णन है ॥

विशेषः २--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ।

१--आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् । तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ अथ० ४ । २ । ८ ऋ० १० । १२१ । ७ । यजु० २७ । २५ । (अग्रे) पहिले ही पहले (वत्सम्) निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को (जनयन्तीः) उत्पन्न करते हुए (आपः) जल-धाराओं [वा तन्मात्राओं ने] (गर्भम्) बालक [रूप संसार] को (समैरयन्) यथावत् प्रकट किया, (उत) और (तस्य) उस (जायमानस्य) उत्पन्न होते हुये [बालक, संसार] का (उल्बः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] (हिरण्ययः) तेजोमय परमात्मा (आसीत्) था, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ [ब्राह्मण के 'गर्भं' के स्थान पर वेद में 'वत्सं' है, दोनों पदों का अर्थ "बालक" है] ॥

२--जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥ उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ २ ॥ संजीवा स्थ सजीव्यासं सर्वमायुर्जी-व्यासम् ॥ ३ ॥ जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ४ ॥ अथ० का० १९ । सू० ६९ । [हे विद्वानों !] तुम (जीवाः) जीने वाले (स्थ) हो, (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥ १ ॥ [हे विद्वानों !] तुम (उपजीवाः) आश्रय से जीने वाले (स्थ) हो, (उपजी-

---

(पा० ८ । २ । ५७) तकारस्य नत्वाभावः । राल्लोपः (पा० ६ । ४ । २१) इति छस्य लोपः । हलि च (पा० ८ । २ ७७) इति उपधायाः दीर्घः । प्रतिमा (अभ्युक्ष्य) मार्जनं कृत्वा (अनुमन्त्रयते) मन्त्रानुकूलं करोति ॥

व्यासम्) मैं सहारे से जीता रहूँ, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥ २ ॥ [हे विद्वानों !] तुम (संजीवाः) मिलकर जीने वाले (स्थ) हो, (संजीव्यासम्) मैं मिलकर जीता रहूँ, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥ ३ ॥ [हे विद्वानों !] तुम (जीवलाः) जीवनदाता (स्थ) हो (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ, (सर्वम्) संपूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥ ४ ॥

३–इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम्। सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१॥ अथ० कां० १९ सू० ७० । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (जीव) तू जीता रहे, (सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य समान तेजस्वी] (जीव) तू जीता रहे, (देवाः) हे विद्वानों ! तुम (जीवाः) जीने वाले [हो], (अहम्) मैं (जीव्यासम्) जीता रहूँ, (सर्वम्) संपूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीस्याजीरावगायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये पूर्वभागे प्रथम-प्रपाठकः समाप्तः।

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे चैत्रमासे शुक्लचतुर्दश्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोन-विंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्——ज्येष्ठकृष्ण १२ संवत् १९८१ वि० ता० ३० मई १९२४ ई० ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

कण्डिका १

ओम् ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे इत्याचार्य्यमाह। तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्तीति वायुमाह स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रमित्यादित्यमाह दीक्षितो दीर्घश्मश्रुरेष दीक्षित एष दीर्घश्मश्रुरेष एवाचार्य्यस्थाने तिष्ठन्नाचार्य्य इति स्तूयते, वैद्युतस्थाने तिष्ठन् वायुरिति स्तूयते, द्यौःस्थाने तिष्ठन्नादित्य इति स्तूयते। तदप्येतदृचोक्तं ब्रह्मचारीष्णन्निति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

कण्डिका १॥ ब्रह्मचारी की महिमा ॥

(ओम् ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति [अथ० ११।५।१ पाद १]—इति आचार्यम् आह) ओम् [रक्षक परमात्मा है], ब्रह्मचारी [वेदपाठी वीर्यनिग्रही पुरुष] सूर्य और पृथिवी दोनों को लगातार खोजता हुआ विचरता है—यह आचार्य को वह [ईश्वर] कहता है (तस्मिन् देवाः सम्मनसः भवन्ति [उक्त मन्त्र पाद २] इति वायुम् आह) उस [ब्रह्मचारी] में देवता [विजय चाहने वाले पुरुष] एकमन

होते हैं--यह पवन [के समान पुरुष] को वह कहता है। (**सः सद्यः पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रम् एति** [अथ० ११।५।६ पाद ३]--**इति आदित्यम् आह**) वह अभी पहिले [समुद्र अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम] से अगले समुद्र [गृहाश्रम] को प्राप्त होता है--यह आदित्य [सूर्य समान ब्रह्मचारी] को वह कहता है। (**दीक्षितः दीर्घश्मश्रुः** [अथ० ११।५।६। पाद २]--**एषः दीक्षितः एषः दीर्घश्मश्रुः, एषः एव आचार्य्यस्थाने तिष्ठन् आचार्यः इति स्तूयते**), वह दीक्षा पाये हुये [नियम व्रत करता हुआ] बड़ी बड़ी डाढ़ी मूंछ वाला है--यह दीक्षा पाये हुये, यह बड़ी बड़ी डाढ़ी मूंछ वाला, यही [ब्रह्मचारी] आचार्य के पद पर ठहरा हुआ, यह आचार्य है--ऐसा स्तुति किया जाता है, (**वैद्युतस्थाने तिष्ठन् वायुः इति स्तूयते**) बिजुली के स्थान [अति वेग] में ठहरा हुआ वह वायु [पवन के समान शीघ्रगामी] है--ऐसा स्तुति किया जाता है. (**द्यौः स्थाने तिष्ठन् आदित्यः इति स्तूयते**) प्रकाश के स्थान [ज्ञान के प्रकाश] में ठहरा हुआ वह आदित्य [सूर्य समान तेजस्वी] है--ऐसा स्तुति किया जाता है। (**तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम् --ब्रह्मचारी इष्णन्** [अथ० ११।५।१ पाद १]--**इति ब्राह्मणम्**) यह भी इस ऋचा करके कहा गया है--ब्रह्मचारी लगातार खोजता हुआ--यह ब्राह्मण है ॥

भावार्थः--ब्रह्मचारी वेदाध्ययन और इन्द्रिय दमनरूप तपोबल से सब सूर्य, पृथिवी आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को जानकर और उनसे उपकार लेकर संसार को सुखी करता है ॥ १ ॥

विशेषः १--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं।

१--ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ अथ० ११।५।१।
(**ब्रह्मचारी**) ब्रह्मचारी [वेदपाठी और वीर्यनिग्रही पुरुष] (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) सूर्य और पृथिवी को (**इष्णन्**) लगातार खोजता हुआ (**चरति**) विचरता है, (**तस्मिन्**) उस [ब्रह्मचारी] में (**देवाः**) विजय चाहने वाले पुरुष (**संमनसः**) एक

१--(ब्रह्मचारी) ब्रह्म+चर गतिभक्षणयोः--णिनिः। ब्रह्मणे वेदाय वीर्यनिग्रहाय च चरणशीलः पुरुषः (इष्णन्) इष आभीक्ष्ण्ये--शतृः। पुनः पुनरन्विच्छन् (चरति) बिचरति। प्रवर्तते (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (आह) ईश्वरो ब्रवीति। (देवाः) विजिगीषवः (सम्मनसः) समानमनस्काः (वायुम्) वायुतुल्यस्वभावयुक्तम् (सद्यः) तत्क्षणम् (पूर्वस्मात्) प्रथमसमुद्ररूपाद् ब्रह्मचर्याश्रमात् (उत्तरम्) अनन्तरम् (समुद्रम्) गृहाश्रमरूपं समुद्रम् (आदित्यम्) सूर्यतुल्यतेजस्विनम् (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः। धृतनियमः (दीर्घश्मश्रुः) लम्बमानमुखस्थलोमा (वैद्युतस्थाने) वायुतुल्यवेगस्थाने (द्यौः स्थाने) द्युस्थाने। ज्ञानप्रकाशपदे (स्तूयते) प्रशस्यते ॥

मन (भवन्ति) होते हैं। (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी (च) और (दिवम्) सूर्य लोक को (दाधार) धारण किया है [उपयोगी बनाया है], (सः) वह (आचार्यम्) आचार्य [साङ्गोपाङ्ग वेदों के पढ़ाने वाले पुरुष] को (तपसा) अपने तप से (पिपर्ति) परिपूर्ण करता है ॥

२—ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ अथ० ११। ५। ६॥ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) [विद्या के] प्रकाश से (समिद्धः) प्रकाशित, (कार्ष्णम्) कृष्ण मृग का चर्म (वसानः) धारण किये हुये (दीक्षितः) दीक्षित होकर [व्रत धारण करके] (दीर्घश्मश्रुः) बड़े बड़े डाढ़ी मूंछ रखाये हुये (एति) चलता है। (सः) वह (सद्यः) अभी (पूर्वस्मात्) पहिले [समुद्र] से [अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से] (उत्तरम् समुद्रम्) अगले समुद्र [गृहाश्रम] को (एति) प्राप्त होता है और (लोकान्) लोगों को (संगृभ्य) संग्रह करके (मुहुः) बारम्बार (आचरिक्रत्) अतिशय करके पुकारता है ॥

विशेषः २—भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः—योगदर्शन, पाद २ सूत्र ३८] ब्रह्मचर्य्य [वेदों के विचार और जितेन्द्रियता] के अभ्यास में वीर्य [वीरता अर्थात् धैर्य और शरीर, इन्द्रिय और मन के निरतिशय सामर्थ्य] का लाभ होता है ॥

विशेषः ३—भगवान् मनु ने आचार्य का लक्षण किया है—[उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यं प्रचक्षते—मनु० अध्याय २ श्लोक १४०] जो द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,] शिष्य का उपनयन करके कल्प [यज्ञ आदि के विधान] और रहस्य [उपनिषद् आदि ब्रह्मविद्या] के साथ वेद पढ़ावे, उसको आचार्य कहते हैं ॥

कण्डिका २ ॥

जायमानो ह वै ब्राह्मणः, सप्तेन्द्रियाण्यभिजायन्ते, ब्रह्मवर्च्चसश्च १, यशश्च २, स्वप्नश्च ३, क्रोधश्च ४, श्लाघाश्च ५, रूपञ्च ६, पुण्यमेव गन्धं सप्तमम् ७ तानि ह वा अस्यैतानि ब्रह्मचर्य्यमुपेतोऽपक्रामन्ति, मृगानस्य ब्रह्मवर्च्चसं १, गच्छत्याचार्य्यं यशो २, ऽजगरं स्वप्नो ३, वराह क्रोधो ४, ऽपः श्लाघा ५, कुमारीं रूप ६, मोषधिवनस्पतीन् पुण्यो गन्धः ७। स यन्मृगाजिनानि वस्ते तेन तद् ब्रह्मवर्च्चसमवरुन्धे, यदस्य मृगेषु भवति स ह स्नातो ब्रह्मवर्च्चसी भवति। स यदहरहराचार्य्याय कर्म करोति तेन तद्यशोऽवरुन्धे यदस्याचार्य्ये भवति स ह स्नातो यशस्वी भवति। स यत्सुषुप्सुर्निद्रान्निनयति तेन तं स्वप्नमवरुन्धे योऽस्याजगरे भवति तं ह स्नातं स्वपन्तमाहुः स्वपितु मैनं बोबुधथेति। स यत् क्रुद्धो वाचा न कञ्चन हिनस्ति पुरुषात् पुरुषात् पापीयानिव मन्यमानस्तेन तं क्रोधमवरुन्धे योऽस्य वराहे भवति तस्य ह स्नातस्य क्रोधाः श्लाघीयसं विशन्ते। अथाद्भिः श्लाघ्यमानो न

स्नायात्तेन तां श्लाघामवरुन्धे, याऽस्याप्सु भवति स ह स्नातः श्लाघीयोऽन्नेभ्यः श्लाघ्यते। अथैतद्ब्रह्मचारिणो रूपं यत्कुमार्य्यास्तान्नग्नान्नोदैक्षतैति वेति मुखं विपरिधापयेत्तेन तद्रूपमवरुन्धे, यदस्य कुमार्य्यां भवति तं ह स्नातं कुमारीमिव निरीक्षन्ते। अथैतद् ब्रह्मचारिणः पुण्यो गन्धो य ओषधिवनस्पतीनां तासां पुण्यं गन्धं प्रच्छिद्य नोपजिघ्रेत्तेन तं पुण्य गन्धमवरुन्धे, योऽस्यौषधिवनस्पतिषु भवति स ह स्नातः पुण्यगन्धिर्भवति ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ ब्रह्मचारी के सात मनोरागों का दमन आदि कर्त्तव्य ॥

(जायमानः ह वै ब्राह्मणः सप्त इन्द्रियाणि अभिजायन्ते [अभिजनयति] ब्रह्मवर्चसं च यशः च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यम् एव गन्धं सप्तमम्) उत्पन्न होता हुआ [उपनयन आदि संस्कार किये हुये] ही ब्राह्मण [ब्रह्मचारी] सात इन्द्रियों [मनोरागों] को वश में करता है, ब्रह्मवर्चस [वेद पढने का तेज] १, यश २ स्वप्न [नींद] ३, क्रोध ४ घमण्ड ५, रूप ६, और सातवें पवित्र गन्ध को भी ७। (तानि ह वै एतानि अस्य ब्रह्मचर्यम् उपेतः अपक्रामन्ति) वे सब ही इस ब्रह्मचर्य पाये हुये के दूर चले जाते हैं, (मृगान् अस्य ब्रह्मवर्चसं गच्छति, आचार्यं यशः, अजगरं स्वप्नः, वराहं क्रोधः, अपः श्लाघा, कुमारीं रूपम्, ओषधि-वनस्पतीन् पुण्यः गन्धः) मृगों [सिंहों वा हरिणों] को इसके वेद पढ़ने का तेज जाता है १, आचार्य को यश २, अजगर [बड़े सांप विशेष] को नींद ३, सूअर को क्रोध ४ जल को घमण्ड ५, कुमारी [कन्या] को रूप [सुन्दरता] ६, और ओषधि वनस्पतियों को पवित्र गन्ध ७। (सः यत् मृगाजिनानि वस्ते तेन तत् ब्रह्मवर्चसम् अवरुन्धे, यत् अस्य मृगेषु भवति, सः ह स्नातः ब्रह्मवर्चसी भवति,) वह जो मृगछालायें पहिरता है उससे उस ब्रह्मतेज को पाता है जो उसका मृगों [सिंहों वा हरिणों] में होता है, वही स्नातक [विद्या में स्नान किया हुआ] ब्रह्मवर्चसी [वेद पढ़ने से तेज वाला] होता है। १। (सः यत् अहरहः आचार्याय कर्म करोति तेन तत् यशः अवरुन्धे यत् अस्य आचार्ये भवति, सः ह स्नातः यशस्वी भवति) वह जो दिन दिन आचार्य

२—(जायमानः) उत्पद्यमानः। उपनयनादिसंस्कारं प्राप्यमाणः (इन्द्रियाणि) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० ५ । २ । ९३) इन्द्र—घप्रत्ययः। इन्द्रियं धननाम—निघ० २ । १० । मनोरागान्। (अभिजायन्ते) अभि जनी प्रादुर्भावे—श्यन्, ज्ञाजनोर्जा (पा० ७ । ३ । ७९) इति धातोः 'जा' आदेशः, आत्मनेपदस्य लटि बहुवचने रूपम्। अभिजनयन्ति। अभिभवति। (ब्रह्मवर्चसम्) वेदाध्ययनतेजः (श्लाघाम्) श्लाघृ कत्थने—अङ्, टाप्। आत्मस्तुतिम्। दम्भम् (रूपम्) सौन्दर्य्यम् (उपेतः) प्रथमा षष्ठ्यर्थे। उपेतस्य। प्राप्तस्य (अपक्रामन्ति) दूरे गच्छन्ति (अजगरम्) बृहत्सर्पविशेषम् (वराहम्) वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्। वर+आ+हन हिंसागत्योः—

के लिये कर्म [वेदाध्ययन और अन्य सेवा] करता है, उससे वह उस यश को पाता है जो उसका आचार्य में होता है, वही स्नातक यशस्वी होता है। २। (सः यत् सुषुप्सुः निद्रां निनयति तेन तं स्वप्नम् अवरुन्धे यः अस्य अजगरे भवति तं ह स्नातं स्वपन्तं आहु.--स्वपितु मा एन बोबुधथ इति) वह जो सोने की इच्छा करता हुआ निद्रा को हटा देता है, उससे उस स्वप्न [निद्रा] को पाता है जो इसका अजगर में होता है, उस ही सोते हुए स्नातक को लोग कहते हैं--यह सोता रहे इसे तुम मत जगाओ ॥ ३ ॥ (सः यत् क्रुद्धः वाचा कञ्चन न हिनस्ति, [यतः] पुरुषात् पुरुषात् पापीयान् इव मन्यमानः, तेन तं क्रोधम् अवरुन्धे, यः अस्य वराहे भवति, तस्य ह स्नातस्य क्रोधाः श्लाघीयसं विशन्ते) वह जो क्रुद्ध होकर वाणी से किसी को नहीं सताता है, [क्योंकि अपने को] पुरुष पुरुष से अधिक पापी के समान वह मानता हुआ है, उससे वह उस क्रोध को पाता है जो इसका सूअर में होता है. उस ही स्नातक के क्रोध अधिक घमण्डी में प्रवेश करते हैं। ४। (अथ अद्भिः श्लाघ्यमानः न स्नायात् तेन ताम् श्लाघाम् अवरुन्धे या अस्य अप्सु भवति, सः ह स्नातः श्लाघीयः अन्नेभ्यः श्लाघ्यते) और वह जल से घमण्ड करता हुआ न स्नान करे, उससे वह उस घमण्ड को पाता है जो इसका जल में होता है वही प्रशंसनीय स्नातक अन्नों के लिये बड़ाई किया जाता है। ५। (अथ एतत् ब्रह्मचारिणो रूपम् यत् कुमार्याः तां नग्नां न उदैक्षत एति वेति मुखं विपरिधापयेत्, तेन तत् रूपम् अवरुन्धे यत् अस्य कुमार्यां भवति, तं ह स्नातं कुमारीम् इव निरीक्षन्ते) और यही ब्रह्मचारी का रूप है जो कुमारी का है, उसको वह नङ्गा न देखे, चलते फिरते मुख ढक लेवे, उससे वह उस रूप को पाता है जो इसका कुमारी में है, उस ही स्नातक को कुमारी के समान [रूपवान्] देखते हैं। ६। (अथ एतत् ब्रह्मचारिणः पुण्यः गन्धः यः ओषधिवनस्पतीनां तासां पुण्यं गन्धं प्रच्छिद्य न उपजिघ्रेत्, तेन तं पुण्यं गन्धम् अवरुन्धे यः अस्य ओषधि-वनस्पतिषु भवति, सः ह स्नातः पुण्यगन्धिः भवति) और यह ब्रह्मचारी का पवित्र गन्ध है जो ओषधि वनस्पतियों का है. उनके पवित्र गन्ध को तोड़कर न सूँघे, उससे वह

डप्रत्ययः। वराहो मेघो भवति......अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। बृहति मूलानि वरं वरं मूलं बृहतीति वा—निरु० ५ । ४ । शूकरम् (अपः) जलम् (कुमारीम्) अनूढां कन्याम् (मृगाजिनानि) हरिणचर्माणि (वस्ते) आच्छादयति (स्नातः) स्नातकः । वेदाध्ययनानन्तरं कृतसमावर्तनाङ्गस्नानः (कर्म) वेदाध्ययनम्। अन्यशुश्रूषां च (सुषुप्सुः) ञिष्वप् शये-सन्. उः प्रत्ययः। शयनेच्छुकः (निनयति) दूरीकरोति (मा बोबुधथ) मा बोधयत (पापीयान्) पापवत्-ईयसुन्। विन्मतोर्लुक् (पा० ५। ३। ६५) मतुपो लुक्। पापितरः (श्लाघीयसम्) श्लाघावत्—ईयसुन्। पूर्ववत् मतुपो लुक्। प्रशंसनीयतरम् (श्लाघ्यमानः) स्तूयमानः (श्लाघीयः) वृद्धाच्छः (पा० ४। २। १०६) श्लाघा--छः। प्रशंसनीयः (एति) गच्छति (वेति) वी गतौ--लट्। चलति (विपरिधापयेत्) आच्छादयेत् (प्रच्छिद्य) प्र+छिदिर् द्वैधीकरणे--ल्यप्। विभिद्य ॥

उस पवित्र गन्ध को पाता है जो इसका ओषधि वनस्पतियों में है, वही स्नातक पवित्र गन्ध वाला होता है ।। २ ।।

भावार्थः—ब्रह्मचारी राग द्वेष आदि दोषों को छोड़ कर वेदाध्ययन करके ब्रह्मवर्चसी होता है ।। २ ।।

कण्डिका ३ ।।

स वा एष उपयंश्चतुर्द्धोपैत्यग्निं पादेनाचार्य्यं पादेन ग्रामं पादेन मृत्युं पादेन, स यदहरहः समिध आहृत्य सायं प्रातरग्निं परिचरेत्तेन तं पादमवरुन्धे, योऽस्याग्नौ भवति । स यदहरहराचार्य्याय कर्म करोति, तेन तं पादमवरुन्धे, योऽस्याचार्य्ये भवति । स यदहरहर्ग्रामं प्रविश्य भिक्षामेव परीप्सति न मैथुनन्तेन तं पादमवरुन्धे, योऽस्य ग्रामे भवति, स यत् क्रुद्धो वाचा न कञ्चन हिनस्ति पुरुषात् पुरुषात् पापीयानिव मन्यमानस्तेनैव तं पादमवरुन्धे, योऽस्य मृत्यौ भवति ।। ३ ।।

कण्डिका ३ ।। ब्रह्मचारी के कर्तव्य, आचार्य की सेवा आदि कर्म ।।

(सः वै एषः उपयन् चतुर्धा उपैति, पादेन अग्निम्--१, पादेन आचार्यम्—२, पादेन ग्रामम् -३, पादेन मृत्युम्—४,) वही यह [ब्रह्मचारी] पास आता हुआ चार प्रकार से सेवता है, चौथाई से अग्नि को—१, चौथाई से आचार्य को—२, चौथाई से ग्राम को—३, और चौथाई से मृत्यु को—४ । (सः यत् अहरहः समिधः आहृत्य सायं प्रातः अग्निं परिचरेत्, तेन तं पादम् अवरुन्धे यः अस्य अग्नौ भवति—१) वह जो समिधायें लाकर साय प्रातः अग्नि को सेवे, उससे वह उस पद को पाता है जो इसका अग्नि में होता है [अर्थात् अग्निहोत्र करने से वह अग्नि समान तेजस्वी होता है] १ । (सः यत् अहरहः आचार्याय कर्म करोति, तेन तं पादम् अवरुन्धे यः अस्य आचार्ये भवति—२) वह जो दिन दिन आचार्य के लिये कर्म करता है, उससे वह उस पद को पाता है जो इसका आचार्य में होता है [अर्थात् आचार्य की सेवा से वह आचार्य के समान प्रतिष्ठा पाता है]—२ । (सः यत् अहरहः ग्रामं प्रविश्य भिक्षाम् एव परीप्सति न मैथुनम्, तेन तं पादम् अवरुन्धे यः अस्य ग्रामे भवति—३) वह जो दिन दिन ग्राम में जाकर भिक्षा ही पाना चाहता है और न मैथुन [स्त्री समागम] उससे वह उस पद को पाता है जो इसका ग्राम में होता है [अर्थात् शुद्ध आचरण रखने से वह ग्राम में प्रतिष्ठा पाता है]—३ । (सः यत् क्रुद्धः वाचा कञ्चन न हिनस्ति [यतः] पुरुषात् पुरुषात् पापीयान् इव मन्यमानः, तेन एव तं पादम् अवरुन्धे यः अस्य मृत्यौ भवति—४) वह जो क्रुद्ध होकर वाणी से किसी को नहीं सताता है, [क्योंकि अपने को] पुरुष पुरुष से अधिक पापी के समान वह मानता हुआ है, उससे वह उस पद को पाता है

३—(उपयन्) समीपे गच्छन् (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण (उपैति) सेवते (पादेन) चतुर्थांशेन (पादम्) पदम् । स्थैर्यम् (परीप्सति) परि+आप्नोतेः-सन् । परितः प्राप्तुमिच्छति (मैथुनम्) मिथुन--अण् । स्त्रीपुरुषसंगमम् ।।

जो इसका मृत्यु में होता है [अर्थात् क्रोध छोड़ने से वह मृत्यु को वश में करता है]—४ ॥ ३ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी नित्य अग्निहोत्र, आचार्य सेवा, भिक्षा से निर्वाह, और सब पर दया करने से संसार में ऐश्वर्यवान् होता है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ ॥

पञ्च ह वा एते ब्रह्मचारिण्यग्नयो धीयन्ते, द्वौ पृथग्घस्तयोर्मुखे हृदय उपस्थ एव पञ्चमः । स यद्दक्षिणेन पाणिना स्त्रियन्न स्पृशति तेनाहरहर्याजिनां लोकमवरुन्धे, यत्सव्येन तेन प्रव्राजिनां, यन्मुखेन तेनाग्निप्रस्कन्दिनां, यद्धृदयेन तेन शूराणां, यदुपस्थेन तेन गृहमेधिनां, तंश्चेत् स्त्रियं पराहरत्यनग्निरिव शिष्यते । स यदहरहराचार्य्याय कुलेऽनुतिष्ठते सोऽनुष्ठाय ब्रूयाद्धर्मगुप्तो मा गोपायेति धर्मो हैनं गुप्तो गोपायति,[1] तस्य ह प्रजाः श्वः श्वः श्रेयसी श्रेयसी ह भवति । धाय्यैव प्रतिधीयते, स्वर्गे लोके पितॄन्निदधाति, तान्तवं न वसीत, यस्तान्तवं वस्ते क्षत्रं वर्द्धते न ब्रह्म तस्मात्तान्तवं न वसीत, ब्रह्म वर्द्धतां मा क्षत्रमिति, नोपर्य्यासीत यदुपर्य्यास्ते प्राणमेव तदात्मनोऽवरं कुरुते यद्वातो वहति, अध एवासीत, अधः शयीत, अधस्तिष्ठेदधो व्रजेदेवं ह स्म वैतत् पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मचर्य्यञ्चरन्ति तं ह स्म तत् पुत्रं भ्रातरं वोपतापिनमाहुरुपनयेतैनमित्यासमिद्धारात् स्वरेष्यन्तोऽन्नमद्यादथाह जघनमाहुः, स्नापयेतैनमित्यासमिद्धारान्नह्येतानि व्रतानि भवन्ति, तं चेच्छयानमाचार्य्योऽभिवदेत्, स प्रतिसंहाय प्रतिशृणुयात्तं चेच्छयामसुत्थाय तञ्चेदुत्थितमभिप्रक्रम्य तं चेदभिप्रक्रान्तमभिपलायमानमेवं ह स्म वैतत् पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तेषां ह स्म वैषा पुण्या कीर्त्तिर्गच्छत्याह वा अयं सोऽद्य गमिष्यतीति ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ ब्रह्मचारी का अपने पांच अग्नियों का वशीकरण और दूसरा विनीत कर्तव्य ।

(पञ्च ह वै एते अग्नयः ब्रह्मचारिणि धीयन्ते, द्वौ पृथक्हस्तयोः—१, २, मुखे—३, हृदये—४, उपस्थे एव पञ्चमः—५) यही पांच अग्नियां [उत्तेजक व्यवहार] ब्रह्मचारी में धरे होते हैं, दो अलग अलग दोनों हाथों में—१, २, मुख में—३, हृदय में—४, और उपस्थ में ही पांचवां है—५ । (सः यत् दक्षिणेन पाणिना स्त्रियं न स्पृशति तेन याजिनां लोकम् अहरहः अवरुन्धे—१) वह जो दाहिने हाथ से स्त्री को नहीं छूता, उससे वह सत्कर्मियों के लोक को दिन दिन पाता है—१ । (यत् सव्येन तेन प्रव्राजिनाम्—२) वह जो बांये हाथ से [स्त्री को नहीं छूता], उससे वह संन्यासियों के [लोक को दिन दिन पाता है]—२ । (यत् मुखेन तेन अग्निप्रस्कन्दिनाम्—३)

४—(धीयन्ते) ध्रियन्ते (याजिनाम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—णिनिः । सत्कर्मिणाम् (लोकम्) स्थानम् (प्रव्राजिनाम्) प्र+व्रज गतौ—णिनिः ।

---

१. पू० सं० 'गोपायेति' इति पाठः, स चाशुद्धः ॥ सम्पा० ॥

वह जो मुख से [स्त्री को नहीं छूता], उससे वह अग्नि को प्राप्त होने वालों के [अर्थात् अग्निहोत्रादि विद्या जानने वालों के लोक को दिन दिन पाता है]—३ । (यत् हृदयेन तेन शूराणाम्—४) वह जो हृदय से [स्त्री को नहीं छूता], उससे वह शूरों के [लोक को दिन दिन पाता है]— । (यत् उपस्थेन तेन गृहमेधिनाम्—५) वह जो उपस्थ इन्द्रिय से [स्त्री को नहीं छूता], उससे वह गृहस्थों के [लोक को दिन दिन पाता है]—५ । (तैः चेत् स्त्रियं पराहरति अनग्निः इव शिष्यते ।) उन [कर्मों] से जो स्त्री को वह त्यागता है, अनग्नि [आहवनीय गार्हपत्य और दाक्षिणात्य यज्ञ की अग्नियों को छोड़े हुये संन्यासी] के समान वह उपदेश किया जाता है । (सः यत् अहरहः आचार्याय कुले अनुतिष्ठते, सो अनुष्ठाय ब्रूयात्—धर्मगुप्तः मा गोपाय इति, गुप्तः धर्मः ह एनं गोपायति) वह जो दिन दिन आचार्य के लिये गुरुकुल में कर्म करता है, वह कर्म करके कहे—धर्म से रक्षा किया गया तू मुझे बचा, रक्षा किया गया धर्म ही इस [पुरुष] को बचाता है, (तस्य ह प्रजा श्वः श्वः श्रेयसी श्रेयसी ह भवति, धाय्या एव प्रतिधीयते, स्वर्गे लोके पितॄन् निदधाति) उसकी संतान कल कल [अगले अगले दिन] धार्मिक धार्मिक ही होती है, धाय्या [होम में अग्नि प्रज्वलित करने का सामिधेनी मन्त्र] ही रक्खा जाता है और वह स्वर्गलोक में पितरों [पालने वाले विद्वानों] को धरता है । (तान्तवं न वसीत, यः तान्तवं वस्ते क्षत्रं वर्धते न ब्रह्म, तस्मात् तान्तवं न वसीत, ब्रह्म वर्धतां मा क्षत्रम् इति) वह [ब्रह्मचारी] सूत का वस्त्र न पहिरे जो सूत का वस्त्र पहिरता है क्षत्रियत्व को बढ़ाता है न वेदज्ञान को, इसलिये सूत का वस्त्र न पहिरे, [जिससे] वेदज्ञान बढ़े न क्षत्रियत्व । (उपरि न आसीत, यत् उपरि आस्ते तत् आत्मनः प्राणम् एव अधरं कुरुते यत् वातः वहति) वह ऊपर न बैठे, जब ऊपर बैठता है तब अपने प्राणवायु को नीचा करता है जिसको पवन चलाता है । (अधः एव आसीत, अधः शयीत, अधः तिष्ठेत्, अधः व्रजेत्) वह नीचे बैठे, नीचे सोवे, नीचे खड़ा हो, नीचे चले, (एवं ह स्म वै तत् ब्रह्मचर्य्यं पूर्वे ब्राह्मणाः चरन्ति, तं ह स्म तत् पुत्रं भ्रातरं वा उपतापिनम् आहुः) इस प्रकार से निश्चय

परिव्राजकानाम् । संन्यासिनाम् (अग्निप्रस्कन्दिनाम्) अग्नि + प्र + स्कन्दिर् गतिशोषणयोः-णिनिः । अग्निप्रापकानाम् । अग्निहोतॄणाम् (गृहमेधिनाम्) गृह + मिधृ मेधाहिंसनयोः संगमे च—णिनिः । गृहान् गृहव्यवहारान् मेधन्ति निश्चयेन जानन्ति ते गृहमेधिनः । गृहस्थानाम् (पराहरति) त्यजति (अनग्निः) नास्ति अग्निर्यस्य । अग्निहोत्रादिकर्मशून्यः । संन्यासी—यथा मनुः ६ । ३८, ४३ (शिष्यते) शासु अनुशासने-कर्मणि लट् । अनुशासने क्रियते । उपदिश्यते । (कुले) गुरुकुले । ब्रह्मचारिणां गृहे (धर्मगुप्तः) धर्मेण रक्षितः (गोपायति) रक्षति (धाय्या) पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या० (पा० ३ । १ । १२९) दधातेः—ण्यत् । आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् । धीयते अनया समिदिति धाय्या । सामिधेनीनां मध्ये ऋग्विशेषः । अग्निप्रज्वालनमन्त्रः । (प्रतिधीयते) निश्चयेन स्थाप्यते (तान्तवम्) तन्तु-अण् । सूत्रेण सिद्धं वस्त्रम् (उपतापिनम्)

करके उस ब्रह्मचर्य्य को पहिले ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] करते थे, उस पुरुष को ही और उसके पुत्र और भाई को प्रतापी कहते हैं [अर्थात् पूरा कुटुम्ब ब्रह्मचारी सहित ऐश्वर्यवान् होता है] । (उपनयेत एनम् इति) वह [आचार्य] इस [ब्रह्मचारी] का उपनयन संस्कार करावे । (आसमिद्धारात् स्वरेष्यन्तः अन्नम् अद्यात् अथ अह जघनम् आहुः) समिधाओं [हवन के लिये काष्ठ] लाने से निवृत्त होकर सुख चाहने वाला वह [ब्रह्मचारी] अन्न खावे फिर प्रसन्न होकर [उसको] गतिशील [पुरुषार्थी] कहते हैं । (स्नापयेत एनम् इति) वह इस [ब्रह्मचारी] को [विद्या में] स्नान करावे । (आसमिद्धारात् न हि एतानि व्रतानि भवन्ति) [केवल] समिधा लाने से निवृत्त होकर ही यह व्रत नहीं होते हैं । (तं चेत् शयानम् आचार्यः अभिवदेत्, सः प्रतिसंहाय प्रतिशृणुयात्) उस सोते हुए को जो आचार्य बुलावे, वह सामने जाकर आदर से सुने, (तं शयानं चेत् उत्थाय) उस सोते हुए को जो [वह बुलावे], उठकर [वह आदर से सुने], (तम् उपस्थितं चेत् अभिक्रम्य) उस उठे हुए को जो [वह बुलावे] परिक्रमा करके [वह आदर से सुने], (चेत् तम् अभिक्रान्तम् अभिपलायमानम्) जो उस परिक्रमा करते हुये, भागते हुये को [वह बुलावे, वैसा ही व्यवहार ब्रह्मचारी करे] । (एवं ह स्म वै तत् ब्रह्मचर्य्यम् पूर्वे ब्राह्मणाः चरन्ति तेषां ह स्म वा एषा पुण्या कीर्तिः गच्छति, आह, वै अयं सो अद्य गमिष्यति इति) ऐसे ही निश्चय करके इस ब्रह्मचर्य को पहिले ब्राह्मण करते थे, उनकी ही निश्चय करके यह पुण्य कीर्ति चली आती है, ऐसा यह कहता है, [वैसा ही] निश्चय करके यह [ब्रह्मचारी] भी आज चलेगा ॥ ४ ॥

भावार्थः—जो ब्रह्मचारी विनय पूर्वक आचार्य से विद्या ग्रहण करते हैं वे कीर्ति पाते हैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५ ॥

जनमेजयो ह वै पारीक्षितो मृगयाञ्चरिष्यन् हंसाभ्यामशिक्षदुपावतस्थ इति, तावूचतुर्जनमेजयं पारीक्षितमभ्याजगाम, स होवाच नमो वां भगवन्तौ, को नु भगवन्ताविति, तावूचतुर्दक्षिणाग्निश्चाहवनीयश्चेति, स होवाच नमो वां भगवन्तौ, तदाकीयतामिति होपाराममित्यपि किल देवा न रमन्ते न हि देवा न रमन्तेऽपि चैकोपारामाद्देवा आराममुपसंक्रामन्तीति स होवाच नमो वां भगवन्तौ, किं पुण्य-

---

प्रतापिनम् (उपनयेत) उपनयनेन संस्कुर्यात् (आसमिद्धारात्) समिध्+हरतेः—घञ् । समिधां होमकाष्ठानामानयनान्निवृत्तो भूत्वा (स्वरेष्यन्तः) स्वः–एष्यन्तः । जॄविशिभ्यां झच् (उ० ३ । १२६) स्वः+इष इच्छायाम्–झच्, आर्षो यकारः । सुखेच्छुकः (जघनम्) हन्तेः शरीरावयवे द्वे च (उ० ५ । ३२) हन हिंसागत्योः—अच् । गतिशीलम् (स्नापयेत्) विद्यया स्नानं कारयेत् (अभिवदेत्) आवाहनं कुर्यात् (प्रतिसंहाय) प्रति+सम्+ओहाङ् गतौ—ल्यप् । प्रत्यक्षं संगत्य । (प्रतिशृणुयात्) प्रतीत्या श्रवणं कुर्यात् । (अभिप्रक्रम्य) परिक्रमेण दक्षिणीकरणेन प्राप्य ॥

मिति ब्रह्मचर्य्यमिति किं लौक्यमिति ब्रह्मचर्य्यमेवेति, तत् को वेद इति, दन्तावलो धौम्रोऽथ खलु दन्तावलो धौम्रो यावति तावति काले पारीक्षितं जनमेजयमभ्याजगाम, तस्मा उत्थाय स्वयमेव विष्टरं निदधौ, तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भो किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्य्यमिति, किं लौक्यमिति ब्रह्मचर्य्यमेवेति, तस्मा एतत् प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्य्यं, तच्चतुर्द्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्य्यं द्वादशवर्षाण्यवरार्द्धमपि स्नातंश्चरेद्यथाशक्त्यपरम्। तस्मा उहस्यृषभौ सहस्रन्ददावप्यपि कीर्त्तितमाचार्य्यो ब्रह्मचारीत्येक आहुराकाशमधिदैवतमथाध्यात्मं ब्राह्मणो व्रतवांश्चरणवान् ब्रह्मचारी ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ जनमेजय का दो हंसों और दन्तावल से ब्रह्मचर्य की महिमा और अड़तालीस वर्ष आदि समय पर वार्तालाप ॥

(जनमेजयः ह वै पारीक्षितः मृगयां चरिष्यन् हंसाभ्याम् अशिक्षत् उपावतस्थे इति) जनमेजय [शत्रुओं का कंपाने वाला] ही परीक्षित् के पुत्र ने आखेट को जाते हुये दो हंसों से शिक्षा पाई और ठहर गया। (तौ जनमेजयं पारीक्षितम् ऊचतुः) वे दोनों जनमेजय परीक्षित् के पुत्र से बोले [उसे बुलाया], (अभ्याजगाम) वह पास आया। (सः ह उवाच—नमः वां भगवन्तौ, कौ नु भगवन्तौ इति) वह बोला—हे भगवन्! तुम दोनों को नमस्कार, हे भगवन् आप दोनों कौन हैं। (तौ ऊचतुः—दक्षिणाग्निः च आहवनीयः च इति) वे दोनों बोले—हम दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हैं। (सः ह उवाच—नमः वां भगवन्तौ, तत् आकीयताम् ह उपारामम् इति इति) वह बोला—हे भगवन्! तुम दोनों को नमस्कार, सो [आप का] उपवन जाना जावे। (अपि किल देवाः न रमन्ते, नहि देवाः न रमन्ते, अपि च एकोपारामात् आरामं देवाः उपसंक्रामन्ति इति) [हंस बोले] यह प्रसिद्ध है—देवता नहीं क्रीड़ा करते हैं, सो यह बात नहीं है कि देवता नहीं क्रीड़ा करते हैं, किन्तु एक उपवन से दूसरे उपवन को देवता चले जाते हैं। (सः ह उवाच—नमः वां भगवन्तौ किं पुण्यम् इति) वह फिर बोला—हे भगवन्! तुम दोनों को नमस्कार, पुण्य [पवित्र धर्म] क्या है। (ब्रह्मचर्य्यम् इति) [वे दोनों बोले] ब्रह्मचर्य्य है। (किं लौक्यम् इति)

५—(जनमेजयः) जनान् पामरान् शत्रून् एजयति कम्पयतीति। एजेः खश् (पा० ३। २। २८) एजृ कम्पने—णिच्—खश्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (पा० ६। ३। ६७) इति मुम्। राजर्षिविशेषः। (पारीक्षितः) परीक्षितपुत्रः (अशिक्षत्) शिक्ष विद्योपादाने च—लङ्। शिक्षां प्राप्तवान् (आकीयताम्) आ+कि ज्ञाने—कर्मणि लोट्। ज्ञायताम् (उपारामम्) प्रथमार्थे द्वितीया। उपारामः। उपवनम्। (किल) प्रसिद्धौ (लौक्यम्) लोक—ष्यञ् स्वार्थे। दर्शनीयम्। विचारणीयम्। (वेद) वेत्ता (दन्तावलः) दन्तशिखात् संज्ञायाम् (पा० ५। २। ११३) दन्त—वलच् मत्वर्थे। वले (पा० ६। ३। ११८) पूर्वस्य दीर्घः। बृहद्दन्तवान्। ऋषिविशेषः (धौम्रः) धूम्र—अण्। कृष्णलोहितवर्णवान्। धूम्रस्य ऋषिविशेषस्य शिष्यः (खलु) प्रसिद्धौ (अधीहि)

[वह बोला] लौक्य [देखने वा विचारने योग्य] क्या है। (ब्रह्मचर्य्यम् एव इति) [वे दोनों बोले] ब्रह्मचर्य्य ही है। (तत् कः वेद इति) [वह बोला] उसका कौन जानने वाला है। (दन्तावलः धौम्रः) [वे दोनों बोले] दन्तावल [बड़े बड़े दांतों वाला, ऋषि विशेष] धौम्र [धूयें का सा वर्ण वाला अथवा धूम्र ऋषि का शिष्य] है। (अथ खलु दन्तावलः धौम्रः यावति तावति काले पारीक्षितं जनमेजयम् अभ्याजगाम) फिर प्रसिद्ध है कि दन्तावल धौम्र किसी ही काल में परीक्षित् के पुत्र जनमेजय के पास आ गया। (तस्मै उत्थाय स्वयम् एव विष्टरं निदधौ) उसको उठकर अपना ही बिस्तर उसने दिया। (तम् उपसंगृह्य पप्रच्छ अधीहि भोः किं पुण्यम् इति) और उससे आदर के साथ मिलकर पूछा—महाराज ! बताओ पुण्य क्या है। (ब्रह्मचर्य्यम् इति) [दन्तावल बोला] ब्रह्मचर्य है। (किं लौक्यम् इति) [जनमेजय बोला] लौक्य [देखने वा विचारने योग्य] क्या है। (ब्रह्मचर्य्यम् एव इति) [दन्तावल बोला] ब्रह्मचर्य्य ही है। (तस्मै एतत् प्रोवाच) और उससे यह भी वह बोला—(अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्य्यम्, तत् वेदेषु व्यूह्य चतुर्धा द्वादशवर्षाणि अवरार्द्धं ब्रह्मचर्य्यम्, अपरम् अपि यथाशक्ति स्तायन् चरेत्) अड़तालीस वर्ष वाला सब वेदों के लिये ब्रह्मचर्य्य है, वह वेदों [चार वेदों] में बँट कर चार बार बारह बारह वर्ष वाला है, बारह वर्ष अति न्यून भाग वाला ब्रह्मचर्य है, दूसरे [शेष ब्रह्मचर्य्य] को यथाशक्ति घेरता हुआ करे। (तस्मै उहसि ऋषभौ सहस्रं ददौ) उसको [जनमेजय ने] विज्ञान विषय में दो बैल और सहस्र [मुद्रा] दान किये। (अपि अपि कीर्तितम्—आचार्यः ब्रह्मचारी इति एके आहुः, आकाशम्, अधिदैवतम्, अथ अध्यात्मम्, ब्राह्मणः व्रतवान् चरणवान् ब्रह्मचारी) यह भी अति प्रसिद्ध है—आचार्य ब्रह्मचारी होता है [अथ० ११ । ५ । १६] इसके विषय में कोई कोई कहते हैं, आकाश [आकाश समान व्यापक] सबसे बड़े परमात्मा का विषय है, किन्तु आत्मतत्त्व [का विषय] है—ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] ब्रह्मचर्य आदि व्रत वाला और सुन्दर आचरण वाला ब्रह्मचारी होता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्य उपनयन संस्कार वा वेदारम्भ संस्कार से ब्रह्मचर्य्य के साथ वेदों को क्रिया सहित अड़तालीस वर्ष में पढ़े और न्यून से न्यून बारह वर्ष में एक ही वेद पढ़े और आगे यथाशक्ति पढ़ता रहे ॥ ५ ॥

विशेषः—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है—

णिजर्थे। अध्यापय (चतुर्धा) चतुःप्रकारेण (व्यूह्य) वि+ऊह वितर्के-ल्यप्। विभज्य (द्वादशवर्षम्) द्वादशद्वादशवर्षोपेतम् (अवरार्द्धम्) अ+वृञ् वरणे-अप्+ऋधु वृद्धौ-घञ्। अवरेण अवरणीयेन अतिन्यूनेन अर्धेन भागेन युक्तम् (स्तायन्) ष्टै वेष्टने—शतृः। वेष्टमानः (चरेत्) कुर्यात् (अपरम्) भिन्नम्। शेषभागम् (उहसि) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च (उ० ४। १९४) ऊह वितर्के—असुन् कित्, आर्षो ह्रस्वः। विज्ञानविषये (ऋषभौ) वृषभौ (कीर्तितम्) कॄत संशब्दने—क्तः। कथितम्। ख्यातम् (चरणवान्) सदाचारी ॥

१—आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी—अथ० ११।५।१६। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आचार्यः) आचार्य और (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [ही] (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक मनुष्य, होता है] और (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक होकर] (वि) विविध प्रकार (राजति) राज्य करता है, (विराट्) विराट् [बड़ा राजा] (वशी) वश में करने वाला [शासक], (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला] (अभवत्) हुआ है॥

कण्डिका ६॥

ब्रह्म ह वै प्रजाः मृत्यवे सम्प्रयच्छत्, ब्रह्मचारिणमेव न सम्प्रददौ, स होवाचास्यामस्मिन्निति किमिति यां रात्रीं समिधमनाहृत्य वसेत्तामायुषोऽवरुन्धीयेति, तस्माद् ब्रह्मचार्य्यहरहः समिध आहृत्य सायं प्रातरग्निं परिचरेत्, नोपर्य्युपसादयेत्, अथ प्रतिष्ठापयेत् यदुपर्य्युपसादयेज्जीमूतवर्षी तदहः, पर्ज्जन्यो भवति, ते देवा अब्रुवन् ब्राह्मणो वा अयं ब्रह्मचर्य्यश्चरिष्यति ब्रूतास्मै भिक्षा इति, गृहपतिर्ब्रूत बहुचारी गृहपत्न्या इति किमस्या वृञ्जीतादददत्या इति, इष्टापूर्त्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति, तस्मात् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां दद्याद्गृहिणी मामेये[1]मिष्टापूर्त्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति। सप्तमीं नातिनयेत्सप्तमीमतिनयन्न ब्रह्मचारी भवति, समिद्भैक्षे सप्तरात्रमचरितवान् ब्रह्मचारी पुनरुपनेयो भवति॥६॥

कण्डिका ६॥ ब्रह्म ने ब्रह्मचारी को और उसे भिक्षा देने वाले गृहपति को छोड़ कर सब प्रजाओं को मृत्यु को दिया॥

(ब्रह्म ह वै प्रजाः मृत्यवे सम्प्रयच्छत्, ब्रह्मचारिणम् एव न सम्प्रददौ) ब्रह्म ने निश्चय करके सब प्रजाओं [उत्पन्न पदार्थों को] मृत्यु को सौंप दिया, ब्रह्मचारी को ही न सौंपा। (सः ह उवाच अस्याम् अस्मिन् इति किम् इति, यां रात्रीं समिधम् अनाहृत्य वसेत् ताम् आयुषः अवरुन्धीय इति) वह [मृत्यु] बोला—इस [नीति] में और इस [कर्म] में क्या है, जिस रात्रि को समिधा न लाकर वह [ब्रह्मचारी] बसे, उस [रात्रि] को उसका जीवन मैं नष्ट करूं। (तस्मात् ब्रह्मचारी अहरहः समिधः आहृत्य सायं प्रातः अग्निं परिचरेत्) इस लिये ब्रह्मचारी समिधायें लाकर सायंकाल और प्रातःकाल अग्नि को सेवे। (न उपरि उपसादयेत्, अथ प्रतिष्ठापयेत्) वह [समिधाओं को] ऊपर न गिरावे, और संभाल कर धरे। (यत् उपरि उपसादयेत्, तत् अहः जीमूतवर्षी पर्ज्जन्यः भवति) जो वह ऊपर से गिरावे,

६—(सम्प्रयच्छत्) सम्प्रायच्छत्। समर्पितवान् (अस्याम्) वर्तमानायां नीतौ (अस्मिन्) प्रवृत्ते कर्मणि (आयुषः) जीवनस्य (अवरुन्धीय) अहं निरोधं नाशं कुर्वीय (उपसादयेत्) प्रस्थापयेत् (जीमूतवर्षी) जेर्मूट् चोदात्तः (उ० ३। ९१) जि जये—

१. 'गृहिणीम् आमेयुः' इति पू० सं० भ्रष्टः पाठः॥ सम्पा०॥

उस दिन जल बरसाने वाला मेघ हो जावे । (ते देवाः अब्रुवन् अयम् ब्राह्मणः वै ब्रह्मचर्य्यं चरिष्यति, अस्मै भिक्षाः ब्रूत इति) देवता [विद्वान् ब्रह्म से] बोले—यह ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्य करेगा, इसको भिक्षायें [भिक्षा विधान] बताओ । (ब्रूत गृहपतिः बहुचारी इति, अस्याः अददत्याः गृहपत्न्याः किम् वृञ्जीत इति) [ब्रह्म बोला]—कहो—गृहपति बहुत कर्म करने वाला है । [वह भिक्षा देगा], [देवता बोले]—इस न देने वाली गृहपत्नी का क्या नष्ट होवे । (इष्टापूर्तसुकृतद्रविणम् अवरुन्ध्यात् इति) [ब्रह्म बोला] इष्टापूर्त्त [यज्ञ, वेदाध्ययन, तथा अन्नदानादि], पुण्य कर्म और धन [उसका] नष्ट हो जावे, (तस्मात् ब्रह्मचारिणे अहरहः भिक्षां दद्यात् इयं गृहिणी मा मा इष्टापूर्तसुकृतद्रविणम् अवरुन्ध्यात् इति) इसलिये ब्रह्मचारी को वह दिन दिन भिक्षा देवे, और यह गृहपत्नी इष्टापूर्त्त [यज्ञ, वेदाध्ययन, तथा अन्नदानादि], पुण्यकर्म और धन कभी भी नष्ट न करे । (सप्तमीं न अतिनयेत्, सप्तमीम् अतिनयन् ब्रह्मचारी न भवति) सप्तमी [रात्रि] को न त्यागे, सप्तमी को त्यागता हुआ ब्रह्मचारी नहीं होता है, (समिद्भैक्षे सप्तरात्रम् अचरितवान् ब्रह्मचारी पुनः उपनेयः भवति) समिधा और भिक्षा को सात रात्रि न करने वाला ब्रह्मचारी फिर उपनयन योग्य होता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी कष्ट उठाकर ब्रह्मचर्य का पालन करे और गृहपति उसको भिक्षा दान करता रहे, उससे वे दोनों दीर्घजीवी और पुण्यात्मा होवें ॥ ६ ॥

कण्डिका ७ ॥

नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्त्तनो न सरणो न निष्ठीवेत् यदुपरिशायी भवत्यभीक्ष्णं निवासा जायन्ते, यद् गायनो भवत्यभीक्ष्णश आक्रन्दान्धावन्ते, यन्नर्त्तनो भवत्यभीक्ष्णशः प्रेतान्निर्हरन्ते, यत्सरणो भवत्यभीक्ष्णशः प्रजाः संविशन्ते, यन्निष्ठीवति मध्य एव तदात्मनो निष्ठीवति, स चेन्निष्ठीवेद्दिवो नु मां यदत्रापि मधोरहं यदत्रापि रसस्य म इत्यात्मानमनुमन्त्रयते । यदत्रापि मधोरहं निरिष्टविषमसृतम् । अग्निश्च तत्सविता च पुनर्मे जठरे धत्ताम् । यदत्रापि रसस्य मे परापपातास्म तम् । तदिहोपह्वयामहे तन्म आप्यायतां पुनरिति । न श्मशानमातिष्ठेत्, स चेदभितिष्ठेदुदकं हस्ते कृत्वा यदीदमृतुकाम्येत्यभिमन्त्र्य जपन् सम्प्रोक्ष्य परिक्रामेत् समयायोपरि व्रजेत् यदीदमृतुकाम्याघं रिप्रमुपेयिम अन्धः

क्तः मूडागमश्च + वृषु सेचने—णिनिः । जीमूतस्य मेघजलस्य वर्षकः (पर्जन्यः) पर्जन्यः (उ० ३ । १०३) पृषु सेचने—अन्यप्रत्ययः, षस्य जः निपातनात् । सेचकः । मेघः (ब्रूत) आदराय बहुवचनम् । ब्रूहि । कथय (बहुचारी) बहुकर्मा (वृञ्जीत) वृजो वृजि वर्जने—विधिलिङ् । वर्जयेत् (अददत्याः) ददातेः—शतृः । दानम् अकुर्वत्याः (इष्टापूर्तम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, इषु वाञ्छायाम् वा—क्तः, पूर्वपददीर्घः । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म (द्रविणम्) धनम् (अवरुन्ध्यात्) नश्येत् (उपनेयः) उप + णीञ् प्रापणे—यत् । उपनयनयोग्यः ॥

श्लोण इव हीयताम्। मा नोऽन्वागादघं यत इति। अथ हैतद्देवानां परिषूतं यद् ब्रह्मचारी। तदप्येतदृचोक्तम्। देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानं तस्मिन् सर्वे पशवस्तत्र यज्ञास्तस्मिन्नन्नं सह देवताभिरिति ब्राह्मणम्॥ ७॥

कण्डिका ७॥ ब्रह्मचारी के दोषों का प्रायश्चित्त विधान॥

(न उपरिशायी स्यात् न गायनः न नर्त्तनः न सरणः न निष्ठीवेत्) वह [ब्रह्मचारी] ऊपर [खाट आदि पर] न सुवैया होवे १, न गवैया २, न नचकैया ३, न घुमक्कड़ ४, और न थूके ५। (यत् उपरिशायी भवति अभीक्ष्णं निवासाः जायन्ते) जो वह ऊपर सुवैया होता है बारम्बार [उसके] घर [जन्म] होते हैं १। (यत् गायनः भवति अभीक्ष्णशः आक्रन्दान् धावन्ते) जो वह गवैया होता है बारंबार विलापों को पाता है २। (यत् नर्त्तनो भवति अभीक्ष्णशः प्रेतान् निर्हरन्ते) जो वह नचकैया होता है बारबार प्रेतों [मृतकों] को ले जाता है ३। (यत् सरणः भवति अभीक्ष्णशः प्रजाः संविशन्ते) जो वह घुमक्कड़ होता है, बारंबार लोगों में घुसता रहता है—४। (यत् निष्ठीवति तत् आत्मनः मध्ये एव निष्ठीवति) जो वह थूकता है वह अपने भीतर ही थूकता है [मन को मलीन करता है], (स चेत् निष्ठीवेत् दिवः नु मां—यत् अत्र अपि—मधोः अहं, यत् अत्र अपि—रसस्य मे—इति आत्मानम् अनुमन्त्रयते) जो वह थूके—दिवो नु मां···(अथ० ६। १२४। १)—इस मन्त्र से, जो इस पर भी [वह थूके]—मधोरहं···इस ब्राह्मण वचन से, जो इस पर भी [थूके]—रसस्य मे···इस ब्राह्मण वचन से अपने को मन्त्र के अनुकूल करे। (यत् अत्रापि—मधोरहं···, निरिष्ट—विषमस्मृतम्···, अग्निश्च तत् सविता च पुनर्मे जठरे धत्ताम्···) जो इस पर भी [वह थूके]—मधोरहं···१, निरिष्टं विषमस्मृतम्··· २, अग्निश्च तत् सविता च पुनर्मे जठरे धत्ताम्·· [इन तीन ब्राह्मण वचनों से अपने को मन्त्र के अनुकूल करे]। (यत् अत्रापि—रसस्य मे···परापपातास्म तं···तदिहोपह्वयामहे···तन्म आप्यायतां पुनः—इति) जो इस पर भी [वह थूके]—रसस्य मे···१, परापपातास्म तं···२, तदिहोपह्वयामहे···३, तन्म आप्यायतां पुनः···४, [इन चार ब्राह्मण वचनों से वह अपने को मन्त्र के अनुकूल करे], ५। (श्मशानम् न आतिष्ठेत्) वह मरघट में न ठहरे, ६। (सः चेत् अभितिष्ठेत् उदकं हस्ते कृत्वा—यदीदमृतुकाम्या···इति अभिमन्त्र्य जपन् सम्प्रोक्ष्य परिक्रमेत्, समयाय उपरि व्रजेत्—

७—(शायी) शीङ् शयने—णिनिः। शयनशीलः। (गायनः) गै गाने—ल्युः। गानोपजीवी (नर्तनः) नर्तकः। नटः (सरणः) सरणशीलः। गमनशीलः (निष्ठीवेत्) नि+ष्ठिवु निरासे। मुखेन श्लेष्मादिवमनं कुर्यात्। (अभीक्ष्णम्, अभीक्ष्णशः) वारंवारम् (निवासाः) गृहाणि (आक्रन्दान्) रोदनकर्माणि (धावन्ते) गच्छति। प्राप्नोति (प्रेतान्) मृतान् (संविशन्ते) सम्यक् प्रविशति (श्मशानम्) श्म मन्+शानम्। शीङ् स्वप्ने—मनिन् डिच्च। श्मानः शवाः शेरते यत्र। शीङ्—शानच्, डिच्च। श्मशानं श्म शयनं श्म शरीरम्—निरु० ३।५।

यदीदमृतुकाम्या…१, अघं रिप्रमुपेयिम अन्धः श्लोण इव हीयतां…२, मा नोऽन्वागादघं यतः—इति) जो वह [मरघट में] ठहरे, जल हाथ में करके—यदीदमृतुकाम्या …इस [ब्राह्मण वचन] को पढ़ करके जप करता हुआ मार्जन करके घूमे और समय [आचार] के लिए ऊपर जावे, यदीदमृतुकाम्या…१, अघं रिप्रमुपेयिम अन्धः श्लोण इव हीयताम्…२, मा नोऽन्वागादघं यतः…इति ३, [इन तीन ब्राह्मण वचनों से वह अपने को मन्त्र के अनुकूल करे] ६। (अथ ह एतत् देवानां परिषूतं यत् ब्रह्मचारी) और भी यह दिव्य लोकों का चलाने वाला है जो ब्रह्मचारी है।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्—देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानं, तस्मिन् सर्वे पशवस्तत्र यज्ञास्तस्मिन्नन्नं सह देवताभिः—इति ब्राह्मणम्) वह भी इस ऋचा से कहा गया है—देवानामेतत्…रोचमानं—अथ०—११। ५। २३॥ तस्मिन् सर्वे……देवताभिः—ब्राह्मण वचन, दिव्य लोकों का सर्वथा चलाने वाला, कभी न हराया गया, प्रकाशमान यह [व्यापक ब्रह्म] विचरता है, उसमें सब पशु [जीव], उसमें यज्ञ, उसमें अन्न सब दिव्य पदार्थों के साथ हैं—यह ब्राह्मण है॥ ७॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी दोष करने पर अनेक प्रकार प्रायश्चित्त करके परमात्मा में ध्यान लगाने से शुद्ध होवे॥ ७॥

विशेषः—प्रतीक वाले वेद मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं।

१—दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन। समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥ अथ० ६। १२४। १॥ (दिवः) प्रकाशमान सूर्य से, (नु) अथवा (बृहतः) [सूर्य से] बड़े (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अपाम्) जल का (स्तोकः) बिन्दु (माम् अभि) मेरे ऊपर (रसेन) रस के साथ (अपप्तत्) गिरा है। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (कृतेन) कर्म से, (अग्ने) हे सर्वव्यापी परमेश्वर! (इन्द्रियेण) इन्द्रपन अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ (पयसा) अन्न के साथ, (छन्दोभिः) आनन्ददायक कर्मों के साथ, (यज्ञैः) विद्यादि दानों के साथ (अहम्) मैं (सम्=संगच्छेयम्) मिला रहूँ॥

२—देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ अथ० ११। ५। २३॥ (देवानाम्) प्रकाशमान लोकों का (परिषूतम्) सर्वथा चलाने वाला, (अनभ्यारूढम्) कभी न हराया गया, (रोचमानम्) प्रकाशमान (एतत्) यह [व्यापक ब्रह्म] (चरति) विचरता है, (तस्मात्) उस [ब्रह्मचारी] से (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट

शवदाहस्थानम् (समयाय) सम्+इण् गतौ—पचाद्यच्। आचाराय (अघम्) पापम् (रिप्रम्) लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ० (उ० ५। ५५) रीङ् स्रवणे—रप्रत्ययः पुडागमो ह्रस्वश्च। रिप्रं पापनाम—निरु० ४। २१। पापम्। (उपेयिम) उप+इण् गतौ—लिट्। वयं प्राप्तवन्तः (श्लोणः) रस्य लः। श्रोणः। पङ्गुः (परिषूतम्) षू क्षेपे प्रेरणे—क्तः। परितः सूतम्। सर्वतः प्रेरकम्॥

(ब्राह्मणम्) ब्रह्म ज्ञान और (ब्रह्म) बुद्धिकारक धन (जातम्) प्रकट [होता है], (च) और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् (अमृतेन साकम्) अमरपन [मोक्ष सुख] के साथ [होते हैं] ।।

कण्डिका ८ ।।

प्राणापानौ जनयन्निति शङ्खस्य मूले महर्षेर्वसिष्ठस्य पुत्र एतां वाचं ससृजे, शीतोष्णाविहोत्सौ प्रादुर्भवेयातामिति तथा तच्छश्वदनुवर्त्तते, अथ खलु विपाण्मध्ये वसिष्ठशिला नाम प्रथम आश्रमो, द्वितीयः कृष्णशिलास्तस्मिन् वसिष्ठः समतपद्विश्वामित्रजमदग्नी जामदग्ने तपतः, गौतमभरद्वाजौ सिंहौ प्रभवे तपतः गुंगुर्गुंगुवासे तपत्यृषिर्ऋषिद्रोणेऽभ्यतपदगस्त्योऽगस्त्यतीर्थे तपनि दिव्यत्रिर्हि तपति स्वयम्भूः कश्यपः कश्यपतुङ्गेऽभ्यतपद्गुलवृकर्क्षु तरक्षुः श्वा वराहच्चिल्वटिबभ्रुकाः सर्पदंष्ट्रनः संहनुकृण्वानाः कश्यपतुङ्गदर्शनात्सरणवाटात् सिद्धिर्भवति ब्राह्म्यं वर्ष-सहस्रमृषिवने ब्रह्मचार्य्येकपादेनातिष्ठद् द्वितीयं वर्षसहस्रं मूर्द्धन्येवामृतस्य धाराम-धारयद्, ब्राह्माण्यष्टाचत्वारिंशतं वर्षसहस्राणि सलिलस्य पृष्ठे शिवोऽभ्यतपत्त-स्मात्तप्तात्तपसो भूय एवाभ्यतपत् । तदप्येता ऋचोऽभिवदन्ति प्राणापानौ जनय न्निति ब्राह्मणम् ।। ८ ।।

कण्डिका ८ ।। ब्रह्मचारी के आश्रम वा तपोवन ।।

(प्राणापानौ जनयन् इति—शंखस्य मूले महर्षेः वसिष्ठस्य पुत्रः एतां वाचं ससृजे, शीतोष्णौ उत्सौ इह प्रादुर्भवेयाताम् इति—तथा तत् शश्वत् अनुवर्त्तते) [प्राणापानौ जनयन्—अथ० ११ । ५ । २४ पाद ३, ४, मन्त्र २५. २६] प्राण और अपान [बल वर्धक श्वास और दोषनाशक प्रश्वास] को प्रकट करता हुआ……इन मन्त्रों से शङ्ख के मूल में [मुख लगाने के स्थान पर] महर्षि वसिष्ठ के पुत्र ने इस वाणी को उत्पन्न किया—शीत और उष्ण दो झरने यहाँ प्रकट हो जावें—वह वैसा ही सदा लगातार होता रहता है [अर्थात् पदार्थों में प्राण और अपान द्वारा शीत और उष्णता का प्रवाह होता है] । (अथ खलु विपाण्मध्ये वसिष्ठशिला नाम प्रथमः आश्रमः, द्वितीयः कृष्णशिलाः तस्मिन् वसिष्ठः समतपत्) और कहा जाता है कि विपाट् [विविध प्रकार चलने वाली वा रोकने वाली नदी] के बीच में वसिष्ठ शिला नाम पहिला आश्रम है, [जिसके समीप] दूसरा कृष्णशिला है, उस [वसिष्ठ शिला आश्रम] में वसिष्ठ ने यथाविधि तप किया । (विश्वामित्रजमदग्नी जामदग्ने तपतः) विश्वामित्र और जमदग्नि

८—(उत्सौ) उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च (उ० ३ । ६८) उन्दी क्लेदने-सप्रत्ययः । जलस्रवणस्थाने (विपाट्) वि+पट गतौ, यद्वा । पश बाधनस्पर्शनयोः, ण्यन्तौ—क्विप् । विपाड् विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा—निरु० ९ । २६ । विपाट् या विविधं पटति गच्छति विपाटयति वा सा--दयानन्दभाष्ये, ऋग्वेद ३ । ३३ । १ । विविधं गमनशीला नदी (वसिष्ठः) वसुमत्--इष्ठन्. मतुपो लुक् । वसुमत्तमः । अतिशयेन धनवान् । यद्वा वसु-इष्ठन् । सर्वश्रेष्ठः (विश्वामित्रः) मित्रे चर्षौ (पा० ६ ।

दोनों जामदग्न में तप करते हैं। (गौतमभरद्वाजौ सिंहौ प्रभवे तपतः) गौतम और भरद्वाज दोनों सिंह [बलवान्] प्रभव [आश्रम] में तप करते हैं। (गुङ्गुः गुगुवासे तपति) गुङ्गु गुगुवास में तप करता है। (ऋषिः ऋषिद्रोणे अभ्यतपत्) ऋषि ने ऋषि द्रोण [ऋषिवन] में सब ओर से तप किया। (अगस्त्यः अगस्त्यतीर्थे तपति) अगस्त्य अगस्त्यतीर्थ में तप करता है। (दिवि अत्रिः ह तपति) द्यौः [स्वर्ग, सुखस्थान] में अत्रि तप करता है। (स्वयम्भूः कश्यपः कश्यपतुङ्गे अभ्यतपत्) स्वयम्भू कश्यप ने कश्यप तुङ्ग [कश्यप पहाड़] पर सब प्रकार तप किया। [यह दस ऋषि दस इन्द्रियाँ हैं] (उलवृक-ऋक्षु-तरक्षुः श्वा वराह चिल्वटि-बभ्रुकाः सर्पदंष्ट्रनः संहनु कृण्वानाः) उलवृक—[भेड़िया], ऋक्षु [ऋक्ष, रीछ], तरक्षु [लकड़बग्घा], श्वा [कुत्ता], वराह [सूअर], चिल्वटि, बभ्रुक [बभ्रु, नेवला], सर्पदंष्ट्रन [सांप के समान डाढ़ों वाला जन्तु, यह आठ बनैले जीव] संगति करते हुये वा परस्पर हिंसा का नाश करते हुए [तप करते हैं]। (कश्यपतुङ्गदर्शनात् सरणवाटात् सिद्धिः भवति) कश्यप तुङ्ग के दर्शन से और चलने के मार्ग से सिद्धि [ऐश्वर्य प्राप्ति] होती है। (ब्राह्म्य वर्षसहस्रम् ऋषिवने ब्रह्मचारी एकपादेन अतिष्ठत्, द्वितीयं वर्षसहस्रं मूर्द्धनि एव अमृतस्य धाराम् अधारयत्) ब्रह्मा के सहस्र वर्ष [द्वीप समान नाड़ियों में] ऋषिवन में

३। १३०) इति दीर्घः। विश्वामित्रः सर्वमित्रः—निरु० २। २४। सर्वहितः (जमदग्निः) जमु भक्षणे दीप्तौ च--शतृ+अग्निः। जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा। निरु० ७। २४। जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य स महर्षिः (गौतमः) गोतमस्यापत्यं शिष्यो वा (भरद्वाजः) भृञ् धारणपोषणयोः—शतृः+वज-गतौ घञ्। अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारकः पोषको वा (गुङ्गुः) गुङ् ध्वनौ—डुः+गम्लृ गतौ--डुः। अलुक्समासः। गुङ् ध्वनिं गच्छति प्राप्नोति यः स. वेदपाठकः (गुगुवासे) गुग्गुलवने (ऋषिद्रोणे) ऋषिवने (अगस्त्यः) अग वक्रगतौ--अच्। वसेस्तिः (उ० ४। १८०) अग+असु क्षेपणे—तिप्रत्ययः। तत्र साधुः (पा० ४। ४। ९८) यत्, दीर्घाभावः। अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने क्षेपणे समर्थः (दिवि) स्वर्गे। सुखस्थाने (अत्रिः) अदेस्त्रिनिश्च (उ० ४। ६८) अद भक्षणे, अत सातत्यगमने वा–त्रिप्। दोषस्य पापस्य भक्षको नाशकः। सदा ज्ञानशीलः (कश्यपः) कश शब्दे यत्+पा पाने–कः। सोमपानशीलः। यद्वा, दृशिर् प्रेक्षणे--वुन्। अशिति परतो ऽपि दृशेः पश्य् इत्यादेशः। आद्यन्तविपर्य्ययेन रूपसिद्धिः। कश्यपः। यथार्थद्रष्टा (उलवृकः) वृकभेदः (ऋक्षुः) ऋक्षः। भल्लूकः (तरक्षुः) तर+क्षि हिंसायाम्--डुः। तरं गतिं मार्गं वा क्षिणोतीति। क्षुद्रव्याघ्रः (चिल्वटिः) जाङ्गलपशुभेदः (बभ्रुकः) बभ्रुः। नकुलः। (संहनु) शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० (उ० १। १०) सम्+हन हिंसागत्योः—उप्रत्ययः। संगतिम् परस्परहिंसनम् (कृण्वानाः) कृवि हिंसाकरणयोः गतौ च-शानच्, उप्रत्ययः, वस्य अकारः। हिंसन्तः। कुर्वाणाः (सरणवाटात्) गमनमार्गात् (सिद्धिः) ऐश्वर्यप्राप्तिः (ब्राह्म्यम्) ब्रह्मन्-ष्यञ्। ब्रह्मसम्बन्धि (वर्षम्) वृषु सेचने-अच् यद्वा, वृतॄवदिवचि०

[इन्द्रिय गणों के बीच] ब्रह्मचारी एक पग से खड़ा रहा, दूसरे सहस्र वर्ष [नाड़ियों में] मस्तक पर ही अमृत [जल] की धारा को धारण किया (ब्राह्माणि अष्टाचत्वारिंशतं वर्षसहस्राणि सलिलस्य पृष्ठे--शिवः अभ्यतपत्) ब्रह्मा के अड़तालीस सहस्र वर्ष [सलिलस्य पृष्ठे—अथ० ११ । ५ । २६] जल के ऊपर [विद्या रूप जल में स्नान करने के लिये] शिव [मंगलदायक ब्रह्मचारी] ने सब ओर से तप किया, (तस्मात् तप्तात् तपसः भूयः एव अभ्यतपत्) उस तप किये हुये तप से अधिक भी उसने तप किया। (तत् अपि एताः ऋचः अभिवदन्ति—प्राणापानौ जनयन्--इति ब्राह्मणम्) वह भी यह ऋचायें बतलाती हैं [अथ० ११ । ५ । २४ पाद ३, ४, मन्त्र २५, २६] प्राण और अपान [बलवर्धक श्वास और दोषनाशक प्रश्वास] को प्रकट करता हुआ... यह मन्त्र है, यह ब्राह्मण है ॥ ८ ॥

भावार्थः—यह कण्डिका [प्राणापानौ जनयन्......] इन अढ़ाई मन्त्रों से आरम्भ होकर इन ही मन्त्रों पर समाप्त होती है, इससे इस कण्डिका का इन मन्त्रों से दृढ़ सम्बन्ध है, वे मन्त्र यह हैं।

प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥ चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥ तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे । स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ अथ० ११ । ५ । २४, म० २५, २६ ॥ वह [ब्रह्मचारी] (प्राणापानौ) प्राण और अपान [श्वास प्रश्वास विद्या] को (आत्) और (व्यानम्) व्यान [सर्वशरीर व्यापक वायु विद्या] को (वाचम्) वाणी [भाषण विद्या] को, (मनः) मन [मनन विद्या] को, (हृदयम्) हृदय [के ज्ञान] को, (ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर ज्ञान] को और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (जनयन्) प्रकट करता हुआ [वर्तमान होता है] ॥ २४ पाद ३, ४ ॥ [हे ब्रह्मचारी !] (अस्मासु) हम लोगों में (चक्षुः) नेत्र, (श्रोत्रम्, कान (यशः) यश, (अन्नम्) अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितम्) रुधिर और (उदरम्) उदर [की स्वस्थता] (धेहि) धारण कर ॥२५॥ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तानि) उन [कर्मों] को (कल्पत्) करता हुआ (समुद्रे) समुद्र [के समान गम्भीर ब्रह्मचर्य] में (तपः तप्यमानः) तप तपता हुआ [वीर्य निग्रह आदि तप करता हुआ] (सलिलस्य पृष्ठे) जल के ऊपर [विद्या रूप जल में स्नान करने के लिये] (अतिष्ठत्) स्थित हुआ है। (सः) वह (स्नातः) स्नान किये हुये [स्नातक-ब्रह्मचारी] (बभ्रुः) पोषण करने वाला और (पिङ्गलः) बलवान् होकर (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (बहु) बहुत (रोचते) प्रकाशमान होता है ॥ २६ ॥

ऐसे बहुत से मन्त्र हैं जैसे (जीवेम शरदः शतम् ॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥ अथ० १९ । ६७ । २,८) अर्थ—सौ वर्षों तक हम जीते रहें ॥ और सौ से भी अधिक

(उ० ३ । ६२) वृञ् वरणे--सप्रत्ययः । संवत्सरः । द्वीपं यथा भारतवर्षम्, हरिवर्षम् । नाडीसमूहः (ब्राह्माणि) ब्रह्मन्--अण् । ब्रह्मसम्बन्धीनि ॥

वर्षों तक ॥ ८ ॥ इस से जाना जाता है कि इस कण्डिका का सम्बन्ध शरीर से, और ब्रह्मा के सहस्र वर्ष, दूसरे सहस्र वर्ष, और अड़तालीस सहस्र वर्ष और उससे अधिक सहस्र वर्ष, शरीर की नाड़ियों से तात्पर्य्य है। वर्ष द्वीप को भी कहते हैं, जैसे भारतवर्ष, हरिवर्ष यहां नाड़ी समूहों को वर्ष माना है। और ऋषि आदि इन्द्रियों के भी नाम हैं, और प्राण और अपान के सम्बन्ध से इन्द्रियां बलवर्धक और दोषनाशक हैं ॥ विद्वान् लोग पदों के साथ अर्थ की संगति विचार कर लगा लेवें ॥ ८ ॥

कण्डिका ९ ॥

एकपाद् द्विपद इति वायुरेकपात्तस्याकाशं पादश्चन्द्रमा द्विपात्तस्य पूर्वपक्षापरपक्षौ पादावादित्यस्त्रिपात्तस्येमे लोकाः पादा अग्निः षट्पादस्तस्य पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौराप ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादास्तेषां सर्वेषां वेदा गतिरात्मा प्रतिष्ठिताश्चतस्रो ब्रह्मणः शाखा, अथो आहुः षडिति मूर्तिराकाशश्चेत्यृचा मूर्त्तिर्याजुषी गतिः साममयन्तेजो भृग्वङ्गिरसामापैतद् ब्रह्मैव यज्ञश्चतुष्पाद् द्विः संस्थित इति। तस्य भृग्वङ्गिरसः संस्थे अथो आहुरेकसंस्थित इति, यद्धोतर्चां मण्डलैः करोति पृथिवीं तेनाप्याययति एतस्यां ह्यग्निश्चरति।

तदप्येतदृचोक्तम्। अग्निवासाः पृथिव्यसि तज्ञूरिति।

यदध्वर्य्युर्यजुषा करोत्यन्तरिक्षं तेनाप्याययति तस्मिन् वायुर्न निविशते कतमच्च नाहः इति।

तदप्येतदृचोक्तम्। अन्तरिक्षे पथिभिर्ह्रीयमाणो न निविशते कतमच्च नाहः। अपां योनिः प्रथमजा ऋतस्य क्व स्विज्जातः कुत आबभूवेति।

यदुद्गाता साम्ना करोति दिवं तेनाप्याययति तत्र ह्यादित्यः शुक्रश्चरति।

तदप्येतदृचोक्तम्। उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णमिति। यद् ब्रह्मर्च्चां काण्डैः करोत्यपस्तेनाप्याययति चन्द्रमा ह्यप्सु चरति।

तदप्येतदृचोक्तम्। चन्द्रमा अप्स्वन्तरिति। तासामोषधिवनस्पतयः काण्डानि, ततो मूलकाण्डपर्णपुष्पफलप्ररोहरसगन्धैर्यज्ञो वर्त्ततेऽद्भिः कर्माणि प्रवर्त्तन्तेऽद्भिः सोमोऽभिषूयते. तद् यद् ब्रह्माणं कर्मणि कर्मण्यामन्त्रयत्यपस्तेनानुजानात्येषो ह्यस्य भागस्तद्यथा भोक्ष्यमाणोऽप एव प्रथममाचामयेदप उपरिष्टादेवं यज्ञोऽद्भिरेव प्रवर्त्ततेऽप्सु संस्थाप्यते तस्माद् ब्रह्मा पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमैर्यज्ञो वर्त्ततेऽन्तरा हि पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमैर्यज्ञं परिगृह्णात्यन्तरा हि भृग्वङ्गिरसः वेदानोदुह्य भृग्वङ्गिरसः सोमपानं मन्यन्ते सोमात्मको ह्ययं वेदः।

तदप्येतदृचोक्तम्। सोमं मन्यते पपिवानिति।

तद्यथेमां पृथिवीमुदीर्णां ज्योतिषा धूमायमानां वर्षा शमयत्येवम् ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोभिर्व्याहृतिभिर्यज्ञस्य विरिष्टं शमयत्यग्निरादित्याय शमयत्येतेऽङ्गिरस एत इदं सर्वं समाप्नुवन्ति, वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगव एत इदं सर्वं समाप्याययन्त्येकमेव संस्थं भवतीति ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

---

१. अत्र "म इति" पू० सं० भ्रष्टः पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका ९ ॥ होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा का वर्णन ।

(एकपाद् द्विपदः इति वायुः एकपात् तस्य आकाशं पादः) एकपाद् द्विपदः—इति-अथ० १३ । २ । २७, इस मन्त्र में पवन एक पग वाला है, उसका आकाश पग है, (चन्द्रमाः द्विपात् तस्य पूर्वपक्षापरपक्षौ पादौ) चन्द्रमा दो पग वाला है उसके पहिला पाख और दूसरा पाख दो पग हैं, (आदित्यः त्रिपात् तस्य इमे लोकाः पादाः) सूर्य तीन पग वाला है, उसके यह [ऊँचे नीचे और मध्य] लोक पग हैं, (अग्निः षट्पादः तस्य पृथिवी, अन्तरिक्षं द्यौः आपः ओषधिवनस्पतयः इमानि भूतानि पादाः) अग्नि छह पग वाला है, उसके पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रकाश जल, ओषधि और वनस्पतियें यह सब सत्तायें पग हैं। (तेषां सर्वेषां वेदाः गतिः आत्मा प्रतिष्ठिताः) इन सब में वेद [वेद ज्ञान], गति [प्रवृत्ति] और आत्मा ठहरे हुए हैं। (ब्रह्मणः चतस्रः शाखाः, अथो आहुः षट् इति मूर्तिः आकाशः च इति) ब्रह्म [यज्ञ] की चार शाखायें [वायु, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि] हैं, कोई कहते हैं छह हैं मूर्ति और आकाश [मिलाकर]। (ऋचा मूर्तिः याजुषी गतिः साममयं तेजः भृग्वङ्गिरसाम् आप - आपः, एतत् ब्रह्म एव चतुष्पात् यज्ञः द्विः संस्थितः इति) ऋचा [ऋग्वेद विद्या] मूर्ति, याजुषी [यजुर्वेद विद्या] गति, साममय [सामवेद ज्ञान] तेज, और भृगु अङ्गिरसाओं [प्रकाशमान ज्ञान वाले चारों वेदों] का जल है, यह ब्रह्म ही चार पग वाला यज्ञ और दो बार संस्था [ठीक ठीक ठहराव] वाला है। (तस्य भृग्वङ्गिरसः संस्थे अथो आहुः एकसंस्थितः इति) उस भृगु अङ्गिरा [चारों वेद] दो संस्थायें हैं, कोई कहते हैं एक संस्था वाला है।

(यत् होता ऋचां मण्डलैः करोति, पृथिवीं तेन आप्याययति एतस्यां हि अग्निः चरति) जो होता ऋचाओं [ऋग्वेद मन्त्रों] के समूहों से कर्म करता है पृथिवी को उसके द्वारा पुष्ट करता है, इस [पृथिवी] में ही अग्नि विचरता है। (तत् अपि एतद् ऋचा उक्तम्। अग्निवासाः पृथिवी असितज्ञूः इति) यह भी इस ऋचा करके कहा गया है—अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूः—अथ० १२ । १ । २१ ॥

(यत् अध्वर्युः यजुषा करोति अन्तरिक्षं तेन आप्याययति तस्मिन् वायुः कतमत् चन अहः न निविशते इति) जो अध्वर्यु यजुर्वेद से कर्म करता है अन्तरिक्ष को

९—(भूतानि) सत्तामात्राणि (गतिः) प्रवृत्तिः (आत्मा) प्राणः (प्रतिष्ठिताः) स्थापिताः (ब्रह्मणः) यज्ञस्य (मूर्तिः) आकारः (ऋचा) ऋग्मन्त्रेण (याजुषी) यजुः—अण्, ङीप्। संगतिकरणयुक्ता। यजुर्वेदमन्त्रसम्बन्धिनी (साममयम्) सामवेदमन्त्रसंबद्धम् (भृग्वङ्गिरसाम्) प्रकाशमानज्ञानानां चतुर्वेदानाम् (आप) विभक्तिलोपः। (आपः) जलानि (संस्थितः) सम्यक्स्थितः। समाप्तियुक्तः (भृग्वाङ्गिरसः) चतुर्वेदाः (संस्थे) समाप्ति यज्ञ विशेषद्वयम् (ऋचाम्) ऋग्मन्त्राणाम् (मण्डलैः) समूहैः (करोति) यज्ञकर्म करोति (अग्निवासाः) वसेर्णित् (उ० ४ । २१८) वस निवासे आच्छादने च—असुन्। अग्निना तापेन सह निवासो यस्याः सा। यद्वा तापो वस्त्रं यस्याः सा (असितज्ञूः)

उससे वह पुष्ट करता है, उसमें वायु किसी दिन भी नहीं बैठता [रुकता] है। (तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्। अन्तरिक्षे पथिभिः ह्लीयमाणः न निविशते कतमत् चन अहः। अपां योनिः प्रथमजाः ऋतस्य क्व स्वित् जातः कुतः आबभूव इति) यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १६८। ३। यह भी इस ऋचा करके कहा गया है—अन्तरिक्षे......। अर्थ—अन्तरिक्ष में अनेक मार्गों से ले जाया गया [वायु] किसी दिन भी नहीं बैठता है। जल का कारण और सत्य नियम से पहिले पदार्थों में उत्पन्न होने वाला वह कहां उत्पन्न हुआ और कहां से प्राप्त हुआ है।

(यत् उद्गाता साम्ना करोति दिवं तेन आप्याययति तत्र हि शुक्रः आदित्यः चरति) जो उद्गाता सामवेद से कर्म करता है सूर्य के प्रकाश को उससे वह पुष्ट करता है, उस [प्रकाश] में ही वीर्यवान् सूर्य विचरता है। (तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्। उच्चा पतन्तम् अरुणं सुपर्णम् इति अथ० १३। २। ३६) यह भी इस ऋचा करके कहा गया है - उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णम् इति ॥

(यत् ब्रह्मा ऋचां काण्डैः करोति अपः तेन आप्याययति, चन्द्रमाः हि अप्सु चरति) जो ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] ऋचाओं [चारों वेदों] के काण्डों [भागों] से कर्म, करता है. जल को उससे वह पुष्ट करता है, चन्द्रमा ही जल में विचरता है। (तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्। चन्द्रमा अप्स्वन्तः इति) वह भी इस ऋचा करके कहा गया है—चन्द्रमा अप्स्वन्तः—इति अ० १८। ४। ८९। (तासाम् ओषधिवनस्पतयः काण्डानि, ततः मूलकाण्डपर्णपुष्पफलप्ररोहरसगन्धैः यज्ञः वर्तते) उन [जलों] की ओषधिवनस्पतियां शाखायें हैं, उससे जड़ शाखा पत्ता फूल फल अङ्कुर रस और गन्ध के साथ यज्ञ होता है, (अद्भिः कर्माणि प्रवर्तन्ते, अद्भिः सोमो ऽभिषूयते) जल से कर्म होते रहते हैं, जल से सोम [अमृत रस] निचोड़ा जाता है। (तत् यत् ब्रह्माणम् कर्मणि कर्मणि आमन्त्रयति, अपः तेन अनुजानाति) वह जब ब्रह्मा को काम काम में बुलाता है जल को उससे वह आज्ञा देता है। (एषः हि अस्य भागः तत् यथा भोक्ष्यमाणः अपः एव प्रथमम् आचामयेत् अपः उपरिष्टात्, एवं यज्ञः अद्भिः एव प्रवर्तते अप्सु संस्थाप्यते) यही इस [ब्रह्मा] का भाग है, सो जैसे भोजन चाहता हुआ पुरुष जल को ही पहिले आचमन करे और जल को ही उपरान्त में, इसी प्रकार यज्ञ जल से ही चलता रहता है और जल में समाप्त होता है। (तस्मात् पुरस्तात्--होम संस्थितहोमैः अन्तरा यज्ञः वर्तते, ब्रह्मा हि पुरस्ताद्—होम संस्थितहोमैः अन्तरा यज्ञं परिगृह्णाति) इस कारण पुरस्तात्-होम और संस्थित-होमों

वेदे। अ+षिञ् बन्धने—क्तः। अन्दूदृम्फूजम्बू० (उ० १। ९३) ज्ञा विज्ञापने—कूः। अबद्धं कर्म ज्ञापयति बोधयति नियोजयति वा सा (निविशते) उपविशते (ह्लीयमाणः) नीयमानः (प्रथमजाः) प्रथमेषु जातः (ऋतस्य) सत्यनियमस्य (उच्चायतं तम्) उच्चा पतन्तम्—इति वेदे। उच्चैः ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्तम् (ब्रह्मा) चतुर्वेदवेत्ता (काण्डैः) क्वादिभ्यः कित् (उ० १। ११५) कमु कान्तौ--डप्रत्ययो दीर्घत्वंच। ग्रन्थभागैः (अप्सु अन्तः) जलेषु मध्ये (आमन्त्रयति) संबोधयति (अपः) जलानि (अनुजानाति) आज्ञापयति (भोक्ष्यमाणः) भोक्तुम् इष्यमाणः (उपरिष्टाद्)

के बीच में यज्ञ होता है, ब्रह्मा ही पुरस्तात्-होम और संस्थित-होमों के बीच में यज्ञ को धरता है। (भृग्वङ्गिरसः वेदान् हि ओदुह्य भृग्वङ्गिरसः सोमपानं मन्यन्ते, सोमात्मकः हि अयं वेदः) प्रकाशमान ज्ञान वाले वेदों को ही भले प्रकार प्राप्त करके प्रकाशमान ज्ञानवाले मनुष्य सोम पान को जानते हैं, सोमात्मक [अमृतमय] यह वेद है। (तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्। सोमं मन्यते पपिवान् इति) वह भी इस ऋचा से कहा गया है— सोमं मन्यते पपिवान्...... अथ० १४। १। ३।

(तत् यथा इमाम् उदीर्णां ज्योतिषा धूमायमानां पृथिवीं वर्षा शमयति एवं ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोभिः व्याहृतिभिः यज्ञस्य विरिष्टं शमयति) सो जैसे इस उदार, तेज से धुआं उठती हुई पृथिवी को वर्षा शान्त करती है, वैसे ही ब्रह्मा प्रकाशमान ज्ञानवाले वेदों और व्याहृतियों से यज्ञ के उपद्रव को शान्त करता है। (अग्निः आदित्याय शमयति एते एते अङ्गिरसः इदं सर्वं समाप्नुवन्ति, वायुः आपः चन्द्रमाः इति एते एते भृगवः इदं सर्वं समाप्याययन्ति, एकम् एव संस्थं भवति इति ब्राह्मणम्) [प्रदत्त आहुति के रस को] अग्नि आदित्य को पहुँचाने हेतु [द्रव्य के] भस्म करता[1] है। यह सब विद्वान् लोग इस सब कर्म को पूरा करते हैं। वायुः आपः चन्द्रमाः [यह ब्राह्मण वचन है इस से] यह सब भृगु [प्रकाशमान लोग] इस सब [जगत्] को यथावत् पुष्ट करते हैं, एक ही संस्था होता है--यह ब्राह्मण है ॥ ९ ॥

भावार्थः-मनुष्यों को योग्य है कि वे ऋग्वेदी को होता, यजुर्वेदी को अध्वर्य्यु सामवेदी को उद्गाता और चारों वेद जानने वाले को ब्रह्मा वरण करके यज्ञ की सिद्धि करें ॥ ९ ॥

विशेषः--प्रतीक वाले मंत्र अर्थ सहित नीचे दिए जाते हैं।

१-एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एक पदस्तन्वं समासते--अथ० १३। २। २७। (एकपात्) एक रस व्यापक परमेश्वर (द्विपदः) दो प्रकार की स्थिति वाले [जङ्गम स्थावर जगत्] से (भूयः) अधिक आगे (वि) फैल कर (चक्रमे) चला गया, (द्विपात्) दो [भूत भविष्यत्] में गति वाला परमात्मा (पश्चात्) फिर (त्रिपादम्) तीन [प्रकाशमान, अप्रकाशमान और मध्य लोकों] में व्याप्ति वाले संसार में (अभि) सब ओर से (एति) प्राप्त होता है, (द्विपात्) दो [जङ्गम और स्थावर जगत्] में व्यापक ईश्वर (ह) निश्चय करके (षट्पदः) छह [पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर ऊंची और नीची दिशाओं] में स्थिति वाले ब्रह्माण्ड से (भूयः अधिक आगे (वि चक्रमे) निकल गया, (ते) वे [योगी जन] (एकपदः) एक रस व्यापक परमेश्वर की (तन्वम्) उपकार क्रिया को (सम् निरन्तर (आसते) सेवते हैं।

ऊर्द्ध्वम् (संस्थाप्यते) समाप्यते (ओदुह्य) आ+उत्+वह प्रापणे--ल्यप्। समन्तात् प्राप्य (भृग्वङ्गिरसः) प्रकाशमानज्ञानयुक्ता विद्वांसः (वेदः) चतुर्वेदसमूहः (उदीर्णाम्) उत्+ऋ गतौ—क्तः। उदाराम्। महतीम् (वर्षम्) वृष्टिः (विरिष्टम्) दोषम् ॥

---

१. इस अर्थ की तुलना मनुस्मृति ३।७६ से करें—
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥ सम्पा० ॥

२—अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु—अथ० १२ । १ । २१ (अग्निवासाः) अग्नि के साथ निवास करने वाली [अथवा अग्नि के वस्त्र वाली], (असितज्ञूः) बन्धन रहित कर्म को जताने वाली (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझको (त्विषीमन्तम्) तेजस्वी और (संशितम्) तीक्ष्ण [फुरतीला] (कृणोतु) करे ।

३—अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न निविशते कतमच्चनाहः । अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव—ऋग्० १० । १६८ । ३ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (पथिभिः) अनेक मार्गों से (ईयमानः) चलता हुआ [वायु] (कतमत् चन अहः) किसी दिन भी (न) नहीं (नि विशते) बैठता है । (अपाम्) जल का (सखा) सखा [वायु] (प्रथमजाः) पहले पदार्थों में उत्पन्न होने वाला (ऋतावा) सत्य नियम वाला वह (क्व स्वित्) कहां पर (जातः) उत्पन्न हुआ और (कुतः) कहां से (आ बभूव) प्राप्त हुआ है ॥

४—उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् । पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः—अथ० १३ । २ । ३६ (उच्चा) ऊँचे (पतन्तम्) ऐश्वर्यवान् होते हुये, (अरुणम्) सर्वव्यापक, (सुपर्णम्) बड़े पालने वाले, (दिवः) व्यवहार के (मध्ये) मध्य (तरणिम्) पार करने वाले, (भ्राजमानम्) प्रकाशमान, (सवितारम्) सर्वप्रेरक (त्वा) तुझ [परमेश्वर] को (पश्याम) हम देखें, (यम्) जिसको (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) ज्योति (आहुः) वे [विद्वान् लोग] बताते हैं (यत्) जिस [ज्योति] को (अत्रिः) निरन्तर ज्ञानी [योगी पुरुष] ने (अविन्दत्) पाया है ॥

५—चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि । न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी—अथ० १८ । ४ । ८९, ऋग्० १ । १०५ । १, साम० पू० ५ । ३ । ९ । (सुपर्णः) सुन्दर पूर्ति करने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (अप्सु अन्तः) [अपने] जलों के भीतर (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आ धावते) दौड़ता रहता है । (हिरण्यनेमयः) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मा में सीमा रखने वाले (विद्युतः) विविध प्रकाशमान [सब लोकों !] (वः) तुम्हारे (पदमु) ठहराव को (न विन्दन्ति) नहीं पाते हैं, (रोदसी) हे सूर्य के समान स्त्री पुरुषो ! (मे) मेरे (अस्य) इस [वचन] का (वित्तम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥

६—सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः—अथ० १४ । १ । ३, ऋग्० १० । ८५ । ३ । (सोमम्) चन्द्रमा [के अमृत] को (पपिवान्) मैंने पी लिया [यह बात मनुष्य] (मन्यते) मानता है, (यत्) जब (ओषधिम्) ओषधि [अन्न सोमलता आदि] को (संपिंषन्ति) वे [मनुष्य] पीसते हैं । (यम्) जिस (सोमम्) जगत्-स्रष्टा परमात्मा को (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं, (तस्य)

उसका [अनुभव] (पार्थिवः) पृथिवी [के विषय] में आसक्त पुरुष (न) नहीं (अश्नाति) भोगता है ॥

कण्डिका १० ॥

विचारी ह वै काबन्धिः कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमांसकोऽनूचान आस, स ह स्वेनातिमानेन मानुषं वित्तं नेयाय, तं मातोवाच, त एवैतदन्नमवोचंस्त इममेषु कुरुपञ्चालेषु अङ्गमगधेषु काशिकौशल्येषु शाल्वमत्स्येषु शवसोशीनरेषु उदीच्येष्वन्नमदन्तीत्यथ वयं तवैवातिमानेनानाद्यास्मो वत्स वाहनमन्विच्छेति स मान्धातुर्यौवनाश्वस्य सार्वभौमस्य राज्ञः सोमं प्रसूतमाजगाम, स सदोऽनुप्रविश्यर्त्विजश्च यजमानश्चामन्त्रयामास, तद्याः प्राच्यो नद्यो वहन्ति याश्च दक्षिणाच्यो याश्च प्रतीच्यो याश्च उदीच्यस्ताः सर्वाः पृथङ्नामधेया इत्याचक्षते, तासां समुद्रमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं समुद्र इत्याचक्षते, एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञ इत्येवाचक्षते ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ काबन्धि की मान्धाता के यज्ञ में यज्ञविषयक वार्त्ता ॥

(विचारी ह वै काबन्धिः आथर्वणस्य कबन्धस्य पुत्रः मेधावी मीमांसकः अनूचानः आस) तत्त्व निर्णय करने वाला काबन्धि, आथर्वण [निश्चल ब्रह्मज्ञान में श्रद्धा वाले] कबन्ध [ब्रह्म में संयम करने वाले ऋषि] का पुत्र अटल बुद्धि वाला, मीमांसा शास्त्र जानने वाला, साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ा हुआ था । (सः ह स्वेन अतिमानेन मानुषं वित्तं न इयाय) उसने अपने अति घमण्ड से मनुष्य योग्य धन न पाया । (तं माता उवाच—ते एव एतत् अन्नम् अवोचन्) उससे माता बोली—उन्होंने ही इस अन्न के विषय में कहा है । (ते इमम् = इदम् अन्नम् एषु कुरुपञ्चालेषु अङ्गमगधेषु काशिकौशल्येषु शाल्वमत्स्येषु शवसोशीनरेषु उदीच्येषु अदन्ति इति) वे लोग इस अन्न को इन कुरुपञ्चालों में, अङ्गमगधों में, काशिकौशल्यों में शाल्वमत्स्यों में शवस उशीनरों में, उत्तरदेशवासियों में खाते हैं । (अथ वयं तव एव अतिमानेन

१०—(विचारी) तत्त्वनिर्णेता (काबन्धिः) अत इञ् (पा० ४ । १ । ९५) कबन्ध—इञ् । कबन्धपुत्रः । ऋषिविशेषः (कबन्धस्य) के ब्रह्मणि बन्धः संयमो यस्य तस्य । ऋषिविशेषस्य (आथर्वणस्य) निश्चलब्रह्मज्ञाननिष्ठस्य (मीमांसकः) मीमांसाशास्त्रनिपुणः (अनूचानः) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च (पा० ३ । २ । १०९) अनु + वच परिभाषणे—कानच् । साङ्गवेदविचक्षणः (वित्तम्) धनम् (इयाय) इण् गतौ—लिट् । प्राप्त (उदीच्येषु) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (पा० ४ । २ । १०१)

अनाद्याः स्मः वत्स वाहनम् अन्विच्छ इति) सो हम तेरे ही अति घमण्ड से बिना अन्न हैं, हे बच्चा ! रथ ढूंढ़कर ला । (सः यौवनाश्वस्य सार्वभौमस्य राज्ञः मान्धातुः प्रसूतं सोमम् आजगाम) वह युवनाश्व के पुत्र, चक्रवर्ती राजा मान्धाता के निचोड़े हुये सोम [सोमयज्ञ] में आया । (स सदः अनुप्रविश्य ऋत्विजः च यजमानं च आमन्त्रयामास) वह यज्ञशाला में प्रवेश करके ऋत्विजों और यजमान [मान्धाता] से बोला—(तत् याः प्राच्यः याः च दक्षिणाच्यः याः च प्रतीच्यः याः च उदीच्यः नद्यः वहन्ति ताः सर्वाः पृथङ्नामधेयाः इति आचक्षते, तासां समुद्रम् अभिपद्यमानानां नामधेयं छिद्यते समुद्रः इति आचक्षते) सो जो पूर्व ओर वाली और जो दक्षिण ओर वाली, और जो पश्चिम ओर वाली, और जो उत्तर ओर वाली नदियां बहती हैं, वे सब अलग अलग नामवाली हैं, ऐसा कहते हैं, उन समुद्र में पहुँचने वालियों का नाम मिट जाता है, यह समुद्र है—ऐसा कहते हैं, (एवम् इमे सर्वे वेदाः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः निर्मिताः तेषां यज्ञम् अभिपद्यमानानां नामधेयं छिद्यते यज्ञः इति एव आचक्षते) ऐसे ही यह सब वेद कल्पों सहित रहस्यों सहित, ब्राह्मण ग्रन्थों सहित, उपनिषदों सहित, इतिहासों सहित, व्याख्यानों सहित, पुराणों सहित, स्वरों सहित, संस्कारों सहित, निरुक्तों [निर्वचनों] सहित, अनुशासनों [धर्मशास्त्रों] सहित, अनुमार्जनों [संशोधनों] सहित, वाकोवाक्यों [द्र० १ । २१] सहित बने हुये हैं, उन यज्ञ में पहुँचते हुओं का नाम मिट जाता है, यह यज्ञ है ऐसा ही कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः——स्पष्ट है ॥ १० ॥

कण्डिका ११ ॥

भूमेर्ह वै एतद्विच्छिन्नं देवयजनं यदप्राक्प्रवणं यदनुदक्प्रवणं यत् कृत्रिमं यत्समविषममिदं ह त्वेव देवयजनं यत्समं समूलमविदग्धं प्रतिष्ठितं प्रागुदक्प्रवणं समं समास्तीर्णमिव भवति, यत्र ब्राह्मणस्य ब्राह्मणतां विद्याद् ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोतीति वोचे[1] छन्दस्तन्न विन्दामो येनोत्तरमेमहीति । तान् ह पप्रच्छ किं विद्वान् होता हौत्र करोति, किं विद्वानध्वर्य्युराध्वर्य्यवं करोति, किं विद्वानुद्गातौद्गात्रं करोति, किं विद्वान् ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोतीति वोचे छन्दस्तन्न विन्दामो येनोत्तरमेमहीति । ते ब्रूमो वागेव होता हौत्रं करोति वाचो हि स्तोमाश्च वषट्काराश्चा-

---

उदच्——यत् । उत्तरदेशभवेषु (अनाद्याः) खाद्यवस्तुरहिताः (मान्धातुः) मान पूजायाम्—क्विप् + दधातेः—तृच् । सत्कारधारकस्य राजविशेषस्य (यौवनाश्वस्य) युवनाश्वपुत्रस्य (सार्वभौमस्य) चक्रवर्तिनृपस्य । राजराजेश्वरस्य (प्रसूतम्) षूङ् प्राणिप्रसवे—क्तः । निष्पन्नम् । निष्पीडितम् (सदः) यज्ञशालाम् (आमन्त्रयामास) सम्बोधितवान् (अभिपद्यमानानाम्) प्राप्यमाणानाम् (सान्वाख्याताः) सव्याख्यानाः (सानुमार्जनाः) संशोधनाः ॥

---

१. 'अवोचम्' इति भवितव्यम् । भ्रष्टोऽयं पाठः प्रतीयते ॥ सम्पा० ॥

भिसम्पद्यन्ते, ते ब्रूमो वागेव होता वाग् ब्रह्म वाक् देव इति । प्राणापानाभ्यामेवाध्वर्युराध्वर्य्यवं करोति, प्राणः प्रणीतानि ह भूतानि प्राणः प्रणीताः प्रणीतास्ते ब्रूमः प्राणापानावेवाध्वर्य्यू प्राणापानौ ब्रह्म प्राणापानौ देव इति । चक्षुषैवोद्गाता औद्गात्रं करोति चक्षुषा हीमानि भूतानि पश्यन्त्यथो चक्षुरेवोद्गाता चक्षुर्ब्रह्म चक्षुर्देव इति । मनसैव ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति मनसा हि तिर्य्यक् च दिश ऊर्ध्वं च यच्च किञ्च मनसैव करोति तद् ब्रह्म ते ब्रूमो मन एव ब्रह्मा मनो ब्रह्म मनो देव इति ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ कावन्धि के देवयजन और ऋत्विजों के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(भूमेः ह वै एतत् विच्छिन्नं देवयजनं यत् अप्राक्प्रवणं यत् अनुदक्प्रवणं यत् कृत्रिमं यत् समविषमम्) यह भूमि से बांटा गया देवयजन [विद्वानों का पूजास्थान] है, जो पूर्व की ओर न झुका हुआ और न उत्तर की ओर झुका हुआ है, जो बना हुआ है, और जो चौरस और ऊंचा नीचा है। (इदं ह तु एव देवयजनं यत् समं समूलम् अविदग्धं प्रतिष्ठितं प्रागुदक्प्रवणं समं समास्तीर्णम् इव भवति, यत्र ब्राह्मणस्य ब्राह्मणतां विद्यात् ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति इति) यह तो देवयजन है जो चौरस, नेव [नींव] वाला, बिना जला हुआ, प्रतिष्ठा वाला, पूर्व और उत्तर को झुका हुआ, चौरस, और एक सा फैला हुआ सा है, और जिसमें ब्राह्मण की ब्राह्मणता जानी जावे, [वहाँ] ब्रह्मा ब्रह्मत्व [ब्रह्मा का काम] करता है। (छन्दः वोचे तत् न विन्दामः येन उत्तरम् एमहि इति) मैंने वेदज्ञान कहा है, उसको हम [वैसा] नहीं पाते हैं जिससे हम उत्तर पावें। (तान् ह पप्रच्छ किं विद्वान् होता हौत्रं करोति, किं विद्वान् अध्वर्युः आध्वर्य्यवं करोति, किं विद्वान् उद्गाता औद्गात्रं करोति, किं विद्वान् ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति इति) उनसे उसने पूछा – कौन विद्वान् होता होतृकर्म करता है, कौन विद्वान् अध्वर्य्यु अध्वर्य्यु कर्म करता है, कौन विद्वान् उद्गाता उद्गातृ कर्म करता है, कौन विद्वान् ब्रह्मा ब्रह्मा का कर्म करता है। (छन्दः वोचे तत् न विन्दामः येन उत्तरम् एमहि इति) मैंने वेदज्ञान कहा है, उसको हम [वैसा] नहीं पाते हैं जिससे हम उत्तर पावें। [उन्होंने उत्तर दिया] (ते ब्रूमः वाक् एव

११––(विच्छिन्नम्) विभक्तम् (देवयजनम्) विदुषां पूजास्थानम् (अप्राक्प्रवणम्) प्रुङ् गतौ––ल्युट्। अपूर्वदिक्क्रमनिम्नम् (अनुदक्प्रवणम्) अनुत्तरदिक्क्रमनिम्नम् (कृत्रिमम्) ड्वितः क्त्रिः (पा० ३ । ३ । ८८) डुकृञ् करणे–– क्त्रिः। क्त्रेर्मम्नित्यम् (पा० ४ । ४ । २०) इति मप्। करणेन निर्वृत्तम्। रचितम् (समविषमम्) समं समानं च विषमम् असमानम् च। उच्चनीचं च (अविदग्धम्) वि+दह भस्मीकरणे—क्तः। अविशेषेण दग्धम्। अभस्मीकृतम् (विद्यात्) जानीयात् (वोचे) अवोचम्। अहं कथितवान् (छन्दः) वेदज्ञानम् (विन्दामः)

वाक् एव होता वाक् ब्रह्म वाक् देवः इति) तुझसे हम कहते हैं--वाणी ही होता [होकर] होतृ कर्म करती है, वाणियों को ही स्तोम [स्तुति के मन्त्र और वषट्कार आहुतियां] प्राप्त होती हैं, तुझसे हम कहते हैं—वाणी ही होता, वाणी ब्रह्म [वेदज्ञान], और वाणी देवता है। (प्राणापानाभ्याम् एव अध्वर्यु: आध्वर्य्यवं करोति, प्राणः प्रणीतानि ह भूतानि, प्राणः प्रणीताः प्रणीताः-ते ब्रूमः प्राणापानौ एव अध्वर्य्यू, प्राणापानौ ब्रह्म, प्राणापानौ देवः इति) दोनों प्राण और अपान [श्वास और प्रश्वास] से ही अध्वर्य्यु अध्वर्य्यु का काम करता है, प्राण ही अच्छे प्रकार लाये गये जीव हैं, प्राण ही अच्छे प्रकार लाये गये प्रणीता [यज्ञपात्रविशेष] हैं--तुझसे हम कहते हैं--दोनों प्राण और अपान ही दो अध्वर्य्यु हैं, प्राण और अपान ब्रह्म [वेदज्ञान], प्राण और अपान देवता हैं। (चक्षुषा एव उद्गाता औद्गात्रं करोति, चक्षुषा हि इमानि भूतानि पश्यन्ति, अथो चक्षुः एव उद्गाता, चक्षुः ब्रह्म, चक्षुः देवः इति) आंख से ही उद्गाता उद्गाता का काम करता है, आंख से ही यह सब जीव देखते हैं, इसलिये आंख ही उद्गाता, आंख ही ब्रह्म [वेदज्ञान] और आंख ही देवता है। (मनसा एव ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति, मनसा हि दिशः तिर्य्यक् च ऊर्द्ध्वं च यत् च किं च मनसा एव करोति तत् ब्रह्म, ते ब्रूमः मनः एव ब्रह्मा मनः ब्रह्म मनः देवः इति) मन से ही ब्रह्मा ब्रह्मा का काम करता है, मन से ही दिशा के तिरछे काम और ऊंचे काम को और भी जो कुछ है [उसको भी] मन से ही करता है, वह ब्रह्म [वेदज्ञान] है, तुझसे हम कहते हैं—मन ही ब्रह्मा, मन ब्रह्म [वेदज्ञान] और मन देवता है ।। ११ ।।

भावार्थः—इस कण्डिका में भौतिक क्रिया के साथ आत्मिक यज्ञ का वर्णन है। और इसका सम्बन्ध अगली कण्डिका से है ।। ११ ।।

कण्डिका १२ ।।

तद्यथा ह वा इदं यजमानश्च याजयितारश्च दिवं ब्रूयुः पृथिवीति, पृथिवीं वाक् द्यौरिति ब्रूयुस्तदन्यो नानुजानात्येतामेवं नानुजानाति यदेतद् ब्रूयादथ नु कथमिति होतेत्येव होतारं ब्रूयाद्वागिति वाचं, ब्रह्मेति ब्रह्म, देव इति देवमध्वर्यु-रित्येवाध्वर्य्युं ब्रूयात्, प्राणापानाविति प्राणापानौ, ब्रह्मेति ब्रह्म, देव इति

प्राप्नुमः (एमहि) आ + इण् गतौ—विधिलिङ्। वयं प्राप्नुयाम (हौत्रम्) होतृ—अण्। होतुः कर्म (वषट्काराः[१]) वह प्रापणे डषटि। आहुतय देवयज्ञाः। (वाचः) वाण्यः (सम्पद्यन्ते) प्राप्नुवन्ति (ते) तुभ्यम् (प्रणीतानि) प्र + णीञ् प्रापणे—क्तः। प्रकर्षेण प्रापितानि (प्रणीताः) यज्ञपात्रविशेषाः ।।

१—वस्तुतः यह अव्युत्पन्न शब्द है। 'कार' प्रत्यय से सूचित होता है कि यह निरर्थक शब्द है। क्योंकि कार प्रत्यय का प्रयोग सदा केवल वर्णमात्र की सूचना देने के लिये ही आता है ।। सम्पा० ।।

देवमुद्गातेत्येवोद्गातारं ब्रूयाच्चक्षुरिति चक्षुर्ब्रह्मेति ब्रह्म, देव इति देवं ब्रह्मेत्येव ब्रह्माणं ब्रूयान्मन इति मनो ब्रह्मेति ब्रह्म देव इति देवम् ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ कावन्धि का अधिक यज्ञ विषयक विचार ॥

(तत् यथा ह वै इदम् यजमानः च याजयितारः च दिवं ब्रूयुः पृथिवी इति, पृथिवीं ब्रूयुः वाक् द्यौः इति) [कावन्धि बोला] सो जैसे यह बात है कि यजमान और याजक लोग प्रकाश को कहें यह पृथिवी है, और पृथिवी को कहें वह वाणी [वा] प्रकाश है। (तत् अन्यः न अनुजानाति एताम् एवं न अनुजानाति यत् एतत् ब्रूयात् अथ नु कथम् इति) उसको दूसरा पुरुष नहीं जान लेता है, इस [वार्ता] को ऐसा नहीं जान लेता है कि इसको [वैसा ही] वह कहे, फिर यह कैसे हो सकता है। (होता इति एव होतारं ब्रूयात्, वाक् इति वाचम्, ब्रह्म इति ब्रह्म, देवः इति देवम्, अध्वर्युः इति एव अध्वर्युं ब्रूयात्) यह होता [होम करने वाला] ही है, होता को कहे, यह वाणी है वाणी को, यह ब्रह्म [वेदज्ञान] है ब्रह्म [वेदज्ञान] को, यह देवता है देवता को, और यह अध्वर्यु ही है अध्वर्यु को बतावे। (प्राणापानौ इति प्राणापानौ, ब्रह्म इति ब्रह्म देवः इति देवं, उद्गाता इति एव उद्गातारं ब्रूयात्) यह प्राण और अपान हैं प्राण और अपान को, यह ब्रह्म है ब्रह्म को, यह देवता है देवता को, और यह उदगाता ही है उद्गाता को ही बतावे। (चक्षुः इति चक्षुः, ब्रह्म इति ब्रह्म, देवः इति देवम्, ब्रह्मा इति एव ब्रह्माणम् ब्रूयात्) यह आंख है आंख को, यह ब्रह्म है ब्रह्म को, यह देवता है देवता को, और यह ब्रह्मा ही है ब्रह्मा को बतावे। (मनः इति मनः, ब्रह्म इति ब्रह्म, देवः इति देवम् ब्रूयात्) यह मन है मन को, यह ब्रह्म [वेदज्ञान] है ब्रह्म [वेदज्ञान] को, यह देवता है देवता को [बतावे] ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्य को यथार्थ और स्पष्ट बोलना चाहिये ॥ १२ ॥

कण्डिका १३ ॥

नाना प्रवचनानि ह वा एतानि भूतानि भवन्ति ये चैवासोमपं याजयन्ति ये च सुरापं ये च ब्राह्मणं विच्छिन्नं सोमयाजिनं तं प्रातः समित्पाणय उपोदेयुरुपायामो भवन्तमिति, किमर्थमिति यानेव नो भवांस्तान् ह्यः प्रश्नानपृच्छत्तानेव नो भवान् व्याचक्षीतेति, तथेति तेभ्य एतान् प्रश्नान् व्याचष्टे, तद्येन ह वा इदं विद्यमानश्चाविद्यमानश्चाभिनिदधाति तद् ब्रह्म तद्यो वेद स ब्राह्मणोऽधीयानोऽधीत्याचक्षत इति ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ कावन्धि का आगे यज्ञ विषयक विचार ॥

(नाना प्रवचनानि ह वै एतानि भूतानि भवन्ति ये च एव असोमपं ये च सुरापं ये च विच्छिन्नं ब्राह्मणं सोमयाजिनं याजयन्ति) अनेक प्रकार से प्रसिद्ध बातें

१२—(दिवम्) प्रकाशम् (ब्रूयुः) कथयेयुः (अनुजानाति) निरन्तरम् अनुभवति ॥

और यह सब जीव होते हैं, जो [जीव] सोम रस को न पीने वाले से, और जो सुरा [मद्य] पीने वाले से, और जो वेद मार्ग से अलग किये हुये सोम यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण से यज्ञ कराते हैं, (तं प्रातः समित्पाणयः उपोदेयुः, भवन्तम् उपयामः इति) उस [प्रसिद्ध विद्वान्] के पास प्रातः काल [यज्ञ के लिये] समिधा हाथ में लिये हुये जावें [और कहें] हम आपके पास आये हैं। (किमर्थम् इति) [वह कहे] किस लिये (यान् एव तान् प्रश्नान् नः भवान् ह्यः अपृच्छत् तान् एव नः भवान् व्याचक्षीत इति) जिन ही उन प्रश्नों को हमसे आप ने पूछा है, उनको ही हमें आप बताइये। (तथा इति) [उन्होंने कहा] ऐसा ही हो। (तेभ्यः एतान् प्रश्नान् व्याचष्टे) [और] उनको यह सब प्रश्न बताये। (तत् येन ह वै इदं विद्यमानं च अविद्यमानं च अभिनिदधाति तत् ब्रह्म) सो जिस करके ही यह वर्तमान और अवर्तमान [भूत और भविष्य] सब ओर से धारण किया जाता है वह ब्रह्म है। (तत् यः वेद सः अधीयानः ब्राह्मणः अधीत्य आचक्षते इति ब्राह्मणम्) उसको जो जानता है वह पढ़ा हुआ ब्राह्मण है, [ऐसा] पढ़ करके ही वे लोग कहते हैं—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ १३ ॥

भावार्थः—अश्लील कुमार्गी पुरुष से यज्ञ न कराना चाहिये किन्तु वेदज्ञानी सुशील विद्वान् से यज्ञ कराया जावे ॥ १३ ॥

कण्डिका १४ ॥

अथातो देवयजनान्यात्मा देवयजनं श्रद्धा देवयजनमृत्विजो देवयजनं भौमं देवयजनं तद्वा एतदात्मा देवयजनं यदुपव्यायच्छमानो वाऽनुपव्यायच्छमानो वा शरीरमधिवसत्येष यज्ञ एष यजत एतं यजन्त एतद्देवयजनमथैतत् श्रद्धा देवयजनं यदैव कदाचिदादद्यात् श्रद्धा त्वेवैनं नातीयात्तद्देवयजनमथैतदृत्विजो देवयजनं यत्र क्वचिद् ब्राह्मणो विद्यावान् मन्त्रेण करोति तद्देवयजनमथैतद्भौमं देवयजनं यत्रापस्तिष्ठन्ति यत्र स्यन्दन्ति प्रतद्वहन्त्युद्वहन्ति तद्देवयजनं यत्समं समूलमविदग्धं प्रतिष्ठितं प्रागुदक्प्रवणं समं समास्तीर्णमिव भवति यस्य [1]श्वभ्र ऊर्मो वृक्षः पर्वतो नदी पन्था वा पुरस्तात्स्यान्न देवयजनमात्रं पुरस्तात्पर्य्यवशिष्येन्नोत्तरतोऽग्नेः पर्य्युपासीरन्निति ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

१३—(प्रवचनानि) प्रकृष्टवाक्यानि (असोमपम्) न सोमरसपानकर्त्तारम् (सुरापम्) मद्यपानकर्तारम् (विच्छिन्नम्) वेदमार्गेण वियुक्तम् (तम्) प्रसिद्धं विद्वांसम् (उपोदेयुः) उप + उत् + आ + इयुः, इण् गतौ—विधिलिङ्। प्राप्नुयुः। (व्याचक्षीत) भवान् विवृणोतु (विद्यमानम्) वर्तमानम् (अविद्यमानम्) अवर्तमानं भूतं भविष्यं च (अभिनिदधाति) अभिनिधीयते (अधीत्य) पठित्वा ॥

---

१. पू. सं. " श्वभ्रकूर्मः" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १४ ॥ कावन्धि का देवयजनों के विषय में वर्णन ॥

(अथ अतः देवयजनानि आत्मा देवयजनं श्रद्धा देवयजनम् ऋत्विजः देवयजनं भौमं देवयजनम्) अब यहाँ से देवयजन [विद्वानों के पूजा स्थान] कहे जाते हैं—[देखो कण्डिका ११]—आत्मा देवयजन है, श्रद्धा [पूरा विश्वास] देवयजन है, ऋत्विज् [सब ऋतुओं में यज्ञ कराने वाले] देवयजन हैं, जल [जो भूमि से भाप होकर फिर मेह बनकर बरसता है] देवयजन है। (तत् वै एतत् आत्मा देवयजनं यत् उपव्यायच्छमानः वा अनुपव्यायच्छमानः वा शरीरम् अधिवसति, एषः यज्ञः एषः यजतः, एतं यजन्ते, एतत् देवयजनम्) सो ही यह आत्मा देवयजन है जो [आत्मा] फैलता हुआ अथवा न फैलता हुआ [बड़ा वा छोटा होकर] शरीर में बसता है, यह यज्ञ है, यह यजमान है, इसको पूजते हैं. यह देवयजन है। (अथ एतत् श्रद्धा देवयजनं यदा एव कदाचित् आदद्यात् श्रद्धा तु एव एनं न अतीयात्, तत् देवयजनम्) फिर यह श्रद्धा देवयजन है, जब कभी भी वह [ब्रह्मचारी] लेवे श्रद्धा तो इस [लेने वाले] को न उल्लंघन करे, यह देवयजन है। (अथ एतत् ऋत्विजः देवयजन यत्र क्वचित् विद्यावान् ब्राह्मणः मन्त्रेण करोति तत् देवयजनम्) फिर यह ऋत्विज् लोग देवयजन हैं, जहाँ कहीं विद्वान् ब्राह्मण मन्त्र से कर्म करता है वह देवयजन है। (अथ एतत् भौमं देवयजनं यत्र आपः तिष्ठन्ति यत्र स्यन्दन्ति तत् प्रवहन्ति उद्वहन्ति, तत् देवयजनम्) फिर यह भौम [भूमि से निकला हुआ जल] देवयजन है, जहाँ जल ठहरता है, जहाँ चूता है, वहाँ बहता है और चढ़ता है, वह देवयजन है, (यत् समं समूलम् अविदग्धं प्रतिष्ठितं प्रागुदक्प्रवणं समं समास्तीर्णम् इव भवति) जो [स्थान] चौरस नींव वाला, बिना जला हुआ, प्रतिष्ठा वाला, पूर्व और उत्तर की ओर झुका हुआ, चौरस और एकसा फैला हुआ होवे (यस्य पुरस्तात् श्वभ्र ऊर्मः वृक्षः पर्वतः नदी पन्थाः वा स्यात्) जिसके आगे चलते हुए पवन वाले हवादार वृक्ष, पहाड़, नदी, अथवा मार्ग हो, (देवयजनमात्रम् पुरस्तात् न पर्य्यवशिष्येत्) देवयजन का परिमाण सामने को न बचा रहे, (न अग्नेः उत्तरतः पर्य्युपासीरन् इति ब्राह्मणम्) और न अग्नि के उत्तर की ओर बैठें—यह ब्राह्मण है ॥ १४ ॥

१४—(श्रद्धा) पूर्णविश्वासः (ऋत्विजः) सर्वेषु ऋतुषु यज्ञकर्तारः। (भौमम्) भूमि—अण्। वाष्पमेघरूपेण भूमेर्जातं जलम् (उपव्यायच्छमानः) उप+वि+आ+यम उपरमे—शानच्। दीर्घीभवन् (अनुपव्यायच्छमानः) अदीर्घीभवन्। अल्पीभवन् (यजतः) भृमृदृशियजि० (उ० ३। ११०) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु-अतच्। यजमानः (यजन्ते) पूजयन्ति (आदद्यात्) गृह्णीयात् (अतीयात्) अति+इण् गतौ—विधिलिङ्। उल्लंघयेत् (आपः) जलानि (तत्) तत्र (प्रवहन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति (श्वभ्रः) श्वभ्र गतौ—घञ्। गमनशीलः। (ऊर्मः) अर्तेरुच्च (उ० ४। ४४) ऋ गतौ-मिः, उत्, ततः अर्शआद्यच्। ऋच्छति गच्छतीति ऊर्मः वेगः। (मात्राम्) परिमाणम् (पर्य्यवशिष्येत्) परि+अव+शिष असर्वोपयोगे—विधि-

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि भौतिक यज्ञ के साथ आत्मिक यज्ञ का विचार करते रहें ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ ॥

अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत् तत उच्छिष्टमाश्नात् सा गर्भमधत्त, तत आदित्या अजायन्त, य एष ओदनः पच्यत आरम्भणमेवैतत् क्रियते आक्रमणमेव प्रादेशमात्रीः समिधो भवन्त्येतावान् ह्यात्मा प्रजापतिना सम्मितोऽग्नेर्वै या यज्ञिया तनूरश्वत्थे तया समगच्छत एषा स्वधृत्या तनूर्यद् घृतम्, यद् घृतेन समिधो अनक्ति ताभ्यामेवैनं तन्तनूभ्यां समर्द्धयति यन्निर्मार्गस्यादधात्यवकूत्या वै वीर्य्यं क्रियते यन्निर्मार्गस्यादधात्यवकूत्या एव संवत्सरो वै प्रजननमग्निः प्रजननमेतत् प्रजननं यत्संवत्सर ऋचाऽग्नौ समिधमादधाति, प्रजननादेवैनन्तत् प्रजनयिता प्रजनयत्यभक्तुर्वै पुरुषो न हि तद्वेद यदृतुमभिजायते, यन्नक्षत्रं तदाप्नोति, य एष ओदनः पच्यते, योनिरेवैषा क्रियते, यत्समिध आधीयन्ते रेतस्तत् ध्रियते संवत्सरो वं रेतो हितं प्रजायते, ये संवत्सरे पर्य्येतेऽग्निमाधत्ते प्रजापतिरेवैनमाधत्ते, द्वादशसु रात्रीषु पुरा संवत्सरस्याधेयात्ता हि संवत्सरस्य प्रतिमा अथो तिसृष्वथो द्वयोरथो पूर्वेद्युराधेयात् ते वा अग्निमादधानेनादित्या वा इत उत्तरमेव मेऽमुष्मिंल्लोक आयंस्ते पथि रक्षन्त इयन्तदु यक्ष्यमाणं प्रतिनुदन्त उच्छेषणभाजा वा आदित्या यदुच्छिष्टं यदुच्छिष्टेन समिधो अनक्ति तेभ्य एव प्रोवाच तेभ्य एव प्रोच्य स्वर्गलोकं यन्ति ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ अदिति की सृष्टि रचना के दृष्टान्त से भौतिक यज्ञ की रचना ॥

(प्रजाकामा अदितिः वै ओदनम् अपचत्) सन्तान चाहने वाली अदिति [अदीन और अखण्ड परमेश्वर शक्ति] ने सींचने वाला भात वा अन्न पकाया [परमाणुओं को चलाया], (ततः उच्छिष्टम् आश्नात्) फिर बचे हुये को खाया [प्रलय से पीछे बचे संयोग वियोग सामर्थ्य को काम में लाया]। (सा गर्भम् अधत्त) उसने गर्भ धारण

लिङ् । अवशिष्टं भवेत् (पर्य्युपासीरन्) परि+उप+आस उपवेशने-विधिलिङ् । उपविशेयुः ॥

१५—(अदितिः) कृत्यल्युटो बहुलम् (पा० ३ । ३ । ११३) दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने—क्तिन् । द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (पा० ७ । ४ । ४०) इति इत्वम् । दीङ्पक्षे ह्रस्वत्वं नञ्समासः । अदितिः पृथिवी - निघ० १ । १ । वाक्—निघ० १ । ११ । गौः—निघ० २ । ११ । अदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अदीना अक्षीणा अखण्डिता वा परमेश्वरशक्तिः (ओदनम्) उन्देर्नलोपश्च (उ० २ । ७६) उन्दी क्लेदने—युच् । ओदनो मेघः—निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्—निरु० ६ । ३४ । सेचकं भक्तम् । अन्नम् (उच्छिष्टम्) उत्+शिष असर्वोपयोगे—क्तः । यः प्रलयात् शिष्यते शेषो भवति तं शेषपदार्थम् ।

किया । [गर्भ वा पिंड के रूप में पदार्थ बनाये], (ततः आदित्याः अजायन्त) उस [कर्म] से आदित्य [अखण्ड परमात्मा से उत्पन्न पदार्थ] उत्पन्न हुये । (यः एषः ओदनः पच्यते एतत् आरम्भणम् एव, आक्रमणम् एव क्रियते) [इसी प्रकार यज्ञ में] जो यह भात पकाया जाता है वह आरम्भ कर्म ही और आगे बढ़ने का कर्म ही किया जाता है, (प्रादेशमात्रीः समिधः भवन्ति, एतावान् हि आत्मा प्रजापतिना सम्मितः) प्रादेशमात्री [अँगूठे से तर्जनी तक परिमाण वाली] समिधायें होती हैं, इतना ही आत्मा प्रजापति [परमेश्वर] करके नापा गया है । (अश्वत्थे अग्नेः वै या यज्ञिया तनूः तया समगच्छत) पीपल [आदि काष्ठ] में अग्नि का जो निश्चय करके पूजनीय शरीर है, उसके साथ वह [अग्नि] मिला है, (एषा स्वधृत्या तनूः यत् घृतम्) यह अपने आप [अग्नि को] पुष्ट करने वाला शरीर है जो घृत है, (यत् घृतेन समिधः अनक्ति ताभ्यां तनूभ्याम् एव एनं तं समर्धयति) वह जो घी से समिधाओं को सींचता है, उन दोनों शरीरों [घी और समिधा] से ही इस प्रसिद्ध [अग्नि] को बढ़ाता है । (यत् निर्मार्गस्य अवकूत्या आदधाति वीर्य्यं वै क्रियते) जो निश्चित मार्ग के संकल्प से अग्न्याधान करता है, [उससे] वीर्य्य [सामर्थ्य] ही किया जाता है, (यत् निर्मार्गस्य अवकूत्या एव आदधाति संवत्सरः वै प्रजननम्, अग्निः प्रजननम्, एतत् प्रजननम् यत् संवत्सरः) जो निश्चित मार्ग के संकल्प से ही अग्न्याधान करता है वह संवत्सर ही उत्पादन सामर्थ्य है, अग्नि उत्पादन सामर्थ्य है, यह उत्पादन सामर्थ्य है जो संवत्सर है, (ऋचा अग्नौ समिधम् आदधाति) मन्त्र के साथ अग्नि में समिधा को रखता है । (प्रजननात् एव एनं तत् प्रजनयिता प्रजनयति) उत्पादन सामर्थ्य से ही इस अग्नि को वह उत्पन्न करने वाला [यजमान] उत्पन्न करता है (अभक्तुर्वै पुरुषः नहि तत् वेद यत् ऋतुम् अभिजायते) इस सृष्टि विज्ञान को न समझने वाला पुरुष यह नहीं जानता है कि ऋतुयें कैसे बनती हैं । (यत् नक्षत्रं तत् आप्नोति) जो नक्षत्र [नक्षत्र का वृष्टि आकर्षणादि प्रभाव] है उसको वह पाता है । (यः एषः ओदनः पच्यते एषा एव योनिः क्रियते) जो यह भात [यज्ञ में] पकाया जाता है यही गर्भाशय किया जाता है, (यत् समिधः आधीयन्ते तत् रेतः ध्रियते) जो समिधायें यथावत् रक्खी जाती हैं उससे वीर्य्य धरा जाता है, (संवत्सरः वै हितं रेतः प्रजायते) संवत्सर [समय] ही हितकारी वीर्य हो जाता है । (ये एते संवत्सरे, परि अग्निम् आधत्ते प्रजापतिः एव एनम् आधत्ते) यह जो [नियम हैं उनसे] संवत्सर तक अग्न्याधान करता है, प्रजापति [यजमान] ही

(आश्नात्) अश भोजने—लङ् । अभक्षयत् । अगृह्णात् (आदित्याः) दित्यदित्यादित्य० (पा० । ४ । १ । ८५) अदिति—ण्यप्रत्ययः, अपत्यार्थे । अदितिपुत्राः । सर्वे परमेश्वरजनितपदार्थाः (प्रादेशमात्रीः) हलश्च (पा० ३ । ३ । १२१) प्र + दिश अतिसर्जने—घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (पा० ६ । ३ । १२२) इति दीर्घः । मात्रच् प्रत्ययः । अंगुष्ठतर्जनीपरिमिताः । (सम्मितः) परिमितः । (स्वधृत्या) स्व + धृञ् धारणे—क्यप् । स्वपोषिका (अनक्ति) संयोजयति (निर्मार्गस्य) निश्चितमार्गस्य (अवकूत्या) अव + कूञ् शब्दे—क्तिन् । आकूत्या ।

इस [अग्नि] को यथावत् रखता है । (द्वादशसु रात्रीषु संवत्सरस्य पुरा आधेयात् ताः हि संवत्सरस्य प्रतिमाः, अथो तिसृषु अथो द्वयोः अथो पूर्वेद्युः आधेयात्) बारह रात्रियों में संवत्सर के पहिले [अग्नि को] यथावत् रक्खे वे ही [बारह रातें] संवत्सर की प्रतिमायें [स्थानापन्न] हैं, फिर तीन [रातों] में फिर दो में फिर पहिले दिन में [अग्नि को] यथावत् रक्खे । (ते वै आदित्याः अग्निम् आदधानेन इतः वै उत्तरम् एव मे अमुष्मिन् लोके आयन्) वे ही आदित्य [परमेश्वर के उत्पन्न पदार्थ] निश्चय करके अग्न्याधान से इससे पीछे भी मेरे लिये उस लोक [सुख स्थान] में प्राप्त होवें । (ते पथि रक्षन्तः इयम् = इदम् तत् उ यक्ष्यमाण प्रतिनुदन्ते उच्छेषणभाजाः वै आदित्याः) वे मार्ग में रक्षा करते हुये इस और उस दातव्य पदार्थ को भेजते रहते हैं, विशेष सामर्थ्य के बांटने वाले ही आदित्य [ईश्वर के उत्पन्न पदार्थ] हैं, (यत् उच्छिष्टम्) जो बचा हुआ पदार्थ है, (यत् उच्छिष्टेन समिधः अनक्ति तेभ्यः एव प्रोवाच तेभ्यः एव प्रोच्य स्वर्गलोकं यन्ति) जो वह बचे हुये पदार्थ से समिधायें सींचता है [पूर्ण आहुति देता है,] उसने उन [ईश्वर के उत्पन्न पदार्थों] के लिये ही कहा है, उन [ईश्वर के उत्पन्न पदार्थों] के लिये ही व्याख्या करके वे पुरुष स्वर्ग-लोक पाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थः--मनुष्यों को भौतिक यज्ञ के साथ परमात्मा और जीवात्मा का भी विचार करना चाहिये ॥ १५ ॥

विशेषः--इस कण्डिका को मिलाओ--अथ० ११ । १ ॥

कण्डिका १६ ॥

प्रजापतिरथर्वा देवः स तपस्तप्त्वैतच्चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत, चतुर्ल्लोकं चतुर्द्देवं चतुर्वेदं चतुर्हौत्रमिति, चत्वारो वा इमे लोकाः पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौराप इति, चत्वारो वा इमे देवा अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमाः, चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति, चतस्रो वा इमाः होत्रा हौत्रमाध्वर्य्यवमौद्गात्र ब्रह्मत्वमिति ।

तदप्येतदृचोक्तम् । चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश इति ।

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः, त्रयो अस्य पादा इति सवनान्येव, द्वे शीर्षे इति ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यावेव, सप्त हस्तासो अस्येति छन्दांस्येव, त्रिधा बद्ध इति मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं, वृषभो रोरवीत्येष ह वै वृषभ एष तद्रोरवीति यद्य-

---

संकल्पेन (यक्ष्यमाणम्) यज दाने स्यः, शानच् । दातव्यपदार्थम् (प्रतिनुदन्ते) प्रत्यक्षेण प्रेरयन्ति (उच्छेषणभाजाः) उत्+शिष असर्वोपयोगे--ल्युट्+भाज पृथक्कर्मणि--अण् । विशेषसामर्थ्यस्य विभक्तारः (यन्ति, प्राप्नुवन्ति ॥

१--अर्थ तुलनीय निरु० १३ । ७ ॥ सम्पा० ॥

ज्ञेषु शस्त्राणि शंसत्यृग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्ब्रह्मभिरिति, महोदेवो मर्त्यां आविवेशेत्येष ह वै महान् देवो यद्यज्ञ एषः मर्त्यां आविवेश । यो विद्यात्सप्त प्रवत इति प्राणानाह सप्त विद्यात्परावत इत्यपानानाह । शिरो यज्ञस्य यो विद्यादित्येतद्वै यज्ञस्य शिरो यन्मंत्रवान् ब्रह्मौदनो यो ह वा एतममन्त्रवन्तं ब्रह्मौदनमुपेयादपशिरसा ह वा अस्य यज्ञमुपेतो भवति तस्मान्मंत्रवन्तमेव ब्रह्मौदनमुपेयान्नामन्त्रवन्तमिति ब्राह्मणम् ।। १६ ।।

कण्डिका १६ ।। ब्रह्मज्ञानियों को चार चार प्रकार से ब्रह्मप्राप्ति ।।

(प्रजापतिः अथर्वा देवः) प्रजापति अथर्वा [प्रजापालक निश्चल] प्रकाशमान परमात्मा है । (सः तपः तप्त्वा एतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत, चतुर्लोकं चतुर्देवं चतुर्वेदं चतुर्होत्रम् इति) उसने तप करके इस चार प्रकार से फैले हुये ब्रह्मौदन [ब्रह्मज्ञानियों के अन्न] को बनाया, चार लोक, चार देव, चार वेद. और चार ऋत्विजों के कर्म [को बनाया]। (चत्वारः वै इमे लोकाः पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौः आपः इति) चार लोक यह हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रकाश और जल । (चत्वारः वै इमे देवाः अग्निः वायुः आदित्यः चन्द्रमाः) चार देव यह हैं अग्नि, पवन, सूर्य और चन्द्रमा । (चत्वारः वै इमे वेदाः ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेदः इति) चार वेद यह हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] (चतस्रः वै इमाः होत्राः होत्रम्, आध्वर्य्यवम् औद्गात्रं ब्रह्मत्वम् इति) चार ऋत्विजों की क्रियायें यह हैं—होता का कर्म, अध्वर्य्यु का कर्म उद्गाता का कर्म और ब्रह्मा का कर्म ।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) यह भी इस ऋचा करके कहा गया है। (चत्वारि शृङ्गाः त्रयः अस्य पादाः द्वे शीर्षे अस्य सप्त हस्तासः त्रिधा बद्धः वृषभः रोरवीति महः देवः मर्त्यान् आ विवेश इति)—ऋग्वेद ४ । ५८ । ३, आदि । तथा निरुक्त १३ । ७ । (चत्वारि अस्य शृङ्गा इति एते वै वेदाः उक्ताः, त्रयः पादाः इति सवनानि एव द्वे शीर्षे इति ब्रह्मौदनप्रवर्ग्यौ एव, सप्त हस्तासः अस्य इति छन्दांसि एव) इस [यज्ञ] के चार सींग [के समान] यह वेद कहे गये हैं, तीन पग [के समान] सवन [प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन अथवा कर्म उपासना ज्ञान], दो सिर [के समान] ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य [ब्रह्मज्ञानियों का अन्न और यज्ञाग्नि, अथवा अभ्युदय और निश्श्रेयस् सुख] हैं, सात हाथ [के समान गायत्री आदि प्रधान] छन्द ही हैं । (त्रिधा बद्धः इति मन्त्रः कल्पः ब्राह्मणम्) वह तीन

१६—(अथर्वा) गो० पू० १ । ४ । निश्चलः परमेश्वरः (चातुष्प्राश्यम्) चतुर्+प्र+अशूङ् व्याप्तौ-ण्यत्, स्वार्थे ष्यञ् । हलो यमां यमि लोपः (पा० ८ । ४ । ६४) यलोपः । चतुर्धा व्याप्यम् (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्मभ्यो ब्रह्मज्ञानिभ्यः ओदनम् अन्नम् (चतुर्ल्लोकम्) चतुर्णां लोकानां समाहारम् (द्यौः) प्रकाशलोकः (ब्रह्मवेदः) अथर्ववेदः (होत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४ । १६८) हु दानादानेषु —त्रन्, टाप् । होत्रा वाक्—निघ० १ । ११, यज्ञः—निघ० ३ । १७ । होत्राशब्दः

प्रकार से बंधा है, यह मन्त्र [वेदमन्त्र], कल्प [यज्ञपद्धति] और ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] हैं (एषः वृषभः रोरवीति एषः वृषभः ह वै तत् रोरवीति यत् यज्ञेषु शस्त्राणि ऋग्भिः यजुर्भिः सामभिः ब्रह्मभिः शंसति इति) यह वृषभ [बैल समान यज्ञ] बड़ा शब्द करता है, यही वृषभ [यज्ञ] वह बड़ा शब्द करता है जो यज्ञों में शस्त्रों [स्तोत्रों] को ऋग्वेद के मन्त्रों, यजुर्वेद के मन्त्रों सामवेद के मन्त्रों और ब्रह्मवेद के मन्त्रों से बोलता है। (महः देवः मर्त्यान् आविवेश इति एषः ह वै महान् देवः यत् यज्ञः एषः मर्त्यान् आविवेश) बड़ा देव मनुष्यों में प्रवेश करता है, यही बड़ा देव है जो यज्ञ है वह इन [भूतों] के बीच मनुष्यों में प्रवेश करता है।

(यः सप्त प्रवतः विद्यात् इति) [अथ० १०। १०। २।] (प्राणान् आह सप्त परावतः विद्यात् इति [दूसरा पाद] अपानान् आह) जो सात [२ हाथ, २ पांव, १ पायु, १ उपस्थ, १ उदर] उत्तम गति वालों को जाने, यह प्राणों को कहता है. सात [२ कान, २ नथने, २ आंखें, १ मुख] दूर गति वालों को जाने यह अपानों को कहा है। (यः यज्ञस्य शिरो विद्यात् इति [तीसरा पाद] एतत् वै यज्ञस्य शिरः यत् मन्त्रवान् ब्रह्मौदनः) जो यज्ञ के शिर को जाने यही यज्ञ का शिर है जो मन्त्रों सहित ब्रह्मौदन [ब्रह्मज्ञानियों का अन्न] है। (यः ह वै एतम् अमन्त्रवन्तम् ब्रह्मौदनम् उपेयात् अस्य [व्यवहारः] ह वै अपशिरसा यज्ञम् उपेतः भवति) जो कोई भी इस बिना मन्त्र वाले ब्रह्म ओदन को प्राप्त करे उसका [व्यवहार] बिना शिर वाले यज्ञ युक्त होता है। (तस्मात् मन्त्रवन्तम् एव ब्रह्मौदनम् उपेयात् न अमन्त्रवन्तम् इति ब्राह्मणम्) इसलिये मन्त्र वाले ही ब्रह्मौदन को प्राप्त करे, न बिना मन्त्र वाले को यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान है]॥ १६॥

भावार्थः—जो मनुष्य चारों वेदों को विचार कर श्रेष्ठ कर्म करता है वही सिद्धि पाता है॥ १६॥

विशेषः— ऊपर दिये हुए मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं।

१—चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश—ऋ० ४। ५८। ३, यजु० १७।

ऋत्विग्वाची स्त्रीलिङ्गः। होत्राभ्यश्छः (पा० ५। १। १:५) इति निर्देशात्। ततः अर्शआद्यच् टाप्। ऋत्विजीयाः क्रियाः (हौत्रम्) होतुः कर्म (अस्य) वृषभस्य (वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित् (उ० ३। १२३) वृषु सेचने—अभच्, कित्। सुखवर्षको यज्ञः (रोरवीति) रु शब्दे—यङ्लुकि रूपम्। भृशं रौति शब्दयति (महः) मह पूजायाम्—घञर्थे कः। महान् (प्रवर्ग्यः) प्रवर्ग—यत् स्वार्थे। यज्ञाग्निः (शस्त्राणि) स्तोत्राणि (शंसति) कथयति (एषः) उक्तपदार्थः (प्रवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (पा० ५। १। ११८) प्र—वति धात्वर्थे साधने। प्रकृष्टगतीन् लोकान् (परावतः) परा वति प्रत्ययः पूर्ववत्। दूरगतीन् देशान् (अपशिरसा) सुपां सुलुक्० (पा० ७। १। ३९) अपशिरस्—आ प्रत्ययो द्वितीयार्थे। अपशिरसम्। शिरोरहितम्॥

६१, निरुक्त १३। ७। [शृङ्गाः पद के स्थान पर वहां शृङ्गा पद है] (अस्य) इस [वृषभरूप यज्ञ] के (चत्वारि) चार [वेद] (शृङ्गा) सींग, (त्रयः) तीन [कर्म उपासना ज्ञान] (पादाः) पैर, (द्वे) दो [प्रायणीय और उदयनीय अर्थात् अस्तकाल और उदयकाल] (शीर्षे) सिर और (अस्य) इसके (सप्त) सात [गायत्री आदि छन्द] (हस्तासः) हाथ [समान] हैं। (त्रिधा) तीन प्रकार [मन्त्र, कल्प वा यज्ञ पद्धति और ब्राह्मण वा ब्रह्मज्ञान से] (बद्धः) बन्धा हुआ (वृषभः) वह बैल [समान यज्ञ] (रोरवीति) बड़ा शब्द करता है, (महः देवः) उस महान् देव [कामना योग्य यज्ञ] ने (मर्त्यान्) मनुष्यों में (आ विवेश) प्रवेश किया है ॥

२—यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः। शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रतिगृह्णीयात् ॥ अथ० १०। १०। २। (यः) जो [विद्वान्] (सप्त) सात [२ हाथ, २ पांव १ पायु, १ उपस्थ, १ उदर] (प्रवतः) उत्तम गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जाने और (सप्त) सात [२ कान, २ नथने, २ आँखें, १ मुख] (परावतः) दूर गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जान जावे। (यः) जो (यज्ञस्य) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म] के (शिरः) शिर [प्रधान अपने आतमा] को (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह [पुरुष] (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (प्रति) प्रतीति से (गृह्णीयात्) ग्रहण करे ॥

कण्डिका १७ ॥

किमुपयज्ञ आत्रेयो भवतीत्यादित्यं हि तमो जग्राह, तदत्रिरपनुनोद तदत्रिरन्वपश्यत्। तदप्येतदृचोक्तम्। स्रुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय दिवि त्वाऽत्रिरधारयत् सूर्य्या मासाय कर्त्तव इति। तं होवाच वरं वृणीष्वेति, स होवाच दक्षिणीया मे प्रजा स्यादिति, तस्मादात्रेयाय प्रथमं दक्षिणा यज्ञे दीयन्त इति ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ ईश्वर मानने वाले की महिमा ॥

(उपयज्ञः आत्रेयः किं भवति) यज्ञ में आया हुआ आत्रेय [अत्रि, नित्य ज्ञानी परमेश्वर का मानने वाला ब्राह्मण] क्या होता है। [उत्तर] (आदित्यं हि तमः जग्राह, तत् अत्रिः अपनुनोद, तत् अत्रिः अनु अपश्यत्) सूर्य्य को अन्धकार [प्रलय के अन्धेरे] ने पकड़ लिया था, उसको अत्रि [नित्य ज्ञानी परमेश्वर] ने हटा दिया, उसको अत्रि ने [नित्य ज्ञानी परमेश्वर ने वेद में] दिखा दिया है। (तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) वही इस ऋचा करके कहा गया है—(स्रुतात् यम् अत्रिः दिवम् उन्निनाय, सूर्य्या अत्रिः मासाय कर्तवे त्वा दिवि अधारयत् इति अथ० १३। २। ४ और अथ० १३। २१२) जिस [सूर्य] को अत्रि [नित्य ज्ञानी परमात्मा]

१७—(उपयज्ञः) उपगतयज्ञः। प्राप्तयज्ञः (आत्रेयः) अदेस्त्रिनिश्च (उ० ४। ६८) अत सातत्यगमने—त्रिप्। अत्रिः। सदा ज्ञानवान् परमात्मा। इतश्चानिञः (पा० ४। १। १२२) अत्रि—ढक् अपत्यार्थे। अत्रेः सदा ज्ञानवतः परमेश्वरस्य पुत्रः, ब्राह्मणः (तमः) प्रलयान्धकारः (अत्रिः) उपरि द्रष्टव्यम्। अनन्तज्ञानी

ने बहते हुए [प्रकृति रूप समुद्र] से आकाश में ऊँचा किया है, हे सूर्य [लोकों के चलाने वाले रवि मण्डल] अत्रि [सदा ज्ञानी परमात्मा] ने महीना [काल विभाग] करने के लिए उस तुझको आकाश में धारण किया है। (तं ह उवाच वरं वृणीष्व इति) उस [ब्राह्मण] से वह [यजमान] बोला—वर मांग। (स: ह उवाच मे प्रजा दक्षिणीया स्यात् इति) वह [ब्राह्मण] बोला—मेरी प्रजा [मेरे समान ब्रह्मज्ञानी] दक्षिणा योग्य होवे। (तस्मात् आत्रेयाय प्रथमं दक्षिणाः यज्ञे दीयन्ते इति ब्राह्मणम्) इसलिए आत्रेय [अत्रि, नित्य ज्ञानी परमेश्वर के मानने वाले ब्राह्मण] को पहिले दक्षिणायें यज्ञ में दी जाती हैं—यह ब्राह्मण है ॥ १७ ॥

भावार्थ:—मनुष्यों को चाहिये कि चारों वेद जानने वाले ब्रह्मज्ञानी का आदर सबसे अधिक करे ॥ १७ ॥

विशेष:—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है ॥

स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय—अथ० १३ । २ । ४, दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे—अथ० १३ । २ । १२—(यम्) जिस [सूर्य] को (अत्रि:) नित्य ज्ञानी [परमात्मा] ने (स्रुतात्) बहते हुए [प्रकृति रूप समुद्र] से (दिवम्) आकाश में (उन्निनाय) ऊँचा किया है, (सूर्य) हे सूर्य ! [लोकों के चलाने वाले रवि मण्डल] (अत्रि:) सदा ज्ञानवान [परमात्मा] ने (मासाय) महीना [काल विभाग] (कर्तवे) करने के लिए (त्वा) [उस] तुझको (दिवि) आकाश में (अधारयत्) धारण किया है ॥

कण्डिका १८ ॥

प्रजापतिर्वेदानुवाच अग्नीनादधीयेति, तान्वागभ्युवाचाश्वो वै सम्भाराणामिति, तङ्घोरात् क्रूरात्सलिलात्सरस उदानिन्युस्तान् वागभ्युवाचाश्वः शम्येतेति, तथेति तमृग्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति तस्मा अविसृप्ताय महद्भयं ससृजे, स एतां प्राचीं दिशम्भेजे स होवाचाशान्तोन्वयमश्व इति। तं यजुर्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति तस्मा अविसृप्ताय महद्भयं ससृजे, सः एतां प्रतीचीन्दिशं भेजे स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति। तं सामवेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति, केन नु त्वं शमयिष्यसीति, रथन्तर नाम मे सामाघोरञ्चाक्रूरञ्च तेनाश्व अभिष्टूयेत तस्मा अविसृप्ताय तदेव महद्भयं ससृजे. स एतामुदीचीन्दिशम्भेजे, स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति। तान्वागभ्युवाच शंयुमाथर्वणं गच्छतेति, ते शंयुमाथर्वणमासीनं प्राप्योचुर्नमस्ते अस्तु भगवन्नश्वः शम्येतेति। तथेति स खलु कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रमामन्त्रयामास विचारिन्निति, भगो इति

परमेश्वर: (अपनुनोद) दूरीकृतवान् (अन्वपश्यत्) निरन्तरं दर्शितवान् वेदे (स्रुताद्) स्रवणशीलाद् प्रकृतिरूपसमुद्राद् (दिवम्) आकाशम् (उन्निनाय) उन्नीतवान् (सूर्य्या) सांहितको दीर्घः। हे सूर्य्य (कर्तवे) तुमर्थे सेसेनसे० (पा० ३ । ४ । ९) करोतेः—तवेन्। कर्तुम्। (दक्षिणीयाः) कडङ्करदक्षिणाच्छ च (पा० ५ । १ । ६९) दक्षिणा—छप्रत्ययः। दक्षिणायोग्याः।

हास्मै प्रतिश्रुतं प्रतिशुश्रावाश्वः शम्येतेति, तथेति स खलु शान्त्युदकं चकाराथर्वणीभिश्चाङ्गिरसोभिश्चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैरिति शमयति तस्य ह स्नातस्याश्वस्याभ्युक्षितस्य सर्वेभ्यो रोमशमरेभ्योऽङ्गारा आशीर्य्यन्त सोऽश्वस्तुष्टो नमस्कारं चकार नमः शंयुमाथर्वणाय यो मा यज्ञमचीक्लृपदिति, भविष्यन्ति ह वा अतोऽन्ये ब्राह्मणा लघुसम्भारतमास्त आदित्यस्य पद आधास्यन्त्यनडुहो वत्सस्याजस्य श्वत्रणस्य ब्रह्मचारिणो वा एतद्वा आदित्यस्य पदं यद्भूमिस्तयैव पद आहितं भविष्यतीति सोऽग्नौ प्रणीयमानेऽश्वेऽन्वारब्धं ब्रह्मा यजमानं वाचयति यदक्रन्दः प्रथमं जायमान इति पञ्च, तं ब्राह्मणा उपवहन्ति तद्ब्रह्मोपाकुरुते एष ह वै विद्वांत्सर्वविद् ब्रह्मा यद्भृग्वङ्गिरोविदिति ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥

कण्डिका १८ ॥ विघ्नों को हटाकर अश्व नामक अग्नि की स्थापना ॥

(प्रजापतिः वेदान् उवाच अग्नीन् आ-दधीय इति) प्रजापति [परमेश्वर] ने वेदों से कहा--अग्नियों [आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि--क० २२] को मैं स्थापित करूँ। (तान् वाक् अभ्युवाच) उन [वेदों] से वाणी ने स्पष्ट कहा--(अश्वः वै सम्भाराणाम् इति) अश्व [व्यापक वा घोड़ा रूप अग्नि] ही संग्रहों का [ले जाने वाला है, यह ब्राह्मण वचन है]। (तं घोरात् क्रूरात् सलिलात् सरसः उत्--आ—निन्युः) उस [अश्व अग्नि] को भयंकर हिंसक, और जल से भरे हुये सरोवर से उन्हीं [वेदों] ने ऊँचा किया। (तान् वाक् अभि-उवाच अश्वः शम्येत इति) उनसे वाणी ने स्पष्ट कहा—अश्व [अग्नि] शान्त किया जावे। [वे बोले] (तथा इति) वैसा ही होगा (तम् ऋग्वेदः एत्य उवाच अहम् अश्वं शमेयम् इति) उससे ऋग्वेद आकर बोला—मैं अश्व को शान्त करूँ। (तस्मै अविसृप्ताय महत् भयं ससृजे) उस न सरकते हुए [ठहरे हुए अहंकारी] को बड़ा भय उत्पन्न हुआ। (सः एतां प्राचीं दिशं भेजे) उसने इस पूर्व दिशा को सेया [ऋग्वेदी होता अग्नि के पूर्व में बैठा]। (सः उवाच अशान्तः नु अयम् अश्वः) उसने कहा—यह अश्व [अग्नि] अशान्त ही है। (तं यजुर्वेदः एत्य उवाच अहम् अश्वं शमेयम् इति) उससे यजुर्वेद आकर बोला—मैं अश्व [अग्नि] को शान्त करूँ। (तस्मै अविसृप्ताय महत् भयं ससृजे) उस न सरकते हुए [ठहरे हुए, अहंकारी] को बड़ा भय उत्पन्न हुआ। (सः एतां प्रतीचीं दिशं भेजे) उसने

१८—(प्रजापतिः) प्रजापालकः परमात्मा (अग्नीन्) आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नीन्—क० २२ (आदधीय) आ+दधातेः विधिलिङ्। अहं यथाविधि धरेयम् (अश्वः) अशूप्रुषिलटि० (उ० १।१५१) अशूङ् व्याप्तौ—क्वन्। व्यापको घोटकरूपो वा अग्निः (वाक्) वेदवाणी (सम्भाराणाम्) संग्रहाणां वोढा, इत्यध्याहारः (घोरात्) हन्तेरच् घुर् च (उ० ५।६४) हन हिंसागत्योः—अच्, धातोः घुरादेशश्च। भयानकात्। (क्रूरात्) कृतेश्छः क्रू च (उ० २।२१) कृती छेदने—रक्, धातोः क्रू इत्यादेशः। हिंसकात्। कठिनात् (सलिलात्) सलिल—अर्श आद्यच्। जलपूर्णात् (सरसः) सरोवरात्। जलोपद्रवादित्यर्थः (उदानिन्युः) उन्नीतवन्तः (अविसृप्ताय) अविगताय। स्थिताय। अहङ्कारयुक्ताय। (रथन्तरम्)

इस पश्चिमी दिशा को सेया [यजुर्वेदी अध्वर्य्यु वेदी के पश्चिम में बैठा] (सः उवाच अशान्तः नु अयम् अश्वः इति) वह बोला—यह अश्व [अग्नि] अशान्त ही है। (तं सामवेदः एत्य उवाच अहम् अश्वं शमेयम् इति) उससे सामवेद आकर बोला—मैं अश्व [अग्नि] को शान्त करूं। [वाणी ने कहा] (केन नु त्वं शमयिष्यसि इति) किससे तू शान्त करेगा। [सामवेद बोला] (रथन्तरं नाम अघोरं च अक्रूरं च मे साम तेन अश्वः अभि—स्तूयते) रमणीय पदार्थों के साथ पार लगाने वाला प्रसिद्ध अभयानक और अहिंसक मेरा सामवेद सूक्त है, उससे अश्व की [अग्नि] स्तुति किया जाये। (तस्मै अविसृप्ताय तत् एव महत् भयं ससृजे) उस न सरकते हुये [ठहरे हुये अहंकारी] को वैसा ही बड़ा भय उत्पन्न हुआ। (स एताम् उदीचीं दिशं भेजे) उसने उत्तर वाली दिशा को सेया [सामवेदी उद्‌गाता वेदी के उत्तर में बैठा]। (सः ह उवाच अशान्तः नु अयम् अश्वः इति) वह बोला - यह अश्व [अग्नि] अशान्त ही है। (तान् वाक् अभि—उवाच आथर्वणं शंयुं गच्छत इति) उनसे वाणी ने स्पष्ट कहा—निश्चल ब्रह्म को जानने वाले शंयु [शान्तिवाले मुनि] के पास जाओ। (ते आथर्वणं शंयुम् आसीनं प्राप्य ऊचुः भगवन् ते नमः अस्तु अश्वः शम्येत इति) वे निश्चल ब्रह्म के जानने वाले शंयु [शान्तिवाले मुनि] को बैठा हुआ पाकर बोले—हे भगवन् तेरे लिये नमस्कार होवे, आप अश्व [अग्नि] को शान्त करें। [शंयु ने कहा] (तथा इति) वैसा ही होवे। (सः खलु आथर्वणस्य कबन्धस्य पुत्रम् आमन्त्रयामास विचारिन्निति) प्रसिद्ध है उसने निश्चल ब्रह्म को जानने वाले कबन्ध के पुत्र [काबन्धि—क० १०] को हे विचारिन्! ऐसा कहकर बुलाया—(भगो इति ह अस्मै प्रतिश्रुतं प्रतिशुश्राव) [काबन्धि बोला] हां भगवन्! मैंने इस विचार को सुन लिया। (अश्वः शम्येत इति) [कि] अश्व [अग्नि] शान्त हो जाये। (तथा इति) ऐसा ही हो। (सः खलु शान्त्युदकम् आथर्वणीभिः च आङ्गिरसीभिः च आतनैः मातृनामभिः वास्तोष्पत्यैः चकार इति) उसने तब निश्चल ब्रह्म वाली और पूर्ण ज्ञान वाली ऋचाओं के साथ विस्तार वाले प्रमाणकर्ताओं के नाम वाले और गृहपति वाले व्यवहारों से शान्ति के जल को बनाया, (शमयति) और [उसे] शान्त किया। (तस्य ह स्नातस्य अभि—उक्षितस्य अश्वस्य सर्वेभ्यः रोमशमरेभ्यः अङ्गाराः आ—अशीर्य्यन्त) उस शुद्ध किये हुये और भले प्रकार सींचे हुये अश्व [अग्नि] के सब रोम कूपों से अङ्गारे निकल पड़े। (सः अश्वः तुष्टः

रमु क्रीडायां—क्थन्+तॄ प्लवनसंतरणयोः—खच् [1]मुम् च। रथैः रमणीयपदार्थैस्तरति येन तत् (शंयुम्) कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः (पा० ५। २। १३८) शं—युस् मत्वर्थे, सकारः पदत्वार्थः। शान्तिमन्तम् (आथर्वणम्) निश्चलब्रह्मवेत्तारम् (कबन्धस्य) गो० पू० २। १०। मुनिविशेषस्य (रोमशमरेभ्यः) लस्य रः। रोमशमलेभ्यः। रोममलकूपेभ्यः। (अङ्गाराः) अङ्गिमदिमन्दिभ्यः आरन् (उ० ३। १३४) अगि गतौ—आरन्। निर्धूमाग्नयः (आशीर्य्यन्त)

---

1. 'क्थन्' उ० २। २ एवं खच् प्रत्यय अष्टा० ३। २। ४६ से हुआ है॥ सम्पा०॥

नमस्कारं चकार आथर्वणाय शंयुं नमः यः मा यज्ञम् अचीक्लृपत् इति) उस अश्व [अग्नि] ने संतुष्ट होकर नमस्कार किया—निश्चल ब्रह्म को जानने वाले शंयु [शांतिमान मुनि] को नमस्कार हो, जिसने मुझे यज्ञ के लिये समर्थ बनवाया है। (अतः अन्ये ब्राह्मणाः ह वै लघुसम्भारतमा. भविष्यन्ति) इस [कर्म] से दूसरे ब्रह्मज्ञानी लोग हलके बोझ वाले होंगे, (ते आदित्यस्य पदे अनड्डुहः वत्सस्य अजस्य श्रवणस्य ब्रह्मचारिणः [पदम्] वै आ—धास्यन्ति) वे सूर्य के पद में जीवन पहुँचाने वाले, निवास कराने वाले, प्रेरणा कराने वाले, सुनने वाले ब्रह्मचारी के [पद को] स्थापित करेंगे। (एतत् वै आदित्यस्य पदम् यत् भूमि; तया एव पदे [पदम्] आहितं भविष्यति इति) यही सूर्य का पद है जो भूमि है, उसके साथ ही पद में [पद] स्थापित होगा [अग्नि को भूमि पर हवन कुंड में रक्खे]। (अश्वे अग्नौ प्रणीयमाने स ब्रह्मा, अन्वरब्धं यजमानं वाचयति—यत् अक्रन्दः प्रथमं जायमानः इति पंच) अश्व अर्थात् अग्नि के संस्कार होते हुये पर वह ब्रह्मा अनुष्ठान करते हुये यजमान से बुलवाता है—[हे अश्व !] जो तूने उत्पन्न होते हुये पहिले शुद्ध किया है इन पांच को [यह प्रतीक ऋग्वेद १। १६३। १—५ की है—देखो क० २' ।] (तं ब्राह्मणाः उपवहन्ति तत् ब्रह्मा उपाकुरुते) उस [यजमान] को ब्राह्मण समीप लाते हैं और तब ब्रह्मा [उसका] संस्कार करता है। (एषः ह वै विद्वान् सर्ववित् ब्रह्मा यत् भृग्वङ्गिरोवित् इति ब्राह्मणम्) यही विद्वान् सब जानने वाला ब्रह्मा है जो प्रकाशमान ज्ञानों का जानने वाला [अर्थात् चतुर्वेदी पुरुष] है, यह ब्राह्मण है ॥ १८ ॥

भावार्थः—यज्ञ में ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, और सामवेदी अलग अलग अपना काम करें और चतुर्वेदी आप्त विद्वान् पुरुष ब्रह्मा का आसन ग्रहण करके सब कार्य करावे। देखो गो० पू० ५। ११, तथा निरुक्त १। ८ में लिखा है—"ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः" एक ब्रह्मा उत्पन्न हुये प्रत्येक कर्म में विद्या को बताता है, ब्रह्मा सब विद्याओं वाला होता है, अतः सब कुछ जानने में समर्थ होता है एवं वह वेदज्ञान के कारण से बढ़ा हुआ=समुन्नत होता है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९ ॥

देवाश्च ह वा असुराश्चास्पर्द्धन्त ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमन्नस्तावद्यज्ञं गोपाय

आङ्+शॄ हिंसायां—कर्मणि लङ्। विशीर्णा अभवन् (शंयुम्) शंयवे (अचीक्लृपत्) कृपू सामर्थ्ये—लुङि चङि रूपम्। समर्थं कारितवान् (अनड्डुहः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) अन प्राणने—असुन्। क्विप् च (पा० ३। २। ७६) अनस्+वह प्रापने—क्विप्, अनसो डश्च। अनसः प्राणस्य जीवनस्य वा वाहकस्य प्रापकस्य (वत्सस्य) वृतॄवदिवचिवसि० (उ० ३। ६२) वस निवासे—स प्रत्ययः। निवासकस्य (अजस्य) अज गतिक्षेपणयोः—अच्। प्रेरकस्य (श्रवणस्य) श्रवणशीलस्य (आहितम्) स्थापितम् (प्रणीयमाने) संस्क्रियमाणे (अन्वारब्धम्) कृतानुष्ठानम् (उपाकुरुते) संस्करोति ॥

यावदसुरैः संयतामहा इति, स वै नस्तेन रूपेण गोपाय येन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि येन शक्ष्यसि गोप्तुमिति, स ऋग्वेदो भूत्वा पुरस्तात्परीत्योपातिष्ठत्तं देवा अब्रुवन्नन्यत्तद्रूपं कुरुष्व नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शक्ष्यसि गोप्तुमिति, स यजुर्वेदो भूत्वा पश्चात्परीत्योपातिष्ठत्तं देवा अब्रुवन्नन्यत्तद्रूपं कुरुष्व नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शक्ष्यसि गोप्तुमिति, स सामवेदो भूत्वा उत्तरतः परीत्योपातिष्ठत् तं देवा अब्रुवन्नन्यदेव तद्रूपं कुरुष्व नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शक्ष्यसि गोप्तुमिति, स इन्द्र उष्णीषी ब्रह्मवेदो भूत्वा दक्षिणतः परीत्योपातिष्ठत्तं देवा अब्रुवन्नेतत्तद्रूपं कुरुष्वैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयस्येतेन शक्ष्यसि गोप्तुमिति, तद्यदिन्द्र उष्णीषी ब्रह्मवेदो भूत्वा दक्षिणतः परीत्योपातिष्ठत्तद् ब्रह्माऽभवत्तद्ब्रह्मणो ब्रह्मत्वं तद्वा एतदथर्वणो रूपं यदुष्णीषी ब्रह्मा, तं दक्षिणतो विश्वेदेवा उपासीदंस्तं यद्दक्षिणतो विश्वेदेवा उपासीदंस्तत्सदस्योऽभवत्तत्सदस्यस्य सदस्यत्वं बलेर्हं वा एतद् बलमुपजायते यत्सदस्य ओमयनो वै व्रजस्य बहुलतरं व्रजं विदन्ति, घोरा वा एषा दिग्दक्षिणा शान्ता इतरास्तद्यानि स्तुतानि ब्रह्माऽनुमन्त्रयते मनसैव तानि सदस्यो जनदित्येतां व्याहृतिं जपन् चेत्यात्मानं जनयति न जित्यात्मानमर्पित्वे दधाति, तं देवा अब्रुवन्वरं वृणीष्वेति वृणा इति, स वरमवृणीतास्यामेव मां होत्रायामिन्द्रभूतं पुनन्त स्तुवन्तः शंसन्त; तिष्ठेयुरिति तं तस्यामेव होत्रायामिन्द्रभूतं पुनन्त स्तुवन्त; शंसन्तोऽतिष्ठंस्तं यत्तस्यामेव होत्रायामिन्द्रभूतं पुनन्त स्तुवन्तः शंसन्तोऽतिष्ठंस्तद् ब्राह्मणाच्छंस्यभवत्तद्ब्राह्मणाच्छंसिनो ब्राह्मणाच्छंसित्वं सैषैन्द्री होत्रा यद् ब्राह्मणाच्छंसीया, द्वितीयं वरं वृणीष्वेति वृणा इति स वरमवृणीतास्यामेव मां होत्रायां वायुभूतं पुनन्त स्तुवन्तः शंसन्तस्तिष्ठेयुरिति तं तस्यामेव होत्रायां वायुभूतं पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तोऽतिष्ठंस्तं यत्तस्यामेव होत्रायां वायुभूतं पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तोऽतिष्ठंस्तत् पोता ऽभवत्तत् पोतुः पोतृत्वं सैषा वायव्या होत्रा यत् पोत्रिया, तृतीयं वरं वृणीष्वेति वृणा इति स वरमवृणीतास्यामेव मां होत्रायामग्निभूतमिन्धानाः पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तस्तिष्ठेयुरिति तन्तस्यामेव होत्रायामग्निभूतमिन्धानाः पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तोऽतिष्ठंस्तं यत्तस्यामेव होत्रायामग्निभूतमिन्धानाः पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तोऽतिष्ठंस्तदाग्नीध्रोऽभवत्तदाग्नीध्रस्याग्नीध्रत्वं सैषाग्नेयी होत्रा यदाग्नीध्रीयेति ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥

कण्डिका १९ ॥ आख्यायिका—असुरों से इन्द्र द्वारा देवताओं की रक्षा और अग्न्याधान ॥

(देवाः च ह वै असुराः च अस्पर्धन्त) देवता और असुर लड़ने लगे । (ते देवाः इन्द्रम् अब्रुवन् इमं नः यज्ञं तावत् गोपाय, यावत् असुरैः संयतामहै इति)

१९—(गोपाय) रक्ष (संयतामहै) यती प्रयत्ने–लोट् । संग्रामं करवामहै ।

वे देवता इन्द्र से बोले—इस हमारे यज्ञ की तब तक रक्षा कर, जब तक हम असुरों से लड़ें। (सः वै नः तेन रूपेण गोपाय येन रूपेण नः भूयिष्ठं छादयसि येन गोप्तुं शक्ष्यसि इति) सो तू हमें उस रूप से बचा जिस रूप से तू हमें बहुत बहुत छिपाता है और जिससे तू रक्षा कर सकता है। (सः ऋग्वेदो भूत्वा पुरस्तात् परीत्य उपातिष्ठत्) वह [इन्द्र] ऋग्वेद होकर पूर्व ओर से घूम कर पास बैठ गया [देखो कण्डिका १८]। (तं देवाः अब्रुवन् अन्यत् तत् रूपं कुरुष्व एतेन रूपेण नः भूयिष्ठं न छादयसि न एतेन गोप्तुं शक्ष्यसि इति) उससे देवता बोले—दूसरा वह रूप कर, इस रूप से तू हमें बहुत बहुत नहीं छिपाता है और न इससे तू बचा सकता है।

(सः यजुर्वेदः भूत्वा पश्चात् परीत्य उपातिष्ठत्) वह यजुर्वेद हो कर पश्चिम ओर से घूम कर पास बैठ गया। (तं देवाः अब्रुवन् अन्यत् तत् रूपं कुरुष्व एतेन रूपेण नः भूयिष्ठं न छादयसि न एतेन गोप्तुं शक्ष्यसि इति) उससे देवता बोले—दूसरा वह रूप कर, इस रूप से तू हमें बहुत बहुत नहीं छिपाता है और न इससे तू बचा सकता है। (स सामवेदः भूत्वा उत्तरतः परीत्य उपातिष्ठत्) वह सामवेद होकर उत्तर की ओर से घूमकर पास बैठ गया। (तं देवा अब्रुवन् अन्यत् एव तत् रूपं कुरुष्व एतेन रूपेण नः भूयिष्ठं न छादयसि न एतेन गोप्तुं शक्ष्यसि इति) उससे देवता बोले—दूसरा ही वह रूप कर, इस रूप से तू हमें बहुत बहुत नहीं छिपाता है और न इससे तू बचा सकता है। (सः उष्णीषी इन्द्रः ब्रह्मवेदः भूत्वा दक्षिणतः परीत्य उपातिष्ठत्) वह पगड़ी वाला इन्द्र ब्रह्मवेद [चारों वेदों का समूह] होकर दक्षिण की ओर से घूम कर पास बैठ गया। (तं देवाः अब्रुवन् एतत् तत् रूपं कुरुष्व एतेन रूपेण नः भूयिष्ठं छादयसि एतेन गोप्तुं शक्ष्यसि इति) उससे देवता बोले—इससे वह रूप कर, इस रूप से तू हमें बहुत बहुत छिपाता है और इससे बचा सकता है। (तत् यत् उष्णीषी इन्द्रः ब्रह्मवेदः भूत्वा दक्षिणतः परीत्य उपातिष्ठत्, तत् ब्रह्मा अभवत् तत् ब्रह्मणः ब्रह्मत्वम्, तत् वै एतत् अथर्वणः रूपम् यत् उष्णीषी ब्रह्मा) वह जो पगड़ी वाला इन्द्र ब्रह्मवेद [चारों वेदों का समूह] हो कर दक्षिण की ओर से घूम कर पास बैठ गया वह ब्रह्मा हो गया, वह ब्रह्मा का ब्रह्मापन है, वही यह अथर्वा [निश्चल ब्रह्म] का रूप है जो पगड़ी वाला ब्रह्मा है [अर्थात् सब वेद जानने वाला ब्रह्मा होता है—क० १८]।

(तं दक्षिणतः विश्वेदेवाः उपासीदन्) उसके दक्षिण ओर सब देवता बैठ गये। (तं दक्षिणतः यत् विश्वेदेवाः उपासीदन् तत् सदस्यः अभवत् तत् सदस्यस्य

(छादयसि) वेष्टयसि (उष्णीषी) उष्णीष—इनिः। शिरोवेष्टनवान् (ब्रह्मवेदः) चतुर्वेदसमूहः (ब्रह्मा) चतुर्वेदवेत्ता (अथर्वणः) निश्चलब्रह्मणः (विश्वेदेवाः) सर्वे याजकाः (उपासीदन्) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—लङ्। उपातिष्ठन् (सदस्यः) सदस्—यत्। सभायां साधुः (बलेः) उपहारात्। पूजनद्रव्यात्

सदस्यत्वं, बलेः ह वै [1]एतत् बलम् उपजायते यत् सदस्यः आमयतः वै व्रजस्य बहुलतरं व्रजं विदन्ति) उसके दक्षिण ओर जो सब देवता बैठ गये, उससे वह सदस्य [सभा में चतुर] हुआ, वह सभा में चतुर पुरुष का सभा में चतुर्पन है। बलि [भेंट] से ही यह बल [सामर्थ्य] उत्पन्न होता है जो सभा में चतुर है चलते हुये मार्ग के देश की बहुत कर के बड़ाई करते हैं। (एषा दक्षिणा दिक् वै घोरा इतराः शान्ताः) यह दक्षिण दिशा भयानक है और दूसरी शान्त हैं। [क्योंकि दक्षिण में यज्ञ का द्वार होता है]। (तत् यानि स्तुतानि ब्रह्मा अनुमंत्रयते मनसा एव सदस्यः तानि जनत् इति एतां व्याहृतिं जपन् च इति आत्मानं जनयति, जित्या आत्मानम् अपित्वे न दधाति) सो जिन स्तोत्रों को ब्रह्मा मन्त्र के अनुकूल करता है, मन से ही सदस्य उन [स्तोत्रों] को और जनत् [गो० पू० १ । ८] इस व्याहृति को जपता हुआ [यज्ञ के] आत्मा को प्रकट करता है और जीव से आत्मा को अप्राप्ति [वस्तुओं को अभाव] में नहीं रखता है [अर्थात् सब पदार्थ पा लेता है]। (तं देवाः अब्रुवन् वरं वृणीष्व इति) उससे देवता बोले—वर मांग। (वृणै इति) [इन्द्र बोला] मैं मांगूं। (स वरम् अवृणीत अस्याम् एव होत्रायां माम् इन्द्रभूतं पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तः तिष्ठेयुः इति) उसने वर मांगा—इस ही स्तुति में मुझ इन्द्र [सूर्य समान] होते हुये को पवित्र करते हुये, पूजते हुये और बड़ाई करते हुये आप लोग ठहरें। (तस्याम् एव होत्रायां तम् इन्द्रभूतं पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तः अतिष्ठन्) उस ही स्तुति में उस इन्द्र होते हुए को पवित्र करते हुए, पूजते हुए और बड़ाई करते हुए वे ठहरे। (यत् तस्याम् एव होत्रायां तम् इन्द्रभूतं पुनन्तः स्तुवन्तः शंसन्तः अतिष्ठन् तत् ब्राह्मणाच्छंसी अभवत्) जो उसी ही स्तुति में उस इन्द्र [सूर्य] होते हुए को पवित्र करते हुए, पूजते हुए, और बड़ाई करते हुए वे ठहरे, उससे वह ब्राह्मणाच्छंसी [ब्रह्मज्ञान

(आमयतः) अम गतौ चुरादिः - शतृ। गच्छतः (व्रजस्य) मार्गस्य (व्रजम्) देशम् (विदन्ति) विद ज्ञाने—लट्। जानन्ति (स्तुतानि) स्तोत्राणि (जित्या) जयेन (अपित्वे) अ + पि गतौ—त्वन्। अभिपित्वम् = अभिप्राप्तिम्—निरु० ३ । १५ । अप्राप्तौ (होत्रायाम्) क० १६ । स्तुतौ । (स्तुवन्तः) स्तौति = अर्चति—निघ० ३ । १४ । पूजयन्तः (शंसन्तः) प्रशंसन्तः (ब्राह्मणाच्छंसी) ब्राह्मणात्—

---

१. यहाँ अर्थ की सङ्गति इस प्रकार है—दक्षिण दिशा की ओर समासीन ब्रह्मा के सामने सभी देवता सभा के रूप में बैठ गये इससे वह ब्रह्मा (सदसि साधुः) सदस्य कहलाया। बलशाली ब्रह्मा का बल भी तभी उत्पन्न होता है जब सदस्य (देव) बैठते हैं।

आगे—'आमयतः वै व्रजस्य' यहाँ 'छादयति' का अध्याहार तथा विभक्ति विपरिणाम करके वाक्य होगा 'आमयतः वै व्रजम् छादयति' अर्थात् इस यज्ञ से व्रज = गोष्ठ रोगमुक्त हो जाता है, इस प्रकार पुष्कल पशुधन प्राप्त होते हैं।

ऐसी अर्थसङ्गति 'बली' को इनि प्रत्ययान्त तथा 'व्रजः' में पचाद्यच् मानने से होगी ॥ सम्पा० ॥

से स्तुति वाला] हुआ, (तत् ब्राह्मणाच्छंसिन: ब्राह्मणाच्छंसित्वम्) वही ब्राह्मणाच्छंसी का ब्राह्मणाच्छंसीपन है। (सा एषा ऐन्द्री होत्रा यत् ब्राह्मणाच्छंसीया) वही इन्द्र की स्तुति है जो ब्राह्मणाच्छंसी की है।

(द्वितीयं वरं वृणीष्व इति) [देवता बोले] दूसरा वर मांग। (वृणै इति) [इन्द्र बोला] मैं मांगूं। (स: वरम् अवृणीत अस्याम् एव होत्रायां मां वायुभूतं पुनन्त: स्तुवन्त: शंसंत: तिष्ठेयु: इति) उसने वर मांगा उस ही स्तुति में मुझ पवन होते हुये को पवित्र करते हुये, पूजते हुये और बड़ाई करते हुये आप ठहरें। (तस्याम् एव होत्रायां तं वायुभूतं पुनन्त: स्तुवन्त: शंसन्त: अतिष्ठन्) उस ही स्तुति में उस पवन होते हुये को पवित्र करते हुये, पूजते हुये और बड़ाई करते हुये वे ठहरें। (यत् तस्याम् एव होत्रायां तं वायुभूतं पुनन्त: स्तुवन्त: शंसन्त: अतिष्ठन् तत् पोता अभवत् तत् पोतु: पोतृत्वम्) जो उसी ही स्तुति में उस पवन रूप होते हुये को पवित्र करते हुये, पूजते हुए और बड़ाई करते हुये वे ठहरे, इससे वह पोता [शोधने वाला] हुआ, वही पोता का पोतापन है। (सा एषा वायव्या होत्रा यत् पोत्रिया) वही पवन की स्तुति है जो पोता की है।

(तृतीयं वरं वृणीष्व) [देवता बोले] तीसरा वर मांग। (वृणै इति) [इन्द्र बोला] मैं मांगूं। (स: वरम् अवृणीत अस्याम् एव होत्रायां माम् अग्निभूतम् इन्धाना: पुनन्त: स्तुवन्त: शंसन्त: तिष्ठेयु: इति) उसने वर मांगा—इस ही स्तुति में मुझ अग्नि [समान] होते हुए को प्रकाश करते हुये, पवित्र करते हुये, पूजते हुये और बड़ाई करते हुये आप ठहरें। (तस्याम् एव होत्रायां तम् अग्निभूतम् इन्धाना: पुनन्त: स्तुवन्त: शंसन्त: अतिष्ठन्) उस ही स्तुति में उस अग्नि होते हुये को प्रकाश करते पवित्र करते हुये पूजते हुये और बड़ाई करते हुये वे ठहरे। (यत् तस्याम् एव होत्रायां तम् अग्निभूतम् इन्धाना: पुनन्त: स्तुवन्त: शंसन्त: अतिष्ठन् तत् आग्नीध्र: अभवत् तत् आग्नीध्रस्य आग्नीध्रत्वम्) जो उस ही स्तुति में उस अग्नि होते हुए को प्रकाश करते हुए, पवित्र करते हुए, पूजते हुए और बड़ाई करते हुए वे ठहरे, वह अग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक] हुआ, यही आग्नीध्र का आग्नीध्रपन है, (सा एषा आग्नेयी होत्रा यत् आग्नीध्रीया इति ब्राह्मणम्) और वही अग्नि की स्तुति है जो आग्नीध्र की है—यह ब्राह्मण है॥ १९॥

शंसी—इनिप्रत्ययान्त:। ब्राह्मणात् ब्रह्मज्ञानात् शंसा प्रशंसा यस्य स:। इन्द्रस्य विशेषणम् (ऐन्द्री) इन्द्र—अण्, ङीप्। इन्द्रसम्बन्धिनी (ब्राह्मणाच्छंसीया) वृद्धाच्छ: (पा० ४। २। ११४) ब्राह्मणाच्छंस—छ:। ब्रह्मज्ञानात् प्रशंसासंबद्धा (पोता) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० (उ० २। ९५) पुनाते:—तृन्। शोधक:। ऋत्विक् (वायव्या) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् (पा० ४। २। ३१) वायु—यत्। पवनसंबन्धिनी (पोत्रिया:) पोतृ—घप्रत्यय:। पोतृसंबन्धिनी (इन्धाना:) प्रदीपयन्त: (आग्नीध्र:) पू० १। २३। अग्नीध्र:। ऋत्विग्विशेष:। अग्निरक्षक:। अग्निप्रदीपक: (आग्नेयी) अग्नेर्ढक् (पा० ४। २। ३३) अग्नि—ढक्, ङीप्। अग्निसम्बन्धिनी (आग्नीध्रीया) छप्रत्ययान्त:। अग्निप्रदीपकसंबन्धिनी॥

भावार्थ :—जो मनुष्य चारों वेदों में निपुण है वही निर्विघ्न होकर सब सामग्री यथावत् एकत्र कर के अग्न्याधान करावे ॥ १६ ॥

कण्डिका २० ॥

ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार। सोऽयमग्निर्वैश्वानरो ब्राह्मणेन भ्रियमाण इमांल्लोकान् जनयतेऽथायमीक्षतेऽग्निर्जातवेदा ब्राह्मणद्वितीयो ह वा अयमिदमग्निर्वैश्वानरो ज्वलति हन्ताहं यन्मयि तेज इन्द्रियं वीर्य्यन्तद्दर्शयाम्युत वै मा बिभ्रियादिति, स आत्मानमाप्याययेत्तं पयोधोक्तमिमं ब्राह्मणं दर्शयित्वाऽऽत्मन्यजुहोत् सद्वितीयमात्मानमाप्याययेत्तं घृतमधोक्तमिमं ब्राह्मणं दर्शयित्वा आत्मन्यजुहोत्, स तृतीयमात्मानमाप्याययेतदिदं विश्वं विकृतमन्नाद्यमधोक्तमिमं ब्राह्मणं दर्शयित्वाऽऽत्मन्यजुहोत्, स चतुर्थमात्मानमाप्याययेत्तेन ब्राह्मणस्य जायां विराजमपश्यत् तामस्मै प्रायच्छत् स आत्मा अपित्वमभवत्तत इममग्निं वैश्वानरं परास्युर्ब्राह्मणोऽग्निं जातवेदसमधत्त, सोऽयमब्रवीत् अग्ने जातवेदो अभिनिधेहि मैहीति तस्य द्वैतं नामाधत्ताघोरं चाक्रूरश्च, सोऽश्वोऽभवत्तस्मादश्वो वहेत् रथं न भवति पृष्ठेन सादिनं, स देवानागच्छत्स देवेभ्योऽन्वातिष्ठत् तस्माद्देवा अविभयुस्तं ब्रह्मणे प्रायच्छन्तमेतयच्चर्याऽशमयत् ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ वैश्वानर, जातवेदा और अश्व नामक अग्नि ॥

(ब्राह्मणः ह वै इमं वैश्वानरं अग्निं बभार) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] ने ही इस वैश्वानर [सब नरों के हित करने वाले] अग्नि को धारण किया। (सः अयं वैश्वानरः अग्निः ब्राह्मणेन भ्रियमाणः इमान् लोकान् जनयते) सो यह वैश्वानर अग्नि ब्राह्मण से धारण किया हुआ होकर इन लोकों को उत्पन्न करता है। (अथ ब्राह्मणद्वितीयः अयम् जातवेदाः अग्निः ह वै [इदम्] ईक्षते, अयम् वैश्वानरः अग्निः इदम् ज्वलति) फिर ब्राह्मण को सहायक रखने वाला यह जातवेदा [उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान] अग्नि [इस जगत को] देखता है, और यह वैश्वानर [सब नरों का हितकारी] अग्नि इस [जगत्] को प्रकाशित करता है। (हन्त यत् मयि तेजः इन्द्रियं वीर्य्यं तत् अहम् दर्शयामि, उत् वै मा बिभ्रियात् इति) [अग्नि बोला] हर्ष हो! जो मुझमें तेज, ईश्वरत्व और वीरपन है उसको मैं दिखाऊँ और वह निश्चय करके मुझको धारण

२०—(वैश्वानरम्) नॄ नये—अच्। नृणाति, नयतीति नरः। पुरुषः। नरे संज्ञायाम् (पा० ६। ३। १२९) विश्वस्य दीर्घः। तस्मै हितम् (पा० ५। १। ५) इत्यण्। वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्ति–निरु० ७। २१। सर्वनरहितम् (जातवेदाः) गतिकारकोपपदयोः० (उ० ४। २२७) जात+विद ज्ञाने विद्लृ लाभे, विद सत्तायां वा—असिप्रत्ययः। जातवेदाः कस्मात् जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा—निरु० ७। १९। जातेषु उत्पन्नपदार्थेषु विद्यमानः (ब्राह्मणद्वितीयः) ब्राह्मणो द्वितीयः सहायो यस्य सः (इदम्)

करे । (सः आत्मानम् आप्याययेत् तं पयः अधोक्) वह [ब्राह्मण, अग्नि के] स्वरूप को पुष्ट करे, और उस [ब्राह्मण] को उस [अग्नि] ने दूध दुहा है, (इमं ब्राह्मणं दर्शयित्वा आत्मनि अजुहोत्) और [वह दूध] इस ब्राह्मण को दिखा कर उस [अग्नि] ने अपने में ले लिया । (सः द्वितीयम् आत्मानम् आप्याययेत् तं घृतम् अधोक् तम् इमम् ब्राह्मणं दर्शयित्वा आत्मनि अजुहोत्) वह [ब्राह्मण, अग्नि के] दूसरे स्वरूप को पुष्ट करे, और उस ब्राह्मण को उस [अग्नि] ने घृत दुहा है और [वह घृत] इस ब्राह्मण को दिखाकर उस [अग्नि] ने अपने में ले लिया । (सः तृतीयम् आत्मानम् आप्याययेत् तत् इदं विश्वं विकृतम् अन्नाद्यम् अधोक्, तम् इमं ब्राह्मणं दर्शयित्वा आत्मनि अजुहोत्) वह [ब्राह्मण, अग्नि के तीसरे स्वरूप को पुष्ट करे, और इस सब विविध प्रकार किये हुये अन्न को उस [अग्नि] ने दुहा है और इस ब्राह्मण को दिखा कर उसने अपने में ले लिया है । (सः चतुर्थम् आत्मानम् आप्याययेत् तेन ब्राह्मणस्य विराजं जायाम् अपश्यत्) वह [ब्राह्मण, अग्नि के] चौथे स्वरूप को पुष्ट करे, उससे उस [अग्नि] ने ब्राह्मण की विविध ऐश्वर्यवाली जनयित्री शक्ति को देखा । (ताम् अस्मै प्रायच्छत्) उसने उस [जनयित्री शक्ति] को उस [ब्राह्मण] को दे दिया । (सः आत्मा अपित्वम् अभवत्) उस [ब्राह्मण] ने अपने में [अग्नि की] अप्राप्ति को पाया । (ततः परास्युः ब्राह्मणः इमं वैश्वानरम् अग्निं जातवेदसम् अग्निम् अधत्त) तब श्रेष्ठ व्यवहारों के ग्रहण करने वाले ब्राह्मण ने वैश्वानर [सब नरों के हितकारक] अग्नि और जातवेदा [सब प्राणियों में वर्त्तमान] अग्नि को धारण किया । (सः अयम् अब्रवीत् जातवेदः अग्ने मा अभिनिधेहि एहि इति) सो यह [ब्राह्मण] बोला—हे जातवेदा [उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान] अग्नि ! मुझे सब ओर से पुष्ट कर, तू आ । (तस्य द्वैतं नाम अघोरं च अक्रूरं च अधत्त) और उसका दो प्रकार वाला नाम अभयानक और अहिंसक रक्खा । (सः अश्वः अभवत्) वह [अग्नि] अश्व [व्यापक घोड़े के समान] हो गया । (तस्मात् अश्वः रथं वहेत् न पृष्ठेन सादिनम् भवति) इसलिये अश्व रथ [देह] को ले चलता है जैसे वह पीठ से

दृश्यमानं जगत् (ज्वलति) ज्वलयति (हन्त) हर्षे (आत्मानम्) स्वरूपम् । देहम् (पयः) दुग्धम् (अधोक्) दुह प्रपूरणे—लङ् । दुग्धवान् । पूरितवान् (अजुहोत्) हु दानादानादनेषु—लङ् । गृहीतवान् (विकृतम्) विविधं कृतम् । उत्पादितम् (अन्नाद्यम्) भक्षणीयमन्नम् । (जायाम्) जनेर्यक् (उ० ४ । १११) जन जनने—यक्, आत्वम्, टाप् । जनयित्रीं शक्तिम् (विराजम्) सत्सूद्विषद्रुह० (पा० ३ । २ । ६१) वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्य्ये च—क्विप् । विविधदीप्यमानाम् । विविधैश्वर्य्याम् (आत्मा) आत्मनि (अपित्वम्) क० १९ । अप्राप्तिम् (अभवत्) भू प्राप्तौ—लङ् । अप्राप्नोत् । (परास्युः) परान् श्रेष्ठव्यवहारान् असति गृह्णातीति । यजिमनिशुन्धि० (उ० ३ । २०) पर+अस गतिदीप्त्यादानेषु—युच्, बाहुलकात् । श्रेष्ठव्यवहाराणां ग्रहीता (द्वैतम्) द्विधाभेदयुक्तम् (वहेत) गमयेत् (रथम्) यानम् । शरीरम् (न) उपमायाम् । यथा (सादिनम्) अश्ववारम् ॥

अश्ववार को पाता है। (सः देवान् आगच्छत् स देवेभ्यः अन्वातिष्टत्) वह [अग्नि] देवों [इन्द्रियों] में आया और वह देवो के लिये अनुष्ठान करने लगा। (तस्मात् देवाः अबिभयुः, तं ब्रह्मणे प्रायच्छन्) उससे देव डर गये, उसे उन्होंने ब्राह्मण को दे दिया। (तम् एतया ऋचा अशमयत्) उस [ब्राह्मण] ने उसको इस ऋचा से शान्त किया [कण्डिका २१ देखो]॥ २० ॥

भावार्थः—देव इन्द्रियां और असुर रोगादि विघ्न हैं, ब्राह्मण जीव है, अश्व, वैश्वानर और जातवेदा अग्नि के नाम हैं। भावार्थ यह है कि जीवात्मा अग्नि को रोगादि विघ्नों से बचाकर, शरीर को स्वस्थ रखकर कार्यकुशल होवे—मिलाओ क० १८, १९, और २० को ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

अग्निं त्वाहुर्वैश्वानरं सदनान् प्रदहन्वगाः। स नो देवत्राविब्रूहि मा रिषामा वयन्तवेति। तमेताभिः पञ्चभिर्ऋग्भिरुपाकुरुते यदक्रन्दः प्रथमं जायमान इति।

सोऽशाम्यत्तस्मादश्वः पशूनां जिघत्सुतमो भवति वैश्वानरो ह्येष तस्मादग्निपदमश्वं ब्रह्मणे ददाति ब्रह्मणे हि प्रत्तन्तस्य रसमपीड त् स रसोऽभवद्रसो ह वा एष तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते, परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। स देवानागच्छत् स देवेभ्योऽन्वातिष्ठत्तस्माद्देवा अबिभयुस्तं ब्रह्मणे प्रायच्छन्तमेतयर्चाऽऽज्याहुत्याऽभ्यजुहोदिन्द्रस्यौजो मरुतामनीकमिति। रथमभिहुत्य तमेतयर्चाऽतिष्ठद् वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया इति।

तस्मादाग्न्याधेयिकं रथं ब्रह्मणे ददाति, ब्रह्मणे हि प्रत्तं तस्य तक्षाणस्तनूज्येष्ठां दक्षिणां निरमिमीत। तां पञ्चस्वन्वश्यदृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे।

तासां द्वे ब्रह्मणे प्रायच्छद्वाचं च ज्योतिश्च, वाग्वै धेनुर्ज्योतिर्हिरण्यं तस्मादाग्न्याधेयिकां चातुष्प्राश्यां धेनुं ब्रह्मणे ददाति, ब्रह्मणे हि प्रत्ता पशुषु शाम्यमानेषु चक्षुर्हापयन्ति चक्षुरेव तदात्मनि धत्ते यद्वै चक्षुस्तद्धिरण्यं तस्मादाग्न्याधेयिकं हिरण्यं ब्रह्मणे ददाति, ब्रह्मणे हि प्रत्तं तस्यात्मन्नधत्त तेन प्राज्वलयत् यन्नाधत्त तदाग्लाऽभवत्तदाग्ला भूत्वा सा समुद्रं प्राविशत्सा समुद्रमदहत्तस्मात्समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण हि दग्धः सा पृथिवीमुदैत्सा पृथिवीं व्यदहत्सा देवानागच्छत्सा देवानहेडत्त[1] देवा ब्रह्माणमुपाधावन् स नैवागायन्नानृत्यत् सैषा ग्लैषा कारुविदा नाम तं वा एतमाग्लाहतं सन्तमाग्लागृध इत्याचक्षते, परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्त्तनो वा भवति तमाग्लागृध इत्याचक्षते, तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्नानृत्येन्माग्लागृधः स्यात्तस्माद् ब्राह्म्यं पूर्वं हविरपरं प्राजापत्यं प्राजापत्याद् ब्राह्म्यमेवोत्तममिति ब्राह्मणम् ॥ २१ ॥

---

१. हेडृ धातोः आत्मनेपदित्वात् 'अहेडत' इति समीचीनः पाठः प्रतिभाति ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका २१ ॥ वैश्वानर, जातवेदा और अश्व नामक अग्नि का वही विषय ॥

(त्वा वैश्वानरम् अग्निम् आहुः सदनान् प्रदहन् उ अगाः, सः नः देवत्रा अधिब्रूहि, वयं तव मा रिषाम इति) [क० देखो २०] तुझको वैश्वानर [सब नरों का हितकारी] अग्नि लोग कहते हैं, [शत्रुओं के] घर वालों को जलाता हुआ तू चला है, सो तू हमसे विद्वानों के बीच अधिकार पूर्वक बोल, हम तेरे होकर दुखी न होवें [यह ब्राह्मण वचन है]।

(तम् एताभिः पंचभिः ऋग्भिः उपाकुरुते, यत् प्रथमं जायमानः अक्रन्दः इति) उस [अश्व] को इन पांच ऋचाओं से वह [ब्राह्मण] संस्कार करता है—जो तूने उत्पन्न होते हुये पहिले शब्द किया है, [यह प्रतीक ऋग्वेद १ । १६३ । १—५ की, है, देखो क० १८]।

(सः अशाम्यत्) वह [अश्व अग्नि] शान्त हो गया, (तस्मात् अश्वः पशूनां जिघत्सुतमः भवति) इसलिये अश्व पशुओं में अधिक खानेवाला होता है [वैसा ही अग्नि है]। (एषः हि वैश्वानरः) यही [अश्व] वैश्वानर [अग्नि] है, (तस्मात् अग्निपदम् अश्वं ब्रह्मणे ददाति) इसलिये अग्नि पद वाले अश्व को ब्रह्मा [विद्वान्] के लिये देता है। (ब्रह्मणे हि प्रत्तं तस्य रसम् अपीडयत्) ब्रह्मा के लिये उस दिये हुये के रस को उस [प्रजापति] ने निचोड़ा। (सः रसः अभवत्) वह रस हो गया। (रसः ह वै एषः, तं वै एतं रसं सन्तं रथः इति आचक्षते) रस ही यह है उस रस होते हुये को ही—यह रथ है—ऐसा लोग कहते हैं। (परोक्षेण) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (परोक्षप्रियाः इव हि) परोक्षप्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष [वर्त्तमान अवस्था] के द्वेषी [विरोधी] (भवन्ति) होते हैं [देखो गो० पू० १ । १]। (सः देवान् आगच्छत्) वह [रथ वा रस] देवों [इन्द्रियों] में आया। (सः देवेभ्यः अन्वातिष्ठत्) और वह देवों के लिये अनुष्ठान करने लगा। (तस्मात् देवाः अबिभयुः, तं ब्रह्मणे प्रायच्छन्) उससे देव डर गये, उसे उन्होंने ब्रह्मा को दे दिया (तम् एतया ऋचा आज्याहुत्या अभ्यजुहोत्) उसको इस ऋचा द्वारा घृत की आहुति से उसने ग्रहण किया—(इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकम् इति) इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकम्—अथ० ६ । १२५ । ३ ॥

२१—(आहुः) कथयन्ति (सदनान्) सदन—अर्शआद्यच्। शत्रुगृहवतः पुरुषान् (उ) वितर्के (अगाः) प्राप्तवान् (नः) अस्मान् (मा रिषाम) हिंसिता मा भूम (जिघत्सुतमः) अद भक्षणे-सन्, घस्लृ आदेशः। सनाशंसभिक्ष उः (पा० ३ । २ । १६८) जिघत्स—उः, तमप्। अतिशयेन भक्षणेच्छुः। महाशनः—निरु० २ । २७। (पदम्) प्रापणीयम् (प्रत्तम्) अच उपसर्गात्तः (पा० ७ । ४ । ४७)

(रथम् अभिहृत्य तम् एतया ऋचा अतिष्ठत्) रथ को ग्रहण करके उस पर इस ऋचा द्वारा वह बैठा- (वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूयाः । इति) वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूयाः । इति......अथ० ६ । १२५ । १ ।

(तस्मात् आग्न्याधेयिकं रथं ब्रह्मणे ददाति) इसलिये अग्नि रूप आधेय के रक्षक रथ को ब्रह्मा के लिये देता है । (ब्रह्मणे हि प्रत्तं तस्य तक्षाणः तनूज्येष्ठां दक्षिणां निरमिमीत) ब्रह्मा के लिये दिये हुये उसके सूक्ष्म बनाने वालों ने सूक्ष्मता को महाप्रधान रखने वाली दक्षिणा को बनाया है । (तां पंचसु अपश्यत् ऋचि यजुषि साम्नि शान्ते अथ घोरे) उस [दक्षिणा] को पांच में देखा—ऋग् [स्तुति योग्य विद्या] में, यजु [सत्कर्म विद्या] में, साम [मोक्ष विद्या] में, शान्त [शान्त व्यवहार] में और घोर [भयानक व्यवहार] में ।

(तासां द्वे ब्रह्मणे प्रायच्छत् वाचं च ज्योतिः च) उन [विद्याओं] में से दो ब्रह्मा को दीं—वाणी और ज्योति । (वाक् वै धेनुः, ज्योतिः हिरण्यम्) वाणी ही दुधैल गौ [के समान] और ज्योति तेज है । (तस्मात् आग्न्याधेयिकां चातुष्प्राश्यां धेनुं ब्रह्मणे ददाति) इसलिये अग्नि रूप आधेय की रक्षक चार प्रकार से फैलने योग्य [क० १६] दुधैल गाय ब्रह्मा को देता है । (ब्रह्मणे हि प्रत्ता पशुषु शाम्यमानेषु चक्षुः हापयति) ब्रह्मा को ही दी हुई गौ पशुओं के शान्त होने पर आंख पहुंचाती है । (चक्षुः एव तत् आत्मनि धत्ते) आंख को ही तब वह अपने में धारण करता है । (यत् वै चक्षुः तत् हिरण्यम्) जो आंख है वही तेज है (तस्मात् आग्न्याधेयिकं हिरण्यं ब्रह्मणे ददाति) इसलिये अग्नि रूप आधेय का रक्षक तेज ब्रह्मा को वह देता है । (ब्रह्मणे हि प्रत्तं तस्य आत्मन्[1] अधत्त तेन प्राज्वलयत्) ब्रह्मा को दिया हुआ [तेज] उसके आत्मा में उसने धारण किया है, उससे उसने [जगत् को] प्रकाशित किया है । (यत् न अधत्त तत् आग्ला अभवत्) जो (तेज को) उसने न धारण किया, उस से आग्ला [बड़ी ग्लानि वा थकावट] हुई । (तत् आग्ला भूत्वा सा समुद्रं प्राविशत्) बड़ी ग्लानि हो कर उस [ग्लानि] ने समुद्र में प्रवेश किया ।

प्र + ददातेः—क्तः । प्रकर्षेण दत्तम् । दत्तस्य वा (आग्न्याधेयिकम्) रक्षति (पा० ४ । ४ । ३३) अग्न्याधेय—ठक् । अग्निरूपस्याधेयस्य रक्षकम् (तक्षाणः) कनिन् युवृषितक्षि० (उ० १ । १५६) तक्षू तनूकरणे—कनिन् । सूक्ष्मीकर्तारः (तनुज्येष्ठाम्) तनूः सूक्ष्मक्रिया ज्येष्ठा महाप्रधाना यस्यां ताम् (धेनुः) धेट इच्च (उ० ३ । ३४) धेट् पाने—नुः । धेनुर्वाक्—निघ० १ । ११ । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११ । ४२) दोग्ध्री वाक् । नवप्रसूता गौः (चातुष्प्राश्याम्) गो० पू० २ । १६ । चतुर्धा व्याप्याम् (हापयति) ओहाङ् गतौ—णिच्, हापयति गमयति प्रापयति (आग्ला) आ + ग्लै हर्षक्षये क्लमे च—डः, टाप् । समन्ताद् ग्लानिः । श्रमार्तिः

---

१. आत्मन्यधत्त यह पाठ समीचीन प्रतीत होता है ॥ सम्पा० ॥

(सा समुद्रम् अदहत्) उसने समुद्र को जला दिया । (तस्मात् दुर्गिः अपि समुद्रः वैश्वानरेण हि दग्धः) इस लिये दुर्गम भी समुद्र वैश्वानर [अग्नि] करके जलाया गया । (सा पृथिवीम् उदैत्, सा पृथिवीं व्यदहत्) वह पृथिवी में उदय हुई उसने पृथिवी को जला दिया । (सा देवान् आगच्छत् सा देवान् अहेडत्) वह देवों में आई, उसने देवों का अनादर किया । (ते देवाः ब्रह्माणम् उपाधावन्) वे देव ब्रह्मा के पास दौड़े गये । (स न एव अगायत् न अनृत्यत्) उस [ब्रह्मा] ने न तो गाया न नाचा । (सा एषा आग्ला एषा कारुविदा नाम) सो यही आग्ला है यही कर्म करने वालों की वेदना [पीड़ा] नाम है । (तं वै एतम् आग्लाहतं सन्तम् आग्लागृधः इति आचक्षते) उस बड़ी ग्लानि करके ताड़े गये होते हुये [ब्राह्मण] को—यह बड़ी ग्लानि का लालची है—ऐसा लोग कहते हैं । (परोक्षेण) परोक्ष [आँख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (परोक्षप्रियाः इव हि) परोक्षप्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष [वर्त्तमान अवस्था] के द्वेषी [विरोधी] (भवन्ति) होते हैं [ऊपर देखो] । (यः एषः ब्राह्मणः गायनः वा नर्तनः वा भवति तम् आग्लागृधः इति आचक्षते) जो यह ब्राह्मण गवैया वा नचकैया होता है, उसको—यह आग्लागृध [बड़ी ग्लानि का लालची] है—ऐसा लोग कहते हैं । (तस्मात् ब्राह्मणः न एव गायेत् न आनृत्येत् आग्लागृधः मा स्यात्) इस लिये ब्राह्मण न गावै न नाचै और आग्लागृध [बड़ी ग्लानि का लालची] न होवे । (तस्मात् ब्राह्म्यं हविः पूर्वम् प्राजापत्यम् अपरम्) इसलिये ब्राह्म्य [वेद विचार की] हवि पहिले है और प्राजापत्य [व्रत विशेष की हवि] पीछे है । (प्राजापत्यात् ब्राह्म्यम् एव उत्तमम् इति ब्राह्मणम्) प्राजापत्य व्रत की हवि से ब्राह्म्य [वेद विचार की] हवि उत्तम है । [प्राजापत्य व्रत का लक्षण मनु० ११ । २११ में इस प्रकार है—त्र्यहं प्रातः त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरन् द्विजः ।। अर्थ-प्राजापत्य व्रत का आचरण करने वाला द्विज तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगा अन्न खावे और फिर तीन दिन न खावे । यह १२ दिन का एक प्राजापत्य व्रत होता है] ।। २१ ।।

भावार्थः—जो मनुष्य अग्नि विद्या का सुप्रयोग करके कर्मकुशल होते हैं, वे आनन्द पाते हैं ।। २१ ।।

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ।

(दुर्गिः) खनिकष्यज्यसिवसि० (उ० ४ । १४०, गम्लृ गतौ—इप्रत्ययः, स च डित् । दुःखेन गमनीयः (अहेडत्) हेडृ अनादरे—लङ् । तिरस्कृतवती (कारुविदा) कृवापाजिमि० (उ० १ । १) करोतेः—उण् + विद सत्तायाम्—अङ्, टाप् । कारूणां कर्मकृतां पीडा (आग्लाहतम्) आग्लया ताडितम् । (आग्लागृधः) गृधु अभिकांक्षायाम्—कः । आग्लायां लुब्धः (ब्राह्म्यम्) ब्रह्मणः इदम्, ब्रह्मन्—ष्यञ् । ब्रह्मसम्बन्धि (प्राजापत्यम्) प्रजापति—ण्यः, ततः अर्शआद्यच् । द्वादशाहसाध्यव्रतविशेषसंबन्धिहविः—मनु० ११ । २११ ।।

१--यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात् । श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन् ॥ १ ॥ यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ २ ॥ असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन । असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ ३ ॥ त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यंतः समुद्रे । उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥ ४ ॥ इमा ते वाजिन्नव मार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना । अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥५॥ ऋग्० १ । १६३ । १—५ अर्थः— (अर्वन्) हे विज्ञानी पुरुष ! (यत्) जिस कारण (समुद्रात्) अन्तरिक्ष से (उत वा) अथवा (पुरीषात्) पूर्ण कारण से (उद्यन्) उदय होते हुए [सूर्य के तुल्य] (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ तू (प्रथमम्) पहिले (अक्रन्दः) शब्द करता है, (श्येनस्य) वाज के (पक्षा) दो पंखों के समान और (हरिणस्य) हरिण के (बाहू) दो भुजाओं के तुल्य (ते) तेरा (उपस्तुत्यम्) बहुत प्रशंसनीय और (महि) बड़ा (जातम्) उत्पन्न हुआ कर्म है ॥ १ ॥ [शेष मन्त्रों का अर्थ भाष्य में देखो ।]

२--इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः । स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ अथ० ६ । १२५ । ३, ऋ० ६ । ४७ । २८, यजु० २९ । ५४ । [हे राजन् ! यहाँ पर] (मरुताम्) शूरों का (अनीकम्) सेना दल, (इन्द्रस्य) बिजुली का (ओजः) बल, (मित्रस्य) प्राण [चढ़ने वाले वायु] का (गर्भः) गर्भ [अधिष्ठान] और (वरुणस्य) अपान [उतरने वाले वायु] का (नाभिः) [मध्यस्थान] है । (सः) सो तू (देव) हे प्रकाशमान ! (रथ) रमणीय स्वरूप विद्वान् ! (नः) हमारे लिए (इमाम्) इस (हव्यदातिम्) देने योग्य पदार्थों की दान क्रिया को (जुषाणः) सेवता हुआ (हव्या) ग्राह्य वस्तुओं को (प्रति) प्रतीति के साथ (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ३ ॥

३--वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥ अथ० ६ । १२५ । १, ऋग्० ६ । ४७ । २६, यजु० २९ । ५२ । (वनस्पते) हे किरणों के पालन करने वाले सूर्य के समान राजन् ! (वीड्वङ्गः) बलिष्ठ अङ्गों वाला तू (हि) ही (प्रतरणः) बढ़ाने वाला (सुवीरः) अच्छे अच्छे वीरों से युक्त (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (भूयाः) हो । तू (गोभिः) बाणों और वज्रों से (सन्नद्धः) अच्छे प्रकार सजा हुआ (असि) है, [हमें] (वीडयस्व) दृढ़ बना, (ते) तेरा (आस्थाता) श्रद्धावान् सेनापति (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयतु) जीते ॥

कण्डिका २२ ॥

अथर्वाणश्च ह वा आङ्गिरसश्च भृगुवक्षुषी तद् ब्रह्माभिव्यापश्यंस्तदजानन्वयं वा इदं सर्वं यद्भृग्वङ्गिरस इति । ते देवा ब्राह्म्यं हविर्यत्सान्तपनेऽग्नावजुहवुरेतद्वै ब्राह्म्यं हविर्यत्सान्तपनेऽग्नौ हूयते, एष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणस्तस्योर्ज्ज-

योर्जा देवा अभजन्त सुमनस एव स्वधां पितरः श्रद्धया स्वर्गं लोकं ब्राह्मणास्तेन सुन्वन्त्यृषयोऽन्ततः स्त्रियः केवल आत्मन्यत्रारुन्धत वाह्या उभयेन सुन्वन्ति, यद्वै यज्ञे ब्राह्म्यं हविर्न निरूप्येतानृजवः प्राजापत्यहविषो मनुष्या जायेरन्नसौ यांल्लोकान् शृण्विति पिता ह्येष आहवनीयस्य गार्हपत्यस्य दक्षिणाग्नेर्योऽग्निहोत्रं जुहोतीति, देवा प्रिये धामनि मदन्ति तेषामेषोऽग्निः सान्तपनश्रेष्ठी भवत्येतस्य वाचि तृप्तायामग्निस्तृप्यति, प्राणे तृप्ते वायुस्तृप्यति, चक्षुषि तृप्त आदित्यस्तृप्यति, मनसि तृप्ते चन्द्रमास्तृप्यति, श्रोत्रे तृप्ते दिशश्चान्तर्द्देशाश्च तृप्यन्ति स्नेहेषु तृप्तेष्वापस्तृप्यन्ति, लोमेषु तृप्तेष्वोषधिवनस्पतयस्तृप्यन्ति, शरीरे तृप्ते पृथिवी तृप्यत्येवमेषोऽग्निः सान्तपनः श्रेष्ठस्तृप्तः सर्वांस्तृप्तांस्तर्पयतीति ब्राह्मणम् ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ सान्तपन अग्नि में प्राजापत्य हवि के साथ ब्राह्म्य हवि की आवश्यकता ॥

२२—(अथर्वाणः) निश्चल ब्रह्म के वेद (त्व च) और (आङ्गिरसः) पूर्णज्ञान युक्त व्यवहार (ह वै) निश्चय करके (भृगुचक्षुषी) परिपक्व ज्ञान वाले मुनि के दो नेत्र हैं, (तद् ब्रह्म अभिव्यपश्यन् तत् अजानन्) उस ब्रह्म को उन्होंने [ऋषियों ने] सब ओर से देख लिया और जाना—(वयं वै इदं सर्वम् [जानीम] यत् भृग्वङ्गिरसः) हम इस सब को [जानें] जो परिपक्वज्ञान है। (यत् ब्राह्म्यं हविः ते देवाः सान्तपने अग्नौ अजुहवुः) जो ब्राह्म्य हवि है [उसको] उन देवों ने सान्तपन [पूरे ताप वाले वा ऐश्वर्य वाले] अग्नि में छोड़ा, अथवा सांतपन व्रत में अग्नि पर छोड़ा। [सान्तपन व्रत का लक्षण मनु ११। २१२ में इस प्रकार है। गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ अर्थ—गोमूत्र गोबर, दूध, दही, घी, कुशा का जल एक दिन खावे और एक रात्रि दिन उपवास करे, यह कृच्छ्र सान्तपन कहा गया है]। (एतत् वै ब्राह्म्यं हविः यत् सान्तपने अग्नौ हूयते) यह ब्राह्म्य हवि है जो सान्तपन अग्नि में छोड़ा जाता है। (एषः वै सान्तपनः अग्निः यत् ब्राह्मणः) यही सान्तपन अग्नि है, जो ब्राह्मण है। (तस्य ऊर्जया देवाः ऊर्जां, सुमनसः पितरः स्वधां स्वर्गं लोकं श्रद्धया एव अभजन्त) उस [ब्राह्मण] के पराक्रम से देवों ने पराक्रम को, प्रसन्न मन वाले पितरों [पालने वाले विद्वानों] ने स्वधा [अपनी

२२—(अथर्वाणः) निश्चलब्रह्मवेदाः (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्—अण्। पूर्णज्ञानयुक्तव्यवहाराः (भृगुचक्षुषी) भृगोः परिपक्वज्ञानस्य मुनेर्नेत्रद्वयम् (सर्वम्) सर्वं जानीम इत्यर्थः। (भृग्वङ्गिरसः) परिपक्वज्ञानानि (सान्तपने) सम्+तप दाहे ऐश्वर्य्ये च—ल्युट्। तत्र भवः (पा० ४। ३। ५३) अण्। संतपने सम्यक्तपनयुक्ते पूर्णैश्वर्य्ययुक्ते वा। अथवा व्रतविशेषे—मनुः ११।२१२ (ऊर्जया) ऊर्ज बलप्राणनयोः—पचाद्यच्। पराक्रमेण। शक्त्या (सुमनसः) शोभनमनस्काः। (स्वधाम्) आः समिण्निकषिभ्याम् (उ० ४। १७५) स्वद आस्वादने—आ, दस्य धः। स्वादयति रसान् उत्पादयतीति स्वधा। यद्वा। आतोऽनुपसर्गे कः (पा० ३। २। ३) स्व+डुधाञ्

धारण शक्ति वा अन्न वा अमृत] और स्वर्ग लोग को सेया है । (ब्राह्मणाः ऋषयः तेन अन्ततः सुन्वन्ति) ब्रह्म ज्ञानी ऋषि लोग उस [कर्म] से अन्त में [सोम रस] निचोड़ते हैं । (स्त्रियः केवले आत्मनि अवारुन्धत) स्त्रियों ने सेवनीय परमात्मा में [स्वर्ग आदि] पाया है । (वाह्याः उभयेन सुन्वन्ति , ले चलने योग्य पुरुष दोनों [ब्राह्म्य और प्राजापत्य हवि] से [सोम रस] निचोड़ते हैं । (यत् वै यज्ञे ब्राह्म्य हविः न निरूप्येत प्राजापत्यहविषः मनुष्याः अनृजवः जायेरन्) जो यज्ञ में ब्राह्म्य हवि न बनाया जावे, प्राजापत्य हवि वाले मनुष्य कुटिल हो जावें । (असौ हि एषः पिता यान् लोकान् शृण्विति) वह पिता [पालन करने वाला पुरुष] भी [उन बुरे लोगों में कुटिल होता है] जिन लोगों को वह सुनता है, (आहवनीयस्य गार्हपत्यस्य दक्षिणाग्ने. यः अग्निहोत्रं जुहोति इति) [वह पुरुष भी कुटिल होता है] जो आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के अग्निहोत्र को ही करता है । (देवाः प्रिये धामनि मदन्ति तेषाम् एषः अग्निः सान्तपन-श्रेष्ठः भवति) देव [विद्वान् लोग] प्रिय स्थान में सुख पाते हैं, उनका यह अग्नि सान्तपन [पूरे ऐश्वर्य वाला] श्रेष्ठ होता है । (एतस्य वाचि तृप्तायाम् अग्निः तृप्यति) इस [ब्रह्मा] की वाणी तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है, (प्राणे तृप्ते वायुः तृप्यति) प्राण तृप्त होने पर पवन तृप्त होता है, (चक्षुषि तृप्ते आदित्यः तृप्यति) नेत्र तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, (मनसि तृप्ते चन्द्रमाः तृप्यति) मन तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, (श्रोत्रे तृप्ते दिशः च अन्तर्देशाः च तृप्यन्ति) कान तृप्त होने पर दिशायें और बीच की दिशायें तृप्त होती हैं । (स्नेहेषु तृप्तेषु आपः तृप्यन्ति) रसों वा चिकने पदार्थों के तृप्त होने पर जल तृप्त होते हैं, (लोमेषु तृप्तेषु ओषधिवनस्पतयः तृप्यन्ति) लोमों के तृप्त होने पर ओषधि और वनस्पतियां तृप्त होती हैं, (शरीरे तृप्ते पृथिवी तृप्यति) शरीर तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है । (एवं एषः सान्तपनः श्रेष्ठः तृप्तः सर्वान् तृप्तान् तर्पयति इति ब्राह्मणम्) इस प्रकार से यह श्रेष्ठ तृप्त सान्तपन [बड़े ऐश्वर्य वाला] अग्नि सब तृप्त [पदार्थों] को तृप्त करता है, यह ब्राह्मण है । २२ ॥

भावार्थः—मनुष्य सान्तपन अग्नि में ब्राह्म्य हवि और प्राजापत्य हवि छोड़ें । प्राजापत्य और स्त्री आदि शब्दों से शास्त्र रीति पर सन्तानोत्पादन की ओर संकेत जान पड़ता है । इस विषय के लिये देखो—बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ६ ब्राह्मण ५ ॥

कण्डिका २३ ॥

सान्तपना इदं हविरित्येष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणो यस्य गर्भा-

---

धारणपोषणयोः—कः, टाप् । अथवा क्विप् । स्वधा = उदकम्—निघ० १ । १२ । अन्नम् निघ० २ । ७ । पितृणाम् अन्नम् । अमृतम् । आत्मधारणसामर्थ्यम् (सुन्वन्ति) सोमरसम् निष्पीडयन्ति (केवले) केवृ सेवने—कलच् । सेवनीये । निश्चिते । (आत्मनि) परमात्मनि (वाह्य) वह प्रापणे ण्यत् । प्रापणीयाः पुरुषाः (उभयेन) ब्राह्म्येन प्राजापत्येन च हविषा (शृण्विति) आर्षप्रयोगः । शृणोति । (धामनि) स्थाने (मदन्ति) हर्षन्ति (स्नेहेषु) रसयुक्तपदार्थेषु ॥

धानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनप्लावनाग्निहोत्रव्रतचर्य्यादीनि कृतानि भवन्ति, स सान्तपनोऽथ योऽयमनग्निकः स कुम्भे लोष्टः, तद्यथा कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते नैव शस्यं निर्वर्त्तयत्येवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकस्तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव दैवं दद्यान्न पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञ आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति ।

तदप्येतदृचोक्तम् । अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति ब्राह्मणम् । २३ ॥

कण्डिका २३ ॥ बिना यज्ञ अग्नि वाला ब्राह्मण स्वर्ग नहीं पाता ॥

(सान्तपनाः इदं हविः इति) सान्तपन अग्नियां यह हवि है । (एषः ह वै सान्तपनः अग्निः यत् ब्राह्मणः) यही सान्तपन [बड़े ऐश्वर्य वाला] अग्नि है जो ब्राह्मण है । (यस्य गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन—जातकर्म—नामकरण—निष्क्रमण—अन्नप्राशन—गोदान—चूडाकरण—उपनयन—प्लावन—अग्निहोत्र—व्रतचर्य—आदीनि कृतानि भवन्ति सः सान्तपनः) जिस [ब्राह्मण] के गर्भाधान १, पुंसवन २, सीमन्तोन्नयन ३ जातकर्म ४, नामकरण ५, निष्क्रमण [बाहर निकालना] ६, अन्नप्राशन [अन्न चटाना] ७, गोदान [केश काटना] ८, चूडाकरण [चोटी रखना] ९, उपनयन [जनेऊ और वेदारम्भ] १० प्लावन [विद्यास्नान वा समावर्तन] ११, अग्निहोत्र [नित्यहवन] १२, व्रतचर्य [ब्रह्मचर्य] १३, आदि कर्म किये हुये होते हैं, वह [ब्राह्मण] सान्तपन [अग्नि] है । (अथ यः अयम् अनग्निकः सः कुम्भे लोष्टः) और जो यह [ब्राह्मण] बिना यज्ञ अग्निवाला है, वह घड़े में ढेला है । तत् यथा कुम्भे प्रक्षिप्तः लोष्टः न एव शौचार्थाय कल्पते न एव शस्यं निर्वर्तयति, एवम् एव अयम् ब्राह्मणः अनग्निकः) सो जैसे घड़े में गिराया हुआ ढेला न तो शौच के ही योग्य उपकारी होता है और न धान्य को ही सिद्ध करता है, ऐसे ही यह बिना यज्ञ अग्नि वाला ब्राह्मण है । (तस्य अनग्निकस्य ब्राह्मणस्य नैव दैवं न पित्र्यं [सुफलम्] दद्यात्) उस बिना यज्ञ अग्नि वाले ब्राह्मण का दैव [पहिले जन्म का कर्म] और न पिता का धन [उत्तम फल] देता है । (न च अस्य स्वाध्यायाशिषः न यज्ञे आशिषः स्वर्गङ्गमाः

२३—(सान्तपनाः) अग्नयः (हविः) दातव्यं द्रव्यम् (गोदानम्) गावः केशाः दीयन्ते छिद्यन्ते अत्र । गो + दो अवखण्डने -ल्युट् । केशच्छेदनसंस्कारः (चूडाकरणम्) मस्तके शिखाधारणसंस्कारः (प्लावनम्) प्लुङ् गतौ—णिच्—ल्युट् । मज्जनम् । विद्यान्तस्नानम् । समावर्तनसंस्कारः (अनग्निकः) यज्ञाग्निरहितः । (लोष्टः) लोष्टपलितौ (उ० ३ । ९२) लूञ् छेदने—क्तः, सुडागमः धातोर्गुणश्च । यद्वा लोष्ट संघाते—घञ् । मृत्तिकाखण्डः (निर्वर्तयति) निष्पादयति (दैवम्) पूर्वजन्मकृतकर्म (दद्यात्) सुफलं प्रयच्छेत् (पित्र्यम्) पितुर्यच्च (पा० ४ ।

१—गोदान, उपप्लवन आदि कुछ अन्य संस्कार, जो गृह्य सूत्रों में नहीं हैं वे ध्यातव्य हैं ॥ सम्पा० ॥

भवन्ति) और न इसके स्वाध्याय [वेदों के पढ़ने] के आशीर्वाद और न यज्ञ में पाये आशीर्वाद स्वर्ग में पहुँचाने वाले होते हैं।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) वह भी इस ऋचा करके कहा गया है— (अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्)। अथ २०। १०१। १, ऋ० १। १२। १, साम० उ० २। १। तृच ६, तथा पू० १। १। ३। (दूतम्) पदार्थों के पहुँचाने वाले, (होतारम्) वेग आदि देने वाले, (विश्ववेदसम्) सब धनों के प्राप्त कराने वाले (अस्य) इस [प्रसिद्ध] (यज्ञस्य) यज्ञ [संयोग वियोग व्यापार] के (सुक्रतुम्) सुधारने वाले (अग्निम्) अग्नि [आग, बिजुली, सूर्य] को (वृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं—(इति ब्राह्मणम्) यह ब्राह्मण मत है ॥ २३ ॥

भावार्थः—ब्रह्मज्ञानी पुरुष गर्भाधान आदि संस्कारों को अग्निहोत्र के साथ करके जीवन सुफल करें ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ ॥

अथ ह प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच, कं वो होतारं वृणीयां, कमध्वर्युं, कमुद्गातारं, कं ब्रह्माणमिति। त ऊचुरृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युं, सामविदमुद्गातारमथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं, तथा हास्य यज्ञश्चतुर्षु लोकेषु चतुर्षु देवेषु चतुर्षु वेदेषु चतसृषु होत्रासु चतुष्पाद् यज्ञः प्रतिष्ठति, प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद, तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, स हि हौत्रं वेदाग्निर्वै होता, पृथिवी वा ऋचामायतनमग्निर्देवता गायत्रं छन्दः भूरिति शुक्रं तस्मात्तमेव होतारं वृणीष्वेत्येतस्य लोकस्य जितय एतस्य लोकस्य विजितय एतस्य लोकस्य सञ्जितय एतस्य लोकस्यावरुद्धय एतस्य लोकस्य व्यृद्धय एतस्य लोकस्य समृद्धय एतस्य लोकस्योदात्तय एतस्य लोकस्य व्याप्तय एतस्य लोकस्य पर्य्याप्तय एतस्य लोकस्य समाप्तये, अथ चेन्नैवंविदं होतारं वृणुते, पुरस्तादेवैषां यज्ञो रिच्यते। यजुर्विदमेवाध्वर्युं वृणीष्व स ह्याध्वर्य्यवं वेद, वायुर्वा अध्वर्य्युरन्तरिक्षं वै यजुषामायतनं वायुर्देवता त्रैष्टुभं छन्दो भुव इति शुक्रं तस्मात्तमेवाध्वर्युं वृणीष्वेत्येतस्य लोकस्येत्येवाथ चेन्नैवंविदमध्वर्य्युं वृणुते, पश्चादेवैषां यज्ञो रिच्यते। सामविदमेवोद्गातारं वृणीष्व स ह्यौद्गात्रं वेदादित्यो वा उद्गाता द्यौर्वै साम्नामायतनमादित्यो देवता जागतं छन्दः स्वरिति शुक्रं तस्मात्तमेवोद्गातारं वृणीष्वेत्येतस्य लोकस्येत्येवाथ चेन्नैवंविदमुद्गातारं वृणुते, उत्तर एवैषां यज्ञो रिच्यते। अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणं वृणीष्व स हि ब्रह्मत्वं वेद चन्द्रमा वै ब्रह्मा आपो वै भृग्वङ्गिरसामायतनं चन्द्रमा

३। ७९) पितृ—यत्। रीङ् ऋतः (पा० ७। ४। २७) रीङादेशः। पितुरागतं धनम् (स्वर्गङ्गमाः) स्वर्गप्रापिकाः (दूतम्) पदार्थानां प्रापकं तापकं वा (वृणीमहे) स्वीकुर्मः (होतारम्) वेगादिदातारम् (विश्ववेदसम्) वेदः धनं— निघ० २। १०। सर्वधनप्रापकम् (सुक्रतुम्) शोभनकर्तारम् ॥

देवता वैद्युतश्चोष्णिक्ककुभे छन्दसी ओमित्यथर्वणां शुक्रं जनदित्यङ्गिरसां, तस्मात्तमेव ब्रह्माणं वृणीष्वेत्येतस्य लोकस्य जितय एतस्य लोकस्य विजितय एतस्य लोकस्य सञ्जितय एतस्य लोकस्यावरुद्धय एतस्य लोकस्य व्यृद्धय एतस्य लोकस्य समृद्धय एतस्य लोकस्योदात्तय एतस्य लोकस्य व्याप्तय एतस्य लोकस्य पर्य्याप्तय एतस्य लोकस्य समाप्तयेऽथ चेन्नैवंविदं ब्रह्माणं वृणुते, दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते ॥ २४ ॥

इति अथर्ववेदे गोपथब्राह्मणपूर्वभागे द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

कण्डिका २४ ॥ ऋत्विजों के चुनाव में ऋग्वेदी होता, यजुर्वेदी अध्वर्य्यु, सामवेदी उद्गाता, चतुर्वेदी ब्रह्मा हो ॥

(अथ ह प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणः वेदान् उवाच) फिर प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] सोम से [सोम याग समान ऐश्वर्य वा उत्पन्न संसार से] यज्ञ करने की इच्छा करता हुआ वेदों से बोला—(कं वः होतारं वृणीयाम्, कम् अध्वर्य्युम्, कम् उद्गातारम् कं ब्रह्माणम् इति) तुममें से किसको होता चुनूं किसको अध्वर्य्यु, किसको उद्गाता और किसको ब्रह्मा । (ते ऊचुः ऋग्विदम् एव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदम् अध्वर्य्युम्, सामविदम् उद्गातारम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्) वे बोले—ऋग्वेद जानने वाले को ही होता चुन, यजुर्वेद जानने वाले को अध्वर्यु, सामवेद जानने वाले को उद्गाता और अथर्वाङ्गिराओं [चारों वेद] जानने वाले को ब्रह्मा । (तथा ह अस्य यज्ञः चतुर्षु लोकेषु चतुर्षु देवेषु चतुर्षु वेदेषु चतसृषु होत्रासु चतुष्पात् यज्ञः प्रतिष्ठति, प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) वैसे ही इस [प्रजापति] का यज्ञ चार लोकों में, चार देवों में, चार वेदों में, और चार ऋत्विजों की क्रियाओं में [देखो गो० पू० २ । १६] चार पांव वाला यज्ञ ठहरता है, वह पुरुष प्रजा से और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है । (तस्मात् ऋग्विदम् एव होतारं वृणीष्व) इसलिये ऋग्वेद जानने वाले को ही होता चुन । (सः हि होत्रं वेद, पृथिवी वै ऋचाम् आयतनम् अग्निः देवता गायत्रं छन्दः भू इति शुक्रम्) वही होता का कर्म जानता है, अग्नि ही होता है, पृथिवी ही ऋग्वेद मन्त्रों का स्थान है, अग्नि देवता है, गायत्री छन्द है, भूः [यह व्याहृति = सर्वाधार परमेश्वर] वीर्य है । (तस्मात् तम् एव होतारं वृणीष्व इति एतस्य लोकस्य जितये १, एतस्य लोकस्य विजितये

२४—(प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (सोमेन) ऐश्वर्य्येण । उत्पन्नेन संसारेण । सोमरसयागेन (यक्ष्यमाणः) यष्टुमेष्यमाणः (वः) युष्माकं मध्ये (अथर्वाङ्गिरोविदम्) चतुर्वेदवेत्तारम् (अस्य) प्रजापतेः (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठितो भवति (आयतनम्) आश्रयः (भूः) सर्वाधारः परमेश्वरः (शुक्रम्) वीर्य्यम् (लोकस्य) संसारस्य (जितये) जयाय (विजितये)

२, एतस्य लोकस्य संजितये ३, एतस्य लोकस्य अवरुद्धये ४, एतस्य लोकस्य व्यृद्धये ५, एतस्य लोकस्य समृद्धये ६, एतस्य लोकस्य उदात्तये ७, एतस्य लोकस्य व्याप्तये ८, एतस्य लोकस्य पर्य्याप्तये ९, एतस्य लोकस्य समाप्तये १०) इसलिये उसको ही होता चुन, इस संसार के जय के लिये १, इस संसार के विविध जय के लिये २, इस संसार के पूरे जय के लिये ३, इस संसार की रोक [रक्षा] के लिये ४, इस संसार की विविध बढ़ती के लिये ५, इस संसार की पूरी बढ़ती के लिये ६, इस संसार के उठान के लिये ७, इस संसार के फैलाव के लिये ८, इस संसार की पूर्णता के लिये ९, और इस संसार की सिद्धि के लिये १० । (अथ चेत् एवंविदं होतारं न वृणुते, पुरस्तात् एव एषां यज्ञः रिच्यते) और जो ऐसे विद्वान् को होता नहीं चुनता, पूर्व दिशा में ही इन [ऋत्विजों] का यज्ञ बिछुड़ जाता है । (यजुर्विदम् एव अध्वर्य्युं वृणीष्व) यजुर्वेद जानने वाले को ही अध्वर्य्यु चुन । (सः हि आध्वर्य्यवं वेद वायुः वै अध्वर्य्युः अन्तरिक्षं वै यजुषाम् आयतनम् वायुः देवता त्रैष्टुभं छन्दः, भुवः इति शुक्रम्) वही अध्वर्य्यु का कर्म जानता है, पवन ही अध्वर्य्यु है, अन्तरिक्ष ही यजुर्वेद मन्त्रों का स्थान है, पवन देवता है, त्रिष्टुप् छन्द है भुवः [यह व्याहृति =सर्वव्यापक परमेश्वर] वीर्य है । (तस्मात् तम् एव अध्वर्य्युं वृणीष्व इति एतस्य लोकस्य इति एव) इसलिये उसको ही अध्वर्य्यु चुन, इस लोक के इत्यादि ..... (अथ चेत् एवंविदम् अध्वर्य्युं न वृणुते, पश्चात् एव एषां यज्ञः रिच्यते) और जो ऐसे विद्वान् को अध्वर्यु नहीं चुनता, पश्चिम दिशा में ही इन [ऋत्विजों] का यज्ञ बिछुड़ जाता है । (सामविदम् एव उद्गातारं वृणीष्व) सामवेद जानने वाले को ही उद्गाता चुन । (सः हि औद्गात्रं वेद, आदित्यः वै उद्गाता, द्यौः वै साम्नाम् आयतनम् आदित्यः देवता जागतं छन्दः स्वः इति शुक्रम्) वही उद्गाता के कर्म को जानता है, सूर्य ही उद्गाता है, प्रकाश ही सामवेद मन्त्रों का स्थान है, सूर्य देवता है, जगती छन्द है, स्वः [यह व्याहृति = सुख स्वरू परमात्मा] वीर्य है । (तस्मात् तम् एव उद्गातारं वृणीष्व इति एतस्य लोकस्य इति एव) इसलिये उसको ही उद्गाता चुन, इस लोक के इत्यादि...... । (अथ चेत् एवंविदम् उद्गातारं न वृणुते, उत्तरे एव एषां यज्ञः रिच्यते) जो ऐसे जानकार को उद्गाता नहीं चुनता है, उत्तर दिशा में ही इन [ऋत्विजों] का यज्ञ बिछुड़ जाता है । (अथर्वाङ्गिरोविदम् एव ब्रह्माण वृणीष्व) अथर्वाङ्गिराओं [चारों वेद] जानने वाले को ही ब्रह्मा चुन । (सः हि ब्रह्मत्वं वेद, चन्द्रमाः वै ब्रह्मा, आपः वै भृग्वङ्गिरसाम् आयतनम् वैद्युतः चन्द्रमाः च देवता,

---

विविधजयाय (संजितये) सम्यग् जयाय (अवरुद्धये) निरोधाय । रक्षणाय (व्यृद्धये) विविधवृद्धये (समृद्धये) पूर्णवृद्धये (उदात्तये) उत्+आ+ददातेः - क्तिन् । उत्थानाय (व्याप्तये) विस्ताराय (पर्य्याप्तये) पूर्तये (समाप्तये) संसिद्धये (पुरस्तात्) पूर्वस्यां दिशि (एषाम्) ऋत्विजां मध्ये (रिच्यते) रिच वियोजनसंपर्चनयोः—कर्मणि लट् । वियुज्यते (भुव.) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (पश्चात्) पश्चिमायां दिशि (स्वः) सुखस्वरूपः (उत्तरे) उत्तरस्यां

उष्णिक्काकुभे छन्दसी ओम् इति अथर्वणां, जनत् इति अङ्गिरसां शुक्रम्) वही ब्रह्मा का काम जानता है, चन्द्रमा ही ब्रह्मा है, जल ही चारों वेदों का स्थान है, और विविध प्रकाश वाला चन्द्रमा देवता , उष्णिक् काकुभ दो छन्द हैं, ओम् [यह व्याहृति = सर्वरक्षक परमात्मा] निश्चल ज्ञान वालों का और जनत [यह व्याहृति = सर्वजनक परमेश्वर] पूर्ण ज्ञान वालों का वीर्य है। (तस्मात् तम् एव ब्रह्माणम् वृणीष्व इति एतस्य लोकस्य जितये १, एतस्य लोकस्य विजितये २, एतस्य लोकस्य सञ्जितये ३ एतस्य लोकस्य अवरुद्धये ४, एतस्य लोकस्य व्यृद्धये ५. एतस्य लोकस्य समृद्धये ६, एतस्य लोकस्य उदात्तये ७, एतस्य लोकस्य व्याप्तये ८, एतस्य लोकस्य पर्य्याप्तये ९, एतस्य लोकस्य समाप्तये १०) इसलिये उसको हा ब्रह्मा चुने, इस संसार के जय के लिये १, इस संसार के विविध जय के लिये २, इस संसार के पूरे जय के लिये ३, इस संसार की रोक [रक्षा] के लिये ४, इस संसार की विविध बढ़ती के लिये ५, इस संसार की पूरी बढ़ती के लिये ६, इस संसार के उठान के लिये ७, इस संसार के फैलाव के लिये ८, इस संसार की पूर्णता के लिये ९, इस संसार की सिद्धि के लिये १०। (अथ चेत्—एवंविदं ब्रह्माणं न वृणुते दक्षिणतः एव एषां यज्ञः रिच्यते) जो ऐसे जानकार को ब्रह्मा नहीं चुनता है, दक्षिण दिशा में इनका [ऋत्विजों] का यज्ञ बिछुड़ जाता है ॥ २४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर आप ही यज्ञ रूप संसार में सब ऋत्विजों का काम करके संसार का उपकार करता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम*श्रीसयाजीरावगायकवाडा-धिष्ठित*बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये पूर्वभागे द्वितीयप्रपाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे श्रावणमासे कृष्णचतुर्थ्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

कण्डिका १ ॥

ओम् दक्षिणाप्रवणा भूमिर्दक्षिणत आपो वहन्ति तस्माद्यज्ञास्तद्भूमेरुन्नततरमिव भवति यत्र भृग्वङ्गिरसो विष्ठास्तद्यथा आप इमांल्लोकानभिवहन्त्येवमेव भृग्वङ्गिरसः सर्वान् देवानभिवहन्त्येवमेवैषा व्याहृतिः सर्वान् वेदानभिवहत्यो३मिति हर्चामो३मिति यजुषामो३मिति साम्नामो३मिति सर्वस्याहाभिवादस्तं

दिशि (भृग्वङ्गिरसाम्) परिपक्वज्ञानवतां चतुर्वेदानाम् (वैद्युतः) विद्युत्—अण् । विविधप्रकाशयुक्तः (ओम्) सर्वरक्षकः (जनत्) सर्वजनकः (दक्षिणतः) दक्षिणस्यां दिशि ॥

ह स्मैतदुत्तरं यज्ञे विद्वांसः कुर्वन्ति देवा ब्रह्माण आगच्छत आगच्छतेत्येते वै देवा ब्रह्माणो यद्भृग्वङ्गिरसस्तानेवैतद् गृणानांस्तान् वृणानान् ह्वयन्तो मन्यन्ते नान्योऽभृग्वङ्गिरोविद् वृतो यज्ञमागच्छेत् यज्ञस्य तेजसा तेज आप्नोत्यूर्जयोर्जा यशसा यशो नान्यो भृग्वङ्गिरोविदवृतो यज्ञमागच्छेन्नेद्यज्ञं परिमुष्णीयादिति, तद्यथा पूर्वं वत्सोऽधीत्य गां धयेदेवं ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोविदवृतो यज्ञमागच्छेन्नेद्यज्ञं परिमुष्णीयादिति तद्यथा गौर्वाश्वो वाऽश्वतरो वैकपात् द्विपाद् त्रिपादिति स्यात्, किमभिवहेत् किमभ्यश्नुयादिति, तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदमध्वर्युं, सामविदमुद्गातारमथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं, तथा हास्य यज्ञश्चतुर्षु लोकेषु चतुर्षु वेदेषु चतुर्षु देवेषु चतसृषु होत्रासु चतुष्पाद्यज्ञः प्रतिष्ठति, प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद यश्चैवमृत्विजामार्त्विज्यं वेद यश्च यज्ञे यजनीयं वेदेति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ ऋत्विज् चुने हुये वेदवेत्ता पुरुष होवें ॥

(ओम्) सर्वरक्षक परमेश्वर! (दक्षिणाप्रवणा भूमिः, दक्षिणतः आपः वहन्ति) दक्षिण की ओर झुकी हुई भूमि है, दक्षिण को जल बहते हैं। (तस्मात् यज्ञाः भूमेः तत् उन्नततरम् इव भवति, यत्र भृग्वङ्गिरसो विष्ठाः) इसलिये यज्ञ भूमि के उस अधिक ऊँचे स्थान को ही पाते हैं, जहां पर भृग्वङ्गिराः [परिपक्व ज्ञानवाले चारों वेद] विशेष करके ठहरे होते हैं। (तत् यथा आपः इमान् लोकान् अभिवहन्ति, एवम् एव भृग्वङ्गिरसः सर्वान् देवान् अभिवहन्ति) सो जैसे जल इन लोकों को ले चलते हैं वैसे ही भृग्वङ्गिरा [[1]परिपक्व ज्ञानवाले चारों वेद] सब दिव्य विद्वानों और पदार्थों को ले चलते हैं। (एवम् एव एषा व्याहृतिः सर्वान् वेदान् अभिवहति ओ३म् इति ह ऋचाम्, ओ३म् इति यजुषाम्, ओ३म् इति साम्नाम् ओ३म् इति सर्वस्य अभिवादः आह) और इसी प्रकार से ही यह व्याहृति [ओम्] सब वेदों को ले चलती है, ओ३म् यह ऋग्वेद मन्त्रों का, ओ३म् यह यजुर्वेद मन्त्रों का, ओ३म् यह सामवेद मन्त्रों का, ओ३म् यह सब प्रणाम योग्य कहा जाता है, (तं ह स्म एतत् उत्तरं यज्ञे विद्वांसः कुर्वन्ति) और उस ही [ओङ्कार] को यज्ञ में विद्वान् लोग अधिक उत्कृष्ट करते हैं। (देवाः ब्रह्माणः आगच्छत आगच्छत, इति एते वै देवाः ब्रह्माणः, यत् भृग्वङ्गिरस, एतत् गृणानान् तान् एव वृणानान् तान् ह्वयन्तः मन्यन्ते) हे विद्वान्! ब्रह्मज्ञानियो! आओ आओ, यही विद्वान् ब्रह्मज्ञानी लोग हैं जो भृग्वङ्गिरा [परिपक्व ज्ञानवाले चारों वेद] हैं, स्तुति किये जाते हुये उनको ही और स्वीकार किये जाते हुये उनको इस प्रकार बुलाते हुये माने जाते

१—(दक्षिणाप्रवणा) दक्षिणस्यां दिशि नम्रा (उन्नततरम्) उच्चतरं स्थानम् (इव) एव (भवति = भवन्ति) प्राप्नुवन्ति (भृग्वङ्गिरसः) परिपक्वज्ञानयुक्ताः चत्वारो वेदाः (विष्ठाः) विशेषेण स्थिताः (देवान्) विदुषः पुरुषान्।

---

१. 'अङ्गिरसः' का अर्थ ऋषि दयानन्द ने यजु० १९।५० में "सर्वविद्यासिद्धान्तविदः" किया है ॥ सम्पा० ॥

हैं। (नान्यः[1] अभृग्वङ्गिरोवित् वृतः यज्ञम् आगच्छेत् यज्ञस्य तेजसा तेजः आप्नोति, ऊर्जया ऊर्जां, यशसा यशः न अन्यः) अन्य कोई चारों वेद न जानने वाला चुना हुआ पुरुष यज्ञ में न आवे [क्योंकि वेदज्ञ ही] यज्ञ के तेज से तेज, बल से बल, यश से यश पाता है, और दूसरा नहीं। (अभृग्वङ्गिरोवित् अवृतः यज्ञम् आगच्छेत् यज्ञं नेत् परिमुष्णीयात् इति) चारों वेद न जानने वाला बिना चुना हुआ पुरुष यज्ञ में [यदि] आवे [तो] वह यज्ञ को कभी न चुरावे [अर्थात् पदाधिकारी न बनाया जावे] (तत् यथा वत्सः पूर्वम् अधीत्य गां धयेत् एवं ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोवित् वृतः यज्ञम् आगच्छेत् यज्ञं नेत् परिमुष्णीयात् इति) सो जैसे बछड़ा [दोहने से] पहिले आकर गाय को पी लेवे, वैसे ही ब्रह्मा चारों वेद जानने वाला यज्ञ में आवे वह कभी यज्ञ को न चुरावे [अपनी ही स्वार्थ सिद्धि न करे]। (तत्—यथा गौः वा, अश्वः वा, अश्वतरः वा एकपात् द्विपात् त्रिपात् इति स्यात् किम् अभिवहेत् किम् अभ्यश्नुयात् इति) सो जैसे बैल वा घोड़ा वा खच्चर एक पांव वाला, दो पांव वाला, वा तीन पांव वाला होवे, वह क्या ले जावेगा और किस स्थान पर पहुंचेगा [अल्प शक्ति वाला होने से]। (तस्मात् ऋग्विदम् एव होतारं वृणीष्व, यजुर्विदम् अध्वर्युं, सामविदम् उद्गातारम्, अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्) इसलिये ऋग्वेद जानने वाले को ही होता चुन, यजुर्वेद जानने वाले को अध्वर्यु, सामवेद जानने वाले को उद्गाता और अथर्वाङ्गिरा [चारों वेद] जानने वाले को ब्रह्मा। (तथा ह अस्य यज्ञः चतुर्षु लोकेषु चतुर्षु देवेषु चतुर्षु वेदेषु चतसृषु होत्रासु चतुष्पात् यज्ञः प्रतिष्ठति) उस प्रकार से ही इस [यजमान] का यज्ञ चार लोकों में, चार देवों में, चार वेदों में, चार ऋत्विजों की क्रियाओं में ठहरता है [देखो गो० पू० २ । १६ और २४]। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद, यः च एवम् ऋत्विजाम् आर्त्विज्यं वेद यः च यज्ञे यजनीयं वेद इति ब्राह्मणम्) वह प्रजा से और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है, जो ऐसा जानता है और जो ऋत्विजों के ऋत्विज् कर्म को जानता है और जो यज्ञ में पूजनीय व्यवहार जानता है, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ १ ॥

भावार्थः — वेदवेत्ता यज्ञकुशल पुरुष ही आदरणीय होवें ॥ १ ॥

वायुसूर्य्यादिदिव्यपदार्थान् (आह) कर्मण्यर्थे । कथ्यते (अभिवादः) अर्श-आद्यच् । प्रणामयोग्यः (उत्तरम्) उन्नततरम् (गृणानान्) कर्मण्यर्थे । ग्रियमाणान् । स्तूयमानान् (तान्) वेदान् (वृणानान्) कर्मण्यर्थे । व्रियमाणान् । स्वीकरणीयान् (ह्वयन्तः) आह्वयन्तः । उच्चारयन्तः (मन्यन्ते) ज्ञायन्ते (अन्यः) भिन्नः (वृतः) स्वीकृतः (ऊर्जया) पराक्रमेण (अवृतः) अस्वीकृतः (नेत्) नैव (परिमुष्णीयात्) अपहरेत् । नाशयेत् (पूर्वम्) दोहनात् पूर्वम् (वत्सः) गोशिशुः (अधीत्य) आगत्य (धयेत्) धेट् पाने । पिबेत् (अभ्यश्नुयात्) प्राप्नुयात् ॥

---

१. यहाँ आगे कण्डिका की पङ्क्तियाँ अति भ्रष्ट थीं, हस्तलेखों से मिलान करके मूल एवं अर्थ भी यथावश्यक ठीक किया है ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका २ ॥

प्रजापतिर्यज्ञमतनुत, स ऋचैव हौत्रमकरोत्, यजुषाध्वर्य्यवं, साम्नोद्गात्रमथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वं, तं वा एतं महावाद्यं कुरुते, यदृचैव हौत्रमकरोद्यजुषाध्वर्य्यवं साम्नौद्गात्रमथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वं स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः सस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोत्ययमु वै यः पवते स यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनिर्मनसा चैव हि वाचा च यज्ञे वहत्यत एव मन इयमेव वाक् स यद्वदन्नास्ति विद्यादर्द्धं मेऽस्य यज्ञस्यान्तरगादिति, तद्यथैकपात् पुरुषो यन्नेकचक्रो वा रथो वर्त्तमानो भ्रेषं न्येत्येवमेवास्य यज्ञो भ्रेषं न्येति, यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानो भ्रेषं न्येति, यजमानस्य भ्रेषमन्वृत्विजो भ्रेषं नियन्ति, ऋत्विजां भ्रेषमनु दक्षिणा भ्रेषं नियन्ति, दक्षिणानां भ्रेषमनु यजमानः पुत्रपशुभिर्भ्रेषं न्येति, पुत्रपशूनां भ्रेषमनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन भ्रेषं न्येति स्वर्गस्य लोकस्य भ्रेषमनु तस्यार्द्धस्य योगक्षेमो भ्रेषं न्येति, यस्मिन्नर्द्धे यजन्त इति ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ चतुर्वेदी चार ऋत्विजों के बिना यज्ञ गिर जाता है ॥

(प्रजापतिः यज्ञम् अतनुत) प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर वा यजमान] ने यज्ञ फैलाया। (सः ऋचा एव हौत्रम् अकरोत्, यजुषा आध्वर्य्यवं, साम्ना औद्गात्रम्, अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम्) उस [प्रजापति] ने ऋग्वेद से ही होता का कर्म किया, यजुर्वेद से अध्वर्य्यु का कर्म, सामवेद से उद्गाता का कर्म और अथर्वाङ्गिराओं [निश्चल ज्ञान वाले चारों वेदों] से ब्रह्मा का काम। (तं वै एतं महावाद्यं कुरुते यत् ऋचा एव हौत्रम् अकरोत्, यजुषा आध्वर्य्यवं, साम्ना औद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम्) उस ही इस [यज्ञ] को उसने अति प्रशंसनीय किया है, जिसने ऋग्वेद से होता का कर्म किया है, यजुर्वेद से अध्वर्य्यु का कर्म, सामवेद से उद्गाता का कर्म, और निश्चल ज्ञान वाले चारों वेदों से ब्रह्मा का कर्म। (त्रिभिः वेदैः यज्ञस्य सः वै एषः अन्यतरः पक्षः संस्क्रियते, मनसा एव ब्रह्मा यज्ञस्य अन्यतरं पक्षं संस्करोति) तीनों वेदों [त्रयी विद्या] से यज्ञ का वही कोई सा पक्ष [भाग] सिद्ध किया जाता है, मन से ही ब्रह्मा किसी ही पक्ष को सिद्ध करता है। (अयम् उ वै यः पवते सः यज्ञः) और यह जो चलता है, वह यज्ञ है। (तस्य मनः च वाक् च वर्तनिः) उस [ब्रह्मा] का मन और वाणी प्रवृत्ति मार्ग है। (मनसा च एव हि वाचा च यज्ञे वहति, अतः एव मनः इयम् एव वाक्) मन से और वाणी से ही वह यज्ञ में चलता है, इससे ही मन यही वाणी है। (सः यत् वदन् न अस्ति विद्यात् मे अस्य यज्ञस्य अर्द्धम् अन्तः अगात् इति) जो वह [ब्रह्मा] बताता हुआ नहीं रहता है, वह जाने कि मेरे इस यज्ञ की ऋद्धि [सम्पत्ति] छिप गई। (तत् यथा एकपात् पुरुषः यन्, एकचक्रः रथः वा

२—(अतनुत) व्यस्तारयत् (महावाद्यम्) अतिशयेन कथनीयम्। प्रशंसनीयम् (अन्यतरः) अन्यतमः। बहूनां मध्ये निर्धारित एकः (पक्षः) भागः (संस्क्रियते) सम्पाद्यते (संस्करोति) सम्यक् सम्पादयति (पवते) गच्छति।

वर्तमान: भ्रेषं न्येति एवम् एव अस्य यज्ञ: भ्रेषं न्येति) और जैसे एक पांव वाला पुरुष जाता हुआ अथवा एक पहिये वाला रथ चलता हुआ गिर जाता है, वैसे ही इसका यज्ञ गिर जाता है। (यज्ञस्य भ्रेषम् अनु यजमान: भ्रेषं न्येति) यज्ञ के गिराव के साथ यजमान गिर जाता है। (यजमानस्य भ्रेषम् अनु ऋत्विज: भ्रेषं नियन्ति) यजमान के गिराव के समय ऋत्विज् लोग गिर जाते हैं। (ऋत्विजां भ्रेषम् अनु दक्षिणा: भ्रेषं नियन्ति) ऋत्विजों के गिराव के साथ दक्षिणायें गिर जाती हैं। (दक्षिणानाम् भ्रेषम् अनु यजमान: पुत्रपशुभि: भ्रेषं न्येति) दक्षिणाओं के गिराव के साथ यजमान पुत्र और पशुओं सहित गिर जाता है। (पुत्रपशूनां भ्रेषम् अनु यजमान: स्वर्गेण लोकेन भ्रेषं न्येति) पुत्र और पशुओं के गिराव के साथ यजमान स्वर्गलोक से गिर जाता है। (स्वर्गस्य लोकस्य भ्रेषम् अनु तस्य अर्द्धस्य योगक्षेम: भ्रेषं न्येति, यस्मिन् अर्द्धे यजन्ते इति ब्राह्मणम्) स्वर्गलोक के गिराव के साथ उसकी सम्पत्ति का योगक्षेम [पाने योग्य का पाना और पाये हुये का बचाना] गिर जाता है, जिस सम्पत्ति में लोग यज्ञ करते हैं—यह ब्राह्मण [वेदज्ञान] है [इस कण्डिका का मिलान करो—गोपथ पू० १ । १३] ॥ २ ॥

भावार्थ:—कर्मकुशल ऋत्विजों के न होने से यज्ञ में विघ्न पड़ता है ॥ २ ॥

कण्डिका ३ ॥

तदु ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो ब्रह्माणं दृष्ट्वा भाषमाणमर्द्धं मेऽस्य यज्ञस्यान्तरगादिति, तस्माद् ब्रह्मा स्तुते बहि:पवमाने वाचोयम्यमुपांश्वन्तर्य्यामाभ्यामथ ये पवमान उदूचुस्तेष्वथ यानि च स्तोत्राणि च शस्त्राण्यावषट्कारात्तेषु स यदृक्तो भ्रेषन्नियच्छेदों भूर्जनदिति गार्हपत्ये जुहुयात्, यदि यजुष्ट ओं भुवो जनदिति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्, यदि सामत ओं स्वर्जनदित्याहवनीये जुहुयात्, यद्यनाज्ञाता ब्रह्मतो ओं भूर्भुव: स्वर्जनदोमित्याहवनीय एव जुहुयात्, तद्वाकोवाक्यस्यर्चां यजुषां साम्नामथर्वाङ्गिरसामथापि वेदानां रसेन यज्ञस्य विरिष्टं सन्धीयते, तद्यथा लवणेनेत्युक्तं, तद्यथा उभयपात्पुरुषो यन्नुभयचक्रो वा रथो वर्त्तमानोऽभ्रेषं न्येत्येवमेवास्य यज्ञोऽभ्रेषं न्येति, यज्ञस्याभ्रेषमनु यजमानोऽभ्रेषं न्येति, यजमानस्याभ्रेषमनृत्विजोऽभ्रेषं नियन्ति, ऋत्विजामभ्रेषमनु दक्षिणा अभ्रेषं नियन्ति, दक्षिणानामभ्रेषमनु यजमान: पुत्रपशुभिरभ्रेषं न्येति, पुत्रपशूनामभ्रेषमनु यजमान: स्वर्गेण लोकेनाभ्रेषं न्येति, स्वर्गस्य लोकस्याभ्रेषमनु तस्यार्द्धस्य योगक्षेमोऽभ्रेषं न्येति, यस्मिन्नर्द्धे यजन्त इति ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ यज्ञ में त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त ॥

(आरुणेय: श्वेतकेतु: तत् उ स्म ब्रह्माणं भाषमाणं दृष्ट्वा आह मे अस्य

निघ० २ । १४ (वर्तनि:) प्रवृत्तिमार्ग: (वदन्) कथयन् (अर्द्धम्) पू० १ । १३ । ऋद्धिम् । संपत्तिम् (अन्त:) मध्ये (यन्) इण् गतौ–शतृ: । गच्छन् (भ्रेषम्) भ्रेषृ चलने—घञ् । अध:पतनम् (न्येति) निश्चयेन प्राप्नोति (अर्द्धस्य) सम्पत्ते: (योगक्षेम:) गो० पू० १ । १३ । प्राप्यस्य प्रापणं प्राप्तस्य रक्षणम् ॥

यज्ञस्य अर्द्धम् अन्तर् अगात् इति) अरुण का पुत्र श्वेतकेतु तब ही ब्रह्मा को बोलते हुये देख कर कहने लगा—मेरे इस यज्ञ का आधा भाग छिप गया। (तस्मात् ब्रह्मा बहिःपवमाने वाचोयम्यम् उपांशु यामाभ्याम् अन्तर् स्तुते) इसलिये ब्रह्मा दो बहिःपवमान स्तोत्र को वाणी रोक कर चुपचाप दो पहर तक बोलता है। (अथ ये पवमाने उदूचुः तेषु अथ यानि च स्तोत्राणि च शस्त्राणि आवषट्कारात् तेषु यः यत् ऋक्तःभ्रेषं नियच्छेत् ओं भूः जनत् इति गार्हपत्ये जुहुयात्) और जो पुरुष दो पवमान स्तोत्रों को बोलें उनमें, और जो स्तोत्र और शस्त्र वषट्कार के साथ यज्ञ समाप्ति तक होते हैं उनमें, वह [ब्रह्मा] जो ऋग्वेद से गिराव [त्रुटि] को रोके, ओम् भूः जनत्—इन [व्याहृतियों] से गार्हपत्य अग्नि में हवन करे। (यदि यजुष्टः ओं भुवः जनत् इति दक्षिणाग्नौ जुहुयात्) जो यजुर्वेद से [त्रुटि को रोके]—ओम् भुवः जनत्—इनसे दक्षिणाग्नि में हवन करे।(यदि सामतः, ओं स्वः जनत् इति आहवनीये जुहुयात्) जो सामवेद से [त्रुटि को रोके]—ओं स्वः जनत्—इनसे आहवनीय अग्नि में हवन करे। (यदि अनाज्ञाताः ब्रह्मणे[१], ओं भूः भुवः स्वः जनत् ओम् इति आहवनीये एव जुहुयात्) जो न जानी हुई ब्रह्मा की क्रियाओं को [रोके]—ओम् भूः भुवः स्वः जनत्—इन [व्याहृतियों] से आहवनीय अग्नि में ही हवन करे। (तत् वाकोवाक्यस्य ऋचां, यजुषां, साम्नाम्. अथर्वाङ्गिरसां अथ अपि वेदानां रसेन यज्ञस्य विरिष्टम् सन्धीयते) वह वाकोवाक्य के ऋग्वेद मन्त्रों के, यजुर्वेद मन्त्रों के, सामवेद मन्त्रों के और चारों वेद मन्त्रों के और वेदों के रस—[ध्वनि] से यज्ञ का दोष सुधर जाता है। (तत् यथा लवणेन इति उक्तम्) सो जैसे लवण [खार] के साथ यह कहा गया है [गोपथ पू० १ । १४], (तत् यथा उभयपात् पुरुषः यन् उभयचक्रः रथः वा वर्तमानः अभ्रेषं न्येति एवम् एव अस्य यज्ञः अभ्रेषं न्येति) सो जैसे दो पांव वाला पुरुष चलता हुआ, अथवा दो पहिये वाला रथ वर्त्तमान [जाता हुआ] नहीं चलता [स्थिरता] पाता है, वैसे ही इस [यजमान] का यज्ञ निश्चलता पाता है। (यज्ञस्य अभ्रेषम् अनु यजमानः अभ्रेषं न्येति) यज्ञ की निश्चलता के साथ यजमान निश्चलता [अकर्मण्यता] पाता है। (यजमानस्य अभ्रेषम् अनु ऋत्विजः अभ्रेषं नियन्ति) यजमान की निश्चलता के साथ ऋत्विज् लोग निश्चलता पाते हैं। (ऋत्विजाम् अभ्रेषम् अनु दक्षिणाः अभ्रेषं नियन्ति) ऋत्विजों की निश्चलता के साथ दक्षिणायें निश्चलता पाती हैं। (दक्षिणानाम् अभ्रेषम् अनु यजमानः पुत्रपशुभिः अभ्रेषं न्येति) दक्षिणाओं की निश्चलता के साथ यजमान पुत्रों और पशुओं सहित निश्चलता पाता है। (पुत्रपशूनाम् अभ्रेषम् अनु यजमानः स्वर्गेण लोकेन अभ्रेषं न्येति) पुत्रों और पशुओं की निश्चलता

३—(आरुणेयः) अरुण—ढक्। अरुणस्य पुत्रः (अन्तर्) अदर्शनम्। मध्ये (स्तुते) स्तौति (बहिः पवमाने) स्तोत्रविशेषद्वयम् (वाचोयम्यम्) यम उपरमे —यत्। वाचः वाण्याः यम्यं यमन विरोधं कृत्वा (उपांशु) अप्रकाशे गुप्ते (यामाभ्याम्) प्रहराभ्याम् (उदूचुः) उच्चारितवन्तः (आवषट्कारात्) वषट्-

---

१. पू० सं० 'ब्रह्मतो' इति पाठः स चासङ्गतः ॥ सम्पा० ॥

के साथ यजमान स्वर्ग लोक के सहित निश्चलता पाता है। (स्वर्गस्य लोकस्य अभ्रेषम् अनु तस्य अर्द्धस्य योगक्षेमः अभ्रेषं न्येति, यस्मिन् अर्द्धे यजन्ते इति ब्राह्मणम्) स्वर्ग लोक की निश्चलता के साथ उस [यजमान] की ऋद्धि [सम्पत्ति] का योगक्षेम [पाने योग्य का पाना और पाये हुये का बचाना] निश्चलता पाता है, जिस सम्पत्ति में वे यज्ञ करते हैं, यह ब्राह्मण [वेदज्ञान] है ॥ ३ ॥

भावार्थः—यज्ञ में त्रुटि का प्रायश्चित्त कर देने से यज्ञ की सिद्धि और यजमान की वृद्धि होती है ॥ ३ ॥

विशेषः—इस कण्डिका को मिलाओ—गो० पू० १ । १४ और ऐतरेय ब्राह्मण ५ । ३४ ॥

कण्डिका ४ ॥

तद्यदौदुम्बर्य्यान्म आसिष्ट, हिङ्कृणोत् मे प्रास्तावीन्म उदगासीत् मे सुब्रह्मण्यामाह्वासीदित्युद्गात्रे दक्षिणा नीयन्ते, ग्रहान् मेऽग्रहीत् प्राचारीन्मेऽशुश्रुवन् मे संमनसस्कार्षीदयाक्षीन्मेऽवषट्कार्षीन्म इत्यध्वर्य्यवे, होतृसदन आसिष्ट, अयाक्षीन्मेऽशांसीन्मेऽवषट्कार्षीन्म इति होत्रे, देवयजनं मेऽचीक्लृपद् ब्रह्मा सादं मेऽसीसृपद् ब्रह्मजपान्मेऽजपीत् पुरस्ताद्धोम-संस्थितहोमान्मेऽहौषीदयाक्षीन्मेऽशांसीन्मेऽवषट्कार्षीन् म इति ब्रह्मणे भूयिष्ठेन मा ब्रह्मणाकार्षीदित्येतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्भृग्वङ्गिरसः, येऽङ्गिरसः स रसः येऽथर्वाणः, येऽथर्वाणस्तद्भेषजं, यद्भेषजं तदमृतं, यदमृतं तद् ब्रह्म, स वा एष पूर्वेषामृत्विजामर्द्धभागस्यार्द्धमितरेषामर्द्धं ब्रह्मण इति ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ ऋत्विजों के कर्म जिनमें वे दक्षिणा पाते हैं ॥

(तत् यत् औदुम्बर्य्यां मे आसिष्ट, हिङ्कृणोत् मे, प्रास्तावीत् मे, उदगासीत् मे, सुब्रह्मण्याम् आह्वासीत् इति उद्गात्रे दक्षिणाः नीयन्ते[१]) वह जो [उद्गाता] औदुम्बरी [गूलर के मचान] पर मेरे [यजमान के] लिये बैठा, मेरे लिये हिङ् शब्द किया, मेरे लिये स्तुति की, मेरे लिये सामगान किया सुब्रह्मण्या [भली

कारेण यज्ञसमाप्तिपर्यन्तम् (भ्रेषम्) अधःपतनम् (नियच्छेत्) यम उपरमे—विधिलिङ् । नियमे कुर्यात् । अवरुन्धेत । (वाकोवाक्यस्य) क० २१ द्र० । पदसमूहस्य (यन्) गच्छन् (अभ्रेषम्) अचलनम् । दृढत्वम् । स्थिरताम् ।

४—(औदुम्बर्य्याम्) पृभिदिव्यधि० (उ० १ । २३) उड संहतौ संहनने समूहे वा, सौत्रो धातु—कुः । संज्ञायां भृतृवृ० (पा० ३ । २ । ४६) उडु + वृञ् वरणे—खच् । मुम् च डस्य दः, वस्य बः । ततः अण् ङीप् । उदुम्बरकाष्ठनिर्मितायां खट्वायाम् (मे) मदर्थम् (उदगासीत्) अगायत् (सुब्रह्मण्याम्) तत्र

---

१. ऋत्विजों के विभिन्न कार्यों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए यजमान द्वारा दक्षिणा दी जा रही है इसी का वर्णन यहां है, अर्थात् आप मेरे लिए दो शाखा वाले गूलर की डाल के नीचे बैठे, सामवेद गान के समय हिङ्कार किया, आदि २ बहुत कष्ट उठाये ॥सम्पा०॥

भांति ब्रह्म को बताने वाली ऋचा] बोला, इसलिये उद्गाता को दक्षिणायें दी जाती हैं (ग्रहान् मे अग्रहीत् प्राचारीत् मे, अशुश्रुवत् मे, संमनसः कार्षीत्, अयाक्षीत् मे, अवषट्कार्षीत् मे इति अध्वर्यवे) [जिसलिये अध्वर्यु ने] ग्रहों [सोमपात्रों] को मेरे लिये ग्रहण किया, मेरे लिये प्रचार किया, मेरे लिये [वेदमन्त्र] सुनवाये, [लोगों को] समान मन वाला किया, मेरे लिये यज्ञ किया, मेरे लिये वषट् [समाप्ति का शब्द] किया, इसलिये अध्वर्यु को [दक्षिणायें लायी जाती हैं]। (होतृसदने आसिष्ट, अयाक्षीत् मे, अशांसीत् मे, अवषट्कार्षीत् मे, इति होत्रे) [जिसलिये होता] होतृसदन में बैठा, मेरे लिये यज्ञ किया, मेरे लिये स्तुति की, मेरे लिये वषट्कार किया, इसलिये होता को [दक्षिणायें लायी जाती हैं]। (ब्रह्मा देवयजनं मे अचीक्लृपत्, सादं मे असीसृपत् ब्रह्मजपान् मे अजपीत्, पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमान् मे अहौषीत्, अयाक्षीत् मे, अशांसीत् मे, अवषट्कार्षीत् मे, इति ब्रह्मणे) [जिसलिये] ब्रह्मा ने देवयजन मेरे लिये ठीक बनाया, मेरे लिए स्थान पहुँचाया, मेरे लिए वेद के जप जपे, मेरे लिए पुरस्तात्-होम और संस्थितहोमों को हवन किया, मेरे लिए यज्ञ किया, मेरे लिए स्तुति की, मेरे लिए वषट् [यज्ञ समाप्ति का शब्द] किया, इसलिए ब्रह्मा को [दक्षिणायें दी जाती हैं]। (भूयिष्ठेन ब्रह्मणा मा अकार्षीत् इति एतत् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यत् भृग्वङ्गिरसः) [ब्रह्मा ने] बहुत अधिक ब्रह्मज्ञान के साथ मुझे किया है, यही बहुत अधिक ब्रह्मज्ञान है, जो भृगु अङ्गिरा [परिपक्व ज्ञान वाले चारों वेद] हैं। (ये अङ्गिरसः सः रसः ये अथर्वाणः) जो अङ्गिरस [ज्ञान वाले चारो वेद] हैं, जो अथर्वा [निश्चल ज्ञान वाले चारों वेद] हैं, वह रस है। (ये अथर्वाणः तद् भेषजम्) जो अथर्वा [निश्चल ज्ञान वाले चारों वेद] हैं; वह औषध है। (यत् भेषजं तत् अमृतं यत् अमृतं तत् ब्रह्म, सः वै एषः) जो औषध है वही अमृत है, जो अमृत है वह ब्रह्म [वेद ज्ञान] है, वही [ज्ञान स्वरूप] यह [ब्रह्मा] है। (पूर्वेषाम् ऋत्विजाम् अर्द्धभागस्य अर्द्धम् इतरेषाम् ब्रह्मणः अर्द्धम् इति ब्राह्मणम्) पहिले ऋत्विजों की सम्पत्ति के भाग का आधा दूसरों [उद्गाता, अध्वर्यु और होता] का है और आधा ब्रह्मा का है, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है[1] ॥ ४ ॥

साधुः (पा० ४ । ४ । ९८) सुब्रह्मन्—यत्, टाप्। सुब्रह्मणि सुष्ठु वेदज्ञाने प्रवृत्ताम् स्तुतिम् ऋचं वा (आह्वासीत्) आ + ह्वेञ् शब्दे—लुङ्। आहूतवान् (नीयन्ते) प्राप्यन्ते। दीयन्ते (ग्रहान्) सोमपात्राणि (अशुश्रुवत्) श्रु श्रवणे—णिच्, लुङ्। श्रावितवान् (संमनसः) समानहृदयान् (अशांसीत्) शंसु स्तुतौ—लुङ्। स्तुतवान् (अवषट्कार्षीत्) वषट्कार, नामधातुः—लुङ्। वषट् शब्दम् अकार्षीत् (अचीक्लृपत्) समर्थं योग्यं कृतवान् (सादम्) स्थानम् (असीसृपत्) सृप्लृ गतौ—णिच्—लुङ्। अगमयत्। प्रापितवान् (भूयिष्ठेन) बहुतमेन (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (भेषजम्) औषधम् (अर्द्धम्) ऋधु वृद्धौ—घञ्। द्वयोर्मध्ये समभागः। समृद्धिः ॥

---

१. कण्डिका का भ्रष्टपाठ एवं तदनुसार अर्थ ठीक किया है ॥ सम्पा० ॥

भावार्थ:—चार ऋत्विजों में ब्रह्मा चतुर्वेदी और यज्ञविधान दर्शक होता है तथा शेष तीन एक एक वेद वाले होते हैं, इसलिए यजमान ब्रह्मा का औरों से उच्च पद जाने और उसका अधिक सत्कार करे ।। ४ ।।

कण्डिका ५ ।।

देवाश्च ह वा असुराश्च संग्रामं समयतन्त, तत्रैतास्तिस्त्रो होत्रका जिह्मं प्रतिपेदिरे, तासामिन्द्र उक्थानि सामानि लुलोप, तानि होत्रे प्रायच्छदाज्यं ह वै होतुर्बभूव, प्रउगं पोतुर्वैश्वदेवं ह वै होतुर्बभूव, निष्केवल्यं नेष्टुर्मरुत्वतीयं ह वै होतुर्बभूव, आग्निमारुतमाग्नीध्रस्य, तस्मादेतदभ्यस्ततरमिव शस्यते यदाग्निमारुतं तस्मादेते संशंसुका इव भवन्ति यद्धोता पोता नेष्टाग्नीध्रो मुमोहे वसीत तद् ब्रह्मोयस मिवास तासामर्द्धं प्रतिलुलोप प्रथमार्हणञ्च प्रथमपदञ्चैतद्दक्षिणाञ्चैतत्परिशिषेदेदिति ब्राह्मणम् ।। ५ ।।

कण्डिका ५ ।। तीन ऋत्विजों से यज्ञ करना ।।

(देवा: च ह वै असुरा: च संग्रामं समयतन्त) देवता और असुर लोग संग्राम में जुटे [विद्वान् और अविद्वान् ऋत्विज् लड़ने लगे]। (तत्र एता: तिस्र: होत्रका: जिह्मं प्रतिपेदिरे) उस [संग्राम] में इन तीन होताओं ने कुटिलता विचारी । (तासाम् इन्द्र: उक्थानि[1] सामानि लुलोप) इन्द्र ने उन [ऋत्विजों] के उक्थ साम स्तोत्रों को तोड़ डाला । (तानि होत्रे प्रायच्छत्) उस [इन्द्र] ने उन [स्तोत्रों] को होता को दे दिया। (आज्यं ह वै होतु: बभूव) वही [स्तोत्र] आज्य [घृत स्तोत्र] होता का हुआ. (पोतु: प्रउगं होतु: वैश्वदेवं ह वै बभूव) वही [स्तोत्र] पोता [शोधने वाले ऋत्विज्] का प्रउग [प्रयोजनीय स्तोत्र] होता का ही वैश्वदेव [स्तोत्र] हुआ (नेष्टु: निष्केवल्यं ह वै होतु: मरुत्वतीयं बभूव आग्नीध्रस्य आग्निमारुतम्) वही [स्तोत्र] नेष्टा [नायक ऋत्विज्] का निष्केवल्य स्तोत्र ही होता का मरुत्वतीय [स्तोत्र] हुआ, और आग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक ऋत्विज्] का आग्निमारुत [स्तोत्र हुआ], (तस्मात् एतत् अभ्यस्ततरम् इव शस्यते यत् आग्निमारुतम्) इसलिये यह [स्तोत्र] अधिक बार ही बोला जाता है, जो आग्निमारुत है।

५—(होत्रका:) होत्रा-कन्, टाप् स्त्रीलिङ्ग: । होत्रा:—गो० पू० २ । १६ । ऋत्विज: (जिह्मम्) जहाते: सन्वदाकारलोपश्च (उ० १ । १४१)। ओहाक् त्यागे-मन् । कुटिलभावम् । मन्दत्वम् (प्रतिपेदिरे) प्रतिपादितवन्त: । आचरितवन्त: (सामानि) सामवेदस्तोत्राणि (लुलोप) लुप्लृ छेदने—लिट् । छिन्नवान् (प्रउगम्) उञ्छादीनां च (पा० ६ । १ । १५४) प्र+युजिर् योगे—घञ् अगुण: कुत्वं यलोप: । प्रयोगार्हं स्तोत्रम् (निष्केवल्यम्) इन्द्रस्य शस्त्रं स्तोत्रम् (नेष्टु:) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २ । ९५) णीञ् प्रापणे—तृन्, षुक् च । नयनकर्तु: । ऋत्विग्विशेषस्य (मरुत्वतीयम्) मध्वादिभ्यश्च (पा० ४ । २ । ८६)। मरुत्—मतुप् मस्य व: । मरुत्वत्-

---

१. उक्थम् शब्द पातृतुदि० (उ० २ । ७) से थक् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है । उच्यते परितो भाष्यते यत्तदुक्थम् ।। सम्पा० ।।

है । (तस्मात् एते संशंसुकाः इव भवन्ति यत् होता पोता नेष्टा आग्नीध्रः मुमोहे [=सुमोहे] वसीत) इसलिये यह सब लोग संशंसुक [मिल कर स्तुति करने वाले] ही होते हैं, कि होता पोता, नेष्टा और आग्नीध्र बड़े मोह में घिर जावें, (तद् ब्रह्मा इयसाम् आस इव) और तब ब्रह्मा उदासीन ? सा हुआ । (तासाम् अर्धं प्रतिलुलोप) उन [होत्रक लोगों का आधा भाग उस [इन्द्र यजमान] ने काट दिया । (एतत् प्रथमार्हणं च प्रथमपदं च एतत् दक्षिणां च परिशिषेदेत् इति ब्राह्मणम्) इस कारण प्रथम पूजन और प्रथम पद [ब्रह्मा पद] को और इस कारण दक्षिणा को प्रतिषेध करे [रोक देवे] यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ५ ॥

भावार्थः—इस कण्डिका का शब्दार्थ समझ में नहीं आया, विद्वान् लोग विचार लेवें । भाव यह जान पड़ता है कि ब्रह्मा के अभाव में यज्ञ पूरा पूरा सिद्ध नहीं होता, इसलिये सहायक ऋत्विजों को आधी दक्षिणा दी जावे और आधी बचा ली जावे ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ ॥

उद्दालको ह वा आरुणिरुदीच्यान् वृतो धावयाञ्चकार, तस्य ह निष्क उपाहितो बभूव, उपवादाद् बिभ्यतो, यो मा ब्राह्मणोऽनूचान उपवदिष्यति तस्मा एतं प्रदास्यामीति, तद्धोदीच्यान् ब्राह्मणान् भयं बिभेद उद्दालको ह वा अयमायाति, कौरुपाञ्चालो ब्रह्मा ब्रह्मपुत्र स ऊर्ध्वं वृतो न पर्य्यादधीत केनेमं वीरेण प्रतिसंयतामहा इति, य यत एव प्रपन्नं दध्रे तत् एवमनुप्रतिपेदिरे ते ह स्वैदायनं शौनकमूचुः, स्वैदायन त्वं वै नो ब्रह्मिष्ठोऽसीति त्वयेमं वीरेण प्रतिसंयतामहा इति, तं यत एव प्रपन्नं दध्रे तत एवमनुप्रतिपेदिरे तं ह स्वैदायना इत्यामन्त्रयामास, स भो गोतमस्य पुत्रेतीतिहास्मा असूयात्, प्रतिश्रुतं प्रतिशुश्राव, स वै गौतमस्य पुत्र ऊर्द्ध्वं वृतोऽधावीत् ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ उद्दालक ऋषि का उत्तर वालों से शास्त्रार्थ करने का प्रयत्न ॥

(वृतः आरुणिः उद्दालकः ह वै उदीच्यान् धावयांचकार) चुने हुए आरुणि [अरुण के पुत्र] उद्दालक [अज्ञान दलने वाले ऋषि] ने उत्तर निवासियों पर धावा

छप्रत्ययः । मरुत्वान् इन्द्रः, तस्य स्तोत्रम् (आग्नीध्रस्य) अग्निमिन्धे अग्नीत्, अग्नि+ञिइन्धी दीप्तौ—क्विप् । अग्नीधः शरणे रण् भं च (वा० पा० ४ । ३ । १२०) अग्नीध्—रण् । अग्निप्रदीपकस्य ऋत्विग्विशेषस्य (संशंसुकाः) समि कस उकन् (उ० २ । २९) सम्+शंसु स्तुतौ—उकन् । संयोगेन स्तोतारः (मुमोहे) प्रमादपाठः । सुमोहे । सु+मुह वैचित्ये—घञ् । महत्यज्ञाने (वसीत) वस आच्छादने । आच्छाद्यते (इयसाम्+आस) ? इयस उदासीनतायां—लिट् ? आर्षप्रयोगः । उदासीनो बभूव (इव) यथा (प्रतिलुलोप) प्रत्यक्षेण लुप्तवान् (प्रथमार्हणम्) अर्ह पूजायाम्—ल्युट् । प्रथमपूजनम् (एतत्) अनेन प्रकारेण (परिशिषेदेत्) षिधु गत्याम्, अस्यार्षरूपम् । निषेधेत् । वर्जयेत् ॥

किया। (उपवादात् बिभ्यतः तस्य ह निष्कः उपाहितः बभूव) शास्त्रार्थ से डरते हुए उस [उद्दालक] का हार पण में रक्खा गया था। (यः अनूचानः ब्राह्मणः मा उपवदिष्यति तस्मै एतं प्रदास्यामि इति) [उद्दालक ने कहा] जो अनूचान [अङ्ग उपाङ्ग सहित वेद जानने वाला] ब्राह्मण मुझसे शास्त्रार्थ करेगा उसको यह [हार] दूंगा। (तत् ह उदीच्यान् ब्राह्मणान् भयं बिभेद) उससे उत्तर निवासी ब्राह्मणों को भय ने छेद डाला। (अयम् उद्दालकः ह वै आयाति, कौरुपाञ्चालः ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रः, सः वृतः ऊर्द्ध्वं पर्य्यादधीत इमं केन वीरेण प्रतिसंयतामहै) यह उद्दालक ही आता है, यह कुरु पञ्चाल का रहने वाला ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] ब्रह्मा का पुत्र है वह चुना हुआ [हार को] ऊपर न धारण करे, [इसलिए] इसको किस वीर के साथ हम जुटावें। (यतः एव तं प्रपन्नं दध्रे ततः एवम् अनुप्रतिपेदिरे) जो कि उस [उद्दालक] ने उस [हार] को सामने रख दिया था, इसलिए उन्होंने ऐसा विचार किया। (ते ह स्वैदायनं शौनकम् ऊचुः) वे उसके विषय में स्वैदायन शौनक से बोले— (स्वैदायन त्वं वै नः ब्रह्मिष्ठः असि इति इमं त्वया वीरेण प्रतिसंयतामहै इति) हे स्वैदायन ! तू ही हममें बड़ा ब्रह्मज्ञानी है, इसको तुझ वीर के साथ हम जुटावें। (यतः एव तं प्रपन्नं दध्रे ततः एवं तं ह स्वैदायनाः अनुप्रतिपेदिरे इति) जो कि उस [उद्दालक] ने उस [हार] को सामने रख दिया था, इसलिए ऐसा उसके विषय में ही स्वैदायन लोगों ने विचार किया। (सः आमन्त्रयामास भो गोतमस्य पुत्र इति इति ह अस्मै असूयात्) वह [स्वैदायन] बोला—हे गोतम के पुत्र ! आप इस [मुझ] से युद्ध करें। (प्रतिश्रुतं प्रतिशुश्राव) उस [उद्दालक] ने अङ्गीकृत वचन को अङ्गीकार किया। (सः वै गोतमस्य वृतः पुत्रः ऊर्द्ध्वम् अधावीत्) वही गोतम का चुना हुआ पुत्र ऊँचे स्थान को शीघ्र गया ॥ ६ ॥

६—(उद्दालकः) उत्+दलविदारणे—घञ्, स्वार्थे कन्। उत्कर्षेन दलति भिनत्ति अज्ञानानि यः। मुनिभेदः (आरुणिः) अरुण—इञ्। अरुणस्य पुत्रः (उदीच्यान्) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (पा० ४।२।१०१) उदच्—यत्। उत्तरदेशनिवासिनः (निष्कः) वक्षोभूषणम्। हारः (उपाहितः) उप+आ+दधातेः—क्तः। पणे आरोपितः (उपवादात्) शास्त्रार्थात् (बिभ्यतः) बिभेतेः—शतृः। भयं गच्छतः पुरुषस्य (अनूचानः) साङ्गोपाङ्गवेदवेत्ता (उपवदिष्यति) उपेत्य कथयिष्यति। शास्त्रार्थं करिष्यति (कौरुपाञ्चालः) तस्य निवासः (पा० ४।२।६९) कुरुपञ्चाल—अण्। अनुशतिकादीनां च (पा० ७। ३।२०) उभयपदादिवृद्धिः। कुरुपञ्चालदेशनिवासी। उद्दालकः (ऊर्द्ध्वम्) उच्चम् (वृतः) स्वीकृतः (दध्रे) दधार (स्वैदायनम्) स्वेदायन—अण्। स्वेदायनस्य पुत्रम्। (शौनकम्) शुन गतौ—कः, ततः कन्, अण् च। ज्ञानवान्। मुनिविशेषः (ब्रह्मिष्ठः) ब्रह्म—इष्ठन्। अतिशयेन ब्रह्मज्ञानी (अस्मै) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (पा० १।४।३७) असूयात् इति क्रियया सह चतुर्थी (असूयात्) असु उपतापे—लेट्। विवादयेत् (प्रतिश्रुतम्) स्वीकृतम् (प्रतिशुश्राव) स्वीकृतवान् ॥

भावार्थ:--विद्वान् लोग परस्पर प्रश्नोत्तर करके ब्रह्मज्ञान की उन्नति करें ॥ ६ ॥

कण्डिका ७ ॥

यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं लोमशा जायन्ते १, कस्मादासामपरमिव श्मश्रूण्युपकक्षाण्यन्यानि लोमानि जायन्ते २, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं पलिता भवन्ति ३, कस्मादन्ततः सर्वा एव पलिता भवन्ति ४, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिमाः प्रजा अदन्तिका जायन्ते ५, कस्मादासामपरमिव जायन्ते ६, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादासां सप्तवर्षाष्टवर्षाणां प्रभिद्यन्ते ७, कस्मादासां पुनरेव जायन्ते ८, कस्मादन्ततः सर्व एव प्रभिद्यन्ते ९, यस्तद्दर्शपूर्णमा यो रूपं विद्यात् कस्मादधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते १०, पर उत्तरे ११, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादधरे दन्ताः अणीयांसो ह्रसीयांसः १२, प्रथीयांसो वर्षीयांस उत्तरे १३, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिमौ दंष्ट्रौ दीर्घतरौ १४, कस्मात्समे इव जम्भे १५, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिमे श्रोत्रेऽन्ततः समे इव दीर्णे १६, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मात् पुमांसः श्मश्रुवन्तो १७, ऽश्मश्रवः[1] स्त्रियः १८, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादासां सन्ततमिव शरीरं भवति १९, कस्मादासामस्थीनि दृढतराणीव भवन्ति २०, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादासां प्रथमे वयसि रेतः सिक्त न सम्भवति २१, कस्मादासां मध्यमे वयसि रेतः सिक्तं सम्भवति २२, कस्मादासामुत्तमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २३, यस्तद्दर्शपूर्णमासयो रूपं विद्यात् कस्मादिदं शिश्नमुच्चश एति २४, नीचीपद्यते २५, कस्मात्सकृदपानम् २६ ॥ ७ ॥

कण्डिका ७ ॥ अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ के सम्बन्ध से उद्दालक के शरीर सम्बन्धी प्रश्न ॥

(तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) [उद्दालक ने कहा] सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् इमाः प्रजाः प्रथमं शिरस्तः लोमशाः जायन्ते १, कस्मात् आसाम् अपरम् इव श्मश्रूणि उपकक्षाणि अन्यानि लोमानि जायन्ते २) कैसे यह सब प्रजायें पहिले शिर पर लोम वाले उत्पन्न होते हैं १, कैसे पीछे से इनके दाढ़ी मूंछ और कांख के और दूसरे लोम उत्पन्न होते हैं २। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् इमाः प्रजाः प्रथमं शिरस्तः पलिताः भवन्ति ३, कस्मात् अन्ततः सर्वा एव पलिताः

७—(उपकक्षाणि) कक्षसमीपस्थानि (पलिताः) श्वेताः (अदन्तिकाः) दन्तरहिताः (अणीयांसः) अणु—ईयसुन्। अतिसूक्ष्माः (ह्रसीयांसः) ह्रस्व—

---

१. "अश्मश्रुवः" इति पू० सं० पाठः ॥ सम्पा० ॥

भवन्ति ४) क्यों यह प्रजायें पहिले शिर पर श्वेत हो जाते हैं ३, क्यों अन्त में सब ही श्वेत हो जाते हैं ४। (यः तत् दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् इमाः प्रजाः अदन्तिकाः जायन्ते ५, कस्मात् आसाम् अपरम् इव जायन्ते ६) क्यों यह प्रजायें बिना दांत वाले उत्पन्न होते हैं ५, क्यों इनके [दांत] पीछे निकलते हैं ६। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् आसां सप्तवर्षाष्टवर्षाणां प्रभिद्यन्ते ७, कस्मात् आसां पुनः एव जायन्ते ८, कस्मात् अन्ततः सर्वे एव प्रभिद्यन्ते ९) क्यों इन सात वर्ष आठ वर्ष वालों के [दांत] उखड़ जाते हैं ७, क्यों इनके [दांत] फिर भी निकल आते हैं ८, क्यों अन्त में सभी उखड़ जाते हैं ९। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् अधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते १०, परे उत्तरे ११) क्यों नीचे वाले दांत पहिले निकलते हैं १०, और पीछे ऊपर वाले ११। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् अधरे दन्ताः अणीयांसः, ह्रसीयांसः १२, उत्तरे प्रथीयांसः वर्षीयांसः १३) क्यों नीचे वाले दांत अधिक सूक्ष्म और निर्बल होते हैं १२ और ऊपर वाले अधिक चौड़े और सबल होते हैं १३। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् इमौ दंष्ट्रौ दीर्घतरौ १४, कस्मात् समे इव जम्भे १५) क्यों वह दोनों [सामने के] बड़े दांत अधिक लम्बे होते हैं १४, क्यों दोनों डाड़ें चौकोर सी हैं १५। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् इमे श्रोत्रे अन्ततः समे इव दीर्णे १६) क्यों यह दोनों कान अन्त में समान से फटे होते हैं १६। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उतर देवे]—(कस्मात् पुमांसः श्मश्रुवन्तः १७, स्त्रियः अश्मश्रवः १८) क्यों पुरुष दाढ़ो मूछ वाले होते हैं १७, और स्त्रियां बिना दाढ़ी मूछ वाली १८। (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह उत्तर देवे]—(कस्मात् आसां शरीरं सन्ततम् इव भवति १९, कस्मात् आसाम् अस्थीनि दृढतराणि इव भवन्ति २०) क्यों इन [प्रजाओं] का शरीर फैला हुआ सा होता है १९, क्यों इनकी हड्डियां अधिक

ईयसुन्। निर्बलतराः। कोमलतराः (प्रथीयांसः) पृथु—ईयसुन्। स्थूलतराः (वर्षीयांसः) वृद्ध—ईयसुन्। वृद्धतराः। सबलतराः (उत्तरे) उपरिस्थाः (समे) समाने (सन्ततम्) विस्तृतम् (सिक्तम्) सिंचितम् (सम्भवति) उत्पद्यते (शिश्नम्) मेढ्रम् (सकृत्) शके ऋतिन् (उ० ४। ५८) शक्लृ शक्तौ-ऋतिन् वा शस्य सः। पुरीषम्। वीर्यम् (अपानम्) अप+अन प्राणने-अच्।

दृढ़ होती हैं २० । (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह बतावे]—(कस्मात् आसां प्रथमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २१, कस्मात् आसां मध्यमे वयसि रेतः सिक्तं सम्भवति २२, कस्मात् आसाम् उत्तमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २३) क्यों इन [प्रजाओं] की पहली अवस्था में वीर्य सींचा हुआ नहीं निकलता है २१, क्यों इनकी मध्यम अवस्था में वीर्य सींचा हुआ निकलता है २२, क्यों इनकी पिछली अवस्था में वीर्य सींचा हुआ नहीं निकलता है २३ । (तत् यः दर्शपूर्णमासयोः रूपं विद्यात्) सो जो पुरुष अमावस्या और पूर्णमासी के [यज्ञ के] रूप को जाने [वह बतावे]—(कस्मात् इदं शिश्नम् उच्चशः एति २४, नीचीपद्यते २५, कस्मात् शकृत् अपानम् २६) क्यों यह मनुष्य लिङ्ग ऊंचा जाता है २४, और नीचा होता है २५, क्यों शकृत् [मल वा वीर्य] नीचे जाने वाला होता है २६ ।।७।।

भावार्थः—अमावस्या और पूर्णमासी को चन्द्रमा की गति का प्रभाव शरीर पर क्या होता है, इसका विचार विद्वान् करते रहें । उत्तरों के लिये कण्डिका ६ देखो ।।७।।

कण्डिका ८ ।।

अथ यः पुरस्तादष्टावाज्यभागान् विद्यात् मध्यतः पञ्च हविर्भागाः, षट् प्राजापत्याः उपरिष्टादष्टावाज्यभागान् विद्यात् १ अथ यो गायत्रीं हरिणीं ज्योतिष्पक्षां सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहन्तीं विद्यात् २, अथ यः पङ्क्तिं पञ्चपदां सप्तदशाक्षरां सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहन्तीं विद्यात् ३ अस्मै ह निष्कं प्रयच्छन्नुवाचानूचानो ह वै स्वैदायना स सुवर्णं वै सुवर्णविदे ददामीति तदुपयम्य निश्चक्राम, तत्रापवव्राज यत्रेतरो बभूव, तं ह पप्रच्छ किमेष गोतमस्य पुत्र इत्येष ब्रह्मा ब्रह्मपुत्र इति होवाच, यदेनं कश्चिदुपवदेतोत मीमांसेत ह वा मूर्द्धा वा अस्य विपतेत्, प्राणा वैनं जह्युरिति, ते मिथ एव चिक्रन्देयुर्विप्रापवव्राज यत्रेतरो बभूव[1] ते प्रातः समित्पाणय उपोदेयुरुपायामो भवन्तमिति, किमर्थमिति यानेव नो भवांस्तान् ह्यः प्रश्नानपृच्छत्तानेव नो भवान् व्याचक्षीतेति, तथेति तेभ्य एतान् प्रश्नान् व्याचचक्षे ।। ८ ।।

कण्डिका ८ ।। पूर्वोक्त प्रश्नों के विषय में उद्दालक और स्वैदायन वा शौनक का वार्तालाप ।।

(अथ यः पुरस्तात् अष्टौ आज्यभागान् विद्यात् मध्यतः पञ्च हविर्भागाः, षट् प्राजापत्याः, उपरिष्टात् अष्टौ आज्यभागान् विद्यात् १) फिर जो पहिले आठ आज्य भागों [घी की आहुति विशेषों] को जाने, मध्य में पांच हविर्भाग [हवि की आहुतियां] और छः प्राजापत्य [प्रजापति की आहुतियां हैं उनको और] पीछे से आठ

अधःपतनशीलम् । अथवा अप + आ + णीञ् प्रापणे - डप्रत्ययः । अधोगमनशीलम् ।।

---

१. पू. सं. "बभूवुः" इति पाठः ।। सम्पा० ।।

आज्य भागों को जाने १, (अथ यः हरिणीं ज्योतिष्पक्षां सबः यज्ञैः यजमानं स्वर्गं लोकम् अभिवहन्तीं गायत्रीं विद्यात् २) फिर जो सुवर्ण मूर्ति, ज्योति के पंख वाली, सब यज्ञों के द्वारा यजमान को स्वर्ग लोक में पहुंचाने वाली गायत्री को [कण्डिका १०] जाने २, (अथ यः पञ्चपदां सप्तदशाक्षरां सर्वैः यज्ञैः यजमानं स्वर्गं लोकम् अभिवहन्तीं पङ्क्तिं विद्यात् ३) फिर जो पांच पाद वाली, सत्रह अक्षर वाली, सब यज्ञों के द्वारा यजमान को स्वर्ग लोक में पहुंचाने वाली पङ्क्ति को [क० १०] जाने ३, (अस्मै निष्कं प्रयच्छन् सः ह वै अनूचानः उवाच, स्वैदायनाः सुवर्णं वै सुवर्णविदे ददामि इति) उस [जानकार] पुरुष को हार देता हुआ वही अनूचान [अङ्ग उपाङ्ग सहित वेदों का जानने वाला उद्दालक] बोला - हे स्वैदायन के लोगो! सुवर्ण [सोने का हार] सुवर्ण [सुन्दर वरणीय स्वीकरणीय व्यवहार] जानने वाले को दूंगा। (तत् उपयम्य निश्चक्राम) यह निश्चित करके वह बाहिर गया, (तत्र अपवव्राज यत्र इतरः बभूव) और वहां पहुंचा जहां दूसरा [स्वैदायन] था। (तं ह पप्रच्छ किम् एषः गोतमस्य पुत्रः इति) उससे उस [स्वैदायन] ने पूछा—क्या यह गोतम का पुत्र है? (ह उवाच एषः ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रः इति) वह [उद्दालक] बोला—यह [मैं] ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] और ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाले] का पुत्र है, (यत् एनं कश्चित् उपवदेत उत मीमांसेत ह वा अस्य मूर्द्धा विपतेत् वा प्राणाः एनं जह्युः इति) जो कोई इसके साथ शास्त्रार्थ करे अथवा विचार करे अथवा इसका मस्तक गिर पड़े अथवा इसको प्राण छोड़ देवें—(ते मिथः एव चिक्रन्देयुः = विक्रन्देयुः) वे आपस में चिल्लाने लगे। (विप्रापवव्राज यत्र इतरः बभूव) वह [स्वैदायन] वहां पहुँचा जहां दूसरा [उद्दालक] था। (प्रातः ते समित्पाणयः उपोदेयुः, भवन्तम् उपयामः इति) वे [स्वैदायन] प्रातःकाल समिधायें हाथ में लिये हुये पहुँचे [और बोले]—हम आपके पास आये हैं। (किमर्थम् इति) [उद्दालक बोला] किसलिये। (यान् एव तान् प्रश्नान् भवान् नः ह्यः अपृच्छत्, तान् एव नः भवान् व्याचक्षीत इति) [स्वैदायन बोला] जिन ही उन प्रश्नों को हमसे आप ने कल पूँछा था, उनको ही हमें आप बताइगे। (तथा इति) [उद्दालक बोला] वैसा ही

८—(हरिणीम्) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २। ४६) हृञ् हरणे—इनच्, ङीप्। दुःखहरणशीलाम्। सुवर्णप्रतिमाम् (सुवर्णविदे) कृवृजृसि० (उ० ३। १०) वृञ् वरणे—नप्रत्ययः + विद ज्ञाने—क्विप्। सुष्ठु वरणीयस्य स्वीकरणीयस्य व्यवहारस्य ज्ञात्रे (उपयम्य) निश्चित्य (निश्चक्राम) बहिर्जगाम (अपवव्राज) अपजगाम (मीमांसेत) विचारयेत् (जह्युः) ओहाक् त्यागे—विधिलिङ्। त्यजेयुः (चिक्रन्देयुः[1]) क्रदि आह्वाने रोदने च, आक्रोशं कृतवन्तः (विप्रापवव्राज) वि + प्र + अप + वव्राज (उपोदेयुः) उप + उत् + आ + ईयुः। समीपे आजग्मुः (व्याचक्षीत) भवान् विवृणोतु (व्याचचक्षे) व्याख्यातवान्।।

---

१ विक्रन्देयुः इति समीचीनः पाठः प्रतिभाति ।। सम्पा० ।।

हो। (तेभ्यः एतान् प्रश्नान् व्याचचक्षे) उन [उद्दालक] को उस [स्वैदायन] ने यह प्रश्न बताये ॥ ८ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग विद्वानों से सत्कार पूर्वक प्रश्नोत्तर करके सत्य का निर्णय करें ॥ ८ ॥

कण्डिका ९ ॥

यत्पुरस्ताद् वेदेः प्रथमं बर्हिः स्तृणाति तस्मादिमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं लोमशा जायन्ते १, यदपरमिव प्रस्तरमनुस्तृणाति तस्मादासामपरमिव श्मश्रूण्युपकक्षाण्यन्यानि लोमानि जायन्ते २, यत् प्राग्बर्हिषः प्रस्तरमनुप्रहरति तस्मादिमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं पलिता भवन्ति ३, यदन्ततः सर्वमेवानुप्रहरति तस्मादन्ततः सर्व एव पलिता भवन्ति ४, यत्प्रयाजा अपुरोऽनुवाक्यावन्तो भवन्ति तस्मादिमाः प्रजा अदन्तिका जायन्ते ५, यद्धवींषि पुरोऽनुवाक्यावन्ति भवन्ति तस्मादासामपरमिव जायन्ते ६, यदनुयाजा अपुरोऽनुवाक्यावन्तो भवन्ति तस्मादासां सप्तवर्षाष्टवर्षाणां प्रभिद्यन्ते ७, यत्पत्नीसंयाजाः पुरोऽनुवाक्यावन्तो भवन्ति तस्मादासां पुनरेव जायन्ते ८, यत्समिष्टयजुरपुरोऽनुवाक्यावद्भवति तस्मादन्ततः सर्व एव प्रभिद्यन्ते ९, यद्गायत्र्याऽनूच्य त्रिष्टुभा यजति तस्मादधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते १०, पर उत्तरे ११, यदृचाऽनूच्य यजुषा यजति तस्मादधरे दन्ता अणीयांसः ह्रसीयांसः १२, प्रथीयांसो वर्षीयांस उत्तरे १३, यदाघारौ दीर्घतरौ प्राञ्चावाघारयति तस्मादिमौ दंष्ट्रौ दीर्घतरौ १४, यत् संयाज्ये समच्छन्दसी तस्मात् समे इव जम्भे १५, यच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति तस्मादिमे श्रोत्रे अन्ततः समे इव दीर्णे १६, यज्जपं जपित्वाऽभिहिङ्कृणोति तस्मात् पुमांसः श्मश्रुवन्तो १७, ऽश्मश्रुव स्त्रियः १८, यत् सामिधेनीः संतन्वन्नाह तस्मादासां सन्ततमिव शरीरं भवति १९, यत् सामिधेन्यः काष्ठहविषो भवन्ति तस्मादासामस्थीनि दृढतराणीव भवन्ति २०, यत् प्रयाजा आज्यहविषो भवन्ति तस्मादासां प्रथमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २१, यन्मध्ये हविषां दध्ना च पुरोडाशेन च प्रचरन्ति तस्मादासां मध्यमे वयसि रेतः सिक्तं सम्भवति २२, यदनुयाजा आज्यहविषो भवन्ति तस्मादासामुत्तमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २३, यदुत्तमेऽनुयाजे सकृदपानिति तस्मादिदं शिश्नमुच्चश एति २४, नीचीपद्यते २५, यन्नापानेत् शकृच्छूनं स्याद्यन्मुहुरपानेत् शकृत्यन्नं स्यात् तस्मात् सकृदपानिति नेत् शकृच्छूनं स्यात् शकृत्यन्नं वेति २६ ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञविधान से शरीर की अवस्था का वर्णन ॥

(यत् वेदेः पुरस्तात् प्रथमं बर्हिः स्तृणाति तस्मात् इमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं लोमशाः जायन्ते १) [स्वैदायन के उत्तर प्रश्नों के लिये कण्डिका ७ देखो] जो वेदी के पूर्व में वह पहिले कुशासन बिछाता है, इसलिये यह प्रजायें शिर पर पहिले लोम वाले होते हैं १। (यत् अपरम् इव प्रस्तरम् अनुस्तृणाति तस्मात् आसाम्

अपरम् इव श्मश्रूणि उपकक्षाणि अन्यानि लोमानि जायन्ते २) जो कि पीछे से प्रस्तर [कुशा का मुट्ठा] बिछाता है, इसलिये पीछे से इनके दाढ़ी मूंछ और कांख के और दूसरे लोम उत्पन्न होते हैं २। (यत् प्राक् बर्हिषः प्रस्तरम् अनुप्रहरति तस्मात् इमाः प्रजाः शिरस्तः प्रथमं पलिताः भवन्ति ३) जो पूर्व दिशा में कुशा के मुट्ठे को समेट लेता है, इसलिये यह प्रजायें शिर पर पहिले श्वेत हो जाते हैं। ३ (यत् अन्ततः सर्वम् एव अनुप्रहरति तस्मात् अन्ततः सर्वे एव पलिताः भवन्ति ४) जो कि अन्त में सबको ही समेट लेता है इसलिये अन्त में सभी श्वेत हो जाते हैं ४। (यत् प्रयाजाः अपुरोऽनुवाक्यावन्तः भवन्ति तस्मात् इमाः प्रजाः अदन्तिकाः जायन्ते ५) जो कि प्रयाज [यज्ञाङ्ग विशेष] पुरोऽनुवाक्या बिना होते हैं, इसलिये यह प्रजायें बिना दांत वाले होते हैं ५। (यत् हवींषि पुरोऽनुवाक्यावन्ति भवन्ति तस्मात् आसाम् अपरम् इव जायन्ते ६) जो कि हवि पुरोऽनुवाक्या वाले होते हैं, इसलिये इनके [दान्त] पीछे निकलते हैं ६। (यत् अनुयाजाः अपुरोऽनुवाक्यावन्तः भवन्ति तस्मात् आसाम् सप्तवर्षाष्टवर्षाणां प्रभिद्यन्ते ७) जो कि अनुयाज [यज्ञाङ्गविशेष] पुरोऽनुवाक्या बिना होते हैं, इसलिये सात वर्ष आठ वर्ष वालों के [दाँत] उखड़ जाते हैं ७। (यत् पत्नीसंयाजाः पुरोऽनुवाक्यावन्तः भवन्ति तस्मात् आसाम् पुनः एव जायन्ते ८) जो कि देवपत्नियों के यज्ञ पुरोऽनुवाक्या वाले होते हैं, इसलिये इनके [दांत] फिर भी निकल आते हैं ८। (यत् समिष्टयजुः अपुरोऽनुवाक्यावत् भवति तस्मात् अन्ततः सर्वे एव प्रभिद्यन्ते ९) जो कि समिष्टयजु [यज्ञ विशेष] पुरोऽनुवाक्या बिना होता है, इसलिये अन्त में सब ही [दांत] उखड़ जाते हैं ९। (यत् अनूच्य गायत्र्या त्रिष्टुभा यजति तस्मात् अधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते १० परे उत्तरे ११) जो कि [मन्त्रों को] पढ़कर गायत्री के साथ और त्रिष्टुप के साथ यज्ञ करता है, इसलिये नीचे वाले दांत पहिले निकलते हैं १०, और पीछे ऊपर वाले ११। (यत् अनूच्य ऋचा यजुषा यजति तस्मात् अधरे दन्ताः अणीयांसः, ह्रसीयांसः १२, उत्तरे प्रथीयांसः वर्षीयांसः १३) जो कि [मन्त्रों को] पढ़कर ऋग्वेद के साथ और यजुर्वेद के साथ यज्ञ करता है, इसलिये नीचे वाले दांत अधिक सूक्ष्म और निर्बल होते हैं १२, और ऊपर वाले अधिक चौड़े और सबल होते हैं १३। (यत् दीर्घतरौ प्राञ्चौ आघारौ आघारयति तस्मात् इमौ दंष्ट्रौ दीर्घतरौ १४) जो कि अधिक लम्बे और अधिक पूजनीय दोनों आघार [घृतदान के होमविशेष] को सींचता है, इसलिये यह [सामने के] दोनों बड़े दांत अधिक लम्बे होते हैं १४। (यत् संयाज्ये सच्छन्दसी तस्मात् समे इव जम्भे १५) जो कि दोनों संयाज्य समान छन्द वाले होते हैं, इसलिये दोनों दाढ़ें चौकोर सी हैं १५। (यत् चतुर्थे

९—(स्तृणाति) आच्छादयति (लोमशाः) लोमवन्तः (प्रस्तरम्) दर्भमुष्टिम् (अनुप्रहरति) संगृह्णाति (पत्नीसंयाजाः) देवपत्नीनां स्तुतियुक्तयज्ञाङ्गविशेषाः। देवपत्न्यः यथा इन्द्राणी, अग्नायी, वरुणानी, इत्यादयः (आघारौ) आ+घृ क्षरणे—घञ्। घृतदानहोमविशेषौ (प्राञ्चौ) प्रकर्षेण पूजनीयौ (आघारयति) समन्तात् सिञ्चति (सामिधेनी) समिधामाधाने षेण्यण् (वा० पा० ४। ३। १२०) समिध्—षेण्यण्, षित्वात् ङीष्, यलोपः। अग्निप्रज्वलने

प्रयाजे समानयति तस्मात् इमे श्रोत्रे अन्ततः समे इव दीर्णे १६) जो कि चौथे प्रयाज [यज्ञ] में [हवि] समान लाता है, इसलिये यह दोनों कान अन्त में समान से फटे हुये हैं १६ । (यत् जपं जपित्वा अभिहिङ्कृणोति तस्मात् पुमांसः श्मश्रुवन्तः १७ स्त्रियः अश्मश्रुवः १८) जो जप को जप कर हिङ्कार शब्द करता है, इसलिये पुरुष दाढ़ी मूंछ वाले होते हैं १७, और स्त्रियां बिना दाढ़ी मूंछ वाली १८ । (यत् सामिधेनीः संतन्वन् आह तस्मात् आसां सन्ततम् इव शरीरं भवति १९) जो कि सामिधेनी ऋचाओं [अग्नि जलाने के मन्त्रों] को फैलाता हुआ बोलता है, इसलिये इन [प्रजाओं] का फैला हुआ सा शरीर होता है १९ । (यत् सामिधेन्यः काष्ठहविषः भवन्ति तस्मात् आसाम् अस्थीनि दृढतराणि इव भवन्ति २०) जो कि सामिधेनी ऋचायें काष्ठ के हवि वाली होती हैं, इसलिये इनकी हड्डियां अधिक दृढ़ होती हैं २० । (यत् प्रयाजा आज्यहविषः भवन्ति, तस्मात् आसां प्रथमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २१) जो कि प्रयाज [यज्ञ] जमे हुये घी के हवि वाले होते हैं, इसलिये इन [प्रजाओं] की पहिली अवस्था में वीर्य सींचा हुआ नहीं निकलता है २१ । (यत् हविषां मध्ये दध्ना च पुरोडाशेन च प्रचरन्ति तस्मात् आसां मध्यमे वयसि रेतः सिक्तं सम्भवति २२,) जो हवियों के मध्य में दही से और पुरोडाश [मालपूये] से हवन करते हैं, इसलिये इन की मध्यम अवस्था में वीर्य सींचा हुआ निकलता है २२ । (यत् अनुयाजाः आज्यहविषः भवन्ति तस्मात् आसाम् उत्तमे वयसि रेतः सिक्तं न सम्भवति २३) क्योंकि अनुयाज [पिछले यज्ञ] जमे हुये घी वाले होते हैं, इसलिये इनकी पिछली अवस्था में वीर्य सींचा हुआ नहीं निकलता है २३ । (यत् उत्तमे अनुयाजे सकृत् अपानिति तस्मात् इदं शिश्नम् उच्चशः एति २४, नीचीपद्यते २५,) जो कि सबसे पिछले अनुयाज में सकृत् [एक बार, शेष हवि उठा कर] गिराता है, इसलिये यह मनुष्य लिङ्ग ऊंचा जाता है २४, और नीचा होता है २५ । (यत् न अपानेत् [1]शकृच्छूनं स्यात्) जो [हवि] न गिरावे, [लिङ्ग] शकृच्छून [वीर्य शून्य] हो जावे, (यत् मुहुः अपानेत् शकृति अन्नं स्यात्) और जो बार बार [हवि को] गिरावे, शकृत् [वीर्य] में अन्न [का रस] होवे, (तस्मात् सकृत् अपानिति शकृच्छूनं नेत् स्यात्) इसलिये सकृत् [एक बार] [हवि को उठा कर] गिरावे और वह शकृच्छून [वीर्यशून्य] न होवे, (शकृति अन्नं वेति) शकृत् [वीर्य] में अन्न [का रस] पहुंचता है २६ ।। ९ ।।

भावार्थः—कण्डिका ७ के प्रश्न देखो ।। ९ ।।

ऋचः (संतन्वन्) सम्यग् विस्तारयन् (अपानिति) अपानयति । अग्नौ हविःशेषं क्षिपति (शकृच्छूनम्) शकृता वीर्येण शून्यम् (अपानेत्) प्रक्षिपेत् (शकृति) वीर्ये (अन्नम्) अन्नरसः (वेति) वी गत्यादिषु । गच्छति ।।

---

१. शकृत् (मल, वीर्य) एवं सकृत् (एक बार) ये दो पृथक् शब्द हैं । पू० सं० में यहाँ व कं० ७ में सर्वत्र दन्त्य सकार ही छपा है, तदनुसार भाष्यकार ने अभेदार्थ मानते हुये सकृत् की सिद्धि में "वा शस्य सः" पृ. १४४ में लिखा है । वस्तुतः यह उच्चारणगत अन्धपरम्परा का सूचक है । शकार सकार दोनों एक नहीं है ।। सम्पा० ।।

कण्डिका १० ॥

अथ ये पुरस्तादष्टावाज्यभागाः पञ्चप्रयाजा द्वावाघारौ द्वावाज्यभागावाग्नेया आज्यभागानां प्रथमः सौम्यो द्वितीयो हविर्भागानां हविर्ह्येव सौम्यमाग्नेयः पुरोडाशोऽग्नीषोमीय उपांशुयाजोऽग्नीषोमीयः पुरोडाशोऽग्निः स्विष्टकृदित्येते मध्यतः पञ्च हविर्भागाः । अथ ये षट् प्राजापत्या इडा च प्राशित्रञ्च यच्चाग्नीध्रीयाश्नाति, ब्रह्मभागो यजमानभागोऽन्वाहार्य्य एव षष्ठोऽथ य उपरिष्टादष्टावाज्यभागास्त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारः पत्नीसंयाजाः समिष्टयजुरष्टममथ या गायत्री हरिणी ज्योतिष्पक्षा सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहति, वेदिरेव सा, तस्य ये पुरस्तादष्टावाज्यभागाः स दक्षिणः पक्षोऽथ ये उपरिष्टादष्टावाज्यभागाः स उत्तरः पक्षः, हवींष्यात्मा, गार्हपत्यो जघनमाहवनीयः शिरः सौवर्णराजतौ पक्षौ, तद्यदादित्यं पुरस्तात् पर्य्यन्तं न पश्यन्ति तस्मादज्योतिष्क उत्तरो भवति । अथ या पङ्क्तिः पञ्चपदा सप्तदशाक्षरा सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहति याज्येव सा, तस्या ओं श्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं, यजेति द्व्यक्षरं, ये यजामह इति पञ्चाक्षरं, द्व्यक्षरो वै वषट्कारः, सैषा पङ्क्तिः पञ्चपदा सप्तदशाक्षरा सर्वैर्यज्ञैर्यजमानं स्वर्गं लोकमभिवहति, तद्यत्रास्यैश्वर्य्यं स्याद्यत्र वैनमभिवहेयुरेवंविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयान्नानेवंविदमिति ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ कण्डिका ८ के यज्ञ सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर ॥

(अथ ये पुरस्तात् अष्टौ आज्यभागाः, आज्यभागानां पंचप्रयाजाः, द्वौ आज्यभागौ द्वौ आघारौ आग्नेयौ, प्रथमः द्वितीयः सौम्यः) [सौदायन ने उत्तर दिये - कण्डिका ८ देखो] फिर जो पहिले आठ आज्यभाग [घी की आहुतियां] हैं, उन आज्यभागों में पांच प्रयाज [पांच प्राण देवता वाली आहुतियां—प्राणाः वै प्रयाजाः—-ऐतरेय ब्राह्मण १ । ११ । ५] दो आज्यभाग दो आघार [नामक आहुति] दोनों आग्नेय [अग्नि देवता वाली] और पहिली और दूसरी सौम्य [एक सोम देवता की] है । (हविर्भागानां हविः हि एव सौम्यम्, आग्नेयः पुरोडाशः, अग्नीषोमीयः उपांशुयाजः अग्नीषोमीयः पुरोडाशः, अग्निः स्विष्टकृत् इति एते मध्यत पंचहविर्भागाः) हविर्भागों में हवि ही सोम देवता का है १, अग्नि का पुरोडाश २, अग्नि और सोम का उपांशु याज [मौन आहुति] ३, अग्नि और सोम का पुरोडाश ४, अग्नि का स्विष्टकृत् [आहुति] है ५, यह मध्य के पांच हविर्भाग हैं । (अथ ये षट् प्राजापत्याः, इडा च प्राशित्रं च यत् च आग्नीध्रीयौ अश्नाति, ब्रह्मभागः, अन्वाहार्यः यजमानभागः, एव षष्ठः) और जो छः प्राजापत्य [प्रजापति देवता की] आहुति हैं उनमें

---

१० -(सौम्यः) सोमदेवताकः (उपांशुयाजः) अप्रकाशमन्त्रयज्ञः (प्राशित्रम्—प्र + अश भोजने—इत्रन् । प्राशनम् (इडा) इल स्वप्नक्षेपणयोः—कः, टाप् । पृथिवी । गौः । वाक्, (अश्नाति)—आर्षं दिवादित्वम् । अत्ति । भक्षति (अन्वाहार्य्य) अनु + आ + हृञ् हरणे—ण्यत् । प्रतिमासकर्त्तव्याऽमावास्याविहितश्राद्धोपेतः ।

इडा=भूमि नामक १, और प्राशित्र [प्राशन वा ओदन नामक] २, और जो दो आग्नीध्रीय [आग्नीध्र वाली दो आहुति को अग्नि] खाता है ३, ४, ब्रह्मा का भाग ५, और प्रति मास अमावस को करने योग्य श्राद्ध वाला यजमान का भाग छठा है ६ । (अथ ये उपरिष्टात् अष्टौ आज्यभागाः, त्रयः अनुयाजाः, चत्वारः पत्नीसंयाजाः अष्टमं समिष्टयजुः) और जो पिछले आठ आज्य भाग हैं, [उनमें] तीन अनुयाज, चार पत्नी संयाज और आठवाँ समिष्टयजु है । (अथ या गायत्री हरिणी ज्योतिष्पक्षा सर्वैः यज्ञैः यजमानं स्वर्गं लोकं अभिवहति सा वेदिः एव) और जो गायत्री सुवर्ण मूर्ति, ज्योति के पंख वाली होकर सब यज्ञों के द्वारा यजमान को स्वर्गलोक में पहुँचाती है. वह वेदी [यज्ञ कुण्ड] ही है । (तस्य ये पुरस्तात् अष्टौ आज्यभागाः स दक्षिणः पक्षः, अथ ये उपरिष्टात् अष्टौ आज्यभागाः स उत्तरः पक्षः, हवींषि आत्मा, गार्हपत्यः जघनम्, आहवनीयः शिरः, सौवर्णराजतौ पक्षौ) उस [यजमान] के जो पहिले आठ आज्य भाग हैं वह [वेदी का] दाहिना पंख है, और जो पीछे वाले आठ आज्य भाग हैं वह बांया पंख है, सब हवि आत्मा हैं, गार्हपत्य [अग्नि] जंघा है, आहवनीय शिर है, सोने और चांदी वाले दोनों पंख हैं. (तत् यत् आदित्यं पुरस्तात् पर्य्यन्तं न पश्यन्ति तस्मात् अज्योतिष्कः उत्तरः भवति) सो जो सूर्य को पूर्व से पश्चिम में जाता हुआ नहीं देखते हैं इसलिये बिना ज्योति वाला पिछला [यज्ञ वा पक्ष] होता है । [अर्थात् सूर्य को अवश्य देखे जिससे ज्योति बढ़े] । (अथ या पङ्क्तिः पंचपदा सप्तदशाक्षरा सर्वैः यज्ञैः यजमानं स्वर्गं लोकम् अभिवहति सा याज्या इव) और जो पङ्क्ति पांच पाद वाली सत्रह अक्षर वाली होकर सब यज्ञों के द्वारा यजमान को स्वर्ग लोक में पहुँचाती है वह याज्या [नाम वाली इष्टि] ही है । (तस्याः ओं श्रावय इति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषट् इति चतुरक्षरम्, यज इति द्व्यक्षरं, ये यजामहे इति पंचाक्षरं, द्व्यक्षरः वै वषट्कारः) उस [याज्या] के ओं श्रावय [ओम् को तू सुना] यह चार अक्षर वाला है, अस्तु श्रौषट् [श्रौषट् होवे] यह चार अक्षर वाला है, यज [यज्ञ कर] यह दो अक्षर वाला है, ये यजामहे [जो हम यज्ञ करते हैं] यह पांच अक्षर वाला है, वषट् [यह शब्द] दो अक्षर वाला ही है । (सा एषा पङ्क्तिः पंचपदा सप्तदशाक्षरा सर्वैः यज्ञैः यजमानं स्वर्गं लोकम् अभिवहति) सो यही पङ्क्ति पांच पाद वाली और सत्रह अक्षर वाली होकर सब यज्ञों के द्वारा यजमान को स्वर्ग लोक में पहुँचाती है (तत् यत्र अस्य ऐश्वर्यं स्यात्, वा यत्र एनम् अभिवहेयुः एवंविदम् एव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात् न अनेवंविदम् इति ब्राह्मणम्) सो जहां [यज्ञ में] इस [यजमान] का ऐश्वर्य होवे, अथवा जहां इसको [शत्रु लोग] हरावें, वहां ऐसे जानकार को ही ब्रह्मा चुने, ऐसे न जानने वाले को नहीं, यह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

भावार्थः—यथाविधि यज्ञ करने से मनुष्य कार्यसिद्धि करें ॥ १० ॥

(पुरस्तात्) पूर्वस्यां दिशि (पर्य्यन्तम्) परिगतो अन्तो येन तम् । (याज्या) यजतेः ण्यत् । याजनीया । इष्टिः (श्रौषट्) श्रु श्रवणे—डौषटि+यज्ञादौ हविर्दानम् (वषट्कारः) वह प्रापणे—डषटि+कृञ्+घञ् । देवोद्देश्यकहविस्त्यागः (वृणीयात्) स्वीकुर्यात् (अनेवंविदम्) अनेवंविधज्ञातारम् ॥

कण्डिका ११ ॥

अथ ह प्राचीनयोग्य आजगामाग्निहोत्रं भवन्तं पृच्छेद् गोतम इति, पृच्छ प्राचीनयोग्येति । किन्देवत्यं ते गवीडायां १, किन्देवत्यमुपहूतायां २, किन्देवत्यमुपसृष्टायां ३, किन्देवत्यं वत्समुन्नीयमानं ४, किन्देवत्यं वत्समुन्नीतं ५, किन्देवत्यं दुह्यमानं ६, किन्देवत्यं दुग्धं ७, किन्देवत्यं प्रक्रम्यमाणं ८, किन्देवत्यं ह्रियमाणं ९, किन्देवत्यमधिश्रियमाणं १०, किन्देवत्यमधिश्रितं ११, किन्देवत्यमभ्यवज्वाल्यमानं १२, किन्देवत्यमभ्यवज्वालितं १३, किन्देवत्यं समुद्वान्तं १४, किन्देवत्यं विष्यन्नं १५, किन्देवत्यमद्भिः प्रत्यानीतं १६, किन्देवत्यमुद्वास्यमानं १७, किन्देवत्यमुद्वासितं १८, किन्देवत्यमुन्नीयमानं १९, किन्देवत्यमुन्नीतं २०, किन्देवत्यं प्रक्रम्यमाणं २१, किन्देवत्यं ह्रियमाणं २२, किन्देवत्यमुपसाद्यमानं २३, किन्देवत्यमुपसादितं २४, किन्देवत्या समित् २५, किन्देवत्यां प्रथमामाहुतिमहौषीः २६, किन्देवत्यं गार्हपत्यमवेक्षिष्ठाः २७, किन्देवत्योत्तराहुतिः २८, किन्देवत्यं हुत्वा स्रुचं त्रिरुदश्चमुदनैषीः २९, किन्देवत्यं बर्हिषि स्रुचन्निधायोन्मृज्योत्तरतः पाणी निरमा[1]र्क्षीः ३०, किन्देवत्यं द्वितीयमुन्मृज्य पित्र्युपवीतं कृत्वा दक्षिणतः पितृभ्यः स्वधामकार्षीः ३१, किन्देवत्यं प्रथमं प्राशीः ३२, किन्देवत्यं द्वितीय ३३, किन्देवत्यमन्ततः सर्वमेवाप्राशीः ३४, किन्देवत्यमप्रक्षालितयोदकं स्रुचा न्यनैषीः ३५, किन्देवत्यं प्रक्षालितया ३६, किन्देवत्यमपरेणाहवनीयमुदकं स्रुचा न्यनैषीः ३७, किन्देवत्यं स्रुवं स्रुचञ्च प्रत्यताप्सीः ३८, किन्देवत्यं रात्री स्रुग्दण्डमवा[2]मार्क्षीः ३९, किन्देवत्यं प्रातरुदमा[3]र्क्षीरित्येतच्चेद्वेत्थ ४०, गोतम हुतं, यदि[4] न वेत्थाहुतं त इति ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ प्राचीनयोग्य मुनि के उद्दालक से अग्निहोत्र विषयक चालीस प्रश्न ॥

(अथ ह प्राचीनयोग्यः आजगाम) फिर प्राचीनयोग्य [सनातन वेदों में समर्थ मुनि विशेष] आया। (अग्निहोत्रं भवन्तं पृच्छेत् गोतम इति) [उसने कहा] अग्निहोत्र को आपसे यह पूंछेगा, हे गोतम! (पृच्छ प्राचीनयोग्य इति) [उद्दालक ने कहा—क० ६] पूंछ, हे प्राचीनयोग्य। [प्राचीनयोग्य बोला] (किंदेवत्यं ते इडायां गवि १) तेरी इडा [पाने योग्य] गौ [यज्ञ के लिये दूध देने वाली कामधेनु] में कौन देवता वाला कर्म है १, (किंदेवत्यम् उपहूतायाम् २) उस बुलायी हुई में कौन देवता वाला कर्म है २, (किंदेवत्यम् उपसृष्टायाम् ३) उस पास आयी हुई में कौन देवता

११—(प्राचीनयोग्यः) प्राचीनेषु सनातनेषु वेदेषु योग्यः समर्थः । मुनिविशेषः (किन्देवत्यम्) किम्+देवता—यत् । किंदेवताविषयकं कर्म (गवि) यज्ञार्थं दुग्धदात्र्यां

१. पू सं० "निर्मार्क्षीः" इति पाठः ॥ २. पू. सं० अवमार्क्षीः इति पाठः ॥

३. पू. सं० उन्मार्क्षीः इति पाठः ॥

४. पू. सं० 'चेद्यद्यु न' इति पाठः । जर्मनसंस्करणे यद्यु न इति पाठः, अस्माभिः 'यदि न' संशोधितः ॥ सम्पा० ॥

वाला कर्म है ३, (वत्सम् उन्नीयमानम् किंदेवत्यम् ४) बछड़े को लाया जाता हुआ कर्म कौन देवता वाला है ४, (वत्सम् उन्नीतं किंदेवत्यम् ५) बछड़ा लाया गया कर्म कौन देवता वाला है ५, (दुह्यमानं किंदेवत्यम् ६) दुहता हुआ कर्म क्या देवता है ६, (दुग्धं किंदेवत्यम् ७) दूध क्या देवता है ७, (प्रक्रम्यमाणं किंदेवत्यम् ८) घुमाया जाता हुआ [दूध] क्या देवता है ८, (ह्रियमाणं किंदेवत्यम् ९) लिया जाता हुआ [दूध] क्या देवता है ९, (अधिश्रियमाणं किंदेवत्यम् १०) रक्खा जाता हुआ दूध क्या देवता है १०, (अधिश्रितं किंदेवत्यम् ११) रक्खा गया दूध क्या देवता है ११, (अभ्यवज्वाल्यमान किंदेवत्यम् १२) औंटता हुआ दूध क्या देवता है १२, (अभ्यवज्वालितं किंदेवत्यम् १३) औंटा हुआ दूध क्या देवता है १३, (समुद्वान्तं किंदेवत्यम् १४) उफनता हुआ दूध क्या देवता है १४, (विष्यन्नं किंदेवत्यम् १५) बहता हुआ दूध क्या देवता है १५, (अद्भिः प्रत्यानीतं किंदेवत्यम् १६) जल से लौटा दिया गया दूध क्या देवता है १६, (उद्वास्यमानं किंदेवत्यम् १७) छोड़ा जाता हुआ दूध क्या देवता है १७, (उद्वासितं किंन्देवत्यम् १८) छोड़ा हुआ दूध क्या देवता है १८, (उन्नीयमानं किंदेवत्यम् १९) ऊपर लाया जाता हुआ [नवनीत = माखन] क्या देवता है १९, (उन्नीतं किंदेवत्यम् २०) ऊपर लाया गया नवनीत क्या देवता है २०, (प्रक्रम्यमाण किंदेवत्यम् २१) घुमाया जाता हुआ नवनीत क्या देवता है २१, (ह्रियमाणं किंदेवत्यम् २२) लिया जाता हुआ नवनीत क्या देवता है २२, (उपसाद्यमानं किंदेवत्यम् २३) पास लाया जाता हुआ नवनीत क्या देवता है २३, (उपसादितं किंदेवत्यम् २४) पास रक्खा गया नवनीत क्या देवता है २४, (समित् किंदेवत्या २५) समिधा कौन देवता वाली है २५, (किंदेवत्यां प्रथमाम् आहुतिम् अहौषीः २६) कौन देवता वाली पहिली आहुति को तूने दिया है २६, (किंदेवत्यं गार्हपत्यम् अवेक्षिष्ठाः २७) कौन देवता वाली गार्हपत्य अग्नि वाली हवि को तूने विचारा है २७, (किंदेवत्या उत्तरा आहुतिः २८) कौन देवता वाली पिछली आहुति है २८, (किंदेवत्यं हुत्वा उदञ्चं स्रुचं त्रिः उदनैषीः २९) कौन देवता वाली हवि को देकर उत्तर की ओर रक्खी हुई स्रुचा [वट के पत्ते के समान रूप वाला विकङ्कट काठ का बना हुआ भुजा तुल्य चमचा] को तीन बार तूने उठाया है २९, (किंदेवत्यं स्रुचं बर्हिषि निधाय उन्मृज्य उत्तरतः पाणी निरमार्क्षीः ३०) कौन देवता वाली स्रुचा को कुशासन पर धर के और धोके उत्तर की ओर दोनों हाथों को तूने धोया है ३०, (किंदेवत्यं द्वितीयम् उन्मृज्य पित्र्युपवीतं कृत्वा दक्षिणतः पितृभ्यः स्वधाम्

धेनौ (इडायाम्) इल गतौ कः, टाप्। प्रापणीयायां गवि (उपसृष्टायाम्) संगतायाम् (वत्सम्) गोशिशुम् (प्रक्रम्यमाणम्) मथ्यमानम् (ह्रियमाणम्) निःस्रियमाणम् (समुद्वान्तम्) सम् + उत् + टुवम उद्गिरणे—क्तः। उद्गीर्णम्। उद्गतम् (विष्यन्नम्) वि + स्यन्दू प्रस्रवणे—क्तः। प्रस्रुतम् (उद्वास्यमानम्) विसृज्यमानम् (उद्वासितम्) विसृष्टम् (उपसादितम्) समीपे स्थापितम् (अहौषीः) हु दानादनयोः—लुङ्। हुतवान् असि (अवेक्षिष्ठाः) अव + ईक्ष दर्शने—लुङ्, आडभावः। दृष्टवानसि (स्रुचम्) यज्ञपात्रम् (उदञ्चम्) उदङ्मुखं कृत्वा (उत्तरतः) उत्तरस्यां दिशि

अकार्षीः ३१) कौन देवता वाली दूसरी [स्रुचा] को धोकर पित्र्य [पितृतीर्थ अर्थात् तर्जनी और अंगूठे के बीच] में यज्ञोपवीत करके दक्षिण ओर में पितरों [बड़े बूढे विद्वानों] के लिये तूने स्वधा [अन्न] किया है ३१, (किंदेवत्यं प्रथम प्राशीः ३२) कौन देवता वाली पहिली [हवि] को तूने खाया है ३२, (किंदेवत्यं द्वितीयम् ३३) कौन देवता वाली दूसरी [हवि को तूने खाया है] ३३, (किंदेवत्यं सर्वम् एव अन्ततः आप्राशीः ३४) कौन देवता वाली सब ही [हवि] को तूने खा लिया है ३४, (किंदेवत्यम् उदकम् अप्रक्षालितया स्रुचा न्यनैषीः ३५) कौन देवता वाले जल को बिना धुली हुई स्रुचा से तूने गिराया है ३५, (किंदेवत्यं प्रक्षालितया ३६) कौन देवता वाले [जल] को धुली हुई [स्रुचा] से [गिराया है] ३६, (किंदेवत्यं उदकम् अपरेण स्रुचा आहवनीयम् न्यनैषीः ३७) कौन देवता वाले जल को दूसरे स्रुचा से आहवनीय अग्नि पर तूने गिराया है ३७, (किंदेवत्यं स्रुवं स्रुचं च प्रत्यताप्सीः ३८) कौन देवता वाले स्रुवा [खैर की लकड़ी का बना हुआ हाथ भर का यज्ञ पात्र] और स्रुचा को तूने तपाया है ३८, (किंदेवत्यं स्रुग्दण्डं रात्री अवामार्क्षीः ३९) कौन देवता वाले स्रुचा के दण्ड को रात्रि में तूने धोकर रख दिया है ३९, (किंदेवत्यं प्रातः उदमार्क्षीः इति ४०) कौन देवता वाले [स्रुचा के दण्ड को] प्रातःकाल तूने धोकर उठाया है ४०, (एतत् चेत् वेत्थ, गोतम, हुतम्, यदि न वेत्थ ते अहुतम् इति ब्राह्मणम्) इसको जो तू जानता है, हे गोतम ! [उद्दालक ! तेरा] अग्निहोत्र है, और जो तू नहीं जानता है, तेरा निषिद्ध अग्निहोत्र है, यह ब्राह्मण है ॥ ११ ॥

भावार्थः—स्पष्ट है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२ ॥

स होवाच, रौद्रं मे गवीडायां १, मानव्यमुपहूतायां २, वायव्यमुपसृष्टायां ३, वैराजं वत्समुन्नीयमानं ४, जागतमुन्नीतम् ५, आश्विनं दुह्यमानं ६, सौम्यं दुग्धं ७, बार्हस्पत्यं प्रक्रम्यमाणं ८, द्यावापृथिव्यं ह्रियमाणम् ९, आग्नेयमधिश्रियमाणं १०, वैश्वानरीयमधिश्रितं ११, वैष्णवमभ्यवज्वाल्यमानं १२, मारुतमभ्यवज्वालितं १३, पौष्णं समुद्रान्तं १४, वारुणं विष्यन्नं १५, सारस्वतमद्भिः प्रत्यानीतं १६, त्वाष्ट्रमुद्वास्यमानं १७, धात्रमुद्वासितं १८, वैश्वदेवमुन्नीयमानं १९, सावित्रमुन्नीतं २०, बार्हस्पत्यं प्रक्रम्यमाणं २१, द्यावापृथिव्यं ह्रियमाणम् २२, ऐन्द्रमुपसाद्यमानं २३, बलायोपसन्नम् २४, आग्नेयी समिद् २५, यां प्रथमामाहुतिमहौषं मामेव तत् स्वर्गे लोकेऽधां २६, यद्गार्हपत्यमवेक्षिषमस्य लोकस्य सन्तत्यै २७, प्राजापत्योत्तराहुतिः, तस्मात् पूर्णतरा मनसैव सा २८, यद्भुत्वा

(निरमार्क्षीः) निर् + मृजूष् शुद्धौ—लुङ्। नितरां शोधितवानसि (पित्र्युपवीतम् = पित्र्योपवीतम्) पित्र्यं पितृतीर्थे तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्ये स्थितं यज्ञोपवीतम्। (दक्षिणतः) दक्षिणस्यां दिशि (पितृभ्यः) पितृतुल्यमाननीयेभ्यो विद्वद्भ्यः (प्राशीः) अश भोजने—लुङ्। भक्षितवानसि (अप्रक्षालितया) अशोधितया (प्रत्यताप्सीः) प्रत्यक्षेण तप्तवानसि (वेत्थ) विद ज्ञाने—लट्। जानासि (हुतम्) अग्निहोत्रम् (अहुतम्) निषिद्धाग्निहोत्रम् ॥

स्रुचं त्रिरुदञ्चमुदनै[1]षं रुद्रांस्तेनाप्रैषं २९, यद्बर्हिषि स्रुचं निधायोन्मृज्योत्तरतः पाणी [2]निरमार्क्षमोषधिवनस्पतींस्तेनाप्रैषं ३०, यद् द्वितीयमुन्मृज्य पित्र्युपवीतं कृत्वा दक्षिणतः पितृभ्यः स्वधामकार्षं पितृंस्तेनाप्रैषं ३१, यत्प्रथमम्प्राशिषं प्राणांस्तेनाप्रैषं ३२, यद् द्वितीयं गर्भांस्तेन, तस्मादनश्नन्तो गर्भा जीवन्ति ३३, यदन्ततः सर्वमेवाप्राशिषं विश्वान्देवांस्तेनाप्रैषं ३४, यदप्रक्षालितयोदकं स्रुचा न्यनैषं सर्पेतरजनांस्तेनाप्रैषं ३५ यत् प्रक्षालितया सर्पपुण्यजनांस्तेन ३६, यदपरेणाहवनीयमुदकं स्रुचा न्यनैषं गन्धर्वाप्सरसस्तेनाप्रैषं ३७, यत् स्रुवं स्रुचश्च प्रत्यताप्सं सप्तऋषींस्तेनाप्रैषं ३८, यद्रात्रौ स्रुग्दण्डमवामार्क्षं[3] ये रात्रौ संविशन्ति दक्षिणांस्तानुदनैषं ३९, यत् प्रातरुदमार्क्षं ये प्रातः प्रव्रजन्ति दक्षिणांस्तानुदनैषमिति ४०, ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ प्राचीनयोग्य के ४० प्रश्नों के उद्दालक के दिये उत्तर ॥

(सः ह उवाच) वह [उद्दालक] बोला—(रौद्रं मे इडायां गवि १) रुद्र [शत्रुओं का रुलाने वाला शूरवीर] देवता वाला कर्म मेरी प्राप्ति योग्य गौ में है १, (मानव्यम् उपहूतायाम् २) मानव [मननशील मनुष्य] देवता वाला कर्म उस बुलाई हुई में है २, (वायव्यम् उपसृष्टायाम् ३) वायु [गति वाला पवन] देवता वाला कर्म उस पास आयी हुई में है ३, (वैराजं वत्सम् उन्नीयमानम् ४) विराट् [विविध प्रकाश वाले] देवता वाला कर्म बछड़े को लाया जाता हुआ कर्म है ४, (जागतम् उन्नीतम् ५) जगत् [संसार] देवता वाला कर्म लाया गया [बछड़ा] है ५ (आश्विनं दुह्यमानम् ६) दोनों अश्वी [स्त्री पुरुष] देवता वाला दुहा जाता हुआ कर्म है ६, (सौम्यं दुग्धम् ७) सोम [सोमलता ओषधि] देवता वाला दूध है ७, (बार्हस्पत्यं प्रक्रम्यमाणम् ८) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का स्वामी] देवता वाला घुमाया जाता हुआ दूध है ८, (द्यावापृथिव्यं ह्रियमाणम् ९) द्यावापृथिवी [सूर्य और भूमि] देवता वाला लिया जाता हुआ दूध है ९, (आग्नेयम् अधिश्रियमाणम् १०) अग्निदेवता वाला रक्खा जाता हुआ दूध है १०, (वैश्वानरीयम् अधिश्रितम् ११) वैश्वानर [सब नरों का हितकारक] देवता वाला रक्खा गया दूध है ११, (वैष्णवम् अभ्यवज्वाल्यमानम् १२) विष्णु [व्यापक अग्नि] देवता वाला औंटता हुआ दूध है १२, (मारुतम्

१२--(रौद्रम्) रुद्रदेवत्यम्, रुद्रः शत्रुरोदकः शूरवीरः (मानव्यम्) ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन् (पा० ४।२।४२) मानव[4]-यन्। मानवसमूहदेवताकम्। मानवो मननशीलो मनुष्यः (वायव्यम्) वाय्वृतुपित्रुषसो यत्। (पा० ४।२।३१) वायु--यत्। वायुदेवताकम् (वैराजम्) विराज्—अण्। विराड्देवताकम्। विराड् विविधैश्वर्यवान् (जागतम्) जगत्—अण्। जग-

---

१. पू. सं. सर्वत्र 'उन्नैषं' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'निर्माक्ष्यं' इति पाठः ॥

३. पू. सं. 'अवमार्क्ष्यं' इति पाठः ॥

४. माणव शब्द से कहा हुआ यन् प्रत्यय ज्ञापक के बल से मानव शब्द से भी होता है। द्र. पदमञ्जरी ४।२।४२ ॥ सम्पा० ॥

अभ्यवज्वालितम् १३) मरुत् [वायु] देवता वाला औंटा हुआ दूध है १३, (पौष्णं समुद्वान्तम् १४) पूषा [पुष्ट करने वाला सूर्य] देवता वाला उफनता हुआ दूध है १४, (वारुणं विष्यन्नम् १५) वरुण [जल] देवता वाला बहता हुआ दूध है १५, (सारस्वतम् अद्भिः प्रत्यानीतम् १६) सरस्वती [जल वाली नदी] देवता वाला जल से लौटा दिया गया दूध है १६, (त्वाष्ट्रम् उद्वास्यमानम् १७) त्वष्टा [सूक्ष्म बनाने वाला विद्वान्] देवता वाला छोड़ा जाता हुआ दूध है १७ (धात्रम् उद्वासितम् १८) धाता [सब का धारण करने वाला] देवता वाला छोड़ा हुआ दूध है १८, (वैश्वदेवम् उन्नीयमानम् १९) विश्वेदेवा [सब दिव्य गुण] देवता वाला ऊपर लाया जाता हुआ [नवनीत माखन] है १९, (सावित्रम् उन्नीतम् २०) सविता [सर्वप्रेरक] देवता वाला ऊपर लाया गया नवनीत है २०, (बार्हस्पत्यं प्रक्रम्यमाणम् २१) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का स्वामी] देवता वाला घुमाया जाता हुआ नवनीत है २१, (द्यावापृथिव्यं ह्रियमाणम् २२) द्यावापृथिवी [सूर्य और भूमि] देवता वाला लिया जाता हुआ नवनीत है २२, (ऐन्द्रम् उपसाद्यमानम् २३) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले] देवता वाला पास लाया जाता हुआ नवनीत है २३, (बलाय उपसन्नम् २४) बल के लिये पास रक्खा गया नवनीत है २४, (आग्नेयी समित् २५) अग्नि देवता वाली समिधा है २५, (यां प्रथमाम् आहुतिम् अहौषम् माम् एव तत् स्वर्गे लोके अधाम् २६) जिस पहिली आहुति को मैंने दिया है, उस से अपने को मैंने स्वर्गलोक में रक्खा है २६, (यत् गार्हपत्यम् अवेक्षिषम् अस्य लोकस्य संतत्यै २७) जो मैंने गार्हपत्य अग्नि वाली हवि को विचारा है, वह इस लोक के विस्तार के लिये है २७, (प्राजापत्या उत्तरा आहुतिः, तस्मात् सा पूर्णतरा मनसा एव २८) प्रजापति [प्रजापालक ईश्वर वा गृहस्थ] देवता वाली पिछली आहुति है, इस कारण वह मन के साथ ही अधिक पूर्ण है २८, (यत् हुत्वा उदञ्चम् स्रुचं त्रिः उदनैषं रुद्रान् तेन अप्रैषम् २९) जो हवि देकर उत्तर ओर रक्खी हुई स्रुचा [वट के पत्ते के समान रूप

देवताकम् (आश्विनम्) अश्विन्--अण् । अश्विदेवताकम् । अश्विनौ स्त्री-पुरुषौ । कुहस्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना--ऋ० १० । ४० । २ (सौम्यम्) सोम--टचण् । सोमदेवताकम् । ओषधिः सोमः सुनोतेः--निरु० ११ । २ (बार्हस्पत्यम्) बृहस्पति--ण्यः । बृहस्पतिदेवताकम् । बृहस्पतिः । बृहतीनां विद्यानां पतिः । वाचस्पतिः (वैश्वानरीयम्) वैश्वानर--छः । वैश्वानरदेवताकम् । वैश्वानरः सर्वनरहितः (वैष्णवम्) विष्णुदेवताकम् । विष्णुः व्यापकोऽग्निः (मारुतम्) मरुत्--स्वार्थे अण् । वायुदेवताकम् (पौष्णम्) पूषन्--अण् । पूषदेवताकम् । पूषा पोषकः सूर्यः (वारुणम्) वरुणदेवताकम् । वरुणो जलम् (सारस्वतम्) सरस्वतीदेवताकम् । सरस्वती जलवती नदी (त्वाष्ट्रम्) त्वष्टृदेवताकम् । त्वष्टा सूक्ष्मीकर्ता । विश्वकर्मा (वैश्वदेवम्) सर्वदिव्यगुणदेवताकम् (सावित्रम्) सर्वप्रेरकदेवताकम् (ऐन्द्रम्) ऐश्वर्यवद्देवताकम् (अहौषम्) हुतवानस्मि (माम्) आत्मानम् (अधाम्) धारितवानस्मि (प्राजापत्या) प्रजापतिः ईश्वरो गृहस्थो वा, तद्देवताका (रुद्रान्)

वाला विकङ्कट काष्ठ का बना हुआ भुजा तुल्य चमचा] को तीन बार मैंने उठाया है, रुद्रों [शत्रुनाशक शूरवीरों] को मैंने तृप्त किया है २९, (यत् बर्हिषि स्रुचं निधाय उन्मृज्य उत्तरतः पाणी निरमार्क्ष्मि तेन ओषधिवनस्पतीन् अप्रैषम् ३०) जो कुशासन पर स्रुचा को धर के उत्तर की ओर दोनों हाथों को मैंने धोया है, उससे ओषधि वनस्पतियों को मैंने तृप्त किया है ३०, (यत् द्वितीयम् उन्मृज्य पित्र्युपवीतं कृत्वा दक्षिणतः पितृभ्यः स्वधाम् अकार्षम् तेन पितॄन् अप्रैषम् ३१) जो दूसरी [स्रुचा] को धोकर पित्र्य [पितृतीर्थ अर्थात् तर्जनी और अगूठे के बीच] में यज्ञोपवीत करके दक्षिण ओर में पितरों [बड़े बूढ़े विद्वानों] के लिये स्वधा [अन्न] मैंने किया है, उस से पितरों [बड़े बूढ़े विद्वानों] को मैंने तृप्त किया है ३१. (यत् प्रथमं प्राशिषं तेन प्राणान् अप्रैषम् ३२) जो पहिली [हवि] को मैंने खाया है. उस से प्राणों को मैंने तृप्त किया है ३२, (यत् द्वितीयं तेन गर्भान्, तस्मात् अनश्नन्तः गर्भाःजीवन्ति, ३३) जो दूसरी [हवि] को [मैंने खाया है] उससे गर्भों को [मैंने तृप्त किया है] इस कारण बिना खाते हुये [अर्थात् नाभि की नाड़ी से रस खींचते हुये] गर्भ जीते हैं ३३, (यत् अन्ततः सर्वम् एव आप्राशिषं तेन विश्वान् देवान् अप्रैषम् ३४) जो अन्त में सब ही [हवि] को मैंने खा लिया है उस से सब दिव्य गुणों को मैंने तृप्त कियाहै ·४, (यत् उदकम् अप्रक्षालितया स्रुचा न्यनैषं तेन सर्पेतरजनान् अप्रैषम् ३५) जो जल को बिना धुली स्रुचा से मैंने गिराया है, उससे गतिशीलों से भिन्न पामरजनों को मैंने तृप्त किया है ३५, (यत् प्रक्षालितया तेन सर्पपुण्यजनान् ३६) जो धुली हुई [स्रुचा] से [मैंने जल गिराया है], उससे गतिशील पवित्र आचरण वाले लोगों को [मैंने तृप्त किया है] ३६, (यत् अपरेण स्रुचा उदकम् आहवनीयं न्यनैषं तेन गन्धर्वाप्सरसः अप्रैषम् ३७) जो दूसरी स्रुचा से जल को आहवनीय अग्नि पर मैंने गिराया है, उससे गन्धर्व अप्सरसों [पृथिवी के धारण करने वालों और आकाश में चलने वालों] को मैंने तृप्त किया है ३७, (यत् स्रुवं स्रुचं च प्रत्यताप्सं तेन सप्तऋषीन् अप्रैषम् ३८) जो स्रुवा [खैर की लकड़ी का बना हुआ हाथ भर का यज्ञपात्र] और स्रुचा को मैंने तपाया है, उससे सात ऋषियों [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को मैंने तृप्त किया है ३८,

---

शत्रुरोदकान् (अप्रैषम्) प्रीञ् तर्पणे—लुङ् । तर्पितवानस्मि (प्राशिषम्) प्रकर्षेण भक्षितवानस्मि (अनश्नन्तः) न भक्षयन्तः (सर्पेतरजनान्) सर्पन्ति गच्छन्ति सर्पाः गतिशीलाः । इतरः भिन्नः जनः पामरलोकः । गतिशीलेभ्यो भिन्नान् पामरजनान् (सर्पपुण्यजनान्) गतिशीलान् पवित्राचरणान् (गन्धर्वाप्सरसः) गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः । कॄगॄशॄदृभ्यो वः (उ० १ । १५५) गो + धृञ् धारणे—वप्रत्ययः, गो शब्दस्य गम् । सर्त्तेरप्पूर्वादसिः (उ० ४ । २३७) अप् + सृ गतौ—असिः । अप्सरसः अप्सु आकाशे सरणशीलाः । पृथिवीधारकान् आकाशे गमनशीलान् च (सप्तऋषीन्) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) ऋषी गतौ दर्शने च—इन् । ऋत्यकः (पा० ६ । १ । १२८) इति प्रकृतिभावः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे—यजु० ३४ । ५५ । त्वक्चक्षुःश्रवण-

(यत् रात्रौ स्रुग्दण्डम् अवामार्क्षं ये रात्रौ संविशन्ति तान् दक्षिणान् उदनैषम् ३९) जो रात्रि में स्रुचा के दण्डे को मैंने धोया है, जो रात्रि में सोते हैं उन चतुर लोगों को मैंने उठाया है ३९, (यत् प्रातः उदमार्क्षम्, ये प्रातः प्रव्रजन्ति तान् दक्षिणान् उदनैषम् ४० इति ब्राह्मणम्) जो प्रातःकाल [स्रुचा के दण्डे को] मैंने धोया है, जो प्रातःकाल चलते फिरते हैं उन चतुर लोगों को मैंने उठाया है ४०, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है १२ ॥

भावार्थः—दूध घी आदि पदार्थों का उपयोग विचारपूर्वक करना चाहिये ॥ १२ ॥

कण्डिका १३ ॥

एवमेवैतद्भो यथा भवानाह पृच्छामि त्वेव भवन्तमिति, पृच्छ प्राचीनयोग्येति । यस्य सायमग्नय उपसमाहिताः स्युः सर्वे ज्वलयेयुः प्रक्षालितानि यज्ञपात्राण्युपसन्नानि स्युरथ चेद् दक्षिणाग्निरुद्वायात् किं वा ततो भयमागच्छेदिति, क्षिप्रमस्य पत्नी प्रैति, यो विद्वान् जुहोति विद्यया त्वेवाहमभिजुहोमीति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिरिति १, गार्हपत्यादधि दक्षिणाग्निं प्रणीय प्राचोऽङ्गारानुद्धृत्य प्राणापानाभ्यां स्वाहेति जुहुयादथ प्रातर्यथास्थानमग्नीनुपसमाधाय यथापुरं जुहुयात्सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिरिति २, अथ चेदाहवनीय उद्वायात् किं वा ततो भयमागच्छेदिति क्षिप्रमस्य पुत्रः प्रैति, यो विद्वाञ्जुहोति विद्यया त्वेवाहमभिजुहोमीति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिरिति २, गार्हपत्यादध्याहवनीयं प्रणीय प्रतीचोऽङ्गारानुद्धृत्य समानव्यानाभ्यां स्वाहेति जुहुयादथ प्रातर्यथास्थानमग्नीनुपसमाधाय यथापुरञ्जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिरिति २ । अथ चेद्गार्हपत्य उद्वायात् किं वा ततो भयमागच्छेदिति क्षिप्रं गृहपतिः प्रैति, यो विद्वाञ्जुहोति विद्यया त्वेवाहमभिजुहोमि इति का ते विद्या का प्रायश्चित्तिरिति ३, सभस्मकमाहवनीयं दक्षिणेन दक्षिणाग्निं परिहृत्य गार्हपत्यस्यायतने प्रतिष्ठाप्य ततः आहवनीयं प्रणीय उदीचोऽङ्गारानुद्धृत्योदानरूपाभ्यां स्वाहेति जुहुयादथ प्रातर्यथास्थानमग्नीनुपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिरिति ३, अथ चेत्सर्वेऽग्नय उद्वायेयुः किं वा ततो भयमागच्छेदिति, क्षिप्रं गृहपतिः सर्वज्यानिञ्जीयते, यो विद्वां जुहोति विद्यया त्वेवाहमभिजुहोमीति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिरिति ४, आनडुहेन शकृत्पिण्डेनाग्न्यायतनानि परिलिप्य होम्यमुपसाद्याग्निं निर्मथ्य प्राणापानाभ्यां स्वाहा समानव्यानाभ्यां स्वाहा उदानरूपाभ्यां स्वाहेति जुहुयादथ प्रातर्यथास्थानमग्नीनुपसमाधाय यथापुरञ्जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिरिति ४, अथ चेन्न ग्निं जनयितुं शक्नुयुर्न कुतश्चन वातो वायात् किं वा ततो भयमागच्छेदिति मोघमस्येष्टं च हुतञ्च भवति, यो विद्वां जुहोति विद्यया त्वेवाहमभिजुहोमीति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिरित्यानडुहेनैव शकृत्पिण्डे-

रसनाघ्राणमनोबुद्धीः (संविशन्ति) शेरते (दक्षिणान्) कुशलान् (प्रव्रजन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति ॥

नाग्न्यायतनानि परिलिप्य होम्यमुपसाद्य वात आवातु भेषजमिति सूक्तेनात्मन्येव जुहुयादथ प्रातरग्निं निर्मथ्य यथास्थानमग्नीनुपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिरिति ५ ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ तीनों अग्नियों में विघ्न पड़ने पर उपाय और प्रायश्चित्त ॥

(भो एवम् एव एतत् यथा भवान् आह, तु एव भवन्तं पृच्छामि इति) [प्राचीनयोग्य बोला] महाराज ! ऐसा ही यह है जैसा आप कहते हैं, फिर भी आपसे मैं पूछता हूं । (प्राचीनयोग्य पृच्छ इति) [उद्दालक बोला] हे प्राचीनयोग्य ! पूंछ । (यस्य सायम् अग्नय: उपसमाहिता: स्यु: सर्वे ज्वलयेयु: प्रक्षालितानि यज्ञपात्राणि उपसन्नानि स्यु:) [प्राचीनयोग्य बोला] जिसकी सायंकाल को सब अग्नियां यथाविधि ठीक की गयी हों, और सब जलती हों और धुले हुये यज्ञपात्र समीप हों, (अथ चेत् दक्षिणाग्नि: उद्वायात् किं वा तत: भयम् आगच्छेत् इति, क्षिप्रम् अस्य पत्नी प्रैति, य: विद्वान् जुहोति विद्यया तु एव अहम् अभिजुहोमि इति, का ते विद्या का प्रायश्चित्ति: इति १) फिर जो दक्षिणाग्नि भड़क उठे [अधिक बढ़ जावे] अथवा उससे कुछ भय आवे, [जिससे] उसकी पत्नी शीघ्र चली जावे, और जो विद्वान् पुरुष होम करता है—(विद्यया······) विद्या के साथ फिर भी मैं सब प्रकार होम करूं [यह कहे, उसमें] तेरी क्या विद्या है और क्या प्रायश्चित्त [पापशोधन विधि] है १ । (गार्हपत्यात् अधि दक्षिणाग्निं प्रणीय प्राच: अङ्गारान् उद्धृत्य प्राणापानाभ्यां स्वाहा इति जुहुयात्, अथ प्रात: यथास्थानम् अग्नीन् उपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्ति: इति) [उद्दालक बोला] गार्हपत्य अग्नि से दक्षिणाग्नि लेकर पूर्व दिशा वाले अङ्गारों को निकाल कर—(प्राणापानाभ्यां स्वाहा) भीतर जाने वाले और बाहर आने वाले श्वास के लिये सुन्दर आहुति है--[इस मन्त्र से] होम करे फिर प्रात:काल अपने अपने स्थान में अग्नियों को ठीक कर के पहिले के समान होम करे, यह मेरी विद्या और यह प्रायश्चित्त है १ । (अथ चेत् आहवनीय: उद्व यात् किं वा तत: भयम् आगच्छेत् इति क्षिप्रम् अस्य पुत्र: प्रैति, य: विद्वान् जुहोति विद्यया तु एव अहम् अभिजुहोमि इति, का ते विद्या का प्रायश्चित्ति: इति २) [प्राचीनयोग्य बोला] फिर जो आहवनीय अग्नि भड़क उठे अथवा उस से कुछ भय आवे, [जिससे] उसका पुत्र शीघ्र चला जावे और जो विद्वान् होम करता है—(विद्यया······) विद्या के साथ फिर भी

१३--(तु) पुन: (उपसमाहिता:) यथाविधिसंस्कृता: (प्रक्षालितानि) क्षल शोधकर्मणि–क्त: । संशोधितानि (उपसन्नानि उप + षद्लृ गतौ–क्त: । समीपस्थानि (उद्वायात्) उद्गच्छेत् (प्रैति) प्र+इण् गतौ--लट् । प्रकर्षेण गच्छति (प्रायश्चित्ति:) प्र + इण् गतौ घञ्+चिती संज्ञाने--क्तिन् । प्रायस्य चित्तिचित्तयो: (वा० पा० ६ । १ । १५७) इति सुट् । पापशोधनविधि: (प्राच:) पूर्वदिक्स्थितान् (समाधाय) यथाविधि संस्कृत्य (यथापुरम्) पुर अग्रगमने--क: ।

मैं सब प्रकार होम करूं [यह कहे, इस में] तेरी क्या विद्या है और क्या प्रायश्चित्त है २। (गार्हपत्यात् अधि आहवनीयं प्रणीय प्रतीचः अङ्गारान् उद्धृत्य समानव्यानाभ्यां स्वाहा इति जुहुयात्) [उद्दालक बोला] गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि को लेकर पश्चिम ओर वाले अङ्गारों को निकाल कर--(समानव्यानाभ्यां स्वाहा) नाभि वाले और सब शरीर में फैलने वाले श्वास के लिये सुन्दर आहुति है--इस मन्त्र से होम करे (अथ प्रातः यथास्थानम् अग्नीन् उपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिः इति २) फिर प्रातःकाल अपने अपने स्थान पर अग्नियों को ठीक कर के पहिले के समान होम करे, यह मेरी विद्या और यह प्रायश्चित्त है २ । (अथ चेत् गार्हपत्यः उद्वायात् किं वा ततः भयम् आगच्छेत् इति, क्षिप्रं गृहपतिः प्रैति यः विद्वान् जुहोति विद्यया तु एव अहम् अभिजुहोमि इति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिः इति ३) [प्राचीनयोग्य बोला] फिर जो गार्हपत्य अग्नि भड़क उठे अथवा उस से कुछ भय आवे, [जिससे] गृहपति शीघ्र चला जावे, और जो विद्वान् होम करता है (विद्यया......) विद्या के साथ फिर भी मैं सब प्रकार होम करूं [यह कहे, उस में] तेरी क्या विद्या है और क्या प्रायश्चित्त है ३ । (दक्षिणेन दक्षिणाग्निं परिहृत्य सभस्मकम् आहवनीयं गार्हपत्यस्य आयतने प्रतिष्ठाप्य ततः आहवनीयं प्रणीय उदीचः अङ्गारान् उद्धृत्य उदानरूपाभ्यां स्वाहा इति जुहुयात्, अथ प्रातः यथास्थानम् अग्नीन् उपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिः इति ३) [उद्दालक बोला] दाहिने हाथ से दक्षिणाग्नि को छोड़ कर, भस्म सहित आहवनीय अग्नि को गार्हपत्य के स्थान में रख कर फिर आहवनीय अग्नि को लेकर उत्तर ओर वाले अङ्गारों को निकाल कर--(उदानरूपाभ्यां स्वाहा) कण्ठ से ऊपर वाले वायु और रूप के लिए सुन्दर आहुति है--इस मन्त्र से हवन करे, फिर प्रातःकाल अपने-अपने स्थान में अग्नियों को ठीक करके पहिले के समान होम करे, यह मेरी विद्या और यह प्रायश्चित्त है ३ । (अथ चेत् सर्वे अग्नयः उद्वायेयुः किं वा ततः भयम् आगच्छेत् इति, क्षिप्रं गृहपतिः सर्वज्यानिं जीयते, यः विद्वान् जुहोति विद्यया तु एव अहम् अभि जुहोमि इति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिः इति ४) [प्राचीन-योग्य बोला] फिर जो सब अग्नियां भड़क उठें, अथवा उससे कुछ भय आवे [जिससे] गृहपति शीघ्र सब हानि प्राप्त करे, और जो विद्वान् होम करता है—[विद्यया......] विद्या के साथ फिर भी मैं सब प्रकार होम करूँ [यह कहे, इसमें] तेरी क्या विद्या है और क्या प्रायश्चित है ४ । (आनडुहेन शकृत्पिण्डेन अग्न्यायतनानि परिलिप्य होम्यम् उपसाद्य अग्निं निर्मथ्य प्राणापानाभ्यां स्वाहा,

---

यथापूर्वम् (प्रतीचः) पश्चिमदिशि स्थितान् (परिहृत्य) परित्यज्य (आयतने) यज्ञस्थाने (उद्धृत्य) उत्+हृञ् हरणे—ल्यप् । बहिष्कृत्य (सर्वज्यानिम्) वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४ । ४८) ज्या वयोहानौ—निः । सर्वक्षतिः । (जीयते) कर्मणि प्रयोग आर्षः । जयति प्राप्नोति (आनडुहेन) अनुडुही--अण् । धेनुसंबन्धिनी (शकृत्पिण्डेन) विष्ठासंचयेन (होम्यम्) होम--यत् । होमाय हितं हविः । (मोघम्) निष्फलम् (इष्टम्) अभीष्टम् (आत्मनि) मनसि ॥

समानव्यानाभ्यां स्वाहा, उदानरूपाभ्यां स्वाहा इति जुहुयात् अथ प्रातः यथास्थानम् अग्नीन् उपसमाधाय यथापुरं जुहुयात् सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिः इति ४) [उद्दालक बोला] गौ के गोबर से अग्नि के स्थानों को लीप कर, होम योग्य द्रव्य को पास लाकर, अग्नि को मथ कर (प्राणापानाभ्यां स्वाहा, समानव्यानाभ्यां स्वाहा, उदान-रूपाभ्यां स्वाहा) [ऊपर वाले इन तीन मन्त्रों से] होम करे, फिर प्रातःकाल अपने अपने स्थान में अग्नियों को ठीक करके पहिले के समान होम करे, यह मेरी विद्या और यह प्रायश्चित्त है ४ । (अथ चेत् अग्निं जनयितुं न शक्नुयुः न कुतश्चन वातः वायात् किं वा ततः भयम् आगच्छेत् इति अस्य इष्टं च हुतं च मोघ भवति, यः विद्वान् जुहोति विद्यया तु एव अहम् अभिजुहोमि इति, का ते विद्या का प्रायश्चित्तिः इति ५) [प्राचीनयोग्य बोला] फिर जो अग्नि को लोग न उत्पन्न कर सकें और जो कहीं से वायु न चले अथवा उससे कुछ भय आवे [जिससे] उसका अभीष्ट और होम निष्फल होवे, और जो विद्वान्—होम करता है—(विद्यया······) विद्या के साथ फिर भी मैं सब प्रकार होम करूँ [यह कहे, इसमें] तेरी क्या विद्या है और क्या प्रायश्चित्त है ५ । (आनडुहेन एव शकृत्पिण्डेन अग्न्यायतनानि परिलिप्य होम्यम् उपसाद्य, वातः आवातु भेषजम् इति सूक्तेन आत्मनि एव जुहुयात् अथ प्रातः अग्निं निर्मथ्य यथास्थानम् अग्नीन् उपसमाधाय यथापुरं जुहुयात्, सा मे विद्या सा प्रायश्चित्तिः ५ इति ब्राह्मणम्) [उद्दालक बोला] गौ के ही गोबर से अग्नि के स्थानों को लीप कर, होमयोग्य पदार्थ को पास लाकर (वातः आवातु भेषजम्) वायु औषध लावे—[इस मन्त्र का मिलान करो अथर्व ४।१३।३] इस सूक्त से आत्मा [अपने] में ही [मानसिक] होम करे, फिर प्रातःकाल अग्नि को मथ कर अपने अपने स्थान में अग्नियों को ठीक करके पहिले के समान होम करे, यह मेरी विद्या और यह प्रायश्चित्त है ५ । यह ब्राह्मण है ॥ १३ ॥

भावार्थः—अग्नियों के अभाव में मनुष्य मानसिक हवन ही करे ॥ १३ ॥

विशेषः—पूर्वोक्त मन्त्र यहां लिखा जाता है—आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ अथ० ४।१३।३ ऋ० १०।१३७।३। (वात) हे वायु (भेषजम्) स्वास्थ्य को (आ वाहि) बहकर ला, और (वात) हे वायु ! (यत् रपः = यत् रपः तत्) जो दोष है उसे (वि वाहि) बह कर निकाल दे, (हि) क्योंकि (विश्वभेषज) हे सर्वरोगनाशक [वायु]! (त्वम्) तू (देवानाम्) इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच (दूतः) चलने वाला वा दूत [समान सन्देश पहुंचाने वाला] होकर (ईयसे) फिरता रहता है ॥

कण्डिका १४ ॥

एवमेवैतद् भो भगवन् यथा भवानाहोपैयामि त्वेव भवन्तमित्येवं चेन्नावक्ष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यदिति हन्त तु ते तद्वक्ष्यामि यथा ते न व्यपतिष्यतीति, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च वाक् तेन तृप्यति, वाचि तृप्तायामग्निस्तृप्य-त्यग्नौ तृप्ते पृथिवी तृप्यति, पृथिव्यां तृप्तायां यानि पृथिव्यां भूतान्यन्वायत्तानि

तानि तृप्यन्ति १, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च प्राणस्तेन तृप्यति, प्राणे तृप्ते वायुस्तृप्यति, वायौ तृप्तेऽन्तरिक्षं तृप्यति अन्तरिक्षे तृप्ते यान्यन्तरिक्षे भूतान्यन्वायत्तानि तानि तृप्यन्ति २, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च चक्षुस्तेन तृप्यति, चक्षुषि[3] तृप्त आदित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्ते द्यौस्तृप्यति, दिवि तृप्तायां यानि दिवि भूतान्यन्वायत्तानि तानि तृप्यन्ति ३, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च मनस्तेन तृप्यति, मनसि तृप्ते चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्ते आपस्तृप्यन्त्यप्सु तृप्तासु यान्यप्सु भूतान्यन्वायत्तानि तानि तृप्यन्ति ४, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च श्रोत्रं तेन तृप्यति, श्रोत्रे तृप्ते दिशश्चान्तर्देशाश्च तृप्यन्ति, दिक्षु चान्तर्देशेषु च तृप्तेषु च यानि दिक्षु चान्तर्देशेषु च भूतान्यन्वायत्तानि तानि तृप्यन्ति ५, यो ह वा एवं विद्वानश्नाति च पिबति च तस्यायमेव दक्षिणः पाणिर्जुहूः सव्य उपभृत् कण्ठो ध्रुवाऽन्नं हविः प्राणा ज्योतींषि सदेष्टं सदाहुतं सदाशितं पायितमग्निहोत्रं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोतीति ब्राह्मणम् ॥१४॥

कण्डिका १४ ॥ खान पान के लाभ ॥

(भो भगवन् एवम् एव एतत् यथा भवान् आह, उपयामि तु एव भवन्तम् इति) [प्राचीनयोग्य बोला] हे भगवन् यह वैसा ही है जैसा आपने कहा कि मैं तो आप के पास ही आया हूँ। (एवं चेद् न अवक्ष्यः ते मूर्द्धा व्यपतिष्यत् इति) जो तू ऐसा [यथार्थ] न कहता तो तेरा मस्तक गिर जाता [देखो कं० ८], (तु हन्त ते तत् वक्ष्यामि यथा ते न व्यपतिष्यति इति) किन्तु, हे भाई! तुझसे वह कहूंगा जिस से तेरे लिये [मेरा मस्तक] न गिरेगा। (यः ह वै एव विद्वान् अश्नाति च पिबति च वाक् तेन तृप्यति) जो ही ऐसा [सत्यवादी] विद्वान् खाता और पीता है वाणी उससे तृप्त होती है १, (वाचि तृप्तायाम् अग्निः तृप्यति) वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है २, (अग्नौ तृप्ते पृथिवी तृप्यति) अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है ३, (पृथिव्यां तृप्तायां पृथिव्यां यानि अन्वायत्तानि भूतानि तानि तृप्यन्ति) पृथिवी के तृप्त होने पर जो एक दूसरे के वशीभूत प्राणी आदि हैं वे तृप्त होते हैं। ४,१। (यः ह वै एवं विद्वान् अश्नाति च पिबति च प्राणः तेन तृप्यति) जो ही ऐसा विद्वान् खाता और पीता है प्राण उससे तृप्त होता है १, (प्राणे तृप्ते वायुः तृप्यति) प्राण के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है २, (वायौ तृप्ते अन्तरिक्षं तृप्यति) वायु के तृप्त होने पर अन्तरिक्ष [मध्यलोक] तृप्त होता है ३, ((अन्तरिक्षे तृप्ते अन्तरिक्षे यानि अन्वायत्तानि भूतानि तानि तृप्यन्ति) अन्तरिक्ष के तृप्त होने पर

१४—(उपयामि) उप+या प्रापणे-लट्। आगतवानस्मि (अवक्ष्यः) वच परिभाषणे—लृङ्। अकथयिष्यः (व्यपतिष्यत्) वि+पतॢ गतौ-लृङ्, विविधमपतिष्यत्। (वक्ष्यामि) कथयिष्यामि (अश्नाति) भक्षति (पिबति) पानं करोति (तृप्यति) हृष्यति (भूतानि) सत्तामात्रवस्तूनि (अन्वायत्तानि)

---

१. २. ३. पू. सं. 'उपायाम्' 'व्यपतिष्यति' 'चक्षुषी' इत्येते पाठाः ॥ सम्पा० ॥

अन्तरिक्ष में जो एक दूसरे के आधीन प्राणी आदि हैं वे तृप्त होते हैं ४ २। (यः ह वै एवं विद्वान् अश्नाति च पिबति च चक्षुः तेन तृप्यति) जो ही ऐसा विद्वान् खाता और पीता है आंख उससे तृप्त होती है १, (चक्षुषि तृप्ते आदित्यः तृप्यति) आंख तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है २, (आदित्ये तृप्ते द्यौः तृप्यति) सूर्य के तृप्त होने पर प्रकाशलोक [जहा पर सूर्य का प्रकाश है] तृप्त होता है ३, (दिवि तृप्तायां दिवि यानि अन्वायत्तानि भूतानि तानि तृप्यन्ति) प्रकाशलोक तृप्त होने पर प्रकाशलोक में जो एक दूसरे के आधीन प्राणी आदि हैं वे तृप्त होते हैं ४, ३। (यः ह वै एवं विद्वान् अश्नाति च पिबति च मनः तेन तृप्यति) जो ही ऐसा विद्वान् खाता पीता है, मन उससे तृप्त होता है १, (मनसि तृप्ते चन्द्रमाः तृप्यति) मन तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है २, (चन्द्रमसि तृप्ते आपः तृप्यन्ति) चन्द्रमा तृप्त होने पर जल तृप्त होता है ३, (अप्सु तृप्तासु अप्सु यानि अन्वायत्तानि भूतानि तानि तृप्यन्ति) जल तृप्त होने पर जल में जो एक दूसरे के आधीन प्राणी आदि हैं, वे तृप्त होते हैं ४, ४। (यः ह वै एवं विद्वान् अश्नाति च पिबति च श्रोत्रं तेन तृप्यति) जो ही ऐसा विद्वान् खाता और पीता है, कान उससे तृप्त होता है १, (श्रोत्रे तृप्ते दिशः च अन्तर्देशाः च तृप्यन्ति) कान तृप्त होने पर दिशायें और बीच वाले देश तृप्त होते हैं २, (दिक्षु च अन्तर्देशेषु च तृप्तेषु च दिक्षु च अन्तर्देशेषु च यानि अन्वायत्तानि भूतानि तानि तृप्यन्ति) दिशाओं और बीच वाले देशों के तृप्त होने पर दिशाओं और बीच वाले देशों में जो एक दूसरे के आधीन प्राणी आदि हैं, वे तृप्त होते हैं ३, ५। (यः ह वै एवं विद्वान् अश्नाति च पिबति च, तस्य अयम् एव दक्षिणः पाणिः जुहूः, सव्यः उपभृत्, कण्ठः ध्रुवा, अन्नं हविः, प्राणाः ज्योतींषि, सदेष्टं सदाहुतं सदाशितं पायितम् अग्निहोत्रं भवति, यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति इति ब्राह्मणम्) जो ही ऐसा विद्वान् खाता और पीता है, उसका यही दाहिना हाथ जुहू [पलाश की लकड़ी का बना हुआ चन्द्राकार यज्ञपात्र], बायां हांथ उपभृत् [चक्राकार यज्ञपात्र], कण्ठ ध्रुवा [बट के पत्राकार का यज्ञपात्र] है, अन्न हवि है, प्राण ज्योति हैं, सदा अभीष्ट, सदा हवन और सदा खाया पिया अग्निहोत्र है, जो ऐसा जानता है और जो ऐसा विद्वान् अग्निहोत्र करता है, यह ब्राह्मण है ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्य खान पान के उपयोग से स्वस्थ रहकर संसार का उपकार करे ॥ १४ ॥

परस्परवशीभूतानि (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (चक्षुषि) नेत्रे (द्यौः) सूर्यप्रकाशस्थानम् (जुहूः) हु दानादानादनेषु—क्विप्। पलाशकाष्ठनिर्मितार्धचन्द्राकृतियज्ञपात्रभेदः (उपभृत्) उप + भृञ् भरणे—क्विप्। चक्राकारयज्ञपात्रम् (ध्रुवा) ध्रु स्थैर्ये—कः, टाप्। वटपत्राकृतियज्ञपात्रम्। (ज्योतींषि) सूर्य्यादीनि (सदा—अशितम्) नित्यभक्षितम् (पायितम्) पा पाने स्वार्थे—णिच्, क्तः। पीतम् ॥

कण्डिका १५ ॥

प्रियमेधा ह वै भरद्वाजा यज्ञविदो मन्यमानास्ते ह स्म न कश्चन[1] वेदविद-मुपयन्ति, ते सर्वमविदुस्ते सहैवाविदुस्तेऽग्निहोत्रमेव न समवादयन्त तेषा-मेकः सकृदग्निहोत्रमजुहोत् द्विरेकस्त्रिरेकस्तेषां यः सकृदग्निहोत्रमजुहोत्तमित-रावपृच्छतां कस्मै त्वं जुहोषीति एकधा वा, इदं सर्वं प्रजापतिः प्रजापतय एवाहं सायं जुहोमीति प्रजापतये प्रातरिति। तेषां यो द्विरजुहोत् तमितरावपृच्छतां काभ्यां त्वं जुहोषीति, अग्नये प्रजापतय इति सायं, सूर्य्याय प्रजापतय इति प्रातः। तेषां यस्त्रिरजुहोत्तमितरावपृच्छतां केभ्यस्त्वं जुहोषीत्यग्नये प्रजापतयेऽनुमतय इति सायं, सूर्य्याय प्रजापतये अग्नये स्विष्टकृत इति प्रातः। तेषां यो द्विरजुहोत्स आर्ध्नोत्स भूयिष्ठोऽभवत्प्रजया चेतरौ श्रिया चेतरावत्याक्रामत्तस्य ह प्रजामि-तरयोः प्रजे [2]सजातत्वमुपेयातां तस्माद् द्विर्होतव्यं, यजुषा चैव मनसा च यामेव ऋद्धिमाध्नोंति तामृध्नोति य एव वेद, यश्चैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोतीति ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ क्रियात्मक और मानसिक यज्ञ करना चाहिए ॥

(प्रियमेधाः ह वै भरद्वाजाः यज्ञविदः मन्यमानाः) भरद्वाज गोत्र वाले बुद्धि को प्रिय रखने वाले [अपने को] यज्ञवित् समझते हुये। (ते ह स्म कश्चन वेदविदं न उपयन्ति) वे किसी वेदज्ञाता के पास नहीं जाते थे। (ते सर्वम् अविदुः ते सह एव अविदुः) [वे मानते थे] वे सब जानते हैं, वे मिलकर ही जानते थे। (ते अग्नि-होत्रम् एव न समवादयन्त) वे अग्निहोत्र का ही अब संवाद करने लगे। (तेषाम् एकः सकृत् अग्निहोत्रम् अजुहोत् द्विः एकः त्रिः एकः) उनमें एक एक बार [एक देवता के लिये] अग्निहोत्र करता था, दो बार [दो देवता के लिये] एक और तीन बार [तीन देवता के लिये] एक।

(तेषां यः सकृत् अग्निहोत्रम् अजुहोत् तम् इतरौ अपृच्छताम् कस्मै त्वम् एकधा वं जुहोषि इति) उनमें जो एक बार अग्निहोत्र करता था, उससे अन्य दोनों ने पूंछा—तू किस देवता के लिये एक प्रकार ही यज्ञ करता है। (इद सर्वं प्रजापतिः प्रजापतये एव अहं सायं जुहोमि इति, प्रजापतये प्रात इति) [वह बोला] यह सब प्रजापति है, प्रजापति के लिये ही मैं सायंकाल होम करता हूँ, और प्रजापति के लिये प्रातःकाल। (तेषां यः द्विः अजुहोत् तम् इतरौ अपृच्छताम्, काभ्यां त्वं जुहोषि

१५—(प्रियमेधाः) प्रिया मेधा धारणावती बुद्धिर्येषां ते ऋषयः (भर-द्वाजाः) भरद्वाजवंशीयाः (यज्ञविदः) यज्ञवेत्तारः (मन्यमानाः) जानन्तः (कश्चन) कमपि (उपयन्ति) समीपे गच्छन्ति (अविदुः) अजानन् (न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१ (समवादयन्त) परस्परम् अकथयन्त (सकृत्) एकवारम्।

---

१. पू. सं. 'कश्चना' इति पाठः ॥ २. अत्रत्यः पाठोऽतीवभ्रष्टः, अस्माभिः संशोधितः ॥सम्पा०॥

इति) उनमें से जो दो बार होम करता था, उससे अन्य दोनों ने पूँछा—कौन दो देवताओं के लिये तू होम करता है । (अग्नये प्रजापतये इति सायं, सूर्याय प्रजापतये इति प्रातः) [वह बोला] अग्नि प्रजापति के लिये सायंकाल, [तथा] सूर्य प्रजापति के लिये प्रातःकाल [अग्नि और सूर्य एक ही देवता हैं] (तेषां यः त्रिः अजुहोत् तम् इतरौ अपृच्छताम् केभ्यः त्वं जुहोषि इति) उनमें जो तीन बार [तीन देवताओं के लिये] होम करता था, उससे अन्य दोनों ने पूँछा—किन देवताओं के लिये तू होम करता है। (अग्नये प्रजापतये अनुमतये इति सायं, सूर्याय प्रजापतये स्विष्टकृते अग्नये इति प्रातः) [वह बोला] अग्नि, प्रजापति और अनुमति [अनुकूल बुद्धि वाले] के लिये सायंकाल और सूर्य, प्रजापति और स्विष्टकृत् [उत्तम मनोरथ सिद्ध करने वाले] अग्नि के लिये प्रातःकाल [होम करता हूँ]।

(तेषां यः द्विः अजुहोत् सः आर्ध्नोत्, सः भूयिष्ठः अभवत्, प्रजया च इतरौ श्रिया च इतरौ अत्याक्रामत्) उनमें जो दो बार [दो देवता के लिये] होम करता था वह समृद्ध हुआ और बहुत अधिक हुआ और प्रजा [बाल बच्चों] के साथ अन्य दूसरों से और लक्ष्मी के साथ अन्य दूसरों से बढ़ गया। (तस्य ह प्रजाम् इतरयोः [आत्मनोः] प्रजे सजातत्त्वम् उपेयाताम्) उसकी प्रजा को, प्रजाओं में वे दोनों प्राप्त करें। (तस्मात् द्विः होतव्यम्) इसलिये दो बार [दो देवता के लिये] हवन करना चाहिये । (यजुषा च एव मनसा च याम् एव ऋद्धिम् आर्ध्नोति ताम् ऋध्नोति यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति इति ब्राह्मणम्) यजु [हवि आदि सामग्री के संगतिकरण] से और मन [मानसिक यज्ञ] से जिस ऋद्धि को पूजता है उसको वह बढ़ाता है जो ऐसा जानता है जो ऐसा विद्वान् अग्निहोत्र करता है यह ब्राह्मण है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६ ॥

स्वाहा वै कुतः सम्भूता, केन प्रकृता, किं वाऽस्या गोत्रं, कत्यक्षरा, कतिपदा, कति वर्णा, किम्पूर्वावसाना, क्वचित् स्थिता, किमधिष्ठाना, ब्रूहि स्वाहाया यद्दैवतं रूपञ्च । स्वाहा वै सत्यसम्भूता, ब्रह्मणा प्रकृता, लामगायनसगोत्रा, द्वे अक्षरे, एकं पदं त्रयश्च वर्णाः शुक्लः पद्मः सुवर्ण इति सर्वच्छन्दसां वेदेषु समासभूतैकोच्छ्वासा वर्णान्ते चत्वारो वेदाः शरीरे, षडङ्गान्योषधिवनस्पतयो लोमानि

एकस्मै देवाय (द्विः) द्विवारम् । द्वाभ्यां देवाभ्याम् (त्रिः) त्रिवारम् । त्रिभ्यो देवेभ्यः (एकधा) एकप्रकारेण (अनुमतये) अनुकूलबुद्धियुक्ताय (स्विष्टकृते) उत्तममनोरथसाधकाय (आर्ध्नोत्) अवर्धत (भूयिष्ठः) बहु—इष्ठन् । अतिशयेन बहुः (अत्याक्रामत्) अति+आ+अक्रामत् । अत्यगच्छत् (उपेयाताम्) उप+इण् गतौ—विधि लिङ् । उपगच्छेताम् (यजुषा) हविरादिसंगतिकरणेन । भौतिकयज्ञेन (मनसा) अन्तःकरणेन । मानसिकयज्ञेन (ऋद्धिम्) सिद्धिम् । ऐश्वर्य्यम् (आर्ध्नोति) पूजयति (ऋध्नोति) वर्धयति।

चक्षुषी सूर्य्याचन्द्रमसौ, सा स्वाहा सा स्वधा सैषा यज्ञेषु वषट्कारभूता प्रयुज्यते, तस्या अग्निर्दैवतं ब्राह्मणो रूपमिति ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ स्वाहा शब्द के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(स्वाहा वै कुतः सम्भूता १, केन प्रकृता २, किं वै अस्याः गोत्रम् ३, कत्यक्षरा ४ कतिपदा ५, कति [1]वर्णाः ६ किंपूर्वावसाना ७, क्वचित् स्थिता ८, किमधिष्ठाना ९, ब्रूहि स्वाहायाः यत् दैवतम् १० रूपं च ११) स्वाहा [सुवाणी, आशीर्वाद, सुदान] कहां से उत्पन्न हुई १, किस करके बनाई गई २. क्या इसका गोत्र है ३, कितने अक्षर वाली है ४, कितने पाद वाली है ५, कितने वर्ण वाली है ६, कौन आदि अन्त वाली है ७, कहां ठहरी हुई है ८, कौन अधिष्ठान [आश्रय] वाली है ९, तू बता स्वाहा का जो देवता १० और रूप है ११, (स्वाहा वै सत्यसम्भूता) [उत्तर] स्वाहा सत्य से उत्पन्न है १, (ब्रह्मणा प्रकृता) ब्रह्म करके बनाई गई है २, (लामगायनसगोत्रा) लामगायन [मनोहर वेदों के गाने वाले] के साथ एक गोत्र वाली है ३, (द्वे अक्षरे) दो अक्षर हैं ४. (एकं पदम्) एक पाद है ५, (त्रयः च वर्णाः शुक्लः पद्मः सुवर्णः इति) और तीन वर्ण हैं शुक्ल [श्वेत], पद्म [कमलवर्ण] और सुवर्ण [सोना] ६, (वेदेषु सर्वच्छन्दसां समासभूता वर्णान्ते एकोच्छ्वासा) वेदों में सब छन्दों के संग्रह रूप और वर्णों के अन्त में एक श्वास वाली है ७, (चत्वारः वेदाः षट् अङ्गानि शरीरे, ओषधिवनस्पतयः लोमानि चक्षुषी सूर्याचन्द्रमसौ) चारों वेद और छह अङ्ग [शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष] दो शरीर, ओषधि वनस्पति लोम और दोनों आंखें सूर्य चन्द्रमा हैं ८, (सा स्वाहा सा स्वधा सा एषा यज्ञेषु वषट्कारभूता प्रयुज्यते, तस्याः अग्निः दैवतम् ब्राह्मणः रूपम् इति ब्राह्मणम्) वह स्वाहा वह स्वधा और वही वषट्कार रूप होकर यज्ञों में प्रयुक्त की जाती है, उसका अग्नि देवता ९, और ब्राह्मण [वेदज्ञाता] रूप है १०—यह ब्राह्मण है ॥ १६ ॥

१६—(स्वाहा) सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने—डा। वाङ्नाम—निघ० १।११ स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति –निरु० ८।२० सुवाणी। आशीर्वादः। सुदानम्। (संभूता) उत्पन्ना (प्रकृता) सृष्टा (कतिपदा) कतिपादयुक्ता (किंपूर्वावसाना) किमाद्यन्ता (लामगायनसगोत्रा) रमु क्रीडायाम्— घञ्, रस्य लः, गै गाने ल्युट्। लामगायनेन रामगायनेन मनोहरवेदगायकेन समानगोत्रा (समासभूता) संग्रहभूता (एकोच्छ्वासा) एकश्वासयुक्ता। एकविरामा (वर्णान्ते) मन्त्राणां वर्णान्ते (शरीरे) शरीरद्वयम् ॥

---

१. पूर्व संस्करण में "कति वर्णाः" यह प्रश्नात्मक पाठ कण्डिका में नहीं है, किन्तु उत्तर दिया है, तथा जर्मन सं. में भी कण्डिका में है अतः हमने बढ़ाया है। उत्तरों में "किम्पूर्वावसाना" का उत्तर कण्डिका में नहीं है अतः कण्डिका का पाठ अस्त व्यस्त प्रतीत होता है। पाठान्तरों के अभाव में हम संशोधन नहीं कर सके ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १७ ॥

अथापि कारवो ह नाम ऋषयो अल्पस्वा आसंस्त इममेकगुमग्निष्टोमं ददृशुस्तमाहरंस्तेनायजन्त ते स्वर्य्ययुः स य इच्छेत् स्वर्यामी[1]ति स एतेनैकगुनाऽग्निष्टोमेन यजेतेति ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ अग्निष्टोम विषय ॥

(अथ अपि कारवः ह नाम ऋषयः अल्पस्वाः आसन्) फिर स्तुति करने वाले प्रसिद्ध ऋषि थोड़े धन वाले थे । (ते इमम् एकगुम् अग्निष्टोमं ददृशुः) उन्होंने इस एक वाणी [पाद] वाले अग्निष्टोम [स्वाहाकार] को देखा । (तम् आहरन् तेन अयजन्त, ते स्वः ययुः) वह उसे ले आये, उससे यज्ञ किया और उन्होंने स्वर्ग पाया । (स. य. इच्छेत् स्वर्यामि इति सः एतेन एकगुना अग्निष्टोमेन यजेत इति ब्राह्मणम्) जो चाहे कि मैं स्वर्ग पाने वाला होऊं वह इस एक वाणी [पाद] वाले अग्निष्टोम [स्वाहाकार] से यज्ञ करे—यह ब्राह्मण है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८ ॥

अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्यामः उद्धृत्यावदानानि, हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः, कण्ठः सकाकुदः प्रतिहर्त्तुः, श्येनं वक्ष[2] उद्गातुर्दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्य्योः, सव्यमुपगातॄणां, सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्दक्षिणा श्रोणिरथ्यास्त्री ब्रह्मणोऽवरसक्थं ब्राह्मणाच्छंसिनः, ऊरुः पोतुः, सव्या श्रोणिर्होतुरवरसक्थं मैत्रावरुणस्योरुरच्छावाकस्य, दक्षिणा दोर्नेष्टुः, सव्या सदस्यस्य, सदश्चानूकश्च गृहपतेर्जाघनी पत्न्यास्तां सा ब्राह्मणेन प्रतिग्राहयति, वनिष्टुर्हृदयं वृक्कौ चाङ्गुल्यानि दक्षिणो बाहुराग्नीध्रस्य, सव्य आत्रेयस्य, दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य, ·व्यौ पादौ गृहपत्न्या व्रतप्रदायाः, सहैवैनयोरोष्ठस्तं गृहपतिरेवानुशास्ति मणिकाश्च[3] स्कन्धास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्तिस्रश्चैव कीकसा अर्द्धश्चापानश्चोन्नेतुरत ऊर्द्ध्वं चमसाध्वर्यूणां क्लोमाः शमयितुः, शिरः सुब्रह्मण्यस्य, यश्च सुत्यामाह्वयते तस्य चर्म तथा खलु षट्त्रिंशत्सम्पद्यन्ते षट्त्रिंशदवदाना गौः

१७—(कारवः) कृवापाजिमि० (उ० १ । १) करोतेः—उण् । कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानाम्—निरु० ६ । ६ स्तोतारः (नाम) प्रसिद्धौ (ऋषयः) सूक्ष्मदर्शिनः (अल्पस्वाः) अल्पधनाः (इमम्) पूर्वोक्तं स्वाहाकारम् (एकगुम्) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (पा० १ । २ । ४८) गोशब्दस्य ह्रस्वः । गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । एकवाचम् । एकपादयुक्तम् (आहरन्) आनीतवन्तः (स्वः) स्वर्गलोकम् (ययुः) जग्मुः । प्रापुः ।

---

१. पू० सं० स्वर्यायीति पाठः ॥ २. पू० सं० पक्ष इति पाठः ॥
३. पू० सं० "मणिर्जाः" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

षट्त्रिंशदक्षरा बृहती, बार्हतो वै स्वर्गो लोकः बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोके यजन्ते, बृहत्या स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठन्ति, प्रतितिष्ठन्ति प्रजया पशुभिर्य एवं विभजन्ते । अथ यदतोऽन्यथाशीलिको वा पापकृतो वा हुतादो वाऽन्यजना वाऽपि मथ्नीरन्नेवमेवैषां पशुर्विमथितो भवत्यस्वर्ग्यो[1] देवता यो ह वा इमं[2] श्रुत ऋषिः पशोर्विभागं विदाञ्चकार, तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायाऽन्यो मनुष्येभ्यः प्रोवाच, ततोऽयमर्वाङ् मनुष्येष्वासीदिति ब्राह्मणम् ।। १८ ।।

कण्डिका १८ ।। पशुरूप वेदवाणी की सूक्ष्मता का विचार ।।

(अथ अतः सवनीयस्य पशोः अवदानानि उद्धृत्य विभागं व्याख्यास्यामः) अब यहां यज्ञ योग्य पशु के खण्डों को निकाल कर विभाग की हम व्याख्या करेंगे। (सजिह्वे हनू प्रस्तोतुः) जिह्वा सहित दोनों जाबड़े प्रस्तोता [ऋत्विज्] के हैं १, (सकाकुदः कण्ठः प्रतिहर्तुः) तालु सहित कण्ठ प्रतिहर्ता का है २, (श्येनं वक्षः उद्गातुः) श्येन पक्षी के आकार वाली छाती उद्गाता की है ३, (सांसं दक्षिणं पार्श्वम् अध्वर्योः) कन्धे सहित दाहिना पांजर अध्वर्यु का है ४, (सव्यम् उपगातृणाम्) बांयां [पांजर] उपगाताओं का है ५, (सव्यः अंसः प्रतिप्रस्थातुः) बांयां कन्धा प्रतिप्रस्थाता का है ६, (दक्षिणा श्रोणिः अथ्यास्त्री ब्रह्मणः) दाहिना कूल्हा अथ्यास्त्री [? ?] ब्रह्मा का है ७, (अवरसक्थं ब्राह्मणाच्छंसिनः) [दाहिनी] नीचे वाली पिंडली ब्राह्मणाच्छंसी की है ८, (ऊरुः पोतुः) जांघ पोता [ऋत्विज्] की है ९, (सव्या श्रोणिः होतुः) बांयां कूल्हा होता का है १०, (अवरसक्थं मैत्रावरुणस्य) [बायीं] नीचे वाली पिंडली मैत्रावरुण [प्राण और अपान वायु के जानने वाले ऋत्विज्] की है ११, (ऊरुः अच्छावाकस्य) [बायीं] जांघ अच्छावाक की है १२, (दक्षिणा दोः नेष्टुः) दाहिना भुजदण्ड नेष्टा का है १३, (सव्या सदस्यस्य) बांयां [भुजदण्ड] सदस्य का है १४, (सदं च अनूकं च गृहपतेः) पीठ का बांस [रीढ़] और मूत्र की थैली गृहपति की है १५, १६ (जाघनी पत्न्याः तां सा ब्राह्मणेन प्रतिग्राहयति) पूंछ पत्नी की है, उसको वह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] से स्वीकार कराती है १७, (वनिष्टुः हृदयं वृक्कौ च आङ्गुल्यानि दक्षिणः बाहुः आग्नीध्रस्य) वनिष्ठु [भीतरली मल की मोटी आंत], हृदय, दो अण्डकोश, अंगुलियों के जोड़ और दाहिनी भुजा आग्नीध्र की है १८, १९, २०, २१, २२, (सव्यः आत्रेयस्य) बायीं [भुजा] आत्रेय

१८—(सवनीयस्य) यज्ञीयस्य (उद्धृत्य) उत्+हृञ् हरणे—ल्यप् । उत्क्षिप्य (अवदानानि) खण्डनानि (श्येनम्) श्येनाकारम् (वक्षः) पचिवचिभ्यां सुट् च (उ० ४। २२०) वच व्यक्तायां वाचि—असुन्, सुट् च । उरः (पार्श्वम्) स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च (उ० ५। २७) स्पृश संस्पर्शने—श्वण् पृ इत्यादेशः । कक्षाधोभागः (श्रोणिः) वहिश्रिश्रुयुद्रु० (उ० ४। ५१) श्रु गतौ श्रुतौ च—निः । कटेः पश्चाद्भागः । नितम्बः । (अथ्यास्त्री) ? ? (अवरसक्थम्) असिसञ्जिभ्यां क्थिन्

---

१. पू० सं० 'स्वर्गो' इति पाठः ।। २. पू० सं० "इमां, इयम्" इति पाठः ।। सम्पा० ।।

[सदा ज्ञानी परमेश्वर के उपासक ऋत्विज्] की है २३, (दक्षिणौ पादौ गृहपतेः व्रतप्रदस्य) दोनों दाहिने पांव गृहपति के भोजन देने वाले के हैं २४, (सव्यौ पादौ गृहपत्न्याः व्रतप्रदायाः) दोनों बायें पांव गृहपत्नी के भोजन देने वाली के हैं २५, (ओष्ठः सह एव एनयोः तं गृहपतिः एव अनुशास्ति) ओंठ मिल करके ही इन दोनों [भोजन देने वाले या देने वाली] का है, उसको गृहपति ही बांटता है २६, (मणिकाः च स्कन्धाः तिस्रः कीकसाः च ग्रावस्तुतः) मणिका [अर्थात् मणि समान मांसखण्ड] और स्कन्धों के अवयव और तीन कीकसायें [हंसली की हड्डियां] ग्रावस्तोता [शास्त्र जताने वालों की स्तुति करने वाले] के हैं २७, २८, २९, (तिस्रः च एव कीकसाः अर्धं च अपानः च उन्नेतुः) तीनों ही कीकसायें और डेढ़ अपान [गुह्यस्थान उपस्थेन्द्रिय] उन्नेता के हैं ३०, ३१ ½, (अतः ऊर्द्ध्वं चमसा अध्वर्य्यूणाम्) उससे ऊपर वाला [आधा अपान] और चमसा [अङ्गविशेष] सब अध्वर्य्यु का है [३१ + ½] ३२, ३३, (क्लोमाः शमयितुः) क्लोम [फेफड़ों के अवयव] शमयिता [शान्तिकर्ता] के हैं ३४ (शिरः सुब्रह्मण्यस्य) शिर सुब्रह्मण्य का है ३५, (यः च सुत्याम् आह्वयते तस्य चर्म) और जो [ऋत्विज्] सुत्या [सोम निचोड़ने की क्रिया] को बुलाता है उसका चर्म है ३६ । (तथा खलु षट्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते) इस प्रकार से ही छत्तीस [भाग] बनते हैं । (षट्त्रिंशदवदाना गौः षट्त्रिंशदक्षरा बृहती) छत्तीस खण्ड वाली गौ है [और गौ के समान] छत्तीस अक्षर वाला बृहती छन्द [अर्थात् समस्त वेदवाणी] है । (बार्हतः वै स्वर्गः लोकः) बृहती [वेदवाणी] वाला ही स्वर्गलोक है । (बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोके यजन्ते) बृहती [वेदवाणी]

(उ० ३ । १५४) षञ्ज संगे—क्थिन् । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् (पा० ५ । ४ । ११३) समासान्तः षच् प्रत्ययः । तत्पुरुषेऽपि बाहुलकात् । दक्षिणजंघाधोभागः (मैत्रावरुणस्य) प्राणापानयोर्वेत्तुः । ऋत्विग्विशेषस्य (अच्छावाकस्य) वच परिभाषणे –घञ् । ऋत्विग्विशेषस्य (दोः) भुजदण्डः (सदम्) पृष्ठवंशः (अनूकम्) मूत्रवस्तिः (जाघनी) जघन—अण्, ङीप् । पुच्छम् । लाङ्गूलम् (प्रतिग्राहयर्ति) स्वीकारयति (वनिष्टुः[1]) वन सभक्तौ—इष्ठुप् । वनिष्ठुः । स्थूलान्तरम् (वृक्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् (उ० ३ । ४१) वृक आदाने–कक् । अण्डकोशौ (आत्रेयस्य) गो० पू० २ । १७ । सदाज्ञानवतः परमेश्वरस्य सेवकस्य ऋत्विग्विशेषस्य (व्रतप्रदस्य) भोजनदायिनः (व्रतप्रदायाः) भोजनदात्र्याः (अनुशास्ति विभज्य ददाति (मणिकाः) मणिसदृशमांसखण्डाः (ग्रावस्तुतः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा ३ । २ । ७५) ग्रह उपादाने, गॄ शब्दे, निगरणे वा—क्वनिप्, पृषोदरादिरूपम् । ष्टुञ् स्तुतौ—क्विप् । ग्रावाणां शास्त्रविज्ञापकानां स्तोतुः (अपानः) गुह्यस्थानम् । उपस्थेन्द्रियम् (कीकसाः) अत्यविचमि० (उ० ३ । ११७) कक लौल्ये—असच्, धातोः कीकादेशः । जत्रुवक्षोगतास्थीनि (चमसा)

---

१. यहाँ वनिष्ठुः या वनिष्टुः पाठ भ्रष्ट है तदनुसार व्युत्पत्ति भी व्यर्थ है । वस्तुतः ऋतन्यञ्जि० (उ० ४ । २) से वन धातु से इष्णुच् होकर वनतीति वनिष्णुः = अपानोपरिस्थानम् सिद्ध होगा ॥ सम्पा० ॥

के द्वारा देवता [विद्वान् लोग] स्वर्गलोक में पूजे जाते हैं। (बृहत्या स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठन्ति, प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठन्ति ये एवं विभजन्ते) बृहती [वेदवाणी] के द्वारा स्वर्गलोक में वे ठहरते हैं और प्रजा के साथ और पशुओं के साथ प्रतिष्ठा पाते हैं जो इस प्रकार बांट करते हैं। (अथ यत् अतः अन्यथाशीलिकः वा पापकृतः वा हुतादः वा अन्यजनाः वा अपि मथ्नीरन् एवम् एव एषां पशुः विमथितः अस्वर्ग्यः भवति) फिर जो इससे विरुद्ध शील वाले, अथवा पाप करने वाले, अथवा हवि खाने वाले, अथवा दूसरे मनुष्य ही मथैं [सूक्ष्म विचार करैं], इस प्रकार से इन सबका पशु [पशुरूप वेदज्ञान] विरुद्ध मथा हुआ और अस्वर्ग्य [नरक समान] होता है। (देवता यः ह वै श्रुतः ऋषिः पशोः इमं विभागं विदाञ्चकार, ताम् उ ह बाभ्रव्याय गिरिजाय, अन्यः मनुष्येभ्यः प्रोवाच, ततः अयम् अर्वाङ् मनुष्येषु आसीत् इति ब्राह्मणम्) उस देवता [विद्वान्] ने जिस श्रुत [वेदशास्त्र जानने वाले] ऋषि ने पशु के इस विभाग को जाना था, उस [विभाग] को बभ्रु [पालनकर्ता] के सन्तान गिरिज [ऋषि] को [बताया] और दूसरे [गिरिज ऋषि] ने मनुष्यों को बताया, उससे यह [विभाग] अर्वाचीन मनुष्यों में हुआ है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ १८ ॥

भावार्थः—यहां उपकारी गौ के ३६ अवयव मान कर ३६ अक्षर वाले बृहती छन्द से उपमा दिखाई है। बृहती वाणी को भी कहते हैं, इसलिये बृहती छन्द समस्त वेदवाणी का उपलक्षण है—अर्थात् मनुष्यों को चाहिये कि वेदवाणी के सब अङ्गों और उपाङ्गों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर आनन्द पावैं ॥ १८ ॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान (तुलना) ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १ से करो ॥

कण्डिका १९ ॥

अथातो दीक्षाः । कस्यस्विद्धेतोर्दीक्षित इत्याचक्षते, श्रेष्ठां धियं क्षियतीति, तं वा एतं [1]धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते, परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः, १ । कस्यस्विद्धेतोर्दीक्षितोऽप्रत्युत्थायिको भवत्यनभिवादुकः प्रत्युत्थेयोऽभिवाद्यो ये प्रत्युत्थेयाभिवाद्यास्त एनमाविष्टा भवन्ति २, अथर्वाङ्गिरसस्तस्य किमाथर्वणमिति, यदात्मन्येव जुह्वति न परस्मिन्नेवं ह्याथर्वणानाम[2]दनसमानामात्मन्येव जुह्वति न परस्मिन् ३, अथास्य किमाङ्गिरसमिति, यदात्मनश्च

अङ्गविशेषः (क्लोमाः) क्लुङ् गतौ—मन् । फुप्फुसावयवाः । हृदयपार्श्वस्थमांसखण्डाः (शमयितुः) शमु उपशमे—तृन् । शान्तिकरस्य (सुत्याम्) सोमाभिषवक्रियाम् (बृहती) षट्त्रिंशदक्षरच्छन्दोभेदः । वाक् । वेदवाणी (यजन्ते) इज्यन्ते । पूज्यन्ते । (अन्यथाशीलिकः) शीलम् (पा० ४ । ४ । ६१) अन्यथाशील—ठक् । विरुद्धस्वभावयुक्ताः । एकवचनमार्षम् (पापकृतः) पापकर्मकर्तारः (हुतादः) अदोऽनन्ने (पा० ३ । २ । ६८) हुत+अद भक्षणे—विट् । हुतभक्षकाः (मथ्नीरन्) मन्थ विलोडने—लिङ् । विलोडयेयुः (विमथितः) विरुद्धविलोडितः (श्रुतः) तत्त्वज्ञः । ऋषिविशेषः (बाभ्रव्याय) बभ्रुसंतानाय (अर्वाङ्) अर्वाचीनेषु ॥

१. पू० सं० 'दीक्षितं' इति पाठः ॥ २. पू०सं० ओदन इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

परेषां च नामानि न गृह्णन्त्येवं ह तस्मिन्नासादात्मनश्चैव परेषां च नामानि न गृह्यन्ते, विचक्षणवतीं वाचम्भाषन्ते चनसितवतीं विचक्षयन्ति, ब्राह्मणं चनसयन्ति प्राजापत्यं, सैषा व्रतधुगथर्वाङ्गिरसस्तां ह्यन्वायत्ताः ४, कस्यस्विद्धेतोर्दीक्षितो नाश्यन्नो भवति नास्य नाम गृह्णन्त्यन्नस्थो नामस्यो भवतीत्याहुस्तस्य येऽन्नमदन्ति तेऽस्य पाप्मानमदन्त्यथास्य ये नाम गृह्णन्ति तेऽस्य नाम्नः पाप्मानमपाघ्नते ५, अथापि वेदानां गर्भभूतो भवतीत्याहुस्तस्याजातस्याविज्ञातस्याक्रीतसोमस्याभोजनीयं भवतीत्याहुः । स दीक्षाणां प्रातर्जायते सोमं क्रीणन्ति तस्य जातस्य विज्ञातस्य क्रीतसोमस्य भोजनीयं भवतीत्याहुः ६ । कस्यस्विद्धेतोः संसवाः[1] परिजिहीर्षिता भवन्ति यतरो वीर्य्यवत्तरो[2] भवति स परस्य यज्ञं परिमुष्णाति ७ । कस्यस्विद्धेतो-र्दैवे न ध्यायेत् संस्थिते नाधीयी[3]तेति संसवस्यैव हेतोरिति विद्योतमाने स्तनयत्यथो वर्षति वायव्यमभिषुण्वन्ति वै देवाः सोमञ्च भक्षयन्ति तदभिषुण्वन्ति ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्तेषां सर्वरसभक्षाः पितृपितामहा भवन्ति, स दैवे न ध्यायेत् संस्थिते नाधीयीतेति ब्राह्मणम् । ८ ।। १९ ।।

कण्डिका १९ ।। दीक्षित पुरुष के कर्तव्य और अकर्तव्य कर्म ।।

(अथ अतः दीक्षाः) अब यहाँ दीक्षायें [कही जाती हैं]। (कस्यस्वित् हेतोः दीक्षितः इति आचक्षते) किस हेतु से यह दीक्षित [नियम धारण करने वाला] है, ऐसा कहते हैं। (श्रेष्ठां धियं क्षियति इति, तं वै एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इति आचक्षते) [उत्तर] श्रेष्ठ [धी] बुद्धि को [क्षियति] प्राप्त होता है, उस ही धीक्षित होते हुये को दीक्षित ऐसा कहते हैं। (परोक्षेण) परोक्ष [आँख ओट प्रलय में वर्तमान ब्रह्म] के द्वारा (परोक्षप्रियाः इव हि) परोक्षप्रिय [आँख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष [वर्तमान अवस्था] के द्वेषी [विरोधी] (भवन्ति) होते हैं [गो० ब्रा० पू० १ । १] १। (कस्यस्वित् हेतोः दीक्षितः अप्रत्युत्थायिकः अनभिवादुकः प्रत्युत्थेयः अभिवाद्यः भवति) किस कारण से दीक्षित पुरुष बड़ों के लिये न उठने वाला और न नमस्कार करने वाला, [किन्तु] बड़ों से उठकर आदर योग्य और नमस्कार योग्य

१९—(दीक्षाः) दीक्ष मौण्ड्ये, यागे, उपनयने, नियमव्रतयोरादेशे च—अ, टाप्। अभीष्टप्रदमन्त्रग्रहणानि (कस्यस्वित् हेतोः) सर्वनाम्नस्तृतीया च (पा० २ । ३ । २७) इति षष्ठी। कस्मादेव कारणात् (दीक्षितः) दीक्ष मौण्ड्या-दिषु—क्तः। अथवा। तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (पा० ५ । २ । ३६) दीक्षा-इतच्। प्राप्तदीक्षः। सोमयागादौ संकल्पं विधाय धृतनियमः (धियम्) बुद्धिम् (क्षियति) गच्छति, प्राप्नोति (धीक्षितम्) दीक्षितम्, धस्य दः। प्राप्तबुद्धिम् (अप्रत्यु-त्थायिकः) अप्रति + उत् + ष्ठा गतिनिवृत्तौ। जनेर्यक् (उ० ४ । १११) इति यक्,

---

१. पू. सं. 'संसवा' इति पाठः ।। २. पू. सं. 'वीर्यवत्तमः' इति पाठः ।।
३. पू. सं. नाधीयेत इति पाठः ।। सम्पा० ।।

होता है। (ये प्रत्युत्थेयाभिवाद्याः ते एनम् आविष्टाः भवन्ति २) [उत्तर] जो पुरुष उठकर आदर योग्य और नमस्कार योग्य होते हैं वे [उनके गुण] इसमें प्रविष्ट हो जाते हैं २। (अथर्वाङ्गिरसः तस्य किम् आथर्वणाम् इति) निश्चल ब्रह्म के जानने वाले और वेद विज्ञान रखने वाले उस [दीक्षित] का क्या अथर्वपन [निश्चल ब्रह्म का ज्ञान] है। (यत् आत्मनि एव जुह्वति न परस्मिन्, एवं ह अदनसमानाम् आथर्वणानाम् आत्मनि एव जुह्वति [जुहोति] न परस्मिन् ३) [उत्तर] क्योंकि आत्मा में ही वे [विद्वान्] होम करते हैं, न दूसरे [अग्नि] में, ऐसे ही एक से हवि रखने वाले निश्चल ब्रह्मज्ञानियों के मध्य वह [दीक्षित] आत्मा में ही होम करता है न दूसरे [अग्नि] में [यह अथर्वपन है] ३। (अथ अस्य किम् आङ्गिरसम् इति) फिर इस [दीक्षित] का क्या आङ्गिरस [वेदज्ञान का भाव] है। (यत् आत्मनः च परेषां च नामानि न गृह्णाति [गृह्णन्ति] एवं ह तस्मिन् [1]आसात् आत्मनः च एव परेषां च नामानि न गृह्यन्ते) [उत्तर] क्योंकि वे [विद्वान्] अपने और दूसरों के नाम नहीं लेते हैं, ऐसे ही उस [यज्ञ] में आसन पर से अपने और दूसरों के नाम [उस दीक्षित करके] नहीं लिए जाते हैं, (विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते [भाषते] चनमितवतीं विचक्षयन्ति [विचक्षयन्ति] प्राजापत्यं ब्राह्मणं चनसयन्ति) वह [दीक्षित] विचक्षण [विविधदर्शी] शब्दवाली वाणी बोलता है, और चनसित [पूजनीय] शब्द वाली कहता है, और प्रजापति देवता वाले ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] को चनसित [पूजनीय] शब्द वाली वाणी बोलता है [क्षत्रिय और वैश्य को विचक्षण वाली वाणी बोलता है, जैसे देवदत्त चनसित! वीरेन्द्र विचक्षण! धनपाल विचक्षण—गो० ब्रा० उ० २। २३]। (सा एषा व्रतधुक्, अथर्वाङ्गिरसः तां हि अन्वायत्ताः ४) यह [वाणी] व्रत पूर्ण करने वाली होती है, निश्चल ब्रह्मज्ञानी और वेदज्ञान वाले पुरुष उसके आधीन होते हैं ४। (कस्यस्विद् हेतोः दीक्षितः आश्यन्नः न भवति. अस्य नाम न गृह्णन्ति अन्नस्थः नामस्थः भवति इति आहुः) किस कारण से ही दीक्षित पुरुष अन्न खिलाने वाला नहीं होता है और न इसका नाम लोग लेते हैं, वह [दीक्षित] अन्न वाला और नाम वाला

ततः ठक्। सम्मानार्थम् आसनात् अनुत्थितः (अनभिवादुकः) अनभिवादनकर्ता (आविष्टाः) प्रविष्टाः (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्वणः निश्चलब्रह्मविदः, अङ्गिरसो वेद-विज्ञानयुक्तस्य (आथर्वणम्) अथर्वभावः (जुह्वति) होमं कुर्वन्ति (आथर्वणानाम्) निश्चलब्रह्मज्ञानिनाम् (अदनसमानाम्) समानहविष्कानाम् (आङ्गिरसम्) अङ्गि-रोभावम् (विचक्षणवतीम्) विचक्षणशब्दयुक्ताम्। विचक्षणः। वि+चक्षिङ् कथने दर्शने च—युच्। विविधं द्रष्टा (चनसितवतीम्) चनसितशब्दयुक्ताम्। चायतेरन्ने ह्रस्वश्च (उ० ४। २००) चायृ पूजादौ—असुन्, नुट् च। इति चनस्। चनस्शब्दे नामधातौ कृते—क्तः। इति चनसितशब्दः (चनसयन्ति) चनसित-शब्दयुक्तां वाचं कथयति (व्रतधुक्) व्रतस्य नियमस्य दोग्ध्री पूरयित्री (न) निषेधे (आश्यन्नः) अश भोजने—ण्यत्, आर्षो ह्रस्वः। आश्यान्नः। आश्यं

---

१. यहाँ आसनात् पाठ युक्त है ॥ सम्पा० ॥

होता है, ऐसा कहते हैं। (ये तस्य अन्नम् अदन्ति ते अस्य पाप्मानम् अदन्ति, अथ ये अस्य नाम गृह्णन्ति ते अस्य नाम्नः पाप्मानम् अपाघ्नते ५) जो पुरुष उसका अन्न खाते हैं वे उसका पाप [न खाने योग्य भोजन] खाते हैं और जो इसका नाम लेते हैं वे इसके नाम का पाप मिटाते हैं [उसके नाम को निष्पाप और बड़ा समझते हैं] ५। (अथ अपि वेदानां गर्भभूतः भवति इति आहुः, तस्य अजातस्य अविज्ञातस्य अक्रीतसोमस्य अभोजनीयं भवति इति आहुः) फिर वह [दीक्षित] वेदों का गर्भभूत [आधार] होता है ऐसा कहते हैं, उस न उत्पन्न हुये, न जाने गये, और सोम न मोल लेने वाले [दीक्षित] का अभोजनीय [अन्न] होता है। (सः दीक्षाणां प्रातः जायते सोमं क्रीणन्ति [क्रीणाति] तस्य जातस्य विज्ञातस्य क्रीतसोमस्य भोजनीयं भवति इति आहुः ६) [उत्तर] वह दीक्षाओं के मध्य प्रातःकाल उत्पन्न होता है, सोम मोल लेता है, उस उत्पन्न हुये, जाने हुये, सोम मोल ले चुके हुये [दीक्षित] का भोजनीय [अन्न] होता है, ऐसा कहते हैं ६। (कस्यस्वित् हेतोः संसवाः परिजिहीर्षिताः भवन्ति)— किस कारण से ही संसव [दो वा बहुत यजमानों के मिलकर सोम निचोड़ने के यज्ञ] छोड़ने योग्य होते हैं। (यतरः वीर्य्यवत्तरः भवति सः परस्य यज्ञं परिमुष्णाति ७) [उत्तर] उनमें जो कोई अधिक बलवान् होता है वह दूसरे के यज्ञ को लूट लेता है [इससे यज्ञों के बीच में नदी वा पहाड़ का अन्तर रहे] ७। (कस्यस्वित् हेतोः दैवे न ध्यायेत् संस्थिते न अधीयीत इति संसवस्य एव हेतोः इति) किस कारण से ही दैव [मेघ] सम्बंधी कर्म में न चिन्ता करे, और संसव दोष [दो यज्ञों में गड़बड़ पड़ जाने] के कारण से संस्थित [समाप्त यज्ञ] में न मन्त्र पढ़े। (विद्योतमाने स्तनयति अथो वर्षति वायव्यं सोमं च वै देवाः अभिषुण्वन्ति भक्षयन्ति, तत् शुश्रुवांसः अनूचानाः ब्राह्मणाः [सोमं अभिषुण्वन्ति] तेषां पितृपितामहाः सर्वरसभक्षाः भवन्ति, सः दैवे न ध्यायेत् संस्थिते न अधीयीत इति ब्राह्मणम् ८)—[उत्तर] बिजुली चमकते हुये, गरजते हुये और बरसते हुये पर वायु देवता वाले सोम [जल] को देव [मेघ] निचोड़ते हैं और खाते हैं इसलिये वेद सुने हुये और अङ्गों सहित वेद विचारने वाले ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी सोम को] निचोड़ते हैं, उनके मध्य पितर और पितामह [बाप और दादे के

भोजनीयमन्नं यस्मात् सः। अन्नस्य भोजयिता। यद्वा अश भोजने-णिनिः। वाहिताग्न्यादिषु (पा० २।२।३७) इति आशीशब्दस्य पूर्वप्रयोगः। अन्नाशी। अन्नभक्षकः (संसवाः) द्वयोर्बहूनां वा यजमानानां सम्भूय सोमाभिषवाः, ते च महान्तो दोषाः (परिजिहीर्षिताः) परिहर्तुमभिकांक्षिताः (यतरः) अनयोर्मध्ये यः (परिमुष्णाति) परिलुण्ठति (दैवे) दैवो मेघः। मेघसम्बन्धिनि कर्मणि (संस्थिते) समाप्तयज्ञे (विद्योतमाने) विद्युत्प्रकाशमाने मेघे (स्तनयति) स्तन मेघशब्दे--शतृः। मेघशब्दं कुर्वति (वायव्यम्) वायुदेवताकं सोमम् (देवाः) मेघाः। विद्वांसः (सोमम्) जलरसम्। सोमलतारसम् (शुश्रुवांसः) श्रु श्रवणे-क्वसुः। वेद श्रुतवन्तः (अनूचानाः) अनु+वच परिभाषणे--कानच्। साङ्गवेदविचक्षणाः (पितृपितामहाः) पितरश्च पितामहाश्च। तत्समानपूज्याः विद्वांसः॥

समान आदर योग्य विद्वान्] सम्पूर्ण रस खाने वाले होते हैं, [इसलिये] वह दैव [मेघ सम्बंधी कर्म] में न चिन्ता करे और न संस्थित [समाप्त यज्ञ] में मन्त्र पढ़े, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है । ८ ॥ १९ ॥

भावार्थः—दीक्षित यजमान ऐसा प्रयत्न करे कि सब विघ्नों को हटाकर उसका यज्ञ निर्विघ्न पूरा होवे ॥ १९ ॥

विशेषः—विचक्षणवती वाणी और चनसितवती वाणी के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण १ । ६ और उस पर सायण भाष्य तथा आगे गो० ब्रा० उ० २ । २३ को देखो ॥

कण्डिका २० ॥

समावृत्ता आचार्य्या निषेदुस्तान् ह यज्ञो दीक्षिष्यमाणानां ब्राह्मणरूपं कृत्वोपोदेयायेत्थञ्चेद्धोपसमवत्सुर्हन्त वोऽहं मध्ये दीक्षा इति, त ऊचुर्नैव त्वा विद्मः न जानीमः को हीदविज्ञायमानेन सह दीक्षिष्यतीति[1], यन्विदं दीक्षिष्यध्वे भूयो न दीक्षिष्यध्वेऽथ वा उ एकं दीक्षयिष्यथ सं वै तर्हि मोहिष्यथ मोहिष्यति वो यज्ञः सर्वे ते दीक्षयिष्यथेत्यथ वा उ एकं दीक्षयिष्यथ ते वा अहीनर्त्विजो गृहपतयो भविष्यथ, ते तूष्णीं ध्यायन्त आसाञ्चक्रिरे, सहोवाच किन्नु तूष्णीमाध्वे भूयो वः पृच्छामः पृच्छतेति यन्विदं दीक्षिष्यध्व उपयेम एतस्मिन् संवत्सरे मिथुनं चरिष्यथ नोपैष्यथेति[2] धिगिति होचुः, कथं नु दीक्षिता उपैष्यामो[2] नोपैष्यामहा[2] इति, ते वै ब्राह्मणानामभिमन्दारो भविष्यथ रेतो ह वो य एतस्मिन् संवत्सरे ब्राह्मणास्तदभविष्यंस्ते[3] बोधिमता भविष्यथेत्यथ वा उपेष्यामो नोपेष्यामहा इति, ते वै दीक्षिता अवकीर्णिनो भविष्यथ न ह वै देवयानः पन्थाः प्रादुर्भविष्यति तिरो वो देवयानः पन्था भविष्यतीति, ते वयं भगवन्तमेवोपधावाम यथा स्वस्ति संवत्सरस्योदृचं समश्नवामहा इति ब्राह्मणम् ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ दीक्षा विषयक प्रश्नोत्तर ॥

(समावृत्ताः आचार्य्याः निषेदुः) समावर्त्तन संस्कार किये हुये आचार्य लोग बैठे (दीक्षिष्यमाणानां यज्ञः ब्राह्मणरूपं कृत्वा तान् ह उपोदेयाय, इत्थं च इत् ह उपसमवत्सुः) उन दीक्षा चाहने वालों में यज्ञ ब्राह्मण रूप करके उनके पास आया और इस प्रकार से ही यथाविधि ठहरा (हन्त अहं मध्ये वः दीक्षै इति) हे पुरुषों ! मैं मध्य में

२०—(समावृत्ताः) कृतसमावर्तनसंस्काराः (आचार्य्याः) वेदाध्यापयितारः (दीक्षिष्यमाणानाम्) दीक्षितुमिच्छतां मध्ये (उपोदेयाय) उप + उत् + आ + इण् गतौ—लिट् । समीपे आजगाम (इत्थम्) अनेन प्रकारेण (इत् ह) अवश्यमेव (उपसमवत्सुः) उप + सम् + वस निवासे + लुङ्, बहुवचनं ह्रस्वत्वं चार्षम् ।

---

१. पू. सं. 'दीक्षिष्यसि' इति पाठः ॥
२. पू. सं. उपेष्यथ, उपेष्यामः, उपेष्यामहै इति पाठः ॥
३. पू. सं. तद्भविष्यन् इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

[बैठ कर] तुम्हें दीक्षा दूं । (ते ऊचुः न एव त्वा विद्मः न जानीमः कः हि इत् अविज्ञायमानेन सह दीक्षिष्यति इति) वे बोले, न तो तुझको हम जानते हैं, न पहचानते हैं कौन अनजाने के साथ दीक्षा लेगा । (यत् नु इदं दीक्षिष्यध्वे भूयः न दीक्षिष्यध्वे) [ब्राह्मण बोला] जो अब तुम दीक्षा लोगे, फिर तुम न दीक्षा लोगे । (अथ वै उ एकं दीक्षयिष्यथ) [ब० व०] [आचार्य बोले] तो एक को ही तुम दीक्षा दो । (तर्हि वै संमोहिष्यथ वः यज्ञः मोहिष्यति, सर्वे ते दीक्षयिष्यथ इति) [ब्राह्मण बोला] तब [एक दीक्षित होने पर] तुम बेसुध हो जाओगे, तुम्हारा यज्ञ बेसुध हो जायगा, सो तुम सब दीक्षा लोगे । (अथ वै उ एकं दीक्षयिष्यथ ते वै गृहपतयः अहीनर्त्विजः भविष्यथ) [—ष्यन्ति] फिर तुम एक को ही दीक्षा दो, वे सब गृहपति ऋत्विज् वाले हो जायेंगे । (ते तूष्णीं ध्यायन्तः आसाञ्चक्रिरे) वे चुप चाप ध्यान करते हुये बैठ गये । (सः ह उवाच किं नु तूष्णीम् आध्वे) वह बोला—क्यों तुम चुपचाप बैठते हो । (भूयः व पृच्छामः) [वे बोले] फिर हम तुम से पूंछते हैं । (पृच्छत इति) [ब्राह्मण बोला] पूंछो । (यत् नु इदं दीक्षिष्यध्वे) [आचार्य बोले] अब तुम [एक को] दीक्षा दो । (उपयेमः एतस्मिन् संवत्सरे मिथुन चरिष्यथ) [ब्राह्मण बोला] हम समीप आते हैं, इसी संवत्सर [वर्ष] में मिथुन [मेधा वा धारणावती बुद्धि] प्राप्त करोगे । (न उपैष्यथ इति धिक् इति) क्या तुम समीप न आओगे, धिक्कार है । (ह ऊचुः कथं नु दीक्षिताः उपैष्यामः) वे बोले – कैसे दीक्षित होकर हम पास आवें, (न उपैष्यामहै इति) क्या हम पास न आवें । (ते वै ब्राह्मणानाम् अभिमन्दारः भविष्यथ) [ब्राह्मण बोले] वे ही [दीक्षित पुरुष] ब्राह्मणों में सब ओर से स्तुति करने वाले [वा स्तुति योग्य] होंगे, (ये ब्राह्मणाः एतस्मिन् संवत्सरे वः रेतः ह तद् अभविष्यन् ते बोधिमताः भविष्यथ इति) जो ब्राह्मण तुम्हारे बीच इस वर्ष उस प्रकार से सामर्थ्य पावेंगे, वे ज्ञान से सन्मानित होंगे । (अथ वै उपेष्यामः, न उपेष्यामहै इति) [आचार्य बोले] अब हम पास आवें, क्या हम पास न आवें, (ते वै दीक्षिताः अवकीर्णिनः भविष्यथ [भविष्यन्ति] देवयानः पन्थाः न ह वै प्रादुर्भविष्यति, वः देवयानः पन्था तिरः भविष्यति इति) [ब्राह्मण

अवात्सुः । अवात्सीत् । सम्यक् निवसितवान् (वः) युष्मान् (दीक्षै) दीक्षितान् करवाणि (दीक्षिष्यति) दीक्षां प्राप्स्यति (दीक्षयिष्यथ) दीक्षितं कुरुत (मोहिष्यथ) मुग्धा भविष्यथ (अहीन-ऋत्विज) ऋत्विग्भिः सह वर्तमानाः (आध्वे) आस उपवेशने—लट् । उपविशथ (उपयेमः) उपयामः । उपेमः (मिथुनम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् (उ० ३ । ५५) मिथृ मेधाहिंसनयोः—उनन् कित् । मेधाम् । संयोगम् (चरिष्यथ) प्राप्स्यथ (अभिमंदारः) अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन् (उ० ३ । १३४) मदि स्तुतौ—आरन् । सर्वतः स्तोतारः स्तुत्याः वा (रेतः) सामर्थ्यम् (बोधिमताः) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) बुध ज्ञाने—इन् + मन पूजायां ज्ञाने च—क्तः । बोधेन पूजिताः (अवकीर्णिनः) कॄ—विक्षेपे—क्तः । धर्मभ्रष्टाः (देवयानः) देवगमनयोग्यः (उदृचम्) उत् उत्तमां समाप्तिविषयाम् ऋचम् (समश्नवामहै) सम्यक् प्राप्नुयाम ॥

बोला] सो तुम [अन्यथा] दीक्षित होकर धर्म भ्रष्ट हो जाओगे, विद्वानों के चलने योग्य मार्ग कभी प्रकट न होगा, तुम्हारे लिये विद्वानों के चलने योग्य मार्ग गुप्त हो जायगा। (ते वयं भगवन्तम् एव उपधावाम, यथा स्वस्ति संवत्सरस्य उदृचं समश्नवामहै, इति ब्राह्मणम्) [आचार्य बोले] सो हम आप भगवान् [श्रीमान] के ही पास आवें, जिससे कल्याण के साथ संवत्सर [यज्ञ] की समाप्ति वाली ऋचा को हम प्राप्त करें, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २० ॥

भावार्थः—सब ऋत्विज् लोग दीक्षादि लेकर अपना अपना कर्तव्य कर्म करें जिससे यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होवे ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

स होवाच, द्वादश ह वै वसूनि दीक्षितादुत्क्रामन्ति, न ह वै दीक्षितोऽग्निहोत्रं जुहुयात्, न पौर्णमासेन यज्ञेन यजेत, नामावास्येनास्मिन्वसीत, न पितृयज्ञेन यजेत, न तत्र गच्छेद्यत्र मनसा जिगमिषेन्नेष्ट्या यजेत, न वाचा यथाकथाचिदभिभाषेत, न मिथुनं चरेत् नान्यस्य यथाकाममुपयुञ्जीत, न पशुबन्धेन यज्ञेन यजेत, न तत्र गच्छेद्यत्र चक्षुषा परापश्येत्, कृष्णाजिनं वसीत, कुरीरन्धारयेन्मुष्टीकुर्य्यादङ्गुष्ठप्रभृतयस्तिस्र उच्छ्रयेत्, मृगशृङ्गं गृह्णीयात्तेन कषेताथ यस्य दीक्षितस्य वाग्वायता स्यान् मुष्टी वा विसृष्टौ स एतानि जपेत् ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ दीक्षित पुरुष के कर्तव्य कर्म और भूल में प्रायश्चित्त ॥

(सः ह उवाच) वह [ब्राह्मण--क० २०] बोला--(द्वादश ह वै वसूनि दीक्षितात् उत्क्रामन्ति) बारह उत्तम कर्म [क० २२] दीक्षित [संकल्प करके नियम धारण करने वाले] से उन्नति पाते हैं। (दीक्षितः अग्निहोत्रं न ह वै जुहुयात्) दीक्षित पुरुष अग्निहोत्र को अब अवश्य ही करे १, (न[1] पौर्णमासेन यज्ञेन यजेत) अब पौर्णमासी के यज्ञ से होम करे २, (न अमावास्येन अस्मिन् वसीत) अब अमावस्या के यज्ञ से इस [यज्ञशाला] में निवास करे ३, (न पितृयज्ञेन यजेत) अब पितृयज्ञ से होम करे ४, (न तत्र गच्छेत् यत्र मनसा जिगमिषेत्) अब वहां

२१—(द्वादश) द्वादशसंख्यायुक्तानि - क० २२ (वसूनि) उत्तमानि कर्माणि (दीक्षितात्) संकल्पं विधाय धृतनियमात् (उत्क्रामन्ति) उन्नतानि गच्छन्ति (न) सम्प्रति--निरु० ७ । ३१ (वसीत) वसेत (जिगमिषेत्) गन्तुमिच्छेत् (इष्टया) । यज्ञविशेषेण । यथा पुत्रेष्टया नवशस्येष्टया, सवत्सरेष्टया

---

१. इस कण्डिका के उपवाक्यों में बहुत बार "न" का प्रयोग हुआ है, जिसका भाष्यकार ने निषेधार्थक अर्थ न करके सर्वत्र विधिमूलक अर्थ किया है, जो कि आश्चर्यजनक है। वस्तुतः यहाँ कुछ उपवाक्यों में 'न' की निषेधार्थक सङ्गति है, तद्यथा "न वाचा यथाकथञ्चिदभिभाषेत" किन्तु "न पौर्णमासेन यजेत" आदि वाक्यों में विधिमूलक अर्थ ही अभिप्रेत है, सो 'न' का प्रयोग इस प्रकार के वाक्यों में अपपाठ रूप ही प्रतीत होता है ॥ सम्पा० ॥

जावे जहां मन से जाना चाहे ५, (न इष्ट्या यजेत) अब इष्टि [जैसे पुत्रेष्टि, नवशस्येष्टि, संवत्सरेष्टि] से यज्ञ करे ६, (न वाचा यथाकथाचित् अभिभाषेत) अब वाणी से किसी ही [उचित] प्रकार बातचीत करे ७, (न मिथुनं चरेत्) अब मिथुन [मेधा, धारणावती बुद्धि] का अनुष्ठान करे ८ (न अन्यस्य यथाकामम् उपयुञ्जीत) अब दूसरे से अपनी इच्छा के अनुसार ही मिले ९, (न पशुबन्धेन यज्ञेन यजेत) अब पशु के बन्धन वाले यज्ञ से यज्ञ करे १०, (न तत्र गच्छेत् यत्र चक्षुषा परापश्येत्) अब वहां जावे जहां नेत्र से दूर तक देखे ११। (कृष्णाजिनं वसीत) काली मृगछाला पहिने १२, (कुरीरं धारयेत्) केश रखावे १३, (मुष्टी कुर्यात्) दोनों मुट्ठी बांधे १४, (अङ्गुष्ठप्रभृतयः तिस्रः उच्छ्रयेत्) अंगूठा आदि तीन [अंगुलियों] को ऊंचा रक्खे १५, (मृगशृङ्गं गृह्णीयात् तेन कषेत) हरिण के सींग को लिये रहे, उससे खुजावे १६। (अथ यस्य दीक्षितस्य वाक् वा अयता स्यात् मुष्टी वा विसृष्टौ, सः एतानि जपेत्) जिस दीक्षित पुरुष की वाणी बेनियम हो जावे अथवा दोनों मुट्ठी खुल जावें, वह इन [वाक्यों] को जपे [कण्डिका २२]॥ २१ ॥

कण्डिका २२ ॥

अग्निहोत्रश्च मा पौर्णमासश्च यज्ञः पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुभौ कामप्रौ भूत्वा क्षित्या सहाविशतां, वसतिश्च माऽमावास्यश्च यज्ञः पश्चात् प्राञ्चमुभाविति समानं, मनश्च मा पितृयज्ञश्च यज्ञो दक्षिणत उदञ्चमुभाविति समानं, वाक् च मेष्टिश्चोत्तरतो दक्षिणाञ्चमुभाविति समानं, रेतश्च माऽन्नं चेत ऊर्ध्वमुभाविति समानम्। चक्षुश्च मा पशुबन्धश्च यज्ञोऽमुतोर्वाञ्चमुभौ कामप्रौ भूत्वा क्षित्या सहाविशतामिति। खलु ह वै दीक्षितो य आत्मनि वसूनि धत्ते न चैवास्य काचनार्त्तिर्भवति, न च यज्ञविष्कन्धमुपयःत्यपहन्ति पुनर्मृत्युमपात्येति पुनराजातिं, कामचारोऽस्य सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद, यश्चैवं विद्वान् दीक्षामुपैतीति ब्राह्मणम् ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ दीक्षित की भूल के प्रायश्चित्त ॥

(अग्निहोत्रं च पौर्णमासः च यज्ञः पुरस्तात् प्रत्यञ्चं मा उभौ कामप्रौ भूत्वा क्षित्या सह आविशताम्) [प्रायश्चित्त के जपने योग्य वाक्य यह हैं—कं० २१]

(यथाकथाचित्) येन केन प्रकारेणापि (मिथुनम्) क० २०। मेधाम्। संयोगम् (चरेत्) प्राप्नुयात् (यथाकामम्) स्वेच्छाचारेण (परापश्येत्) दूरमवलोकयेत् (कृष्णाजिनम्) कृष्णसारमृगचर्म (वसीत) आच्छादयेत् (कुरीरम्) कृञ उच्च (उ० ४। ३३) डुकृञ् करणे—ईरन्, ऋकारस्य उर्। केशम् (उच्छ्रयेत्) ऊर्ध्वं धारयेत् (अयता) नञ्+यम उपरमे—क्तः। अनियमिता। अवशीभूता (विसृष्टौ) वियुक्तौ (एतानि) वक्ष्यमाणानि वाक्यानि ॥

२२—(पुरस्तात्) पूर्वदेशात् (प्रत्यञ्चम्) पश्चिमदेशं गच्छन्तम् (कामप्रौ) इष्टपूरकौ (क्षित्या) क्षि क्षये हिंसागतिनिवासेषु च—क्तिन्, क्षयति

अग्निहोत्र १ और पौर्णमासी का यज्ञ २ पूर्व से पश्चिम को जाते हुये मुझमें दोनों कामनापूरक होकर ऐश्वर्य्य के साथ प्रवेश करें १, (वसतिः च अमावास्यः च यज्ञः पश्चात् प्राञ्च मा उभौ--इति समानम्) रात्रि ३ और अमावास्या का यज्ञ ४ पश्चिम से पूर्व को जाते हुये मुझमें दोनों-आगे वैसे ही २, (मनः च पितृयज्ञः च यज्ञः दक्षिणतः उदञ्चं मा उभौ-इति समानम्) मन ५ और पितृयज्ञ वाला यज्ञ ६ दक्षिण से उत्तर जाते हुये मुझमें दोनों-आगे वैसे ही ३, (वाक् च इष्टिः च उत्तरतः दक्षिणाञ्चं मा उभौ-इति समानम्) वाणी ७ और इष्टि [पुत्रेष्टि इत्यादि] ८ उत्तर से दक्षिण जाते हुये मुझमें दोनों—आगे वैसे ही ४, (रेतः च अन्नं च इतः ऊर्द्ध्वं मा उभौ-इति समानम्) वीर्य ९ और अन्न १० यहां से ऊपर जाते हुये [विमान आदि से जाते हुये] मुझमें दोनों—आगे वैसे ही ५, (चक्षुः च पशुबन्धः च यज्ञः अमुतः अर्वाञ्चं मा उभौ कामप्रौ भूत्वा क्षित्या सह आविशताम् इति) नेत्र ११ और पशुओं के बन्धन वाला यज्ञ १२ यहां से [नौका आदि द्वारा] नीचे जाते हुये मुझमें दोनों कामनापूरक होकर ऐश्वर्य के साथ प्रवेश करें ६ । (खलु ह वै यः दीक्षितः आत्मनि वसूनि धत्ते अस्य काचन आर्तिः न च एव भवति न च यज्ञविष्कन्धम् उपयाति पुनः मृत्युम् अपहन्ति पुनः आजातिम् अपात्येति) निश्चय करके जो दीक्षित पुरुष अपने में [इन बारह] उत्तम कर्मों को धारण करता है, उसको निश्चय करके कोई पीड़ा नहीं होती और न यज्ञ के पतन को वह पाता है, फिर वह मृत्यु को हटा देता है और फिर वह अल्प जीवन को लांघ जाता है । (अस्य कामचारः सर्वेषु लोकेषु भाति यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् दीक्षाम् उपैति इति ब्राह्मणम्) उस [मनुष्य] का अपनी इच्छा से विचरना सब लोकों में प्रकाशित होता है जो व्यापक ब्रह्म को जानता है और जो व्यापक ब्रह्म को जानने वाला दीक्षा पाता है [देखो गो० पू० १ । १५]—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २२ ॥

भावार्थः—सत्यसंकल्पी दीक्षित के सब मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३ ॥

अथ यस्य दीक्षितस्यर्तुमती जाया स्यात् प्रतिस्नावा प्रतिस्नावा सारूपवत्साया गोः पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽभिघार्य्योद्वास्योद्धृत्याभिहिङ्कृत्य गर्भवेदनपुंसवनैः सम्पातवन्तं कृत्वा तं परैव प्राश्नीयाद्रेतो वा अन्नं वृषा हिङ्कार एवं हीश्वराय दीक्षिताय दीक्षिता जाया पुत्रं लभेतेत्येतेनैव प्रक्रमेण यजेतेति ब्राह्मणम् ॥ २३ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणपूर्वभागे तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

ऐश्वर्य्यकर्मा—निघ० २ । २१ । विभूत्या । ऐश्वर्य्येण (आविशताम्) प्रविशताम् । प्राप्नुताम् (वसतिः) वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् (उ० ४ । ६०) वस निवासे—अतिः । रात्रिः । गृहम् (पश्चात्) पश्चिमदेशात् (प्राञ्चम्) पूर्वदेशं गच्छन्तम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (अमुतः) अदस्—तसिल् । अस्मात् स्थानात् (अर्वाञ्चम्) अधोगच्छन्तम् (आर्तिः) पीडा । अन्यद् गतम्—गो० पू० १ । १५ ।

कण्डिका २३ ॥ पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान ॥

(अथ यस्य दीक्षितस्य ऋतुमती प्रतिस्नावा जाया स्यात् प्रतिस्नावा सरूपवत्सायाः गोः पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा अभिघार्य उद्वास्य उद्धृत्य अभिहिंकृत्य गर्भवेदनपुंसवनैः सम्पातवन्तं कृत्वा तं परा एव प्राश्नीयात्) फिर जिस दीक्षित पुरुष की ऋतुमती [मासिक धर्म वाली होकर] स्नान किये हुये पत्नी होवे, तो उसी समान शुद्ध हुवे दूध वाली सवत्सा [बछड़े वाली] गौ के दूध में स्थालीपाक [कड़ाही में पके हुये अन्न विशेष] को पकवाकर, घी से सींचकर, [कस्तूरी आदि से] सुगन्धित करके, बाहर निकाल कर, मन्त्र विशेष पढ़कर, गर्भज्ञान के सूचक पुंसवन आदि संस्कारों से सब ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले मन्त्रों से युक्त करके उस [स्थालीपाक] को दूसरी [अर्थात् पत्नी] के साथ ही भोजन करे। (रेतः वै अन्नम्, वृषा हिङ्कारः) वीर्य ही अन्न है और ऐश्वर्य्यवान् हिंकार [मन्त्र विशेष] है। (एवं हि ईश्वराय दीक्षिताय दीक्षिता जाया पुत्रं लभेत इति एतेन एव प्रक्रमेण यजेत इति ब्राह्मणम्) इस प्रकार से ही समर्थ दीक्षा पाये हुए पुरुष के लिये दीक्षा पायी हुई पत्नी पुत्र प्राप्त करे, इसी ही प्रक्रम [क्रम] से यज्ञ करे—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २३ ॥

भावार्थः—दीक्षित पुरुष दीक्षिता पत्नी के साथ यथाविधि स्थालीपाक भोजन करके संतान उत्पन्न करे ॥ २३ ॥

विशेषः स्थालीपाक मिश्री के मोहनभोग में कस्तूरी, केशर, जायफल, जावित्री, यथाविधि मिला कर बनाया जाता है—देखो श्रीमद्दयानन्द कृत संस्कारविधि सामान्य प्रकरण ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम *श्रीसयाजीराव गायकवाडाधिष्ठित* बड़ोदे पुरीगत श्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु

२३—(ऋतुमती) रजस्वला । स्त्रीधर्मवती (प्रतिस्नावा) आतो मनिन् क्वनिब् वनिपश्च (पा० ३ । २ । ७४) प्रति + ष्णा शौचे—वनिप् । सम्यक्कृतस्नाना । (स्थालीपाकम्) स्थाल्यां पाको यस्य तम् । गोदुग्धेन स्थाल्यां कृतं पाकभेदम् (श्रपयित्वा) श्रा पाके—णिच् – क्त्वा । पाचयित्वा (अभिघार्य्य) अभि + घृ क्षरणे – णिच्—ल्यप् । आभिमुख्येन घृतादिना संसिच्य (उद्वास्य) कस्तूर्यादिना सुरभीकृत्य (उद्धृत्य) उत् + हृ—ल्यप् । निःसार्य्य (अभिहिङ्कृत्य) मन्त्रविशेषैः अभिमन्त्र्य (गर्भवेदनपुंसवनैः) गर्भसूचकपुंसवनादिसंस्कारैः (संपातवन्तम्) सम् + पत्लृ गतौ ऐश्वर्ये च—घञ्—मतुप् । सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिमन्त्रविशिष्टम् । (तम्) स्थालीपाकम् (परा) परया । जायया सह (वृषा) कनिन् युवृषितक्षि० (उ० । १ । १५६) वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोश्च—कनिन् । वर्षकः । प्रजनयिता । ऐश्वर्यवान् । (हिङ्कारः) हिम् इति अव्यक्तं शब्दं करोति । कृ—अण् । हिंशब्दकारकः (दीक्षिता) दीक्षा—इतच् , टाप् । प्राप्तदीक्षा (प्रक्रमेण) उपायज्ञानपूर्वकारम्भेण ॥

लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये पूर्वभागे तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे भाद्रपदमासे कृष्णैकादश्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।

मुद्रितम्—आषाढ शुक्ला १२ संवत् १९८१ वि० ता० १३ जुलाई सन् १९२४ ई० ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

कण्डिका १ ॥

ओम् अयं वै यज्ञो योऽयं पवते, तमेत [1]ईप्सन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते । तेषां गृहपतिः प्रथमो दीक्षतेऽयं वै लोको गृहपतिरस्मिन् वा इदं सर्वं लोके प्रतिष्ठितं गृहपता उ एव सर्वे सत्रिणः प्रतिष्ठिताः प्रतिष्ठाया एवैनं तत् प्रतिष्ठित्यै दीक्षन्ते ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ गृहपति की दीक्षा ॥

(ओम् अयं वै यज्ञः यः अयं पवते) ओं, यही यज्ञ है जो यह चलता है (तम् एते ईप्सन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते) उस [यज्ञ] को वे पाना चाहते हैं जो संवत्सर के लिये दीक्षा लेते हैं । (तेषां गृहपतिः प्रथमः दीक्षते) उन [लोकों] में पहिले गृहपति दीक्षा पाता है । (अयं वै लोकः गृहपतिः) यही लोक संसार गृहपति है । (अस्मिन् लोके वै इदं सर्वं प्रतिष्ठितं गृहपतौ उ एव सर्वे सत्रिणः प्रतिष्ठिताः) इस लोक में ही सब [सत्तामात्र] ठहरा हुआ है, गृहपति में भी सब यज्ञ कराने वाले ठहरे हुये हैं । (तत् प्रतिष्ठायाः एव प्रतिष्ठित्यै एनं दीक्षन्ते) इसलिये प्रतिष्ठा [गौरव] के ही ठहराव के लिये [गृहपति] को दीक्षा देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः - यज्ञ में गृहपति इसलिये पहिले दीक्षा लेता है कि वह ज्येष्ठाश्रमी है—देखो मनु अ० ३ श्लो० ७८ ॥

कण्डिका २ ॥

अथ ब्रह्माणं दीक्षयति, चन्द्रमा वै ब्रह्माऽधिदैवं, मनोऽध्यात्मं, मनसैव तदोषधीः सन्दधाति, तद्या ओषधीर्वेद स एव ब्रह्मौषधीस्तदनेन लोकेन सन्दधाति, तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत, स यदेतावन्तरेणान्यो दीक्षेतेमं तं लोकमोषधिभिर्व्यापादयेदुच्छोषुका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥ २ ॥

१--(पवते) गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । संचरति (ईप्सन्ति) प्राप्तुमिच्छन्ति (दीक्षन्ते) दीक्षां प्राप्नुवन्ति (प्रतिष्ठितम्) प्रतीत्या स्थितम् (सत्रिणः) याजकाः (प्रतिष्ठायाः) गौरवस्य (प्रतिष्ठित्यै) स्थिरतायै ॥

---

१. पू. सं. ईप्सति इति पाठः ॥

कण्डिका २ ॥ ब्रह्मा की दीक्षा ॥

(अथ ब्रह्माणं दीक्षयति) फिर ब्रह्मा को वह दीक्षा देता है (चन्द्रमाः वै ब्रह्मा अधिदैवं, मनः अध्यात्मम्) चन्द्रमा [के समान] ही ब्रह्मा मुख्य देवता है और मन आत्मा के अधिकार वाला है । (तत् मनसा एव ओषधीः सन्दधाति) इसलिये मन से ही ओषधियों [अन्न सोमलता आदिकों] को वह [ब्रह्मा] ठीक ठीक रखता है । (तत् याः ओषधीः वेद, सः एव ब्रह्मा ओषधीः तत् अनेन लोकेन सन्दधाति) सो जिन ओषधिओं को जानता है वही ब्रह्मा उन ओषधिओं को तब इस लोक के साथ ठीक ठीक धरता है । (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों [गृहपति और ब्रह्मा] के बीच में दूसरा न दीक्षा लेवे । (यत् एतौ अन्तरेण अन्यः दीक्षेत, सः इमम् तं लोकम् ओषधिभिः व्यापादयेत्) यदि इन दोनों के बीच में दूसरा [अयोग्य] दीक्षा लेवे । वह [कुप्रयोग करके] इस उस लोक को ओषधियों से नष्ट कर देवे । (उच्छोषुकाः ह स्युः) वे [लोक] सूखे हो जावें, (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों के बीच में कोई [अयोग्य पुरुष] न दीक्षा लेवे ॥ २ ॥

भावार्थः—योग्य ब्रह्मा पदार्थों के सुप्रयोग से यज्ञ को सिद्ध करता और अयोग्य पुरुष उनके कुप्रयोग से यज्ञ को नष्ट कर देता है, इसलिये ब्रह्मा योग्य होना चाहिये ॥ २ ॥

कण्डिका ३ ॥

अथोद्गातारं दीक्षयत्यादित्यो वा उद्गाताऽधिदैवं, चक्षुरध्यात्मं, पर्जन्य आदित्यः, पर्जन्यादधिवृष्टिर्जायते, वृष्टिरेव तदोषधीः सन्दधाति, तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत, स यदेतावन्तरेणान्यो दीक्षेतेमं तं लोकं वर्षेण व्यापादयेदवर्षका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ उद्गाता की दीक्षा ॥

(अथ उद्गातारं दीक्षयति) फिर उद्गाता को दीक्षा देता है । (आदित्यः वै उद्गाता अधिदैवं, चक्षुः अध्यात्मम्) सूर्य [के समान] ही उद्गाता मुख्य देवता है, आंख आत्मा के अधिकार वाली है, (पर्जन्यः आदित्यः) मेघ सूर्य है । (पर्जन्यात् अधि वृष्टिः जायते, वृष्टिः एव तत् ओषधीः सन्दधाति) मेघ से वर्षा होती है, वर्षा ही तब ओषधियों को ठीक ठीक रखती है । (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों [ब्रह्मा और उद्गाता] के बीच में कोई [अयोग्य] न

२—(अधिदैवम्) मुख्यदेवः (अध्यात्मम्) आत्मानं शरीरम् अधिकृत्य वर्त्तमानम् (ओषधीः) अन्नसोमलतादिपदार्थान् (संदधाति) सम्यक् स्थापयति । (अन्तरेण) मध्ये (व्यापादयेत्) नाशयेत् (उच्छोषुकाः) लषपतपदस्थाभू० (पा० ३ । २ । १५४) उत् + शुष शोषणे—उकञ् बाहुलकात् । अतिशयेन शुष्काः ॥

दीक्षा लेवे। (यत् एतौ अन्तरेण अन्यः दीक्षेत सः इमं तं लोकं वर्षेण व्यापादयेत्) यदि इन दोनों के बीच में कोई दीक्षा लेवे, वह इस उस लोक को वर्षा से नष्ट कर देवे। (अवर्षकाः ह स्युः) वे [लोक] बिना वर्षा वाले हो जावें। (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों के बीच में कोई [अयोग्य] न दीक्षा लेवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—योग्य होता होने से यज्ञ सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ ॥

अथ होतारं दीक्षयत्यग्निर्वै होताऽधिदैवं, वागध्यात्ममन्नं वृष्टिः, वाचं चैव तदग्निं चान्नेन सन्दधाति, तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत, स यदेतावन्तरेणान्यो दीक्षेतेमं तं लोकमन्नेन व्यापादयेदशनायुका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ होता की दीक्षा ॥

(अथ होतारं दीक्षयति) फिर होता को दीक्षा देता है। (अग्निः वै होता अधिदैवं, वाक् अध्यात्मम् अन्नं वृष्टिः) अग्नि [के समान] ही होता मुख्य देवता है, वाणी आत्मा के अधिकार वाली है, अन्न वृष्टि है। (तत् वाचं च एव अग्निं च अन्नेन सन्दधाति) इसलिये वाणी को और अग्नि को भी अन्न के साथ वह [होता] ठीक ठीक धरता है, (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों [उद्गाता, और होता] के बीच में कोई न दीक्षा लेवे। (यत् एतौ अन्तरेण अन्यः दीक्षेत सः इमं तं लोकम् अन्नेन व्यापादयेत्) यदि इन दोनों के बीच में कोई [अयोग्य] दीक्षा लेवे वह इस उस लोक को अन्न के बिना नष्ट कर देवे। (अशनायुकाः ह स्युः) वे [लोक] भुखमरे हो जावें। (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्यः न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों के बीच में कोई न दीक्षा लेवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—कण्डिका ३ के समान ॥ ४ ॥

कण्डिका ५ ॥

अथाध्वर्य्युं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयति, वायुर्वा अध्वर्य्युरधिदैवं, प्राणोऽध्यात्ममन्नं वृष्टिर्वायुं चैव तत्प्राणं चान्नेन सन्दधाति, तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत. स यदेतावन्तरेणान्यो दीक्षेतेमं तं लोकं प्राणेन व्यापादयेत्, प्रमायुका ह स्युस्तस्मादेतावन्तरेणान्यो न दीक्षेत ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ अध्वर्य्यु की दीक्षा ॥

(अथ अध्वर्य्युं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयति) फिर अध्वर्य्यु को प्रतिप्रस्थाता

३—(वर्षेण) वृष्टया (अवर्षकाः) वर्ष—स्वार्थे कन्। अनावृष्टियुक्ताः ॥

४—(अशनायुकाः) अशनायोदन्यधनायाबुभुक्षा० (पा० ७। ४। ३४) अशन—क्यच् इच्छार्थे, इत्यशनाय। लषपतपदस्थाभू० (पा० ३। २। १५४) अशनाय—उकञ्। बुभुक्षिताः ॥

[ऋत्विज्] दीक्षा देता है । (वायु: वै अध्वर्य्यु: अधिदैवं, प्राण: अध्यात्मम्, अन्नं वृष्टि:) वायु [के समान] ही अध्वर्य्यु मुख्य देवता है, प्राण आत्मा के अधिकार वाला है और अन्न वृष्टि है । (तत् वायुं च एव प्राण च अन्नेन सन्दधाति) इसलिये वायु को और प्राण को अन्न के साथ वह [अध्वर्य्यु] ठीक ठीक धरता है । (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्य: न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों [होता और अध्वर्य्यु] के बीच में कोई [अयोग्य] न दीक्षा लेवे । (यत् एतौ अन्तरेण अन्य: दीक्षेत स: इमं तं लोकं प्राणेन व्यापादयेत्) यदि इन दोनों के बीच में कोई दीक्षा लेवे वह इस उस लोक को प्राण से नष्ट कर देवे । (प्रमायुका: ह स्यु:) वे [लोक] मृतक हो जावें, (तस्मात् एतौ अन्तरेण अन्य: न दीक्षेत) इसलिये इन दोनों के बीच में कोई न दीक्षा लेवे ॥ ५ ॥

भावार्थ:—कण्डिका ३ के समान ॥

कण्डिका ६ ॥

अथ ब्रह्मणे ब्राह्मणाच्छंसिनं दीक्षयति । अथोद्गात्रे प्रस्तोतारं दीक्षयति । अथ होत्रे मैत्रावरुणं दीक्षयति । अथाध्वर्य्यवे प्रतिप्रस्थातारं नेष्टा दीक्षयति । स हैनमन्वितरेषां वै नवानां क्लृप्तिरन्यतरे कल्पन्ते, नव वै प्राणा:, प्राणैर्यज्ञस्तायते । अथ ब्रह्मणे पोतारं दीक्षयति । अथोद्गात्रे प्रतिहर्त्तारं दीक्षयति । अथ होत्रेऽच्छावाकं दीक्षयति । अथाध्वर्य्यवे नेष्टारमुन्नेता दीक्षयति । स हैनमन्वथ ब्रह्मण आग्नीध्रं दीक्षयति । अथोद्गात्रे सुब्रह्मण्यं दीक्षयति । अथ होत्रे ग्रावस्तुतं दीक्षयति । अथ तमन्य:स्नातको वा ब्रह्मचारी वा दीक्षयति, न पूत: पावयेदित्याहु: । सैषानुपूर्वं दीक्षा, तद्य एवं दीक्षन्ते दीक्षिष्यमाणा एव ते सत्रिणां प्रायश्चित्तं न विन्दन्ते, सत्रिणां प्रायश्चित्तमनु तस्यार्द्धस्य योगक्षेम: कल्पते, यस्मिन्नर्द्धे दीक्षन्त इति ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ सहायक ऋत्विजों की दीक्षा ॥

(अथ ब्रह्मणे ब्राह्मणाच्छंसिनं दीक्षयति) फिर ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाले] के लिये ब्राह्मणाच्छंसी [वेद ज्ञान से स्तुति करने वाले] को वह [ब्रह्मा आदि] दीक्षा देता है । (अथ उद्गात्रे प्रस्तोतारं दीक्षयति) फिर उद्गाता [वेद गाने वाले] के लिये प्रस्तोता [प्रकृष्ट स्तुति करने वाले] को दीक्षा देता है । (अथ होत्रे मैत्रावरुणं दीक्षयति) फिर होता [हवन करने वाले] के लिये मैत्रावरुण [प्राण और अपान विद्या जानने वाले] को दीक्षा देता है । (अथ अध्वर्यवे प्रतिप्रस्थातारं नेष्टा दीक्षयति)

५—(प्रमायुका:) लषपतपदस्थाभू० (पा० ३ । २ । १५४) प्र+मीञ् हिंसायाम्—उकञ् । प्रमीता: । सर्वथा मृता: ॥

६ -(ब्राह्मणाच्छंसिनम्) ब्रह्मज्ञानात् स्तोतारम् (मैत्रावरुणम्) प्राणापानवेत्तारम् (नेष्टा) नायको याजक: (क्लृप्ति:) कृपू सामर्थ्ये-क्तिन् । (कल्पन्ते)

फिर अध्वर्यु [हिंसा रहित यज्ञ करने वाले] के लिये प्रतिप्रस्थाता [सामने खड़े रहने वाले] को नेष्टा [नायक याजक] दीक्षा देता है । (सः ह एनम् अनु+दीक्षते) वह भी इसके पीछे [दीक्षा लेता है] । (इतरेषां वै नवानां क्लृप्तिः अन्यतरे कल्पन्ते) दूसरे नौ [ऋत्विजों] की व्यवस्था दूसरे कोई [इस प्रकार] करते हैं । (नव वै प्राणाः, प्राणैः यज्ञः तायते) नौ [दो कान, दो नथने, दो आँखें एक मुख, एक पायु और एक उपस्थ इन्द्रिय] ही प्राण हैं, प्राणों के साथ यज्ञ फैलता है । (अथ ब्रह्मणे पोतारं दीक्षयति) फिर ब्रह्मा के लिये पोता [शोधने वाले] को दीक्षा देता है १ । (अथ उद्गात्रे प्रतिहर्त्तारं दीक्षयति) फिर उद्गाता के लिये प्रतिहर्ता [द्रव्य लाने वाले] को दीक्षा देता है । २ । (अथ होत्रे अच्छावाकं दीक्षयति) फिर होता के लिये अच्छावाक् [शुद्ध बोलने वाले] को दीक्षा देता है । ३ । (अथ अध्वर्य्यवे नेष्टारम् उन्नेता दीक्षयति) फिर अध्वर्यु के लिये नेष्टा को उन्नेता [ऊपर उठाने वाला] दीक्षा देता है । ४ । (सः ह एनम् अनु+दीक्षते) वह [उन्नेता] भी इस [नेष्टा] के पीछे [दीक्षा पाता है] । ५ । (अथ ब्रह्मणे आग्नीध्रं दीक्षयति) फिर ब्रह्मा के लिये आग्नीध्र [अग्नि प्रदीप्त करने वाले] को दीक्षा देता है । ६ । (अथ उद्गात्रे सुब्रह्मण्यं दीक्षयति) फिर उद्गाता के लिये सुब्रह्मण्य [अच्छे वेद में निपुण] को दीक्षा देता है । ७ । (अथ होत्रे ग्रावस्तुतं दीक्षयति) फिर होता के लिये ग्रावस्तुत् [सूक्ष्म विचारों की स्तुति करने वाले] को दीक्षा देता है । ८ । (अथ तम्+अनु, अन्यः स्नातकः वा ब्रह्मचारी वा दीक्षयति) फिर उसके [पीछे] स्नातक [वेद विद्या समाप्त कर चुकने वाला] अथवा ब्रह्मचारी [वेद विद्या पढ़ने वाला] दीक्षा पाता है । ९ । (पूतः न पावयेत् इति आहुः) अशुद्ध न शुद्ध करे [न संस्कार करावे]—ऐसा कहते हैं । (सा एषा अनुपूर्वं दीक्षा) यही क्रमानुसार दीक्षा है । (तत् ये दीक्षिष्यमाणाः एवं दीक्षन्ते, ते एव सत्रिणां प्रायश्चित्तं न विन्दन्ते) जो दीक्षा चाहने वाले पुरुष इस प्रकार दीक्षा पाते हैं, वे ही याजकों के प्रायश्चित्त को नहीं पाते [अर्थात् ठीक ठीक यज्ञ करते हैं] । (सत्रिणां प्रायश्चित्तम् अनु तस्य अर्द्धस्य योगक्षेमः कल्पते यस्मिन् अर्द्धे दीक्षन्ते इति ब्राह्मणम्) याजकों के प्रायश्चित्त के साथ उस ऋद्धि [सम्पत्ति] का योगक्षेम [पाने योग्य का पाना और पाये हुये का बचाना] सिद्ध होता है, जिस सम्पत्ति में वे दीक्षा पाते हैं—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ६ ॥

भावार्थः—विद्वानों के हाथ से काम होने पर प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं होती, और जो कुछ त्रुटि हो जाय, तो प्रायश्चित्त करके कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ ६ ॥

व्यवस्थाम् कुर्वन्ति (नव प्राणाः) सप्तशीर्षण्यानीन्द्रियाणि द्वे पायूपस्थे (पोतारम्) शोधयितारम् (प्रतिहर्त्तारम्) द्रव्याणामानेतारम् (आग्नीध्रम्) अग्निदीपयितारम् (सुब्रह्मण्यम्) सुब्रह्मन्—यत् साध्वर्थे । सुब्रह्मणि वेदज्ञाने साधुः (वा) विकल्पे (पूतः) पूयी दुर्गन्धे विशरणे च—क्तः । अशुद्धः (पावयेत्) शोधयेत् । संस्कारयेत् (अर्द्धस्य) गो० पू० १ । १३ । ऋद्धेः । संपत्तेः (योगक्षेमः) गो० पू० १ । १३ । प्राप्यस्य प्रापणं प्राप्तस्य रक्षणं च (अर्द्धे) सम्पत्तौ ॥

कण्डिका ७॥

श्रद्धाया वै देवा दीक्षणीयान्निरमिमत १, अदितेः प्रायणीयां २, सोमात् क्रयं ३, विष्णोरातिथ्यम् ४, आदित्यात् प्रवर्ग्यं ५, स्वधाया उपसदो ६, अग्नीषोमाभ्या-मौपवसथ्यमहः ७, प्रातर्यावद्भ्यो देवेभ्यः प्रातरनुवाकं ८, वसुभ्यः प्रातः सवनं ९, रुद्रेभ्यो माध्यन्दिनं सवनम् १०, आदित्येभ्यस्तृतीयसवनं ११, वरुणादवभृथम् १२, अदितेरुदयनीयां १३, मित्रावरुणाभ्यामनूबन्ध्यां १४, त्वष्टुस्त्वाष्ट्रं १५, देवीभ्यो दिविकाभ्यो देवता हवींषि १६, कामाद् दशातिरात्रं १७, स्वर्गलोकादुदवसानीयां १८, तद्वा एतदग्निष्टोमस्य जन्म स य एवमेतदग्निष्टोमस्य जन्म वेदाग्निष्टोमेन [1]सात्मा सलोको भूत्वा देवान् अप्येतीति ब्राह्मणम् ॥ ७॥

कण्डिका ७॥ अग्निष्टोम, और अठारह प्रकार के यज्ञों के देवी देवता॥

(श्रद्धायाः वै देवाः दीक्षणीयां निरमिमत) श्रद्धा [ईश्वर और वेद में विश्वास] से ही विद्वानों ने दीक्षणीया [दीक्षा योग्य इष्टि] को बनाया है १, (अदितेः प्रायणीयाम्) अदिति [अखण्ड वेदवाणी] से प्रायणीया [पाने योग्य इष्टि] को २, (सोमात् क्रयम्) सोम [ऐश्वर्य] से क्रय [मोल लेने के यज्ञ] को ३, (विष्णोः आतिथ्यम्) विष्णु [व्यापक परमेश्वर] से आतिथ्य [अतिथिसत्कार] को ४, (आदित्यात् प्रवर्ग्यम्) सूर्य से प्रवर्ग्य [होमाग्नि] को ५, (स्वधायाः उपसदः) स्वधा [अन्न] से उपसद [पास बैठने] को ६, (अग्नीषोमाभ्याम् औपवसथ्यम् अहः) अग्नि और सोम [जल] से उपवसथ [ग्राम] सम्बन्ध वाले दिन [यज्ञ] को ७, (प्रातर्यावद्भ्यः देवेभ्यः प्रातरनुवाकम्) प्रातःकाल चलने वाले देवों से प्रातरनुवाक [यज्ञ] को ८, (वसुभ्यः प्रातः सवनम्) वसुओं [अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य, प्रकाश, चन्द्रमा, और नक्षत्र—८ वसुओं] से प्रातःसवन [यज्ञ] को ९, (रुद्रेभ्यः माध्यन्दिनं सवनम्) रुद्रों [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, इन दश प्राणों और ग्यारहवें जीवात्मा] से माध्यन्दिन सवन को १०, (आदित्येभ्यः तृतीयसवनम्) आदित्यों [बारह महीनों] से तृतीय सवन को ११, (वरुणाद् अवभृथम्) वरुण [उत्तम जल] से अवभृथ [यज्ञान्त स्नान] को १२, (अदितेः [=दितेः] उदयनीयाम्) अदिति अर्थात् दिति से [दोषनाशक शक्ति से—यहां अदिति पद दिति के

---

७ (दीक्षणीयाम्) दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु—अनीयर्। दीक्षायोग्यामिष्टिम् (निरमिमत) निर्मितवन्तः (अदितेः) कृत्यल्युटो बहुलम् (पा० ३। ३। ११३) दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने वा—क्तिन्। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (पा० ७। ४। ४०) इति इत्वम्। दीङ् पक्षे ह्रस्वत्वं, नञ् समासः। अदितिः पृथिवी—निघ० १। १। वाक्—निघ० १। ११। अदीना देवमाता—निरु० ४। २२। अदीनायाः वेदवाण्याः। (प्रायणीयाम्) प्रापणीयामिष्टिम् (प्रातर्यावद्भ्यः) आर्षो दकारः। प्रातर्याविभ्यः। प्रातर्गच्छद्भ्यः (वसुभ्यः) अष्टवसुभ्यः (रुद्रेभ्यः) एकादशप्राणेभ्यः (वरुणात्) वरणीयात् श्रेष्ठात् जलात्

---

१. पू. सं. 'स आत्मा" इति पाठः॥ सम्पा०॥

लिये है—देखो ऊपर अंक २ तथा क० ८ अंक १३] उदयनीया [उत्तमता से पाने योग्य इष्टि] को १३, (मित्रावरुणाभ्याम् अनूबन्धाम्) मित्र और वरुण [प्राण और अपान] से अनूबन्धा [निरन्तर सम्बन्ध वाली इष्टि] को १४, (त्वष्टुः त्वाष्ट्रम्) त्वष्टा [सूक्ष्म बनाने वाले] से त्वाष्ट्र [त्वष्टा के कर्म] को १५, (देवीभ्यः दिविकाभ्यः देवताहवींषि) देवियों [दिव्य गुण वाली] और देविकाओं [व्यवहार कुशल क्रियाओं] से देवताओं के अनेक हवि को १६, (कामात् दशातिरात्रम्) काम [श्रेष्ठ इच्छा] से दशातिरात्र [यज्ञ] को १७, (स्वर्गलोकात् उदवसानीयाम्) स्वर्गलोक से उदवसानीया [उत्तम समाप्ति वाली इष्टि को विद्वानों ने बनाया] १८ । (तत् वै एतत् अग्निष्टोमस्य जन्म) सो वही अग्निष्टोम यज्ञ का जन्म है । (यः एवम् एतत् अग्निष्टोमस्य जन्म वेद, सः अग्निष्टोमेन सात्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम्) जो इस प्रकार अग्निष्टोम के जन्म को जानता है, वही अग्निष्टोम से समान आत्मा वाला और समान लोक वाला होकर दिव्य गुणों को पाता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञ के ठीक ठीक ज्ञान के साथ अनुष्ठान से मनोरथ सिद्ध करता है ॥ ७ ॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान कण्डिका ८ से करो ॥

कण्डिका ८ ॥

अथ यत् दीक्षणीयया यजन्ते श्रद्धामेव तद् देवीं देवतां यजन्ते, श्रद्धा देवी देवता भवति, श्रद्धाया देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १, अथ यत् प्रायणीयया यजन्तेऽदितिमेव तद् देवीं देवतां यजन्तेऽदितिर्देवी देवता भवत्यदित्या देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति २, अथ यत् क्रयमुपयन्ति सोममेव तद् देवं देवतां यजन्ते, सोमो देवो देवता भवति सोमस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ३ । अथ यदातिथ्यया यजन्ते विष्णुमेव तद् देवं देवतां यजन्ते, विष्णुर्देवो देवता भवति विष्णोर्देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ४ । अथ यत्प्रवर्ग्यमुपयन्त्यादित्यमेव तद् देवं देवतां यजन्ते, आदित्यो देवो देवता भवत्यादित्यस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ५ । अथ यदुपसदमुपयन्ति स्वधामेव तद् देवीं देवतां यजन्ते, स्वधा देवी देवता भवति स्वधाया देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ६ । अथ यदौपवसथ्यमहरुपयन्त्यग्नीषोमावेव तद् देवौ देवते यजन्तोऽग्नीषोमौ देवौ देवते भवतोऽग्नीषो-

---

(अवभृथम्) अवे भृञः (उ० २ । ३) अव + भृञ् भरणे—क्थन् । यज्ञान्तस्नानम् (अदितेः) अदितेःपूर्वनिर्देशात् अत्र दितेः इत्यनुभूयते । दितेः दोषखण्डनशक्तिः सकाशात् (उदयनीयाम्) उद् + इण् गतौ—अनीयर् । उत्तमतया प्रापणीयामिष्टिम् (दिविकाभ्यः) दिवु क्रीडादिषु—ण्वुल् । देविकाभ्यः—कं० ८ । व्यवहारकुशलाभ्यः (सात्मा) समानात्मा (सलोकः) समानलोकः ॥

मयोर्देवतयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ७ । अथ यत् प्रातरनुवाकमुपयन्ति प्रातर्याव्ण एव तद् देवां देवतां यजन्ते प्रातर्य्यावाणो देवा देवता भवन्ति, प्रातर्य्याव्णां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ८ । अथ यत् प्रातःसवनमुपयन्ति वसूनेव तद् देवां देवतां यजन्ते, वसवो देवा देवता भवन्ति वसूनां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ९ । अथ यन्माध्यन्दिनं सवनमुपयन्ति रुद्रानेव तत् देवान् देवतां यजन्ते, रुद्रा देवा देवता भवन्ति रुद्राणां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १० । अथ यत्तृतीयसवनमुपयन्त्यादित्यानेव तद् देवान् देवतां यजन्ते, आदित्या देवा देवता भवन्त्यादित्यानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति ११ । अथ यदवभृथमुपयन्ति वरुणमेव तद् देवं देवतां यजन्ते, वरुणो देवो देवता भवति वरुणस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १२ । अथ यदुदयनीयया यजन्ते दितिमेव तद् देवीं देवतां यजन्ते अदितिर्देवी देवता भवत्यदित्या देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १३ । अथ यदनूबन्धया यजन्ते मित्रावरुणावेव तद् देवौ देवते यजतो मित्रावरुणौ देवौ देवते भवतो मित्रावरुणयोर्देवयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १४ । अथ यत् त्वाष्ट्रेण पशुना यजन्ते त्वष्टारमेव तद् देवं देवतां यजन्ते, त्वष्टा देवो देवता भवति त्वष्टुर्देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १५ । अथ यद् देविकाहविर्भिश्चरन्ति या एता उपसत्सुर्भवन्त्यग्निः सोमो विष्णुरिति देव्यो देविका देवता भवन्ति देवीनां देविकानां देवतानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १६ । अथ यद् दशातिरात्रमुपयन्ति काममेव तद् देवं देवतां यजन्ते, कामो देवो देवता भवति कामस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १७ । अथ यदुदवसानीयया यजन्ते स्वर्गमेव तं लोकं देवं देवतां यजन्ते स्वर्गो लोको देवो देवता भवति स्वर्गस्य लोकस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति १८ । तद्वा एतदग्निष्टोमस्य जन्म स य एवमेतदग्निष्टोमस्य जन्म वेदाप्त्वैव तदग्निष्टोमं स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेदाग्निष्टोमेन सात्मा सलोको भूत्वा देवान् अप्येतीति ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ अठारह प्रकार के यज्ञ और उनके फल, और अग्निष्टोम ॥

(अथ यत् दीक्षणीयया यजन्ते, तत् श्रद्धाम् एव देवीं देवतां यजन्ते, श्रद्धा देवी देवता भवति, श्रद्धायाः देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब दीक्षणीया [इष्टि] [क० ७] से यज्ञ करते हैं, तब श्रद्धा देवी ही देवता को पूजते हैं, श्रद्धा देवी देवता [प्रधान विषय] होती है, श्रद्धा देवी के सहयोग [दृढ़

८—(यत्) यदा (तत्) तदा (सायुज्यम्) सह+युजिर् योगे—क्विप्, ततो भावे—ष्यञ् । सहयोगम् । दृढसंसर्गम् (सलोकताम्) सह एकस्मिन्

संयोग, पक्के मेल] और सलोकता [सहवास] को वे पाते हैं, जो इस [कर्म] को स्वीकार करते हैं । १ । (अथ यत् प्रायणीयया यजन्ते, तत् अदितिम् एव देवीं देवतां यजन्ते, अदितिः देवी देवता भवति, अदित्याः देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब प्रायणीया [इष्टि] से यज्ञ करते हैं, तब अदिति [अखण्ड शक्ति] देवी ही देवता को पूजते हैं, अदिति देवी देवता होती है, अदिति देवी के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं । २ । (अथ यत् क्रयम् उपयन्ति, तत् सोमम् एव देवं देवतां यजन्ते, सोमः देवः देवता भवति, सोमस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब क्रय [मोल लेना] स्वीकार करते हैं, तब सोम [ऐश्वर्यवान्] ही देव देवता को पूजते हैं, सोम देव देवता होता है, सोम देव के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं । ३ । (अथ यत् आतिथ्यया यजन्ते, तत् विष्णुम् एव देवं देवतां यजन्ते, विष्णुः देवः देवता भवति, विष्णोः देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति [ये] एतत् उपयन्ति) फिर जब आतिथ्या [इष्टि] से यज्ञ करते हैं, तब विष्णु [व्यापक] ही देव देवता को पूजते हैं, विष्णु देव देवता होता है, विष्णु देवता के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं [जो] इसको स्वीकार करते हैं । ४ । (अथ यत् प्रवर्ग्यम् उपयन्ति तत् आदित्यम् एव देवं देवतां यजन्ते, आदित्यः देवः देवता भवति आदित्यस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब प्रवर्ग्य [होमाग्नि] को स्वीकार करते हैं, तब सूर्य ही देव देवता को पूजते हैं, सूर्य देव देवता होता है, सूर्य देव के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं । ५ । (अथ यत् उपसदम् उपयन्ति, तत् स्वधाम् एव देवीं देवतां यजन्ते, स्वधा देवी देवता भवति, स्वधायाः देव्याः सायुज्य सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब उपसद [पास बैठने, उपासना] को स्वीकार करते हैं, तब स्वधा [अन्न वा स्वधारण शक्ति] ही देवी देवता को पूजते हैं, स्वधा देवी देवता होती है, स्वधा देवी के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं । ६ । (अथ यत् औपवसथ्यम् अहः उपयन्ति तत् अग्नीषोमौ एव देवौ देवते यजतः अग्नीषोमौ देवौ देवते भवतः, अग्नीषोमयोः देवतयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब औपवसथ्य अहः [उपवसथ अर्थात् ग्राम सम्बन्धी दिन के यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब अग्नि और सोम [जल] ही दोनों देव देवता पूजे जाते हैं, अग्नि और सोम दोनों देव देवता होते हैं, अग्नि और सोम देवता के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं । ७ । (अथ यत् प्रातरनुवाकम् उपयन्ति, तत् प्रातर्याव्णः एव देवान् देवतां यजन्ते, प्रातर्यावाणः देवाः देवताः

लोके वासम् (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (उपयन्ति) स्वीकुर्वन्ति (अदितिम्) अखण्डशक्तिम् (यजतः) इज्येते । पूज्येते (प्रातर्याव्णः) कं ७ । प्रातर्गन्तॄन् (उपसत्सुः) इषेः क्सुः । (उ० ३ । १५७) उप+षद्लृ गतौ—क्सुः, बहुवचनस्यैकवचनम् । उपसत्सवः । समीपे स्थितिशीलाः (आप्त्वा) प्राप्य (तत्) तेन कर्मणा (वेद) जानाति । अन्यद्गतम्—क० ७ ॥

भवन्ति, प्रातर्याव्णां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब प्रातरनुवाक [यज्ञ] को वे स्वीकार करते हैं, तब प्रातःकाल चलने वाले ही देवों देवताओं को पूजते हैं, प्रातःकाल चलने वाले देव देवता होते हैं प्रातःकाल चलने वाले देवों के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं। ८। (अथ यत् प्रातः सवनम् उपयन्ति तत् वसून् एव देवान् देवतां यजन्ते, वसवः देवाः देवताः भवन्ति, वसूनां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब प्रातःसवन [प्रातःकालीन यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब वसु देवों ही [आठ वसु—क० ७] देवता को पूजते हैं, वसु देव देवता होते हैं, वसु देवताओं के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। ९। (अथ यत् माध्यन्दिनं सवनम् उपयन्ति, तत् रुद्रान् एव देवान् देवतां यजन्ते. रुद्राः देवाः देवताः भवन्ति रुद्राणां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब माध्यन्दिन सवन [दोपहर के यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब रुद्र देवों ही [ग्यारह रुद्रों—क० ७] देवता को पूजते हैं रुद्र देव देवता होते हैं, रुद्र देवों के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। १०। (अथ यत् तृतीयं सवनम् उपयन्ति, तत् आदित्यान् एव देवान् देवतां यजन्ते, आदित्याः देवाः देवताः भवन्ति, आदित्यानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब तृतीय सवन [तीसरे पहर के यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब आदित्य [बारह महीनों—क० ७] देवों देवता को ही पूजते हैं, आदित्य देव देवता हैं, आदित्य देवों के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं। ११। (अथ यत् अवभृथम् उपयन्ति, तत् वरुणम् एव देवं देवतां यजन्ते, वरुणः देवः देवता भवति वरुणस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब अवभृथ [यज्ञान्त स्नान] को वे स्वीकार करते हैं, तब वरुण [जल] ही देव देवता को पूजते हैं, वरुण देव देवता होता है, वरुण देव के ही सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। १२। (अथ यत् उदयनीयया यजन्ते तत् दितिम् एव देवीं देवतां यजन्ते, अदितिः देवी देवता भवति अदित्याः [दित्याः] देव्याः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब उदयनीया [इष्टि] से यज्ञ करते हैं। तब दिति ही [दोषखण्डक शक्ति] देवी देवता को पूजते हैं, अदिति [दिति] देवी देवता होती है, अदिति [दिति] के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं। १३। (अथ यत् अनूबन्धया यजन्ते तत् मित्रावरुणौ एव देवौ देवते यजतः, मित्रावरुणौ देवौ देवते भवतः, मित्रावरुणयोः देवयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब अनूबन्धा [इष्टि] से यज्ञ करते हैं तब मित्र और वरुण ही [प्राण और अपान] देव देवता पूजे जाते हैं. मित्र और वरुण दोनों देव देवता होते हैं, मित्र और वरुण देव के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इस-को स्वीकार करते हैं। १४। (अथ यत् त्वाष्ट्रेण पशुना यजन्ते, तत् त्वष्टारम् एव देवं देवतां यजन्ते, त्वष्टा देवः देवता भवति त्वष्टुः देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब त्वष्टा [सूक्ष्म बनाने वाले] को देवता मानने वाले पशु [प्राणी अर्थात् आत्मा] के साथ यज्ञ करते हैं, तब त्वष्टा ही [सूक्ष्म बनाने

वाले] देव देवता को ही पूजते हैं, त्वष्टा देव देवता होता है त्वष्टा देव के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। १५। (अथ यत् देविकाः हविर्भिः चरन्ति याः एताः उपसत्सुः भवन्ति, अग्निः, सोमः, विष्णुः इति देव्यः देविकाः देवताः भवन्ति, देवीनां देविकानां देवतानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जो देविकायें [व्यवहार कुशल देवियां] हवियों [ग्राह्य पदार्थों] से काम करती हैं, जो समीप बैठने वाली होती हैं, अग्नि, सोम [ऐश्वर्यवान्] विष्णु व्यापक यह देवी देविकायें देवता होती है, देवियों, देविकाओं, और देवताओं के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। १६। (अथ यत् दशातिरात्रम् उपयन्ति, तत् कामम् एव देवं देवतां यजन्ते कामः देवः देवता भवति, कामस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब दशातिरात्र [यज्ञ] को वे स्वीकार करते हैं, तब काम [श्रेष्ठ इच्छा] ही देव देवता को पूजते हैं, काम देव देवता होता है, काम देव के सहयोग और सहवास को पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं। १७। (अथ यत् उदवसानीयया यजन्ते, तं स्वर्गम् एव लोकं देवं देवतां यजन्ते, स्वर्गः लोकः देवः देवता भवति, स्वर्गस्य लोकस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब उदवसानीया [उत्तम समाप्ति योग्य इष्टि] से यज्ञ करते हैं, उस स्वर्ग लोक ही देव देवता को पूजते हैं, स्वर्ग लोक देव देवता [प्रधान विषय] होता है, स्वर्ग लोक देव के सहयोग [पक्के मेल] और सहवास [एक स्थान में निवास] को वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं॥ १८॥

(तत् वै एतत् अग्निष्टोमस्य जन्म) सो यही अग्निष्टोम यज्ञ का जन्म है। (यः एवम् एतत् अग्निष्टोमस्य जन्म वेद, सः तत् अग्निष्टोमम् आप्त्वा एव स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति) जो इस प्रकार इस अग्निष्टोम के जन्म को जानता है, वह उससे अग्निष्टोम को पाकर ही स्वर्ग लोक में ठहरता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद, अग्निष्टोमेन सात्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम्) वह प्रजा [संतान आदि] से और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है और वही अग्निष्टोम के साथ एक आत्मा वाला और एक निवास वाला होकर उत्तम गुणों को पाता है – यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है॥ ८॥

भावार्थः—कण्डिका ७ के समान है॥ ८॥

विशेषः १—इस कण्डिका का मिलान कण्डिका ७ से करो।

२—प्रकरण मिलाने से जान पड़ता है कि [विश्वेभ्यो देवेभ्यः[1] दशरात्रं दिग्भ्यो दशरात्रिकं पृष्ठ्यं षडहमेभ्यो लोकेभ्यः छन्दोमत् त्र्यहं संवत्सरात् दशममहः प्रजा—] इतना विषय कण्डिका ९ के [गवायुषी] पद के पीछे का कण्डिका आठ में छप गया है। यह भूल एशियाटिक सुसैटी के पुस्तक और जीवानन्द सं. दोनों में है। हमने पुस्तक का मूल और अपना भाष्य प्रकरण के अनुसार ठीक कर दिया है॥

---

१. यह पाठ जर्मन सं. में यथास्थान ९ वीं कण्डिका में है॥ सम्पा०॥

कण्डिका ९ ॥

अहोरात्राभ्यां वै देवाः प्रायणीयमतिरात्रं निरमिमत १, अर्द्धमासेभ्यश्चतुर्विंशमहः २, ब्रह्मणोऽभिप्लवं ३, क्षत्रात् पृष्ठ्यम् ४, अग्नेरभिजितम् ५, अद्भ्यः स्वरसामानः ६, सूर्य्याद्विषुवन्तम् ७ उक्ता आवृत्ताः स्वरसामानः । इन्द्राद्विश्वजितम् ८, उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ मित्रावरुणाभ्यां गवायुषी[1] ९, विश्वेभ्यो देवेभ्यः दशरात्रं १०, दिग्भ्यो दशरात्रिकं पृष्ठ्यं षडहम् ११, एभ्यो लोकेभ्यः छन्दोमत् त्र्यहं १२, संवत्सरात् दशममहः १४, प्रजा[1]पतेर्महाव्रतं १४, स्वर्गाल्लोकादुदयनीयमतिरात्रं १५, तद्वा एतत् संवत्सरस्य जन्म, स य एवमेतत् संवत्सरस्य जन्म वेद संवत्सरेण सात्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ प्रायणीय अतिरात्रादि पन्द्रह प्रकार के यज्ञ और संवत्सर ॥

(अहोरात्राभ्यां वै देवाः प्रायणीयम् अतिरात्रं निरमिमत) दिन और रात से ही विद्वानों ने प्रायणीय [पाने योग्य] अतिरात्र [रात्रि में पूरा होने वाले यज्ञ] को बनाया। १। (अर्धमासेभ्यः चतुर्विंशम् अहः) आधे महीनों से चतुर्विंशमहः [चौबीस अवयव वाले दिन अर्थात् यज्ञ] को। २। (ब्रह्मणः अभिप्लवम्) ब्रह्मा से अभिप्लव [उछल जाना, यज्ञ] को। ३। (क्षत्रात् पृष्ठ्यम्) क्षत्रिय से पृष्ठ्य [सेचन यज्ञ] को। ४। (अग्नेः अभिजितम्) अग्नि [पराक्रम] से अभिजित् [विजय यज्ञ] को। ५। (अद्भ्यः स्वरसामानः) जल से स्वरसामों [स्वर सहित साम वाले यज्ञों] को। ६। (सूर्यात् विषुवन्तम्) सूर्य से विषुवत् [तुल्य रात्रि दिन के काल, अर्थात् ग्रीष्म विषुवत् और हेमन्त विषुवत् वाले यज्ञ] को। ७। (आवृत्ताः स्वरसामानः उक्ताः) बार बार आने वाले स्वरसाम यज्ञ कहे गये। (इन्द्रात् विश्वजितम्) इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] से विश्वजित् [दिग्विजय यज्ञ] को। ८। (पृष्ठ्याभिप्लवौ उक्तौ) पृष्ठ्य और अभिप्लव यज्ञ कहे गये। (मित्रावरुणाभ्यां गवायुषी) मित्र और वरुण [प्राण और अपान] से गवायुषी [गौ विद्या वा पृथिवी और आयु अर्थात् जीवन दो यज्ञों] को। ९। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः दाशरात्रम्) विश्वे देवाओं [सब दिव्य गुणों] से दशरात्र [दशरात्रि यज्ञ] को। १०। (दिग्भ्यः दशरात्रिकं पृष्ठ्यं षडहम्) दिशाओं से दशरात्रिक पृष्ठ्य षडह को। ११। (एभ्यः लोकेभ्यः छन्दोमत् त्र्यहम्) इन लोकों से छन्दोमत् त्र्यह [छन्दयुक्त तीन दिन वाले यज्ञ] को। १२। (संवत्सरात् दशम् अहः) संवत्सर [वर्ष] से दशम अहः [दसवें दिन वाले यज्ञ] को। १३। (प्रजापतेः महाव्रतम्) प्रजापति [पुरुष] से महाव्रत [उत्तम नियम] को। १४। (स्वर्गात् लोकात् उदयनीयम्

९—(अतिरात्रम्) अतिक्रान्तो रात्रिम्, अच् समासान्तः । यज्ञविशेषम् (क्षत्रात्) क्षत्रियात् (पृष्ठ्यम्) तिथपृष्ठगूथ० (उ० २ । १२) पृषु सेचने—थक् । पृष्ठादुपसङ्ख्यानम् (वा० पा० ४ । २ । ४२) पृष्ठ—यत् । सेचनम् । (स्वरसामानः) आर्षी प्रथमा द्वितीयार्थे । स्वरसाम्नः । स्वरसहितसामवतो यज्ञान् (विषुवन्तम्) तुल्यरात्रिदिनकालवन्तं यज्ञम् (आवृत्ताः) अभ्यस्ताः (मित्रावरुणाभ्याम्) प्राणापानाभ्याम् (गवायुषी) गौश्च आयुश्च । यज्ञविशेषम्

---

१. यहाँ देखें १९० पृ० की टिप्पणी ॥ सम्पा० ॥

अतिरात्रम्) स्वर्ग लोक से उदयनीय अतिरात्र [उत्तमता से पाने योग्य रात्रि में पूरे होने वाले यज्ञ] को [बनाया] । १५ । (तत् वै एतत् संवत्सरस्य जन्म) सो यही संवत्सर यज्ञ का जन्म है । (यः एवम् एतत् संवत्सरस्य जन्म वेद सः संवत्सरेण सात्मा सलोकः भूत्वा देवम् अप्येति इति ब्राह्मणम्) जो इस प्रकार संवत्सर के जन्म को जानता है, वह संवत्सर से समान आत्मा वाला और सामान लोक वाला होकर उत्तम गुण पाता है—यह ब्राह्मण [ब्राह्मज्ञान] है ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य संवत्सर [काल] यज्ञ के विविध अङ्गों को जानकर उनका ठीक प्रयोग करता है, वह संवत्सर [काल] के समान विजयी होता है ॥ ६ ॥

विशेषः—इस कण्डिका संशोधन के विषय में क० ८२ देखो ॥

कण्डिका १० ॥

अथ यत् प्रायणीयमतिरात्रमुपयन्त्यहोरात्रावेव तद्देवौ देवते यजतोऽहोरात्रौ देवौ देवते भवतोऽहोरात्रयोर्देवयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १ । अथ यच्चतुर्विंशमहरुपयन्त्यर्द्धमासानेव तद्देवां देवतां यजन्तेऽर्द्धमासा देवा देवता भवन्त्यर्द्धमासानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । २ । अथ यदभिप्लवमुपयन्ति ब्रह्माणमेव तत् देवं देवतां यजन्ते ब्रह्मा देवो देवता भवति ब्रह्मणो देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ३ । अथ यत् पृष्ठ्यमुपयन्ति क्षत्रमेव तत् देवं देवतां यजन्ते क्षत्रं देवो देवता भवति क्षत्रस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ४ । अथ यदभिजितमुपयन्त्यग्निमेव तत् देवं देवतां यजन्तेऽग्निर्देवो देवता भवत्यग्नेर्देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ५ । अथ यत् स्वरसाम्न उपयन्त्यप एव तत् देवीर्देवता यजन्ते आपो देव्यो देवता भवन्त्यपां देवीनां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ६ । अथ यद्विषुवन्तमुपयन्ति सूर्य्यमेव तत् देवं देवतां यजन्ते सूर्य्यो देवो देवता भवति सूर्य्यस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ७ । उक्ता आवृताः स्वरसामानः । अथ यद्विश्वजितमुपयन्तीन्द्रमेव तत् देवं देवतां यजन्ते इन्द्रो देवो देवता भवतीन्द्रस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ८ । उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ । अथ यद् गवायुषी उपयन्ति मित्रावरुणावेव तत् देवौ देवते यजतो मित्रावरुणौ देवौ देवते भवतो मित्रावरुणयोर्देवयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ९ । अथ यद् दशरात्रमुपयन्ति विश्वानेव तद् देवान् देवतां यजन्ते विश्वेदेवा देवता भवन्ति विश्वेषां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १० । अथ यद् दाशरात्रिकं पृष्ठ्यं षडहमुपयन्ति दिश एव तत् देवीर्देवता यजन्ते दिशो देव्यो देवता भवन्ति दिशां देवीनां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । ११ । अथ यच्छन्दोमत्र्यहमुपयन्तीमानेव तल्लोकां देवान् देवतां यजन्त इमे लोका देवा

(संवत्सरात्) सम्पूर्वाच्चित् (उ० ३ । ७२) सम् + वस निवासे—सरन् चित् । संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि - निरु० ४ । २७ । द्वादशमासात्मकात् कालात् । समयात् ॥

देवता भवन्ति एषां लोकानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १२ । अथ यद् दशममहरुपयन्ति संवत्सरमेव तद् देवं देवतां यजन्ते संवत्सरो देवो देवता भवति संवत्सरस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १३ । अथ यन्महाव्रतमुपयन्ति प्रजापतिमेव तद् देवं देवतां यजन्ते प्रजापतिर्देवो देवता भवति प्रजापतेर्देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १४ । अथ यदुदयनीयमतिरात्रमुपयन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं देवं देवतां यजन्ते स्वर्गो लोको देवो देवता भवति स्वर्गस्य लोकस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति य एतदुपयन्ति । १५ । तद् वा एतत्संवत्सरस्य जन्म, स य एवमेतत्संवत्सरस्य जन्म वेदाप्त्वैतत्संवत्सरं स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद संवत्सरेण सात्मा सलोको भूत्वा देवाँ अप्येतीति ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ प्रायणीय अतिरात्र आदि पन्द्रह प्रकार के यज्ञ और उनके फल और संवत्सर का जन्म ॥

(अथ यत् प्रायणीयम् अतिरात्रम् उपयन्ति तत् अहोरात्रौ एव देवौ देवते यजतः अहोरात्रौ देवौ देवते भवतः अहोरात्रयोः देवयोः सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब प्रायणीय अतिरात्र [यज्ञ क० ९] को स्वीकार करते हैं तब दिन और रात ही दोनों देव देवता पूजे जाते हैं, दिन और रात दोनों देव देवता [मुख्य विषय] होते हैं, दिन और रात दोनों देवों के सहयोग और सहवास को वे पाते हैं, जो इसको स्वीकार करते हैं । १ । (अथ यत् चतुर्विंशम् अहः उपयन्ति तत् अर्धमासान् एव देवान् देवतां यजन्ते, अर्द्धमासाः देवाः देवताः भवन्ति, अर्द्धमासानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब चतुर्विंश अहः [यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब आधे-आधे महीनों देवों देवता को ही पूजते हैं, आधे-आधे महीने देव देवता होते हैं, आधे-आधे महीनों देवों के सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसको स्वीकार करते हैं । २ । (अथ यत् अभिप्लवम् उपयन्ति तत् ब्रह्माणम् एव देवं देवतां यजन्ते, ब्रह्मा देवः देवता भवति ब्रह्मणः देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब अभिप्लव को स्वीकार करते हैं, तब ब्रह्मा ही देव देवता को पूजते हैं, ब्रह्मा देव देवता होता है, ब्रह्मा देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ३ । (अथ यत् पृष्ठ्यम् उपयन्ति तत् क्षत्रम् एव देवं देवतां यजन्ते क्षत्रं देवः देवता भवति, क्षत्रस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब पृष्ठ्य यज्ञ को स्वीकार करते हैं, तब क्षत्रिय ही देव देवता को पूजते हैं, क्षत्रिय देव देवता होता है, क्षत्रिय देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ४ । (अथ यत् अभिजितम् उपयन्ति तत् अग्निम् एव देवं देवतां यजन्ते अग्निः देवः देवता भवति अग्नेः देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब अभिजित् यज्ञ को स्वीकार करते हैं, तब अग्नि ही देव देवता को पूजते हैं, अग्नि देव

१०—(यजतः) पूज्येते । अन्यद् व्याख्यातम् क० ८, ९ ॥

देवता होता है, अग्नि देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे पूजते हैं । ५ । (अथ यत् स्वरसाम्न: उपयन्ति, तत् अप: एव देवी: देवता: यजन्ते, आप: देव्य: देवता: भवन्ति अपां देवीनां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब स्वर-साम यज्ञों को स्वीकार करते हैं, तब जल ही देव देवता को पूजते हैं, जल देव देवता होता है, जल देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ६ । (अथ यत् विषुवन्तम् उपयन्ति तत् सूर्य्यम् एव देवं देवतां यजन्ते, सूर्य: देव: देवता भवति सूर्य्यस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब विषु-वत् [ग्रीष्म और शीत में तुल्य दिन रात वाले यज्ञ] को स्वीकार करते हैं तब सूर्य ही देव देवता को पूजते हैं, सूर्य देव देवता होता है, सूर्यदेव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं, जो इसे स्वीकार करते हैं । ७ । (आवृत्ता: स्वरसामान: उक्ता:) बार बार आने वाले स्वरसाम कहे गये । (अथ यत् विश्वजितम् उपयन्ति तत् इन्द्रम् एव देवं देवतां यजन्ते, इन्द्र: देव: देवता भवति, इन्द्रस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब विश्वजित् यज्ञ को स्वीकार करते हैं तब इन्द्र [ऐश्वर्य वान्] ही देव देवता को पूजते हैं, इन्द्र देव देवता होता है, इन्द्र देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ८ । (पृष्ठ्याभिप्लवौ उक्तौ) पृष्ठ्य और अभिप्लव यज्ञ दोनों कहे गये । (अथ यत् गवायुषीं उपयन्ति तत् मित्रावरुणौ एव देवौ देवते यजत: मित्रावरुणौ देवौ देवते भवत: मित्रावरुणयो: देवयो: सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब गवायुषी [गौ विद्या वा पृथिवी और आयु अर्थात् जीवन वाले दो यज्ञों] को स्वीकार करते हैं, तब मित्र और वरुण [प्राण और अपान] दोनों देव देवता पूजे जाते हैं, मित्र और वरुण दोनों देव देवता होते हैं, मित्र और वरुण देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ६ । (अथ यत् दशरात्रम् उपयन्ति, तत् विश्वान् एव देवान् देवतां यजन्ते, विश्वेदेवा: देवता: भवन्ति विश्वेषां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब दशरात्रि यज्ञ को स्वीकार करते हैं, तब सब ही देवों देवता को पूजते हैं सब ही देव देवता होते हैं, सब ही देवों का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । १० । (अथ यत् दाशरात्रिकं पृष्ठ्यं षडहम् उपयन्ति तत् दिश: एव देवी: देवता: यजन्ते दिश: देव्य: देवता: भवन्ति. दिशां देवीनां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब दाशरात्रिक पृष्ठ्य षडह [छह दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करते हैं तब दिशा ही देवियों देवता को पूजते हैं दिशा देवियां देवता होती हैं, दिशा देवियों का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं । ११ । (अथ यत् छन्दोमत्त्र्यहम् उपयन्ति तत् इमान् एव लोकान् देवान् देवतां यजन्ते इमे लोका: देवा: देवता: भवन्ति एषां लोकानां देवानां सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब छन्दोमत् त्र्यह [छन्दयुक्त तीन दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब इन ही लोकों देवों देवता को पूजते हैं, यह लोक देव देवता होते हैं इन दिव्य लोकों का सहयोग और सहवास वे पाते हैं, जो इसे स्वीकार करते हैं । १२ । (अथ यत् दशमम् अह: उपयन्ति तत् संवत्सरम्

एव देवं देवतां यजन्ते, संवत्सरः देवः देवता भवति, संवत्सरस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब दशम अहः [दसवें दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करते हैं, तब संवत्सर ही देव देवता को पूजते हैं, संवत्सर देव देवता होता है, संवत्सर देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं। १३। (अथ यत् महाव्रतम् उपयन्ति तत् प्रजापतिम् एव देवं देवतां यजन्ते. प्रजापतिः देवः देवता भवति, प्रजापतेः देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब महाव्रत यज्ञ को स्वीकार करते हैं तब प्रजापति ही देव देवता को पूजते हैं, प्रजापति देव देवता होता है. प्रजापति देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं। १४। (अथ यत् उदयनीयम् अतिरात्रम् उपयन्ति तत् स्वर्गम् एव लोकम् देवं देवतां यजन्ते. स्वर्गः लोकः देवः देवता भवति, स्वर्गस्य लोकस्य देवस्य सायुज्यं सलोकतां यन्ति ये एतत् उपयन्ति) फिर जब उदयनीय अतिरात्र यज्ञ को स्वीकार करते हैं तब स्वर्ग ही लोक देव देवता को पूजते हैं, स्वर्ग लोक देव देवता होता है स्वर्ग लोक देव का सहयोग और सहवास वे पाते हैं जो इसे स्वीकार करते हैं। १५। (तत् वै एतत् संवत्सरस्य जन्म) सो यही संवत्सर का जन्म है। (यः एवं संवत्सरस्य जन्म वेद सः एतत् संवत्सरम् आप्त्वा स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति) जो इस प्रकार संवत्सर के इस जन्म को जानता है. वह इस संवत्सर को पाकर स्वर्ग-लोक में ठहरता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति, यः एवं वेद, संवत्सरेण सात्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम्) वह प्रजा [संतानादि] से और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है, और संवत्सर के साथ एक आत्मा वाला और एक लोक वाला होकर दिव्य गुणों को पाता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है॥ १०।

भावार्थ:—यहां संवत्सर यज्ञ का विशेष वर्णन है, भावार्थ कण्डिका ९ के समान है ॥ १०॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान क० ७। ८। ९ से करो॥

कण्डिका ११ ॥

स वा एष संवत्सरोऽधिदैवं चाध्यात्मं च प्रतिष्ठितः स य एवमेतत् संवत्सरमधिदैवं चाध्यात्मं च प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठति प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ संवत्सर के ज्ञान की महिमा ॥

(सः वै एषः संवत्सरः अधिदैवं च अध्यात्मं च प्रतिष्ठितः) सो यही संवत्सर अधिदैव [मुख्य देवता] और अध्यात्म [आत्मा के अधिकार वाला ज्ञान] होकर ठहरा है। (यः एवम् एतत् संवत्सरम् अधिदैवं च अध्यात्मं च प्रतिष्ठितं वेद. सः प्रतिष्ठति) जो पुरुष इस प्रकार इस संवत्सर को अधिदैव और अध्यात्म ठहरा हुआ

जानता है वह ठहरता है । (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) वह प्रजा के साथ और पशुओं के साथ प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है । (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर है ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्य संवत्सर [यथावत् बसाने वाले काल] को बाहिर और भीतर से ठीक ठीक काम में लाने से संसार में यश पाता है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२ ॥

स वा एष संवत्सरो बृहतीमभिसम्पन्नो द्वावक्षरावह्लां षडहो द्वौ पृष्ठ्याभिप्लवौ गवायुषी दशरात्रस्तथा खलु षट्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते षट्त्रिंशदवदाना गौः षट्त्रिंशदक्षरा बृहती बार्हतो वै स्वर्गो लोको बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोके यजन्ते बृहत्या स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ संवत्सर की बृहती छन्द से उपमा और महिमा ॥

(सः वै एषः संवत्सरः बृहतीम् अभिसंपन्नः) सो यही संवत्सर बृहती [छन्द] से यथावत् मिला हुआ है—(द्वौ अक्षरौ अह्लां षडहः द्वौ पृष्ठ्याभिप्लवौ गवायुषी दशरात्रः) दो अक्षर (अह्लाम्) बहुत दिन वाले यज्ञों में (षडहः) छह दिन वाला यज्ञ है, दो पृष्ठ्य और अभिप्लव तथा गवायुषी [गो और आयु यज्ञ] (दशरात्रः) दश रात्रि वाला यज्ञ है । (तथा खलु षट्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते) इस प्रकार से ही वे छत्तीस [? ?] बनते हैं [षडह, पृष्ठ्य और अभिप्लव तथा गवायुषी और दशरात्र वा दाशरात्रिक पदों के लिये देखो कण्डिका ९, १०] । (षट्त्रिंशदवदाना गौः षट्त्रिंशदक्षरा बृहती) छत्तीस खण्ड वाली गौ है [और गौ के समान] छत्तीस अक्षर वाला बृहती छन्द [वेदवाणी] है । (बार्हतः वै स्वर्गः लोकः) बृहती [वेदवाणी] वाला ही स्वर्ग है । (बृहत्या वै देवाः स्वर्गे लोके यजन्ते) बृहती [वेदवाणी] के द्वारा देवता [विद्वान् लोग] स्वर्ग लोक में पूजे जाते हैं । (बृहत्याः स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति, प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) बृहती [वेदवाणी] से स्वर्ग लोक में वह ठहरता है और प्रजा के साथ और पशुओं के साथ वह प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है । (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर है ॥ १२ ॥

भावार्थः—वेदवाणी द्वारा संवत्सर के सुप्रयोग से मनुष्य प्रतिष्ठा पावे ॥ १२ ॥

विशेषः—इस कण्डिका का मिलान करो गो० पू० ३ । १८ तथा ४ । ९, १० ॥

१२—(अभिसंपन्नः) सम्यग् युक्तः (बृहती) वाक् । वेदवाणी छन्दोभेदः (बार्हतः) बृहती—अण् । बृहत्या वेदवाण्या सम्बद्धः ॥

कण्डिका १३ ॥

स वा एष संवत्सरस्त्रिमहाव्रतश्चतुर्विंशेन महाव्रतं विषुवति महाव्रतं महाव्रत एव महाव्रतं तं ह स्मैतमेवं विद्वांसः पूर्वे त्रिमहाव्रतमुपयन्ति ते तेजस्विन आसन् सत्यवादिनः संशितव्रता य एनमद्य तथापेयुर्यथाऽऽमपात्रमुदक आसिक्ते निर्मृज्ये-देवं यजमाना निर्मृज्येरन्नुपर्य्युपयन्ति तथा ह्यस्य सत्येन तपसा व्रतेन चाभिजित-मवरुद्धं भवति य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ संवत्सर और महाव्रत ॥

(सः वै एषः संवत्सरः त्रिमहाव्रतः, चतुर्विंशेन महाव्रतम्, विषुवति महाव्रतम्, महाव्रते एव महाव्रतम्) सो यही संवत्सर [यज्ञ] तीन महाव्रत वाला है, [अर्थात्] चतुर्विंश [चौबीस पक्ष वाले] के साथ महाव्रत १, विषुवान् [तुल्य दिन रात वाले काल अर्थात् मेष तुला की सङ्क्रान्ति के काल] में महाव्रत २, महाव्रत में महाव्रत ३ । (तं ह एतं त्रिमहाव्रतम् एवं पूर्वे विद्वांसः उपयन्ति स्म, ते तेजस्विनः सत्यवादिनः संशितव्रताः आसन्) उस ही तीन महाव्रत वाले [संवत्सर] को इस प्रकार पहिले विद्वानों ने स्वीकार किया, वे तेजस्वी, सत्यवादी, व्रत पूरे करने वाले हुये। (ये एनं अद्य तथा अपेयुः यथा आमपात्रम् उदके आसिक्ते निर्मृज्येत् एवं यज-मानाः निमृज्येरन्) जो [याजक] इस [संवत्सर] को आज इस प्रकार नष्ट कर देवें, जैसे कच्चा [मिट्टी का] पात्र जल भर जाने पर घुल जावे, वैसे ही [उन मूर्ख याजकों द्वारा] यजमान घुल जावें । (उपरि उपयन्ति तथा ह सत्येन तपसा व्रतेन च अस्य अभिजितम् अवरुद्धं भवति, यः एवं वेद) वे [उस को] ऊपर [वर्तमान होता हुआ] स्वीकार करते हैं और भी सत्यभाषण से, [ब्रह्मचर्य्यादि] तप से, और अग्निहोत्र आदि व्रत से उस का अभिजित् [सब ओर से जीतने वाला यज्ञ] प्राप्त हो जाता है जो इस प्रकार जानता है । (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर [यज्ञ] है ॥ १३ ॥

भावार्थः—विद्वान् कर्मकुशल याजकों द्वारा ही यजमानों का यज्ञ सिद्ध होता है ॥१३॥

कण्डिका १४ ॥

अथ यच्चतुर्विंशमहरुपेत्यानुपेत्य विषुवन्तं महाव्रतमुपेयात् कथमनाकूत्यं भव-तीति यमेवामुं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयादभिप्लवात् पृष्ठ्यो निर्मितः, पृष्ठ्यादभिजित्, अभिजितः स्वरसामानः, स्वरसामभ्यो विषुवान्, विषु-वतः स्वरसामानः, स्वरसामभ्यो विश्वजित्, विश्वजितः पृष्ठ्याभिप्लवौ, पृष्ठ्या-

---

१३-(त्रिमहाव्रतः) त्रीणि महाव्रतानि यस्मिन् स तथाभूतः (उपयन्ति स्म) स्वीकृतवन्तः (संशितव्रताः) सम्यक्सम्पादितव्रताः (अद्य) अस्मिन् दिने । इदानीम् (अपेयुः) अप—इयुः । नाशयेयुः (आमपात्रम्) अपक्वपात्रम् (आसिक्ते) समन्तात् सिञ्चिते (निर्मृज्येत्) शोधनेन नश्येत् (निर्मृज्येरन्) नश्येयुः (अवरुद्धम्) लब्धम् ॥

भिप्लवाभ्यां गवायुषी गवायुर्भ्यां दशरात्र:, दशरात्रात्[1] महाव्रतं 'महाव्रतादुद[1]-यनीयोऽतिरात्र उदयनीयोऽतिरात्र: स्वर्गाय लोकायान्नाद्याय प्रतिष्ठित्यै य एवं वेद स वा एष संवत्सर: ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ संवत्सर और महाव्रत यज्ञ के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(अथ यत् चतुर्विशम् अहः उपेत्य विषुवन्तम् अनुपेत्य महाव्रतम् उपेयात्, कथम् अनाकूत्यं भवति इति) फिर जब चतुर्विंश अहः [चौबीस दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करके और विषुवान् को न स्वीकार करके महाव्रत को स्वीकार करे, कैसे वह [यजमान] अयोग्य संकल्प के लिये होता है। (यम् एव अमुम् अतिरात्रम् विषुवतः पुरस्तात् उपयन्ति तेन इति ब्रूयात्) [उत्तर] जिस ही उस अतिरात्र [यज्ञ] को विषुवान् से पहिले स्वीकार करते हैं, उस से [वह अयोग्य संकल्प के लिये होता है] ऐसा कहे। (अभिप्लवात् पृष्ठ्यः निर्मितः) [क्योंकि] अभिप्लव [यज्ञ] से पृष्ठ्य [यज्ञ] बनाया गया है १, (पृष्ठ्यात् अभिजित्) पृष्ठ्य से अभिजित् [सब ओर से जीतने वाला यज्ञ] २, (अभिजितः स्वरसामानः) अभिजित् से स्वरसाम ३, (स्वर-सामभ्यः विषुवान्) स्वरसामों से विषुवान् [ग्रीष्म और शीत के तुल्य दिन रात्रि वाले काल में यज्ञ] ४, (विषुवतः स्वरसामानः) विषुवान् से स्वरसाम ५, (स्वरसामभ्यः विश्वजित्) स्वरसामों से विश्वजित् ६, (विश्वजितः पृष्ठ्याभिप्लवौ) विश्वजित् से पृष्ठ्य और अभिप्लव ७, (पृष्ठ्याभिप्लवाभ्यां गवायुषी) पृष्ठ्य और अभिप्लव से गवायुषी [कण्डिका ६] ८, (गवायुर्भ्यां दशरात्रः) दोनों गवायु [गो और आयु] से दशरात्र ९, (दशरात्रात् महाव्रतम्) दशरात्र से महाव्रत १०, (महाव्रतात् उदयनीयः अतिरात्रः) महाव्रत से उदयनीय अतिरात्र [बनाया गया है] ११। (उदयनीयः अतिरात्रः [अस्य] स्वर्गाय लोकाय अन्नाद्याय प्रतिष्ठित्यै, यः एवं वेद) उदयनीय अतिरात्र [उसके] स्वर्ग लोक के लिये, भोजन योग्य अन्न के लिये और प्रतिष्ठा के लिये होता है, जो ऐसा जानता है। (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर है ॥१४॥

विशेषः—इस कण्डिका के साथ देखो कण्डिका १७ तथा २२ ॥

कण्डिका १५ ॥

अथ यच्चतुर्विंशमहरुपेत्यानुपेत्य विषुवन्तं महाव्रतमुपेयात् कथमनाकूत्यं भवतीति यमेवामुं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयादभिप्लवात् पृष्ठ्यो निर्मितः, पृष्ठ्यादभिजित्, अभिजितः स्वरसामानः, स्वरसामभ्यो विषुवान्, विषुवतः स्वरसामानः, स्वरसामभ्यो विश्वजित्, विश्वजितः पृष्ठ्याभिप्लवौ, पृष्ठ्याभिप्लवाभ्यां गवायुषी, गवायुर्भ्यां दशरात्रोऽथ ह देवेभ्यो महाव्रतं न तस्थे

१४—(उपेत्य) स्वीकृत्य (अनुपेत्य) अस्वीकृत्य (अनाकूत्यै) नञ्+आ+कू शब्दे—क्तिन्। अयोग्यसंकल्पाय।

---

१. पू. सं. "दशरात्राय, 'उदयनीयाय', अतिरात्राय" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कथमूद्ध्र्वैः स्तोमैर्विषुवन्तमुपागातां वृत्तैर्मामिति ते देवाः इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो य ऊद्ध्र्वस्तोमो येनैतदहरवाप्नुयामेति तत एतं द्वादशरात्रमूद्ध्र्वस्तोमं ददृशुस्तमाहरंस्तेनायजन्त तत एभ्योऽतिष्ठंस्तिष्ठति हास्मै महाव्रतं प्रतिष्ठति प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥१५॥

कण्डिका १५ ॥ संवत्सर और महाव्रत के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(अथ यत् चतुर्विंशम् अहः उपेत्य विषुवन्तम् अनुपेत्य महाव्रतम् उपेयात्, कथम् अनाकूत्यं भवति इति) फिर जब चतुर्विंश अह [चौबीस दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करके और विषुवान् को न स्वीकार करके महाव्रत को स्वीकार करे, कैसे वह [यजमान] अयोग्य संकल्प के लिये होता है। (यम् एव अमुम् अतिरात्रं विषुवतः पुरस्तात् उपयन्ति तेन इति ब्रूयात्) [उत्तर] जिस ही उस अतिरात्र [यज्ञ] को विषुवान् से पहिले स्वीकार करते हैं उससे [वह अयोग्य संकल्प के लिये होता है] ऐसा कहे। (अभिप्लवात् पृष्ठचः निर्मितः) [क्योंकि] अभिप्लव [यज्ञ] से पृष्ठच [यज्ञ] बनाया गया है १, (पृष्ठचात् अभिजित्) पृष्ठच से अभिजित् २, (अभिजितः स्वरसामानः) अभिजित् से स्वरसाम ३, (स्वरसामभ्यः विषुवान्) स्वरसामों से विषुवान् [क० १४] ४, (विषुवतः स्वरसामानः) विषुवान् से स्वरसाम ५, (स्वरसामभ्यः विश्वजित्) स्वरसामों से विश्वजित् ६, (विश्वजितः पृष्ठचाभिप्लवौ) विश्वजित् से पृष्ठच और अभिप्लव ७, (पृष्ठचाभिप्लवाभ्यां गवायुषी) पृष्ठच और अभिप्लव से गवायुषी [क० ६] ८ (गवायुर्भ्यां दशरात्रः) दोनों गवायु से दशरात्र [बनाया गया है] ९। (अथ ह देवेभ्यः महाव्रतं न तस्थे कथम् ऊद्ध्र्वैः स्तोमैः विषुवन्तम् उपागाताम्) फिर भी देवताओं के लिये महाव्रत न ठहरा, किस प्रकार ऊद्ध्र्व स्तोमों [स्तोत्र विशेषों] से विषुवान् यज्ञ को स्वीकार करे। (वृत्तैः माम् इति ते देवाः इह सामिवासुः, तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः ऊद्ध्र्वस्तोमः, येन एतत् अहः अवाप्नुयाम इति) सच्चरित्रों से मुझको, तेरे लिये देवता [विद्वान् लोग] यहां मोक्ष विद्या में निवास करने वाले हैं, उस यज्ञ कर्म को समीप होकर हम जानें जो ऊद्ध्र्वस्तोम है और जिससे इस अह [दिन अर्थात् यज्ञ विशेष] को हम प्राप्त करें [इन ब्राह्मण वचनों से विषुवान् यज्ञ को स्वीकार करे]। (ततः एतं द्वादशरात्रम् ऊद्ध्र्वस्तोमं ददृशुः तम् आहरन् तेन अयजन्त ततः एभ्यः अतिष्ठन्) इसी से इस द्वादशरात्र उद्ध्र्वस्तोम को उन्हों [ऋषियों] ने देखा, उसे वे ले आये, उससे यज्ञ किया, उसीसे उन [देवताओं] के लिये वह [महाव्रत] ठहरा। (अस्मै ह महाव्रतं तिष्ठति प्रतिष्ठति, प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवम् वेद) उस [पुरुष]

१५—(न) निषेधे (तस्थे) तस्थौ (उपागाताम्) उप+आ+गाङ् गतौ—लोट्। उपागच्छेत्। उपेयात् (वृत्तैः) वृतु वर्तने—क्तः। सच्चरित्रैः (सामिवासुः) कृवापाजिमि० (उ० १ । १) साम्नि+वस निवासे—उण्, नकारलोपः। साम्निवासकः। मोक्षज्ञाने निवासशीलः (उप) उपेत्य (यज्ञक्रतुम्) यज्ञकर्म। यज्ञप्रज्ञाम् (अतिष्ठन्) अतिष्ठत् ॥

के लिये ही महाव्रत ठहरता है, महाव्रत अच्छे प्रकार ठहरता है, और वह प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है। (सः वै एषः संवत्सरः) वही यह संवत्सर है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६ ॥

अथ यच्चतुर्विंशमहरुपेत्यानुपेत्य विषुवन्तं महाव्रतमुपेयात् कथमनाकूत्यं भवतीति यमेवामुं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयात् तदाहुः कति संवत्सरस्य पराञ्च्यहानि भवन्ति, कत्यर्वाञ्चि, तद्यानि सकृत् सकृदुपयन्ति तानि पराञ्चि, अथ यानि पुनः पुनरुपयन्ति तान्यर्वाञ्चि, इत्येवैनान्युपासीरन् षडहयोर्ह्यावृत्तिमन्वावर्त्तन्ते य एवं वेद स वा एष संवत्सर ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ संवत्सर और महाव्रत के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(अथ यत् चतुर्विंशम् अहः उपेत्य विषुवन्तम् अनुपेत्य महाव्रतम् उपेयात् कथम् अनाकूत्यं भवति इति) फिर जब चतुर्विंश अह [चौबीस दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करके और विषुवान् को न स्वीकार करके महाव्रत को स्वीकार करे कैसे वह [यजमान] अयोग्य संकल्प के लिये होता है। (यम् एव अमुम् अतिरात्रं विषुवतः पुरस्तात् उपयन्ति तेन इति ब्रूयात्) [उत्तर] जिस ही उस अतिरात्र [यज्ञ] को विषुवान् से पहिले स्वीकार करते हैं, उससे [वह अयोग्य संकल्प के लिये होता है]. ऐसा कहे। (तत् आहुः संवत्सरस्य कति पराञ्चि अह्वानि भवन्ति, कति अर्वाञ्चि) यह कहते हैं कि संवत्सर के कितने पराञ्चि [प्राचीन वा पुराने] दिन होते हैं और कितने अर्वाञ्चि [अर्वाचीन वा नूतन]। (तत् यानि सकृत् सकृत् उपयन्ति तानि पराञ्चि, अथ यानि पुनः पुनः उपयन्ति तानि अर्वाञ्चि इति एव एनानि उपासीरन्) [उत्तर] सो जिन को एक एक बार स्वीकार करते हैं वे पराञ्चि हैं, फिर जिन को बार २ स्वीकार करते हैं वे अर्वाञ्चि हैं, मनुष्य इनकी ही उपासना करें। (षडहयोः हि आवृत्तिम् अन्वावर्तन्ते यः एवं वेद) वह दोनों षड् अह [छह दिन वाले यज्ञों] की आवृत्ति निरन्तर करता रहे जो ऐसा जानता है, (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७ ॥

अथ यच्चतुर्विंशमहरुपेत्यानुपेत्य विषुवन्तं महाव्रतमुपेयात् कथमनाकूत्यं भवतीति यमेवामुं पुरस्ताद्विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्ति तेनेति ब्रूयादभिप्लवं पुरस्तात्

१६—(कति) संख्याभेदपरिज्ञानाय प्रश्नः (पराञ्चि) पर+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। परकालगतानि। पराचीनानि (अर्वाञ्चि) अवर+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। पृषोदरादित्वात् अवरस्य 'अर्व' आदेशः। पश्चात्काले भवानि। अर्वाचीनानि (सकृत्) एकवारम् (आवृत्तिम्) पुनः पुनरभ्यासम् (अन्वावर्तन्ते) अनुगत्य प्रवर्तन्ते ॥

विषुवतः पूर्वमुपयन्ति पृष्ठचमुपरिष्टात् पिता वा अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठ्यस्तस्मात्पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति पृष्ठ्यं पश्चाद्विषुवतः पूर्वमुपयन्ति अभिप्लवमुपरिष्टात् पिता वा अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठ्यस्तस्मादुत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति य एवं वेद तदप्येतदृचोक्तम् । शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोरित्युप ह वा एनं पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्त्युपोतमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ संवत्सर और महाव्रत के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(अथ यत् चतुर्विंशम् अहः उपेत्य विषुवन्तम् अनुपेत्य महाव्रतम् उपेयात् कथम् अनाकूत्यै भवति इति) फिर जब चतुर्विंश अहः [चौबीस दिन वाले यज्ञ] को स्वीकार करके और विषुवान् [तुल्य दिन रात वाले काल के यज्ञ] को न स्वीकार करके महाव्रत को स्वीकार करे, कैसे वह [यजमान] अयोग्य संकल्प के लिये होता है। (यम् एव अमुम् अतिरात्रं विषुवतः पुरस्तात् उपयन्ति तेन इति ब्रूयात्) [उत्तर] जिस ही उस अतिरात्र [यज्ञ] को विषुवान् से पहिले स्वीकार करते हैं उस से [वह अयोग्य संकल्प के लिये होता है] ऐसा कहे। (पूर्वं अभिप्लवं विषुवतः पुरस्तात् उपयन्ति पृष्ठचम् उपरिष्टात् पिता वै अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठचः, तस्मात् पूर्वे वयसि पुत्राः पितरम् उपजीवन्ति) पहिले अभिप्लव को विषुवान् से पहिले स्वीकार करते हैं और पृष्ठच [यज्ञ] को पीछे, पिता ही अभिप्लव और पुत्र पृष्ठच है, इसलिये पहिली अवस्था में पुत्र पिता के सहारे जीते हैं, (पूर्वं पृष्ठचं विषुवतः पश्चात् उपयन्ति अभिप्लवम् उपरिष्टात् पिता वै अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठचः, तस्मात् उत्तमे वयसि पिता पुत्रान् उपजीवति यः एवं वेद) पहिले पृष्ठच को विषुवान् से पीछे स्वीकार करते हैं और अभिप्लव को पीछे, पिता अभिप्लव और पुत्र पृष्ठ्य है, इसलिये पिछली अवस्था में पिता पुत्रों के सहारे जीता है जो ऐसा जानता है।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) यही इस ऋचा करके कहा गया है। शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः, इति—ऋग्वेद १ । ८९ । ९ ॥ (अन्ति) हे जीवधारी

१७—(वयसि) अज गतिक्षेपणयोः—असुन्, वीभावः । अवस्थायाम् (उपजीवन्ति) आश्रित्य जीवन्ति (इत्) निश्चयेन (नु) शीघ्रम् एव (शरदः) शरदृतूपलक्षितान् (अन्ति) पदिप्रथिभ्यां नित् (उ० ४ । १८३) अन प्राणने—तिः, नित् । सुपां सुलुक्० (पा० ७ । १ । ३९) जसो लुक् । हे अन्तयः । जीविताः (देवाः) विद्वांसः (नः) अस्मभ्यम् (चक्र) यूयं कृतवन्तः वा कुरुत, लोडर्थे—लिट् (जरसम्) वृद्धावस्थाम् (पितरः) पितृवद्रक्षितारः (नः) अस्माकम् (मध्या) सप्तम्या डादेशः । मध्ये (मा रीरिषत) रिष हिंसायाम्-णिच् । मा हिंसीष्ट (आयुर्गन्तोः) जीवनस्य मार्गान् ॥

---

१. पू. सं० 'उपजीवन्ति' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

(देवा:) विद्वानो ! (यत्र) जहाँ पर (न:) हमारे लिए (शतं शरद:) सौ वर्ष तक (इत्) निश्चय करके (नु) ही (तनूनाम्) अपने शरीरों के (जरसम्) बुढ़ापे को (चक्र) तुम व्यतीत करो, (यत्र) जहाँ पर (पुत्रास:) पुत्र लोग (पितर:) पिता [वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पिता के समान] (भवन्ति) होवें, [वहाँ] (न:) हमारे (आयु:) जीवन और (गन्तो:[1]) गतियों को (मध्या) बीच में (मा रीरिषत) मत नष्ट करो ।।

(पूर्वे उपवयसि पुत्रा: ह वै एनं पितरम् उपजीवन्ति, उपोत्तमे वयसि पिता पुत्रान् उपजीवति य: एवं वेद) पहिली अवस्था में पुत्र निश्चय करके इस पिता के ही सहारे जीते हैं और पिछली अवस्था [संन्यास वा बुढ़ापे] में पिता पुत्रों के सहारे जीता है जो ऐसा जानता है । (स: वै एष: संवत्सर:) वही यह संवत्सर [यज्ञ] है ।।१७।।

भावार्थ:—जैसे विषुवान् यज्ञ अभिप्लव और पृष्ठ्य यज्ञ से मिला होता है, वैसे ही पिता और पुत्र प्रीतिपूर्वक परस्पर रक्षा करें ।। १७ ।।

कण्डिका १८ ।।

अथ हैष महासुपर्णस्तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवत: षण्मासानुपयन्ति स दक्षिण: पक्षोऽथ यानावृत्तानुपरिष्टात् षडुपयन्ति स उत्तर: पक्ष: आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि पक्षौ यत्र वा आत्मा तत्पक्षौ यत्र वै पक्षौ तदात्मा न वा आत्मा पक्षावतिरिच्यते[2] नो पक्षावात्मानमतिरिच्येते इत्येवमु हैव तदपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सर: ।। १८ ।।

कण्डिका १८ ।। संवत्सर बड़ा गरुड़, विषुवान् आत्मा और दोनों अर्धसंवत्सर दो पक्ष ।।

(अथ ह एष: महासुपर्ण:,) फिर यही [संवत्सर] बड़ा गरुड़ है । (विषुवत: पुरस्तात् तस्य यान् षट् मासान् उपयन्ति स: दक्षिण: पक्ष:, अथ उपरिष्टात् यान् आवृत्तान् षट् उपयन्ति स: उत्तर: पक्ष:) विषुवान् से पहिले उस [संवत्सर] के जिन छ: महीनों को स्वीकार करते हैं वह दक्षिण पक्ष [दाहिना पंख] है, फिर [विषुवान् से] पीछे जिन लौटते हुये छह [महीनों] को स्वीकार करते हैं वह उत्तर पक्ष [बायाँ पंख] है । (संवत्सरस्य वै आत्मा विषुवान् अङ्गानि पक्षौ) संवत्सर का ही आत्मा [देह] विषुवान् और अङ्ग दोनों पंख हैं । (यत्र वै आत्मा तत् पक्षौ, यत्र वै पक्षौ तत् आत्मा)

१८—(महासुपर्ण:) महागरुड: । पक्षिराज: (आवृत्तान्) अभ्यस्तान् पुन: पुनर्वर्त्तमानान् (आत्मा) देह: । जीव: (तत्) तत्र (अतिरिच्यते) अतिरिणक्ति

---

१. पू. सं० "गती:" इति पाठ: ।। सम्पा० ।।

२. कर्मणि प्रयोगोऽयम्, तदनुसारेण विभक्तिविपरिणाम: भवितव्य: । मूलपाठोऽत्र भ्रष्ट: प्रतीयते ।। सम्पा० ।।

जहां पर ही आत्मा [देह] है वहां दोनों पंख हैं, जहां पर ही दोनों पंख हैं वहां आत्मा है। (आत्मा वै पक्षौ न अतिरिच्यते नो पक्षौ आत्मानम् अतिरिच्येते इति) आत्मा निश्चय करके दोनों पक्षों से भिन्न नहीं है और न दोनों पक्ष आत्मा से भिन्न हैं। (एवम् उ ह एव अपरेषाम् अह्नां तत् स्विदितं परेषाम् इति) इसी प्रकार से ही [विषुवान् से] इधर वाले दिनों का वह पसीना [निचोड़] है, जो उधर वालों का है। (परेषां च अपरेषां च एव इति ब्रूयात्) और [जो विषुवान् से] उधर वाले [दिनों] का [पसीना] है, वह इधर वालों का है-ऐसा कहना चाहिये। (सः वै एषः संवत्सरः) वही यह संवत्सर है ॥ १८ ॥

भावार्थः—संवत्सर में विषुवान् [तुल्य रात्रि दिन का काल] दो बार एक ग्रीष्म में और एक शीत में होता है और दोनों का काल परिणाम और प्रभाव तुल्य है, ऐसा ज्योतिष से जानना चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९ ॥

तदाहुर्यद् द्वादश मासाः संवत्सरोऽथ हैतदहरवाप्नुयामेति यद्वैषुवतमपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयादात्मा, वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासा यत्र वा आत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा, न वा आत्माऽङ्गान्यतिरिच्येते नोऽङ्गान्यात्मानमतिरिच्यन्त इत्येवमु हैव तदपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः ॥ १९ ॥

कण्डिका १९ ॥ विषुवान् से संवत्सर के बारह महीने ॥

(तत् आहुः यत् द्वादश मासाः संवत्सरः) यह कहते हैं कि बारह महीने संवत्सर है, (अथ ह एतत् अहः अवाप्नुयाम यत् वैषुवतम् इति) अब ही हम वह दिन प्राप्त करें जो विषुवान् वाला [दिन] है, (अपरेषाम् अह्नां स्विदितं परेषाम् इति, परेषां च अपरेषां च एव इति ब्रूयात्) [विषुवान् से] इधर वाले दिनों का वह पसीना [निचोड़] है जो उधर वालों का है, और [विषुवान् से] उधर वाले [दिनों] का [पसीना] है, वह इधर वालों का है—ऐसा कहना चाहिये। (संवत्सरस्य वै आत्मा विषुवान् अङ्गानि मासाः) संवत्सर का ही आत्मा [देह] विषुवान् और अङ्ग दो महीने [=बारह महीने] हैं। (यत्र वै आत्मा तत् अङ्गानि यत्र अङ्गानि तत् आत्मा) जहां पर ही आत्मा है वहां अङ्ग हैं, जहां अङ्ग हैं वहां आत्मा है। (आत्मा वै अङ्गानि न अतिरिच्येते नो अङ्गानि आत्मानम् अतिरिच्यन्ते इति) आत्मा निश्चय करके अङ्गों से भिन्न नहीं है, न अङ्ग आत्मा से भिन्न हैं। (एवम् उ ह

इत्यर्थः। भिन्नं करोति (अतिरिच्येते) अतिरिङ्क्तः इत्यर्थः। भिन्नं कुरुतः (स्विदितम्) ञिष्विदा घर्मस्रुतौ—क्तः। स्वेदः। घर्मनिस्सरणम् ॥

१९—(अवाप्नुयाम) प्राप्नुयाम (वैषुवतम्) विषुवत्—अण्। विषुवतः सम्बद्धम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

एव अपरेषाम् अह्नां तत् स्विदितं परेषाम् इति) इसी प्रकार से ही [विषुवान् से] इधर वाले दिनों का वह पसीना [निचोड़] है, जो इधर वालों का है। (परेषां च अपरेषां च एव इति ब्रूयात्) और [जो विषुवान् से] उधर वाले [दिनों] का [पसीना] है, वह इधर वालों का है—ऐसा कहना चाहिये। (सः वै एषः संवत्सरः) वही यह संवत्सर है ॥ १६ ॥

भावार्थः—विषुवान् अर्थात् मेष-तुला की संक्रान्ति पर तुल्य दिन रात्रि का समय वर्ष में दो बार होता है, एक ग्रीष्म में दूसरा शीत में और दोनों छह मासों में ताप और शीत तुल्य होता है, इससे संवत्सर यज्ञ चाहे किसी विषुवान् से आरम्भ किया जावे ॥१६॥

कण्डिका २० ॥

तदाहुः कथमुभयतो ज्योतिषोऽभिप्लवा अन्यतरो ज्योतिस्पृष्ठ्य इत्युभयतो ज्योतिषो वा इमे लोका अग्निनेता आदित्येनामुत इत्येष ह वा एतेषां ज्योतिर्य एनं प्रमृदीव तपति देवचक्रे ह वा एते पृष्ठचं प्रतिष्ठिते पाप्मानं दृंहती परिप्लवेते तद्य एवं विदुषां दीक्षितानां पापकं कीर्त्तयेदेत एवास्य तद्देवचक्रे शिरश्छन्दतो दशरात्रमुद्धिः[1] पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे दशरात्रमुद्धिः पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे तन्त्रं कुर्वीतेति ह स्माह वास्युस्तयो स्तोत्राणि च शस्त्राणि च सञ्चारयेद्यः सञ्चारयेत्तस्मादिमे पुरुषे प्राणा नाना सन्त एकोदयाच्छरीरमधिवसति यन्न सञ्चारयेत् प्रमायुको ह यजमानः स्यादेष ह वै प्रमायुको योऽन्धो वा बधिरो वा न चाग्निष्टोमा मासि सम्पद्यन्ते न वै प्राणा प्राणैर्यज्ञस्तायत एकविंशतिरुक्थ्या एकोक्थ्यः षोडश्यन्नं वा उक्थ्यं वीर्य्यं षोडशैव तया रूढ्वा स्वर्गं लोकमध्यारोहन्ति ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(तत् आहुः कथं ज्योतिषः उभयतः अभिप्लवौ, अन्यतरः ज्योतिः पृष्ठ्यः इति) यह कहते हैं कि किस प्रकार ज्योति [ज्योतिष्टोम] के दोनों ओर [आदि और अन्त में] दो अभिप्लव यज्ञ हैं, दोनों में कोई पृष्ठ्य ज्योतिष्टोम होता है। (ज्योतिषः उभयतः वै इमे लोकाः अग्निनेता आदित्येन अमुतः इति) [उत्तर] ज्योति [सूर्य] के दोनों ओर ही ये लोक अग्नि से चलाये गये सूर्य द्वारा उस [सूर्यलोक] से हैं। (एषः ह वै एतेषां ज्योतिः यः एनं प्रमृदी इव तपति) यही सूर्य इन [लोकों] के बीच में है जो [लोढ़ा से] पीसने वाले के समान इस [लोक] को तपाता है। (एते ह वै देवचक्रे पृष्ठ्यं प्रतिष्ठिते दृंहती पाप्मानं परिप्लवेते) यही दोनों देव [सूर्य और

२०—(उभयतः) उभयपार्श्वे। आद्यन्तयोः (ज्योतिषः) ज्योतिष्टोमस्य। सूर्यस्य (अग्निनेता) बहुवचनस्यैकवचनम्। अग्निर्नेता येषां ते अग्निनेतारः (अमुतः) तस्मात्। सूर्यलोकात् (प्रमृदी) प्र + मृद क्षोदे—क्विप्। इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (वा० पा० ७ । १ । ३९) प्रथमायाः ईकारादेशः। प्रमर्दकः। प्रपेष्टा (इव) यथा (तपति) तापयति (देवचक्रे) ज्योतिश्चक्रे

---

१. पू० सं० "उद्धिम्" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

अग्नि] के चक्र पृष्ठ्य यज्ञ में स्थापित किये हुये दृढ़ होकर पाप [दोष] को चलायमान कर देते हैं । (तत् यः एवं विदुषां दीक्षितानां पापकं कीर्तयेत्, एते एव देवचक्रे तत् अस्य शिरः छन्दतः) सो जो मनुष्य इस प्रकार विद्वान् दीक्षित लोगों के पाप [दोष] बतावे, यही दोनों देवचक्र [दोनों पृष्ठ्य और अभिप्लव] तब उस [पाप] के शिर को हटा देते हैं । (दशरात्रम् उद्धिः पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे, [1]दशरात्रम् उद्धिः पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे) दशरात्र रथनाभि है और दोनों पृष्ठ्य अभिप्लव दो पहिये हैं, दशरात्र रथनाभि है और दोनों पृष्ठ्य अभिप्लव दो पहिये हैं [अर्थात् अवश्य हैं]। (वास्युस्तयः ह स्म आह तन्त्रं कुर्वीत इति स्तोत्राणि च शस्त्राणि च संचारयेत्) दोषनाशक [ब्रह्मा] ऐसा कहता है कि वह [यजमान] उपाय करे और स्तोत्रों और शस्त्रों [स्तुतिविधायक मन्त्रों और नियम विधायक मन्त्रों] को बोले । (यः सञ्चारयेत् तस्मात् पुरुषे इमे प्राणाः नाना सन्तः एकोदयात् शरीरम् अधिवसति) जो पुरुष [स्तोत्रों और शस्त्रों को] बोले उससे [उस] पुरुष में यह प्राण अनेक प्रकार होकर एक में उदय करने के कारण शरीर में टिकते हैं । (यत् न संचारयेत् यजमानः प्रमायुकः ह स्यात्) यदि वह [स्तोत्रों और शस्त्रों को] न बोले, यजमान मृतक ही हो जावे । (एषः ह वै प्रमायुकः यः अन्धः वा बधिरः वा न च अग्निष्टोमाः मासि सम्पद्यन्ते न वै प्राणाः प्राणैः यज्ञः तायते) वही मृतक है जो अन्धा वा बहिरा है और न [जिस करके] अग्निष्टोम महीने में किये जाते हैं और न प्राण प्राणों के साथ [किये जाते हैं और न दूसरा] यज्ञ फैलाया जाता है । (एकविंशतिः उक्थ्याः) इक्कीस उक्थ्य [यज्ञ विशेष] हैं । (एकोक्थ्यः षोडशी, अन्नं वै उक्थ्यं वीर्य्यं षोडश एव) एक उक्थ्य षोडशी [सोलह मन्त्र वाला] है अन्न ही उक्थ्य सम्बन्ध वाला सामर्थ्य षोडश [सोलह प्रकार] है, [वे सोलह यह हैं—चार वर्ण, चार आश्रम, श्रवण,

---

(पाप्मानम्) पापम् । दोषम् (दृंहती) दृहि वृद्धौ—शतृः । वर्धमाना । दृढा (छन्दतः) छदि संवरणे—लट् । अपवारयतः । नाशयतः (उद्धिः) उपसर्गे घोः किः (पा० ३ । ३ । ९२) उत्+डुधाञ् धारणपोषणयोः—किः, प्रधिः । रथनाभिः (चक्रे) रथचक्रद्वयं यथा (तन्त्रम्) उपायम् । यज्ञकार्यम् (वास्युस्तयः) वसिवपियजि० (उ० ४ । १२५) वस वधे—इञ् । वलिमलितनिभ्यः कयन् (उ० ४ । ९९) वासि+वस्त वधे—कयन्, कित्त्वात् संप्रसारणम् । वासीनां हिंसकानाम् उस्तयो हिंसकः । दोषनाशकः (शस्त्राणि) नियमान् । स्तोत्रविशेषान् (सञ्चारयेत्) सम्यक् चालयेत् । उच्चारयेत् (एकोदयात्) एकस्मिन् देहे उद्गमनात् (अधिवसति) निवसन्ति (प्रमायुकः) लषपतपदस्था० (पा० ३ । २ । १५४) प्र+मीञ् हिंसायाम्–उकञ् । युक् च मृतकः (षोडशी) षोडश–इनिः । षोडशमन्त्रोपेतः (षोडश) षोडशन्—डट् ततः अर्शादिअच् । विभक्तेर्लुक् । षोडशम् । षोडशावयव-

---

१. यहाँ "दशरात्रम् उद्धि पृष्ठ्याभिप्लवौ चक्रे" यह दुबारा पढ़ा हुआ पाठ अपपाठ रूप ही प्रतीत होता है ।। सम्पा० ।।

मनन, निदिध्यासन=तीन कर्म, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुये का अच्छे मार्ग में—व्यय करना, और सोलहवां मोक्ष का अनुष्ठान—जैसा दयानन्द भाष्य यजुर्वेद ९ । ३४ में व्याख्यात है]। (तया रूढ्वा स्वर्गं लोकम् अध्यारोहन्ति) उस [इष्टि] के द्वारा चढ़कर स्वर्ग लोक में चढ़ते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ:—सूर्यमण्डल प्रकाशपिण्ड है, उसके दोनों ओर आगे पीछे प्रकाश है, इसी प्रकार यज्ञ के दोनों ओर आदि अन्त में अभिप्लव अथवा पृष्ठ्य यज्ञ होता है ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

अथातोऽह्नामध्यारोहः । प्रायणीयेनातिरात्रेणोदयनीयमतिरात्रमध्यारोहन्ति, चतुर्विंशेन महाव्रतमभिप्लवेन परमभिप्लवं, पृष्ठ्येन परं पृष्ठ्यमभिजिताऽभिजितं, स्वरसामभिः परान् स्वरसामानोऽथ हैतदहरवाप्नुयामेति यद्वैषुवतमपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां च परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ संवत्सर का अतिरात्र आदिकों से संबन्ध

(अथ अतः अह्नाम् अध्यारोहः) अब यहाँ दिनों [यज्ञ विशेषों] का चढ़ाव [कहा जाता है]। (प्रायणीयेन अतिरात्रेण उदयनीयम् अतिरात्रम् अध्यारोहन्ति) प्रायणीय अतिरात्र [यज्ञ] से उदयनीय अतिरात्र को चढ़ते हैं, (चतुर्विंशेन महाव्रतम्) चतुर्विंश से महाव्रत को, (अभिप्लवेन परम् अभिप्लवम्) अभिप्लव से पिछले अभिप्लव को, (पृष्ठ्येन परं पृष्ठ्यम्) पृष्ठ्य से पिछले पृष्ठ्य को, (अभिजिता अभिजितम्) अभिजित् से अभिजित् को (स्वरसामभिः परान् स्वरसामानः) स्वरसामों से पिछले स्वरसामों को [चढ़ते हैं]। (अथ ह एतत् अहः अवाप्नुयाम यत् वैषुवतम् इति) अब हम ही वह दिन प्राप्त करें जो विषुवान् वाला [दिन] है, (अपरेषाम् अह्नां स्विदितं परेषाम् इति, परेषां च अपरेषां च इति ब्रूयात्) [विषुवान् से] इधर वाले दिनों का पसीना [निचोड़] है जो उधर वालों का है, और [विषुवान् से] उधर वाले [दिनों] का [पसीना] है, वह इधर वालों का है—ऐसा कहना चाहिये । (सः वै एषः संवत्सरः) वही यह संवत्सर है [देखो क० १६] ॥ २१ ॥

भावार्थ:—दोनों विषुवानों में से किसी ही विषुवान् से संवत्सर यज्ञ आरम्भ करना चाहिये । यह विषुवान् से एक ओर वाले यज्ञों का वर्णन है ॥ २१ ॥

युक्तम् । चत्वारो वर्णाश्चत्वारः आश्रमाः, श्रवणमनननिदिध्यासनानि त्रीणि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य यत्नेन रक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययीकरणम् एष चतुर्विधः पुरुषार्थः, एतैः पंचदशभिः प्राप्तः षोडशो मोक्षः—यथा व्याख्यातं दयानन्दभाष्ये यजुर्वेदे । ९ । ३४ । एतैः षोडशभिर्युक्तम् (रूढ्वा) अधिरुह्य ॥

२१—(अध्यारोहः) आरोहणम् (अध्यारोहन्ति) उपरिगच्छन्ति (परम्) पश्चाद्भवम् (स्वरसामानः) स्वरसाम्नः । यज्ञविशेषान् । अन्यद्गतम्—क० १९ ॥

कण्डिका २२ ॥

अथातोऽह्नां निवाहः[1] । प्रायणीयोऽतिरात्रश्चतुर्विंशायाह्ने निवहति, चतुर्विंशमहरभिप्लवाय, अभिप्लवः पृष्ठ्याय, पृष्ठ्योऽभिजिते, अभिजिद् स्वरसामभ्यः, स्वरसामानो विषुवते, विषुवान् स्वरसामभ्यः, स्वरसामानो विश्वजिते, विश्वजित् पृष्ठ्याभिप्लवाभ्यां, पृष्ठ्याभिप्लवौ गवायुर्भ्यां गवायुषी दशरात्राय, दशरात्रो महाव्रताय महाव्रतमुदयनीयायातिरात्राय, उदयनीयोऽतिरात्रः स्वर्गाय लोकायान्नाद्याय प्रतिष्ठित्यै य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ संवत्सर का अतिरात्र आदिकों से संबन्ध ॥

(अथ अतः अह्नां निवाहः) अब यहां दिनों [यज्ञ विशेषों] का उतार [कहा जाता है] । (प्रायणीयः अतिरात्रः चतुर्विंशाय अह्ने निवहति) प्रायणीय अतिरात्र चतुर्विंश दिन के लिये उतरता है, (चतुर्विंशम् अहः अभिप्लवाय) चतुर्विंश दिन अभिप्लव के लिये, (अभिप्लवः पृष्ठचाय) अभिप्लव पृष्ठ्य के लिये, (पृष्ठचः अभिजिते) पृष्ठ्य अभिजित् के लिये, (अभिजित् स्वरसामभ्यः) अभिजित् स्वरसामों के लिये, (स्वरसामानः विषुवते) सब स्वरसाम यज्ञ विषुवान् के लिये, (विषुवान् स्वरसामभ्यः) विषुवान् स्वरसामों के लिये, (स्वरसामानः विश्वजिते) सब स्वरसाम विश्वजित् के लिये, (विश्वजित् पृष्ठ्याभिप्लवाभ्याम्) विश्वजित् पृष्ठ्य और अभिप्लव के लिये, (पृष्ठ्याभिप्लवौ गवायुर्भ्याम्) दोनों पृष्ठ्य और अभिप्लव दोनों गवायु के लिये, (गवायुषी दशरात्राय) दोनों गवायु दशरात्र के लिये, (दशरात्रः महाव्रताय) दशरात्र महाव्रत के लिये, (महाव्रतम् उदयनीयाय अतिरात्राय) महाव्रत उदयनीय अतिरात्र के लिये, (उदयनीयः अतिरात्रः स्वर्गाय लोकाय अन्नाद्याय प्रतिष्ठित्यै यः एवं वेद) उदयनीय अतिरात्र [उसके] स्वर्ग लोक के लिए, भोजन योग्य अन्न के लिये और प्रतिष्ठा के लिये [उतरता है], जो ऐसा जानता है । (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर है [देखो क० १४] ॥ २२ ॥

भावार्थः—यहाँ विषुवान् के दूसरी ओर वाले यज्ञों का वर्णन है [देखो कण्डिका १४] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३ ॥

आदित्याश्च ह वा आङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्द्धन्त वयं पूर्वे स्वरेष्यामो वयं पूर्व इति त आदित्या लघुभिः सामभिश्चतुर्भिस्तोमैर्द्वाभ्यां पृष्ठ्याभ्यां स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त, यदभ्यप्लवन्त तस्मादभिप्लवोऽन्वश्च एवाङ्गिरसो गुरुभिः सामभिः

२२—(निवाहः) अधोगमनम् (निवहति) अधोगच्छति । अन्यद् गतम् ॥

---

1. पू. सं 'नीवाहः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

सर्वैः[1] स्तोमैः सर्वैस्पृष्ठ्यैः स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त, यदभ्यस्पृशन्त तस्मात् स्पृश्यस्तं वा एतं स्पृशं सन्तं पृष्ठ्य इत्याचक्षते, परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। अभिप्लवात् पृष्ठ्यो निर्मितः, पृष्ठ्यादभिजित्, अभिजितः स्वरसामानः, स्वरसामभ्यो विषुवान्, विषुवतः स्वसामानः, स्वरसामभ्यो विश्वजिद्विश्वजितः पृष्ठ्याभिप्लवौ, पृष्ठ्याभिप्लवाभ्यां गवायुषी, गवायुभ्यां दशरात्रस्तानि ह वा एतानि यज्ञारण्यानि यज्ञकृत्तन्त्राणि तेषां शतं शतं रथानां न्यन्तरं तद्यथाऽरण्यान्यारूढा अशनापिपासे ते पाप्मानं दृंहती परिप्लवेते एवं हैवैते प्रप्लवन्ते ये विद्वांस उपयन्त्यथ ये विद्वांसमुपयन्ति तद्यथा प्रवाहात् प्रवाहं स्थलात् स्थलं समात्समं सुखात् सुखमभयादभयमुपसङ्क्रामन्तीत्येवं हैवैते संवत्सरस्योदृचं समश्नवामहा इति ब्राह्मणम् ॥ २३ ॥

कण्डिका २३ ॥ अभिप्लव और पृष्ठ्य की व्युत्पत्ति और दूसरे यज्ञ ॥

(आदित्याः च ह वै आङ्गिरसः च स्वर्गे लोके अस्पर्धन्त, वयं पूर्वे स्वः एष्यामः वयं पूर्वे इति) आदित्य [अखण्ड व्रतधारी सूक्ष्मदर्शी ऋषि] और आङ्गिरस [अङ्गों के रस जानने वाले स्थूलदर्शी ऋषि लोग] स्वर्ग लोक के विषय में झगड़ने लगे, हम पहिले स्वर्ग को जायेंगे, हम पहिले। (ते आदित्याः लघुभिः सामभिः चतुर्भिः स्तोमैः द्वाभ्यां पृष्ठ्याभ्यां स्वर्गं लोकम् अभ्यप्लवन्त) आदित्य ऋषि सूक्ष्म सामों के द्वारा चार स्तोमों के द्वारा और दो पृष्ठ्यों के द्वारा स्वर्ग लोक को कूद कर पहुंचे। (यत् अभ्यप्लवन्त तस्मात् अभिप्लवः अन्नं च एव) जो वे कूद कर पहुँचे, इसी से अभिप्लव [कूदकर पहुँचने वाला यज्ञ हुआ] और वही अन्न है। (आङ्गिरसः गुरुभिः सामभिः सर्वैः स्तोमैः सर्वैः पृष्ठ्यैः स्वर्गं लोकम् अभ्यस्पृशन्त) आङ्गिरस ऋषि स्थूल सामों से, सब स्तोमों से सब पृष्ठ्यों से स्वर्ग लोक को छूकर पहुँचे। (यत् अभ्यस्पृशन्त तस्मात् [2]स्पृश्यः तं वै एतं स्पृशम् सन्तं पृष्ठ्यः इति आचक्षते) जो वे छूकर पहुँचे, इसी से स्पृश्य [छूने योग्य] हुआ, उस ही स्पृश्य [छूने योग्य] होते हुए को यह पृष्ठ्य यज्ञ है–ऐसा कहते हैं। (परोक्षेण) परोक्ष [आंख ओट प्रलय में वर्त्तमान ब्रह्म] के द्वारा (परोक्षप्रियाः इव हि) परोक्षप्रिय [आंख ओट भविष्य के प्रेमी] लोगों के समान ही (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (प्रत्यक्षद्विषः) प्रत्यक्ष [वर्तमान अवस्था] के द्वेषी [विरोधी] (भवन्ति) होते हैं [देखो—गो० पू० १। १]। (अभिप्लवात् पृष्ठ्यः निर्मितः) अभिप्लव से पृष्ठ्य बनाया गया है, (पृष्ठ्यात् अभिजित्) पृष्ठ्य

२३—(आदित्याः) अदिति—ण्यः। अखण्डव्रतधारिणो विद्वांसः। अथवा आङ्+दीपी दीप्तौ—यक्। पृषोदरादिरूपम्। आदीप्यमानाः। सूक्ष्मदर्शिनः (आङ्गिरसः) तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते—गो० पू०

---

१. पू. सं. 'सर्वे' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

२. सर्वत्र अर्थानुसारी सकारादिः पाठोऽत्रास्माभिः वर्द्धितः ॥ सम्पा० ॥

से अभिजित्, (अभिजितः स्वरसामानः) अभिजित् से स्वरसाम, (स्वरसामभ्यः विषुवान्) स्वरसामों से विषुवान् (विषुवतः स्वरसामानः) विषुवान् से स्वरसाम, (स्वरसामभ्यः विश्वजित्) स्वरसामों से विश्वजित्, (विश्वजितः पृष्ठ्याभिप्लवौ) विश्वजित् से पृष्ठ्य और अभिप्लव, (पृष्ठ्याभिप्लवाभ्यां गवायुषी) दोनों पृष्ठ्य और अभिप्लवों से दोनों गवायु, (गवायुर्भ्यां दशरात्रः) दोनों गवायु से दशरात्र [यज्ञ बनाया गया है] । (तानि ह वै एतानि यज्ञारण्यानि यज्ञकृत्तन्त्राणि) वे ही यज्ञ-रूप बन और यज्ञ करने वाले के तन्त्र [उपाय] हैं । (तेषां शतं शतं रथानां न्यन्तरम्) उन [यज्ञों] के बीच सौ सौ रथों [पगों वा मान विशेषों] का निश्चित अन्तर हो । (तद् यथा अरण्यानि आरूढाः पाप्मानं दृहती ते अशना-पिपासे परिप्लवेते एवं ह एव एते प्रप्लवन्ते ये विद्वांसः उपयन्ति, अथ ये विद्वां-सम् उपयन्ति) सो जैसे वन में चढ़े हुये पुरुष कष्ट को बढ़ाती हुई उन दोनों भूख प्यास को लांघ जाते हैं, ऐसे ही यह [यजमान लोग यज्ञ को] पार करते हैं जो विद्वान् लोग [यज्ञ को] स्वीकार करते हैं और जो लोग विद्वान् को स्वीकार करते हैं । (तद् यथा प्रवाहात् प्रवाहं स्थलात् स्थलं समात् समं सुखात् सुखम् अभयात् अभयम् उपसङ्क्रामन्ति इति एवं ह एव एते संवत्सरस्य उदृचं समश्नवामहै इति ब्राह्मणम्) सो जैसे प्रवाह [जलबहाव] से प्रवाह को, स्थल [सूखे स्थान] से स्थल को, सम [एक से स्थान] से सम को, सुख से सुख को, और अभय से अभय को यथावत् पाते हैं, वैसे ही यह हम संवत्सर [यज्ञ] की समाप्ति वाली ऋचा को पावें यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २३ ॥

भावार्थः—कोई विद्वान् सूक्ष्म से स्थूल की ओर चल कर अर्थात् कारण से कार्य का ज्ञान प्राप्त करके सुख पाते हैं और कोई स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाकर अर्थात् कार्य से कारण को खोज कर आनन्द भोगते हैं ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ ॥

प्रेदिर्ह वै कौशाम्बेयः कौसुरविन्दुरुद्दालक आरुणौ ब्रह्मचर्य्यमुवाच तमाचार्य्यः पप्रच्छ कुमारः कति ते पिता संवत्सरस्याहान्यमन्यते[1]ति कति त्वेवेति दशेति होवाच दश वा इति होवाच दशाक्षरा विराड् वैराजो यज्ञः १ । कति त्वेवेति नवेति होवाच नव वा इति होवाच नव वै प्राणाः प्राणैः यज्ञस्तायते २ । कति त्वेवेत्यष्टेति होवाचाष्ट वा इति होवाचाष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो यज्ञः ३ । कति त्वेवेति सप्तेति होवाच सप्त वा इति होवाच सप्त छन्दांसि छन्दोभिर्यज्ञस्तायते ४ । कति त्वेवेति

१ । ७ । तदधीते तद्वेद (पा० ४ । २ । ५९) अङ्गिरस्—अण्, बहुवचनस्यैक-वचनं च । आङ्गिरसाः । अङ्गानां रसवेत्तारः । स्थूलदर्शिनः (लघुभिः) सूक्ष्मैः (सामभिः) मोक्षज्ञानैः (स्पृश्यः) स्पृश सम्पर्के—क्यप् । (रथानाम्) चरणानाम् मानविशेषाणाम् (न्यन्तरम्) निश्चितव्यवधानम् (परिप्लवेते) परिप्लवन्ते । सर्वतः प्राप्नुवन्ति ॥

१. पू० सं० 'अमन्यथ' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

षडिति होवाच षड् वा इति होवाच षड् वा ऋतव ऋतूनामाप्त्यै ५। कति त्वेवेति पञ्चेति होवाच पञ्च वा इति होवाच पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः ६ । कति त्वेवेति चत्वारीति होवाच चत्वारि वा इति होवाच चत्वारो वै वेदा वेदैर्यज्ञस्तायते ७ । कति त्वेवेति त्रीणीति होवाच त्रीणि वा इति होवाच त्रिषवणो वै यज्ञः सवनैर्यज्ञस्तायते । ८ । कति त्वेवेति द्वे इति होवाच द्वे वा इति होवाच द्विपाद्वै पुरुषो द्विप्रतिष्ठः पुरुषः पुरुषो वै यज्ञः ९ । कति त्वेवेत्येकमिति होवाचैकम् वा इति होवाचाहरहरित्येकमेव सर्वं संवत्सरम् १० ॥ २४ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणपूर्वभागे चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ।

कण्डिका २४ ॥ प्रेदि कौशाम्बेय कौसुरविन्दु और उद्दालक आरुण से संवत्सर और यज्ञीय दिनों के विषय में प्रश्नोत्तर ॥

(प्रेदिः ह वै कौशाम्बेयः कौसुरविन्दुः, उद्दालकः आरुणः ब्रह्मचर्यम् उवाच) प्रेदि [बड़ा ऐश्वर्यवान् ऋषि] कौशाम्बेय [कौशाम्बी अर्थात् पटना नगरी का रहने वाला], कौसुरविन्दु [भूमि के ऐश्वर्य का जानने वाला] था, [उसको] उद्दालक गो० पू० ३ । ६ आरुण, [अरुण के पुत्र] ने ब्रह्मचर्य का उपदेश किया । (तम् आचार्यः पप्रच्छ कुमारः ते पिता संवत्सरस्य कति अहानि अमन्यत इति, कति तु एव इति) उस [प्रेदि] से आचार्य [उद्दालक] ने पूंछा— हे कुमार ! तेरा पिता संवत्सर यज्ञ के कितने दिन मानता था, फिर कितने । (दश इति ह) [प्रेदि] अरे दस । (उवाच दश वै इति ह) वह [उद्दालक] बोला—अरे दस ही । (उवाच दशाक्षरा विराट्, वैराजः यज्ञः) वह [प्रेदि] बोला—दस अक्षर वाला विराट् [छन्द] है और विराट् [अर्थात् वेद] से सिद्ध किया हुआ यज्ञ है । १ । (कति तु एव इति), [उद्दालक] फिर कितने । (नव इति ह) [प्रेदि] अरे नौ । (उवाच नव वै इति ह) [उद्दालक] अरे नौ ही हैं । (उवाच नव वै प्राणाः प्राणैः यज्ञः तायते) [प्रेदि] बोला—नौ ही प्राण [सात मस्तक के दो नीचे के छिद्र] हैं, प्राणों से यज्ञ फैलाया जाता है । २ । (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने । (अष्ट इति ह) [प्रेदि] अरे आठ । (उवाच अष्ट वै इति ह) [उद्दालक] अरे आठ ही हैं । (उवाच अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रः यज्ञः) [प्रेदि] आठ अक्षर [के पाद] वाली गायत्री है, गायत्री से सिद्ध किया हुआ यज्ञ है । ३ । (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने । (सप्त इति ह) [प्रेदि] अरे सात । (उवाच सप्त वै

२४—(प्रेदिः) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) प्र + इदि परमैश्वर्य्ये—इन् कित्, नलोपः । परमैश्वर्य्यवान् । ऋषिविशेषः (कौशाम्बेयः) तेन निर्वृत्तम् (पा० ४ । २ । ६८) कुशाम्ब—अण् । कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी । कुसुमपुरी । पाटलिपुत्रनगरी । पटना इति भाषायाम् । सोऽस्य निवासः (पा० ४ । ३ । ८९) कुशाम्बी—ढञ् । कौशाम्बीनिवासी (कौसुरविन्दुः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् (उ० २ । २४) कु + षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्रन् । कुसुरः भूमी-

इति ह) [उद्दालक] बोला अरे सात ही हैं। (उवाच सप्त छन्दांसि छन्दोभिः यज्ञः तायते) [प्रेदि] बोला—सात [गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती] छन्द हैं, छन्दों से यज्ञ फैलाया जाता है। ४। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने, (षट् इति ह) [प्रेदि] अरे छह। (उवाच षड् वै इति ह) [उद्दालक] अरे छह ही हैं। (उवाच षट् वै ऋतवः ऋतूनाम् आप्त्यै) [प्रेदि] बोला—छह ही [वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर—साम० उ० ६। १३। २] ऋतु हैं, ऋतुओं के लाभ के लिये [यज्ञ है]। ५। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने। (पंच इति ह) [प्रेदि] अरे पांच। (उवाच पंच वै इति ह) [उद्दालक] अरे पांच ही हैं। (उवाच पंचपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तः यज्ञः) [प्रेदि] बोला—पांच पाद वाली पङ्क्ति [पांच अक्षर के पांच पाद वाली पदपङ्क्ति अथवा आठ अक्षर के पांच पाद वाली पथ्यापङ्क्ति] है, पाङ्क्त [पङ्क्ति, वेदवाणी से सिद्ध किया हुआ] यज्ञ है। ६। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने। (चत्वारि इति ह) अरे चार। (उवाच चत्वारि वै इति ह) [उद्दालक] अरे चार ही हैं। (उवाच चत्वारः वै वेदाः, वेदैः यज्ञः तायते) [प्रेदि] चार ही वेद [ऋग्, यजुः, साम और अथर्व] हैं, वेदों से यज्ञ फैलाया जाता है। ७। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने। (त्रीणि इति ह) [प्रेदि] अरे तीन। (उवाच त्रीणि वै इति ह) [उद्दालक] अरे तीन ही हैं। (उवाच त्रिषवणः वै यज्ञः सवनैः यज्ञः तायते) [प्रेदि] बोला—[प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन] तीन सवन वाला ही यज्ञ है, सवनों से यज्ञ फैलाया जाता है। ८। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने। (द्वे इति ह) [प्रेदि] अरे दो। (उवाच द्वे वै इति ह) [उद्दालक] बोला—अरे दो ही हैं (उवाच द्विपात् वै पुरुषः द्विप्रतिष्ठः पुरुषः पुरुषः वै यज्ञः) [प्रेदि] बोला—दो पांव वाला पुरुष है, दो [कर्म और ज्ञान] से प्रतिष्ठा किया गया पुरुष है, पुरुष ही यज्ञ है। ६। (कति तु एव इति) [उद्दालक] फिर कितने। (एकम् इति ह) [प्रेदि] अरे एक [दिन]। (उवाच एकं वै इति ह) [उद्दालक] अरे एक ही है। (उवाच अहः अहः इति एकम् एव सर्वं

श्वरः, ततः अण् स्वार्थे। कौसुरं भूम्यैश्वर्य्यम्। विन्दुरिच्छुः (पा० ३। २। १६९) विद ज्ञाने—उः, नुमागमः। भूम्यैश्वर्यस्य ज्ञाता (उद्दालकः) गो० पू० ३। ६। मुनिविशेषः (आरुणः) अरुण—अण्। अरुणपुत्रः (कुमारः) हे कुमार (वैराजः) विराजा निर्वृत्तः (गायत्रः) गायत्र्या निर्वृत्तः (पञ्च) सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १। १५७) पचि व्यक्तीकरणे—कनिन्। संख्याविशेषः (पङ्क्तिः) पचि व्यक्तीकरणे विस्तारे—क्तिन् वा क्तिच्। अत्र तु—पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्० (पा० ५। १। ५९) पञ्चन्—तिप्रत्ययः, टिलोपः। पञ्चैव पङ्क्तिः। पदपङ्क्तिः पञ्च। पिङ्गलशास्त्रे ३। ४६। पञ्चाक्षरयुक्ता पञ्चपदा पदपङ्क्तिः। अथवा पथ्यापञ्चभिर्गायत्रैः। पिङ्गल० ३। ४८। अष्टाक्षरयुक्ता पञ्चपदा पथ्यापङ्क्तिः

संवत्सरम्) [प्रेदि] बोला—दिन दिन यह एक ही [मिलकर] पूरा संवत्सर यज्ञ है ।। १० ।। २४ ।।

भावार्थ:—मनुष्य को यज्ञ के अङ्ग उपाङ्गों के समान प्रत्येक पदार्थ के अङ्ग उपाङ्गों को जानकर कर्तव्य पूरा करना चाहिये ।। २४ ।।

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम*श्रीसयाजीरावगायकवाड़ा-धिष्ठित*बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये पूर्वभागे चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ।।

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे भाद्रपदमासे शुक्लद्वादश्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।

मुद्रितम्—आषाढशुक्ला १२ संवत् १९८१ वि० ता० १३ जुलाई सन् १९२४ ई० ।।

अथ पञ्चमः प्रपाठकः ।

कण्डिका १ ।।

ओम् अभिप्लवः षडहः षडहानि भवन्ति ज्योतिर्गौरायुर्गौरायुर्ज्योतिः १, अभिप्लवः पञ्चाहः पञ्च ह्येवाहानि भवन्ति यद्ध्येव प्रथममहस्तदुत्तममहः २, अभिप्लवश्चतुरहश्चत्वारो हि स्तोमा भवन्ति त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदशैकविंश एव ३, अभिप्लवस्त्र्यहस्त्र्यहावृत्तिर्ज्योतिर्गौरायुर्गौरायुर्ज्योतिः ४, अभिप्लवो द्व्यहो द्वे ह्येव सामनी भवतो बृहद्रथन्तर एव ५, अभिप्लव एकाह एकाहस्य स्तोमैस्तायते ६, चतुर्णामुक्थ्यानां द्वादशस्तोत्राण्यतिरिच्यन्ते स सप्तमोऽग्निष्टोमस्तथा खलु सप्ताग्निष्टोमा मासि सम्पद्यन्त इति ब्राह्मणम् ।। १ ।।

कण्डिका १ ।। संवत्सर से अभिप्लव का सम्बन्ध ।।

(ओम् अभिप्लवः षडहः षट् अहानि भवन्ति ज्योतिः, गौः, आयुः, गौः, आयुः, ज्योतिः १) ओम् । अभिप्लव छह दिन वाला है, छह दिन यह होते हैं ज्योति, गौ, आयु, गौ, आयु, ज्योति । १ । (अभिप्लवः पञ्चाहः पञ्च हि एव अहानि भवन्ति यत् हि एव प्रथमम् अहः तत् उत्तमम् अहः २) अभिप्लव पांच दिन वाला है, क्योंकि पांच ही दिन होते हैं, जो ही पहिला दिन है वह ही पिछला दिन है [अर्थात् ज्योति ज्योति एक बार ही ज्योति है] । २ । (अभिप्लवः चतुरहः चत्वारः हिं स्तोमाः

(पाङ्क्तः) पङ्क्ति–अण् । पञ्चावयवोपेतः (द्विप्रतिष्ठः) द्वाभ्यां कर्मज्ञानाभ्यां प्रतिष्ठितः (संवत्सरम्) संवत्सरयज्ञः ।।

१—(बृहद्रथन्तरे) सामविभागौ । पूर्वार्चिकोत्तरार्चिकौ (अतिरिच्यन्ते) अतिरिक्तानि अधिकानि भवन्ति ।।

भवन्ति त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदश एकविंशः एव ३) अभिप्लव चार दिन वाला है क्योंकि चार स्तोम होते हैं त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, और एकविंश ही । ३ । (अभिप्लवः त्र्यहः त्र्यहा आवृत्तिः ज्योतिः गौः आयुः गौः आयुः ज्योतिः ४) अभिप्लव तीन दिन वाला है, तीन दिन वाली आवृत्ति [लौटा फेरी] है ज्योति, गौ, आयु गौ, आयु, ज्योति [अर्थात् दो दो बार आये हुये एक एक दिन होवें] । ४ । (अभिप्लव. द्व्यहः द्वे हि एव सामनी भवतः, बृहद्रथन्तरे एव ५) अभिप्लव दो दिन वाला है, क्योंकि दो ही साम [के विभाग] होते हैं बृहत् और रथन्तर [पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक] ही । ५ । (अभिप्लवः एकाहः एकाहस्य स्तोमैः तायते ६) अभिप्लव एक दिन वाला है, एक दिन वाले के स्तोमों से वह [यज्ञ] फैलाया जाता है, । ६ । (चतुर्णाम् उक्थ्यानां द्वादश स्तोत्राणि अतिरिच्यन्ते स सप्तमः अग्निष्टोमः ७) चार उक्थ्य यज्ञों में बारह स्तोत्र अधिक हो जाते हैं, वह सातवां अग्निष्टोम है । ७ । (तथा खलु सप्त अग्निष्टोमाः मासि सम्पद्यन्ते इति ब्राह्मणम् इस प्रकार ही सात अग्निष्टोम महीने में किये जाते हैं, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ १ ॥

कण्डिका २ ॥

अथातो गाधप्रतिष्ठा समुद्रं वा एते प्रतरन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते तेषां तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रतरन्ति तद्यथा समुद्रं तीर्थेन प्रतरेयुस्तादृक् तद्गाधप्रतिष्ठा १, चतुर्विंशमहयथोपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुस्तादृक् तत्प्रस्नेयोऽभिप्लवः प्रस्नेयः पृष्ठ्यो गाधप्रतिष्ठा २, अभिजिद्यथोपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुस्तादृक् तन्नीविदघ्न एव प्रथमः स्वरसामा जानुदघ्नो द्वितीयः कुल्युदघ्नस्तृतीयो गाधप्रतिष्ठा ३, विषुवान्यथोपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुस्तादृक् तत्कुल्युदघ्न एव प्रथमोऽर्वाक् स्वरसामा जानुदघ्नो द्वितीयो नीविदघ्नस्तृतीयो गाधप्रतिष्ठा ४, विश्वजिद्यथोपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुस्तादृक् तत् प्रस्नेयः पृष्ठ्यः प्रस्नेयोऽभिप्लवः प्रस्नेयी गवायुषी प्रस्नेयो दशरात्रो गाधप्रतिष्ठा ५, महाव्रतं यथोपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुस्तादृक् तत्तेषां तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युद्यन्ति तद्यथा समुद्रं तीर्थेनोदेयुस्तादृक् तत् ६, अथ ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयः संवत्सरस्यान्वहं दीक्षा इति तस्य ह पिता मुखमुदीक्ष्योवाच वेत्थ सुत त्वमायुष्मान् संवत्सरस्य गाधप्रतिष्ठे इति वेदेत्येतद्ध स्मैतद्विद्वानाहेति ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ यज्ञों में गाधप्रतिष्ठा और तीर्थ ॥

(अथ अतः गाधप्रतिष्ठा) अब यहां गाध प्रतिष्ठा [गहराई की मर्य्यादा कही जाती है] । (समुद्रं वै एते प्रतरन्ति ये संवत्सराय दीक्षन्ते) समुद्र [यज्ञ] को वे

---

१ पू. सं. सर्वत्रैव "प्रश्नायेयुः" इति तालव्यः शकारः ॥ सम्पा० ॥

ही पार करते हैं जो संवत्सर के लिये दीक्षा पाते हैं। (तेषां तीर्थम् एव प्रायणीयः अतिरात्रः) उन लोगों का तीर्थ [पार होने का साधन घाट, नौका आदि] ही प्रायणीय अतिरात्र है। (तीर्थेन हि प्रतरन्ति तत् यथा समुद्रं तीर्थेन प्रतरेयुः तादृक् तत् गाधप्रतिष्ठा १) क्योंकि तीर्थ [नौका आदि] से ही पार करते हैं, सो जैसे समुद्र को तीर्थ से पार करें, वैसे ही यह गाधप्रतिष्ठा [यज्ञ] है। १। (चतुर्विंशम् अहः यथा उपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतो विश्रम्य प्रस्नायेयुः तादृक् तत् प्रस्नेयः अभिप्लवः प्रस्नेयः पृष्ठ्यः गाधप्रतिष्ठा २) चतुर्विंश अहः [तीर्थ]—जैसे कांख प्रमाण वाले अथवा कण्ठ प्रमाण वाले जल में अथवा जहां ठहरें वहां स्नान करें, वैसे ही वह स्नान योग्य अभिप्लव और स्नान योग्य पृष्ठ्य गाधप्रतिष्ठा है। २। (अभिजित् यथा उपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतः विश्रम्य प्रस्नायेयुः तादृक् तत् नीविदघ्नः एव प्रथमः स्वरसामा जानुदघ्नः द्वितीयः कुल्युदघ्नः तृतीयः दीपप्रतिष्ठा ३) अभिजित् [तीर्थ]—जैसे कांख प्रमाण वाले अथवा कण्ठ प्रमाण वाले जल में अथवा जहां ठहरें वहां स्नान करें, वैसे ही वह [अभिजित्] है—कटि प्रमाण वाला ही पहिला स्वरसाम, जानु प्रमाण वाला दूसरा और घुटने प्रमाण वाला तीसरा है, यह दीपप्रतिष्ठा है। ३। (विषुवान् यथा उपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतः विश्रम्य प्रस्नायेयुः तादृक् तत् कुल्युदघ्नः एव प्रथमः अर्वाक् स्वरसामा जानुदघ्नः द्वितीयः नीविदघ्नः तृतीयः गाधप्रतिष्ठा ४) विषुवान् [तीर्थ]—कांख प्रमाण वाले अथवा कण्ठ प्रमाण वाले जल में अथवा जहां ठहरें वहां स्नान करें, वैसे ही वह [विषुवान्] है—घुटने प्रमाण वाला ही पहिला निकटवर्ती स्वरसाम, जंघा प्रमाण वाला दूसरा, कटि प्रमाण वाला तीसरा है—यह गाधप्रतिष्ठा है। ४। (विश्वजित् यथा उपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतः विश्रम्य प्रस्नायेयुः तादृक् तत् प्रस्नेयः पृष्ठ्यः प्रस्नेयः अभिप्लवः प्रस्नेयौ गवायुषी प्रस्नेयः दशरात्रः गाधप्रतिष्ठा ५) विश्वजित् [तीर्थ] -कांख प्रमाण वाले वा कण्ठ प्रमाण वाले जल में अथवा जहां ठहरें वहां स्नान करें वैसे ही वह [विश्वजित्] स्नान योग्य पृष्ठ्य, स्नान योग्य अभिप्लव, स्नान योग्य दोनों गवायु और स्नान योग्य दशरात्र है—यह गाधप्रतिष्ठा है। ५। (महाव्रतं यथा उपकक्षदघ्नं वा कण्ठदघ्नं वा यतः विश्रम्य प्रस्नायेयुः तादृक् तत् तेषां तीर्थम् एव उदयनीयः अतिरात्रः, तीर्थेन हि उद्यन्ति तत् यथा समुद्रं तीर्थेन उदेयुः तादृक् तत् ६) महाव्रत [तीर्थ]—जैसे कांख प्रमाण वाले वा कण्ठ प्रमाण वाले जल में अथवा

२—(गाधप्रतिष्ठा) तलस्पर्शमर्य्यादा (तीर्थम्) तरणसाधनम् (उपकक्षदघ्नम्) प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (पा० ५।२।३७) इति दघ्नञ्। उपकक्षप्रमाणोपेतम् (विश्रम्य) विरम्य। विरामं कृत्वा (प्रस्नायेयुः) प्रकर्षेण स्नानं कुर्युः (प्रस्नेयः) प्र+ष्णा शौचे—यत्। स्नानयोग्यः, एवम् अग्रेऽपि। (नीविदघ्नः) कटिप्रमाणः (कुल्युदघ्नः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उ० ३।२१) कुल संघाते बन्धे च—युक्। गुल्फोपरिभागप्रमाणः (आरुणेयः) अरुणापत्यम्

जहां ठहरें वहां स्नान करें, वैसे ही वह [महाव्रत] है—उन [याजकों] का तीर्थ ही उदयनीय अतिरात्र है; [क्योंकि] तीर्थ से ही पार होते हैं सो जैसे समुद्र को तीर्थ [नौका] से पार करें, वैसे ही वह [महाव्रत] है । ६ । (अथ ह श्वेतकेतुः आरुणेयः आह स्म, संवत्सरस्य अनु अहं दीक्षै इति) फिर ही श्वेतकेतु [श्वेत पताका वाला] अरुण का पुत्र बोला—संवत्सर के अनुकूल हो कर मैं दीक्षा लूं । (तस्य ह पिता मुखम् उदीक्ष्य उवाच आयुष्मान् त्वं सुत संवत्सरस्य गाधप्रतिष्ठे वेत्थ इति) उसका पिता मुख देख कर बोला—बड़ी आयु वाला तू हे पुत्र ! संवत्सर [यज्ञ] की गाधप्रतिष्ठा [गहराई और मर्यादा] जानता है । (वेद इति) [पुत्र बोला] मैं जानता हूं । (एतत् ह स्म एतत् विद्वान् आह इति ब्राह्मणम्) यही निश्चय करके, यही विद्वान् कहता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २ ॥

कण्डिका ३ ॥

पुरुषो वाव संवत्सरस्तस्य पादावेव प्रायणीयोऽतिरात्रः पादाभ्यां हि प्रयन्ति तयोर्यच्छुक्लं तदह्नो रूपं यत् कृष्णं तद्रात्रेर्नखानि नक्षत्राणां रूपं लोमान्योषधिवनस्पतीनामूरू चतुर्विंशमहरुरोऽभिप्लवं पृष्ठ्यं पृष्ठ्यः शिर एव त्रिवृत् त्रिवृतं ह्येव शिरो भवति त्वगस्थिमज्जामस्तिष्कं ग्रीवाः पञ्चदशश्चतुर्दश ह्येवैतस्यां कराणि भवन्ति वीर्य्यं पञ्चदशं तस्मादियमाभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुं भारं हरति तस्माद् ग्रीवाः पञ्चदश उरः सप्तदशौष्ठावन्ये यत्र वौष्ठावन्य उरः सप्तदशं तस्मादुरः सप्तदश उदरमेकविंशो विंशतिर्ह्येवैतस्यान्तर उदरे उत्तापानि भवन्त्युदरमेकविंशं तस्मादुदरमेकविंश. पार्श्वे त्रिणवस्त्रयोदशान्याः पर्शवोऽन्याः पार्श्वे त्रिणवस्तस्मात् पार्श्वे त्रिणवोऽनूकं त्रयस्त्रिंशो द्वात्रिंशतिर्ह्येवैतस्यां पृष्टी कुण्डी उलानि भवन्त्यनूकं त्रयस्त्रिंशस्तस्मादनूकं त्रयस्त्रिंशस्तस्यायमेव दक्षिणो बाहुरभिजित्तस्येमे दक्षिणे त्रयः प्राणाः स्वरसामान आत्मा विषुवांस्तस्येमे सव्ये त्रयः प्राणा अर्वाक् स्वरसामानस्तस्यायं सव्यो बाहुर्विश्वजिदुक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ यावर्वाञ्चौ प्राणौ तौ गवायुषी अङ्गानि दशरात्रो मुखं महाव्रतं तस्य हस्तावेवोदयनीयोऽतिरात्रो हस्ताभ्यां ह्युद्यन्ति य एवं वेद [1]स वा एष संवत्सरः ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ मनुष्य शरीर के दृष्टान्त से संवत्सर यज्ञ का वृत्तान्त ॥

(पुरुषः वाव संवत्सरः) मनुष्य ही संवत्सर यज्ञ है । (तस्य पादौ एव प्रायणीयः अतिरात्रः) उस [मनुष्य] के दोनों पांव प्रायणीय अतिरात्र [संवत्सर के अङ्ग] हैं । (पादाभ्यां हि प्रयन्ति) दोनों पावों से ही आगे को चलते हैं । (तयोः यत् शुक्लं तत् अह्नः रूपं यत् कृष्णं तत् रात्रेः) उन दोनों [पावों] में जो श्वेतपन है वह [यज्ञ के लिये] दिन का रूप और जो कालापन है वह रात्रि का है । (नखानि

(अनु) अनुकूलो भूत्वा (उदीक्ष्य) उत्कर्षेण दृष्ट्वा (वेत्थ) जानासि ॥

---

१. अयं पाठः न सर्वत्र दृश्यते ॥ सम्पा० ॥

नक्षत्राणां रूपं लोमानि ओषधिवनस्पतीनाम्) नख नक्षत्रों के रूप हैं और रोम औषधि वनस्पतियों के । (ऊरू चतुर्विंशम् अहः, उरः अभिप्लवं, पृष्ठ्यं पृष्ठ्य :) दोनों जंघायें चतुर्विंश अहः छाती [हृदयस्थान] अभिप्लव, और पीठ पृष्ठ्य है । (शिरः एव त्रिवृत् त्रिवृतं हि एव शिरो भवति त्वक् अस्थि मज्जा मस्तिष्कम्) शिर ही त्रिवृत् है, क्योंकि तीन अवयव वाला ही शिर होता है त्वचा, हाड़, मज्जा [हाड़ों का सार] अथवा मस्तिष्क [भेजा वा घृत के रूप में चिकनाई] । (ग्रीवाः पंचदशः चतुर्दश हि एव एतस्यां कराणि भवन्ति वीर्य्यं पंचदशम्) ग्रीवा पचदश यज्ञ है [क्योंकि] इसमें चौदह ही [अवयव विशेष] होते हैं और पन्द्रहवां वीर्य [बल] है, (तस्मात् इयम् आभिः अण्वीभिः सतीभिः गुरुं भारं हरति तस्मात् ग्रीवाः पंचदशः) इसलिये यह [ग्रीवा] इन छोटी छोटी नाड़ियों में होती हुई के द्वारा भारी बोझ ले जाती है, इसलिये ग्रीवा पंचदश यज्ञ है । (उरः सप्तदश ओष्ठौ अन्ये यत्र वा ओष्ठौ अन्ये उरः सप्तदशं तस्मात् उरः सप्तदशः) उरः [ग्रीवा और उदर का बीच ?] सप्तदश यज्ञ है कोई कोई दोनों ओंठ [बताते हैं] और दूसरे जहां दोनों ओष्ठ हैं वहां उरः सत्रहवां [कहते हैं], इसलिये उरः सप्तदश यज्ञ है । (उदरम् एकविंशः विंशतिर्हि एव एतस्य आन्तरे उदरे उत्तापानि भवन्ति, उदरम् एकविंशम्, तस्मात् उदरम् एकविंशः) उदर [पेट] एकविंश यज्ञ है, [क्योंकि] बीस ही इसके भीतरले उदर में उत्ताप [तापवाली आंतें] हैं और उदर इक्कीसवां है, इसलिये उदर एकविंश यज्ञ है । (पार्श्वे त्रिणवः अन्याः पर्शवः त्रयोदश अन्याः पार्श्वे त्रिणवः तस्मात् पार्श्वे त्रिणवः) दोनों पार्श्व [कांख के नीचे के स्थान] त्रिणव यज्ञ है, कोई पसलियां त्रयोदश यज्ञ और कोई दोनों पार्श्व [कांख के नीचे के स्थान] त्रिणव यज्ञ है [ऐसा कहते हैं]. इसलिये दोनों पार्श्व त्रिणव यज्ञ हैं । (अनूकं त्रयस्त्रिंशः, द्वात्रिंशतिः हि एव एतस्यां पृष्टी कुण्डी उलानि भवन्ति अनूकं त्रयस्त्रिंशः तस्मात् अनूकं त्रयस्त्रिंशः) अनूक [मूत्र थैली] त्रयस्त्रिंश यज्ञ है, [क्योंकि] बत्तीस ही इसमें पृष्टी, कुण्डी, और उल [नाड़ी विशेष] हैं और अनूक तैंतीसवां है, इस लिये अनूक त्रयस्त्रिंश यज्ञ है । (तस्य दक्षिणःबाहुः अयम् एव अभिजित्) उस [मनुष्य] का दाहिना बाहु ही यह अभिजित् यज्ञ है, (तस्य दक्षिणे इमे त्रयः प्राणाः स्वरसामानः) उसके दाहिने [बाहु] में यह तीन प्राण [भुजदण्ड, भुजा और हाथ] स्वरसाम यज्ञ हैं । (आत्मा विषुवान्) [उसका] आत्मा विषुवान् यज्ञ है । (तस्य सव्ये इमे त्रयः प्राणाः अर्वाक् स्वरसामानः) उसके बायें [बाहु] में [पूर्वोक्त] तीन प्राण अर्वाक् स्वरसाम यज्ञ हैं । (तस्य अयम् सव्यः बाहुः विश्वजित्) उसका यह बायां बाहु विश्वजित् यज्ञ है । (उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ) दोनों पृष्ठ्य

३—(वाव) एव (तस्य) पुरुषस्य (प्रयन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति (तयोः) पादयोः (ऊरू) जंघे (पृष्ठ्यम्) स्वार्थे यत् । पृष्ठम् (त्रिवृतम्) त्रि + वृञ वरणे- क्तः । त्र्यवयवयुक्तम् (मज्जा) टुमस्जो शुद्धौ-अच् टाप् । अस्थिसारः (मस्तिष्कम्) मस्तकस्थो घृताकारः पदार्थः (ग्रीवाः) कन्धराः (एतस्याम्) ग्रीवायाम् (कराणि)

और अभिप्लव कह दिये हैं। (यौ अर्वाञ्चौ प्राणौ तौ गवायुषी) जो नीचे वाले दो प्राण [पायु और उपस्थ] हैं वे दो गवायुषी यज्ञ हैं। (अङ्गानि दशरात्रः, मुखं महाव्रतम्) [शेष] अङ्ग दशरात्र और मुख महाव्रत यज्ञ है। (तस्य हस्तौ एव उदयनीयः अतिरात्रः) उस [मनुष्य के] दोनों हाथ ही उदयनीय अतिरात्र यज्ञ हैं। (हस्ताभ्यां हि उद्यन्ति यः एवं वेद) वह दोनों हाथों से चढ़ता है, जो ऐसा जानता है। (सः वै एषः संवत्सरः) सो वही संवत्सर यज्ञ है ॥ ३ ॥

भावार्थः मनुष्य शरीर के अवयवों को जानकर उन्हें पुष्ट रक्खे ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ ॥

पुरुषो वाव संवत्सरः तस्य प्राण एव प्रायणीयोऽतिरात्रः प्राणेन हि प्रयन्ति वागारम्भणीयमहर्यद्यदारभते वागारभते[1] वाचैव तदारभते। तस्यायमेव दक्षिणः पाणिरभिप्लवस्तस्येदं प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयं सवनं गायत्र्या आयतने तस्मादियमस्यै ह्रसिष्ठा। १। तस्येदं प्रातः सवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयसवनं त्रिष्टुभ आयतने तस्मादियमस्यै वरिष्ठा। २। तस्येदं प्रातः सवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयसवनं जगत्या आयतने तस्मादियमनयोर्वरिष्ठा। ३। तस्येदं प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिन सवनमिदं तृतीयसवनं पङ्क्त्या आयतने पृथुरिव वै पङ्क्तिस्तस्मादियमासां प्रतिष्ठा। ४। तस्येदं प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयसवनं विराज आयतनेऽन्नं वै श्रीः विराडन्नाद्यस्य श्रियोऽवरुध्यै तस्माद्वियमासां वरिष्ठा। ५। तस्येदं प्रातः सवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयसवनमतिच्छन्दसाम् आयतनेऽतिच्छन्दो वै छन्दसामायतनं तस्मादिदं प्रतिष्ठं फलकम्। ६। तस्येदं प्रातःसवनमिदं माध्यन्दिनं सवनमिदं तृतीयसवनं सैतः सैतोभिप्लवः सैत आत्मा पृष्ठचः प्लवतीवाभिप्लवस्तिष्ठतीव पृष्ठचः प्लवत इव ह्येवमङ्गैस्तिष्ठतीवात्मना। ७। तस्यायमेव दक्षिणः कर्णोऽभिजित्। तस्य यद् दक्षिणमक्ष्णः शुक्लं स प्रथमस्वरसामा यत् कृष्णं स द्वितीयो यन्मण्डलं स तृतीयो नासिके विषुवान्, मण्डलमेव प्रथमोऽर्वाक् स्वरसामा यत् कृष्णं स द्वितीयो यत् शुक्लं स तृतीयस्तस्यायं सव्यः कर्णो विश्वजिदुक्तौ पृष्ठचाभिप्लवौ यावर्वाञ्चौ प्राणौ ते गवायुषी अङ्गानि दशरात्रो मुखं महाव्रतं तस्योदान एवोदयनीयोऽतिरात्र उदानेन ह्युद्यन्ति य एवं वेद स वा एष संवत्सरः ॥ ४ ॥

अवयवविशेषाः (अण्वीभिः) सूक्ष्माभिर्नाडीभिः (उरः) उरु[2] एव (आन्तरे) अन्तर–अण्। आभ्यन्तरे (उत्तापानि) तप्तानि आन्त्राणि (अन्याः) अन्ये (अनूकम्) मूत्रवस्तिः (अर्वाञ्चौ) अधोगतौ। पायूपस्थे (उद्यन्ति) उच्चैर्गच्छति ॥

---

१. पू. सं. आरम्भेत इति पाठः ॥

२. कण्डिका में उरुस् शब्द भी छाती के अर्थ में है, जो कि अपपाठ है। तदनुसार भाष्यकार ने 'उरु एव' लिखा है। यह अयुक्त है। उरः की सिद्धि ॠ गतौ धातु से अर्त्तेरुच्च (उ. ४।१९५) से असुन् करके जाननी चाहिये ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका ४ ॥ मनुष्य शरीर के दृष्टान्त से संवत्सर यज्ञ का वृत्तान्त ॥

(पुरुषः वाव संवत्सरः) मनुष्य ही संवत्सर यज्ञ है । (तस्य प्राणः एव प्रायणीयः अतिरात्रः, प्राणेन हि प्रयन्ति) उस [मनुष्य] का प्राण ही प्रायणीय अतिरात्र यज्ञ है, प्राण से ही आगे बढ़ते हैं । (वाक् आरम्भणीयम् अहः, यत् यत् आरभते वाक् आरभते, वाचा एव तत् आरभते) वाणी आरम्भ करने योग्य दिन [यज्ञ] है, जो जो आरम्भ किया जाता है वाणी आरम्भ करती है, वाणी से ही वह आरम्भ किया जाता है । (तस्य दक्षिणः पाणिः अयम् एव अभिप्लवः) उस [मनुष्य] का दाहिना हाथ यही अभिप्लव है । (तस्य इदं प्रातःसवनम् इदम् माध्यन्दिनं सवनं इदं तृतीयं सवनं गायत्र्याः आयतने, तस्मात् इयम् अस्यै ह्रसिष्ठा १) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन [प्रातःकाल का यज्ञ अर्थात् बालकपन] यह माध्यन्दिन सवन [दोपहर का यज्ञ अर्थात् यौवन], और यह तीसरा सवन [तीसरे पहर का यज्ञ अर्थात् बुढ़ापा], गायत्री [आठ अक्षर के तीन पाद वाले गायत्री छन्द] के स्थान में है, इसलिये यह [गायत्री] इस [वाणी] में अति छोटी है । १ । (तस्य इदं प्रातःसवनम् इदं माध्यन्दिनं सवनम् इदं तृतीयसवन त्रिष्टुभः आयतने, तस्मात् इयम् अस्यै वरिष्ठा २) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवम, यह तीसरा सवन [संख्या १ देखो] त्रिष्टुप् [ग्यारह अक्षर के चार पाद वाले त्रिष्टुप् छन्द] के स्थान में है, इसलिये यह [त्रिष्टुप्] इस [गायत्री] से अधिक बड़ा है । २ । (तस्य इदं प्रातःसवनम्, इदं माध्यन्दिनं सवनम् इदं तृतीयं सवनं जगत्याः आयतने, तस्मात् इयम् अनयोः वरिष्ठा ३) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवन, और यह तीसरा सवन [सं० १] जगती [बारह अक्षर के चार पाद वाले जगती छन्द] के स्थान में है, इसलिये यह [जगती] इन दोनों [गायत्री और त्रिष्टुप्] से अधिक बड़ा है । ३ । (तस्य इदं प्रातःसवनम्, इदं माध्यन्दिनं सवनम् इदं तृतीयं सवनं पङ्क्त्याः आयतने पृथुः इव वै पङ्क्तिः, तस्मात् इयम् आसां प्रतिष्ठा ४) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवन और यह तीसरा सवन [सं० १] पङ्क्ति [पांच वा आठ अक्षर के पांच पाद वाले पंक्ति छन्द] के स्थान में है, चौड़े पदार्थ के समान ही पङ्क्ति है, इसलिये यह [पङ्क्ति] इन [गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती] की भूमि है । ४ । (तस्य इदं प्रातःसवनम्, इदं माध्यन्दिनं सवनम्, इदं तृतीयसवनं विराजः आयतने, अन्नं वै श्रीः विराट्, अन्नाद्यस्य श्रियः अवरुध्यै, तस्मात् इयम् आसां वरिष्ठा ५) उस

४—(आरभते) आरभ्यते (प्रातःसवनम्) बाल्यमिति यावत् (माध्यन्दिनं सवनम्) यौवनम् (तृतीयसवनम्) वृद्धत्वम् (आयतने) स्थाने (ह्रसिष्ठा) ह्रस्व—इष्ठन्, टाप् । ह्रस्वतमा (वरिष्ठा) उरु वर वा—इष्ठन् टाप् । उरुतमा । विस्तीर्णतमा । वरतमा । श्रेष्ठतमा (पृथुः) विस्तीर्णः (प्रतिष्ठा) भूमिः । अथवा पृथु—इष्ठन्, थस्य तः । प्रथिष्ठा । अधिकविस्तीर्णा (विराट्)

[मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवन और यह तीसरा सवन [सं० १] विराट् [दस अक्षर के चार पाद वाले विराट् छन्द] के स्थान में है, अन्न और श्री [लक्ष्मी वा शोभा] ही विराट् है, खाने योग्य अन्न और श्री की प्राप्ति के लिये यह है, इसलिये यह [विराट्] इन [गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और पङ्क्ति] में अति श्रेष्ठ है । ५ । (तस्य इदं प्रातःसवनम् इदं माध्यन्दिनं सवनम् इदं तृतीयसवनम् अतिछन्दसाम् आयतने, अतिछन्दः वै छन्दसाम् आयतनम्, तस्मात् इदं प्रतिष्ठं फलकम् ६) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवन, यह तीसरा सवन [सं० १] अतिछन्दों [अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति अतिछन्दों] के स्थान में है, अतिछन्द ही छन्दों का स्थान है, इसलिये यह प्रतिष्ठा वाला प्रतिफल है । ६ । (तस्य इदं प्रातःसवनम्, इदं माध्यन्दिनं सवनम्, इदं तृतीयं सवनं सैतः, सैतः अभिप्लवः, सैतः आत्मा पृष्ठ्यः, प्लवति इव अभिप्लवः, तिष्ठति इव पृष्ठ्यः, प्लवते इव हि एवम् अङ्गैः, तिष्ठति इव आत्मना ७) उस [मनुष्य] का यह प्रातःसवन, यह माध्यन्दिन सवन और यह तीसरा सवन [सं० १] खेती से सिद्ध हुआ यज्ञ है, खेती से सिद्ध हुआ यज्ञ अभिप्लव है, खेती से सिद्ध हुआ यज्ञ आत्मा रूप पृष्ठ्य है, चलता है जैसे यह अभिप्लव यज्ञ है, ठहरता है जैसे यह पृष्ठ्य है, क्योंकि वह [यज्ञ] चलता है जैसे इस प्रकार अङ्गों से, और ठहरता है जैसे आत्मा से । ७ । (तस्य दक्षिणः कर्णः अयम् एव अभिजित्) उस [मनुष्य] का दाहिना कान यही अभिजित् यज्ञ है । (तस्य अक्ष्णः यत् दक्षिणं शुक्लं सः प्रथमस्वरसामा यत् कृष्णं सः द्वितीयः, यत् मण्डलं सः तृतीयः) उस [मनुष्य] के आंख का जो दाहिना श्वेतपन है वह पहिला स्वरसाम यज्ञ है, जो कालापन है वह दूसरा, और जो मण्डल [आंख का घेरा] है वह तीसरा [स्वरसाम] है । (नासिके विषुवान्) दोनों नथने विषुवान् यज्ञ हैं । (मण्डलम् एव प्रथमः अर्वाक् स्वरसामा यत् कृष्णं सः द्वितीयः, यत् शुक्लं सः तृतीयः) मण्डल [बाईं आंख का घेरा] ही पहिला अर्वाक् स्वरसाम यज्ञ है, जो कालापन है वह दूसरा है और जो श्वेतपन है वह तीसरा है । (तस्य सव्यः कर्णः अयं विश्वजित्) उस [मनुष्य] का बांयां कान यह विश्वजित् है । (उक्तौ पृष्ठ्याभिप्लवौ) दोनों पृष्ठ्य और अभिप्लव कह दिये हैं । (यौ अर्वाञ्चौ प्राणौ ते गवायुषी) जो नीचे वाले दो प्राण [पायु और उपस्थ] हैं वे दो गवायुषी यज्ञ हैं । (अङ्गानि दशरात्रः मुखं महाव्रतम्) शेष अङ्ग दशरात्र और मुख महाव्रत है । (तस्य उदानः एव उदयनीयः अतिरात्रः) उस [मनुष्य] का उदान [ऊपर चढ़ने वाला वायु] ही उदयनीय अतिरात्र यज्ञ है । (उदानेन हि उद्यन्ति यः एवं वेद) क्योंकि वह उदान वायु से

वि + राजृ दीप्तौ ऐश्वर्य्ये च—क्विप् । विविधदीप्यमाना । विविधैश्वर्ययुक्ता । छन्दोविशेषः (अतिछन्दसाम्) अतिजगतीत्याद्यतिछन्दसाम् (प्रतिष्ठम्) प्रतिष्ठायुक्तम् (फलकम्) स्वार्थे कन् । फलम् । प्रतिफलम् (सैतः) तेन निर्वृत्तम् (पा० ४ । २ । ६८) सीता—अण् । सीतया कृषिकर्मणा निष्पादितो यज्ञः (अक्ष्णः) नेत्रस्य (मण्डलम्) मडि भूषणे—कलच् । चक्राकारेण वेष्टनम् ॥

ही चढ़ता है जो ऐसा जानता है। (सः वै एषः संवत्सरः) सो यही संवत्सर यज्ञ है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५ ॥

पुरुषो[1] वाव संवत्सरः। पुरुष इत्येकं संवत्सर इत्येकमत्र तत्समं १, द्वे अहोरात्रे संवत्सरस्य द्वाविमौ पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं २, त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य त्रय इमे पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं ३, षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य षडिमे पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं ४, सप्त वा ऋतवः संवत्सरस्य सप्तेमे पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं ५, द्वादश मासाः सवत्सरस्य द्वादशेमे पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं ६, त्रयोदश मासाः संवत्सरस्य त्रयोदशेमे पुरुषे प्राणा इत्यत्र तत्समं ७, चतुर्विंशतिरर्द्धमासाः संवत्सरस्य चतुर्विंशोऽयं पुरुषो विंशत्यङ्गुलिश्चतुरङ्ग इत्यत्र तत्समं ८, षड्विंशतिरर्द्धमासाः सवत्सरस्य षड्विंशोऽयं पुरुषः प्रतिष्ठे षड्विंशे इत्यत्र तत्समं ९, त्रीणि च ह वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहोरात्राणीत्येतावन्त एव पुरुषस्य प्राणा इत्यत्र तत्समं १०, सप्त च ह वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्चेत्येतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्चेत्यत्र तत्समं ११, चतुर्दश च ह वै शतानि चत्वारिंशच्च संवत्सरस्यार्द्धाहाश्चार्द्धरात्रयश्चेत्येतावन्त एव पुरुषस्य स्थुरामांसानीत्यत्र तत्समम् १२, अष्टाविंशतिश्च ह वै शतान्यशीतिश्च संवत्सरस्य पादाहाश्च पादरात्रयश्चेत्येतावन्त एव पुरुषस्य स्नावा बन्ध्या इत्यत्र तत्समं १३, दश च ह वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः इत्येतावन्त एव पुरुषस्य पेशशमरा इत्यत्र तत्समं १४, यावन्तो मुहूर्त्ताः पञ्चदशकृत्वस्तावन्तः प्राणाः १५, यावन्तः प्राणाः पञ्चदशकृत्वस्तावन्तोऽपानाः १६, यावन्तोऽपानाः पञ्चदशकृत्वस्तावन्तो व्यानाः १७, यावन्तो व्यानाः पञ्चदशकृत्वस्तावन्तः समानाः १८, यावन्तः समानाः पञ्चदशकृत्वस्तावन्त उदानाः १९, यावन्त उदानाः पञ्चदशकृत्वस्तावन्त्येतादीनि २०, यावन्त्येतादीनि तावन्त्येतर्हीणि २१, यावन्त्येतर्हीणि तावन्ति स्वेदायनानि २२, यावन्ति स्वेदायनानि तावन्ति क्षिप्रायणानि २३, यावन्ति क्षिप्रायणानि तावन्तो रोमकूपाः २४, यावन्तो रोमकूपाः पञ्चदशकृत्वस्तावत्यो वर्षतो धारास्तदेतत् क्रोशशतिकम्परिमाणम्। २५।

तदप्येतदृचोक्तम्। [2]श्रमादन्यत्र परिवर्त्तमानश्चरत्वासीनो यदि वा स्वपन्नपि। अहोरात्राभ्यां पुरुषः क्षणेन कतिकृत्वः प्राणति चापानति च। शतं शतानि परिवत्सराणामष्टौ च शतानि मुहूर्त्तान् यान् वदन्ति अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कतिकृत्वः प्राणति चापानति चेति ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

---

१. अत्रत्यः पाठोऽतीव व्यत्यस्तः ॥

२. तुलनीय शतपथ ब्राह्मण १२, ३, २, ७ ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका ५ ॥ मनुष्य शरीर के दृष्टान्त से संवत्सर अर्थात् वर्ष का वृत्तान्त ॥

(पुरुषः वाव संवत्सरः) मनुष्य ही संवत्सर [वर्ष, बारह महीने का काल] है। (पुरुषः एकम् इति संवत्सरः एकम् इति अत्र तत् समम् १) मनुष्य एक है और संवत्सर एक है, यह यहाँ उन दोनों में समता है। १। (संवत्सरस्य द्वे अहोरात्रे पुरुषे इमौ द्वौ प्राणौ इति अत्र तत् समम् २) संवत्सर के दो दिन रात हैं, पुरुष में यह दो प्राण [प्राण अपान] हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। २। (संवत्सरस्य त्रयः वै ऋतवः पुरुषे इमे त्रयः प्राणाः इति अत्र तत् समम् ३) संवत्सर के तीन ही ऋतु [ग्रीष्म, वर्षा, और शीत] हैं, मनुष्य में यह तीन प्राण [प्राण, अपान, उदान,] हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ३। (संवत्सरस्य षट् वै ऋतवः पुरुषे इमे षट् प्राणाः इति अत्र तत् समम् ४) संवत्सर के छह ही ऋतु [वसन्त आदि] हैं, मनुष्य में यह छह प्राण हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ४। (सवत्सरस्य सप्त वै ऋतवः पुरुषे इमे सप्त प्राणाः इति अत्र तत् समम् ५) संवत्सर के सात ही ऋतु हैं, मनुष्य में यह सात प्राण [मस्तक के गोलक] हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ५। (संवत्सरस्य द्वादश मासाः पुरुषे इमे द्वादश प्राणाः इति अत्र तत्समम् ६) संवत्सर के बारह महीने [चैत्र आदि] हैं। पुरुष में यह बारह प्राण हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ६। (संवत्सरस्य त्रयोदश मासाः पुरुषे इमे त्रयोदश प्राणाः इति अत्र तत् समम् ७) संवत्सर [लोंद के वर्ष] के तेरह महीने हैं, पुरुष में यह तेरह प्राण हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ७। (संवत्सरस्य चतुर्विंशतिः अर्धमासाः, अयम् पुरुषः चतुर्विंशः विंशत्यङ्गुलिः चतुरङ्गः इति अत्र तत् समम् ८) संवत्सर के चौबीस आधे महीने हैं, और यह पुरुष चौबीस वाला [अर्थात्] बीस अङ्गुली वाला और चार अङ्ग [दो हाथ दो पाँव] वाला है, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ८। (संवत्सरस्य षड्विंशतिः अर्धमासाः अयम् पुरुषः षड्विंशः प्रतिष्ठे षड्विंशे इति अत्र तत् समम् ९) संवत्सर [लोंद के वर्ष] के छब्बीस आधे महीने हैं, यह पुरुष छब्बीस वाला है, दो प्रतिष्ठायें [पाँव की अङ्गुलियों के स्थान] छब्बीस [जोड़] वाले हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ९। (संवत्सरस्य त्रीणि शतानि च ह वै षष्टिः च अहोरात्राणि इति, एतावन्तः एव पुरुषस्य प्राणाः, इति अत्र तत् समम् १०) संवत्सर के तीन सौ साठ [३६०] दिन रात हैं, इतने [३६०] ही पुरुष के प्राण हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। १०। (संवत्सरस्य

५—(समम्) समत्वम् (चतुर्विंशः) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याःसंख्येये (पा० २। २। २५) चतुरधिका विंशतिः यत्र स चतुर्विंशः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (पा० ५। ४। ७३) चतुर्विंशति—डच्। चतुर्विंशतियुक्तः। एवम् अन्यत्रापि सिद्धिः। (मज्जानः) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० (उ० १। १५९) टुमस्जो शुद्धौ—कनिन्। अस्थि-साराः (स्थुरामांसानि) स्थुड संवरणे—कः, टाप्, डस्य रः। स्थुरा त्वचा। त्वचासहितानि मांसबन्धनानि (स्नावाः) इण्शीभ्यां वन् (उ० १। १५२) ष्णा

सप्त शतानि च विंशतिः च ह वै अहानि च रात्रयः च इति एतावन्तः एव पुरुषस्य अस्थीनि च मज्जानः च इति अत्र तत् समम् ११) संवत्सर के सात सौ बीस [३६०× २=७२०] ही दिन और रात हैं, इतने [३६०×२=७२०] ही पुरुष की हड्डियां और मज्जा [हड्डियों का सार] हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। ११। (संवत्सरस्य चतुर्दश शतानि च चत्वारिंशत् च ह वै अर्धाहाः च अर्धरात्रयः च इति, एतावन्तः एव पुरुषस्य स्थुरामांसानि इति अत्र तत् समम् १२) संवत्सर के चौदह सौ चालीस [७२०×२=१४४०] ही हैं, इतने [७२०×२=१४४०] ही पुरुष के खाल और मांस की ग्रन्थी हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। १२। (संवत्सरस्य अष्टाविंशतिः शतानि च अशीतिः च ह वै पादाहाः च पादरात्रयः च इति एतावन्तः एव पुरुषस्य स्नावाः बन्ध्याः इति अत्र तत् समम् १३) संवत्सर के अट्ठाइस सौ अस्सी [१४४०×२=२८८०] ही चौथाई दिन और चौथाई रात हैं इतने [१४४०×२= २८८०] ही पुरुष के पुट्ठे और बन्धन हैं, यह यहाँ उन दोनों में समता है। १३। (संवत्सरस्य दश सहस्राणि च अष्टौ शतानि च ह वै मुहूर्त्ताः इति, एतावन्तः एव पुरुषस्य पेशशमराः इति अत्र तत् समम् १४) संवत्सर के दश सहस्र और आठ सौ [३६०×३० मुहूर्त=१०,८००] ही मुहूर्त्त हैं, इतने [१०,८००] ही पुरुष के पेशशमर [रूपसूचक अंश विशेष] हैं यह यहाँ उन दोनों में समता है। १४। (यावन्तः मुहूर्ताः पञ्चदशकृत्वः तावन्तः प्राणाः १५) जितने मुहूर्त्त पन्द्रह बार [१०,८००×१५= १,६२,०००] हैं इतने [१,६२,०००] प्राण हैं। १५। (यावन्तः प्राणाः पञ्चदशकृत्वः तावन्तः अपानाः १६) जितने प्राण पन्द्रह बार [१,६२,०००=१५=२४,३०,०००] हैं उतने [२४,३०,०००] अपान हैं। १६। (यावन्तः अपानाः पञ्चदशकृत्वः तावन्तः व्यानाः १७) जितने अपान पन्द्रह बार [२४,३०,०००×१५=३,६४,५०,०००] हैं उतने [३,६४,५०,०००] व्यान हैं। १७। (यावन्तः व्यानाः पञ्चदशकृत्वः तावन्तः समानाः १८) जितने व्यान पन्द्रह बार [३,६४,५०,०००×१५=५४,६७,५०,०००] हैं, उतने [५४,६७,५०,०००] उतने समान हैं। १८। (यावन्तः समानाः पञ्चदशकृत्वः तावन्तः उदानाः १९) जितने समान पन्द्रह बार [५४,६७,५०,०००×१५= ८,२०,१२,५०,०००] हैं, उतने [८,२०,१२,५०,०००] उदान हैं। १९। (यावन्तः उदानाः पञ्चदशकृत्वः तावन्ति एतादीनि २०) जितने उदान पन्द्रह बार [८,२०, १२,५०,०००×१५=१,२३,०१,८७,५०,०००] हैं, उतने [१,२३,०१,८७,५०,०००] एतादि हैं २०। (यावन्ति एतादीनि तावन्ति एतर्हीणि २१) जितने एतादि हैं उतने

शौचे—वन्। स्नायवः। वायुवाहिन्यो नाड्यः (बन्ध्याः) बन्ध बन्धने—क्यप्, टाप्। बन्धनानि (मुहूर्त्ताः) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३। ८९) हुर्छा कौटिल्ये—क्तः। मुडागमः, छलोपः। घटिकाद्वयकालाः। त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम् (पेशशमराः) पिश अवयवे—घञ्। अर्तिकमिभ्रमिचमिदेवि० (उ० ३। १३२) पेश+शम शान्तौ आलोचने च—अरप्रत्ययः। रूपसूचका अंशविशेषाः। पेशस् रूपं–निघ० ३। ७। पेशः एव पेशस् (एतादीनि) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३। ८६) इण् गतौ–तन्।

[१,२३,०१,८७, ५०,०००] एर्तहि हैं । २१ । (यावन्ति एतर्हीणि तावन्ति स्वेदायनानि २२) जितने एर्तहि हैं उतने [१,२३,०१,८७,५०,०००] स्वेदायन [पसीने के मार्ग] हैं । २२ । (यावन्ति स्वेदायनानि तावन्ति क्षिप्रायणानि २३) जितने स्वेदायन हैं उतने [१,२३ ०१,८७,५०,००] क्षिप्रायण [शीघ्र मार्ग] हैं । २३ । (यावन्ति क्षिप्रायणानि तावन्तः रोमकूपाः २४) जितने क्षिप्रायण हैं उतने (१,२३,०१,८७, ५०,०००) रोमकूप हैं । २४ । (यावन्तः रोमकूपाः पञ्चदशकृत्वः तावत्यः वर्षतः धाराः) जितने रोमकूप पन्द्रह बार [१,२३,०१,८७,५०,००० × १५=१८,४५,२८, १२,५०,०००] हैं उतनी वर्षत् की धारायें [सेचनशील नाड़ियों के प्रवाह] हैं । (तत् एतत् क्रोशशतिकं परिमाणम् २५) सो यह सौ कोश वाला परिणाम [गणना] है । २५ ।

(तत् अपि एतत् ऋचा उक्तम्) सो यह भी इस ऋचा करके कहा गया है— (पुरुषः श्रमात् अन्यत्र परिवर्तमानः आसीनः यदि वा स्वपन् अपि चरतु अहोरात्राभ्यां क्षणेन कतिकृत्वः प्राणति च अपानति च) मनुष्य श्रम से दूसरे स्थान में लगा हुआ चाहे बैठा हुआ, चाहे सोता हुआ वर्त्तमान हो, वह दिन और रात्रि के साथ क्षण [की समता] से कितनी बार प्राण लेता है और अपान लेता है । १ । (परिवत्सराणां शतं शतानि अष्टौ च शतानि यान् मुहूर्तान् वदन्ति, पुरुषः अहोरात्राभ्यां समेन कतिकृत्वः प्राणति च अपानति च—इति ब्राह्मणम्) पुरुष परिवत्सरों के सौ सैकड़े और आठ सैकड़े जिन मुहूर्तों को कहते हैं, पुरुष दोनों दिन और रात्रि के साथ समानता से कितने बार प्राण लेता है और अपान लेता है । २ । —यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है । ५ ॥ [यह दोनों श्लोक ब्राह्मण वचन हैं, वेदों में नहीं हैं, इनका भावार्थ विचारणीय है ।]

भावार्थः— मनुष्य शरीर में स्थूल रूप से प्राण हृदय में १, अपान मलाशय में २, व्यान समस्त शरीर में ३, समान नाभि में ४, और उदान कण्ठ में ५, रहता है ऐसा मानते हैं । फिर जैसे जैसे नाड़ियां एक से एक सूक्ष्म होकर गणना में बढ़ती जाती हैं, वैसे ही वायु की गति भी सूक्ष्म और अधिक होकर बढ़ती जाती है । स्थान वा नाड़ियों में गति के भेद से एक ही वायु के अलग अलग नाम और काम हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे

इति एतः । आदीयते गृह्यते आ+दा—किः । एतानां गतीनाम् आदीनि ग्रहणशीलानि अङ्गानि । नाडीविशेषाः (एतर्हीणि) इण् गतौ-तन् । सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) एत+अर्ह पूजायां योग्यत्वे च—इन्, पृषोदरादि रूपम् । गतियोग्यानि अङ्गानि । नाडीविशेषाः (स्वेदायनानि) स्वेदस्य गात्रस्रवस्य अयनानि मार्गाः (क्षिप्रायणानि) क्षिप्राणि शीघ्राणि अयनानि मार्गाः येषां तानि (वर्षतः) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २ । ८४) वृषु सेचने प्रजनैश्वर्ययोश्च—अतिः । सेचनशीलनाडीसमूहस्य (धाराः) प्रवाहाः (क्रोशशतिकम्) क्रुश रोदने आह्वाने च—घञ् । क्रोशः महासंख्याविशेषः । तदस्य परिमाणम् (पा० ५ । १ । ५७) क्रोशशत्—ठन् । क्रोशशतयुक्तम् (परिवर्तमानः) परिवृतः (परिवत्सराणाम्) वत्सरविशेषाणाम् (समेन) समत्वेन ॥

शरीर के वायु मार्ग नाड़ियां अति सूक्ष्म और अगणित हैं, वैसे ही काल की गति अति सूक्ष्म और बिना परिमाण है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ ॥

संवत्सरस्य समता वेदितव्येति ह स्मा ह वा स्युरेकमेव पुरस्ताद् विषुवतोऽतिरात्रमुपयन्त्येकमुपरिष्टात् १, त्रिपञ्चाशतमेव पुरस्ताद्विषुवतोऽग्निष्टोमानुपयन्ति त्रिपञ्चाशतमुपरिष्टाद् २, विंशतिशतमेव पुरस्ताद्विषुवत उक्थ्यानुपयन्ति विंशतिशतमुपरिष्टात् ३, षडेव पुरस्ताद्विषुवतः षोडशिन उपयन्ति षडुपरिष्टात् ४, त्रिंशदेव पुरस्ताद्विषुवतः षडहानुपयन्ति त्रिंशदुपरिष्टात् ५, सैषा संवत्सरस्य समता स य एवमेतां संवत्सरस्य समतां वेद संवत्सरेण सात्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ संवत्सर यज्ञ में विषुवान् के दोनों ओर यज्ञ की समता ॥

(संवत्सरस्य समता वेदितव्या इति) संवत्सर यज्ञ की समानता [याजकों को] जाननी चाहिये, यह वर्णन है । (ह स्मा ह वा स्युः) और वह अवश्य ही होनी चाहिये । (विषुवतः पुरस्तात् एकम् एव अतिरात्रम् उपयन्ति, एकम् उपरिष्टात् १) विषुवान् [तुल्य दिन रात्रि के काल वाले] यज्ञ से पहिले एक ही अतिरात्र यज्ञ को स्वीकार करते हैं और एक को पीछे । १ । (विषुवतः पुरस्तात् त्रिपञ्चाशतम् एव अग्निष्टोमान् उपयन्ति त्रिपञ्चाशतम् उपरिष्टात् २) विषुवान् से पहिले तिरपन ही अग्निष्टोमों को स्वीकार करते हैं और तिरपन को पीछे । २ । (विषुवतः पुरस्तात् विंशतिशतम् एव उक्थ्यान् उपयन्ति विंशतिशतम् उपरिष्टात् ३) विषुवान् से पहिले एक सौ बीस ही उक्थ्य यज्ञों को स्वीकार करते हैं और एक सौ बीस को पीछे । ३ । (विषुवतः पुरस्तात् षट् एव षोडशिनः उपयन्ति षट् उपरिष्टात् ४) विषुवान् से पहिले छह ही षोडशी यज्ञों को स्वीकार करते हैं और छह को पीछे । ४ । (विषुवतः पुरस्तात् त्रिंशत् एव षडहान् उपयन्ति त्रिंशत् उपरिष्टात् ५) विषुवान् से पहिले तीस ही षडहः [छह दिन वाले यज्ञों] को स्वीकार करते हैं और तीस को पीछे । ५ । (सा एषा संवत्सरस्य समता) सो यही संवत्सर की समता है । (यः एवं संवत्सरस्य एतां समतां वेद सः संवत्सरेण स-आत्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम्) जो इस प्रकार संवत्सर की इस समता को जानता है, वह संवत्सर के साथ एक आत्मा वाला और एक निवास वाला होकर दिव्य गुणों को पाता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ६ ॥

६—(ह स्मा ह) इति निपातत्रयसमूहः, अवधारणे । अवश्यम् एव (वा) चार्थे (स्युः) स्यात् । सा समता च अवश्यम् एव स्यात्, इत्यर्थः (उपयन्ति) स्वीकुर्वन्ति (विंशतिशतम्) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये (पा० २ । २ । २५) विंशत्या अधिकम् शतम् । विंशत्युत्तरशतम् (सात्मा) समानात्मा (सलोकः) समाननिवासः (देवान्) दिव्यगुणान् (अप्येति) प्राप्नोति ॥

भावार्थः—मनुष्य लक्ष्य का आगा पीछा ठीक ठीक सोच कर उचित समय पर कार्य करे, जैसे विषुवान् के आगे पीछे विचार कर यज्ञ होते हैं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७ ॥

अथातो यज्ञक्रमाः । अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः, पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणं, आग्रयणाच्चातुर्मास्यानि, चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः, अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेयः, वाजपेयादश्वमेधः, अश्वमेधात्पुरुषमेधः, पुरुषमेधात् सर्वमेधः, सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्यो दक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः । स य एवमेतान् यज्ञक्रमान्वेद यज्ञेन सात्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम् ॥७॥

कण्डिका ७ ॥ पन्द्रह प्रकार के यज्ञों का क्रम, जिनमें राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि सम्मिलित हैं ।

(अथ अतः यज्ञक्रमाः) अब यहां यज्ञक्रम [कहे जाते हैं]। (अग्न्याधेयम्) अग्न्याधान । १ । (अग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः) अग्न्याधान से [पीछे] पूर्णाहुति । २ । (पूर्णाहुतेः अग्निहोत्रम्) पूर्णाहुति से पीछे अग्निहोत्र [साकल्य की आहुति]। ३ । (अग्निहोत्रात् दर्शपूर्णमासौ) अग्निहोत्र से पीछे दर्शपूर्णमास [अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ]। ४ । (दर्शपूर्णमासाभ्याम् आग्रयणम्) दोनों दर्शपूर्णमासों से पीछे आग्रयण [नये अन्न का यज्ञ]। ५ । (आग्रयणात् चातुर्मास्यानि) आग्रयण से पीछे चातुर्मास्य [चार महीनों में पूरे होने वाले यज्ञ]। ६ । (चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः) चातुर्मास्यों से पीछे पशुबन्ध [पशुओं के प्रबन्ध का यज्ञ]। ७ । (पशुबन्धात् अग्निष्टोमः) पशुबन्ध से पीछे अग्निष्टोम । ८ । (अग्निष्टोमात् राजसूयः) अग्निष्टोम से पीछे राजसूय [राजा के अभिषेक के यज्ञ]। ९ । (राजसूयात् वाजपेयः) राजसूय से पीछे वाजपेय [बल की रक्षा का यज्ञ]। १० । (वाजपेयात् अश्वमेधः) वाजपेय से पीछे अश्वमेध [घोड़ों के गुणों की विद्या का यज्ञ]। ११ । (अश्वमेधात् पुरुषमेधः) अश्वमेध से पीछे पुरुष मेध [पुरुषों के मेलवाला यज्ञ]। १२ । (पुरुषमेधात् सर्वमेधः) पुरुषमेध से पीछे

७—(अग्न्याधेयम्) अग्निस्थापनम् । अग्न्याधानम् (आग्रयणम्) अग्र—अयन, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वदीर्घौ । अग्रे अयनं भोजनं शस्यादेर्येन कर्मणा तत् । नवशस्येष्टिः (चातुर्मास्यानि) चतुर्मास-ण्यः । चतुर्माससाध्या यज्ञभेदा व्रतभेदाश्च (पशुबन्धः) पशुप्रबन्धयज्ञः (राजसूयः) राजसूयसूर्य० (पा० ३ । १ । ११४) राजन्+षुञ् अभिषवे—क्यप् । दीर्घो निपातितः । राजाभिषेकयज्ञः (वाजपेयः) अचो यत् (पा० ३ । १ । ९७) वाज+पा पाने पा रक्षणे वा—यत् । वाजः, अन्ननाम—निघ० २ । ७ । बलनाम—निघ० २ । ९ । बलं रक्षणीयं यस्मिन् स यज्ञः । यद् वा अन्नं रक्षणीयं भोजनीयं यत्र सः (अश्वमेधः) अश्व+मेधृ मेधाहिंसनसंगमेषु—अङ्, टाप् । अश्वगुणेषु मेधा धारणावती बुद्धिर्यस्मिन् स यज्ञः (पुरुषमेधः) पुरुषाणां मेधः संगमो यत्र स यज्ञः (सर्वमेधः) सर्वेषु मेधा यस्मिन्

सर्वमेध [सब में धारणावती बुद्धिवाला यज्ञ] । १३ । (सर्वमेधात् दक्षिणावन्तः) सर्वमेध से पीछे दक्षिणा वाले यज्ञ । १४ । (दक्षिणावद्भ्यः दक्षिणाः अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठन्) दक्षिणवाले यज्ञ से पीछे बहुत दक्षिणा वाले और बड़ी से बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ सहस्रदक्षिणा [सहस्रों गौवों वा मुद्राओं के दान वाले यज्ञ] में ठहरते हैं । १५ । (ते वै एते यज्ञक्रमाः) सो यही यज्ञक्रम हैं । (यः एवम् एतान् यज्ञ-क्रमान् वेद सः यज्ञेन स-आत्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम्) जो इस प्रकार इन यज्ञों के क्रमों को जानता है वह यज्ञ के साथ एक आत्मा वाला और एक निवास वाला होकर दिव्य गुणों को पाता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य क्रम से एक के पीछे दूसरा काम विचार कर करते हैं, वे कृतार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

कण्डिका ८ ॥

प्रजापतिरकामयतानन्त्यमश्नुवीयेति सोऽग्नीनाधाय पूर्णाहुत्याऽयजत सोऽन्त-मेवापश्यत् १, सोऽग्निहोत्रेणेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् २, स दर्शपूर्णमासाभ्यामि-ष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् ३, स आग्रयणेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् ४, स चातुर्मास्यैरि-ष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् ५, स पशुबन्धेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् ६, सोऽग्निष्टोमेने-ष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् ७, स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत् ८, स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत् ९, सोऽश्वमेधे-नेष्ट्वा स्वराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत् १०, स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विरा-डिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत् ११, स सर्वमेधेनेष्ट्वा सर्वराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत् १२, सोऽहीनैर्दक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् १३, सोऽही-नैरदक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत् १४, स सत्रेणोभयतोऽतिरात्रेणान्ततो यजेत १५, वाचं ह वै होत्रे प्रायच्छत् प्राणमध्वर्य्यवे चक्षुरुद्गात्रे मनो ब्रह्मणे-ऽङ्गानि होत्रकेभ्य आत्मानं सदस्येभ्यः १६, एवमानन्त्यमात्मानं दत्वानन्त्यमाश्नु-तेति १७, तद्या दक्षिणा आनयत्ताभिरात्मानं निष्क्रीणीय १८, तस्मादेतेन ज्योति-ष्टोमनाग्निष्टोमेनात्मनिष्क्रयणेन सहस्रदक्षिणेन पृष्ठशमनीयेन त्वरेत १९, यो ह्यनिष्ट्वा पृष्ठशमनीयेन प्रैत्यात्मान सो निष्क्रीय प्रैतीति ब्राह्मणम् २० ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ प्रजापति की कथा जिसने बहुत यज्ञों को करके आत्मिक यज्ञ से अत्यन्त सुख पाया ॥

(प्रजापतिः अकामयत् आनन्त्यम् अश्नुवीय इति) प्रजापति [प्रजापालक यजमान] ने चाहा—मैं अनन्त सुख प्राप्त करूँ । (सः अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत

सः (दक्षिणाः) दक्षिणा-अर्शआद्यच् । बहुदक्षिणावन्तः (अदक्षिणाः) नास्ति अधिका दक्षिणा यस्याः दक्षिणायाः येषु ते । सर्वथा सर्वदक्षिणायुक्ता यज्ञाः (सहस्रदक्षिणे) सहस्राणां गवादीनां मुद्रणं वा दानं यस्मिन् तस्मिन् यज्ञे (प्रत्यतिष्ठन्) प्रतिष्ठन्ति ॥

८—(प्रजापतिः) प्रजापालको यजमानः (आनन्त्यम्) अनन्त—ष्यञ् भावे स्वार्थे वा । अनन्तं सुखम् (अश्नुवीय) अहं प्राप्नुयाम् (अन्तम्)

स: अन्तम् एव अपश्यत् १) उसने अग्नियों की स्थापना करके पूर्णाहुति के साथ यज्ञ किया, उसने अन्त वाला ही सुख देखा । १ । (स: अग्निहोत्रेण इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् २) उसने अग्निहोत्र से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । २ । (स: दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् ३) उसने दोनों अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञों से यज्ञ करके अन्तवाला ही सुख देखा । ३ । (स: आग्रयणेन इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् ४) उसने आग्रयण [नये अन्न के यज्ञ] से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । ४ । (स: चातुर्मास्यैः इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् ५) उसने चातुर्मास्यों [चार महीने में पूरे होने वाले यज्ञों] से यज्ञ करके अन्तवाला ही सुख देखा । ५ । (स: पशुबन्धेन इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् ६) उसने पशुबन्ध [पशुओं के प्रबन्ध वाले यज्ञ] से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । ६ । (स: अग्निष्टोमेन इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् ७) उसने अग्निष्टोम यज्ञ से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । ७ । (स: राजसूयेन इष्ट्वा राजा इति नाम अधत्त स: अन्तम् एव अपश्यत् ८) उसने राजसूय यज्ञ करके, राजा यह नाम रखा, उसने अन्त वाला ही सुख देखा । ८ । (स: वाजपेयेन इष्ट्वा सम्राट् इति नाम अधत्त स: अन्तम् एव अपश्यत् ९) उसने वाजपेय [बलरक्षक यज्ञ] से यज्ञ करके सम्राट् [राज-राजेश्वर] यह नाम रक्खा, उस ने अन्तवाला ही सुख देखा । ९ । (स: अश्वमेधेन इष्ट्वा स्वराट् इति नाम अधत्त स: अन्तम् एव अपश्यत् १०) उसने अश्वमेध [घोड़ों के गुणों की विद्या वाले] यज्ञ से यज्ञ करके स्वराट् [स्वतन्त्र ऐश्वर्यवान् राजा], यह नाम रक्खा उसने अन्तवाला ही सुख देखा । १० । (स: पुरुषमेधेन इष्ट्वा विराट् इति नाम अधत्त स: अन्तम् एव अपश्यत् ११) उसने पुरुषमेध [पुरुषों पर निश्चल बुद्धि वाले] यज्ञ से यज्ञ करके विराट् [विविध ऐश्वर्यवान् राजा] यह नाम रक्खा, उस ने अन्त वाला ही सुख देखा । ११ । (स: सर्वमेधेन इष्ट्वा सर्वराट् इति नाम अधत्त स: अन्तम् एव अपश्यत् १२) उसने सर्वमेध [सब पर निश्चल बुद्धि वाले] यज्ञ से यज्ञ करके सर्वराट् [सब प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा] यह नाम रक्खा, उस ने अन्त वाला ही सुख देखा] । १२ । (स: अहीनैः दक्षिणावद्भिः इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् १३) उसने अहीन [पूरी पूरी] दक्षिणा वाले यज्ञों से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । १३ । (स: अहीनैः अदक्षिणावद्भिः इष्ट्वा अन्तम् एव अपश्यत् १४) उस ने अहीन [पूरी पूरी] अदक्षिणा वाले [जिस दक्षिणा से कोई अधिक दक्षिणा न हो अर्थात् बड़ी से बड़ी दक्षिणा वाले] यज्ञों से यज्ञ करके अन्त वाला ही सुख देखा । १४ । (स: उभयत: अतिरात्रेण सत्रेण अन्तत: यजेत १५) उस ने दोनों ओर अतिरात्र

अम गतौ—तन् । ससीमं सुखम् (अधत्त) धृतवान् (सम्राट्) सम्+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप् । सर्वभूमीश्वर: (स्वराट्) स्वेनैव राजते ईष्टे । स्वयम् एव ऐश्वर्यवान् राजा (विराट्) विशेषेण राजते ईष्टे । विशेषैश्वर्यवान् क्षत्रिय: (सर्वराट्) सर्वेषु राजते । सर्वैश्वर्यवान् राजा (अहीनैः) गो० उ० २ । ८ । हीनतारहितैः । सम्पूर्णैः (सत्रेण) गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । (उ० ४ । १६७) षद्लृ गतौ उपवेशने च—त्रः । यद्वा सत्+त्रैङ् पालने—कः । सीदन्ति उप-

वाले सत्र [सत्पुरुषों के रक्षक] यज्ञ से अन्त में यज्ञ किया—(**वाचं ह वै होत्रे प्रायच्छत्, प्राणम् अध्वर्यवे, चक्षुः उद्गात्रे, मनः ब्रह्मणे, अङ्गानि होत्रकेभ्यः, आत्मानं सदस्येभ्यः १६**) उस ने [अपनी] वाणी को ही होता को दिया, प्राण अध्वर्यु को, नेत्र उद्गाता को, मन ब्रह्मा को, सब अङ्ग होत्रकों [सहायक ऋत्विजों] को, आत्मा सदस्यों [न्यून और अधिक कर्म रोकने पर दृष्टि वालों] को । [अर्थात् होता आदि के सब कर्म उसने अपने आत्मा से किये] । (**एवम् आनन्त्यम् आत्मानम् दत्वा आनन्त्यम् आश्नुत इति १७**) इस प्रकार अन्तरहित आत्मबल का दान करके अनन्त सुख उसने पाया । (**तत् याः दक्षिणाः आनयत् ताभिः आत्मानं निष्क्रीणीय १८**) सो जिन दक्षिणाओं को वह लाया [उस ने दिया], उन से उस ने आत्मा को मोल लिया । १८ । (**तस्मात् ज्योतिष्टोमेन अग्निष्टोमेन आत्मनिष्क्रयणेन सहस्रदक्षिणेन एतेन पृष्ठशमनीयेन त्वरेत १९**) इस लिये वह ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, आत्मनिष्क्रयण [अपने को मोल लेने वाले] और सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ के साथ इस पृष्ठशमनीय [स्तुतियों से शान्ति योग्य] यज्ञ से शीघ्रता करे । १९ । (**यः हि अनिष्ट्वा पृष्ठशमनीयेन प्रैति सः आत्मानं निष्क्रीय प्रैति इति ब्राह्मणम् २०**) जो पुरुष ही [भौतिक यज्ञों से] यज्ञ न करके पृष्ठशमनीय [स्तुतियों से शान्ति योग्य] यज्ञ के द्वारा आगे बढ़ता है, वह आत्मा को मोल लेकर आगे बढ़ता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है । २० ॥ ८ ॥

भावार्थः - जब मनुष्य अनेक भौतिक यज्ञों को करके अथवा न करके निरभिमान होकर उपकार में आत्मसमर्पण करता है, तब वह अत्यन्त सुख पाता है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९ ॥

यद्वै संवत्सराय संवत्सरसदो दीक्षन्ते कथमेषामग्निहोत्रमनन्तरितं भवति व्रतेनेति ब्रूयात् १, कथमेषां दर्शोऽनन्तरितो भवति दध्ना च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् २, कथमेषां पौर्णमासमनन्तरितं भवत्याज्येन च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् ३, कथमेषामाग्रयणमनन्तरितं भवति सौम्येन चरुणेति ब्रूयात् ४, कथमेषां चातुर्मास्यान्यनन्तरितानि भवन्ति पयसेति ब्रूयाद् ५, कथमेषां पशुबन्धोऽनन्तरितो भवति पशुना च पुरोडाशेन चेति ब्रूयात् ६, कथमेषां सौम्योऽध्वरोऽनन्तरितो भवति ग्रहैरिति ब्रूयात् ७, कथमेषां गृहमेधोऽनन्तरितो भवति धानाकरम्भैरिति ब्रूयात् ८, कथमेषां पितृयज्ञोऽनन्तरितो भवत्यौपासनैरिति

विशन्ति यत्र यद्वा सतः सत् पुरुषान् त्रायते तत् । सत्रनामकयज्ञेन (होत्रकेभ्यः) सहायकहोतृभ्यः (सदस्येभ्यः) न्यूनातिरिक्तताविपर्य्ययपरिहारार्थं विधानदर्शिभ्यः सभासद्भ्यः (आनन्त्यम्) अन्तरहितम् (आत्मानम्) आत्मबलम् (दत्वा) समर्प्य (आश्नुत) प्राप्तवान् (निष्क्रीणीय) निष्क्रीतवान् । तुल्यमूल्येन गृहीतवान् (आत्मनिष्क्रयणेन) आत्मदानेन ग्रहणेन (पृष्ठशमनीयेन) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः (उ० २ । १२) पृषु सेचने--थक् । पृष्ठैः स्तोत्रैः शमनीयेन शान्तियोग्येन यज्ञेन (त्वरेत) ञित्वरा संभ्रमे वेगे च । वेगं कुर्यात् (अनिष्ट्वा) अविहितं यज्ञम् अकृत्वा (प्रैति) प्रकर्षेण गच्छति (निष्क्रीय) मूल्येन गृहीत्वा ॥

ब्रूयात् ९, कथमेषां मिथुनमनन्तरितं भवति हिङ्कारेणेति ब्रूयात् १०, स एषः संवत्सरे यज्ञक्रतूनुपैति ११, स य एवमेतान् संवत्सरे यज्ञक्रतूनुपैति वेद यज्ञेन सात्मा सलोको भूत्वा देवान्[1] अप्येतीति ब्राह्मणम् १२ ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ संवत्सर यज्ञ में आवश्यक कर्मों का विधान ॥

(यद् वै संवत्सराय संवत्सरसदः दीक्षन्ते कथम् एषाम् अग्निहोत्रम् अनन्तरितं भवति, व्रतेन इति ब्रूयात् १) जब संवत्सर यज्ञ के लिये संवत्सर में बैठने वाले लोग दीक्षा लेते हैं, कैसे इनका अग्निहोत्र निरन्तर [लगातार] होता है--व्रत से, यह कहना चाहिये । १ । (कथम् एषां दर्शः अनन्तरितः भवति, दध्ना च पुरोडाशेन च इति ब्रूयात् २) कैसे इनका अमावस्या का यज्ञ निरन्तर होता है--दही से और पुरोडाश से, यह कहना चाहिये । २ । (कथम् एषां पौर्णमासम् अनन्तरितं भवति, आज्येन च पुरोडाशेन च इति ब्रूयात् ३) कैसे इनका पूर्णमासी का यज्ञ निरन्तर होता है--घी से और पुरोडाश से, ऐसा कहना चाहिये । ३ । (कथम् एषाम् आग्रयणम् अनन्तरितं भवति, सौम्येन चरुणा इति ब्रूयात् ४) कैसे इनका आग्रयण [नये अन्न का यज्ञ] निरन्तर होता है--सौम्य [सोमलता वा ओषधियों वाले] चरु [हव्य अन्न] से; यह कहना चाहिये । ४ । (कथम् एषां चातुर्मास्यानि अनन्तरितानि भवन्ति, पयसा इति ब्रूयात् ५) कैसे इनके चातुर्मास्य [चार महीने में पूरे होने वाले यज्ञ] निरन्तर होते हैं--दूध से, यह कहना चाहिये । ५ । (कथम् एषां पशुबन्धः अनन्तरितः भवति, पशुना च पुरोडाशेन च इति ब्रूयात् ६) कैसे इनका पशुबन्ध [पशुओं के प्रबन्ध वाला] यज्ञ निरन्तर होता है--पशु से और पुरोडाश से, यह कहना चाहिये । ६ । (कथम् एषां सौम्यः अध्वरः अनन्तरितः भवति, ग्रहैः इति ब्रूयात् ७) कैसे इनका सौम्य [सोमलता वा ओषधियों वाला] अध्वर [हिंसा रहित यज्ञ] निरन्तर होता है--ग्रहों [ग्रहण साधनों] से, यह कहना चाहिये । ७ । (कथम् एषां गृहमेधः अनन्तरितः भवति, धानाकरम्भैः इति ब्रूयात् ८) कैसे इनका गृहमेध [गृहाश्रम यज्ञ] निरन्तर होता है--धाना और करम्भों [भुने जवों और दही में सने सक्तुओं] से, यह कहना चाहिये । ८ । (कथम् एषां पितृयज्ञः अनन्तरितः भवति, औपासनैः इति ब्रूयात् ९) कैसे इनका पितृयज्ञ [पितरों का सत्संग आदि] निरन्तर होता है--उपासना कर्मों से, यह कहना चाहिये । ९ । (कथम् एषां मिथुनम् अनन्तरितं भवति, हिङ्कारेण इति ब्रूयात्

९--(अनन्तरितम्) अव्यवहितम् । निरन्तरम् (सौम्येन) सोमलतायुक्तेन अमृतमयेन (चरुणा) हव्यान्नेन (पयसा) दुग्धेन (अध्वरः) हिंसारहितो यज्ञः (गृहमेधः) गृहे मेधा धारणावती बुद्धिर्यस्य सः । गृहाश्रमः (धानाकरम्भैः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३ । ६) दधातेः--नः । टाप् । धानाः भृष्टयवाः । करम्भः । केन जलेन रभ्यते मिश्रीक्रियते । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (पा० ३ । ३ । १९) क+रभ आरम्भे--घञ् । रभेरशब्लिटोः (पा० ७ । १ । ६३) इति नुम् । दधिमिश्रितसक्तवः । भृष्टयवदधिमिश्रितसक्तुभिः (औपा-

---

१. पू. सं. "देवाँ३" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

१०) कैसे इनका मिथुन [स्त्री पुरुषों का कर्तव्य कर्म] निरन्तर होता है--हिङ्कार [वैदिक व्यवहार] से, यह कहना चाहिये । १० । (सः एषः संवत्सरे यज्ञक्रतून् उपैति ११) यही पुरुष संवत्सर में यज्ञ कर्मों को स्वीकार करता है । (यः एवं संवत्सरे एतान् यज्ञक्रतून् उपैति स वेद यज्ञेन सात्मा सलोकः भूत्वा देवान् अप्येति इति ब्राह्मणम् १२) जो इस प्रकार संवत्सर में इन यज्ञ कर्मों को स्वीकार करता है, वह जानता है और यज्ञ के साथ एक आत्मा वाला और एक निवास वाला होकर दिव्य गुणों को पाता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ९ ॥

भावार्थः—विधिपूर्वक कर्म करने से मनुष्य कृतकार्य होता है ॥ ९ ॥

कण्डिका १० ॥

देवा ह वै सहस्रसंवत्सराय दिदीक्षिरे, तेषां पञ्चशतानि संवत्सराणां पर्युपेतान्यासन्नथेदं सर्वं शुश्रुवुर्ये स्तोमा यानि पृष्ठानि यानि शस्त्राणि ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तदयातयाममध्ये यज्ञमपश्यंस्तेनायातयाम्यमापेदे व्युष्टिरासीत्तां पञ्चस्वपश्यदृचि यजुषि साम्नि शान्तेऽथ घोरे, ता वा एताः पञ्च व्याहृतयो भवन्ति ओं श्रावयास्तु श्रौषड् यज ये यजामहे वौषडिति । १ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तत एतन्तापश्चितं सहस्रसंवत्सरस्याञ्जस्यमपश्यंस्ते ह्येव स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि स खलु द्वादशमासान् दीक्षाभिरेति द्वादशमासानुपसद्भिर्द्वादशमासान् सुत्याभिरथ यद् द्वादशमासान् दीक्षाभिरेति द्वादशमासानुपसद्भिस्तेनैतावग्न्यर्कावाप्नोति अथ यद् द्वादशमासान् सुत्याभिस्तेनेदं महदुक्थ्यमवाप्नोति । २ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तत एतं संवत्सरन्तापश्चित्तमाञ्जस्यमपश्यंस्ते ह्येव स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि । ३ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तत एतं द्वादशाहं संवत्सरस्याञ्जस्यमपश्यंस्ते ह्येव स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि स खलु द्वादशाहं दीक्षाभिरेति द्वादशाहमुपसद्भिर्द्वादशाहं सुत्याभिरथ यद् द्वादशाहं दीक्षाभिरेति द्वादशाहमुपसद्भिस्तेनैतावग्न्यर्कावाप्नोत्यथ यद् द्वादशाहं सुत्याभिस्तेनेदं महदुक्थ्यमवाप्नोति । ४ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तत एतं पृष्ठ्यं षडहं द्वादशाह-

---

सनैः) उपासना—अण् । भक्तिकर्मभिः (मिथुनम्) स्त्रीपुरुषाभ्यां कर्तव्य-कर्म (यज्ञक्रतून्) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । यज्ञकर्माणि (उपैति) स्वीकरोति ॥

स्याञ्जस्यमपश्यंस्ते ह्येव स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि । ५ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति तत एतं विश्वजितं पृष्ठ्यं षडहस्याञ्जस्यमपश्यंस्ते ह्येव स्तोमा भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि । ६ । ते देवा इह सामिवासुरुप तं यज्ञक्रतुं जानीमो यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा को हि तस्मै मनुष्यो यः सहस्रसंवत्सरेण यजेतेति स वा एष विश्वजिद् यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमैष ह प्रजानां प्रजापतिर्यद्विश्वजिदिति ब्राह्मणम् । ७ ।। १० ।।

कण्डिका १० ।। सहस्र संवत्सर यज्ञ और उस के स्थानापन्न विश्वजित् यज्ञ के विषय में कथा ।।

(देवाः ह वै सहस्रसंवत्सराय दिदीक्षिरे) देवताओं [विद्वानों] ने सहस्रसंवत्सर [सहस्र वर्ष के यज्ञ] के लिये दीक्षा ली । (तेषां संवत्सराणां पंचशतानि पर्युपेतानि आसन्) उन के पांच सौ वर्ष व्यतीत हो गये थे । (अथ इदं सर्वं शुश्रुवुः ये स्तोमाः यानि पृष्ठानि यानि शस्त्राणि) उन्होंने यह सब सुने जो स्तोम, जो पृष्ठ [वैदिक स्तोत्र] और जो शस्त्र [वैदिक स्तोत्र] हैं । (ते देवाः इह सामिवासुः, तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः । यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये] उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का प्रतिमा [स्थानापन्न] है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे । (तत् अयातयाममध्ये यज्ञम् अपश्यन्) सो उन्होंने उचित समय के न खोने में यज्ञ को देखा । (तेन अयातयाम्यम् आपेदे व्युष्टिः आसीत् तां पंचसु अपश्यत् ऋचि यजुषि साम्नि शान्ते अथ घोरे ताः वै एताः पंच व्याहृतयः भवन्ति ओं श्रावय, अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट् इति १) उस से उचित समय के न खोने को उस [यजमान] ने पाया, प्रकाश हुआ, उस [प्रकाश] को पांच में देखा—ऋचा [स्तुति योग्य विद्या] में, यजुः [संगतिकरण विद्या] में साम [मोक्ष विद्या] में, शान्त [शान्तिमय विद्या] में और घोर [पाप नाश करने के लिये भयानक विद्या] में, वे ही यह पांच व्याहृतियां हैं—ओं श्रावय [ओम्, तू सुना], अस्तु श्रौषट् [श्रवण होवे], यज [यज्ञ कर], ये यजामहे [जो हम लोग यज्ञ करते हैं], वौषट् [आहुति पहुंचे—देखो आगे कण्डिका २१] । १ । (ते देवाः इह सामिवासुः, तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये]—उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्र संवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है, जो सहस्र संवत्सर से

१०—(देवाः) विद्वांसः (दिदीक्षिरे) दीक्षां चक्रिरे । दीक्षां प्राप्तवन्तः (पर्युपेतानि) सर्वतो व्यतीतानि (इह) अस्मिन् विषये (सामिवासुः) वसिवपियजिराजि० (उ० ४ । १२५) षम वैकल्ये अवैकल्ये च—इञ् । कृवापा० (उ० १ । १) वस निवासे—उण्, बहुवचनस्यैकवचनम् । सामिवासवः ।

यज्ञ करे। (ततः सहस्रसंवत्सरस्य एतं तापश्चितम् आञ्जस्यम् अपश्यन् ते हि एव स्तोमाः भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि) फिर उन्होंने सहस्र संवत्सर के इस तप से जाने गये गति व्यवहार को देखा, वे ही स्तोम, वे ही पृष्ठ, वे ही शस्त्र हैं। (सः खलु द्वादशमासान् दीक्षाभिः एति, द्वादशमासान् उपसद्भिः, द्वादशमासान् सुत्याभिः) वह [यजमान] निश्चय करके बारह महीनों को दीक्षाओं से पाता है, बारह महीनों को उपसदों [उपासना यज्ञों] से, और बारह महीनों को सुत्याओं [सोम निचोड़ने की क्रियाओं] से। (अथ यत् द्वादशमासान् दीक्षाभिः एति द्वादशमासान् उपसद्भिः तेन एतौ अग्न्यर्कौ आप्नोति, अथ यत् द्वादशमासान् सुत्याभिः, तेन इदं महत् उक्थ्यम् अवाप्नोति २) फिर जब वह बारह महीनों को दीक्षाओं से पाता है और बारह महीनों को उपसदों से, उससे इन अग्नि और सूर्य [के बल] को पाता है, और जब बारह महीनों को सुत्याओं [सोम निचोड़ने की क्रियाओं] से [पाता है], उससे इस बड़े उक्थ्य [प्रशंसनीय व्यवहार] को पाता है। २। (ते देवाः इह सामिवासुः तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये] उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे। (ततः एतं संवत्सरं तापश्चितम् आञ्जस्यम् अपश्यन् ते हि एव स्तोमाः भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि ३) फिर उन्होंने इस संवत्सर के तप से जाने गये गति व्यवहार को देखा, वे ही स्तोम, वे ही पृष्ठ और वे ही शस्त्र हैं। ३। (ते देवाः इह सामिवासुः तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये] उस यज्ञकर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे। (ततः एतं द्वादशाहं संवत्सरस्य आञ्जस्यम् अपश्यन् ते हि एव स्तोमाः भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि) फिर उन्होंने इस द्वादशाह [बारह दिन वाले [संवत्सर के गति व्यवहार को देखा, वे ही स्तोम, वे ही पृष्ठ और वे ही शस्त्र हैं। (सः खलु द्वादशाहं दीक्षाभिः एति, द्वादशाहम् उपसद्भिः, द्वादशाहं सुत्याभिः) वह [यजमान] द्वादशाह यज्ञ को दीक्षाओं से पाता है, द्वादशाह को उपसदों से और द्वादशाह को सुत्याओं से। (अथ यत् द्वादशाहं

वैकल्ये निवासिनः, बभूवुः इति शेषः (यज्ञक्रतुम्) यज्ञकर्म (प्रतिमा) स्थानापन्नः (तस्मै) चतुर्थी प्रथमायाः। सः (अयातयाममध्ये) अनष्टयोग्यसमयमध्ये (अयातयाम्यम्) उचितसमयनाशराहित्यम् (आपेदे) यजमानः प्राप्तवान् (व्युष्टिः) वि+वस निवासे यद्वा उषवधे दाहे च—क्तिन्। दीप्तिः। प्रकाशः (ऋचि) स्तुत्यविद्यायाम् (यजुषि) संगतिकरणविद्यायाम् (साम्नि) मोक्षविद्यायाम् (शान्ते) शान्तिविद्यायाम् (घोरे) भयानकविद्यायां पापनाशाय (श्रौषट्) श्रु श्रवणे—डौषट्। व्याहृतिविशेषः (वौषट्) वह प्रापणे—डौषट।

दीक्षाभिः एति द्वादशाहम् उपसद्भिः तेन एतौ अग्न्यर्कौ आप्नोति, अथ यत् द्वादशाहं सुत्याभिः, तेन इदं महत् उक्थ्यम् अवाप्नोति ४) फिर जब वह द्वादशाह को दीक्षाओं से पाता है और द्वादशाह को उपसदों से, उससे इन अग्नि और सूर्य [के बल] को पाता है, और जब द्वादशाह को सुत्याओं से [पाता है], उससे इस बड़े उक्थ्य [प्रशंसनीय व्यवहार] को पाता है । ४ । (ते देवाः इह सामिवासुः तं यज्ञक्रतुम् उप जानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये], उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे । (ततः एतं पृष्ठ्यं स्तोमाः भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि ५) फिर उन्होंने इस पृष्ठ्य षडह द्वादशाह के गति व्यवहार को देखा, वे ही स्तोम, वे ही पृष्ठ्य, वे ही शस्त्र हैं । ५ । (ते देवाः इह सामिवासुः तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस व्याकुलता में रहने वाले [हुये] उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे । (ततः एतं विश्वजितं पृष्ठ्यं षडहस्य आञ्जस्यम् अपश्यन्, ते हि एव स्तोमाः भवन्ति तानि पृष्ठानि तानि शस्त्राणि ६) फिर उन्होंने इस विश्वजित् पृष्ठ्य षडह के गति व्यवहार को देखा, वे ही स्तोम, वे ही पृष्ठ और वे ही शस्त्र हैं । ६ । (ते देवाः इह सामिवासुः तं यज्ञक्रतुम् उपजानीमः यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा, कः हि तस्मै मनुष्यः यः सहस्रसंवत्सरेण यजेत इति) वे विद्वान् लोग इस पर व्याकुलता में रहने वाले [हुये] उस यज्ञ कर्म को हम जान लेवें जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, कौन सा वह मनुष्य है जो सहस्रसंवत्सर से यज्ञ करे । (सः वै एषः विश्वजित् यः सहस्रसंवत्सरस्य प्रतिमा एषः ह प्रजानां प्रजापतिः यत् विश्वजित् इति ब्राह्मणम्) वह ही यह विश्वजित् है जो सहस्रसंवत्सर का स्थानापन्न है, यही प्रजाओं में प्रजापति है जो विश्वजित् है यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है । ७ ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्य अपना सामर्थ्य विचार कर कार्य आरम्भ करे ॥ १० ॥

कण्डिका ११ ॥

पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच यजस्व यजस्वेति स होवाच यजस्व यजस्वेत्येवं हात्थ मात्रिरयक्षतेमे वसवः प्रातःसवनेनागू रुद्रा माध्यन्दिने सवने आदित्यास्तृतीयसवने यज्ञवास्तुन्येव पर्य्यशिषो यज्ञवास्तुमित्येवमाशिषोऽहं वा

व्याहृतिविशेषः (तापश्चित्तम्) तपस् + चिती संज्ञाने—क्तः । स्वार्थिकोऽण् तपसा ज्ञातम् (आञ्जस्यम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—असुन्, अञ्जस्—ष्यञ् । गतिव्यवहारम् (उपसद्भिः) उपासनायज्ञैः (सुत्याभिः) सोमाभिषवक्रियाभिः (उक्थ्यम्) कथनीयम् । स्तुत्यम् ॥

एतद्वेद यज्ञे वसवः प्रातःसवनेनागू रुद्रा माध्यन्दिने सवने आदित्यास्तृतीयसवने यज्ञवास्तुन्येव पर्य्यशिषो यज्ञवास्तुमित्येवमाशिषो विद्वांसो नूनं त्वा याजयेयुरेते ह वा अविद्वांसो यत्रानृग्विद् होता भवत्ययजुर्विदध्वर्युरसामविदुद्गाताभृग्वङ्गिरोविद् ब्रह्मा यजस्वैव हन्त तु ते तद्वक्ष्यामि यथा सूत्रे मणिरिव सूत्रमेतान्युक्थाहानि भवन्ति सूत्रमिव वा मणाविति तस्माद्य एव सर्वंवित्स्यात् तं ब्रह्माणं कुर्वीतैष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविदेते ह वा अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारस्तस्माद् ब्रह्मा स्तुते बहिःपवमाने वाचयति ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ ऋत्विजों की योग्यता के विषय में प्रजापति और नारायण की कथा ॥

(प्रजापतिः नारायणं पुरुषं ह वै उवाच, यजस्व यजस्व इति) प्रजापति [नाम वाला] नारायण [नाम वाले, मनुष्यों के लिये ज्ञान वाले] पुरुष से बोला—तू यज्ञ कर तू यज्ञ कर। (सः ह उवाच यजस्व यजस्व इति एवं ह आत्थ, अत्रिः मा अयक्षत, इमे वसवः प्रातःसवनेन, रुद्राः माध्यन्दिने सवने, आदित्याः तृतीयसवने आगुः, यज्ञवास्तुनि एव यज्ञवास्तुं पर्यशिषः इति) वह [नारायण] भी बोला—तू यज्ञ कर तू यज्ञ कर, ऐसा ही तू कहता है, [सो] खवैये [स्वार्थी लोग] यज्ञ न करें, यह वसु [श्रेष्ठ पुरुष] प्रातःसवन में, रुद्र [पापियों को रुलाने वाले अथवा ज्ञान देने वाले लोग] माध्यन्दिन सवन में, और आदित्य [अखण्डव्रती ब्रह्मचारी लोग] तृतीय सवन में आवें। यज्ञभूमि में ही [इनके लिये] यज्ञगृह नियत कर। (एवम् आशिषः अहं वै एतत् वेद, यज्ञे वसवः प्रातःसवनेन, रुद्राः माध्यन्दिने सवने आदित्याः तृतीये सवने आगुः, यज्ञवास्तुनि एव यज्ञवास्तुं पर्यशिषः इति) [प्रजापति बोला] इस प्रकार से आशीर्वादों को मैं भी यहां जानता हूं, यज्ञ में वसु लोग प्रातःसवन में, रुद्र लोग माध्यन्दिन सवन में, और आदित्य लोग तृतीय सवन में आवें, यज्ञभूमि में ही [इनके लिये] यज्ञगृह नियत कर [यह जो तू कहता है]। (एवम् आशिषः विद्वांसः नूनं त्वा याजयेयुः) इस प्रकार आशीर्वाद जानने वाले पुरुष निश्चय करके तुझ [नारायण] से यज्ञ करावें। (एते ह वै अविद्वांसः यत्र अनृग्वित् होता, अयजुर्वित् अध्वर्युः, असामवित्

११—(नारायणम्) नर—अण् समूहार्थे इण् वा अय गतौ—ल्युट्। नाराय नरसमूहाय अयनं ज्ञानं यस्य तम्। मनुष्यविशेषम् (प्रजापतिः) प्रजापालकः। मनुष्यविशेषः (आत्थ) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट्। त्वं कथयसि (अत्रिः) अदेस्त्रिनिश्च (उ० ४। ६८) अद भक्षणे—त्रिप्। अत्रयः। भक्षणशीलाः (वसवः) श्रेष्ठा विद्वांसः (रुद्राः) रोदेर्णिलुक् च (उ० २। २२) रोदयतेः—रक् णेर्लुक्। यद्वा रु गतौ वधे च—क्विप्, तुगागमः+रा दाने—कः। पापिनां रोदयितारः। रुतः ज्ञानस्य दातारः (आदित्याः) अखण्डव्रतिब्रह्मचारिणः (यज्ञवास्तुनि) वसेरगारे णिच्च (उ० १। ७०) वस निवासे—

उद्गाता अभृग्वङ्गिरोवित् ब्रह्मा भवति) वे ही अजानकार लोग होते हैं जहां ऋग्वेद [स्तुति विद्या] न जानने वाला होता, यजुर्वेद [संगतिकरण विद्या] न जानने वाला अध्वर्यु, सामवेद [मोक्षविद्या] न जानने वाला उद्गाता, और भृगु—अङ्गिराओं [प्रकाशमान ज्ञान वाले चारों वेदों] को न जानने वाला ब्रह्मा होता है। (यजस्व एव हन्त तु ते तत् वक्ष्यामि यथा सूत्रे मणिः इव, वा सूत्रम् इव मणौ, सूत्रम् एतानि उक्थाहानि भवन्ति, तस्मात् यः एव सर्ववित् स्यात् तं ब्रह्माणं कुर्वीत) तू यज्ञ ही कर, अरे भाई, तुझसे यह कहता हूं, क्योंकि सूत में मणि के समान अथवा मणि में सूत के समान [यह व्यवहार है], सूत यह सब उक्थाहानि [प्रधान स्तोत्रों के दिन] हैं [और मणि के समान याजक लोग हैं], इसलिये जो ही सब जानने वाला होवे, उसको ब्रह्मा बनावे, (एष ह वै विद्वान् सर्ववित् ब्रह्मा यत् भृग्वङ्गिरोवित्) यही विद्वान् सब जानने वाला ब्रह्मा होवे जो भृगु अङ्गिराओं [प्रकाशमान ज्ञान वाले चारों वेदों] को जानने वाला है। (एते ह वै अस्य सर्वस्य शमयितारः पालयितारः) यह ही [वेदवेत्ता लोग] इस सब यज्ञ के शान्ति देने वाले और पालन करने वाले हैं। (तस्मात् ब्रह्मा स्तुते बहिःपवमाने वाचयति) इस लिये ब्रह्मा स्तुति किये हुये बहिःपवमान [इस नाम वाले स्तोत्र] में यह बचता है [आगे क० १२ देखो] ॥ ११ ॥

भावार्थः—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के विषय में गो० पू० २। १८ देखो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२ ॥

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति । १ । स यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंलोके संश्याययति । तद्यत्संश्याययति तस्माच्छ्येनस्तच्छ्येनस्य श्येनत्वं । २ । स यदाह गायत्रच्छन्दा अनु त्वारभ इति गायत्रेण च्छन्दसा वसुभिर्देवैः प्रातःसवनेऽस्मिंल्लोकेऽग्निं सन्तमन्वारभते । ३ । स यदाह स्वस्ति मा सम्पारयेति गायत्रेणैव च्छन्दसा वसुभिर्देवैः प्रातःसवनेऽस्मिंल्लोकेऽग्निना देवेन स्वस्ति मा सम्पारयेति । ४ । गायत्रेणैवैनन्तच्छन्दसा वसुभिर्देवैः प्रातःसवनेऽस्मिंल्लोकेऽग्निना देवेन स्वस्ति सम्पद्यते य एवं वेद । ५ ॥ १२ ॥

तुन् णित् । यज्ञभूमौ (पर्यशिषः) शिष्लृ विशेषणे—लुङ् लोडर्थे । परितः सर्वतः विशिष्टं नियतं कुरु (यज्ञवास्तुम्) यज्ञगृहम् (आशिषः) आशीर्वादान् । कल्याणवचनानि (वेद) जानामि (आगुः) आ—अगुः । आ + इण् गतौ—लुङ् लिङर्थे । आगच्छेयुः (विद्वांसः) जानन्तः (याजयेयुः) यज्ञं कारयेयुः (अभृग्वङ्गिरोवित्) भृगून् प्रकाशमानान् अङ्गिरसो वेदान् न वेत्ति जानाति सः (उक्थाहानि) वच परिभाषणे —थक् । प्रधानस्तोत्रदिनानि (शमयितारः) शान्तिकर्तारः (बहिःपवमाने) बहिष्पवमाने । एतन्नामके स्तोत्रे ॥

कण्डिका १२ ॥ प्रातःसवन की स्तुति का मन्त्र सोम विषय में ॥

(गायत्रच्छन्दाः श्येनः असि, त्वा अनु आरभे, स्वस्ति मा संपारय इति १) [इस मन्त्र को ब्रह्मा पढ़ता है-क० ११] तू गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला महाज्ञानी परमात्मा है, तुझको निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं, कल्याण के साथ मुझको तू यथावत् पार लगा । १ । (सः यत् आह श्येनः असि इति, सोमं वै एतत् आह) वह जो यह कहता है-तू श्येन [महाज्ञानी परमात्मा] है-इस से वह सोम [सर्वजनक अथवा सर्वेश्वर परमात्मा] को ही बताता है । (एषः ह वै अग्निः भूत्वा अस्मिन् लोके संश्याययति) यह ही [परमात्मा] अग्नि [तेजस्वी वा व्यापक] होकर इस लोक में चलता रहता है । (तत् यत् संश्याययति तस्मात् श्येनः, तत् श्येनस्य श्येनत्वम् २) सो जो वह चलता रहता है, इसी से वह श्येन [महाज्ञानी परमात्मा] है, यही महाज्ञानी का महाज्ञानीपन है । २ । (सः यत् आह गायत्रच्छन्दाः अनु त्वा आरभे इति गायत्रेण छन्दसा वसुभिः देवैः प्रातःसवने अस्मिन् लोके अग्निं सन्तम् अनु आरभते ३) वह जो कहता है-तू गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला है तुझको निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं-इस गाने योग्य आनन्द कर्म से वसुदेवों [श्रेष्ठ विद्वानों] के साथ प्रातःसवन के समय इस लोक में [पृथिवी पर] अग्नि [तेजस्वी वा व्यापक परमात्मा] होते हुये को वह निरन्तर ग्रहण करता है । ३ । (सः यत् आह स्वस्ति मा सम्पारय इति, गायत्रेण एव छन्दसा वसुभिः देवैः प्रातः वने अस्मिन् लोके अग्निना देवेन स्वस्तिमा संपारय इति ४) वह जो [ब्रह्मा] कहता है-कल्याण के साथ मुझको तू यथावत् पार लगा-इस से वह गाने योग्य आनन्द कर्म से वसुदेवों [श्रेष्ठ विद्वानों] के साथ प्रातःसवन के समय इस लोक में अग्नि देव [तेजस्वी परमात्मा] के साथ वह कल्याण से पार लगता है । ४ । (तत् एव गायत्रेण एव छन्दसा वसुभिः देवैः प्रात सवने अस्मिन् लोके अग्निना देवेन स्वस्ति सम्पद्यते यः एवं वेद ५) सो उस पुरुष को गाने योग्य ही आनन्द कर्म से वसुदेवों

१२—(श्येनः) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २ । ४६) श्यैङ् गतौ—इनच् । श्येनः शंसनीयं गच्छति—निरु० ४ । २४ । श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानिकर्मणः—निरु० १४ । १३ । महाज्ञानी परमात्मा (गायत्रंच्छन्दाः) अमिनक्षियजि० (उ० ३ । १०५) गै शब्दे—अत्रन् णित् । आतो युक् चिण्कृतोः (पा० ७ । ३ । ३३) इति युक् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १ । ८ । चन्देरादेश्च छः (उ० ४ । २१९) चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः । छन्दति अर्चतिकर्मा–निघ० ३ । १४ । गायत्राणि गानयोग्यानि छन्दांसि आह्लादकर्माणि यस्य सः (अनु) निरन्तरम् (आरभे) परिगृह्णामि । आश्रयामि (स्वस्ति) कल्याणेन (मा) माम् (सम्) सम्यक् (पारय) पार कर्मसमाप्तौ—लोट् । परतीरे गमय (सोमम्) अर्तिस्तुसुहु० । (उ० १ । १४०) षुञ् अभिषवे, षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव–निरु० १४ । १२ । सर्वजनकं सर्वेश्वरं परमात्मानम् (अग्निः) तेजस्वी । सर्वव्यापकः (संश्याययति) श्यैङ् गतौ—णिच् स्वार्थे । सम्यक् गच्छति, जानाति व्याप्नोति

[श्रेष्ठ विद्वानों] के साथ प्रातःसवन के समय इस लोक में अग्निदेव [व्यापक परमात्मा] के साथ कल्याण समृद्ध करता है, जो ऐसा जानता है । ५ । ॥ १२ ॥

भावार्थः--परमेश्वर ज्ञान को मुख्य समझ कर मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिए ॥ १२ ॥

विशेषः--श्येनोऽसि···, यह अथर्ववेद ६ । ४८ । १ । के तीन पाद हैं, [पारय] पद के स्थान पर वेद में [वह] पद है ॥

कण्डिका १३ ॥

अथ माध्यन्दिने पवमाने वाचयति सम्राडसि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति । १ । स यदाह सम्राडसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै वायुर्भूत्वाऽन्तरिक्षलोके सम्राजति, तद्यत् सम्राजति तस्मात्सम्राट् तत् सम्राजस्य सम्राट्त्वं । २ । स यदाह त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वारभ इति त्रैष्टुभेण छन्दसा रुद्रैर्देवैर्माध्यन्दिने सवनेऽन्तरिक्षे लोके वायुं सन्तमन्वारभते । ३ । स यदाह स्वस्ति मा सम्पारयेति त्रैष्टुभेणैव च्छन्दसा रुद्रैर्देवैर्माध्यन्दिने सवनेऽन्तरिक्षलोके वायुना देवेन स्वस्ति मा सम्पारयेति । ४ । त्रैष्टुभेणैवैनं तच्छन्दसा रुद्रैर्देवैर्माध्यन्दिने सवनेऽन्तरिक्षलोके वायुना देवेन स्वस्ति सम्पद्यते य एवं वेद । ५ ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ माध्यन्दिन सवन की स्तुति का मन्त्र सोम विषय में ॥

(अथ माध्यन्दिने पवमाने वाचयति, त्रिष्टुप्छन्दाः सम्राट असि त्वा अनु आरभे स्वस्ति मा संपारय इति १) फिर माध्यन्दिन पवमान में वह [ब्रह्मा] बांचता है—तू तीनों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] ताप रोकने में समर्थ सम्राट् [राजराजेश्वर परमात्मा] है, तुझको निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं, कल्याण के साथ मुझको तू यथावत् पार लगा । १ । (सः यत् आह सम्राट असि इति सोमं वै एतत् आह) वह जो यह कहता है–तू सम्राट् [राजराजेश्वर परमात्मा] है–इस से वह सोम [सर्वजनक अथवा सर्वेश्वर परमात्मा] को ही बताता है । (एषः ह वै वायुः भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजति) यह ही [परमात्मा] वायु [अन्तर्यामी वा महाबली] होकर अन्तरिक्ष लोक [मध्य लोक] में यथावत् राज करता है । (तत् यत् सम्राजति तस्मात् सम्राट् तत् सम्राजः सम्राट्त्वं २) सो जो वह यथावत् राज करता है, इससे वह सम्राट् [राज राजेश्वर] है, यही उस सम्राट् का साम्राज्य है । २ । (सः यत् आह त्रिष्टुप्छन्दाः त्वा अनु आरभे इति, त्रैष्टुभेण छन्दसा रुद्रैः देवैःमाध्यन्दिने सवने

(श्येनत्वम्) गतिमत्त्वम् (गायत्रेण) गानयोग्येन (छन्दसा) आह्लादकर्मणा (आरभते) परिगृह्णाति (सम्पद्यते) समृद्धं करोति वर्धयति ॥

१३—(सम्राट्) राजराजेश्वरः (त्रिष्टुप्छन्दाः) ष्टुभ स्तम्भने--क्विप् । तापत्रयस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपस्य स्तोभने वर्जने छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः (वायुः) गतिमान् । बलिष्ठः । वायुरिव अन्तर्यामी

अन्तरिक्षे लोके वायुं सन्तं अनु आरभते ३) वह जो कहता है—तू तीनों ताप रोकने में समर्थ [परमात्मा] है, तुझ को निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं—तीनों ताप रोकने वाले सामर्थ्य से रुद्र देवों [पापियों को रुलाने वाले वा ज्ञान देने वाले विद्वानों] के साथ माध्यन्दिन सवन पर अन्तरिक्ष लोक में वायु [अन्तर्यामी वा महाबली परमात्मा] होते हुये को निरन्तर ग्रहण करता है । ३ । (सः यत् आह स्वस्ति मा संपारय इति त्रैष्टुभेण एव छन्दसा रुद्रैः देवैः माध्यन्दिने सवने अन्तरिक्षलोके वायुना देवेन स्वस्ति मा संपारय इति ४) वह जो कहता है—कल्याण के साथ मुझ को तू यथावत् पार लगा—तीनों ताप रोकने वाले ही सामर्थ्य से रुद्र देवों [पापियों के रुलाने वाले वा ज्ञान देने वाले विद्वानों] के साथ माध्यन्दिन सवन पर अन्तरिक्ष लोक में वायु देव [अन्तर्यामी वा महाबली परमात्मा] के साथ कल्याण से अपने को यथावत् पार करता है । ४ । (तत् एनं त्रैष्टुभेण एव छन्दसा रुद्रैः देवैः माध्यन्दिने सवने अन्तरिक्षलोके वायुना देवेन स्वस्ति संपद्यते यः एवं वेद ५) सो उस पुरुष को तीनों ताप रोकने वाले ही सामर्थ्य से रुद्र देवों [पापियों के रुलाने वाले वा ज्ञान देने वाले] विद्वानों के साथ माध्यन्दिन सवन पर अन्तरिक्ष लोक में वायु देव अन्तर्यामी [वा महाबली परमात्मा] के साथ कल्याण को वह प्राप्त करता है, जो ऐसा जानता है । ५ ॥ १३ ॥

भावार्थः - कण्डिका १२ के समान है ॥

विशेषः—सम्राडसि''''', यह अथर्ववेद ६ । ४८ । ३ । के तीन पाद कुछ भेद से हैं ॥

कण्डिका १४ ॥

अथार्भवे पवमाने वाचयति स्वरोऽसि गयोऽसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा सम्पारयेति । १ । स यदाह स्वरोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै सूर्य्यो भूत्वाऽमुष्मिन् लोके स्वरति तद्यत् स्वरति तस्मात् स्वरस्तत् स्वरस्य स्वरत्वम् । २ । स यदाह गयोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वै चन्द्रमाः भूत्वा सर्वांल्लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस्तद् गयस्य गयत्वं । ३ । स यदाह जगच्छन्दा अनु त्वारभ इति जागतेन छन्दसाऽऽदित्यैर्देवैस्तृतीयसवनेऽमुष्मिन् लोके सूर्य्यं सन्तमन्वारभते । ४ । स यदाह स्वस्ति मा सम्पारयेति जागतेनैव च्छन्दसाऽऽदित्यैर्देवैस्तृतीयसवनेऽमुष्मिन् लोके सूर्य्येण देवेन स्वस्तिमा सम्पारयेति । ५ । जागतेनैवैनन्तच्छन्दसाऽऽदित्यैर्देवैस्तृतीयसवनेऽमुष्मिंल्लोके सूर्य्येण देवेन स्वस्ति सम्पद्यते य एवं वेद ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ तृतीय सवन की स्तुति का मन्त्र सोमविषय में ॥

(अथ आर्भवे पवमाने वाचयति, जगच्छन्दाः स्वरः असि गयः असि त्वा अनु आरभे स्वस्ति मा संपारय इति १) फिर ऋभुओं [मेधावियों] के पवमान यज्ञ में वह

(सम्राजः) राजराजेश्वरस्य (सम्राट्त्वम्) साम्राज्यम् (त्रैष्टुभेण) त्रिष्टुभ्—अण् । तापत्रयनिरोधसंबन्धिनः (छन्दसा) स्वातन्त्र्येण । सामर्थ्येन (मा सम्पारय) आत्मानं सम्पारयति ॥

[ब्रह्मा] बाँचता है—तू जगत् में पूज्य परमात्मा है, सर्वगति है, तुझको निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं, कल्याण के साथ मुझ को तू यथावत् पार लगा। १। (सः यत् आह स्वरः असि इति सोमं वै एतत् आह) वह जो कहता है—तू पूजनीय है—इस से वह सोम [सर्वजनक अथवा सर्वेश्वर परमात्मा] को ही बताता है (एषः ह वै सूर्यः भूत्वा अमुष्मिन् लोके स्वरति) यह ही [परमात्मा] सूर्य [सर्वप्रेरक वा सूर्य समान] होकर उस लोक में पूजा जाता है। (तत् यत् स्वरति तस्मात् स्वरः, तत् स्वरस्य स्वरत्वम् २) सो जो वह पूजा जाता है, इस से पूजनीय है, वह उस पूजनीय का पूज्यपन है। २। (सः यत् आह, गयः असि इति सोमं वै एतत् आह) वह जो कहता है—तू सर्वव्यापक परमात्मा है—इससे वह सोम [सर्वजनक अथवा सर्वेश्वर परमात्मा] को ही बताता है। (एषः ह वै चन्द्रमाः भूत्वा सर्वान् लोकान् गच्छति) यह ही [परमात्मा] चन्द्रमा [आनन्द देने वाला परमात्मा वा चन्द्र समान] होकर सब लोकों में व्यापता है। (तत् यत् गच्छति तस्मात् गयः, तद् गयस्य गयत्वम् ३) सो जो वह व्यापता है इससे वह व्यापक है, यही उस व्यापक की व्यापकता है। ३। (सः यत् आह जगच्छन्दाः त्वा अनु आरभे इति जागतेन छन्दसा आदित्यैः देवैः तृतीयसवने अमुष्मिन् लोके सूर्यं सन्तं अनु आरभते ४) वह जो कहता है—तू जगत् में स्वतन्त्रता वाला [परमात्मा] है, तुझको निरन्तर मैं ग्रहण करता हूं—इस जगत् प्रकाशक स्वतन्त्रता से आदित्य देवों [अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों] के साथ तृतीयसवन पर उस लोक में सूर्य [सर्वप्रेरक परमात्मा] होते हुये को वह निरन्तर ग्रहण करता है। ४। (सः यत् आह, स्वस्ति मा संपारय इति—जागतेन एव छन्दसा आदित्यैः देवैः तृतीयसवने अमुष्मिन् लोके सूर्येण देवेन स्वस्ति मा सम्पारय इति ५) वह जो कहता है—कल्याण के साथ मुझको तू यथावत् पार लगा—इस जगत् प्रकाशक स्वतन्त्रता से आदित्य देवों [अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों] के साथ तृतीयसवन पर उस लोक में सूर्य देव [सर्वप्रेरक परमात्मा] के साथ कल्याण से यथावत् पार लगता है। ५। (तत् एनं जागतेन एव छन्दसा आदित्यैः देवैः तृतीयसवने अमुष्मिन् लोके सूर्येण देवेन स्वस्ति सम्पद्यते यः एवं वेद ६) सो उस पुरुष को जगत् प्रकाशक स्वतन्त्रता से आदित्य देवों [अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों] के साथ तृतीयसवन

---

१४ (आर्भवे) ऋभु—अण्। ऋभुः=मेधावी—निघ० ३। १५। मेधाविनां सम्बन्धिनि (स्वरः) पुंसि संज्ञायां घः० (पा० ३। ३। ११८) स्वृ शब्दोपतापयोः—घः। स्वरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। पूज्यः। स्तुत्यः (गयः) अघ्न्यादयश्च (उ० ४। ११२) गमेः—यक्, मलोपः। यद्वा गाङ् गतौ—यक्, ह्रस्वत्वम्। सर्वगतिः। सर्वव्यापकः (जगच्छन्दाः) जगति संसारे छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः (सूर्यः) षू प्रेरणे—क्यप्, रुडागमः। सर्वप्रेरकः परमात्मा। रविः (चन्द्रमाः) चन्द्रे मो डित् (उ० ४। २२८) चन्द्र+माङ् माने—असिः डित्। चन्द्रमानन्दं मिमीतेऽसौ। आनन्दप्रदः परमात्मा। चन्द्रलोकः (जागतेन) जगत्प्रकाशकेन (छन्दसा) स्वातन्त्र्येण (सम्पद्यते) सम्यक् प्राप्नोति ॥

पर उस लोक में सूर्य देव [सर्वप्रेरक परमात्मा] के साथ कल्याण को वह प्राप्त करता है जो ऐसा जानता है । ६ । ॥ १४ ॥

भावार्थः—पूर्ववत् ॥

विशेषः—स्वरोऽसि……यह अथर्ववेद ६ । ४८ । ३ के तीन पाद कुछ भेद से हैं ॥

कण्डिका १५ ॥

अथ संस्थिते संस्थिते सवने वाचयति मयि भर्गो मयि महो मयि यशो मयि सर्वमिति पृथिव्येव भर्गोऽन्तरिक्ष एव महो द्यौरेव यशोऽप एव सर्वम् । १ । अग्निरेव भर्गो वायुरेव मह आदित्य एव यशश्चन्द्रमा एव सर्वं । २ । वसव एव भर्गो रुद्रा एव मह आदित्या एव यशो विश्वे देवा एव सर्वं । ३ । गायत्र्येव भर्गस्त्रिष्टुबेव महो जगत्येव यशोऽनुष्टुबेव सर्वं । ४ । प्राच्येव भर्गः प्रतीच्येव मह उदीच्येव यशो दक्षिणैव सर्वं । ५ । वसन्त एव भर्गो ग्रीष्म एव महो वर्षा एव यशः शरदेव सर्वं । ६ । त्रिवृदेव भर्गः पञ्चदश एव महः सप्तदश एव यश एकविंश एव सर्वम् । ७ । ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वं । ८ । होतैव भर्गोऽध्वर्युरेव मह उद्गातैव यशो ब्रह्मैव सर्वं । ९ । वागेव भर्गः प्राण एव महश्चक्षुरेव यशो मन एव सर्वम् । १० ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ संस्थित सवन में भर्ग आदि चार पदार्थों का दस प्रकार से वर्णन ॥

(अथ संस्थिते संस्थिते सवने वाचयति. मयि भर्गः, मयि महः, मयि यशः मयि सर्वम् इति) अब संस्थित संस्थित [प्रत्येक समाप्त] सवन में वह [ब्रह्मा] बांचता है—तुझमें भर्ग [तेज], मुझमें महत्त्व, मुझमें यश, और मुझमें सब [ज्ञान] होवे । (पृथिवी एव भर्गः. अन्तरिक्षः एव महः, द्यौः एव यशः, अपः एव सर्वम् १) पृथिवी [भूलोक विद्या] ही तेज, अन्तरिक्ष [विद्या] ही महत्त्व, प्रकाश लोक [विद्या] ही यश और जल [विद्या] ही सब है । १ । (अग्निः एव भर्गः, वायुः एव महः, आदित्यः एव यशः, चन्द्रमाः एव सर्वम् २) अग्नि [विद्या] ही तेज, वायु [विद्या] ही महत्त्व, सूर्य [विद्या] ही यश और चन्द्रमा [आनन्दप्रद विद्या] ही सब है । २ । (वसवः एव भर्गः रुद्राः एव मह . आदित्याः एव यशः, विश्वे देवाः एव सर्वम् ३) वसु [श्रेष्ठ विद्वान् लोग] ही तेज, रुद्र [पापियों को रुलाने वाले विद्वान्] ही महत्त्व, आदित्य [अखण्डव्रती ब्रह्मचारी लोग] ही यश और विश्वे देवा [सब विद्वान् लोग] ही सब हैं । ३ । (गायत्री एव भर्गः, त्रिष्टुप् एव महः, जगती एव यशः, अनुष्टुप् एव सर्वम् ४) गायत्री [गाने योग्य वेद विद्या] ही तेज, त्रिष्टुप् [तीन कर्म उपासना ज्ञान को स्थिर करने हारी

१५—(संस्थिते संस्थिते) प्रत्येकं समाप्ते (भर्गः) अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च (उ० ४ । २१६) भृजी भर्जने—असुन् कुत्वं च । तेजः । प्रजा-

विद्या] ही महत्त्व, जगती [जगत् का उपकार करने वाली विद्या] ही यश और अनुष्टुप् [निरन्तर पदार्थों की स्तुति विद्या] ही सब है। ४। (प्राची एव भर्गः, प्रतीची एव महः, उदीची एव यशः, दक्षिणा एव सर्वम् ५) पूर्व दिशा [की विद्या] ही तेज, पश्चिम दिशा ही महत्त्व, उत्तर दिशा ही यश और दक्षिण दिशा ही सब है। ५। (वसन्तः एव भर्गः, ग्रीष्मः एव महः, वर्षाः एव यशः, शरत् एव सर्वम् ६) वसन्त ऋतु ही तेज, ग्रीष्म ही महत्त्व, वर्षा ही यश, और शरद् ऋतु [की विद्या] ही सब है। ६। (त्रिवृत् एव भर्गः, पञ्चदशः एव महः, सप्तदशः एव यशः, एकविंशः एव सर्वम् ७) त्रिवृत् स्तोत्र ही तेज, पंचदश यज्ञ ही महत्त्व, सप्तदश यज्ञ ही यश, और एकविंश यज्ञ ही सब है। ७। (ऋग्वेदः एव भर्गः यजुर्वेदः एव महः, सामवेदः एव यश, ब्रह्मवेदः एव सर्वम् ८) ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] ही तेज, यजुर्वेद [संगतिकरण विद्या] ही महत्त्व, सामवेद [मोक्षविद्या] ही यश और ब्रह्मवेद [अथर्ववेद वा ब्रह्मविद्या] ही सब है। ८। (होता एव भर्गः, अध्वर्युः एव महः, उद्गाता एव यशः ब्रह्मा एव सर्वम् ९) होता ही तेज, अध्वर्यु ही महत्त्व, उद्गाता ही यश, और ब्रह्मा ही सब है। ९। (वाक् एव भर्गः, प्राणः एव महः, चक्षुः एव यशः, मनः एव सर्वम् १०) वाणी ही तेज, प्राण ही महत्त्व, आंख ही यश, और मन ही सब है। १०॥ १५॥

भावार्थः—मनुष्य तेज आदि चार पदार्थों की प्राप्ति से दस प्रकार सब वस्तुओं के तत्त्ववेत्ता होकर देश काल के विचार से सर्वोपकारी बन कर सुखी होवें॥ १५॥

विशेषः—इस कण्डिका को कण्डिका १६, १७, १८, १९ और २० से मिलाओ॥

कण्डिका १६॥

स यदाह मयि भर्ग इति पृथिवीमेवैतत् लोकानामाहाग्निं देवानां वसून् देवान् देवगणानां गायत्रं छन्दसां प्राचीन्दिशां वसन्तमृतूनां त्रिवृतं स्तोमानामृग्वेदं वेदानां हौत्रं होत्रकाणां वाचमिन्द्रियाणाम्॥ १६॥

कण्डिका १६॥ भर्ग [तेज] का वर्णन॥

(सः यत् आह, मयि भर्गः इति, पृथिवीम् एव एतत् लोकानाम् आह, अग्निं देवानां, वसून् देवान् देवगणानां, गायत्रं छन्दसां, प्राचीं दिशां, वसन्तम् ऋतूनां, त्रिवृतं स्तोमानाम्, ऋग्वेदं वेदानां, हौत्रं होत्रकाणां, वाचम् इन्द्रियाणाम्)

पतिः (महः) महत्त्वम् (यशः) कीर्तिः (पृथिवी) भूगोलविद्या (आदित्यः) आदीप्यमानः सूर्यः (चन्द्रमाः) आह्लादको लोकः। चन्द्रवत् सुखप्रदः (वसवः) श्रेष्ठविद्वांसः (आदित्याः) अखण्डव्रतिब्रह्मचारिणः (गायत्री) गानयोग्यवेदविद्या (त्रिष्टुप्) त्रि+ष्टुभु स्तम्भे—क्विप्। त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तोभते स्थिरीकरोति या सा विद्या (जगती) जगदुपकारिका विद्या (अनुष्टुप्) स्तोभति अर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। निरन्तरस्तुतिविद्या॥

वह जो [ब्रह्मा] कहता है—मुझमें भर्ग [तेज] होवे—वह इस पृथिवी को ही लोकों में से कहता है [१], अग्नि को देवों [दिव्य पदार्थों] में [२], वसुदेवों [श्रेष्ठ विद्वानों] को देवगणों [विद्वानों के समूहों] में [३], गायत्र [गाने योग्य वेद विद्या] को छन्दों [आनन्ददायक कामों] में [४], पूर्वदिशा को दिशाओं में [५], वसन्तऋतु को ऋतुओं में [६], त्रिवृत् स्तोत्र को स्तोत्रों में [७], ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] को वेदों में [८], होता को होताओं में [९], वाणी को इन्द्रियों में [वह कहता है] [१०]. ।। १६ ।।

भावार्थ : और विशेषः—कण्डिका १५ में देखो ।। १६ ।।

कण्डिका १७ ।।

स यदाह मयि मह इत्यन्तरिक्षमेवैतल्लोकानामाह वायुं देवानां रुद्रान् देवान् देवगणानान्त्रैष्टुभं छन्दसां प्रतीचीन्दिशां ग्रीष्ममृतूनां पञ्चदशं स्तोमानां यजुर्वेदं वेदानामाध्वर्यवं होत्रकाणां प्राणमिन्द्रियाणाम् ।। १७ ।।

कण्डिका १७ ।। महः वा महत्त्व का वर्णन ।।

(सः यत् आह मयि महः इति, अन्तरिक्षम् एव एतत् लोकानाम् आह, वायुं देवानां, रुद्रान् देवान् देवगणानां, त्रैष्टुभं छन्दसां, प्रतीचीं दिशां, ग्रीष्मम् ऋतूनां, पंचदशं स्तोमानां, यजुर्वेदं वेदानाम् आध्वर्यवं होत्रकाणां, प्राणम् इन्द्रियाणाम्) वह जो [ब्रह्मा] कहता है—मुझमें महः [महत्त्व] होवे—वह इस अन्तरिक्ष को ही लोकों में से कहता है [१], वायु को देवों [दिव्य पदार्थों] में [२], रुद्र देवों [पापियों को रुलाने वाले विद्वानों] को देवगणों [विद्वानों के समूहों] में [३], त्रैष्टुभ [तीन, कर्म उपासना ज्ञान को स्थिर करने वाली विद्या] को छन्दों [आनन्ददायक कर्मों] में [४], पश्चिम दिशा को दिशाओं में [५], ग्रीष्म ऋतु को ऋतुओं में [६], पंचदश स्तोत्र को स्तोत्रों में [७], यजुर्वेद [संगतिकरण विद्या] को वेदों में [८], अध्वर्यु को होताओं में [९], प्राण को इन्द्रियों में [वह कहता है] [१०] ।। १७ ।।

भावार्थ : और विशेषः—कण्डिका १५ में देखो ।। १७ ।।

कण्डिका १८ ।।

स यदाह मयि यश इति दिवमेवैतल्लोकानामाहादित्यं देवानामादित्यान् देवान् देवगणानां जागतं छन्दसामुदीचीन्दिशां वर्षा ऋतूनां सप्तदशं स्तोमानां सामवेदं वेदानामौद्गात्र होत्रकाणां चक्षुरिन्द्रियाणाम् ।। १८ ।।

१६—(हौत्रम्) अण् स्वार्थे । होतारम् (होत्रकाणाम्) होतॄणाम् । ऋत्विजाम् ।।

१७—(आध्वर्यवम्) अण् स्वार्थे । अध्वर्युम् ।।

कण्डिका १८ ॥ यश वा कीर्ति का वर्णन ॥

(सः यत् आह मयि यशः इति दिवम् एव एतत् लोकानाम् आह, आदित्यं देवानाम्, आदित्यान् देवान् देवगणानाम्, जागतं छन्दसाम्, उदीचीं दिशां, वर्षाः ऋतूनां, सप्तदशं स्तोमानां, सामवेदं वेदानाम्, औद्गात्रं होत्रकाणां, चक्षुः इन्द्रियाणाम्) वह जो [ब्रह्मा] कहता है—मुझमें यश [कीर्ति] होवे—वह इस प्रकाश लोक को ही लोकों में से कहता है [१], सूर्य को देवों [दिव्य पदार्थों] में [२], आदित्य देवों [अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों] को देवगणों [विद्वानों के समूहों] में [३], जागत [जगत् के उपकारक ज्ञान] को छन्दों [आनन्ददायक कर्मों] में [४], उत्तर दिशा को दिशाओं में [५], वर्षा ऋतु को ऋतुओं में [६], सप्तदश स्तोत्र को स्तोत्रों में [७], सामवेद [मोक्षविद्या] को वेदों में [८], उद्गाता को होताओं में [९], आंख को इन्द्रियों में [वह कहता है] [१०] ॥ १८ ॥

भावार्थ : और विशेषः—कण्डिका १५ में देखो ॥ १८ ॥

कण्डिका १९ ॥

स यदाह मयि सर्वमित्यप एवैतल्लोकानामाह चन्द्रमसं देवानां विश्वान् देवान् देवगणानामानुष्टुभं छन्दसां दक्षिणां दिशां शरदमृतूनामेकविंशं स्तोमानां ब्रह्मवेदं वेदानां ब्रह्मत्वं होत्रकाणां मन इन्द्रियाणाम् ॥ १९ ॥

कण्डिका १९ ॥ सर्व वा सब ज्ञान का वर्णन ॥

(सः यत् आह मयि सर्वम् इति, अपः एव एतत् लोकानाम् आह, चन्द्रमसं देवानां, विश्वान् देवान् देवगणानाम्, आनुष्टुभं छन्दसां, दक्षिणां दिशां, शरदम् ऋतूनाम्, एकविंशं स्तोमानां, ब्रह्मवेदं वेदानां, ब्रह्मत्वं होत्रकाणां, मनः इन्द्रियाणाम्) वह जो [ब्रह्मा] कहता है—मुझ में सब [ज्ञान] होवे—वह इस जल को ही लोकों में से कहता है [१] चन्द्रमा [आनन्ददायक पदार्थ वा लोक] को देवों [दिव्य पदार्थों] में [२], सब विद्वानों को देवगणों [विद्वानों के समूहों] में [३] आनुष्टुभ [निरन्तर पदार्थों के स्तुति वाले ज्ञान] को छन्दों [आनन्ददायक कर्मों] में [४], दक्षिण दिशा को दिशाओं में [५] शरद् ऋतु को ऋतुओं में [६], एकविंश स्तोत्र को स्तोत्रों में [७], ब्रह्मवेद [अथर्ववेद वा ब्रह्मविद्या] को वेदों में [८], ब्रह्म को होताओं में [९] मन को इन्द्रियों में [वह कहता है] [१०] ॥ १९ ॥

भावार्थः और विशेषः—कण्डिका १५ में देखो ॥ १९ ॥

कण्डिका २० ॥

स वा एष दशधा चतुः सम्पद्यते, दश च ह वै चतुर्विराजोऽक्षराणि तद्गर्भा उपजीवन्ति श्रीर्वै विराड् यशोऽन्नाद्यं श्रियमेव तद्विराजं यशस्यन्नाद्ये प्रतिष्ठापयति

१८—(औद्गात्रम्) अण् स्वार्थे । उद्गातारम् ॥

१९—(ब्रह्मत्वम्) ब्रह्माणम् ॥

प्रतिष्ठन्तीरिदं सर्वमनुप्रतिष्ठति प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ दस गुणित चार पदार्थों का विराट् से सम्बन्ध ॥

(सः वै एषः दशधा चतुः सम्पद्यते) वह ही यह [ब्रह्मा] दस प्रकार चार बार [पदार्थों] को प्राप्त करता है। (दश च ह वै चतुः विराजः अक्षराणि) और भी दस चार बार [१०×४=४०] विराट् [छन्द] के अक्षर होते हैं (तं गर्भाः उपजीवन्ति) उस [विराट्] के सहारे गर्भ [गर्भ के बालक] जीते हैं। (श्रीः वै विराट् यशः अन्नाद्यम्) [क्योंकि] विराट् ही श्री [शोभा वा सम्पत्ति] है और यश खाने योग्य अन्न है। (तत् श्रियम् एव विराजं यशसि अन्नाद्ये प्रतिष्ठापयति) इसलिये विराट् अर्थात् श्री को यश अर्थात् खाने योग्य अन्न में वह स्थापित करता है। (इदं सर्वं प्रतिष्ठन्तीः अनु प्रतिष्ठति) यह सब [जगत्] ठहरी हुई [शक्तियों] के साथ ठहरा रहता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) वह सन्तानों और पशुओं से प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा जानता है ॥ २० ॥

भावार्थ : और विशेषः—कण्डिका १५ में देखो ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

अनर्वाणं ह वै देवं दध्यङाङ्गिरसः उपसीदं ह यज्ञस्य श्रुष्टिं समश्नवामहा इति स दध्यङाङ्गिरसोऽब्रवीद्यो वै सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञेऽन्वितं वेद नास्य यज्ञो रिष्यते[1] न यज्ञपतिं रिष्यन्त इति ता वा एताः पञ्च व्याहृतयो भवन्त्यों श्रावयास्तु श्रौषड् यज ये यजामहे वौषडिति स दध्यङाङ्गिरसोऽब्रवीन्न वयं विद्मो यदि ब्राह्मणाः[1] स्मो यद्यब्राह्मणाः स्मो यदि तस्य ऋषेः स्मो यदि नान्यस्येत्यनर्वाणश्च ह वा ऋतावन्तश्च पितरः स्वधायामावृषायन्त वयं वदामहै ३ वयं वदामहा १ इति सोऽयात् स्वायम्भुवो वा ऋतावन्तो मदेयातां[2] न वय वदामहा ३ इति तस्मात् प्रवरे प्रव्रियमाणे वाचयेद्देवाः पितर इति तिस्रो य एति संयजति स भवति यश्च न ब्रूते यश्च न ब्रूत इति ब्राह्मणम् ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ यज्ञ के विषय में दध्यङ् और अनर्वा का वार्तालाप ॥

(अनर्वाणं ह वै देवम् आङ्गिरसः दध्यङ् उपसीदम्) प्रसिद्ध है अनर्वा [अहिं-

---

२०—(चतुः) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (पा० ५ । ४ । १८) रात्सस्य (पा० ८ २ ॥ २४) सलोपः । चतुर्वारम् (उपजीवन्ति) आश्रित्य जीवनं कुर्वन्ति (विराट्) वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप् । विराजो दिशः—पिङ्गल सूत्राणि ३ । ५ । दशाक्षरचतुष्पादं छन्दः । श्रीः ॥

२१—(अनर्वाणम्) स्नामदिपद्यर्ति० (उ० ४ । ११३) ऋ गतौ हिंसायां च—वनिप् । अहिंसकम् । अनिंद्यम् । ऋषिविशेषम् (दध्यङ्) सर्वधातुभ्यः इन्

---

१. पू. सं. रिष्यति, ब्राह्मणा इति पाठः ॥

२. अत्र द्विवचनप्रयोगोऽशुद्धः, "मदेरन्" इति भवितव्यम् ॥ सम्पा० ॥

सक] देव [विद्वान्] के पास वेदवेत्ता दध्यङ् [स्थिरता प्राप्त करने वाला] पहुँचा। (सः आङ्गिरसः दध्यङ् अब्रवीत् यज्ञस्य ह श्रुष्टिं समश्नवामहै इति) वह वेदवेत्ता दध्यङ् बोला—यज्ञ की शीघ्रता को हम मिल कर पावें। (यः वै सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञे अन्वितं वेद, अस्य यज्ञः न रिष्यते न यज्ञपतिं रिष्यन्ते इति) [अनर्वा बोला] जो पुरुष यज्ञ में सत्रहवें [४ वेद + ४ वर्ण + ४ आश्रम = ४ पुरुषार्थ अर्थात् धर्म अर्थ काम मोक्ष इन सोलह के सहित सत्रहवें] प्रजापति [प्रजापालक परमात्मा] को यज्ञ में संगत जानता है, उसका यज्ञ नहीं नष्ट होता है और न यज्ञपति [यजमान] को वे [शत्रु] नष्ट करते हैं। (ताः वै एताः पंच व्याहृतयः भवन्ति, ओं श्रावय, अस्तु श्रौषट्, यज, ये यजामहे, वौषट् इति) और वे ही यह पांच व्याहृतियां है—ओं श्रावय [ओं, तू सुना], अस्तु श्रौषट् [श्रवण होवे], यज [यज्ञ कर], ये यजामहे [जो हम लोग यज्ञ करते हैं], वौषट् [आहुति पहुँचे—देखो क० १०]। (सः आङ्गिरसः दध्यङ् अब्रवीत् वयं न विद्मः यदि ब्राह्मणाः स्मः यदि अब्राह्मणाः स्मः यदि तस्य ऋषेः स्मः यदि अन्यस्य, न, इति) वह वेदवेत्ता दध्यङ् बोला—हम नहीं जानते यदि हम ब्राह्मण हैं, यदि अब्राह्मण हैं, यदि उस ऋषि के हैं, यदि अन्य के, यह भी नहीं [जानते]। (अनर्वाणः च ह वै ऋतावन्तः च पितरः स्वधायाम् आवृषायन्ते वयं वदामहै ३ वयं वदामहै १ इति) [अनर्वा बोला] अहिंसक और सत्यवान् ही पितर [पालन करने हारे पुरुष] अन्न के विषय में इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] के समान आचरण करते हैं, यह हम जानें यह हम जानें। (सः अयात् स्वायम्भुवः वै ऋतावन्तः मदेयातां वयं न वदामहै ३ इति) उस दध्यङ् ने जाना—स्वयम्भू [अपने आप वर्त्तमान परमात्मा] को देवता मानने वाले सत्यवान् पुरुष दीन होवें, यह हम न जानें। (तस्मात् प्रवरे प्रव्रियमाणे वाचयेत्—देवाः पितरः इति तिस्रः) इसलिये श्रेष्ठ व्यवहार वा यज्ञ के प्रवर्तमान

(उ० ४ । ११८) दध दाने धारणे च—इन् + अञ्चु गतिपूजनयोः - क्विन्। धारणं स्थैर्यम् अञ्चति प्राप्नोति यः सः (आङ्गिरसः) वेदवेत्ता (उपसीदम्) उप-असीदत् (श्रुष्टिम्) श्रु गतौ श्रवणे च—क्तिन् सुडागमः। श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति—निरु० ६ । १२। शीघ्रताम् (सप्तदशम्) चत्वारो वेदाः, चत्वारो वर्णाः, चत्वार आश्रमाः, धर्मार्थकाममोक्षा इति चत्वारः पुरुषार्थाः, एतैः षोडशभिः सहितं सप्तदशं प्रजापतिम् (प्रजापतिम्) प्रजास्वामिनं परमात्मानम् (अन्वितम्) अनुगतम्। संगतम् (रिष्यते) नश्यति (रिष्यन्ते) नाशयन्ति (अनर्वाणः) अदुष्टाः (ऋतावन्तः) ऋतवन्तः। सत्यवन्तः (स्वधायाम्) अन्ने—निघ० २ । ७ (आवृषायन्ते) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (पा० ३ । १ । ११) आ + वृषन् वृष वा क्यङ्। समन्ताद् वृष इन्द्र इव आचरन्ति (अयात्) या गतौ = ज्ञाने—लङ् ज्ञातवान् (स्वायंभुवः) स्वयंभू—अण्। जसः सुः। स्वयम्भूः परमात्मा देवता येषां ते (मदेयाताम्) मद दैन्ये—वि० लि०। दीना दरिद्रा भवेयुः (प्रवरे) श्रेष्ठव्यवहारे। यज्ञे (प्रव्रियमाणे) प्रकर्षेण स्वीक्रियमाणे। प्रवर्तमाने (भवति) सत्तावान् भवति (न ब्रूते) असत्यं न कथयति ॥

होने पर—देवा: पितर: इन तीन ऋचाओं [अथर्व० ६ । १२३ । ३—५] को [पढ़ें], (य: एति संयजति य: च न ब्रूते य: च न ब्रूते स: भवति इति ब्राह्मणम्) जो पुरुष चलता है, मिलकर यज्ञ करता है, और जो [असत्य] नहीं बोलता और जो [असत्य] नहीं बोलता, वह सत्ता वाला है, यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ २१ ॥

भावार्थ:—सत्यवादी पुरुष का कथन प्रामाणिक और असत्यवादी का अप्रामाणिक होता है ॥ २१ ॥

विशेष:—(देवा: पितर:) यह तीन मन्त्र अथर्व० ६ । १२३ । ३—५ इस प्रकार हैं।

(देवा: पितर: पितरो देवा: । यो अस्मि सो अस्मि । १ । स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् । २ । नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रतितिष्ठतु । विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव । ३ ।) अर्थ—देव [विद्वान् लोग] पितर [पालने वाले] और पितर देव [विजयी] होते हैं, जो मैं सत्ता वाला हूं वह मैं सत्ता वाला हूं । १ । वह मैं पकाता हूं, वह मैं देता हूं वह मैं [विद्वानों को] पूजता हूं, वह मैं दान से पृथक् न होऊं । २ । हे राजन् [समर्थ पुरुष] सुख स्वरूप [परमात्मा] में प्रतिष्ठा पा, उसी [परमात्मा] में ही यह [तेरा पुण्य कर्म] प्रतिष्ठा पावे । हे राजन् [विद्या से प्रकाशमान] हमारे लिये अन्न आदि कर्म का ज्ञान कर, सो तू हे देव [गतिशील] प्रसन्नचित्त हो ॥

कण्डिका २२ ॥

सावित्रं ह स्म वैतं पूर्वे पुरस्तात् पशुमालभन्त इति मे तर्हि प्राजापत्यं यो ह्येव सविता स प्रजापतिरिति वदन्तस्तस्मादुसमोऽथाग्नींस्तेन यजेरंस्ते समानधिष्ट्या एव स्युरोषा सम्भरणीया या उषा सम्भरणीया यान् विन्युप्याग्नींस्तया यजेरंस्तेनानाधिष्ट्या एव स्युरादीक्षणीया या दीक्षणीया यान् संन्युप्याग्नींस्तया यजेरंस्ते समानधिष्ट्या एव स्युरोदवसानीया या उदवसानीया यान् विन्युप्याग्नींस्तया यजेरंस्तेनानाधिष्ट्या एव स्युरथ यदि यजमानस्योपतयेत् पार्श्वतोऽग्नीनाधाय तावदासीत यावद्दग्ध: स्याद्यदि प्रेयात् स्वैरेव तमग्निभिर्दहेद् दश वा अग्निभिरितरे यजमाना आसत इति वदन्तस्तस्य तदेव ब्राह्मणं यददः पुर:सवने पितृमेध आशिषो व्याख्याता: ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ मिश्रित यज्ञों का विषय ॥

(पूर्वे ह स्म वा एतं सावित्रं पशुं पुरस्तात् आलभन्ते इति तर्हि मे प्राजापत्यं य: हि एव सविता स: प्रजापति: इति वदन्त: तस्मात् उ सम:) पहिले लोग इस सविता देवता वाले पशु [पशु नामक पाक यज्ञ—क० २३] को पहिले प्राप्त करते

२२—(सावित्रम्) सवितृदेवताकम् (पूर्वे) पूर्ववर्तमाना ऋषय: (पशुम्) पशुनामकं पाकयज्ञम्—क० २३ (आलभन्ते) समन्तात् प्राप्नुवन्ति (मे) मम मते (प्राजापत्यम्) प्रजापतिदेवताकम् (सविता) सर्वप्रेरक: परमेश्वर: (प्रजा-

हैं. तब मेरा [मत है]—प्रजापति देवता वाले को [पशु नामक पाक यज्ञ को वे प्राप्त करते हैं] क्योंकि जो ही सविता [सर्वप्रेरक परमात्मा] है, वही प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] है, ऐसा कहते हैं, इसलिये वह सविता और प्रजापति [नाम वाला यज्ञ] एक है। (अथ [ये] अग्नीन् तेन यजेरन् ते समानधिष्टचाः एव स्युः) फिर [जो लोग आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिण] अग्नियों को उस [पाक यज्ञ] से यज्ञ करें वे समान प्रगल्भ [जीतने वाले] ही होवें। (आ उषा सम्भरणीया, या उषा सम्भरणीया यान् अग्नीन् विन्युप्य तया यजेरन्, तेन अनाधिष्टचाः एव स्युः) फिर उषा [उषा नामक प्रभात वेला की इष्टि] करनी चाहिये, जो उषा [इष्टि] करनी चाहिये और जिन [तीन] अग्नियों को विविध प्रकार स्थापित करके उस [उषा] के साथ उस [पाक यज्ञ] से [जो] यज्ञ करें वे अजेय ही हो जावें। (आ दीक्षणीया, या दीक्षणीया, यान् अग्नीन् सन्युप्य तया यजेरन् ते समानधिष्टचाः एव स्युः) फिर दीक्षणीया [इष्टि है] जो दीक्षणीया है और जिन अग्नियों को यथावत् स्थापित करके [उस दीक्षणीया के साथ] उस [पाक यज्ञ] से [जो] यज्ञ करें वे समान प्रगल्भ [जीतने वाले] ही होवें। (आ उदवसानीया, या उदवसानीया यान् अग्नीन् विन्युप्य तया तेन यजेरन् अनाधिष्टचाः एव स्युः) फिर उदवसानीया [इष्टि है], जो उदवसानीया है और जिन अग्नियों को विविध प्रकार स्थापित करके उस [उदवसा-नीया] के साथ उस [पाक यज्ञ] से यज्ञ करें वे अजेय ही हो जावें। (अथ यदि यजमानस्य पार्श्वतः उपतयेत् अग्नीन् आधाय तावत् आसीत यावत् दग्धः स्यात्) फिर यदि यजमान के पास में वह [पाक यज्ञ] आ जावे, अग्नियों को स्थापित करके वह [यजमान] तब तक बैठे जब तक वह [पाक यज्ञ] भस्म होवे। (यदि प्रेयात् तं स्वैः एव अग्निभिः दहेत्) यदि वह [अग्नि] बुझ जावे उसको अपनी ही अग्नियों से जलावे। (दश इतरे यजमानाः वै अग्निभिः आसते इति वदन्तः) दश दूसरे यजमान लोग ही [तीनों] अग्नियों के साथ बैठते हैं [यज्ञ करते हैं] ऐसा कहते हैं। (तस्य तत् एव

पतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (वदन्तः) वदन्ति (समः) तुल्यः (अग्नीन्) आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्नीन्—गो० पू० २ । २२ (तेन) पशुना पाकयज्ञेन (समानधिष्टचाः[1]) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्यप्, तकारागमः धिष आदेशः । धृषेर्धिष च संज्ञायाम् (उ० २ । ८२) इति निर्देशात् । तुल्यप्रगल्भाः (आ) समुच्चये (उषा) उषानामकेष्टिः (संभरणीया) सम्पादनीया (विन्युप्य) वि + नि + डुवप् बीज-सन्ताने—ल्यप् । विन्यस्य । प्रतिष्ठाप्य (अनाधिष्टचाः) नञ् + आ + ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्यप्, पूर्ववत्सिद्धिः । अनाधृष्याः अनभवनीयाः अजेयाः (संन्युप्य) सम्यङ्न्यस्य (उपतयेत्) तय गतौ । उपगच्छेत् (दग्धः) भस्मीभूतः (प्रेयात्) प्रगच्छेत् । नश्येत् (दहेत्) भस्मीकुर्यात् । दीपयेत् (आशिषः) आशीर्वादाः ॥

---

१. यहाँ ज०स० में "समानधिष्ण्याः" पाठ है, सानसिवर्ण···धिष्ण्यशल्याः (उ० ४ । १०८) से धिष्ण्य शब्द ऋकार को इकार एवं ण्य प्रत्यय करके सिद्ध होता है। वस्तुतः यही समीचीन प्रतीत होता है। धिष्टच की सिद्धि में बाहुलक से कई कार्य माने हैं ।।सम्पा०।।

ब्राह्मणम् यत् अदः) उस [यजमान] का वही ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है जो यह है। (पुरःसवने पितृमेधे आशिषः व्याख्याताः) पुरःसवन [नाम वाले] पितृमेध यज्ञ में आशीर्वाद व्याख्यात हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—यज्ञ विधानों को यथावत् जान कर यज्ञ करना चाहिये ॥ २२ ॥

कण्डिका २३ ॥

सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः । बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः । १ । अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये । नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः । २ । अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः । वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्याम[1] अत्र सप्तम इत्येते सुत्याः ।३। केस्विद्देवाः प्रवोवाजाः केस्विद्देवा अभिद्यवः । केस्विद्देवा हविष्मन्तः किंस्विज्जिगाति सुम्नयुः । ४ । ऋतव एव प्रवोवाजा मासा देवा अभिद्यवः । अर्द्धमासा हविष्मन्तस्तज्जिगाति सुम्नयुः । ५ । कतिस्विद्रात्रयः कत्यहानि कति स्तोत्राणि कति शस्त्राण्यस्य । कतिस्वित्[2]सवनाः संवत्सरस्य स्तोत्रियाः पदाक्षराणि कत्यस्य । ६ । द्वावतिरात्रौ षट्शतमग्निष्टोमा द्वेविंशतिशते उक्थ्यानाम् । द्वादशषोडशिनः षष्टिः षडहा वैषुवतश्च । ७ । अहान्यस्य विंशतिशतानि त्रीण्यहश्चैकं तावदस्य । संवत्सरस्य सवनानि सहस्रमशीति त्रीणि च संस्तुतस्य । ८ । षट्षष्टिश्च द्वे च शते च भवतस्तत शस्त्राणामयुतं चैकमस्य । स्तोत्रियाश्च नवतिसहस्रा द्वे नियुते नवतिश्चातिषट् च । ९ । अष्टौ शतान्ययुतानि त्रिंशच्चतुर्नवतिश्च पदान्यस्य । संवत्सरस्य कविभिर्मितस्यैतावती मध्यमा देवमात्रा । १० । अयुतमेकं प्रयुतानि त्रिंशद् द्वे नियुते तथा ह्यनुसृष्टानि । अष्टौ शतानि नव चाक्षराण्येतावानात्मा परमः प्रजापतेः । ११ । आद्यं वषट्कारः प्रदानान्तमेतमग्निष्टोमे पर्वशः साधु क्लृप्तम् । सौभेषजं छन्द ईप्सद्भिः यदग्नौ चतुःशतं बहुधा हूयते यत् । १२ । प्रातःसवनस्तुत एकविंशो गायत्रस्तोममित एक एव । माध्यन्दिनः सप्तदशेन क्लृप्तस्त्रयस्त्रिंशेन सवनं तृतीयम् । १३ ॥ २३ ॥

कण्डिका २३ ॥ विविध यज्ञों के विधान और गणना सहित व्याख्यान श्लोकों में ॥

(सायंप्रातर्होमौ यः नवः स्थालीपाकः च बलिः च पितृयज्ञः च अष्टका सप्तमः पशुः इति एते पाकयज्ञाः १) सायंकाल और प्रातःकाल के दो होम, और

२३—(स्थालीपाकः) स्थाल्यां पच्यते, पच्—घञ् । गव्यदुग्धेन स्थाल्यां कृतः पाकभेदः (नवः) णु स्तुतौ—अप् । स्तवः । नवीनः (बलिः) पूजोपहारः (अष्टका) इण्यशिभ्यां तकन् (उ० ३ । १४८) अशूङ् व्याप्तौ—तकन् । वैदिक-

१. पू. सं. "अप्तोर्यामात्र" इति पाठः, स चाशुद्धः सन्ध्यभावात् ॥

२. पू. सं. 'चित्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

जो नव [नव नामक वा नवीन] स्थालीपाक है और बलि और पितृयज्ञ, अष्टका और सातवां पशु, यह [सात] पाक यज्ञ हैं । १ । (अग्न्याधेयम्, अग्निहोत्रं, पौर्णमास्यमावास्ये, नवेष्टिः,चातुर्मास्यानि,पशुबन्धः अत्र सप्तमः इति एते हविर्यज्ञाः २) अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमासी और अमावास्या, नवेष्टि, चातुर्मास्य और पशुबन्ध यहां सातवां है, यह [सात] हविर्यज्ञ हैं । २ । (अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, ततः षोडशिमान् वाजपेयः अतिरात्रः, अप्तोर्यामः च अत्र सप्तमः इति एते सुत्याः ३) अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, फिर षोडशिमान्, वाजपेय, अतिरात्र, और अप्तोर्याम [प्राप्त हुई प्रजा के नियम—गो० उ० ५ । ९] यहां सातवां है, यह [सात] सुत्यायें [सोम निचोड़ने की क्रियायें] हैं । ३ । (केस्वित् देवाः प्रवोवाजाः केस्वित् देवाः अभिद्यवः, केस्वित् देवाः हविष्मन्तः किंस्वित् सुम्नयुः जिगाति ४) कौन से देव प्रवोवाज [ज्ञान प्राप्त कराने वाले] हैं, कौन से देव अभिद्यु [सब ओर से प्रकाश वाले] हैं, कौन से देव हविष्मान् [हवनीय पदार्थ वाले] हैं और किसको सुम्नयु [सुख प्राप्त कराने वाला पुरुष] गाता है । ४ । (ऋतवः एव प्रवोवाजाः, मासाः देवाः अभिद्यवः, अर्धमासाः हविष्मन्तः तत् सुम्नयुः जिगाति ५) [ऊपर के चार प्रश्नों के उत्तर] ऋतुयें ही प्रवोवाज [ज्ञान प्राप्त कराने वाले] हैं, महीने अभिद्यु [सब ओर से प्रकाश वाले] देव हैं, आधे महीने हविष्मान् [हवनीय पदार्थ वाले] हैं और सुम्नयु [सुख पहुंचाने वाला पुरुष] तत् [विस्तृत ब्रह्म] को गाता है । ५ । (अस्य संवत्सरस्य कतिस्वित् रात्रयः, कति अहानि, कति स्तोत्राणि, कति शस्त्राणि, कतिचित् सवनाः, स्तोत्रियाः, कति अस्य पदाक्षराणि ६) इस संवत्सर की कितनी रात्रि हैं, कितने दिन हैं कितने स्तोत्र और कितने शस्त्र [स्तोत्र विशेष] हैं, कितने सवन और स्तोत्रिय हैं और कितने इस के पद और अक्षर हैं । ६ । (द्वौ अतिरात्रौ, षट्शतम् अग्निष्टोमाः, द्वे विंशतिशते उक्थ्यानां द्वादश षोडशिनः, षष्टिः षडहाः च वैषुवतम् ७) दो अतिरात्र [विषुवान् यज्ञ से पहिले १ और पीछे १] एक सौ छह अग्निष्टोम [विषुवान् से पहिले ५३ और पीछे ५३], दो एक सौ बीस [वा दो सौ चालीस] उक्थ्य [विषुवान् से पहिले १२० और पीछे १२०] हैं बारह षोडशी [विषुवान् से पहिले ६ और पीछे ६] हैं और साठ षडह [विषुवान् से पहिले ३० और

कर्मविशेषः (पशुः) पाकयज्ञः (अप्तोः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उ० १ । ७५) आप्लृ व्याप्तौ लम्भने च—तु प्रत्ययः । धातोर्ह्रस्वत्वम् । आप्तायाः प्राप्तायाः प्रजायाः—गो० उ० ५ । ९ । (यामः) यम नियमने-घञ् । यामाः-गो० उ० ५ । ९ । नियमाः (अत्र) अस्मिन् यज्ञविषये (प्रवोवाजा) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) प्रुङ् गतौ-असुन् । प्रवस् + वज गतौ-घञ् । ज्ञानप्रापकाः (अभिद्यवः) अभि + द्युत दीप्तौ-डु प्रत्ययः । अभिगतदीप्तयः । प्रकाशप्रापकाः (जिगाति) गा स्तुतौ-लट् । गाति स्तौति । निघ० ३ । १४ । (सुम्नयुः) छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम् (वा० पा० ३ । १ । ८) इति क्यच् । सुम्न-क्यच्, उ प्रत्ययः । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति । सुखप्रापकः (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् (उ० १ । १३२)

पीछे ३०] हैं, यह विषुवान् से सम्बन्ध वाला वचन है [देखो गो० पू० ५।६]। ७।
(अस्य अहानि त्रीणि विंशतिशतानि, अस्य अहः च तावत् एकम्, संस्तुतस्य संवत्सरस्य च त्रीणि सवनानि सहस्रम् अशीति ८) इस [संवत्सर] के दिन तीन बार एक सौ बीस [१२०×३ = ३६०] हैं, और इस का दिन तो एक है, और संस्तुत [स्तोत्र युक्त] संवत्सर के तीन सवन एक सहस्र और अस्सी [३६० दिन × ३ सवन = १०८०] हैं [८] । (अस्य शस्त्राणां च एकम् अयुतम् द्वे च शते च ततः षट् षष्टिः च, स्तोत्रियाः च द्वे नियुते नवति सहस्रा अति षट् च नवतिः च भवतः ९) और इस [संवत्सर] के एक अयुत [दस सहस्र] दो सौ छयासठ [१०,००० + २०० + ६६ = १०,२६६] शस्त्र हैं, और दो नियुत [दो लाख] नव्बे सहस्र और छह अधिक नव्बे [२,००,००० + ९०,००० + ९० + ६ = २,९०,०९६] स्तोत्रिय हैं [९] । (अस्य पदानि च त्रिंशत् अयुतानि अष्टौ शतानि चतुर्नवतिः कविभिः मितस्य संवत्सरस्य एतावती मध्यमा देवमात्रा १०) इस [संवत्सर] के तीस अयुत [तीस दस सहस्र] आठ सौ चौरानबे [३०,०००, ८९४] पद हैं, विद्वानों करके परिमाण किये हुये संवत्सर की इतनी मध्यमा देवमात्रा है [१०] । (तथा हि त्रिंशत् प्रयुतानि द्वे नियुते एकम् अयुतम् अष्टौ शतानि नव च अनुमृष्टानि अक्षराणि, प्रजापतेः एतावान् परमः आत्मा ११) और भी तीस प्रयुत [तीस दस लाख] दो नियुत [दो लाख] एक अयुत [एक दस सहस्र] आठ सौ और नौ [३० × १०,००,००० + २ × १, ०,००० + १० ००० + ८०० + ९ = ३,००,००,००० + २,००,००० + १०,००० + ८०९ = ३,०२,१०,८०९] अक्षर हैं, [गो० पू० ५ । ५ से भी मिलाकर देखो] प्रजापति [संवत्सर] का इतना सब से बड़ा स्वरूप है । ११ । (आद्यं प्रदानान्तम् एतं वषट्कारः अग्निष्टोमे पर्वशः साधु क्लृप्तं यत् सौभेषजं छन्दः ईप्सद्भिः यत् अग्नौ बहुधा चतुःशतं हूयते १२) आदि में रहने वाला प्रदान अन्त वाला यह वषट्कार अग्निष्टोम में पर्व पर्व पर [चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या पूर्णिमा और रवि-संक्रान्ति पर] भले प्रकार ठीक किया गया है, जो उत्तम औषध वाले वेद को चाहने वाले [विद्वानों] करके जो अग्नि में अनेक प्रकार एक सौ चार बार होमा जाता

तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु—अदिः डित् । विस्तृतं ब्रह्म (स्तोत्रियाः) स्तोत्र—घः । यज्ञविशेषाः (वैषुवतम्) विषुवत्—अण् । विषुवतः सम्बन्धिवचनम्—क० ६ (संस्तुतस्य) स्तोत्रयुक्तस्य (अयुतम्) न युतं, नञ्समासः । दशसहस्रसंख्या (नियुते) नियूयते बहुसंख्या प्राप्यते अनेन । नि + यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्तः । लक्षे (प्रयुतानि) प्रकर्षेण युतानि । दशलक्षसंख्याः (अनुमृष्टानि) परस्परसंयुक्तानि (पर्वशः) स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४ । ११३) पॄ पालनपूरणयोः—वनिप् । चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याच पूर्णिमा । पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च ॥ १ ॥ पर्वणि पर्वणि (क्लृप्तम्) समर्थितम् (सौभेषजम्) सुभेषज—अण् । उत्तमौषधयुक्तम् (छन्दः) वेदम् (ईप्सद्भिः) प्राप्तुमिच्छद्भिः (गायत्रस्तोममितः) गानयोग्येन स्तोमेन प्रमितः ॥

है। १२। (प्रातःसवनस्तुतः गायत्रस्तोममितः एकविंशः एकः एव सप्तदशेन क्लृप्तः माध्यन्दिनः, त्रयस्त्रिंशेन तृतीय सवनम् १३) प्रातःसवन में स्तुति किया गया गायत्र [गाने योग्य] स्तोम से परिमाण किया गया एकविंश यज्ञ एक ही है, सप्तदश यज्ञ से ठीक किया हुआ माध्यन्दिन सवन है और त्रयस्त्रिंश यज्ञ से [ठीक किया हुआ] तृतीय सवन है। १३ ॥ २३ ॥

भावार्थः—याजक लोग यज्ञ में समय, हव्य द्रव्य, वेदमन्त्र और उन सब के अङ्गों की गणना और विनियोग यथावत् जानें यह कण्डिका श्लोकबद्ध है ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ ॥

श्रद्धायां रेतस्तपसा तपस्वी वैश्वानरः सिषिचेऽपत्यमीप्सन्। ततो यज्ञे लोकजित्सोमजम्भा ऋषेर्ऋषिरङ्गिराः सम्बभूव । १ । ऋषेर्यज्ञस्य चतुर्विधस्य श्रद्धां यः श्रेयसीं लोकममुं जिगाय । यस्मै वेदाः प्रसृताः सोमबिन्दुयुक्ता वहन्ति सुकृतामु लोकम् । २ । ऋचोऽस्य भागांश्चतुरो वहन्त्युक्थशस्त्रैः प्रमुदो मोदमानाः। ग्रहैर्हविर्भिश्च कृताकृतै यजूंषि भागांश्चतुरो वहन्ति । ३ । औदुम्बर्य्यां सामघोषेण तावत् संत्रिष्टुतिभिश्च स्तोमैः छन्दसा। सामानि भागांश्चतुरो वहन्ति गीत्या स्तोमेन सह प्रस्तावेन च । ४ । प्रायश्चित्तैर्भैषजैः संस्तुवन्तोऽथर्वाणोऽङ्गिरसश्च शान्ताः। ब्रह्मा ब्रह्मत्वेन प्रमुदो मोदमाना असंसृष्टान् भागांश्चतुरो वहन्ति । ५ । यो ब्रह्मवित् सोऽभिकरोऽस्तु वः शिवो धिया धीरो रक्षतु धर्ममेतम् । मा वः प्रमत्तामममृताच्च यज्ञात् कर्माच्च येनानङ्गिरसोऽपियासीत् । ६ । मायुं दशं मारुशस्ताः प्रमेष्ठा मा मे भूर्युक्ता विदहाथ लोकान् । दिव्यं भयं रक्षत धर्ममुद्यतं यज्ञं कलाशस्तुतिगोपलायनम् । ७ । होता च मैत्रावरुणश्च पादमच्छावाकः सह ग्रावस्तुतैकम् । ऋग्भिःस्तुवन्तो अहरहः पृथिव्याः अग्नि पादं ब्रह्मणा धारयन्ति । ८ । अध्वर्य्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता निहित पादमेकम् । समन्तरिक्षं यजुषा स्तुवन्तो वायुं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति । ९ । साम्नोद्गाता [2]च्छादयन्नप्रमत्त औदुम्बर्य्यां स्तोभदेयः सगद्गदः। विद्वान् प्रस्तोता विदहाथ सुष्टुतिं सुब्रह्मण्यः प्रतिहर्त्ताऽथ यज्ञे । साम्ना दिव्येकं निहितं निस्तुवन्तः सूर्य्यं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति । १० । ब्रह्माहैकं ब्राह्मणाच्छंसिनः सह पोत्राऽऽग्नीध्रो निहितं पादमेकम् । अथर्वभिरङ्गिरोभिश्च गुप्तोऽप्सु चन्द्रं पाद ब्रह्मणा धारयन्ति । ११ । षोडशिकं होत्रका अभिष्टुवन्ति वेदेषु युक्ताश्च पृथक् चतुर्धा । मनीषिणो दीक्षिताः श्रद्धाना होतारो गुप्ता अभिवहन्ति यज्ञम् । १२ । दक्षिणतो ब्राह्मणस्यों[3] जनदित्येतां व्याहृतिं जपन् । सप्तदशं सदस्यं तं कीर्त्तयन्ति पुरा विदुः । १३ । अष्टादशी दीक्षिता दीक्षितानां यज्ञे पत्नी श्रद्दधानेह युक्ता । एकोनविंशः शमिता बभूव विंशो यज्ञे गृहपतिरेव सुन्वन् । १४ । एकविंशतिरेवैषां संस्थायामङ्गिरो वह । वेदैरभिष्टुतो लोको नानावेशापराजितः । १५ ॥ २४ ॥

---

१. पू. सं. "संस्तवन्तः" इति पाठः ॥ २. पू. सं. "छादयन्तः प्रमत्तः" इति पाठः ॥
३. पू. सं 'ब्रह्मणस्याम्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका २४ ॥ तपस्वी वैश्वानर से श्रद्धा में अङ्गिरा ऋषि की उत्पत्ति और वेदों का यज्ञों तथा ऋत्विजों से सम्बन्ध ॥

(तपस्वी वैश्वानरः अपत्यम् ईप्सन् तपसा श्रद्धायां रेतः सिषिचे. ततः यज्ञे ऋषेः लोकजित् सोमजम्भाः ऋषिः अङ्गिराः सम्बभूव १) तपस्वी [ऐश्वर्यवान्] वैश्वानर [सब के नेता परमेश्वर] ने संतान की इच्छा करते हुये तप से श्रद्धा [सत्य धारण करने की शक्ति वा भक्ति] में बीज सींचा [सामर्थ्य दिया], तब यज्ञ [सत्कर्म] में उस ऋषि [सन्मार्गदर्शक परमात्मा] से लोकों को जीतने वाला, सोम [अमृत] का भक्षण कराने हारा ऋषि [सन्मार्ग दर्शक] अङ्गिरा [ज्ञानवान् वेद] उत्पन्न हुआ । १ । (यः ऋषेः चतुर्विधस्य यज्ञस्य श्रेयसीं श्रद्धाम् अमुं लोकं जिगाय, यस्मै सोमबिन्दुयुक्ताः प्रसृताः वेदाः सुकृताम् उ लोकं वहन्ति २) जिस [वैश्वानर] ने ऋषि [सन्मार्गदर्शक] चार प्रकार के यज्ञ की अति श्रेष्ठ श्रद्धा को उस लोक [सर्वत्र प्रसिद्ध स्थान] से जीता था, और जिस [वैश्वानर परमेश्वर] के लिये सोम [अमृत वा मोक्ष] के बिन्दु से युक्त प्रसिद्ध वेद [पुण्यात्माओं को] सुकर्मियों के ही लोक में पहुंचाते हैं । २ । (अस्य प्रमुदः मोदमानाः ऋचः उक्थशस्त्रैः ग्रहैः हविर्भिः च चतुरः भागान् वहन्ति । ३ । यजूंषि तावत् कृताकृतैः च औदुम्बर्य्यां सामघोषेण संविष्टुतिभिः स्तोमैः चतुर भागान् वहन्ति, सामानि छन्दसा गीत्या स्तोमेन प्रस्तावेन सह च चतुरः भागान् वहन्ति, ४) उस [वैश्वानर परमात्मा] की आनन्दों को बढ़ाने वाली ऋचायें [पदार्थों की गुणसूचक विद्यायें] उक्थों, शस्त्रों, ग्रहों [लेने योग्य पदार्थों] और हवियों [देने योग्य वस्तुओं, इन चारों] से चार भागों को पहुंचाती हैं । ३ । यजुर्वेद मन्त्र [संगतिकरण विद्यायें] तो किये हुये और न किये हुये [मन में विचारे हुये] कर्मों से और उदुम्बर [गूलर] की बनी चौकी पर सामवेद [मोक्षविद्या] से, और विशेष स्तुतियों सहित स्तोमों [इन चारों] से चार भागों को पहुँचाते हैं, और सामवेद मन्त्र [मोक्ष विद्यायें] छन्द [आह्लादक कर्म], गीति [गान विद्या], स्तोम और प्रस्ताव के सहित [इन चारों से] चार भागों को पहुंचाते हैं । ४ । (प्रमुदः मोदमानाः अथर्वाण. अङ्गिरसः च प्रायश्चित्तैः भैषजैः संस्तुवन्तः शान्ताः [सन्तः] असंसृ-

---

२४--(श्रद्धायाम्) श्रत् सत्यं-निघ० ३ । १० । षिद्भिदादिभ्योऽङ् (पा० ३ । ३ । १०४) श्रत्+दधातेः--अङ्, टाप् । श्रद्धा श्रद्धानात्--निरु० ६ । ३० । सत्यधारणशक्तौ । भक्तौ (रेतः) बीजम् । सामर्थ्यम् (तपस्वी) ऐश्वर्यवान् (वैश्वानरः) स्वार्थे--अण्, दीर्घश्च । विश्वेषां नरो नेता (सोमजम्भाः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४ । २२७) सोम+जभि मैथुने जृम्भणे नाशने च—असिः । सोमस्य अमृतस्य जम्भो भक्षणं यस्मात् सः । जम्भो भक्ष्ये दन्ते च (ऋषेः) ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । सन्मार्गदर्शकस्य (ऋषिः) सन्मार्गदर्शकः (अङ्गिराः) ज्ञानवान् । वेदः । वेदवेत्ता (श्रेयसीम्) अतिप्रशस्ताम् (जिगाय) जितवान् (सोमबिन्दुयुक्ताः) अमृतबिन्दुयुक्ताः (वहन्ति)

छान् चतुरः भागान् वहन्ति ब्रह्मा ब्रह्मत्वेन + वर्तते ५) और आनन्दों को बढ़ाने वाले अथर्व अङ्गिरा [निश्चल परमात्मा के अथर्ववेद सहित चारों वेद] प्रायश्चित्तों [पाप दूर करने के उपायों] और ओषधियों से संस्तव रखते हुये और शान्ति युक्त होते हुये [इन चारों से] चार भागों को पहुँचाते हैं, [तब ही] ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] ब्रह्मा पद के साथ [वर्तमान होता है] । ५ ।

(यः ब्रह्मवित्, सः अभिकरः अस्तु शिवः धीरः धिया वः एतं धर्मं रक्षतु कर्मात् च अमृतात् यज्ञात् च प्रमत्तां मा वः, येन अनङ्गिरसः अपियासीत् ६) जो [ब्रह्मा] ब्रह्म जानने वाला है वह सब प्रकार काम करने वाला होवे, और वह कल्याणकारी धीर पुरुष निश्चल बुद्धि से तुम्हारे लिये इस धर्म की रक्षा करे, और वह कर्म को नित्य प्राप्त होने वाला [पुरुषार्थी] अमर परमात्मा और यज्ञ [पूजनीय कर्म] से पृथक् होकर प्रमाद [भूल] न स्वीकार करे, जिससे वह वेद विरोधी पुरुषों को निन्दा से प्राप्त करे । ६ । (आयुं मा दशम्, ताः मा रुशः, मा प्रमेष्ठाः लोकान् विदहाथ, मे भूः युक्ता + स्यात्, दिव्यं भय कलाशस्तुतिगोपलायनं धर्मम् उद्यतं यज्ञं रक्षत ७) [हे ब्रह्मन्] मनुष्य को मत काट, उन [प्रजाओं] को मत सता और मत मार, लोकों की रक्षा कर, मेरे लिये भूमि अनुकूल [होवे], दिव्य [व्यवहार में होने वाले] भय से गति पहुंचाने वाले पुरुषार्थी पुरुष के स्थिति योग्य कर्म से भूमि के पालन मार्ग को बताने वाले धर्म और प्रस्तुत यज्ञ की रक्षा कर । ७ ।

(होता, मैत्रावरुणः च अच्छावाकः च ग्रावस्तुता सह एकं पादम् ऋग्भिः अहरहः स्तुवन्तः पृथिव्याः अग्निं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति ८) होता, मैत्रावरुण अच्छावाक ग्रावस्तुत् के सहित [यह चारों ऋत्विज्] एक [अद्वितीय] प्राप्ति के योग्य

प्रापयन्ति (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (प्रमुदः) आनन्दान् (मोदमानाः) वर्धयमानाः (ग्रहैः) ग्र ह्यपदार्थैः । यज्ञपात्रैः (हविर्भिः) दातव्यपदार्थैः (कृताकृतैः) कृतैः सम्पादितैः अकृतैः असंपादितैः मनसि विचारितैश्च कर्मभिः (औदुम्बर्य्याम्) उदुम्बरनिर्मितायामासन्द्याम् (सामघोषेण) सामगानध्वनिना (संस्तुवन्तः) सम्यक्स्तुतिं कुर्वन्तः (शान्ताः) शान्तियुक्ताः (असंसृष्टान्) असंयुक्तान् । पृथक् पृथग्भूतान् (अभिकरः) सर्वतः कर्मकर्त्ता (मा वः) मा वृणोतु । मा स्वीकरोतु (अमृतात्) मरणशून्यात् परब्रह्मणः (प्रमत्ताम्) प्रमत्तताम् । प्रमादम् । चित्तविक्षेपम् । (कर्मात्) कर्म + अत सातत्यगमने—क्विप् । कर्मप्रापकः । कर्मकर्ता (अनङ्गिरसः) वेदविरोधिनः पुरुषान् (अपियासीत्) अपि निन्दया प्राप्नुयात् । तिरस्कुर्यात् (आयुम्) छन्दसीणः (उ० १ । २) इण् गतौ—उण् । मनुष्यम्—निघ० २ । ३ (मा दशम्) दन्श दंशने-लङ्, पुरुषव्यत्ययः । मा दंशतु । मा खण्डयतु (मा रुशः) मा हिंसीः । मा दुःखय (मा प्रमेष्ठाः) मीङ् हिंसायाम्—लुङ् । मा नाशय (भूः) भूमिः (युक्ता) अनुकूला भवेत् (विदहाथ) वह रक्षणे बाहे

[आदि मूल परमात्मा] को ऋग्वेद मन्त्रों [पदार्थों की गुण सूचक विद्याओं] से दिन दिन स्तुति करते हुये पृथिवी के अग्निरूप पाद [स्थिति गुण] को ब्रह्मज्ञान से धारण करते हैं । ८ । (अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टा उन्नेता एकं निहितं पादं यजुषा संस्तुवन्तः अन्तरिक्षं वायुं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति ९) अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता [यह चारों ऋत्विज्] एक दृढ़ प्राप्ति योग्य [आदि मूल परमात्मा] की यजुर्वेद [संगतिकरण विद्या] से स्तुति करते हुये अन्तरिक्ष में वायु रूप पाद [स्थिति गुण] को ब्रह्मज्ञान से धारण करते हैं । ९ । (साम्ना छादयन् उद्गाता अप्रमत्तः औदुम्बर्य्यां सगद्गदः स्तोभदेयः विद्वान् प्रस्तोता, अथ सुब्रह्मण्यः प्रतिहर्त्ता सुष्टुतिं यज्ञे विदहाथ, साम्ना एकं निहितं [पादं] निस्तुवन्तः दिवि सूर्यं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति १०) साम गान से बल प्राप्त करने हारा उद्गाता औदुम्बरी [उदुम्बर, गूलर की बनी हुई चौकी] पर प्रसन्न चित्त गद्गद [अव्यक्त शब्द] सहित स्तोभ [इडा, हुइ आदि अर्थशून्य गान आदि के स्वर पूरे करने वाले शब्द] का देने वाला, विद्वान् प्रस्तोता, और अच्छे प्रकार ब्रह्मज्ञान में निपुण जो यज्ञ में सुन्दर स्तुति की रक्षा करे, वे [यह चारों] सामवेद [मोक्षविद्या] से एक स्थिर परमात्मा की निरन्तर स्तुति करते हुये प्रकाश मण्डल में सूर्य रूप पाद [स्थिति गुण] को ब्रह्मज्ञान से धारण करते हैं । १० । (एकं ह ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसिनः, पोत्रा सह आग्नीध्रः एकं निहितं पादम् अथर्वभिः अङ्गिरोभिः च [निस्तुवन्तः] अप्सु गुप्तः चन्द्रं पादं ब्रह्मणा धारयन्ति ११) अकेला ही ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, और पोता के सहित आग्नीध्र [यह चारों] प्राप्ति के योग्य [आदि मूल परमात्मा] को निश्चल ब्रह्मज्ञानों [चारों वेदों] से [निरन्तर स्तुति करते हुये—श्लो० १०] जल में रक्षित चन्द्रमा रूप पाद [स्थिति गुण] को ब्रह्मज्ञान से धारण करते हैं । ११ ।

(पृथक् चतुर्धा वेदेषु युक्ताः होत्रकाः च षोडशिकम् अभिष्टुवन्ति, मनीषिणः दीक्षिताः श्रद्दधानाः गुप्ताः होतारः यज्ञम् अभिवहन्ति १२) और अलग

दीप्तौ च—लेट्, व्यत्ययेन बहुवचनम् । विविधं रक्ष (दिव्यम्) व्यवहारभवम् (कलाशस्तुतिगोपलायनम्) कल गतौ—घञर्थे कः + अशूङ् व्याप्तौ संघाते च—अण् + स्तुति + गो + पल रक्षणे—अप् + अय गतौ—ल्युट् । कलाशस्य गतिप्रापकस्य पुरुषार्थिनः पुरुषस्य स्तुत्या स्तुत्यक्रियया भूमिपालनमार्गो यस्मात् तम् (पादम्) पद स्थैर्ये गतौ च—घञ् । स्थितिस्थानम् । आदिमूलं परमात्मानम् (धारयन्ति) रक्षन्ति (निहितम्) स्थापितम् । स्थितं । नितरां हितम् (छादयन्) छद बलाधाने जीवने संवरणे च—शतृः । धारयन् (प्रमत्तः) प्रहृष्टः (स्तोभदेयः) ष्टुभु स्तम्भे-घञ् । इडा, होइ प्रभृतयः, अर्थशून्यस्य गानादिस्वरपरिपूर्णार्थस्य स्वरभेदस्य दाता (सगद्गदः) गद्गदेन अव्यक्तशब्देन सहितः (सुब्रह्मण्यः) सुब्रह्मणि सुष्ठु ब्रह्मज्ञाने साधुः (दिवि) प्रकाशे (ब्राह्मणाच्छसिनः) आर्षं बहुवचनम् । ब्राह्मणाच्छंसी । ऋत्विग्विशेषः (गुप्तः) गुप्तं रक्षितम् (षोडशिकम्) षोडशिन्–कन् स्वार्थे । षोडशिनम् । षोडशभिः ऋत्विग्भिर्युक्तम् (होत्रकाः) ऋत्विग्विशेषाः (मनी-

अलग चार प्रकार से वेदों में युक्त सहायक ऋत्विज् लोग षोडशी [सोलह ऋत्विज् रखने वाले परमात्मा—श्लो० ८—११] की सब ओर से स्तुति करते हैं, बुद्धिमान्, दीक्षा पाये हुए, सत्य धारण करने वाले, रक्षा किये हुये होता लोग यज्ञ को सब ओर पहुँचाते हैं । १२ । (दक्षिणतः जनत् इति एतां ब्राह्मणस्य ओम् व्याहृतिं जपन् विदुः तं सप्तदशं सदस्यं पुरा कीर्तयन्ति १३) दक्षिण की ओर जनत् [सबका जनक परमात्मा है] इस ब्रह्मज्ञान का विचार कराने वाली ओम् व्याहृति को जपता हुआ विद्वान् [ऋत्विज्] उस सत्रहवें सदस्य [सभा में योग्य यजमान] को पहिले बखानता है । १३ । (दीक्षितानाम् अष्टादशी दीक्षिता इह यज्ञे श्रद्दधाना युक्ता पत्नी [अस्ति] एकोनविंशः शमिता, विंशः सुन्वन् गृहपतिः एव यज्ञे बभूव १४) दीक्षित पुरुषों में अठारहवीं दीक्षा पाई हुई, सत्य धारण करती हुई, योग्य पत्नी [यजमान की स्त्री] इस यज्ञ में [होती है], उन्नीसवां शमिता [शान्ति करने वाला ऋत्विज्] और बीसवां सोमरस निचोड़ता हुआ गृहपति [गृह कार्य सुधारने वाला पुरुष] यज्ञ में होता है । १४ । (एकविंशतिः एव अङ्गिरः एषां संस्थायां वह, वेदैः अभिष्टुतः लोकः नानावेशापराजित १५) इक्कीसवां ही तू, हे अङ्गिरा ! [वेदवेत्ता पुरुष] इन [वेदों] की व्यवस्था में ले चल, वेदों [वैदिक कर्मों] से सर्वथा स्तुति किया गया मनुष्य अनेक कपट रूप वालों से बिना हराया गया होता है । १५ ॥ २४ ॥

भावार्थः—यह कण्डिका श्लोकबद्ध है । श्रद्धालु, वेदविहित कर्मों में निपुण ऋत्विज् और यजमान आदि सब लोग मिल कर यज्ञ को भली भांति सिद्ध करते हैं ॥ २४ ॥

कण्डिका २५ ॥

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः । सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः । १ । एतेषु वेदेष्वपि चैकमेवापव्रजमृत्विजां सम्भरन्ति । कूटस्त्रिपात् सचते [1]तामशस्तिं विष्कन्धमेनं विधृत प्रजासु । २ । निवर्त्तन्ते दक्षिणा नीयमानाः सुते सोमे वितते यज्ञतन्त्रे । मोघाशिषो यन्त्यनिवर्त्तमाना अनिष्टयज्ञा न तरन्ति लोकान् । ३ । द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्य्यं पृथग्वेदेषु तत् स्मृतम् । एवं व्यवस्थिता वेदाः सर्व एव स्वकर्मसु । ४ । सन्ति चैषां समानाः मन्त्राः कल्पाश्च ब्राह्मणानि च । व्यवस्था-

---

षिणः) कॄतॄभ्यामीषन् (उ० ४ । २६) मनु अवबोधने—ईषन्, टाप् । मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति—इनिः । मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञानस्य वितर्कयित्रीं विचारयित्रीम् (सदस्यम्) सदसि साधुं यजमानम् (कीर्तयन्ति) प्रसिद्धीकुर्वन्ति (पुरा) प्रथमम् (विदुः) विद ज्ञाने—कुः । विद्वान् (दीक्षिता) दीक्षित-टाप् । प्राप्तदीक्षा (शमिता) शान्तिकर्ता (सुन्वन्) सोमं निष्पादयन् (एकविंशतिः) एकविंशः (संस्थायाम्) व्यवस्थायाम् (नानावेशापराजितः) विविधकपटरूपिभिः अपराजितः अनभिभूतः ॥

---

१. पू. सं. 'अशस्तम्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

नन्तु तत्सर्वं पृथग्वेदेषु तत् स्मृतम् । ५ । ऋग्वेदस्य पृथिवी स्थानमन्तरिक्षस्थानो-ऽध्वरः । द्यौः स्थानं सामवेदस्यापो भृग्वङ्गिरसां स्मृतम् । ६ । अग्निर्देवता ऋग्वे-दस्य यजुर्वेदो वायुर्देवता । आदित्यः सामवेदस्य चन्द्रमा वैद्युतश्च भृग्वङ्गिरसाम् । ७ । त्रिवृत् स्तोम ऋग्वेदस्य यजूंषि पञ्चदशेन सह जज्ञिरे । सप्तदशेन सामवेद एकविंशो ब्रह्मसम्मितः । ८ । वागध्यात्ममृग्वेदस्य यजुषां प्राण उच्यते । चक्षुषी सामवेदस्य मनो भृग्वङ्गिरसां स्मृतम् । ९ । ऋग्भिः सह गायत्रं जागतमाहुर्यजूंषि त्रैष्टुभेन सह जज्ञिरे । उष्णिक्ककुब्भ्यां भृग्वङ्गिरसो जगत्या सामानि कवयो वदन्ति । १० । ऋग्भिः पृथिवीं यजुषाऽन्तरिक्षं साम्ना दिव लोकजित् सोम-जम्भाः । अथर्वभिरङ्गिरोभिश्च गुप्तो यज्ञश्चतुष्पाद् दिवमुद्वहेत । ११ । ऋग्भिः सुशस्तो यजुषा परिष्कृतः सविष्टुतः सामजित् सोमजम्भाः । अथर्वभिरङ्गिरो-भिश्च गुप्तो यज्ञश्चतुष्पाद्दिवमारुरोह । १२ । ऋचो विद्वान् पृथिवीं वेद सम्प्रति यजूंषि विद्वान् बृहदन्तरिक्षम् । दिवं वेद सामगो यो विपश्चित् सर्वान् लोकान् यद्भृग्वङ्गिरोवित् । १३ । यांश्च ग्रामे यांश्चारण्ये जपन्ति मन्त्रान् नानार्थान् बहुधा जनासः । सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना सा हि गतिर्ब्रह्मणो याऽवरार्ध्या । १४ । त्रिविष्टपन्त्रिदिवन्नाकमुत्तमं तगेतया त्रय्या विद्ययेति । अत उत्तरे ब्रह्मलोका महान्तोऽथर्वणामङ्गिरसाञ्च सा गतिरथर्वणामङ्गिरसाञ्च सा गतिरिति ब्राह्मणम् । १५ ॥ २५ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणपूर्वभागे पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ५ ॥

समाप्तमिदं गोपथब्राह्मणपूर्वार्द्धम् ।

कण्डिका २५ ॥ ऋग्वेद आदि चारों वेदों के स्थान तथा देवता आदि का वर्णन और यह कि चारों वेद ही त्रयी विद्या हैं ॥

(सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः तथा सप्त हविर्यज्ञाः, एकविंशतिः, ते सर्वे यज्ञाः अङ्गिरसः अपियन्ति, यान् नूतनाः ऋषयः सृजन्ति ये च पुराणैः सृष्टाः १) सात सुत्या और सात पाक यज्ञ और सात हविर्यज्ञ यह सब इक्कीस [क० २३] यज्ञ अङ्गिराओं [वेदज्ञानियों] को प्राप्त होते हैं, जिन [यज्ञों] को नवीन ऋषि [सन्मार्गदर्शक लोग] उत्पन्न करते हैं और जो पुराने [ऋषियों] करके उत्पन्न किये गये हैं । १ । (एतेषु वेदेषु अपि च ऋत्विजाम् एकम् एव अपव्रजं सम्भरन्ति, कूटः त्रिपात् प्रजासु विधृतं ताम् एनम् अशस्तिं विष्कन्धं सचते २) और इन वेदों में ही ऋत्विजों के बीच एक ही श्रेष्ठ मार्ग को वे [यज्ञ] यथावत् पुष्ट करते हैं, कूट, त्रिपात् [निश्चल, तीन लोकों में व्यापक परमात्मा] प्रजाओं में विविध प्रकार रक्खे हुये उस

२५—(अङ्गिरसः) वेदज्ञानिनः पुरुषान् (अपियन्ति) प्राप्नुवन्ति (अप-व्रजम्) अप + व्रज गतौ—घञर्थे कः । श्रेष्ठपन्थानम् (कूटः) कूट दाहे मन्त्रणे प्रच्छादने च—घञ् । निश्चलः (त्रिपात्) त्रिलोकव्यापकः परमेश्वरः (सचते) सिञ्चति । वर्धयति (अशस्तिम्) शसु हिंसायां—क्तिन् । अविनयशून्यम् । प्रशस्तम् ।

और इस विनीत विशेष वृक्ष [रूप जीवात्मा] को सींचता है । २ । (नीयमानाः दक्षिणाः सोमे सुते यज्ञतन्त्रे वितते निवर्त्तन्ते, अनिवर्त्तमानाः मोघाशिषः यन्ति अनिष्टयज्ञः लोकान् न तरन्ति ३) लायी गयीं दक्षिणायें सोम निचोड़ने पर और यज्ञ विस्तार फैल चुकने पर सिद्ध होती हैं, बिना सिद्ध हुई [दक्षिणायें] निरर्थक फलों को प्राप्त होती हैं और प्रतिकूल यज्ञ लोगों को नहीं पार करते हैं । ३ । (तत् द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्य्यं पृथक् वेदेषु स्मृतम्. एवं सर्वे एव वेदाः स्वकर्मसु व्यवस्थिताः ४) इसलिये बारह वर्ष वाला ब्रह्मचर्य अलग अलग वेदों में कहा गया है, इस प्रकार से सभी वेद अपने अपने कामों में व्यवस्थित हैं । ४ । (एषां च मन्त्राः कल्पाः च ब्राह्मणानि च समानाः सन्ति, तत् तत् सर्वं व्यवस्थानं तु पृथक् वेदेषु स्मृतम् ५) और इन [वेदों] के मन्त्र, कल्प [यज्ञविधान] और ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानविधान] समान [एकमोक्ष प्रयोजन वाले] हैं, वह वह सब व्यवस्था तो अलग अलग वेदों में बतायी गयी है । ५ ।

(ऋग्वेदस्य पृथिवीस्थानम् अन्तरिक्षस्थानः अध्वरः, सामवेदस्य द्यौः स्थानम्, भृग्वङ्गिरसाम् आपः स्मृतम् ६) ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] का पृथिवी [भूमिविद्या] स्थान है, अन्तरिक्ष [मध्यलोक विद्या] का स्थान वाला अध्वर [हिंसारहित यजुर्वेद अर्थात् संगतिकरण विद्या] है, सामवेद [मोक्षविद्या] का द्यौ [प्रकाश विद्या] स्थान है, और भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञान वाले अथर्ववेद मन्त्रों] का जल [स्थान] कहा गया है । ६ । (ऋग्वेदस्य अग्निः देवता, यजुर्वेदः वायुर्देवता, सामवेदस्य आदित्यः, भृग्वङ्गिरसां च वैद्युतः चन्द्रमाः ७) ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] का अग्नि [अग्नि विद्या] देवता है, यजुर्वेद [संगतिकरण विद्या] वायु [पवन विद्या] देवता वाला है. सामवेद [मोक्षविद्या] का सूर्य और भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञान वाले अथर्ववेद मन्त्रों] का विविध प्रकाश वाला चन्द्रमा [आनन्दप्रद विद्या देवता] है । ७ ।

(ऋग्वेदस्य त्रिवृत् स्तोमः [जज्ञे], पंचदशेन सह यजूंषि जज्ञिरे, सप्तदशेन सामवेदः, एकविंशः ब्रह्मसंमितः ८) ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] का त्रिवृत् [तीन कर्म उपासना ज्ञान में वर्तमान] स्तोम [उत्पन्न हुआ], पंचदश [स्तोम—कण्डिका १५] के सहित यजुर्वेद मन्त्र [संगतिकरण विद्यायें] उत्पन्न हुये, सप्तदश [स्तोम—क० १५] के सहित सामवेद [मोक्ष विद्या], और एकविंश [स्तोम—क० १५] ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] में माना गया है । ८ । (ऋग्वेदस्य अध्यात्मं वाक्, यजुषां प्राणः उच्यते, सामवेदस्य चक्षुषी, भृग्वङ्गिरसां मनः स्मृतम् ९) ऋग्वेद का अध्यात्म

विनीतम् (विष्कन्धम्) वि + स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—घञ् । विशेषेण वृक्षरूपं जीवात्मानम् (निवर्तन्ते) सिद्ध्यन्ति (मोघाशिषः) निरर्थकफलानि (अनिवर्तमानाः) अनिष्पाद्यमानाः (तरन्ति) तारयन्ति । पारयन्ति (समानाः) एकप्रयोजनाः (द्यौः) प्रकाशः (आपः) जलानि (वैद्युतः) विविधप्रकाशयुक्तः (त्रिवृत्) त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु वर्तमानः (उष्णिक्ककुब्भ्याम्) ऋत्विग्दधृक्स्रक्० (पा० ३ । २ । ५९) उत् + ष्णिह प्रीतौ—स्नेहने च—क्विन् । क + ष्कुन्भु रोधने

[आत्मा संबन्धी ज्ञान] वाणी और यजुर्मन्त्रों का [अध्यात्म] प्राण कहा गया है, सामवेद का [अध्यात्म] दो आखें, और भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञान वाले अथर्ववेद मन्त्रों] का मन [अध्यात्म] कहा गया है। ९। (**ऋग्भिः सह गायत्रं जागतम् आहुः, यजूंषि त्रैष्टुभेन सह जज्ञिरे, उष्णिकक्कुब्भ्यां भृग्वङ्गिरसः, जगत्या सामानि कवयः वदन्ति १०**) ऋग्वेद मन्त्रों के सहित गाने योग्य जगत् उपकारक कर्म को वे कहते हैं, यजुर्मन्त्र त्रैष्टुभ [तीन कर्म उपासना ज्ञान के धारण सामर्थ्य] के सहित उत्पन्न हुये, दो उष्णिक् [अति प्रीति] और ककुभ् [सुख धारण करने वाले शस्त्रों] के सहित भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञान वाले अथर्ववेद मन्त्रों] को और जगती [जगत् उपकारक विद्या] के सहित साम मन्त्रों [मोक्षज्ञानों] को बुद्धिमान् कहते हैं। १०। (**ऋग्भिः पृथिवीं यजुषा अन्तरिक्षं साम्ना दिवम्, अथर्वभिः अङ्गिरोभिः च गुप्तः चतुष्पात् लोकजित् सोमजम्भाः यज्ञः दिवम् उद्वहेत ११**) ऋग्मन्त्रों से पृथिवी [विद्या] को, यजुर्वेद से अन्तरिक्ष [मध्यलोक विद्या] को, और सामवेद से सूर्य [विद्या] को [मनुष्य पावे], और अथर्व अङ्गिराओं [निश्चल ब्रह्म के अथर्ववेद मन्त्रों] से रक्षा किया गया, चतुष्पाद [चारों वेदों से चार पांव वाला], संसार को जीतने वाला, सोम [अमृत] का भोग कराने वाला यज्ञ स्वर्ग को चढ़ावे। ११। (**ऋग्भिः सुशस्तः यजुषा परिष्कृतः सामजित् सविष्टुतः, अथर्वभिः अङ्गिरोभिः च गुप्तः चतुष्पात् सोमजम्भाः यज्ञः दिवम् आरुरोह १२**) ऋग्वेद मन्त्रों से भले प्रकार प्रशंसा किया हुआ, यजुर्वेद से प्रस्तुत किया हुआ और मोक्ष प्राप्त कराने वाले [सामवेद] से विविध स्तुति वाला [यज्ञ होवे], और अथर्व अङ्गिराओं [निश्चल ब्रह्म के अथर्ववेदमन्त्रों] से रक्षा किया गया, चतुष्पाद [चारों वेदों से चार पांव वाला], सोम [अमृत] का भोग कराने वाला यज्ञ स्वर्ग को चढ़ावे। १२।

(**ऋचः विद्वान् सम्प्रति पृथिवीं, यजूंषि विद्वान् बृहत् अन्तरिक्षं वेद, सामगः यः विपश्चित् दिवं वेद, यत् भृग्वङ्गिरोवित् सर्वान् लोकान् १३**) ऋग्मन्त्रों को जानने वाला ठीक प्रत्यक्ष पृथिवी को, यजुर्वेद मन्त्रों को जानने वाला बड़े अन्तरिक्ष [मध्यलोक] को जानता है, साम गाने वाला जो विद्वान् है वह सूर्यलोक को जानता है, और जो भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञानवाले चारों वेदों] का जानने वाला है वह सब लोकों को [जानता] है। १३। (**यान् च नानार्थान् मन्त्रान् ग्रामे यान् च अरण्ये जनासः बहुधा जपन्ति, ते सर्वे यज्ञाः अङ्गिरसो अपि यन्ति, ब्रह्मणः सा हि गतिः नूतना या अवराध्यर्या १४**) और जिन अनेक अर्थ वाले मन्त्रों को ग्राम में और जिनको वन में लोग प्रायः जपते हैं, वे सब यज्ञ अङ्गिराओं [वेदज्ञानियों] को प्राप्त होते हैं, ब्रह्म

धारणे च सौत्रधातुः—क्विप्। अतिप्रीतिसुखधारणशस्त्राभ्याम् (जगत्या) जगदुपकारकक्रियया (कवयः) मेधाविनः (सोमजम्भाः) क० २४। सोमभक्षणकारकः (दिवम्) स्वर्गम्। सूर्यम् (उद्वहेत) प्रापयेत (सुशस्त) सुप्रशंसितः (आरुरोह) आरोहयत् (विद्वान्) विद्वन्। जानन् (सम्प्रति) सम्यक् प्रत्यक्षम् (ब्रह्मणः) ब्रह्मज्ञानस्य (अवराध्यर्या) अवर+अर्ध—यत्।

[वेद वा परमात्मा] की वह ही गति नवीन है जो पिछले काल में वर्तमान [थी] १४ ॥ ([1]त्रिविष्टपं त्रिदिवं तम् उत्तमं नाकम् एतया त्रय्या विद्यया एति, अतः उत्तरे महान्तः ब्रह्मलोकाः अथर्वणाम् अङ्गिरसां च सा गतिः, अथर्वणाम् अङ्गिरसां च सा गतिः, इति ब्राह्मणम् १५) इसलिये जो उत्कृष्ट और बड़े ब्रह्मलोक [ब्रह्मवादियों के स्थान] हैं, अथर्व अङ्गिराओं [चारों वेद जानने वालों] की ही वह गति है, अथर्व अङ्गिराओं [चारों वेद जानने वालों] की ही वह गति [पहुँच] है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है । १५ । ॥ २५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि वेदों द्वारा यज्ञों का विधान करके आत्मोन्नति करें ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम*श्रीसयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित*बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये पूर्वभागे पंचमः प्रपाठकः समाप्तः ॥

समाप्तमिदं गोपथब्राह्मणम् पूर्वार्धम् ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे आश्विनमासे शुक्लदशम्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।

मुद्रितम्—श्रावणशुक्ला ५ संवत् १९८१ वि० ता० ५ अगस्त सन् १९२४ ई० ॥

अवरार्धे पश्चात्काले भवा । अर्धः खण्डे तुल्यांशे च (त्रिविष्टपम्) विटपविष्टपविशिपोलपाः (उ० ३ । १४५) त्रि + विश प्रवेशने—कपन्, प्रत्ययस्य तुट् च । त्रीणि शारीरिकात्मिकसामाजिकसुखानि विशन्ति यत्र तम् (त्रिदिवम्) इगुपधत्वात् दिवु व्यवहारादिषु-कः । त्रयाणां धर्मार्थकामानां व्यवहारो यस्मिन् तम् (नाकम्) मोक्षसुखम् (त्रय्या) त्रि + अयच्, ङीप् । कर्मोपासनाज्ञानरूपया (एति) प्राप्नोति (अतः) अस्मात् कारणात् (उत्तरे) उत्कृष्टाः (ब्रह्मलोकाः) सत्यलोकाः । ब्रह्मवादिनः स्थानानि (च) अवधारणे ॥

१. पूर्व संकरण में "त्रिपिष्टपम्" यह भ्रष्ट पाठ था ॥ सम्पा० ॥

ओ३म्

अथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणम्

॥ उत्तरभागः ॥

—::o::—

प्रथमः प्रपाठकः ।

कण्डिका १ ॥

अथ यद् ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्यति शोधयत्येवैनं तदथोपविशतीदमहमर्वाग्वसोः सदने सीदामीत्यर्वाग्वसुर्ह वै देवानां ब्रह्मा पराग्वसुरसुराणां तमेवैतत् पूर्वं सादयत्यरिष्टं यज्ञन्तनुतादित्यथोपविश्य जपति बृहस्पतिर्ब्रह्मेति बृहस्पतिर्वा आङ्गिरसो देवानां ब्रह्मा तस्मिन्नेवैतदनुज्ञामिच्छति प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्या हविष्कृत उद्वादनादेतद्वै यज्ञस्य द्वारं तदेतदशून्यं करोतीष्टे च स्विष्टकृत्यानुयाजानां प्रसवादित्येतद्वै यज्ञस्य द्वितीयं द्वारं तदेवैतदशून्यं करोति यत् परिधयः परिधीयन्ते यज्ञस्य गोपीथाय परिधीन् परिधत्ते यज्ञस्य सात्मत्वाय परिधीन् संमार्ष्टि पुनात्येवैनं त्रिर्मध्यमं त्रय इमे प्राणाः प्राणानेवाभिजयति त्रिर्दक्षिणार्द्धं त्रयो वै लोका लोकानेवाभिजयति त्रिरुत्तरार्द्धं त्रयो वै देवलोका देवलोकानेवाभिजयति त्रिरुपवाजयति त्रयो वै देवयानाः पन्थानस्तानेवाभिजयति ते वै द्वादश भवन्ति द्वादश ह वै मासाः संवत्सरः संवत्सरमेव तेन प्रीणात्यथो संवत्सरमेवात्मा उपदधाति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ यज्ञ में ब्रह्मा का आसन, प्रणीतापात्र और परिधियां ॥

(अथ यत् ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति तत् एनम् एव शोधयति) अब जब ब्रह्मा के स्थान से तिनके को वह [यजमान] फेंकता है, वह तब इस [यज्ञगृह] को शुद्ध करता है। (अथ उपविशति, इदम् अहम् अर्वाक् वसोः सदने सीदामि इति, अर्वाग्वसुः ह वै देवानां ब्रह्मा, पराग्वसुः असुराणाम्) फिर वह [ब्रह्मा] बैठता है [इदम् अहम् ...इति] यह मैं समीप वर्तमान यज्ञ के घर में बैठता हूँ—[वह यह ब्राह्मण

१—(ब्रह्मसदनात्) ब्रह्मणः प्रधानयाजकस्य गृहात् (अर्वाक्) समीपे (वसोः) यज्ञस्य (अर्वाग्वसुः) समीपनिवासी पुरुषः (देवानाम्) विदुषाम्

वचन बोलता है] समीपनिवासी पुरुष ही देवों [विद्वानों] का ब्रह्मा होता है और दूरनिवासी पुरुष असुरों का [ब्रह्मा होता] है । (एतत् तम् एव पूर्वं सादयति अरिष्टं यज्ञं तनुतात् इति) इससे उसको ही पहिले वह [यजमान] बिठलाता है—वह निर्विघ्न यज्ञ को विस्तृत करे । (अथ उपविश्य जपति, बृहस्पतिः ब्रह्मा इति) फिर वह बैठकर [यह ब्राह्मण वचन] जपता है—बृहस्पति [बड़ी बड़ी विद्याओं का स्वामी] ब्रह्मा है । (आङ्गिरसः बृहस्पतिः वै देवानां ब्रह्मा, तस्मिन् एव एतत् अनुज्ञाम् इच्छति) आङ्गिरस [चारों वेद जानने वाला] बृहस्पति विद्वानों का ब्रह्मा है, उस [ब्रह्मा] में ही वह [यजमान] यह नियम चाहता है । (प्रणीतासु प्रणीयमानासु हविष्कृतः आ उद्वादनात् वाचं यच्छति) प्रणीताओं [यज्ञ में जलपात्रों] के लाये जाने पर हविष्कृत [हवि की आहुति मन्त्र] के उच्चारण तक वह [ब्रह्मा] वाणी को रोकता है । (एतत् वै यज्ञस्य द्वारं तत् एतत् अशून्यं करोति) यही यज्ञ का द्वार है, सो इसको वह अशून्य [परिपूर्ण वा निर्विघ्न] करता है । (स्विष्टकृति इष्टे च अनुयाजानाम् आ प्रसवात् इति एतत् वै यज्ञस्य द्वितीयं द्वारं तत् एव एतत् अशून्यं करोति) और स्विष्टकृत् [आहुति] दिये जाने पर अनुयाजों की उत्पत्ति तक [वाणी को रोकता है], यह ही यज्ञ का दूसरा द्वार है, सो इसको वह अशून्य [निर्विघ्न] करता है । (यत् परिधयः परिधीयन्ते यज्ञस्य गोपीथाय परिधीन् परिधत्ते) जो परिधियें [घेरे] चारों ओर किये जाते हैं, यज्ञ की भूमि की रक्षा के लिये वह परिधियों को रखता है । (यज्ञस्य सात्मत्वाय परिधीन् संमार्ष्टि) और यज्ञ की चैतन्यता के लिये परिधियों को मार्जन करता है । (एनं मध्यमम् एव त्रिः पुनाति, त्रयः इमे प्राणाः, प्राणान् एव अभिजयति) इस मध्यम [परिधि] को तीन बार वह शुद्ध करता है, [प्राण, अपान, उदान,] तीन प्राण हैं, प्राणों को ही वह जीतता है । (दक्षिणार्धं त्रिः, त्रयः वै लोकाः लोकान् एव अभिजयति) दाहिने भाग को तीन बार [वह शुद्ध करता है], तीन ही लोक [स्थान, नाम, जन्म वा जाति, तीन धाम—निरु० ६ । २८] हैं, लोकों को ही वह जीतता है । (उत्तरार्धं त्रिः. त्रयः वै देवलोकाः, देवलोकान् एव अभिजयति) उत्तर भाग को तीन बार [वह शुद्ध करता है], तीन ही [पृथिवी,

---

(पराग्वसुः) दूरनिवासी पुरुषः (तम्) ब्रह्माणम् (अरिष्टम्) रिष हिंसायां—क्तः । अहिंसितं निर्विघ्नम् (तनुतात्) विस्तारयेत् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः (आङ्गिरसः) चतुर्वेदवेत्ता (अनुज्ञाम्) नियमम् (प्रणीतासु) यज्ञे जलपात्रविशेषेषु (यच्छति) नियमयति (आ) मर्यादायाम् (उद्वादनात्) उच्चारणात् (अशून्यम्) अहीनम् । परिपूर्णम् (प्रसवात्) निष्पादनात् (परिधयः) वेष्टनानि (गोपीथाय) निशीथगोपीथावगथाः । (उ० २ । ६) गो+पा रक्षणे पा पाने वा—थक् । घुमास्थागापाजहातिसां हलि (पा० ६ । ४ । ६६) आकारस्य ईत्वम् । भूमिरक्षणाय । जलाशयाय (सात्मत्वाय) सजीवनत्वाय । वृद्धिकरणाय (संमार्ष्टि) सम्यक् शोधयति (मध्यमम्) मध्ये वर्तमानं खण्डम् (त्रिः) त्रिवारम् (दक्षिणार्धम्) दक्षिणभागम् (उत्तरार्धम्) उत्तरभागम् (उप)

अन्तरिक्ष, द्युलोक] देवलोक हैं, देवलोकों को ही वह जीतता है। (त्रिः उप वा जयति, त्रयः वै देवयानाः पन्थानः तान् एव अभिजयति) और तीन बार समीप वाले [भाग] को वह जीतता है [शुद्ध करता है], तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान,] ही विद्वानों के चलने योग्य मार्ग हैं, उनको ही वह जीतता है। (ते वै द्वादश भवन्ति, द्वादश ह वै मासाः सवत्सरः) वे [सब] ही बारह हैं बारह ही महीने संवत्सर है। (तेन संवत्सरम् एव प्रीणाति, अथो आत्मा संवत्सरम् एव स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै उपदधाति) उस [कर्म] से ही संवत्सर को संतुष्ट करता है, और आत्मा [यह जीवात्मा] संवत्सर [समय] को ही स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये उपकारी कर्ता है ॥ १ ॥

भावार्थः—प्राण आदि चार त्रिक बारह महीने वा संवत्सर अर्थात् समय के सूचक हैं। मनुष्य समय को उपयोगी बनाकर संसार में सुख भोगें ॥

कण्डिका २ ॥

प्रजापतिर्वै रुद्रं यज्ञान्निरभजत् सोऽकामयत मेऽयमस्मा आकूतिः समृद्धिर्यो मा यज्ञान्निरमाक्षीदिति। स यज्ञमभ्यायम्याविध्यत्तदाविद्धं[1] निरकृन्तत् तत् प्राशित्रमभवत्तदुदयकृत्तद्भगाय पर्य्यहरंस्तत्प्रत्यैक्षत[2]। तस्य चक्षुः परापतत् तस्मादाहुरन्धो वै भग इत्यपि ह तं नेच्छेद्यमिच्छति तत् सवित्रे पर्य्यहरंस्तत् प्रत्यगृह्णात् तस्य पाणी [3]प्रचिच्छेद तस्मै हिरण्मयौ प्रत्यदधुस्तस्माद्धिरण्यपाणिरिति स्तुतस्तत्पूष्णे पर्य्यहरंस्तत् प्राश्नात्तस्य दन्ताः परोप्यन्त तस्मादाहुरदन्तकः पूषा पिष्टभाजन इति तदिध्मायाङ्गिरसाय पर्य्यहरंस्तत् प्राश्नात्तस्य शिरो व्यपतत् त यज्ञ एवाकल्पयत् स एष इध्मः समिधो ह पुरातनस्तद्बर्हय आङ्गिरसाय पर्य्यहरंस्तत्प्राश्नात्तस्याङ्गा पर्वाणि व्यस्रंसन्त[4] तं यज्ञ एवाकल्पयतदेतद्बर्हिः प्रस्तरो ह पुरातनस्तद्बृहस्पतय आङ्गिरसाय पर्य्यहरन् सोऽबिभेत् बृहस्पतिरित्थं वाव मार्त्तिमाकृष्यतीति[5] स एतं मन्त्रमपश्यत् सूर्य्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्ष इत्यब्रवीन्न हि सूर्य्यस्य चक्षुः किञ्चन हिनस्ति सोऽबिभेत् प्रतिगृह्णन्तं मा हिंसिष्यतीति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूतः प्रशिषा प्रतिगृह्णामीत्यब्रवीत्सवितृप्रसूत एवैन तद्देवताभिः प्रत्यगृह्णात्तद्व्यूह्य तृणानि प्राग्दण्डं स्थण्डिले निदधाति पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीति पृथिवी वान्नानां शमयित्री तयैवैतच्छमयाञ्चकार सोऽबिभेत्प्राश्नन्तं मा हिंसिष्यतीत्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्ना-

---

उपार्धम्। समीपभागम् (जयति) पुनाति—इत्यर्थः (प्रीणाति) संतोषयति (आत्मा) जीवात्मा (उपदधाति) उपकरोति (समष्टचै) सम् + अशूङ् व्याप्तौ—क्तिन्। सम्यक् प्राप्तये ॥

---

१. पू. सं. 'आविध्य' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'प्रतीक्षेत' इति पाठः ॥

३. पू. सं. 'प्रतिच्छेद' इति पाठः ॥ ४. पू. सं. 'व्यश्रंसन्त' इति पाठः ॥

५. पू. सं. 'करिष्यसि' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

मीत्यब्रवीन्नह्यग्नेरास्यं किञ्चन हिनस्ति सोऽबिभेत् प्राशितं मा हिंसिष्यतीतीन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामीत्यब्रवीन्नहीन्द्रस्य जठरं किञ्चन हिनस्ति वरुणस्योदर इति नहि वरुणस्योदरं किञ्चन हिनस्तीति ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ प्रजापति का रुद्र को भागशून्य करना, प्राशित्र का वर्णन, भग सविता आदि का अङ्गभङ्ग होना और बृहस्पति वा ब्रह्मा का शान्त करना ॥

(प्रजापतिः वै रुद्रं यज्ञात् निरभजत्) प्रजापति [प्रजापालक जीवात्मा] ने रुद्र [गति वा ज्ञान देने वाले परमेश्वर] को यज्ञ [संगति दिये हुये शरीर] से भाग रहित कर दिया। (सः अकामयत मा इयम् आकूतिः समृद्धिः अस्मै, यः मा यज्ञात् निरमाक्षीत् इति) उस [रुद्र] ने इच्छा की—[मुझको] मेरा यह संकल्प और समृद्धि इस [प्रजापति] के लिये हैं, जिसने मुझे यज्ञ से क्रोध करके निकाल दिया है। (तत् सः यज्ञम् अभ्यायम्य आविध्यत् आविद्धं निरकृन्तत् तत् प्राशित्रम् अभवत्) तब उस [रुद्र] ने यज्ञ को पकड़ कर छेद कर दिया और छिदे हुये को काट डाला, वह [यज्ञ वा शरीर] प्राशित्र [खाने योग्य अन्न] हो गया। (तत् उदयकृत् भगाय तत् पर्य्यहरन्) तब उदयकृत् [उदय वा यज्ञ करने वाले प्रजापति] ने भग [सेवनीय धन वा ऐश्वर्य] को वह [प्राशित्र] लाकर दिया। (तत् प्रत्यैक्षत) उस [भग] ने उसे देखा। (तस्य चक्षुः परापतत् तस्मात् आहुः अन्धः वै भगः इति, अपि ह तं छेद्यं नेत् इच्छति) उसकी आंख गिर पड़ी इससे कहते हैं—भग अन्धा है—उसने नष्ट किये हुये और छिदे हुये को न ग्रहण किया। (तत् सवित्रे पर्यहरन्) वह सविता [लोक प्रेरक सूर्य] को उसने

२—(प्रजापतिः) प्रजापालकः। जीवात्मा (रुद्रम्) रु गतौ शब्दे च—क्विप् तुक् आगमः। मत्वर्थीयो रः, अथवा रा दाने—कः। रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा। स च मध्यस्थानदेवता—निरु० १० । ५ । वायुम्। प्राणगतिदातारं परमात्मानम् (यज्ञात्) संगतिकृतात् शरीरात् (निरभजत्) भागशून्यम् अकरोत् (आकूतिः) सङ्कल्पः (निरमाक्षीत्) मश रोषे—लुङ् दीर्घः। रोषेण बहिष्कृतवान् (अभ्यायम्य) परिगृह्य (आविध्यत्) आ+व्यध ताडने—लङ्। अच्छिदत् (आविद्धम्) आच्छिन्नम् (निरकृन्तत्) कृती छेदने—लङ्। सर्वथा छिन्नवान् (प्राशित्रम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ (उ० ४ । १७३) अशूङ् व्याप्तौ-अश भोजने वा—इत्रः। भक्षणीयम्। अन्नम्। चरुम् (उदयकृत्) उत्पत्तिकर्ता। प्रजापतिः (भगाय) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (पा० ३ । ३ । ११८) यद्वा। खनो घ च (पा० ३ । ३ । १२५) भज सेवायाम्—घः। भगः, धननाम—निघ० २ । १०। पदनाम—निघ० ५ । ६। सेवनीयाय। यशसे। ऐश्वर्याय (पर्य्यहरन्) पर्य्यहरत्। पर्य्यानीतवान् (प्रत्यैक्षत) प्रति ईक्ष दर्शने लङ्। प्रत्यक्षेण ईक्षितवान्। दृष्टवान् (नेत्) निषेधे (छेद्यम्) छिन्नम् (सवित्रे) लोकप्रेरकाय सूर्य्याय (पूष्णे) श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० १ । १५९)

लाकर दिया। (तत् प्रत्यगृह्णात्) वह उस [सविता] ने ले लिया। (तस्य पाणी प्रचिच्छेद) उसके दोनों हाथ कट पड़े। (तस्मै हिरण्यमयौ प्रत्यदधुः) उसके दोनों [हाथ] सोने के बने हुये उन्होंने लगा दिये। (तस्मात् हिरण्यपाणिः इति स्तुतः) इसलिये—वह सोने के हाथ वाला है—ऐसा स्तुति किया जाता है। (तत् पूष्णे पर्य्यहरन्) उसे पूषा [वृद्धि वा पुष्टि करने वाली पृथिवी] को उसने लाकर दिया। (तत् प्राश्नात्) वह उसने खाया। (तस्य दन्ताः परोप्यन्त) उसके दांत गिर पड़े। (तस्मात् आहुः अदन्तकः पूषा पिष्टभाजनः इति) इसलिये लोग कहते हैं—बिना दांत वाला पूषा पिष्ट [पिसे हुये पिट्ठी आदि अन्न] के योग्य है। (तत् आङ्गिरसाय इध्माय पर्य्यहरन्) उसे आङ्गिरस [विद्वानों के हितकारक] इध्म [अग्नि प्रदीप्त करने वाले इन्धन] को उसने लाकर दिया। (तत् प्राश्नात्) उसे उसने खा लिया। (तस्य शिरो व्यपतत्) उसका सिर गिर पड़ा। (तं यज्ञे एव अकल्पयत्) उस [प्राशित्र] को यज्ञ में ही उसने समर्थ किया [पहुँचाया]। (सः एषः इध्मः पुरातनः ह समिधः) वही यह इध्म पहिले का समिध [काष्ठ] है। (तत् आङ्गिरसाय बर्हये पर्य्यहरन्) उसे आङ्गिरस [विद्वानों के हितकारक] बर्हि [आकाश वा जल] को उसने लाकर दिया। (तत् प्राश्नात्) वह उसने खा लिया। (तस्य अङ्गाः पर्वाणि व्यस्रंसन्त) उसके अङ्ग और जोड़ खिसक पड़े। (तं यज्ञे एव अकल्पयत्) उस [प्राशित्र] को यज्ञ में ही समर्थ किया [पहुंचाया]। (तत् एतत् बर्हिः पुरातनः ह प्रस्तरः) वह ही यह बर्हि पुरातन प्रस्तर [फैला हुआ पदार्थ वा पत्थर] है। (तत् आङ्गिरसाय बृहस्पतये पर्य्यहरन्) उसे आङ्गिरस [चारों वेद जानने वाले] बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के स्वामी] को उसने लाकर दिया। (सः बृहस्पतिः अबिभेत्, इत्थं वाव मा आर्तिम् आक्रष्यति इति) वह बृहस्पति डरा—इस प्रकार से ही वह मुझे पीड़ा करेगा। (सः एतं मन्त्रम् अपश्यत् अब्रवीत्, सूर्यस्य चक्षुषा त्वा प्रतीक्षे इति)

पूष वृद्धौ अथवा पुष पुष्टौ--कनिन्। पूषा पृथिवीनाम--निघ० १।१। पदनाम--निघ० ५।६ पृथिव्यै (परोप्यन्त) परा+डुवप छेदने बीजसन्ताने च-कर्मणि लङ्। छिन्ना अभवन् (दन्ताः) हसिमृग्रिण्वामिदमि० (उ० ३।८६) दमु उपशमे दमने च-तन्। दशनाः (पिष्टभाजनः) पिष्ट+भाज पृथक्-करणे-ल्युट्। पिष्टस्य चूर्णितस्य पिष्टकस्य योग्यः (इध्माय) इषि युधीन्धिदसि० (उ० १।१४५) ञिइन्धी दीप्तौ--मक्। इध्मः पदनाम--निघ० ५।६। इध्मः समिन्धनात्--निरु० ८।४। अग्निसन्दीपनाय काष्ठाय (आङ्गिरसाय) अङ्गिरसे वेदज्ञात्रे हिताय (बर्हये) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) बृहि वृद्धौ-इन् नलोपः। बर्हिः, अन्तरिक्षम्-निघ०-१।३। उदकम्—निघ० १।१२। बर्हिः परि-बर्हणात्--निरु० ८।८। आकाशाय। जलाय (व्यस्रंसन्त) स्रंसु अधःपतने—लङ्। अधोऽपतन् (प्रस्तरः) विस्तृतः पाषाणः (बृहस्पतये) बृहतीनां विद्यानां पालकाय। ब्रह्मणे (आङ्गिरसाय) चतुर्वेदवेत्रे (आर्तिम्) पीडाम् (आक्रष्यति) समन्तात् करिष्यति (सूर्यस्य) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य दत्तेन (चक्षुषा) दर्शनसामर्थ्येन

उसने इस मन्त्र को देखा [विचारा] और कहा—(सूर्यस्य………प्रतीक्षे) सूर्य [सर्वप्रेरक परमात्मा] के [दिये] चक्षु [दर्शन सामर्थ्य] से तुझको देखता हूं [यह ब्राह्मण वचन है]। (सूर्यस्य चक्षुः किञ्चन नहि हिनस्ति) सूर्य [परमात्मा] के दर्शन सामर्थ्य को कोई भी नहीं नष्ट करता है। (सः अबिभेत्, प्रतिगृह्णन्तं मा हिंसिष्यति इति) वह डरा—ग्रहण करते हुये मुझको यह नष्ट कर देगा। (त्वा देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णः हस्ताभ्यां प्रशिषा प्रसूतः प्रतिगृह्णामि इति अब्रवीत्) तुझको प्रकाशमान सविता [सर्वोत्पादक परमेश्वर] के बड़े ऐश्वर्य के बीच, दोनों अश्वियों [सब विद्याओं में व्याप्त माता पिता] के दोनों भुजाओं से और पूषा [पोषक आचार्य] के दोनों हाथों और शिक्षा से प्रेरणा किया हुआ मैं ग्रहण करता हूं—यह [यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्व० १९ । ५१ । २ । और यजु० २ । ११ का है।] वह बोला। (सवितृप्रसूतः एव एनं तत् देवताभिः प्रत्यगृह्णात्) सविता [परमात्मा] से प्रेरणा किये हुये उसने ही इस [प्राशित्र] को देवताओं के सहित ग्रहण किया। (तत् प्राक् तृणानि व्यूह्य स्थण्डिले दण्डं निदधाति, त्वा पृथिव्याः नाभौ सादयामि इति) तब पहिले तृणों को ठीक करके चौरस स्थान पर दण्डे को वह गाड़ता है—तुझको पृथिवी की नाभि में मैं स्थापित करता हूं [यजुर्वेद १ । ११ का भाग है]। (पृथिवी वा अन्नानां शमयित्री, तया एव एतत् शमयांचकार) और पृथिवी [सब का विस्तार करने वाला परमात्मा] ही अन्नों का शमन करने वाला है, उसके ही द्वारा इसको उसने शान्त किया। (सः अबिभेत् प्राश्नन्तं मा हिंसिष्यति इति) वह डरा—मुझ खाते हुये को यह मार डालेगा। (त्वा अग्नेः आस्येन प्राश्नामि इति अब्रवीत्) तुझको अग्नि [सर्व प्रकाशक परमेश्वर] के [दिये हुये] मुख से मैं खाता हूं—[यह मन्त्र यजु० २ । ११ का अन्तिम पाद] वह बोला। (अग्नेः आस्यं किंचन नहि हिनस्ति) अग्नि [परमात्मा] के [दिये हुये] मुख को कोई नहीं नष्ट करता है। (सः अबिभेत् प्राशितं मा हिंसिष्यति इति) वह डरा—खाया हुआ [प्राशित्र] मुझे मार डालेगा। (त्वा इन्द्रस्य जठरे सादयामि इति अब्रवीत्) तुझको इन्द्र के [परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के दिये हुये] जठर [कोख] में रखता हूं—यह [ब्राह्मण वचन] वह बोला।

(प्रतीक्षे) प्रत्यक्षं पश्यामि (हिनस्ति) नाशयति (देवस्य) प्रकाशमानस्य (सवितु:) सर्वोत्पादकस्य। परमेश्वरस्य (प्रसवे) प्रकृष्टैश्वर्य्ये (अश्विनोः) सकलविद्याव्याप्तयोर्मातापित्रोः (बाहुभ्याम्) भुजयोः सकाशात् (पूष्णः) पोषकस्य। आचार्य्यस्य (हस्ताभ्याम्) करयोः सकाशात् (प्रसूतः) प्रेरितः (प्रशिषा) शासु अनुशिष्टौ—क्विप्। प्रकृष्टशासनेन (प्रतिगृह्णामि) स्वीकरोमि (व्यूह्य) विविधं समूह्य (प्राक्) प्रथमम् (स्थण्डिले) मिथिलादयश्च (उ० १ । ५७) ष्ठल स्थाने—इलच्, नुक्, लस्य डः। यथार्थं समीकृते प्रदेशे (पृथिव्याः) भूमेः (नाभौ) नहो भश्च (उ० ४ । १२६) णह बन्धने—इञ्, हस्य भः। मध्यस्थाने (सादयामि) स्थापयामि (पृथिवी) प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः सम्प्रसारणं च (उ० १ । १५०) प्रथ प्रख्याते विस्तारे च—षिवन्। ङीष्। सर्वविस्तारकः परमेश्वरः (अग्नेः) भौतिकस्य पाचकस्य

(इन्द्रस्य जठरं किञ्चन नहि हिनस्ति) इन्द्र [परमात्मा] के [दिये] जठर को कोई नहीं नष्ट करता है। (वरुणस्य उदरे इति) वरुण [सबसे श्रेष्ठ परमात्मा] के [दिये हुये] उदर में [तुझे मैं रखता हूँ—यह ब्राह्मण वचन उसने कहा]। (वरुणस्य उदरं किंचन नहि हिनस्ति इति) वरुण [परमात्मा] के [दिये] उदर को कोई नहीं नष्ट करता है ॥ २ ॥

भावार्थः—यहाँ प्रजापति प्रजारूप शरीर के अवयवों का पालने वाला जीवात्मा है, रुद्र सर्वज्ञ सर्वकर्ता परमात्मा और यज्ञ परमाणुओं के संयोग से बना हुआ शरीर है॥ प्रजापति के रुद्र को यज्ञ से अलग करने पर भग, सविता, पूषा, इध्म और बर्हि, यह पाँचों तत्त्व अपना अपना कर्म करने में असमर्थ होते हैं। ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा की सत्ता को सब के भीतर काम करता हुआ देखता है ॥ २ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका में उस पौराणिक कथा का मूल सा भान होता है जिसमें दक्ष वा प्रजापति ने शिव वा रुद्र को भाग न दिया था। शिव की स्त्री सती उस यज्ञ में भस्म हो गयी, शिव के गणों ने यज्ञ को और दक्ष को विध्वंस कर दिया, उपस्थित देवता घायल हुये। फिर शिव का क्रोध विष्णु के बीच में पड़ने से शान्त हुआ ॥

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित दिये जाते हैं—

१—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आरभे—अथ० १९। ५१। २, भेद से यजु० २। ११ तथा २०। ३॥ [हे शूर!] (देवस्य) प्रकाशमान, (सवितुः) सर्वोत्पादक [परमेश्वर] के (प्रसवे) बड़े ऐश्वर्य के बीच, (अश्विनोः) सब विद्याओं में व्याप्त दोनों [माता पिता] के (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से और (पूष्णः) पोषक [आचार्य] के (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (प्रसूतः) प्रेरणा किया हुआ मैं (त्वा) तुझको (आरभे) ग्रहण करता हूं।

२- देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि--यजु० २। ११॥ [हे अन्न!] (देवस्य) हर्ष देने वाले (सवितुः) और सबके उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के [उत्पन्न किये हुये] (प्रसवे) संसार में विद्यमान (त्वा) तुझ [भक्ष्य पदार्थ] को (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) आकर्षण और धारण गुणों से तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक समान वायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन और शरीर के अङ्ग अङ्ग में पहुँचाने के गुण से (प्रतिगृह्णामि) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूं, (अग्नेः) प्रज्वलित अग्नि के बीच में पकाकर (त्वा) तुझ [भक्ष्य पदार्थ] को (आस्येन) अपने मुख से (प्र अश्नामि) भोजन करता हूं॥

पावकस्य परमेश्वरस्य (आस्येन) असु क्षेपणे—ण्यत्। मुखेन (प्राशितम्) प्रकर्षेण भक्षितम् (इन्द्रस्य) ईश्वरस्य दत्ते-इति शेषः (जठरे) कुक्षौ (वरुणस्य) वरणीयस्य। सर्वोत्कृष्टस्य (उदरे) उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च (उ० ५। १९) उत्+दृ विदारणे —अल् अच् वा, उत् इत्यस्य तलोपः। नाभिस्तनयोर्मध्यभागे॥

कण्डिका ३ ॥

अथो आहुर्ब्राह्मणस्योदर इत्यात्माऽस्यात्मनाऽऽत्मानं मे मा हिंसीः स्वाहेत्यन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा तेनैवेतच्छमयाञ्चकार प्राशित्रमनुमन्त्रयते । योऽग्निर्नृमणा नाम ब्राह्मणेषु प्रविष्टः तस्मिन् म एतत् सुहुतमस्तु प्राशित्रं तन्मा मा हिंसीत् परमे व्योमन्निति तत्सर्वेण ब्रह्मणा प्राश्नात्तत एनं माहिनत्तस्माद्यो ब्रह्मिष्ठः स्यात्तं ब्रह्माणं कुर्वीत बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म सर्वेण ह वा एतद् ब्रह्मणा यज्ञं दक्षिणत उद्यच्छतेऽप एव वा एतस्मात् प्राणाः क्रामन्ति य आविद्धं प्राश्नात्यद्भिर्मार्जयित्वा प्राणान् संस्पृशते वाङ् म आस्यं नित्यमृतं वै प्राणा अमृतमापः प्राणानेव यथास्थानमुपाह्वयते तदु हैक आहुरिन्द्राय पर्यहरन्निति ते देवा अब्रुवन्निन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तस्मा एतत्परिहरन्तीति तत्तस्मै पर्यहरंस्तत्सद् ब्रह्मणा शमयाञ्चकार तस्मादाहुरिन्द्रो ब्रह्मेति यवमात्रं भवति यवमात्रं वै विषस्य न हिनस्ति यदधस्तादभिघारयति तस्मादधस्तात् प्रक्षरणं प्रजा अरुर्न हिनस्ति यदुपरिष्टादभिघारयति तस्मादुपरिष्टात् प्रक्षरणं प्रजा अरुर्न हिनस्ति यदुभयतोऽभिघारयत्युभयतोऽभिघारि प्रजा अरुर्घातुकं स्याद्यत्सम[1]याभिहरेदनभिविद्धं यज्ञस्याभिविध्येत् ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ प्राशित्र [अन्न] का विधान ॥

(अथो आहुः, ब्राह्मणस्य उदरे + त्वासादयामि--क० २ इति । आत्मा असि आत्मना मे आत्मानं मा हिंसीः स्वाहा इति) फिर वे [ऋषि] कहते हैं --ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] के पेट में [तुझ प्राशित्र को रखता हूं—क० २, यह मन्त्र], हे प्राशित्र ! तू आत्मा [अन्न] है, तू आत्मा [अन्न के कुप्रयोग] से मेरे आत्मा [जीवात्मा] को मत सता, यह स्वाहा [सुन्दर वचन] है [और यह दो मन्त्र वे बोलते हैं] । (अन्नं वै सर्वेषां भूतानाम् आत्मा, तेन एव एतत् प्राशित्रं शमयांचकार अनुमन्त्रयते) अन्न ही सब प्राणियों का आत्मा [जीवन] है, उससे ही इस प्राशित्र [अन्न] को वह शान्त करता है और मन्त्र के अनुकूल करता है । (यः नृमणाः नाम अग्निः ब्राह्मणेषु प्रविष्टः, तस्मिन् मे एतत् प्राशित्रं सुहुतम् अस्तु, तत् मा परमे व्योमन् मा हिंसीत् इति) जो नृमणा [मनुष्यों के हित के लिये ज्ञान वाला] नाम अग्नि [जठराग्नि] ब्रह्मज्ञानियों में प्रविष्ट है, उस [अग्नि में मेरा यह प्राशित्र [अन्न] अच्छे प्रकार होम किया गया होवे, वह [अन्न] मुझको उत्तम विविध रक्षा स्थान में [रख कर] न मारे [वह इस ब्राह्मण वचन को पढ़ता है] । (तत् सर्वेण ब्रह्मणा प्राश्नात् ततः एनं मा अहिनत्) उसको

३--(अनुमन्त्रयते) मन्त्रेण अनुकूलं करोति (नृमणाः) नयतेर्डिच्च (उ० २ । १००) णीञ् प्रापणे--ऋः, डित् । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४ । २२७) नृ + मनु अवबोधने--असिः । छन्दस्यृदवग्रहात् (पा० ८ । ४ । २६) इति णत्वम् । नृभ्यो मनुष्याणां हिताय बोधनं यस्य सः (परमे) उत्तमे (व्योमन्) नामन्सीमन्व्योमन्० (उ० ४ । १५१) वि + अव रक्षणे--मनिन् सप्तमी-

---

१. पू. सं. 'शमया' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान से खावे, इसलिये इसको वह न मारे। (तस्मात् यः ब्रह्मिष्ठः स्यात् तं ब्रह्माणं कुर्वीत) इसलिये जो अत्यन्त ब्रह्मज्ञान वाला हो, उसको ब्रह्मा बनावे। (बृहस्पतिः वै सर्वं ब्रह्म) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का स्वामी] ही सम्पूर्ण ब्रह्म [ब्रह्मा] है। (एतत् सर्वेण ह वै ब्रह्मणा यज्ञं दक्षिणतः उद्यच्छते) इसलिये वह सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान के साथ यज्ञ को दक्षिण दिशा में बैठकर ऊंचा करता है। (एतस्मात् अपः एव वै प्राणाः क्रामन्ति) इसलिये जल को ही प्राण प्राप्त करते हैं। (यः आविद्धं प्राश्नाति अद्भिः प्राणान् मार्जयित्वा संस्पृशते, मे नित्यं वाक् आस्यम् ऋतम्) जो पुरुष अच्छे छेदन किये हुये [प्राशित्र अन्न] को खाता है, वह जल से प्राणों को शुद्ध करके [इन्द्रिय] स्पर्श करता है--मेरे लिये नित्य वाणी, मुख और सत्य होवे। [यह वाक्य पढ़ता है। (प्राणाः वै अमृतम्, आपः प्राणान् एव यथास्थानम् उपाह्वयते) प्राण ही अमृत [जल] हैं, जल प्राणों [जीवन साधनों] को ही अपने अपने स्थान पर बुलाता है। (तत् उ ह एके आहुः, इन्द्राय पर्यहरन् इति) सो कोई कोई कहते हैं--इन्द्र [जीवात्मा] को वे [इन्द्रिय अन्न] लाकर देते हैं। (ते देवाः अब्रुवन् इन्द्रः वै देवानाम् ओजिष्ठः बलिष्ठः तस्मै एतत् परिहरन्ति इति तत् तस्मै पर्यहरन्) उन देवों [इन्द्रियों] ने कहा--इन्द्र [जीवात्मा] ही देवों [इन्द्रियों] में अति ओजस्वी [पराक्रमी] और अति बलवान् है, उसके लिये यह [अन्न] वे लाते हैं--इसलिये उसे उसके लिये वे लाये हैं। (तत् सत् ब्रह्मणा शमयांचकार) उस होते हुये को ब्रह्मज्ञान से उस [इन्द्र] ने शान्त किया। (तस्मात् आहुः इन्द्रः ब्रह्मा इति) इसलिये वह कहते हैं--इन्द्र [जीवात्मा] ब्रह्मा है। (यवमात्रं भवति यवमात्रं वै विषस्य न हिनस्ति) वह [इन्द्र] जौ के आकार वाला [परमाणु रूप] है, जौ के आकार वाला जल का नाश नहीं करता है। (यत् अधस्तात् अभिघारयति तस्मात् प्रक्षरणम् अधस्तात् प्रजाः अरुः न हिनस्ति) जो वह नीचे की ओर सींचता है, इसलिये बहाव नीचे की ओर प्रजाओं [इन्द्रियों] को मर्म में न नष्ट करता है। (यत् उपरिष्टात् अभिघारयति तस्मात् प्रक्षरणम् उपरिष्टात् प्रजाः अरुः न हिनस्ति) जो वह ऊपर की ओर सींचता है, इसलिये बहाव [रुधिर रूप जल] ऊपर की ओर प्रजाओं [इन्द्रियों] को मर्म में नहीं नष्ट करता है। (यत् उभयतः अभिघारयति उभयतः अभिघारि प्रजाः अरुर्घातुकं स्यात्) जो वह दोनों ओर से [आमने सामने

लुक्। व्योमन् व्यवने--निरु० ११। ४०। विविधरक्षास्थाने (ब्राह्मणा) ब्रह्मज्ञानेन (ब्रह्मिष्ठः) अतिशयेन ब्रह्मज्ञानवान् (दक्षिणत) दक्षिणस्यां दिशि स्थितः (उद्यच्छते) उत् + यम नियमने। उन्नयते (क्रामन्ति) गच्छन्ति। प्राप्नुवन्ति (मार्जयित्वा) शोधयित्वा (अमृतम्) उदकम्--निघ० १। १२। (आपः) जलम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते। जीवात्मने (देवाः) इन्द्रियाणि (ओजिष्ठः) अतिशयेन ओजस्वी पराक्रमी (यवमात्रम्) अणुपरिमाणम् (विषस्य) उदकम्--निघ० १। १२। (अभिघारयति) घृ क्षरणदीप्त्योः--सर्वतः सिञ्चति प्रवहति (प्रक्षरणम्) प्रवहणम् (अरुः) अर्त्तिपृवपियजि० (उ० २। ११७) ऋ गतौ हिंसने च--उसिः। अरुषि। मर्मणि (अभिघारि) सर्वतः सेचकं जलम्

जल वा रुधिर को] सींचे, दोनों ओर से सींचने वाला [जल टकराकर] प्रजाओं [इन्द्रियों] को मर्मघाती होता है । (यत् समया अभिहरेत् अनभिविद्धं यज्ञस्य अभिविध्येत्) जो [उस जल को] पास से वह ले चले, बिना छिदा हुआ [बिना चूर्ण किया हुआ अन्न] यज्ञ [शरीर] का सर्वथा छेदन कर देवे ॥ ३ ॥

भावार्थः—अन्न और जल सुप्रयोग से शरीरबल और आत्मबल बढ़ाते हैं, वे ही कुप्रयोग से उन्हें नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ ॥

अग्रेण परिहरति तीर्थेनैव परिहरति वि वा एतद्यज्ञश्छिद्यते यत् प्राशित्रं परिहरति, यदाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति बृहस्पतिर्वै सर्वं ब्रह्म सर्वेण ह वा एतद् ब्रह्मणा यज्ञं दक्षिणतः सन्दधात्यथोऽत्र वा एतर्हि यज्ञः श्रितो यत्र ब्रह्मा तत्रैव यज्ञः श्रितस्तत एवैनमालभते यद्धस्तेन प्रमीयेद् वेपनःस्याद्यच्छीर्ष्णा शीर्षक्तिमान्त्स्याद्यत्तूष्णीमासीदासम्प्रत्तो यज्ञः स्यात् प्रतिष्ठेत्येव ब्रूयाद्वाचि वै यज्ञः श्रितो यत्र ब्रह्मा तत्रैव यज्ञः श्रितस्तत एवैनं सम्प्रयच्छत्याग्नीध्र आदधात्यग्निमुखानेवर्तून् प्रीणात्यथोत्तरासामाहुतीनां प्रतिष्ठित्याऽथो समिद्वत्येव जुहोति परिधीन्त्सम्मार्ष्टि पुनात्येवैनां सकृत् सकृत् सम्मार्ष्टि पराङेव ह्येतर्हि यज्ञश्चतुः सम्पद्यतेऽथो चतुष्पादः पशव पशूनामाप्त्यै देव सवितरेतत्ते प्राहेत्याह प्रसूत्यै बृहस्पतिः ब्रह्मेत्याह स हि ब्रह्मिष्ठः स यज्ञं पाहि स यज्ञपतिं पाहि स माम्पाहि स मां पाहि स मां कर्मण्यं पाहीत्याह यज्ञाय च यजमानाय च पशूनामाप्त्यै ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ यज्ञ के विघ्नों का नाश और यज्ञ के आरम्भ का विधान ॥

(अग्रेण परिहरति, तीर्थेन एव परिहरति एतत् यज्ञः वि वै छिद्यते) [जो कोई यज्ञ की] पूर्व भाग से निन्दा करता है, [अथवा] तीर्थ [शास्त्र विधान] से ही निन्दा करता है । इससे यज्ञ अवश्य ही छिन्न हो जाता है । (यत् प्राशित्रं परिहरति यत् आह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि इति) जो वह प्राशित्र [चरु, हव्य द्रव्य] को बुरा कहता है, [अथवा] जो कहता है—हे ब्रह्मन् ! मैं चला जाऊंगा । (बृहस्पतिः वै सर्वं ब्रह्म एतत् ह वै सर्वेण ब्रह्मणा यज्ञं दक्षिणतः सन्दधाति) बृहस्पति [सब विद्याओं का स्वामी] ही सब प्रकार ब्रह्म [ब्रह्मा] है, इसी से ही वह सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान से यज्ञ को

(अरुर्घातुकम्) मर्मनाशकम् (समया) सम् + इण् गतौ—अच्, टाप्, समीपे । (अनभिविद्धम्) अविच्छिन्नम् । प्राशित्रम् (अभिविध्येत्) अभिच्छेदनं कुर्यात् ॥

४—(अग्रेण) पूर्वभागेन (परिहरति) यज्ञं निन्दति (तीर्थेन) तरणसाधनेन । शास्त्रेण । यज्ञस्थानेन (एतत्) एतस्मात् (प्रस्थास्यामि) गमिष्यामि (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानेन (दक्षिणतः) दक्षिणस्यां दिशि स्थितः (संदधाति)

दक्षिण ओर बैठा हुआ सुधारता है । (अथो अत्र वै एतर्हि यज्ञः श्रितः, यत्र वै ब्रह्मा तत्र एव यज्ञः श्रितः ततः एव एनम् आलभते) फिर यहां ही अब यज्ञ ठहरा हुआ है, जहां ब्रह्मा है. वहां ही यज्ञ ठहरा हुआ है, इसलिये ही इस [ब्रह्मा] को वह [यजमान] ग्रहण करता है । (यद् हस्तेन प्रमीयेत् वेपनः स्यात्, यत् शीर्ष्णा शीर्षक्तिमान् स्यात् यत् तूष्णीम् आसीद असम्प्रत्तः यज्ञः स्यात् प्रतिष्ठ इति एव ब्रूयात्) जो कोई हाथ से [यज्ञ] नष्ट करे, वह कांपने वाला होवे, जो सीस [शिर की टक्कर] से [यज्ञ नष्ट करे], वह शिर की पीड़ा वाला होवे, और जो चुपचाप बैठे, यज्ञ अरक्षित होवे, [इसलिये] चला जा—ऐसा ही वह [ब्रह्मा] कहे । (वाचि वै यज्ञः श्रितः, यत्र ब्रह्मा तत्र एव यज्ञः श्रितः ततः एव एनं सम्प्रयच्छति) वाणी में ही यज्ञ ठहरा हुआ है, जहां ब्रह्मा है वहां ही यज्ञ ठहरा हुआ है, इसलिये ही इस [यज्ञ] को वह [ब्रह्मा] यथावत् चलाता है । (आग्नीध्रे अग्निमुखान् आदधाति) आग्नीध्र [होतृगृह वा हवनकुण्ड] में अग्नि प्रधान मन्त्रों से वह अग्न्याधान करता है [जैसे यह चार मन्त्र—ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना पृथिवीव वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे । १ । यजु० ३ । ४ ॥ ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च । अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत । २ । यजु० १५ । ५४ ॥ अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् । ३ । ऋ० १ । १ । १ । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये । ४ । ऋ० १ । १ । ९ । हवनमन्त्राः] । (ऋतून् एव प्रीणाति) वह ऋतुओं को ही प्रसन्न बनाता है [जल वायु शुद्ध करता है] । (अथ उत्तरासाम् आहुतीनाम् प्रतिष्ठित्या) और पीछे वाली आहुतियों की स्थापना से [भी ऋतुओं को शुद्ध करता है] । (अथो समिद्वत्या एव जुहोति) फिर समिध् शब्द वाली ऋचा से ही वह हवन करता है [जैसे यह चार मन्त्र—ओम् । समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा । इदमग्नये इदं न मम । १ । यजु० ३ । १ । ओं । सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे स्वाहा—इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम । २ । यजु० ३ । २ ॥ ओं । तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य, स्वाहा । इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम । ३ । यजु० ३ । ३ । ओम् । अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय,

---

सम्यग् धरति (एतर्हि) इदानीम् (आलभते) गृह्णाति (प्रमीयेत्) मीञ हिंसायाम् । नाशयेत् (वेपनः) कम्पकः (शीर्ष्णा) शिरःप्रहारेण (शीर्षक्तिमान्) शीर्ष+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्तिन्, मतुप् । शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्षक्तिः शिरःपीडा तया युक्तः (आसीद) आ—असीदत् । आसीदेत् (असम्प्रत्तः) नञ्+सम्+प्र+डुदाञ् दाने—क्तः । दत्तो रक्षितः तत्प्रतिषेधः । असंरक्षितः (प्रतिष्ठ) गच्छ (सम्प्रयच्छति) संयोजयति (आग्नीध्रे) होतृगृहे (आदधाति) अग्न्याधानं करोति (अग्निमुखान्) अग्निप्रधानान् मन्त्रान् (प्रीणाति) प्रसादयति (ऋतून्) वसन्तादीन् (प्रतिष्ठित्या) स्थापनया (समिद्वत्या)

स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे--इदं न मम । ४ । हवनमन्त्राः] । (परिधीन् सम्मार्ष्टि पुनःति एव) वह परिधियों को स्वच्छ करता है और शोधता भी है। (एनान् सकृत् सकृत् सम्मार्ष्टि) वह इन [परिधियों] को एक एक बार स्वच्छ करता है [जैसे यह चार मन्त्र--ओम् । अदितेऽनुमन्यस्व ॥ १ ॥ ओम् । अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ २ ॥ ओम् । सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ ३ ॥ ओम् । देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ ४ ॥ यजु० ११ । ७ तथा ३० । १ । हवनमन्त्राः] । (पराङ् एव हि एतर्हि यज्ञः चतुः सम्पद्यते) उत्कर्ष को पाया हुआ ही अब यज्ञ चार बार बढ़ता है । (अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनाम् आप्त्यै देव सवितः एतत् ते प्राह इति) फिर चार पाँव वाले पशु हैं, पशुओं के लाभ के लिये-- देव सवितः--यह [ऊपर लिखा मन्त्र] तुझ [ब्रह्मा] से वह [यजमान] बोलता है। (आह प्रसूत्यै बृहस्पतिः ब्रह्मा इति) वह कहता है-प्रेरणा [यज्ञ की बढ़ती] के लिये बृहस्पति ब्रह्मा है [बड़ी विद्याओं का स्वामी प्रधान ऋत्विज है । देव सवितः--इस मन्त्र में प्रसुव पद और प्रसूत्यै पद षू प्रेरणे धातु से बने हैं] । (आह सः हि ब्रह्मिष्ठः, सः यज्ञं पाहि, सः यज्ञपतिं पाहि, सः साम् पाहि, सः मां पाहि, सः मां कर्मण्यं पाहि इति यज्ञाय, यजमानाय च, पशूनाम् आप्त्यै च आह) वह [यजमान] कहता है—वह तू ही अतिशय ब्रह्मज्ञानी है, वह तू यज्ञ की रक्षा कर, वह तू यज्ञपति की रक्षा कर, वह तू मेरी रक्षा कर, वह तू मेरी रक्षा कर, वह तू मुझ कर्मकुशल की रक्षा कर,--वह यह यज्ञ के हित के लिये और यजमान के हित के लिये और पशुओं की प्राप्ति के लिये कहता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को यज्ञ विधान पूर्वक करना चाहिये ॥ ४ ॥

कण्डिका ५ ॥

न वै पौर्णमास्यां नामावास्यायां दक्षिणा दीयन्ते य एष ओदनः पच्यते दक्षिणैषा दीयते यज्ञस्यर्ध्या इष्टी वा एतेन यद्यजतेऽथो वा एतेन पूर्त्ती य एष ओदनः पच्यत एष ह वा इष्टापूर्त्ती य एनं पचति ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ पौर्णमासी और अमावस को दक्षिणा के स्थान में ओदन का दान ॥

(न वै पूर्णमास्यां न अमावास्यां दक्षिणाः दीयन्ते) न तो पौर्णमासी [इष्टि] में और न अमावस्या [इष्टि] में दक्षिणायें दी जाती है । (यः एषः ओदनः पच्यते, एषा दक्षिणा दीयते) जो यह ओदन [चावल] पकाया जाता है यह ही

समिध इति शब्देन युक्तया ऋचा (पराङ्) परा उत्कर्षे + अञ्चु गतिपूजनयोः— क्विन् । उत्कर्षं प्राप्तः (चतुः) चतुर्वारम् (चतुष्पादः) चतुष्पादयुक्ताः (आप्त्यै) प्राप्तये (प्रसूत्यै) प्रेरणायै । उन्नतये (कर्मण्यम्) कर्मकुशलम् ॥

५—(ऋध्यै) वृद्धये (इष्टी) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (वा० पा० ७ । १ । ३९) इति विभक्तेः ईकारः । इष्टम् । अग्निहोत्रवेदाध्ययनातिथ्यादि-

दक्षिणा दिया जाता है। (यत् यज्ञस्य ऋध्यै इष्टी वै एतेन अथो वै एतेन पूर्त्ती यजते) क्योंकि वह यज्ञ की बढ़ती के लिये इष्ट [अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, आतिथ्य आदि कर्म] को ही इस [ओदन दान] से, और भी इससे पूर्त्त [बावड़ी, कूआ, तालाब, देवमन्दिर, अन्नदान आदि कर्म] को प्राप्त होता है। (यः एषः ओदनः पच्यते, एषः ह वै इष्टापूर्त्ती यः एनं पचति) यह जो ओदन [भात] पकाया जाता है, यह ही इष्ट और पूर्त्त [अग्निहोत्र वेदाध्ययन आदि और बावड़ी देवमन्दिर आदि कर्म का साधन उस यजमान के लिये] है जो इसको पकाता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—पौर्णमासी और अमावस्या को दक्षिणा के स्थान में ओदन देने का यहां विशेष नियम विचारणीय है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ ॥

द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपा अन्ये हुतादोऽन्ये अहुतादोऽन्य एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणा एतद्देवत्य ऋषयः पुरानीजान एते ह वा एतस्य प्रजायाः पशूनामीशते तेऽस्याप्रीता इषमूर्जमादायापक्रामन्ति यदन्वाहार्य्यमन्वाहरति तानेव तेन प्रीणाति दक्षिणतः सद्भ्यः परिहर्त्तवा आह दक्षिणावृतेनैव यज्ञेन यजत आहुतिभिरेव देवान् हुतादः प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवांस्तेऽस्मै प्रीता इषमूर्जं नियच्छन्ति ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ यज्ञ में दो प्रकार के देवता आते हैं एक सोम या दूसरे असोमपा, अथवा एक हुताद और दूसरे अहुताद, उनका वर्णन ॥

(द्वयाः वै देवाः यजमानस्य गृहम् आगच्छन्ति अन्ये सोमपाः, अन्ये असोमपाः, अन्ये हुतादः अन्ये अहुतादः) दो प्रकार के ही देव यजमान के घर आते हैं, एक सोमपा [सोमरस पीने वाले] दूसरे असोपमा [सोमरस न पीने वाले], [अथवा] एक हुताद [अग्नि में चढ़े हुये पदार्थ खाने वाले जल वायु सूर्य] और दूसरे अहुताद [अग्नि में न चढ़े हुये पदार्थ अर्थात् शेष हव्य खाने वाले मनुष्य आदि]। (एते वै देवाः अहुतादः यत् ब्राह्मणाः) यह ही देव अहुताद [बचे हुये हव्य खाने वाले] हैं जो ब्राह्मण हैं। (एतद्देवत्यः ऋषयः पुरा अनीजानः) इस [सोम] को देवता जानने

कम् (यजते) संगच्छते (पूर्त्ती) पूर्ववत् ईकारः। पूर्त्तम्। वापीकूपतडागादिदेवतायतनान्नप्रदानादिकम् (इष्टापूर्त्ती) पूर्ववत् ईकारः। इष्टं च पूर्त्तं च इष्टापूर्त्ते। अर्थः पूर्ववत् ॥

६—(द्वयाः) द्वि—अयट्। द्विप्रकाराः। उभयाः (सोमपाः) सोमपानशीलाः (हुताद.) हुत + अद भक्षणे—क्विप्। हुतस्य आहुतया अग्नौ प्रक्षिप्तस्य हव्यस्य भक्षयितारः (अहुतादः) अहुतस्य अग्नौ अप्रक्षिप्तस्य शेषहव्यस्य भक्षयितारः (यत्) ये (एतद्देवत्यः) एतद्देवताकाः (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः (पुरा) पूर्वम् (अनीजानः) अन् + जयतेः—कानच्, एकवचनं बहुवचनस्य।

वाले ऋषियों ने पहिले यज्ञ नहीं किया (?)। (एते ह वै एतस्य प्रजायाः पशूनाम् ईशते) यह ही [ब्रह्मज्ञानी] इस [यजमान] के सन्तान और पशुओं के स्वामी हैं। (ते अप्रीताः अस्य इषम् ऊर्जम् आदाय अपक्रामन्ति) वे अप्रसन्न होकर इसके अन्न और बल को लेकर चल देते हैं। (यत् अन्वाहार्य्यम् अन्वाहरति तान् एव तेन प्रीणाति) जब वह अन्वाहार्य्य [अमावस में बताये गये पितरों के मासिक श्राद्ध] को वह अनुकूल होकर खिलाता है, उनको ही उससे वह [यजमान] प्रसन्न करता है। (दक्षिणतः सद्भ्यः परिहर्तवै आह) दक्षिण ओर वर्त्तमान [असुरों] को [अन्वाहार्य्य] छोड़ देने के लिये वह कहता है ? (दक्षिणावृतेन एव यज्ञेन यजते) दक्षिणा से संयुक्त ही यज्ञ से [उन ब्रह्मज्ञानियों को] वह पूजता है। (आहुतिभिः एव हुतादः देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिः मनुष्यदेवान्) आहुतियों [अग्नि में चढ़ाये हुये पदार्थों] से ही हुताद [अग्नि में चढ़े हुये पदार्थ खाने वाले] देवों [जल, वायु, सूर्य] को प्रसन्न करता है और दक्षिणाओं से मनुष्य देवों [ब्रह्मज्ञानियों] को [प्रसन्न करता है]। (ते प्रीताः अस्मै इषम् ऊर्जं नियच्छन्ति) वे [दोनों प्रकार के देव] प्रसन्न होकर इस [यजमान] को अन्न और बल देते रहते हैं[1] ॥ ६ ॥

भावार्थः—यज्ञ द्वारा जल, वायु और अग्नि शुद्ध होने से शुद्ध अन्न उत्पन्न होता है और ऋत्विज् लोग दक्षिणा पाते हैं। उस सबसे यजमान का अन्न और बल बढ़ता है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७ ॥

देवाश्च ह वा असुराश्चास्पर्द्धन्त, ते देवाः प्रजापतिमेवाभ्ययजन्तान्योऽन्यस्यासन्नसुरा अजुहवुस्ते देवा एतमोदनमपश्यंस्तं प्रजापतये भागमनुनिरवपंस्तं भागं पश्यन् प्रजापतिर्देवानुपावर्त्तत ततो देवा अभवन् परासुराः स य एवं विद्वानेतमोदनं पचति भवत्यात्मना परास्याप्रियो भ्रातृव्यो भवति प्रजापतिर्वै देवेभ्यो भागधेयानि व्यकल्पयत् सोऽ[2]मन्यत आत्मानमन्तरगादिति स एतमोदनमभक्तमपश्यत्तमात्मने भागन्निरवपत् प्रजापतेर्वा एष भागोऽपरिमितः स्यादपरिमितो हि प्रजापतिः प्रजापतेर्भागोस्यूर्जस्वान् वयस्वानक्षितोऽस्यक्षित्यै त्वा मामेक्षेष्ठाः। अमुत्रामुष्मिल्लोक इह च प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे

यज्ञम् अकृतवन्तः (अप्रीताः) अप्रसन्नाः (इषम्) अन्नम्—निघ० २।७ (ऊर्जम्) बलम् (आदाय) गृहीत्वा (अपक्रामन्ति) अपगच्छन्ति (अन्वाहार्य्यम्) अनु व्याप्तौ+आ समन्तात्+हृञ् हरणे—ण्यत्। अमावास्याविहितं पितृणां मासिकश्राद्धम्। यागदक्षिणाम् (अन्वाहरति) अनुकूलतया आहारयति भोजनं कारयति यजमानः (दक्षिणतः) दक्षिणस्यां दिशि (सद्भ्यः) श्रेष्ठेभ्यः। वर्तमानेभ्यः (परिहर्तवै) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्० (पा० ३।४।९) परि+हृञ् हरणे—तवैप्रत्ययः। परिहर्तुम् (दक्षिणावृतेन) दक्षिणया वेष्टितेन संयुक्तेन (मनुष्यदेवान्) मनुष्येषु देवान् विदुषः पुरुषान् (नियच्छन्ति) नितरां ददति ॥

---

१. कण्डिका का व्याख्यान अस्पष्ट है। पाठक भूमिका में अर्थ देखें॥

२. पू. सं. "सोममन्यत" इति पाठः॥ सम्पा०॥

पाह्युदानरूपे मे पाह्यूर्गस्यूर्जं मे धेहि कुर्वतो मे मा क्षेष्ठाः । ददतो मे मोपदसः प्रजापतिमहन्त्वया समृक्षमृध्यासमिति प्रजापतिमेव समृक्षमृध्नोति य एवं वेद य एव वेद ॥ ७ ॥

कण्डिका ७ ॥ देवासुर संग्राम में प्रजापति द्वारा ओदन के विभाग से देवों की जीत ॥

(देवा च असुराः च ह वै अस्पर्धन्त) देव [इन्द्रियां] और असुर [विघ्न] लड़ने लगे। (ते देवाः प्रजापतिम् एव अभ्ययजन्त) उन देवताओं ने प्रजापति [जीवात्मा वा पेट] को ही सब ओर से पूजा। (असुराः अन्योऽन्यस्य आसन् अजुहवुः) असुरों ने एक दूसरे के मुख में हवन किया। (ते देवाः एतम् ओदनम् अपश्यन् तं भागं प्रजापतये अनुनिरवपन्) उन देवों ने इस ओदन [सींचने वाले अन्न] को देखा और वह भाग प्रजापति को दे दिया। (तं भागं पश्यन् प्रजापतिः देवान् उपावर्तत) उस भाग को देखता हुआ प्रजापति देवताओं के पास वर्तमान हुआ। (ततः देवाः असुराः परा अभवन्) उससे देवताओं ने असुर हरा दिये। (यः एवं विद्वान् एतम् ओदनं पचति सः आत्मना भवति, अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः परा भवति) जो ऐसा विद्वान् इस ओदन [सींचने वाले अन्न] को पचाता है वह आत्मबल के साथ होता है, उसका अप्रिय शत्रु हार जाता है। (प्रजापतिः वै देवेभ्यः भागधेयानि व्यकल्पयत्, सोऽमन्यत, आत्मानम् अन्तः अगात् इति) प्रजापति ने ही देवताओं को भाग अलग अलग कर दिये, उसने माना और आत्मबल को भीतर पाया। (सः एतम् ओदनम् अभक्तम् अपश्यत् तं भागम् आत्मने निरवपत्) उसने इस ओदन को बिना बँटा हुआ [सम्पूर्ण] देखा, उस भाग को अपने लिये रख दिया। (प्रजापतेः वै एषः भागः अपरिमितः स्यात् अपरिमितः हि प्रजापतिः) प्रजापति का ही यह भाग परिमाण रहित होवे, क्योंकि प्रजापति परिमाण रहित है। (प्रजापतेः ऊर्जस्वान् वयस्वान् भागः असि, अक्षितः असि, मे अक्षित्यै त्वा मा क्षेष्ठाः) [हे ओदन !] तू प्रजापति का बलवान् अन्नवान् भाग है, तू अक्षित [अनिष्ट] है, तू मेरे अनाश [सम्पूर्णता] के लिये अपने को मत नष्ट कर। (अमुत्र अमुष्मिन् लोके इह च मे प्राणापानौ पाहि, मे समानव्यानौ पाहि, मे उदानरूपे पाहि, ऊर्क् असि, मे ऊर्जं धेहि, मे कुर्वतः मा क्षेष्ठाः) वहाँ उस लोक में और

७—(देवाः) इन्द्रियाणि (असुराः) देवविरोधिनः। विघ्नाः (प्रजापतिम्) जीवात्मानम् (आसन्) आस्नि। मुखे (ओदनम्) सेचकम् अन्नम् (अनुनिरवपन्) निर्धारितवन्तः। दत्तवन्तः (उपावर्तत) उपेत्य वर्तमानोऽभवत् (परा–अभवन्) पराजितवन्तः (असुराः) असुरान् (आत्मना) आत्मबलेन (पराभवति) पराजितो वर्तते (भ्रातृव्यः) शत्रुः (व्यकल्पयत्) पृथक् पृथक् कृतवान् (सोऽमन्यत) अमृतम् (आत्मानम्) आत्मबलम् (अन्तः) मध्ये (अगात्) प्राप्तवान् (अभक्तम्) अकृतभागम् (अपरिमितः) परिमाणरहितः (ऊर्जस्वान्) बलवान् (वयस्वान्) अन्नवान्—निघ० २ । ७ (अक्षितः) अहिंसितः (अक्षित्यै) अनाशाय (त्वा) आत्मानम् (मे) मम। मह्यम् (मा क्षेष्ठाः) क्षि

यहाँ [दूर और समीप, अथवा उस जन्म और इस जन्म में] मेरे प्राण और अपान [भीतर और बाहर जाने वाले श्वास] की रक्षा कर, मेरे समान और व्यान [नाभि में घूमने वाले और शरीर में फैलने वाले वायु] की रक्षा कर, मेरे उदान [कण्ठस्थ वायु] और रूप की रक्षा कर, तू बल है मेरे लिये बल दे, मुझ कर्म करने वाले का मत नाश कर। (मे ददतः मा उपदसः, अहं त्वया समृक्षं प्रजापतिम् ऋध्यासम् इति) [हे ओदन !] मुझ दान करते हुये का मत नाश कर, मैं तेरे साथ यथावत् देखने वाले प्रजापति को बढ़ाऊं। (समृक्षं प्रजापतिम् एव ऋध्नोति यः एवं वेद, यः एवं वेद) वह यथावत् देखने वाले प्रजापति को ही बढ़ाता है, जो ऐसा जानता है, जो ऐसा जानता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—जैसे उदर अन्न खाकर सब इन्द्रियों को रस पहुँचाकर पुष्ट और सुखी करता है, वैसे ही प्रधान पुरुष कर लेकर प्रजा के हित में लगाकर उन्हें पुष्ट और सुखी करे ॥ ७ ॥

कण्डिका ८ ॥

ये वा इह यज्ञैराभूवंस्तेषामेतानि ज्योतींषि यान्यमूनि नक्षत्राणि तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं यन्न क्षियन्ति दर्शपौर्णमासौ वै यज्ञस्यावसानदर्शौ ये वा अनिष्ट्वा दर्शपूर्णमासाभ्यां सोमेन यजन्ते तेषामेतानि ज्योतींषि यान्यमूनि नक्षत्राणि पतन्तीव तद्यथा ह वा इदमस्यष्टावसानेनेहावसास्यसि नेहावसास्यसीति नोऽनुद्यन्त एवं हैवैतेऽमुष्मान् लोकान् नो नुद्यन्ते त एते प्रच्यवन्ते ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ दर्शपौर्णमास यज्ञ के साथ ही सोम यज्ञ करने और यज्ञ करने वालों की उच्च दशा का वर्णन ॥

(ये वै इह यज्ञैः आभूवन् तेषाम् एतानि ज्योतींषि यानि अमूनि नक्षत्राणि) जो लोग ही यहाँ यज्ञों के साथ सब ओर वर्तमान हुये हैं, उनके यह ज्योति हैं जो वे नक्षत्र [चलने वाले वा अनश्वर तारागण] हैं [अर्थात् तारागणों के समान उनके कार्य प्रकाशमान हैं]। (तत् नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं यत् न क्षियन्ति) वह नक्षत्रों का नक्षत्रपन है कि वे नष्ट नहीं होते हैं। (दर्शपौर्णमासौ वै यज्ञस्य अवसानदर्शौ) अमावस्या और पूर्णमासी के यज्ञ ही यज्ञ की सीमा दिखाने वाले हैं [अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासी से यज्ञ आरम्भ होकर अमावस्या और पूर्णमासी को पूरे होते हैं]। (ये वै दर्शपूर्णमासाभ्याम् अनिष्ट्वा

हिंसायाम्—लुङ्। आत्मनेपदम्। मा हिंसीः (ऊर्क्) बलम् (ऊर्जम्) बलम् (मा क्षेष्ठाः) नाशं मा कुरु (मा उपदसः) दसु उपक्षये उत्क्षेपे च—लुङ्। नाशं मा कुरु (समृक्षम्) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् (उ० ३ । ६६) ऋषी गतौ दर्शने च—सप्रत्ययः कित्। संगन्तारम्। सन्दर्शकम् (ऋध्यासम्) सम्यग्वर्ध्यासम् (ऋध्नोति) वर्धयति ॥

८ (आभूवन्) आ—अभूवन् (नक्षत्राणि) अमिनक्षियजि० (उ० ३ । १०५) णक्ष गतौ—अत्रन्। गतिशीलाः। अनश्वराः वा तारागणः (क्षियन्ति) नश्यन्ति

सोमेन यजन्ते तेषाम् एतानि ज्योतींषि पतन्ति इव यानि अमूनि नक्षत्राणि) जो लोग ही अमावस्या और पूर्णमासी के साथ यज्ञ न करके सोम के साथ यज्ञ करते हैं, उनके यह तेज गिरते से हैं जो वे नक्षत्र हैं। **(तत् यथा आह वै इदम् असि, अष्टावसानेन इह अवसास्यसि, न इह अवमास्यसि इति)** सो जैसा यह कहता है—यही तू सत्ता वाला है, तू आठ [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ योगाङ्गों—योग दर्शन २ । २९] से समाप्त होने वाले विधान के साथ यहां [यज्ञ को] तू समाप्त करेगा, तू यहाँ नहीं समाप्त होगा। **(एते ह एव एवम् अमुष्मान् लोकान् नो अनुद्यन्ते, नो अनुद्यन्ते ते एते प्रच्यवन्ते)** यह ही लोग इस प्रकार उन लोकों को नहीं नष्ट करते हैं, नहीं नष्ट करते हैं, वे ही यह लोग आगे को चलते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ:—जैसे दर्शपूर्णमासी से यज्ञ प्रारम्भ होकर दर्शपूर्णमासी पर समाप्त होने से सिद्ध होते हैं, वैसे ही दूसरे कार्य नियत समय पर आरम्भ होने और समाप्त होने से सिद्ध होते और यश देते हैं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९ ॥

यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात्ताँस्त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमास्तानग्नये दात्रेऽष्टाकपालान्निर्वपेत् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधति चरुं ये क्षोदिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्पशवो वा एतेऽतिरिच्यन्ते तानेवाप्नोति तानवरुन्धेऽग्निर्वै मध्यमस्य दाता इन्द्रो वै ज्येष्ठस्य प्रदाता यदेवेदं क्षुद्रं पशूनां तद्विष्णोः शिपिविष्टं तदेवाप्नोति पशूनेवावरुन्धे ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ चन्द्रमा के उदय होने के पीछे हवि देने का विधान ॥

(यस्य हविः निरुप्तं पुरस्तात् चन्द्रमाः अभ्युदियात्) जिस [यजमान] का हवि दिया गया होवे, [उससे] पहिले चन्द्रमा उदय होवे। **(तान् तण्डुलान् त्रेधा विभजेत्)** उन चावलों [चरु] को तीन प्रकार बाँटे। **(ये मध्यमाः तान् अष्टाक-पालान् दात्रे अग्नये निर्वपेत्)** जो बीच वाले [चावल] हैं, उन आठ पात्रों में रक्खे हुओं को दान करने वाले अग्नि के लिये देवे। **(ये स्थविष्ठाः तान् चरुं प्रदात्रे इन्द्राय**

(अवसानदर्शौ) समाप्तिदर्शकौ (असि) वर्तमानोऽसि (अष्टावसानेन) यमनिय-माद्यष्टयोगाङ्गैः अवसानं समाप्तिर्यस्य तेन यज्ञेन (अवसास्यसि) षो अन्त-कर्मणि—लट् । यज्ञं समाप्स्यसि । (अवसास्यसि) समाप्तो भविष्यसि (नो) निषेधे (अनुद्यन्ते) दो अवखण्डने—लट्, आत्मनेपदत्वम् । अनुदयन्ति । विनाशयन्ति (अमुष्मान्) अमून् (प्रच्यवन्ते) प्रकर्षेण गच्छन्ति—निघ० २ । १४ ॥

९ - (निरुप्तम्) प्रदत्तम् (अभ्युदियात्) सर्वत उद्गच्छेत् (विभजेत्) विभक्तान् कुर्यात् (अष्टाकपालान्) अष्टसु कपालेषु पात्रेषु संस्कृतान् (निर्वपेत्) विभागेन प्रदद्यात् (स्थविष्ठाः) स्थूल—इष्ठन् । अतिशयस्थूलाः (दधति) लेटि

दधति) जो अति मोटे हैं, उन चरु रूप को बहुत दान करने वाले इन्द्र [वायु] के लिये धरे। (ये क्षोदिष्ठाः तान् चरुं शिपिविष्टाय विष्णवे शृते) और जो अति सूक्ष्म हैं उन चरु रूप को प्रकाश में प्रविष्ट [व्याप्त] विष्णु [सूर्य] के लिये सेवे। (एते एव पशवः[1] अतिरिच्यन्ते तान् एव आप्नोति तान् एव अवरुन्धे) [इस कर्म से] यही पशु [सब जीव] बढ़ते हैं, वह उनको ही पाता है, उनकी रक्षा करता है (अग्निः वै मध्यमस्य दाता, इन्द्रः वै ज्येष्ठस्य प्रदाता) अग्नि ही मध्यम [बल] का देने वाला और इन्द्र [वायु] बहुत बड़े [बल] का देने वाला है। (यत् एव इदं क्षुद्रं पशूनां तत् विष्णोः शिपिविष्टं तत् एव आप्नोति पशून् एव अवरुन्धे) जो ही यह पशुओं में सूक्ष्म [कर्म] है, वह विष्णु [व्यापक सूर्य] का प्रकाश युक्त [कर्म] है, उसे ही वह पाता है और पशुओं [जीवों] की ही रक्षा करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ :—यथायोग्य विभाग करने से यज्ञ सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

कण्डिका १० ॥

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वा [2]अमावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूश्चन्द्रमा एव धाता च विधाता च यत् पूर्णोऽन्यां वसत् पूर्णोऽन्यान्तद्द मिथुनं यत् पश्यत्यन्यान्नान्यातन्मिथुनं यदमावास्यायाश्चन्द्रमा अधि-प्रजायते तन्मिथुनन्तस्मादेवास्मै मिथुनात् पशून् प्रजनयते ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ पूर्व और उत्तर पौर्णमासी और अमावास्या का विचार ॥

(या पूर्वा पौर्णमासी सा अनुमतिः) जो पहिली पौर्णमासी [पूरे चन्द्रमावाली तिथि वा पूर्णिमा] है वह अनुमति [एक कलाहीन चन्द्रमा वाली शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा] है। (या उत्तरा सा राका) जो पिछली [पौर्णमासी] है, वह राका [पूरे चन्द्रमा वाली तिथि पौर्णमासी] है। (या पूर्वा अमावास्या सा सिनीवाली) और वह जो पहिली अमावास्या [चन्द्र और सूर्य के एक साथ बसने की अर्थात् कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथि] है, वह सिनीवाली [कृष्णपक्ष में चतुर्दशी सहित अमावास्या जिसमें चन्द्रमा

रूपम् । दध्यात् (क्षोदिष्ठाः) क्षुद्र —इष्ठन् । अतिशयेन क्षुद्राः (शिपिविष्टाय) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) शिञ् निशाने छेदने—इन् पुकागमः । विष्लृ व्याप्तौ—क्तः शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मि. । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति—निरु० ५ । ८ । शिपिविष्टः पदनाम—निघ० ४ । २ । संयतरश्मये । व्याप्तप्रकाशाय (शृते) आर्षरूपम् । श्रयते । सेवते (अतिरिच्यन्ते) अधिकाः भवन्ति (अवरुन्धे) रक्षति (शिपिविष्टम्) व्याप्तप्रकाशं रूपम् ॥

१० - (पौर्णमासी) पूर्णमासादण् (वा० पा० ४ । २ । ३५) पूर्णमास—अण्, ङीप् । पूर्णोमासश्चन्द्रोऽस्यां वर्तते सा तिथिः । या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतीः, अनुमति-रनुमननात्—निरु० ११ । २९ । पूर्णिमा (अनुमतिः) अनु + मन पूजायां ज्ञाने च—

---

१. कण्डिका में आये "वा" पद का अर्थ भाष्य में छूटा है ॥

२. पू. सं. 'सा' इत्यधिकः पाठः ॥ सम्पा० ॥

एक कला वाला हो] है। (या उत्तरा सा कुहूः) जो पिछली [अमावास्या] है वह कुहू [जिस तिथि में चन्द्रमा की कोई कला न दीख पड़े] है। (चन्द्रमाः एव धाता च विधाता च) चन्द्रमा ही [इन तिथियों का] धाता और विधाता [धारण करने वाला और बनाने वाला] है। (यत् पूर्णः अन्यां वसत्, पूर्णः अन्यां तत् मिथुनम्) जो पूर्ण [चन्द्रमा] एक [तिथि अनुमति, शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा] में बसे, और जो दूसरी [राका, पूरे चन्द्रमा वाली तिथि] में [बसे], वह जोड़ा है। (यत् अन्यां पश्यति, न अन्यां, तद् मिथुनम्) जो वह [चन्द्रमा] एक [सिनीवाली, कृष्णपक्ष की एक कला वाली चतुर्दशी तिथि] में दीखे और दूसरी [कुहू अर्थात् कृष्णपक्ष की बिना चन्द्रमा वाली अमावास्या तिथि] में न [दीखे], वह जोड़ा है। (यत् अमावास्यायाः चन्द्रमाः अधि-प्रजायते तत् मिथुनम्) जो अमावास्या से [कुहू अर्थात् चन्द्रमा की सब कलाओं रहित तिथि से प्रतिपदा को] चन्द्रमा दिखाई दे, वह जोड़ा है। (तस्मात् मिथुनात् एव अस्मै पशून् प्रजनयते) इस जोड़े से ही इस [मनुष्य] के लिए पशुओं [जीवों] को वह [परमेश्वर] उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

भावार्थ :—विद्वान् लोग ज्योतिष शास्त्र से यज्ञ के लिये पौर्णमासी और अमावस के जोड़े को जानें, क्योंकि जोड़े से ही सृष्टि उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

कण्डिका ११ ॥

न द्वे यजेत यत् पूर्वया सम्प्रति यजेतोत्तरया छं वषट् कुर्य्याद्यदुत्तरया सम्प्रति यजेत पूर्वया छं वषट् कुर्य्यान्नेष्टिर्भवति न यज्ञस्तदनुहोतामुख्यमुपगल्भो [1]जायते, एकामेव यजेत प्रगल्भो ह वै जायते न [2]दृत्यन्त द्वे यजेत, यज्ञमुखमेव पूर्वयाऽऽलभते यजत उत्तरया देवता एवं पूर्वयाप्नोतीन्द्रियमुत्तरया देवलोकमेव पूर्वया-

---

क्तिन्। एककलाहीनचन्द्रवती शुक्लचतुर्दशीयुक्तपूर्णिमा तिथिः (राका) कृदाधारार्चि-कलिभ्यः कः (उ० ३ । ४०) रा दाने—कः प्रत्ययः, टाप्। योत्तरा सा राका—निरु० ११ । २६ । राका रातेर्दानकर्मणः—निरु० ११ । ३० । सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी (अमावास्या) अमा+वस निवासे—ण्यत्, टाप्। अमा सह वसतः चन्द्रसूर्य्यौ यस्यां सा। कृष्णपक्षान्ततिथिः। अमावसी (सिनीवाली) इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३ । २) षिञ् बन्धने—नक्, ङीप्, वल संवरणे यद्वा वल जीवने दाने च—अण् ङीप्। या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली, सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती, वालिनीवा वाले नैवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा—निरु० ११ । ३१ । चतुर्दशीयुक्ताऽमावास्या। दृष्टचन्द्रकलायुक्तामावास्या। (कुहूः) मृगय्वादयश्च (उ० १ । ३७) कुह विस्मापने—कुः, ऊङ्। योत्तरा [अमावास्या] सा कुहूः—निरु० ११ । ३१ कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती ह्यूयत इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा—निरु० ११ । ३२ । नष्टचन्द्रकलाऽमावास्या (वसत्) लेटि रूपम्। वसेत् ॥

---

१. पू. सं. "अजायत" "पूर्वम्" इति पाठः ॥
२. ज. सं. अत्र 'अनादृत्य' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

ऽवरुन्धे मनुष्यलोकमुत्तरया भूयसो यज्ञक्रतूनामुपैत्येषा ह वै सुमनानामेष्टिर्ये मध्ये याने पश्चाच्चन्द्रमा अभ्युदियादस्मा अस्मिन् लोक आर्ध्नुकं भवति ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ दोनों पौर्णमासी और अमावस में से एक एक ही यज्ञ के आरम्भ और समाप्ति के लिये रहे ॥

(द्वे न यजेत) दो [तिथियां] में न यज्ञ करे। (यत् पूर्वया सम्प्रति यजेत उत्तरया छं वषट् कुर्यात्) जो पहिली [तिथि अनुमति--क० १०] से अब यज्ञ करे, पिछली [तिथि राका] से छं वषट् [शान्तिकरण और वषट्कार] करे। (यत् उत्तरया सम्प्रति यजेत पूर्वया छं वषट् कुर्यात्) जो पिछली [तिथि राका] से अब यज्ञ करे, पहिली [तिथि अनुमति] से छं वषट् [शान्तिकरण और वषट्कार] करे। (तत् अनु न इष्टिः भवति न यज्ञः) उसके पीछे न इष्टि होती है न यज्ञ। (होता मुख्यम् उपगल्भः जायते) होता [पीछे यज्ञ करने से] मुख्य करके निरुत्साही हो जाता है। (एकाम् एव यजेत, प्रगल्भः ह वै जायते) वह एक [तिथि] में ही यज्ञ करे, वह उत्साही ही होता है। (दृत्यन्त द्वे न यजेत) भयस्वभावी होकर दो [तिथियों] में न यज्ञ करे। (यजतः यज्ञमुखम् एव पूर्वया आलभते, उत्तरया देवताः) यजमान यज्ञमुख को ही पहिली [तिथि] से प्राप्त करता है और पिछली से देवताओं [दिव्यगुणों] को। (एवं पूर्वया इन्द्रियम् आप्नोति, उत्तरया देवलोकम्) इस प्रकार पहिली [तिथि] से इन्द्रपन [परम ऐश्वर्य] और पिछली से देवलोक [विद्वानों का स्थान] पाता है। (एव पूर्वया मनुष्यलोकम् अवरुन्धे उत्तरया यज्ञक्रतूनां भूयसः उपैति) इस प्रकार पहिली [तिथि] से मनुष्यलोक [मननशीलों का स्थान] पाता है और पिछली से यज्ञ कर्मों के बीच बहुत से [पदार्थों को] पाता है। (एषा ह वै सुमनानामा इष्टिः) यह ही सुमन [सुबोधा] नाम वाली इष्टि है। (ये याने मध्ये पश्चात् चन्द्रमाः अभ्युदियात्, अस्मै अस्मिन् लोके आर्ध्नुकं भवति) जो यज्ञ प्रवृत्ति के मध्य होने पर

११—(सम्प्रति) इदानीम्। तत्कालम् (छं वषट्) शं पूर्वकं वषट्कारम् (तदनु) तत्पश्चात् (मुख्यम्) मुख्येन (उपगल्भः) उप हीने + गल्भ धाष्टर्ये प्रागल्भे च--अच्। निरुत्साही (प्रगल्भः) उत्साही (दृत्यन्त) दृणातेर्ह्रस्वः (उ० ४। १८४) दृ भये--तिप्रत्ययः। हसिमृग्रिण्वामिदमि० (उ० ३। ८६) अम गतौ--तन्। विभक्तिलोपः। भयस्वभावः (आलभते) गृह्णाति। स्वीकरोति (यजतः) भृमृदृशियजि० (उ० ३। ११०) यजतेः--अतच्। ऋत्विक्। यजमानः (इन्द्रियम्) इन्द्रत्वम्। ऐश्वर्य्यम्। धनम्--निघ० २। १० (देवलोकम्) विदुषां स्थानम् (एव) एवम् (मनुष्यलोकम्) मननशीलानां स्थानम् (भूयसः) बहु--ईयसुन्। वहुतरान् पदार्थान् (सुमनानामा) सु + मन ज्ञाने—अप्, टाप् + नामन्। सुबोधा इति नामयुक्ता (ये) यत् (मध्ये) यज्ञमध्ये (याने) गमने। यज्ञप्रवृत्तौ (अस्मै) यजमानाय (आर्ध्नुकम्) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः (पा० ३। २। १४०) आ + ऋधु वृद्धौ—क्नुः स्वार्थे—कन्। प्रवर्धनम् ॥

पीछे चन्द्रमा उदय होवे, इस [यजमान] के लिये इस लोक में बहुत बढ़ती होती है ॥ ११ ॥

भावार्थः--यज्ञ का प्रारम्भ और समाप्ति यथाविधि होनी चाहिये ॥ ११ ॥

कण्डिका १२ ॥

अग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दर्शपौर्णमासावारिप्समाणोऽग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुर्यज्ञो देवताश्चैव यज्ञं चारभत ऋद्ध्या ऋध्नोत्येवोभौ सहारम्भावित्याहुरुदिनु शृङ्गे श्रितो मुच्यत इति दर्शो वा एतयोः पूर्वः पौर्णमास उत्तरोऽथ यत् परस्तात्पौर्णमास आरभ्यते तद्यथा पूर्वं क्रियते तद्यत्पौर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्सरस्वते द्वादशकपालममावास्या वै सरस्वती पौर्णमासः सरस्वानित्युभावेवैतौ सहारभत ऋध्या ऋध्नोत्येव ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ दर्शपौर्णमास यज्ञ पर अग्नि और विष्णु तथा सरस्वती और सरस्वान् को चरु ॥

(दर्शपौर्णमासौ आरिप्समाणः आग्नावैष्णवम् एकादशकपालं निर्वपेत्) अमावास्या और पूर्णमासी के यज्ञ को आरम्भ करना चाहने वाला पुरुष अग्नि और विष्णु देवता वाले [पार्थिव अग्नि और सूर्य की किरणों को शुद्ध करने वाले] ग्यारह पात्रों में धरे हुये [चरु] को होम करे । (अग्निः वै सर्वाः देवताः विष्णुः यज्ञः) [क्योंकि] अग्नि ही सब देवताओं [का रूप] है ओर विष्णु यज्ञ है । (देवताः च एव यज्ञं च आरभते, ऋध्या एव ऋध्नोति) वह देवताओं को ही और यज्ञ को आरम्भ करता है और समृद्धि के साथ बढ़ता है । (उभौ सहारम्भौ इति आहुः) दोनों [अग्नि और विष्णु] साथ साथ आरम्भ होने वाले होते हैं--ऐसा कहते हैं । (उदिनु, शृङ्गे श्रितः मुच्यते इति) [इसलिये] तू ऊँचा चल, दोनों सींगों का आश्रय लिये हुये [बैल विघ्न से] छुट जाता है । (एतयोः दर्शः वै पूर्वः पौर्णमासः उत्तरः) इन दोनों में अमावास्या यज्ञ पहिले और पूर्णमासी यज्ञ पीछे है । (अथ यत् परस्तात् पौर्णमासः आरभ्यते तत् यथा पूर्वं क्रियते) फिर जब पौर्णमास यज्ञ पीछे से आरम्भ किया जाता है, तब पहिले के समान [कर्म] किया जाता है । (तत् यत् पौर्णमासम् आरभमाणः द्वादशकपालं चरुं सरस्वत्यै सरस्वते निर्वपेत्) सो पौर्णमास यज्ञ आरम्भ करता हुआ पुरुष बारह पात्रों में धरे हुये चरु को सरस्वती [गतिशीला] के लिये और सरस्वान् [गतिशील] के लिये होमे । (अमावास्या वै सरस्वती, पौर्णमासः सरस्वान् इति उभौ एव एतौ

१२—(अग्नावैष्णवम्) अग्निविष्णुदेवताकम् । अग्निसूर्यदेवताकम् (निर्वपेत्) जुहुयात् (आरिप्समाणः) आ + रभ राभस्ये—सन्—शानच् । सनि मीमाघुरभलभ० (पा० ७ । ४ । ५४) सनि परतः इस् इत्यादेशः । आरब्धुमिच्छन् (ऋद्ध्या) सम्पत्त्या (ऋध्नोति) वर्धते (उदिनु) उत् + इण् गतौ—लोट्, आर्षरूपम् । उदिहि । उद्गच्छ (श्रितः) आश्रितः (मुच्यते) मुक्तो बन्धनशून्यो भवति (परस्तात्) पश्चात् (सरस्वत्यै) गतिशीलायै (सरस्वते) गतिशीलाय ॥

सह आरभते, ऋध्या एव ऋध्नोति) अमावास्या [इष्टि] सरस्वती और पौर्णमास [यज्ञ] सरस्वान् है, इसलिए इन दोनों को ही साथ साथ वह आरम्भ करता है और समृद्धि से ही वह बढ़ता है ॥ १२ ॥

भावार्थ :—मनुष्य दर्शेष्टि और पूर्णमास यज्ञ यथाविधि करके पदार्थों की शुद्धि से यथावत् लाभ उठावें ॥ १२ ॥

कण्डिका १३ ॥

अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्य प्रज्ञातेष्टिरिति पद्यते बहिष्पथं वा एष एति यस्य प्रज्ञातेष्टिरिति पद्यते अग्निर्वै देवानां पथिकृत्तमेव भागधेयेनोपासरत्स एनं पन्थानमपिनयत्यनड्गा दक्षिणा स हि पन्थानमभिव इति ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ मार्गकर्ता अग्नि के लिए अष्टाकपाल चरु ॥

(पथिकृते अग्नये अष्टाकपालं निर्वपेत्, यस्य प्रज्ञाता इष्टिः पद्यते इति) मार्ग करने वाले अग्नि के लिए आठ पात्रों में धरे हुए [चरु] को वह पुरुष होमे, जिसकी अच्छे प्रकार जानी हुई इष्टि चले [प्रवृत्त हो] । (एषः वै बहिष्पथम् एति यस्य प्रज्ञाता इष्टिः पद्यते इति) वह ही बाहिर वाले मार्ग को पाता है जिसकी अच्छी प्रकार जानी हुई इष्टि चलती है । (अग्निः वै देवानां पथिकृत्, तम् एव भागधेयेन उपासरत्) अग्नि ही देवों का मार्ग करने वाला है, उसको ही भाग दान से वह [यजमान] प्राप्त करे । (सः एनं पन्थानम् अपिनयति) वह [अग्नि] इस [यजमान] को मार्ग से ही ले चलता है । (अनड्गा दक्षिणा) बिना अङ्गों वाली [सम्पूर्ण] दक्षिणा [प्रतिष्ठा] दक्षिणा है ? [दक्षिणा के विषय में क० ५ भी देखो] । (सः हि पन्थानम् अभिवः इति) वह ही [यजमान] मार्ग को सब ओर से स्वीकार करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ :—जैसे यज्ञ में अग्नि की स्थापना मुख्य कर्म है, वैसे ही शरीर में अग्नि वा बल की स्थिति आवश्यक है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४ ॥

अग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालं निर्वपेद् य आहिताग्निः [1]सन् प्रवसेद् बहु वा एष व्रतमतिपातयति य आहिताग्निः सन् प्रवसति व्रत्येऽहनि स्त्रियं वोपैति मांसं वाश्नात्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिरग्निमेतस्य व्रतमगात्तस्मादेतस्य व्रतमालम्भयते ॥१४॥

कण्डिका १४ ॥ व्रतपालक अग्नि के लिये अष्टाकपाल चरु, और व्रत में स्त्रीगमन और मांसभक्षण का निषेध ॥

(व्रतपतये अग्नये अष्टाकपालं निर्वपेत् यः आहिताग्निः सन् प्रवसेत्)

१३—(पथिकृते) मार्गकर्त्रे । मार्गदर्शकाय (प्रज्ञाता) प्रकर्षेण ज्ञाता (पद्यते) गच्छति । प्रवर्तते (भागधेयेन) भागदानेन (उपासरत्) उपगच्छति । प्राप्नोति (अनड्गा) अङ्गरहिता । सम्पूर्णा (अभिवः) अभिवृणोति । स्वीकरोति ॥

---

१. पू. सं. 'सम्प्रवसेत्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

व्रतपालक अग्नि के लिए आठ पात्रों में धरे हुए [चरु] को वह होमे, जो पुरुष [यज्ञ के लिए] अग्नि स्थापित किये हुये होकर विदेश में बसे । (एषः वै बहुव्रतम् अतिपातयति, यः आहिताग्निः सन् प्रवसति वा व्रत्ये अहनि स्त्रियम् उपैति वा मांसम् अश्नाति) वह पुरुष आहिताग्नि होते हुये भी बहुत व्रत को नष्ट कर देता है, जो अग्नि स्थापित किये हुये विदेश में बसे अथवा व्रत योग्य दिन में स्त्री के पास जावे अथवा मांस [रोचक वा उत्तेजक पदार्थ] खावे । (अग्निः वै देवानां व्रतपतिः, अग्निम् एतस्य व्रतम् अगात्) अग्नि ही देवों [विद्वानों] का व्रतपालक है, अग्नि को इस [यजमान] का व्रत प्राप्त होता है । (तस्मात् एतस्य व्रतम् आलम्भयते) इसलिये वह इस [अग्नि] के व्रत को स्पर्श करता है [स्वीकार करता है] ॥ १४ ॥

भावार्थ :— विदेश में बसता हुआ भी यज्ञ करता रहे और यज्ञ के दिनों में यजमान वह कर्म न करे जिससे श्रम वा काम वा क्रोध उत्पन्न होवे ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ ॥

अग्नये व्रतभृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्य आहिताग्निरार्त्तिजमश्रु कुर्य्यादानीतो वा एष देवानां य आहिताग्निस्तस्मादेतेनाश्रु न कर्त्तव्यं न हि देवा अश्रु कुर्वन्त्यग्निर्वै देवानां व्रतभृदग्निमेतस्य व्रतमगात्तस्मादेतस्य व्रतमालम्भयते ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ व्रतपोषक अग्नि के लिए अष्टाकपाल चरु ॥

(व्रतभृते अग्नये अष्टाकपालं निर्वपेत् यः आहिताग्निः आर्तिजम् अश्रु कुर्यात्) व्रतपोषक अग्नि के लिये आठ कपालों में धरे हुये [चरु] को वह पुरुष होमे, जो अग्नि स्थापित किये हुये होकर पीड़ा मे उत्पन्न आँसू को बहावे । (एषः वै देवानाम् आनीतः यः आहिताग्निः) वह पुरुष ही देवों [विद्वानों] का लाया हुआ है जो अग्नि स्थापित किये हुये है । (तस्मात् एतेन अश्रु न कर्तव्यं हि देवाः अश्रु न कुर्वन्ति) इसलिये यह [यजमान] आँसू न बहावे, क्योंकि देवता लोग आँसू नहीं बहाते हैं । (अग्निः वै देवानां व्रतभृत्, अग्निम् एतस्य व्रतम् अगात्) अग्नि ही देवों [विद्वानों] का व्रतपोषक है, अग्नि को इस [यजमान] का व्रत प्राप्त होता है । (तस्मात् एतस्य व्रतम् आलम्भयते) इस लिए वह इस [अग्नि] के व्रत को स्पर्श करता है [स्वीकार करता है] ॥ १५ ॥

१४—(व्रतपतये) व्रतपालकाय (आहिताग्निः) यज्ञाय स्थापिताग्निः (प्रवसेत्) विदेशे वासं कुर्यात् (अतिपातयति) विनाशयति (व्रत्ये) व्रतयोग्ये (मांसम्) मनेर्दीर्घश्च (उ० ३ । ६४) मन ज्ञाने—सप्रत्ययो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा—निरु० ४ । ३ । रोचकं समुत्तेजकं वा पदार्थम् (अश्नाति) भक्षयति (अगात्) इण् गतौ—लुङ् । अगमत् । प्रापत् (आलम्भयते) स्पृशति । स्वीकरोति ॥

१५—(व्रतभृते) व्रतपोषकाय (आर्तिजम्) पीडाजनितम् (अश्रु) जत्वादयश्च (उ० ४ । १०२) अशूङ् व्याप्तौ—रुप्रत्ययः । अश्नुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय । नेत्रजलम् ॥

भावार्थ :—महाकष्ट होने पर भी मनुष्य यज्ञ करता रहे ॥ १५ ॥

विशेष :—इस कण्डिका का मिलान करो—ऐतरेय ब्राह्मण । ७ । ८ ॥

कण्डिका १६ ॥

ऐन्द्राग्नमुस्रमनुसृष्टमालभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेदिन्द्रियेण वा एष वीर्य्येण व्यृध्यते यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबति, यदैन्द्रं इन्द्र इन्द्रियेणैवैनं तद्वीर्य्येण समर्द्धयति देवताभिर्वा एष वीर्य्येण व्यृध्यते यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबति, यदाग्नेयोऽग्निर्वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनन्तद् देवताभिः समर्द्धयत्यनुसृष्टो भवत्यनुसृष्ट इव ह्येतस्य सोमपीथो यस्य पिता पितामह सोमं न पिबति तस्मादेष एव तस्या देवतायाः पशूनां समृद्धः ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ जिसके पिता पितामह ने सोमपान नहीं किया, वह सोमयाग करे ॥

(ऐन्द्राग्नम् अनुसृष्टम् उस्रम् आलभेत यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्) इन्द्र और अग्नि देवता वाले [बिजुली और अग्नि के स्वभाव वाले], छूटे हुये बैल को वह [यजमान] छूये, जिसका पिता और पितामह सोमरस न पीवे। (इन्द्रियेण वीर्येण वै एषः व्यृध्यते, यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबति) इन्द्रिय [ऐश्वर्य] से और वीर्य [वीरत्व] से निश्चय करके वह नष्ट होता है, जिसका पिता [वा] पितामह सोमरस नहीं पीता है। (यत् तत् इन्द्रः ऐन्द्रम् एनम् इन्द्रियेण वीर्येण समर्धयति) क्योंकि उससे इन्द्र [परमेश्वर] इन्द्र देवता वाले इस [यजमान] को इन्द्रपन और वीरत्व के साथ बढ़ाता है। (देवताभिः वै एषः वीर्येण व्यृध्यते, यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबति) देवताओं करके अवश्य यह [यजमान] वीर्य से नष्ट किया जाता है जिसका पिता [वा] पितामह सोमरम नहीं पीता है। (यत् तत् अग्निः वै सर्वाः देवताः आग्नेयः एनं सर्वाभिः एव देवताभिः समर्धयति) क्योंकि उससे अग्नि [परमेश्वर] सभी देवताओं रूप हो करके अग्नि देवता वाले इस [यजमान] को बढ़ाता है। (अनुसृष्टः भवति, अनुसृष्टः इव हि एतस्य सोमपीथः यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबति) वह [यजमान श्रेष्ठों करके] छोड़ा गया होता है और उस [यजमान] का सोमपान यज्ञ भी [श्रेष्ठों करके] छोड़ा गया अवश्य होता है जिसके पिता [वा] पितामह [दादा] सोमरस नहीं पीता है। (तस्मात् एषः एव तस्याः देवतायाः पशूनां समृद्धः) इसलिये यह [यजमान] उस देवता के पशुओं [जीवों] में समृद्ध होता है ॥ १६ ॥

१६—(उस्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २ । १३) वस निवासे आच्छादने च—रक्। उस्रम्। वृषभम् (व्यृध्यते) ताड्यते। छिद्यते (आग्नेयः) आग्नेयम्। अग्निदेवताकम् (अनुसृष्टः) निर्मुक्तः (सोमपीथः) निशीथगोपीथावगथाः (उ० २ । ९) सोम+पा पाने—थक्। सोमपानम् ॥

भावार्थ :—विद्वान् लोग उस मनुष्य का आदर करते हैं, जो सोमपान कराकर अपने बड़े बूढ़ों को तृप्त करता है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७ ॥

देवा वा ओषधीषु पक्वास्वजिमयुः स इन्द्रो वेदाग्निर्वा वेमाः प्रथम उज्जेष्यतीति सोऽब्रवीद्यतरो नौ पूर्व उज्जयात्तं नौ सहेति ता अग्निरुदजयत्तदिन्द्रो[1]नूदजयत् स एष ऐन्द्राग्नः सन्नाग्नेन्द्र एका वै तर्हि यवस्य श्रुष्टिरासीदेका व्रीहेरेका माषस्यैका तिलस्य तद्विश्वेदेवा अब्रुवन् वयं वा एतत् प्रथयिष्यामो भागो नोऽस्त्विति तद्भूम एव वैश्वदेवोऽथो प्रथयत्येतेनैव पयसि स्याद्वैश्वदेवत्वाय वैश्वदेवं हि पयोऽथेमौ अब्रूतां न वा ऋत आवाभ्यामेवैतद्यूयं प्रथयत मयि प्रतिष्ठितमसौ वृष्टचा पचति नैतदितोऽभ्युज्जेष्यतीति भागो नावस्त्विति ताभ्यां वा एष भागः क्रियत उज्जित्या एवाथो प्रतिष्ठित्या एव यो द्यावापृथिवीयः सौमीर्वा ओषधी सोम ओषधीनामधिराजो याश्च ग्राम्या याश्चारण्यास्तासामेष उद्धारो यच्छ्यामाको यच्छ्यामाकः सौम्यस्तमेव भागिनं कृणुते यदकृत्वाऽऽग्रयणं नवस्याश्नीयाद् देवानां भागं प्रतिक्लृप्तमद्यात्संवत्सराद्वा एतदधिप्रजायते यदाग्रयणं संवत्सरं वै ब्रह्मा तस्माद् ब्रह्मा पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमेष्वावपेतैकहायनो दक्षिणा स हि संवत्सरस्य प्रतिमा रेत एव ह्येषो प्रजातः प्रजात्यै ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ ओषधियों [अन्न आदि पदार्थों] के पकने पर इन्द्र, अग्नि, विश्वे देवा और सोम के लिए चरु के विषय में कथा ॥

(देवाः वै ओषधीषु पक्वासु अजिमयुः) प्रसिद्ध है देवता ओषधियों के पकने पर जीमते हैं। (सः वेद इन्द्रः वा अग्निः वा इमाः प्रथमः उज्जेष्यति इति) वह [यजमान] जाने—कि इन्द्र अथवा अग्नि इन [ओषधियों] को पहिले जीतेगा। (सः अब्रवीद् यतरः नौ पूर्वः उज्जयात् तं नौ सह इति) वह [इन्द्र वा अग्नि] बोला—जो कोई हम दोनों में से पहिले जीते उसको हम दोनों में से [हे इन्द्र वा अग्नि] तू सह। (ताः अग्निः उदजयत् तद् इन्द्रः अनूदजयत्) उन [ओषधियों] को अग्नि ने जीता, उनको इन्द्र ने जीता। (सः एषः ऐन्द्राग्नः सन् आग्नेन्द्रः) सो यह [चरु] इन्द्र अग्नि का होता हुआ अग्नि और इन्द्र का है। (तर्हि वै एका श्रुष्टिः यवस्य आसीत्, एका व्रीहेः, एका माषस्य, एका तिलस्य) तब ही जौ का एक विभाग होता है, एक चावल का, एक उड़द का, एक तिल का। (तद् विश्वेदेवाः अब्रुवन् वयं वै एतत् प्रथयिष्यामः नः भागः अस्तु इति) तब विश्वेदेवा बोले—हम ही इस [यज्ञकर्म] को

१७—(अजिमयुः) जिमु अदने—लुङ्। जेमन्ति। भक्षयन्ति (सह) सहनं कुरु (श्रुष्टिः) श्रु गतौ श्रवणे च—क्तिन्, सुडागमश्च। प्रापणीया। आहुतिः। विभागः। श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति—निरु० ६। १२। (प्रथयि-

१. पू. सं. 'नोदजयत' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

फैलावेंगे, हमारा भाग होवे। (तत् भूमः एव वैश्वदेवः) सो विद्यमान चरु ही विश्वेदेवों का है। (अथो एतेन एव पयसि प्रथयति, वैश्वदेवत्वाय वैश्वदेवं हि पयः स्यात्) फिर इससे ही अन्न में वह [यजमान] फैलता है, विश्वेदेवों के लिये विश्वेदेवों वाला अन्न होवे। (अथ इमौ अब्रूताम् आवाभ्याम् ऋते एतत् एव न वै) फिर यह दोनों [देवता इन्द्र और अग्नि] बोले—हम दोनों के बिना यह [अन्न] नहीं होता। (यूयं प्रथयत मयि प्रतिष्ठितम् एतत् असौ वृष्टचा न पचति, इतः अभ्युज्जेष्यति इति, नौ भागः अस्तु इति) तुम प्रसिद्ध करते हो—मुझमें ठहरे हुये इस [अन्न] को वह [ईश्वर] वृष्टि से अब पकाता है, इससे वह [इन्द्र वा अग्नि] जीतेगा, इससे हम दोनों का भाग होवे। (ताभ्यां वै एषः भागः उज्जित्यै एव अथो प्रतिष्ठित्यै एव क्रियते यः द्यावापृथिवीयः) उन दोनों [इन्द्र और अग्नि] के लिये ही यह भाग जीत के लिये ही और प्रतिष्ठा के लिये ही किया जाता है, जो [भाग] सूर्य और पृथिवी वाला है। (सौमीः वै ओषधीः) सोम देवता वाली ही ओषधियां [अन्न, सोमलता आदि] हैं। (सोमः ओषधीनाम् अधिराजः याः च ग्राम्याः याः च आरण्याः) सोम ओषधियों का राजा है जो गांव में उपजने वाली और जो वन में उपजने वाली हैं। (तासाम् एषः उद्धारः यत् श्यामाकः) उन [ओषधियों] का यह उद्धार [उठाने का व्यवहार] है जो समा [अन्न विशेष का यज्ञ] है। (यत् श्यामाकः सौम्यः तम् एव भागिनं कृणुते) जो समा [छोटे कणों वाला अन्न सब ओषधियों का स्थानापन्न] सोम देवता वाला है, उस [सोम] को ही [उस समा का] भागी वह [यजमान] करता है। (यत् आग्रयणम् अकृत्वा नवस्य अश्नीयात्, देवानां प्रतिक्लृप्तं भागम् अद्यात्) जो वह [यजमान] अग्रयण [नवे अन्न का यज्ञ] न करके नवे [अन्न] का भोजन करे, वह देवताओं के प्रत्यक्ष उपस्थित भाग को खा लेवे। (संवत्सरात् वै एतत् अधिप्रजायते यत् आग्रयणम्) संवत्सर के आरम्भ से ही यह प्रकट होता है जो आग्रयण [नवे यज्ञ का अन्न है]। (संवत्सरं वै ब्रह्मा, तस्मात् ब्रह्मा पुरस्ताद्धोमसंस्थितहोमेषु आवपेत) संवत्सर ही ब्रह्मा [बढ़ा हुआ] है, इसलिये ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] पुरस्तात्—होम और संस्थित—होमों में [इन अन्नों को] होमे। (एकहायनः दक्षिणाः, सः हि सवत्सरस्य प्रतिमा रेतः एव हि एषः प्रजात्यै प्रजातः) एकहायन [एक वर्ष वाला यज्ञ] दक्षिणा [नाम

ष्यामः) विस्तारयिष्यामः (भूमः) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् (उ० १। १४५) भू सत्तायाम्—मक्। विद्यमानपदार्थः। चरुः (पयसि) अन्ने—निघ० २।७। (वैश्वदेवत्वाय) विश्वेभ्यो देवेभ्यः (ऋते) विना (न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१। (ग्राम्याः) ग्रामाद् यखञौ (पा० ४।२।९४) ग्राम—यः। ग्रामे भवाः। (आरण्याः) अरण्याण्णो वक्तव्यः। (वा० पा० ४।२।१०४) अरण्य—णः। वनजाताः (उद्धारः) उत्+हृञ् हरणे—घञ्। उत्थापनम् (श्यामाकः) पिवाकादयश्च (उ० ४।१५) श्यैङ् गतौ—आकः, मुगागमश्च। व्रीहिभेदः (आग्रयणम्) अग्र+अयन, पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वदीर्घौ। नवशस्येष्टिः (नवस्य) नवीनान्नम् (प्रतिक्लृप्तम्) प्रस्तुतम् (सवत्सरम्) संवत्सरः (आवपेत) निर्वपेत। जुहुयात्

इष्टि] है, वह [यज्ञ] ही संवत्सर की मूर्ति है, वीर्य ही यह [यज्ञ] प्रजा की उत्पत्ति के लिये उत्पन्न हुआ है ॥ १७ ॥

भावार्थ:—मनुष्य नवीन अन्न से यज्ञ करने से अपना बल वीर्य बढ़ाते हैं ॥ १७ ॥

विशेष:—बल और तेज ही इन्द्र और अग्नि हैं—कण्डिका २२ ॥

कण्डिका १८ ॥

अथ हैतदप्रतिरथमिन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणावित्येतेन ह वा इन्द्रोऽसुरानप्रत्यजयदप्रति ह भवत्येतेन यजमानो भ्रातृव्यं जयति सङ्ग्रामे जुहुयादप्रति ह भवत्येतेन ह वै भरद्वाजः प्रतर्दनं समनह्यत् स राष्ट्र्यभवद्य कामयेत राष्ट्री स्यादिति तमेतेन सन्नह्येद्राष्ट्री ह भवत्येतेन ह वा इन्द्रो विराजमभ्यजयद्दशैतान्वाह दशाक्षरा विराड् वैराजं वा एतेन यजमानो भ्रातृव्यं वृङ्क्ते तदु हैक एकादशान्बाहुरेकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभो वज्रो वज्रेणैवैतद्रक्षांस्यपसेधति दक्षिणतो वै देवानां यज्ञं रक्षांस्यजिघांसंस्तान्यप्रतिरथेनापाघ्नत, तस्माद् ब्रह्मा अप्रतिरथं जपन्नेति। यद्ब्रह्मा अप्रतिरथं जपन्नेति, यज्ञस्याभिजित्यै रक्षसामपहत्यै रक्षसामपहत्यै ॥ १८ ॥

कण्डिका १८ ॥ अप्रतिरथ नाम सूक्त के प्रयोग की कथा ॥

[अप्रतिरथ सूक्त, युद्ध यात्रा का राग, अथर्ववेद काण्ड १९ में १३ वां सूक्त १ मन्त्र का है, उसमें युद्ध विद्या का वर्णन है।]

(अथ ह एतत् अप्रतिरथम् इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ इति) अब यह अप्रतिरथ सूक्त [युद्ध यात्रा का राग] है—[इन्द्रस्य बाहू ··] इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् सेनापति] के दोनों भुजायें पुष्ट और वीर्य युक्त हों······अथर्व० १९। १३। १। (एतेन ह वै इन्द्रः अप्रति असुरान् अजयत्) इस [सूक्त के प्रयोग] से ही इन्द्र ने बेरोक होकर वैरियों को जीता है। (एतेन यजमानः अप्रति ह भवति भ्रातृव्यं जयति) इस [युद्ध राग] से यजमान बेरोक ही होता है और वैरी को जीतता है। (सङ्ग्रामे जुहुयात्, अप्रति ह भवति) वह संग्राम में यज्ञ करे [सूक्त की शिक्षा के अनुसार युद्ध करे], वह बेरोक होता है। (एतेन ह वै भरद्वाजः प्रतर्दनं समनह्यत् स राष्ट्री

(एकहायनः) एकवर्षीयो यागः (दक्षिणा) दक्षिणानामेष्टिः (प्रतिमा) मूर्तिः (प्रजात्यै) प्रजननाय ॥

१८—(अप्रतिरथम्) प्रतिपक्षरहितयुद्धयात्रा—इत्येतन्नामकं सूक्तम्—अथर्व० १९। १३। १ (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सेनापतेः (बाहू) भुजौ (स्थविरौ) अजिरशिशिरशिथिल० (उ० १। ५३) ष्ठा गतिनिवृत्तौ—किरच् वुगागमः। स्थूलौ। पुष्टौ (वृषाणौ) वीर्ययुक्तौ (असुरान्) राक्षसान् (अप्रति) प्रतिपक्षरहितः (भरद्वाजः) भरत्—वाजः। भृञ् धारणपोषणयोः—शतृ + वज गतौ—घञ्। वाजः, अन्नम्—निघ० २। ७। बलम्—निघ० २। ९।

अभवत्) इस [सूक्त] से ही अवश्य भरद्वाज [अन्न वा बल वा विज्ञान के धारण करने वाले पुरुष इन्द्र] ने शस्त्रों को सजाया है, और वह राज्य वाला हुआ है। (यं कामयेत राष्ट्री स्यात् इति) वह [मनुष्य] जो पदार्थ चाहे, वह राजा होवे। (तम् एतेन सन्नह्येत्, राष्ट्री ह भवति) वह [ब्रह्मा] उस [यजमान] को इस [सूक्त] से संनद्ध करे, वह राजा होवे। (एतेन ह वै इन्द्रः विराजम् अभ्यजयत्) इससे ही इन्द्र ने विविध प्रकार राज्य जीता है। (दश एतान् उ आह, दशाक्षरा विराट्, यजमानः एतेन वै वैराजं भ्रातृव्यं वृङ्क्ते) वह इन दश [मन्त्रों] को ही बोलता है, दश अक्षर वाला विराट् छन्द है, यजमान इससे ही विविध राज में उत्पन्न बैरी को रोकता है। (तत् उ ह एके एकादश अनु आह, एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभः वज्रः, वज्रेण एव एतत् रक्षांसि अपसेधति) फिर कोई कोई ग्यारह ही [मन्त्र] बोलते हैं, ग्यारह अक्षर वाला त्रिष्टुप् छन्द है, त्रिष्टुप् [तीन जोड़ अर्थात् बांस, सीङ शल्य अथवा त्रिशूल] वाला वज्र है, वज्र से ही यह [इन्द्र सेनापति] राक्षसों को हटा देता है। (दक्षिणतः वै देवानां यज्ञम् रक्षांसि अजिघांसन्, तानि अप्रतिरथेन अपाघ्नत) दक्षिण ओर से [उपलक्षण से सब दिशाओं से] ही देवों के यज्ञ को राक्षस नष्ट करना चाहते हैं, उनको वह [सेनापति] अप्रतिरथ [बेरोक युद्ध यात्रा] से मार गिराता है। (तस्मात् ब्रह्मा अप्रतिरथं जपन् एति) इसलिये ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला] अप्रतिरथ सूक्त को जपता हुआ [विचारता हुआ] चलता है। (यत् ब्रह्मा अप्रतिरथ जपन् एति, यज्ञस्य अभिजित्यै रक्षसाम् आहत्यै रक्षसाम् अपहत्यै) जो कि ब्रह्मा [चतुर्मुखी सेनापति] अप्रतिरथ सूक्त को जपता हुआ चलता है वह [यत्न] यज्ञ की पूरी जीत के लिये और राक्षसों के सर्वनाश के लिये, राक्षसों के सर्व नाश के लिये, होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ :—मनुष्य वेदविहित कर्मों को पुरुषार्थ से करके विघ्नों को हटाकर आनन्द भोगें ॥ १८ ॥

विशेष :—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित लिखा जाता है—

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू। तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्वर्यत्। अथ० १६ । १३ । १, भेद से साम उ० ६ । ३ । ७ ॥ (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष सेनापति] के (इमौ)

वाजस्य अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा धारकः (प्रतर्दनम्) शस्त्रसमूहम् (समनह्यत्) सन्नद्धवान्। सज्जितवान् (राष्ट्री) राष्ट्र—इनिः। राज्यवान् (उ) अवधारणे (आह) कथयति (वैराजम्) विविधराज्ये भवम् (वृङ्क्ते) वृजी वर्जने। वर्जयति (अनु) निरन्तरम् (आहुः) कथयन्ति (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुभ्–अण् स्वार्थे। त्रिष्टुप्,···त्रिवृद् वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा—निरु० ७ । १२। वेणुः शृङ्गम् शल्यम् इति त्रिसन्धियुक्तो वज्रः। त्रिशूलवान् (अपसेधति) अपगमयति। निवारयति (अजिघांसन्) हन हिंसागत्योः—सनि–लङ्। हन्तुं नाशयितुमैच्छन् (एति) गच्छति। प्रवर्तते (अपहत्यै) सर्वनाशाय ॥

यह दोनों (बाहू) भुजायें (स्थविरौ) पुष्ट (वृषाणौ) वीर्ययुक्त, (चित्रा) अद्भुत (वृषभौ) श्रेष्ठ और (पारयिष्णू) पार लगने वाले होवें । (तौ) उन दोनों को (योगे) अवसर (आगते) आने पर (प्रथमः) मुखिया तू (योक्षे) काम में लाता है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (असुराणाम्) असुरों [प्राण लेने वाले शत्रुओं] का (यत्) जो (स्वः) सुख है [वह] (जितम्) जीता जाता है । शेष मन्त्र २-११ भाष्य में देखो ॥

कण्डिका १९ ॥

अथातश्चातुर्मास्यानां चातुर्मास्यानां प्रयोगः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत । मुखं वा एतत् संवत्सरस्य, यत् फाल्गुनी पौर्णमासी, मुखम् उत्तरे फाल्गुन्यौ, पुच्छं पूर्वे तद्यथाप्रवृत्तस्यान्तौ समेतौ स्याताम्, एवमेवैतत् संवत्सरस्यान्तौ समेतौ भवतः । तद्यत् फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यैर्यजते, मुखत एवैतत् संवत्सरं प्रयुङ्क्ते । अथो भैषज्ययज्ञा वा एते, यच्चातुर्मास्यानि । तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते, ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते । तान्येतान्यष्टौ हवींषि भवन्ति, अष्टौ वै चतसृणां पौर्णमासीनां हवींषि भवन्ति चतसृणां वै पौर्णमासीनां वैश्वदेवं समासः । अथ यदग्निं मन्थन्ति, प्रजापतिर्वै वैश्वदेवं प्रजात्या एव । अथैनं दैवं गर्भं प्रजनयति । अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः, सप्तदशो वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै । अथ यत् सद्वन्तावाज्यभागावसिसन्तीति वै सद्वन्तौ भवतः । अथ यद्विराजौ संयाज्ये, अन्नं वै श्रीर्विराड्, अन्नाद्यस्य श्रियोऽवरुध्यै । अथ यन्नव प्रयाजा नवानुयाजा अष्टौ हवींषि वाजिनन्नवमं, तन्नाक्षरीयां विराजमाप्नोति । अथो आहुर्दशनीं विराजमिति प्रयाजानुयाजा हवींष्याघारावाज्यभागाविति ॥ १९ ॥

कण्डिका १९ ॥ चातुर्मास यज्ञ फाल्गुनी पूर्णमासी से करने होते हैं ॥

(अथ अतः चातुर्मास्यानां चातुर्मास्यानां प्रयोगः) अब यहाँ से चार महीनों में होने वाले चातुर्मास्य यज्ञों का प्रयोग है । (फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत) फाल्गुन महीने की पूर्णमासी पर चातुर्मास्य यज्ञों का प्रयोग [अनुष्ठान] करे । (एतत् वै संवत्सरस्य मुखं यत् फाल्गुनी पूर्णमासी) यह ही संवत्सर [वर्ष] का मुख [आरम्भ] है, जो फल्गुनी पूर्णमासी है । (उत्तरे फाल्गुन्यौ मुखं, पूर्वे पुच्छम्) पिछली दोनों फाल्गुनी [अश्विनी आदि नक्षत्रों में बारहवाँ नक्षत्र जिसके उत्तर-दक्षिण और उत्तर में दो तारे हैं] मुख और पहिले दोनों [फल्गुनी अर्थात् अश्विनी आदि नक्षत्रों में दो तारों वाला ग्यारहवाँ नक्षत्र] पूंछ है । (तत् यथा प्रवृत्तस्य अन्तौ समेतौ स्याताम् एवम् एव एतत् संवत्सरस्य अन्तौ समेतौ भवतः) सो जैसे घूमते हुये पदार्थ के दोनों अन्त [अर्थात् अन्त और आदि] मिले हुये हों, वैसे ही इस संवत्सर के दोनों अन्त मिले होते हैं । (तत् यत् फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यैर्यजते, मुखतः एव एतत्

१९—(चातुर्मास्यानाम्) चतुर्मासेषु भवानाम् (मुखम्) आरम्भः (समेतौ) सम्+आ+इण् गतौ—क्तः । समागतौ । संगतौ (ऋतुसन्धिषु) ऋतूनां संगमेषु

सम्वत्सरं प्रयुङ्क्ते) सो जो फाल्गुनी पूर्णमासी पर चातुर्मास्यों से यज्ञ करता है, आरम्भ से ही वह संवत्सर का प्रयोग करता है। (अथो एते वै भैषज्ययज्ञाः, यत् चातुर्मास्यानि) फिर यह ही ओषधियज्ञ हैं, जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं। (तस्मात् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते, ऋतुसन्धिषु वै व्याधिः जायते) इसलिये ऋतुओं के मेल पर उनका प्रयोग होता है, ऋतुओं के मेल पर ही रोग होता है।

(तानि एतानि अष्टौ हवींषि भवन्ति, अष्टौ वै चतसृणां पौर्णमासीनां हवींषि भवन्ति, चतसृणां वै पौर्णमासीनां वैश्वदेवं समासः) सो यह आठ हवि होते हैं, आठ ही चारों पूर्णमासी के हवि होते हैं, चारों ही पूर्णमासी का वैश्वदेव हवि संग्रह है। (अथ यत् अग्निं मन्थन्ति, प्रजापतिः वै वैश्वदेवं प्रजात्यै एव) फिर जो अग्नि को मथते हैं, प्रजापति [नाम वाला सूर्य वा संवत्सर का यज्ञ] ही वैश्वदेव [सब देवताओं का हवि] सन्तान उत्पत्ति के लिये ही है। (अथ एनं दैवं गर्भं प्रजनयति) फिर [यजमान] के लिये दिव्य गर्भ वह [प्रजापति] उत्पन्न करता है। (अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः, सप्तदशः वै प्रजापतिः, प्रजापतेः आप्त्यै) फिर जो सत्रह सामिधेनी [अग्नि प्रज्वलन मन्त्र] हैं, सत्रह अवयव वाला [बारह महीने और पांच ऋतुयें जिसमें हैं, हेमन्त शिशिर का मेल है--ऐतरेय ब्राह्मण १। १।] ही प्रजापति [संवत्सर] है, प्रजापति के तृप्ति के लिए यह है। (अथ यत् सद्वन्तौ आज्यभागौ असिसन्ति इति वै सद्वन्तौ भवतः) फिर जो श्रेष्ठ पदार्थ वाले दो आज्य भाग हवि को डालते हैं; वे ही दोनों श्रेष्ठ पदार्थ होते हैं। (अथ यत् विराजौ संयाज्ये, अन्नं श्रीः वै विराट्, अन्नाद्यस्य श्रियः अवरुध्यै) फिर जो दो विराट् छन्द संयाज्य [ऋचायें] हैं, अन्न और श्री [लक्ष्मी वा शोभा] ही विराट् है, भोजन योग्य अन्न और श्री की रक्षा के लिए यह है। (अथ यत् नव प्रयाजाः नव अनुयाजाः अष्टौ हवींषि नवमं वाजिनं, तत् न अक्षरीयां विराजम् आप्नोति) फिर जो नौ प्रयाज, नौ अनुयाज, आठ हवि और नवां वाजिन हवि है, उससे अब अविनाशिनी विराट् [अन्न और लक्ष्मी] वह पाता है। (अथो दशनीं विराजम् आहुः इति प्रयाजानुयाजा हवींषि आघारौ आज्यभागौ इति)

(व्याधिः) रोगः (वैश्वदेवम्) विश्वेषां देवानां हविः (समासः) सम्+असु क्षेपणे—घञ्। समाहारः। संग्रहः (मन्थन्ति) मन्थ विलोडने। विलोडयन्ति। (प्रजात्यै) सन्तानोत्पादनाय (दैवम्) दिव्यम्। मनोहरम् (सामिधेन्यः) समिधामाधाने षेण्यण् (वा० पा० ४। ३। १२०) समिध्—षेण्यण्, ङीष्। अग्नि-समिन्धनमन्त्राः। धाय्याः (सप्तदशः) सप्तदशावयवयुक्तः (प्रजापतिः) संवत्सरः (आप्त्यै) पर्य्याप्त्यै। तृप्तये (सद्वन्तौ) श्रेष्ठपदार्थयुक्तौ (असिसन्ति) आर्षप्रयोगः। असु क्षेपणे-स्वार्थे सन्। असिसिषन्ति। अस्यन्ति (अवरुध्यै) अव+रुधिर् आवरणे--क्तिन्, रक्षायै। (वाजिनम्) महेरिनण् (उ० २। ५६) वज गतौ—इनण्। हविर्विशेषः (न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१। (अक्षरीयाम्) अक्षर—छः। नाशशून्याम् (विराजम्) विविधैश्वर्य्यम् (दशनीम्) लेखकप्रमादः। दशमीम्। दशाक्षराम्॥

१९

फिर दश अक्षर वाले विराट् को कहते हैं, प्रयाज अनुयाजों हवियों और दोनों आघारावाज्य आहुतियों को [देते हैं] ॥ १६ ॥

भावार्थः—फाल्गुन की पूर्णमासी पर वर्ष का आरम्भ और अन्त होता है, इससे चातुर्मास्य यज्ञ फाल्गुनी पूर्णमासी पर आरम्भ और समाप्त होता है ॥ १६ ॥

कण्डिका २० ॥

अथ यदग्नीषोमौ प्रथमं देवतानां यजति, अग्नीषोमौ वै देवानां मुखं, मुखत एव तत् देवान् प्रीणाति । १, २ । अथ यत् सवितारं यजति असौ वै सविता, योऽसौ तपति, एतमेव तेन प्रीणाति । ३ । अथ यत् सरस्वतीं, यजति, वाग् वै सरस्वती, वाचमेव तेन प्रीणाति । ४ । अथ यत् पूषणं यजति, असौ वै पूषा, योऽसौ तपति, एतमेव तेन प्रीणाति । ५ । अथ यन्मरुतः स्वतवसो यजति, घोरा वै मरुतः स्वतवसः, तानेव तेन प्रीणाति । ६ । अथ यद्विश्वान् देवान् यजति, एते वै विश्वे देवाः, यत् सर्वे देवाः, तानेव तेन प्रीणाति । ७ । अथ यद् द्यावापृथिव्यौ यजति, प्रतिष्ठे वै द्यावापृथिव्यौ, प्रतिष्ठित्या एव । ८ । अथ यद्वाजिनो यजति, पशवो वै वाजिनः, पशूनेव तेन प्रीणाति । ९ । अथो ऋतवो वै वाजिनः, ऋतूनेव तेन प्रीणाति । १० । अथो छन्दांसि वै वाजिनः, छन्दांस्येव तेन प्रीणाति । ११ । अथो देवाश्वा वै वाजिनः, अत्र देवाः साश्वा अभीष्टाः प्रीता भवन्ति । १२ । अथ यत्परस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथा हास्य पूर्वपक्षे वैश्वदेवेनेष्टं भवति । १३, १४ ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ अग्नि और सोम के साथ दूसरे देवताओं के यज्ञ ॥

(अथ यत् अग्नीषोमौ देवतानां प्रथमं यजति, अग्नीषोमौ वै देवानां मुखं, मुखतः एव तत् देवान् प्रीणाति) फिर जो अग्नि [तेज—क० २२] और सोम [ओषधियों के अधिराज—क० १७] के लिये देवताओं में पहिले वह यज्ञ करता है दोनों अग्नि और सोम ही देवताओं के मुख [के समान मुखिया] हैं, मुख से ही तब देवताओं को प्रसन्न करता है । १, २ । (अथ यत् सवितारं यजति असौ वै सविता, यः असौ तपति, एतम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब सविता [प्रेरक सूर्य] के लिये यज्ञ करता है, वह ही सविता है, जो वह तपाता [प्रेरणा करता] है, इसको ही उससे वह तृप्त करता है । ३ । (अथ यत् सरस्वतीं यजति, वाक् वै सरस्वती, वाचम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब सरस्वती के लिये यज्ञ करता है, वाणी ही सरस्वती [श्रेष्ठ विद्या वाली] है, वाणी को ही उससे वह तृप्त करता है । ४ । (अथ यत् पूषणं यजति, असौ वै पूषा यः असौ तपति, एतम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब पूषा [पोषक सूर्य] के लिये यज्ञ करता है, वह ही पूषा है, जो वह तपाता है, इसको ही उससे वह

२०—(अग्नीषोमौ) अग्निं च सोमं च । अग्निस्तेजः क० २२ । सोम ओषधीनाम् अधिराजः—क० १७ (प्रीणाति) तर्पयति (सवितारम्) प्रेरकं

तृप्त करता है । ५ । (अथ यत् स्वतवसः मरुतः यजति, घोराः वै स्वतवसः मरुतः तान् एव तेन प्रीणाति) फिर जब आत्मबलधारी मरुतों [दोषनाशक पवनों वा दुष्टनाशक वीरों] के लिये वह यज्ञ करता है, भयानक ही आत्मबलधारी मरुत् देवता हैं, उनको ही उससे वह तृप्त करता है । ६ । (अथ यत् विश्वान् देवान् यजति, एते वै विश्वे देवाः, यत् सर्वे देवाः तान् एव तेन प्रीणाति) फिर जब विश्वदेवों के लिये वह यज्ञ करता है, यह ही विश्व देव हैं जो सब दिव्य पदार्थ हैं; उनको ही वह तृप्त करता है । ७ । (अथ यत् द्यावापृथिव्यौ यजति, प्रतिष्ठे वै द्यावापृथिव्यौ, प्रतिष्ठित्यै एव) फिर जब दोनों द्यावापृथिवी [प्रकाशमान और अप्रकाशमान लोकों] के लिये यज्ञ करता है, प्रतिष्ठा [गौरव रूप] ही द्यावापृथिवी है, प्रतिष्ठा के लिये ही [उन दोनों को] उससे वह तृप्त करता है । ८ । (अथ यत् वाजिनः यजति, पशवः वै वाजिनः, पशून् एव तेन प्रीणाति) फिर जब वाजियों [अन्न वालों वा बाल वालों] के लिये यज्ञ करता है, पशु ही अन्न वाले वा बल वाले हैं, पशुओं को ही उससे वह तृप्त करता है । ९ । (अथो ऋतवः वै वाजिनः ऋतून् एव तेन प्रीणाति) फिर ऋतुयें ही अन्न वाले वा बल वाले हैं, ऋतुओं को ही उससे वह तृप्त करता है । १० । (अथो छन्दांसि वै वाजिनः, छन्दांसि एव तेन प्रीणाति) फिर छन्द [वेद मन्त्र] ही अन्न वाले वा बल वाले हैं, वेद मन्त्रों को ही उससे वह तृप्त करता है । ११ । (अथो देवाश्वाः वै वाजिनः, अत्र साश्वाः देवाः अभीष्टाः प्रीताः भवन्ति) फिर देव [विजय चाहने वाले वीर] और घोड़े ही अन्न वाले वा बल वाले हैं, यहां घोड़ों सहित देव [विजय चाहने वाले पुरुष] बड़े चाहने योग्य और प्रिय हैं । ११ । (अथ यत् परस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथा ह अस्य पूर्वपक्षे वैश्वदेवेन इष्टं भवति) फिर जब पीछे से पौर्णमास यज्ञ के साथ वह यज्ञ करता है, उसी प्रकार ही उसका पहिले पखवाड़े में वैश्वदेव [सब देवताओं के लिये यज्ञ] से यज्ञ होता है । १३ । १४ ॥ २० ॥

भावार्थः—यज्ञ में देवताओं को आहुति देकर उनके गुणों को यथावत् जानना चाहिए ॥ २० ॥

कण्डिका २१ ॥

वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत, ताः सृष्टा अप्रसूता वरुणस्य यवान् जक्षुः । ताः वरुणो वरुणपाशैः प्रत्यबध्नात्, ताः प्रजाः प्रजापतिं पितरमेत्योपावदन्, उप तं यज्ञक्रतुं जानीहि, येनेष्ट्वा वरुणमप्रीणात् । स प्रीतो वरुणो वरुण-

---

सूर्यम् (तपति) तापयति (पूषणम्) पोषकं सूर्यम् (मरुतः) मृग्रोरुतिः (उ० १ । ९४) मृङ् प्राणत्यागे—उतिः । अन्तर्गतणिच् । मारयन्ति दोषान् । दोषनाशकान् वायून् । दुष्टनाशकान् वीरान् (स्वतवसः) स्व + तु हिंसायां पूर्तौ च—असुन् । आत्मबलधारकान् (घोराः) भयानकाः (द्यावापृथिव्यौ) प्रकाशमानाप्रकाशमानलोकौ (प्रतिष्ठे) गौरवरूपे (प्रतिष्ठित्यै) गौरवाय (वाजिनः) अन्नयुक्तान् । बलयुक्तान् (छन्दांसि) वेदमन्त्राः (देवाश्वाः) देवाश्च अश्वाश्च (अभीष्टाः) वाञ्छिताः (परस्तात्) पश्चात् । (पूर्वपक्षे) पूर्वार्धमासे ॥

पाशेभ्यः सर्वस्मात्पाप्मनः सम्प्रमुच्यन्त इति । तत एतं प्रजा[१]पतिर्यज्ञक्रतुमपश्यत्, वरुणप्रघासं तमाहरत् तेनायजत, तेनेष्ट्वा वरुणमप्रीणात् । स प्रीतो वरुणो वरुणपाशेभ्यः सर्वस्माच्च पाप्मनः प्रजाः प्रामुञ्चत् । प्र ह वा एतस्य प्रजा वरुणपाशेभ्यः सर्वस्माच्च पाप्मनो मुच्यन्ते । य एवं वेद । अथ यदग्निं प्रणयन्ति, यमेवामुं वैश्वदेवे मन्थन्ति तमेव तत् प्रणयन्ति । यन्मथ्यते, तस्योक्तं ब्राह्मणम् । अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः, सद्वन्तावाज्यभागौ, विराजौ संयाज्ये, तेषामुक्तं ब्राह्मणम् । अथ यन्नव प्रयाजाः नवानुयाजाः, नवैतानि हवींषि समानानि त्वेव पञ्च सञ्चराणि हवींषि भवन्ति पौष्णान्तानि, तेषामुक्तं ब्राह्मणम् ।। २१ ।।

कण्डिका २१ ।। प्रजापति के प्रजायें उत्पन्न करने और वरुण को प्रसन्न करने की कथा ।।

(वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः असृजत, ताः सृष्टाः अप्रसूताः वरुणस्य यवान् जक्षुः) वैश्वदेव [सब देवताओं के यज्ञ] से ही प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर वा सूर्य] ने प्रजाओं को उत्पन्न किया, उन उत्पन्न हुई ने सन्तानशून्य [बांझ] होकर वरुण [सूर्य वा जलेश] के जौंओं को खा लिया । (ताः वरुणः वरुणपाशैः प्रत्यबध्नात्) उनको वरुण ने वरुण [रोक] के जालों से बांध लिया । (ताः प्रजाः प्रजापतिं पितरम् एत्य उपावदन्) वे प्रजायें प्रजापति पिता के पास आकर कहने लगीं—(तं यज्ञक्रतुम् उप जानीहि येन इष्ट्वा वरुणम् अप्रीणात्) उस यज्ञ व्यवहार को तू विचार, जिससे यज्ञ करके वरुण को आपने प्रसन्न किया । (सः वरुणः प्रीतः वरुणपाशेभ्यः सर्वस्मात् पाप्मनः सम्प्रमुच्यन्ते[२] इति) वह वरुण प्रसन्न होकर वरुण के जालों से और सब पाप से [हमें] छुड़ा देवे । (ततः प्रजापतिः एतं यज्ञक्रतुम् अपश्यत्) तब प्रजापति ने इस यज्ञ व्यवहार को देखा । (तं वरुणप्रघासम् आहरत्, तेन अयजत, तेन इष्ट्वा वरुणम् अप्रीणात्) वह वरुण के लिये उस अन्न को लाया और उससे यज्ञ किया और उससे यज्ञ करके वरुण को प्रसन्न किया । (सः वरुणः प्रीतः वरुणपाशेभ्यः सर्वस्मात् च पाप्मनः प्रजाः प्रामुञ्चत्) उस वरुण ने प्रसन्न होकर वरुण के फन्दों से और सब पाप से प्रजाओं को मुक्त कर दिया । (एतस्य ह वै प्रजाः वरुणपाशेभ्यः सर्वस्मात् पाप्मनः च मुच्यन्ते, यः एवं वेद) उस पुरुष की प्रजायें वरुण के फन्दों से और सब पाप से छुट जाती हैं, जो ऐसा जानता है । (अथ यत् अग्निं प्रणयन्ति, यम् एव अमुं वैश्वदेवे

२१—(असृजत) उत्पादितवान् (अप्रसूताः) सन्तानशून्याः । बन्ध्याः (यवान्) अन्नविशेषान् (जक्षुः) अद भक्षणे—लिट् । भक्षितवत्यः (वरुणः) जलेशः । सूर्यः (उपावदन्) आदरेणाकथयन् (यज्ञक्रतुम्) यज्ञव्यवहारम् (उपजानीहि) विचारय (सम्प्रमुच्यन्ते) सम्प्रमुञ्चतु (वरुणप्रघासम्) वरुणाय

---

१. पू. सं. 'प्रजापतिम्' इति पाठः ।।

२. 'सम्प्रमुच्यन्ते' यह कर्मवाच्य का प्रयोग यहाँ असङ्गत है, पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है ।।सम्पा०।।

मन्थन्ति, तम् एव तत् प्रणयन्ति) फिर जब अग्नि को आगे लाते हैं, जिस उस [अग्नि] को ही वैश्वदेव यज्ञ में मथते हैं, उसको ही उससे आगे लाते हैं। (यत् मथ्यते, तस्य ब्राह्मणम् उक्तम्) जो वह [अग्नि] मथा जाता है, उसका ब्राह्मण कहा गया है [क० १९]। (अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः, सद्वन्तौ आज्यभागौ, विराजौ संयाज्ये, तेषां ब्राह्मणम् उक्तम्) फिर जब सत्रह सामिधेनी [अग्नि प्रज्वलित करने की ऋचायें], श्रेष्ठ पदार्थों वाले दो आज्यभाग, दो विराट् छन्द, संयाज्या [नाम ऋचायें] हैं, उनका ब्राह्मण कहा गया है [क० १९]। (अथ यत् नव प्रयाजाः, नव अनुयाजाः, नव एतानि हवींषि समानानि तु एव, पञ्च सञ्चराणि पौष्णान्तानि हवींषि भवन्ति, तेषां ब्राह्मणम् उक्तम्) फिर जो नौ प्रयाज, नौ अनुयाज, और नौ यह समान हवि भी और पांच संचार हवि पूषा प्रकरण के अन्त तक है, उनका ब्राह्मण कहा गया है [क० २०] ॥ २१ ॥

भावार्थः—यज्ञों को यथाविधि करने से मनुष्य पापों से छूटते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२ ॥

अथ यदैन्द्राग्नो द्वादशकपालो भवति, बलं वै तेज इन्द्राग्नी, बलमेव तत्तेजसि प्रतिष्ठापयति। अथ यद्वारुण्यामिक्षा, इन्द्रो वै वरुणः, स उ वै पयोभाजनः, तस्माद् वारुण्यामिक्षा। अथ यन्मारुती पयस्या, अप्सु वै मरुतः श्रिताः, आपो हि पयः। अथेन्द्रस्य वै मरुतः श्रिताः, ऐन्द्रं पयः, तस्मान्मारुती पयस्या। अथ यत् काय एककपालः, प्रजापतिर्वै कः, प्रजापतेराप्त्यै। अथो सुखस्य वा एतन्नामधेयं कमिति, सुखमेव तदध्यात्मन्धत्ते। अथ यत् मिथुनौ गावौ ददाति, तत् प्रजात्यै; रूपमुक्थ्या वाजिनः। अथ यदप्सु वरुणं यजति. स्व एवैनन्तदायतने प्रीणाति। अथ यत्पुरस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथा हास्य पूर्वपक्षे वरुणप्रघासैरिष्टं भवति ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ इन्द्र-अग्नि, वरुण आदि के लिये हवि ॥

(अथ यत् ऐन्द्राग्नः द्वादशकपालः भवति, बलं तेजः वै इन्द्राग्नी, बलम् एव तत् तेजसि प्रतिष्ठापयति) फिर जब इन्द्र—अग्नि देवता वाला बारह पात्र में रक्खा हुआ चरु होता है, बल और तेज ही दोनों इन्द्र और अग्नि हैं, बल को ही उससे तेज में स्थापित करता है। (अथ यत् वारुणी आमिक्षा, इन्द्रः वै वरुणः, सः उ वै पयोभाजनः, तस्मात् वारुणी आमिक्षा) फिर जब वारुणी [वरुण वा जल वाली

भोजनम् (एतस्य) तस्य पुरुषस्य (प्रणयन्ति) प्रकर्षेण प्राप्नुवन्ति (समानानि) तुल्यानि (सञ्चराणि) संचरणशीलानि (पौष्णान्तानि) पूषन्—अण् + अन्तानि। पूषाप्रकरणान्तानि ॥

२२—(द्वादशकपालः) द्वादशकपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः (प्रतिष्ठापयति) धारयति (वारुणी) वरुण—अण् ङीप्। वरुणस्येयम् ऋचा। जलसम्ब-

ऋचा] आमिक्षा [सेचन समर्थ वा छाछ] है, इन्द्र ही वरुण है, यह ही जल बांटने वाला है, इसलिये वारुणी [वरुण देवता वाली ऋचा] आमिक्षा [सेचन समर्थ] है। (**अथ यत् मारुती पयस्या, अप्सु वै मरुतः श्रिताः आपः हि पयः**) फिर जब मारुती [मरुत् अर्थात् पवन देवता वाली ऋचा] पयस्या [जल वाली वा दधि वाली] है, "आप्" अर्थात् जल में ही पवन देवता ठहरे हैं, आप् ही जल है। (**अथ इन्द्रस्य वै मरुतः श्रिताः, ऐन्द्रं पयः, तस्मात् मारुती पयस्या**) फिर इन्द्र के ही आश्रित मरुत् [पवन देवता] हैं, इन्द्र देवता वाला जल है, इसलिये मारुती [अर्थात् पवन देवता वाली ऋचा] पयस्या [जल वाली वा दधि वाली] है। (**अथ यत् कायः एककपालः प्रजापतिः वै कः प्रजापतेः आप्त्यै**) फिर जब "काय" अर्थात् प्रजापति देवता वाला एक पात्र में रक्खा हुआ चरु होता है, प्रजापति ही "क" है, प्रजापति की प्राप्ति के लिये यह [चरु] है। (**अथो सुखस्य वै कम् इति एतत् नामधेयं, सुखम् एव तत् अध्यात्मं धत्ते**) फिर सुख का ही "क" यह नाम है, सुख को ही उससे आत्मा में धारण करता है। (**अथ यत् मिथुनौ गावौ ददाति, तत् प्रजात्यै उकथ्या वाजिनः रूपम्**) फिर जब जोड़ा गाय बैल का वह दान करता है, यह सन्तान उत्पन्न करने के लिये हैं, उकथ्या [प्रशंसनीया ऋचा] बलवान् का रूप है। (**अथ यत् अप्सु वरुणं यजति, तत् एनं स्वे एव आयतने प्रीणाति**) फिर जब जल में वरुण को पूजता है, तब इसको अपने ही घर में तृप्त करता है। (**अथ यत् परस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथा ह अस्य पूर्वपक्षे वरुणप्रघासैः इष्टं भवति**) फिर जब पीछे से पौर्णमास यज्ञ के साथ वरुण का यज्ञ करता है, उसी प्रकार ही उसका पहिले पखवाड़े में वरुण के हवियों से यज्ञ होता है ॥ २२ ॥

भावार्थः—यज्ञीय पदार्थों के गुण जानकर यज्ञ करने से मनुष्यों में बल और पराक्रम बढ़ता है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३ ॥

ऐन्द्रो वा एष यज्ञक्रतुः, यत् साकमेधाः, तद्यथा महाराजः पुरस्तात् सेनानीकानि व्यूह्याभयं पन्थानमन्वियात्, एवमेवैतत् पुरस्ताद् देवता यजन्ते, तद यथैवादः सोमस्य महाव्रतम्, एवमेवैतदिष्टिमहाव्रतम्। अथ यदग्निमनीकवन्तं प्रथमं देवतानां यजति, अग्निर्वै देवानां मुखं, मुखत एव तद्देवान् प्रीणाति। अथ यन्माध्यन्दिने मरुतः सान्तपनान् यजति, इन्द्रो वै मरुतः सान्तपनाः, ऐन्द्रं माध्यन्दिनं, तस्मादेनानिन्द्रेणोपसंहितान् यजति। अथ यत् सायं गृहमेधीयेन चरन्ति,

---

न्धिनी (आमिक्षा) स्नुव्रश्चि० (उ० ३। ६६) आ + मिष सेचने हिंसायां च—सः, टाप्। सेचनसमर्था। दुग्धविकारः (पयोभाजनः) जलविभाजकः (मारुती) मरुत्सम्बन्धिनी ऋक् (पयस्या) पयस्—यत्। जलवती क्रिया (आमिक्षा) दुग्धविकारदध्यादि (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवताकम् (कायः) क—अण्, युगागमश्च। प्रजापतिदेवताकश्चरुः (आप्त्यै) लाभाय (अध्यात्मम्) आत्मनि (मिथुनौ) स्त्रीपुंसौ (गावौ) धेनुवृषभौ (प्रजात्यै) संतानोत्पादनाय (उकथ्या) ऋक्। (वाजिनः) बलयुक्तस्य (वरुणप्रघासैः) वरुणचरुभिः (इष्टम्) यज्ञः ॥

पुष्टिकर्म वै गृहमेधीयः, सायम्पोषः पशूनां, तस्माद् सायं गृहमेधीयेन चरन्ति। अथ यच्छ्वोभूते गृहमेधीयस्य निष्कासमिश्रेण पूर्णदर्व्या[1] चरन्ति, पूर्वेद्युः कर्मणैवैतद् प्रातः कर्मोपसन्तन्वन्ति। अथ यत् प्रातर्मरुतः क्रीडिनो य[1]जन्ति, इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः, तस्मादेनानिन्द्रेणोपसंहितान् यजति। अथ यदग्निं प्रणयन्ति, यमेवामुं वैश्वदेवे मन्थन्ति, तमेव तत् प्रणयन्ति, यन्मथ्यते तस्योक्तं ब्राह्मणम्। अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः सद्वन्तावाज्यभागौ, विराजौ संयाज्ये, तेषामुक्तं ब्राह्मणम्। अथ यन्नव प्रयाजा नवानुयाजा अष्टौ हवींषि समानानि त्वेव षट् सञ्चराणि हवींषि भवन्त्यैन्द्राग्नान्तानि, तेषामुक्तं ब्राह्मणम्। अथ यन्महेन्द्रमन्ततो यजति, अन्तं वै श्रेष्ठी भजते, तस्मादेनमन्ततो यजति अथ यद्वैश्वकर्मण एककपालः, असौ वै विश्वकर्मा, योऽसौ तपत्येतमेव तेन प्रीणाति अथ यदृषभङ्गां ददाति, ऐन्द्रो ह यज्ञक्रतुः ॥ २३ ॥

कण्डिका २३ ॥ इन्द्र, अग्नि और मरुत् देवताओं के लिए हवि ॥

(ऐन्द्रः वै एषः यज्ञक्रतुः, यत् साकमेधाः) इन्द्र [ऐश्वर्य] देवता वाला ही यह यज्ञ व्यवहार है, जो साकमेध [बल के लिए बुद्धि वाले यज्ञ] हैं। (तत् यथा महाराजः पुरस्तात् सेनानीकानि व्यूह्य अभयं पन्थानं अन्वियात्, एवम् एव एतत् पुरस्तात् देवताः यजन्ते) सो जिस प्रकार महाराजा पहिले से सेना के विभागों को व्यूह में करके निर्भय मार्ग चला जाता है, ऐसे ही इस [इन्द्र] को पहिले देवता पूजते हैं। (तत् यथा एव सोमस्य अदः महाव्रतम्, एवम् एव एतत् इष्टिमहाव्रतम्) सो जिस प्रकार ही सोम [यज्ञ] का वह महाव्रत है, वैसे ही यह इष्टि महाव्रत है। (अथ यत् अनीकवन्तम् अग्निं देवतानां प्रथमं यजति, अग्निः वै देवानां मुखं, मुखतः एव तत् देवान् प्रीणाति) फिर जो सेना [शिखा धूम आदि] वाले अग्नि को देवताओं में पहिले वह पूजता है, अग्नि ही देवताओं का मुख [प्रधान] है, मुख से ही उस [यज्ञ] से देवताओं को तृप्त करता है। (अथ यत् माध्यन्दिने सान्तपनान् मरुतः यजति, इन्द्रः वै सान्तपनाः मरुतः, ऐन्द्रं माध्यन्दिनं, तस्मात् एनान् इन्द्रेण उपसंहितान् यजति) फिर जब मध्याह्न में भली भांति तपाने वाले मरुत् [पवन वा किरण] देवताओं को वह यज्ञ करता है, इन्द्र [सूर्य] ही भलीभांति तपाने वाले मरुत् हैं, इन्द्र देवता वाला माध्यन्दिन [दोपहर का सवन] है, इसलिये इन [मरुतों] को इन्द्र के साथ-साथ यज्ञ करता है। (अथ यत् सायं गृहमेधीयेन चरन्ति, पुष्टिकर्म वै गृहमेधीयः, सायं पशूनां पोषः,

---

२३ - (साकमेधाः) शक्लृ शक्तौ—घञ् + मेधृ मेधायाम्—घञ्। शस्य सः। शाकाय शक्तये मेधा येषु ते यज्ञाः (सेनानीकानि) अनिहृषिभ्यां किच्च (उ० ४। १७) अन जीवने—ईकन् कित्। सेनाविभागान् (व्यूह्य) सैन्यसंन्निवेशेन स्थापयित्वा (अनीकवन्तम्) सेनावत् शिखाधूमादियुक्तम् (सान्तपनान्) सम् + तप तापे ऐश्वर्ये च—णिच्—ल्युट्। सन्तापकारकान् (उपसंहितान्) उप + सम् +

---

१. पू. सं० 'पूर्णा दर्व्या' 'यजति' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

तस्मात् सायं गृहमेधीयेन चरन्ति) फिर जब सायंकाल में गृहमेधीय [गृहस्थ के कर्तव्य धर्म] के साथ व्यवहार करते हैं, पुष्टिकारक कर्म ही गृहमेधीय है, सायंकाल में पशुओं का पोषण होता है, इसलिये सायंकाल में गृहमेधीय [गृहस्थ के कर्तव्य धर्म] से व्यवहार करते हैं। (अथ यत् श्वोभूते गृहमेधीयस्य निष्कासमिश्रेण पूर्णदर्व्या चरन्ति पूर्वेद्युः कर्मणा एव एतत् कर्म प्रातः उपसन्तन्वन्ति) फिर जब आगामी कल्य में हुये गृहमेधीय [गृहस्थ के कर्तव्य धर्म] के निकास और संयोग के साथ पूर्ण दर्वी [भोजन पात्र] के द्वारा व्यवहार करते हैं. बीते हुये कल्य के कर्म से ही इस कर्म को प्रातःकाल विस्तृत करते हैं। (अथ यत् प्रातः क्रीडिनः मरुतः यजन्ति, इन्द्रः वै क्रीडिनः मरुतः तस्मात् एनान् इन्द्रेण उपसंहितान् यजति) फिर जब प्रातःकाल खिलाड़ी मरुत् देवताओं को यज्ञ करते हैं, इन्द्र ही खिलाड़ी मरुत् हैं, इसलिये इन [मरुतों] को इन्द्र के साथ-साथ यज्ञ करता है। (अथ यत् अग्नि प्रणयन्ति यम् एव अमुं वैश्वदेवे मन्थन्ति तम् एव तत् प्रणयन्ति) फिर जब अग्नि को आगे लाते हैं, जिस उस [अग्नि] को ही वैश्वदेव यज्ञ में मथते हैं, उसको ही उससे आगे लाते हैं। (यत् मथ्यते, तस्य ब्राह्मणम् उक्तम्) जो वह [अग्नि] मथा जाता है, उसका ब्राह्मण कहा गया है। [क० १९, २१]। (अथ यत् सप्तदश सामिधेन्यः, सद्वन्तौ आज्यभागौ, विराजौ संयाज्ये, तेषां ब्राह्मणम् उक्तम्) फिर जब सत्रह सामिधेनी [अग्नि प्रज्वलित करने की ऋचायें], श्रेष्ठ पदार्थ वाले दो आज्यभाग, दो विराट् छन्द संयाज्या [नाम ऋचायें] हैं, उनका ब्राह्मण कहा गया है [क० १९, २१]। (अथ यत् नव प्रयाजाः नव अनुयाजाः, अष्टौ हवींषि समानानि तु एव, षट् सञ्चराणि ऐन्द्राग्नान्तानि हवींषि भवन्ति तेषां ब्राह्मणम् उक्तम्) फिर जो नौ प्रयाज, नौ अनुयाज, और आठ समान हवि भी और छह सञ्चार हवि इन्द्र और अग्नि के प्रकरण तक हैं उनका ब्राह्मण कहा गया है [क० २२]। (अथ यत् महेन्द्रम् अन्ततः यजति, अन्तं वै श्रेष्ठी भजते तस्मात् एनम् अन्ततः यजति) फिर जब महेन्द्र [परमेश्वर] को अन्त में यज्ञ करता है, अन्त को ही श्रेष्ठी [सेठ, बड़ा धनी] सेवता है, इसलिये इस [महेन्द्र] को अन्त में वह यज्ञ करता है। (अथ यत् वैश्वकर्मणः एककपालः, असौ वै विश्वकर्मा, यः असौ तपति, एतम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब विश्वकर्म देवता वाला एक पात्र में धरा चरु होता है, वह ही विश्वकर्मा [सबका बनाने वाला ईश्वर] है जो वह तपाता है, इसको ही उस [यज्ञ] से तृप्त करता है। (अथ यत् ऋषभं गां ददाति, ऐन्द्रः ह यज्ञक्रतुः) फिर जब बैल और गाय [क० २२] को वह देता है, इन्द्र [तेज वा ऐश्वर्य] देवता वाला ही यह यज्ञ व्यवहार है॥ २३॥

दधातेः—क्तः। संयुक्तान् (गृहमेधीयेन) गृहमेधिन्—छः। गृहस्थकर्तव्येन धर्मेण यज्ञेन (चरन्ति) व्यवहरन्ति (श्वोभूते) आगामिदिवसभूते (निष्कासमिश्रेण) निस्+कासृ शब्दे—घञ्+मिश्र योजने—अच्। निःसारेण सह संयोगेन (पूर्णदर्व्या) दृ विदारणे—विन्। पूर्णचमसेन (पूर्वेद्युः) गतदिवसे (उपसन्तन्वन्ति) यथावत् विस्तारयन्ति (श्रेष्ठी) बहुधनी (भजते) सेवते (वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मन्—अण्। विश्वकर्मदेवताकः (विश्वकर्मा) सर्वकर्ता। सूर्यः परमेश्वरः (ऋषभम्) वृषभम् (गाम्) धेनुम्॥

भावार्थः—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीयसवन में देवताओं के गुण कर्म स्वभाव जानकर यज्ञ करना चाहिये ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ ॥

अथ यदपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति, अपराह्णभाजो वै पितरः तस्मादपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति। तदाहुर्यदपरपक्षभाजो वै पितरः, कस्मादेनान् पूर्वपक्षे यजन्तीति। देवा वा एते पितरः, तस्मादेनान् पूर्वपक्षे यजन्तीति। अथ यदेकाᳬ सामिधेनीन्त्रिरन्वाह, सकृदु ह वै पितरः, तस्मादेकां सामिधेनीन्त्रिरन्वाह। अथ यद्यजमानस्यार्षेऽन्वाह, नेद्यजमानं प्रमृणजानीति। अथ यत् सोमम्पितृमन्तं पितॄन् सोमवतः पितॄन् बर्हिषदः पितॄनग्निष्वात्तानित्यावाहयन्ति, न हैके स्वं महिमानमावाहयन्ति, यजमानस्यैष महिमेति वदत आवाहयेदिति, त्वेव स्थितमग्नेर्ह्येष महिमा भवति, ओं स्वधेत्याश्रावयति, अस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावयति, स्वधाकारो हि पितॄणाम्। अथ यत् प्रयाजानुयाजेभ्यो बर्हिष्मन्तावुद्धरति, प्रजा वै बर्हिः, नेत् प्रजां पितृषु दधातीति[1] ते वै षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतवः, ऋतवः पितरः, पितॄणामाप्त्यै ॥ २४ ॥

कण्डिका २४ ॥ पितरों के लिये हवि ॥

(अथ यत् अपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति) फिर जब तीसरे पहर [दिन के तीन भागों में से तीसरे भाग में] पितृयज्ञ [माता पिता आदि पालक ज्ञानियों के सत्कार] से वे व्यवहार करते हैं, (अपराह्णभाजः वै पितरः तस्मात् अपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्ति) तीसरे पहर में भाग वाले ही पितर [पालनकर्ता ज्ञानी पुरुष] हैं, इसलिये तीसरे पहर में पितृयज्ञ से वे व्यवहार करते हैं। (तत् आहुः यत् अपरपक्षभाजः वै पितरः, कस्मात् एनान् पूर्वपक्षे यजन्ति इति) यह कहते हैं कि दूसरे पक्ष [श्रेणी वा पङ्क्ति] में भाग वाले ही पितर हैं, किसलिये इनको पहिले पक्ष [श्रेणी] में यज्ञ करते हैं। [उत्तर] (देवाः वै एते पितरः तस्मात् एनान् पूर्वपक्षे यजन्ति इति) देव [विजय चाहने वाले वीर] ही यह पितर लोग हैं, इसलिये इनको पहिले पक्ष में [पहिली श्रेणी में] यज्ञ करते हैं। (अथ यत् एकां सामिधेनीं त्रिः अन्वाह) फिर जो एक सामिधेनी [अग्नि प्रदीप्त करने की ऋचा] को तीन बार वह बोलता है। (सकृत् उ ह वै पितरः, तस्मात् एकां सामिधेनीं त्रिः अन्वाह) [उत्तर] उचित काम करने वाले ही निश्चय करके पितर [माता पिता आदि ज्ञानी पुरुष] हैं, इसलिये एक सामिधेनी को वह तीन बार [आदर के लिये] पढ़ता है। (अथ यत् यजमानस्य आर्षे अन्वाह) फिर जब यजमान के आर्ष

२४—(अपराह्णे) त्रिधाविभक्तदिनस्य तृतीयभागे (अपराह्णभाजः) अपराह्णविभागिनः (अपरपक्षभाजः) द्वितीयश्रेणिभागिनः (पूर्वपक्षे) प्रथमश्रेण्याम् (अन्वाह) पठति (सकृत्) एकवारम् अथवा, समानं साधु, समानस्य

---

१. पू. सं. "दधानि" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

यज्ञ में [ऋषियों के लिये सत्कार में एक सामिधेनी ऋचा को तीन बार] पढ़ता है। (यजमानं नेत् प्रमृणजानीति) [उत्तर] वह यजमान को नहीं मारता है [अमर करता है]। (अथ यत् पितृमन्तं सोमं, सोमवतः पितॄन्, बर्हिषदः पितॄन्, अग्निष्वात्तान् पितॄन् आवाहयन्ति) फिर जब श्रेष्ठ माता पिता वाले सोम [प्रेरक पुरुष] को, सोम [बड़े ऐश्वर्य] वाले पितरों [माता पिता आदि ज्ञानियों] को, वृद्धिकारक व्यवहार में बैठने वाले पितरों को और अग्निष्वात्ता [अग्नि अर्थात् बिजुली सूर्य और अग्नि विद्या तथा शारीरिक और आत्मिक तेज ग्रहण करने वाले] पितरों को वे बुलाते हैं [अथर्व० १८।४। ७१–७४ भी देखो]। (एके ह स्वं महिमानं न आवाहयन्ति यजमानस्य एव एषः महिमा इति वदतः आवाहयेत् इति, तु अग्नेः एव हि एषः महिमा स्थितं भवति) कोई कोई अपनी महिमा को नहीं बुलवाते हैं—यह यजमान की ही महिमा है—ऐसा कहते हुए पुरुषों को वह बुलवावे, किन्तु अग्नि [विद्वान् पुरुष] की ही यह महिमा स्थित होती है। (ओं स्वधा इति आश्रावयति, स्वधा अस्तु इति प्रत्याश्रावयति, स्वधाकारः हि पितॄणाम्) ओम् स्वधा [यह अन्न वा जल] है—ऐसा वह बोलता है, स्वधा होवे—ऐसा वह उत्तर में बोलता है, स्वधाकार [अन्न वा जल का व्यवहार] ही पितरों के लिये है। (अथ यत् प्रयाजानुयाजेभ्यः बर्हिष्मन्तौ उद्धरति, प्रजा वै बर्हिः प्रजां पितृषु नेत् दधाति इति) फिर जब प्रयाज अनुयाज यज्ञों के लिये दो बर्हि [वृद्धिकारक व्यवहार वा कुश] वाले मन्त्रों को वह बोलता है, प्रजा ही बर्हि [कुश घास के समान वृद्धिकारक] है, प्रजा को पितरों में वह नहीं धारण करता है [अर्थात् प्रजा से पितरों का अधिक आदर करता है]। (ते वै षट् सम्पद्यन्ते, षट् वै ऋतवः, ऋतवः पितरः, पितॄणाम् आप्त्यै)

सः+करोतेः—क्विप्। तुगागमः विभक्तिलोपः। साधुकर्माणः। उचितकर्मकर्तारः (आर्षे) ऋषिनिमित्ते (नेत्) निषेधे (प्रमृणजानीति[1]) पारयतेरजिः (उ० १। १३६) प्र+मृण हिंसायाम्—अजिः। प्रमृणज्–क्विप्। नामधातोः–शप् श्ना इति द्वौ विकरणौ। प्रकर्षेण मृणति हिनस्ति (सोमम्) प्रेरकपुरुषम् (पितृमन्तम्) प्रशस्तमातापितृभ्यां युक्तम् (पितॄन्) मातापित्रादिपालकज्ञानिनः (सोमवतः) परमैश्वर्ययुक्तान् (बर्हिषदः) बर्हिषि वृद्धिकरे व्यवहारे सदनशीलान् (अग्निष्वात्तान्) अग्नि+सु+आङ्+ददातेः—क्तः। अग्निः सूर्यविद्युदग्निविद्या शारीरिकात्मिकतेजो वा आत्तं गृहीतं यैस्तान् (एके) केचित् (वदतः) कथयतः (स्थितम्) स्थितः (स्वधा) अन्नम्—निघ० २।७। उदकम्—निघ० १।१२। (आश्रावयति) उच्चारयति (प्रत्याश्रावयति) अङ्गीकरोति (बर्हिष्मन्तौ) वृद्धिकरव्यवहारयुक्तौ मन्त्रौ (ते) पितरः॥

---

१ शब्दों की इस प्रकार असाधारण सिद्धि का उदाहरण मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। बार २ व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करने के बाद भी यह शब्द भली प्रकार सिद्ध नहीं हो सका है। वास्तव में तो बाहुलक से श्नम् विकरणयुक्त मृज् धातु के लोट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन का "प्रमृणजानि" प्रयोग समीचीन जान पड़ता है॥ सम्पा०॥

वे [पितर लोग यज्ञ में] छह ही सम्पन्न किये जाते हैं, छह ही ऋतुयें हैं, ऋतुओं [के समान बृद्धिकारक] पितर हैं, पितरों की तृप्ति के लिये [यह यज्ञ है]॥ २४॥

भावार्थः--यज्ञ में पितर लोगों का यथावत् सत्कार करने से यजमान की महिमा बढ़ती है॥ २४॥

कण्डिका २५॥

अथ यज्जीवनवन्तावाज्यभागौ भवतः, यजमानमेव तज्जीवयतः। अथ यदेकैकस्य हविषस्तिस्रस्तिस्रो याज्या भवन्ति, ह्वयत्येवैनां प्रथमया, द्वितीयया गमयति, प्रैव तृतीयया यच्छति। अथो देवयज्ञमेवैनं पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति, अथो दक्षिणासंस्थो वै पितृयज्ञः, तमेवैतदुदक्सꣳस्थं कुर्वन्ति। अथ यदग्निं कव्यवाहनमन्ततो यजति, एतत् स्विष्टकृतो वै पितरः, तस्मादग्निं कव्यवाहनमन्ततो यजति। अथ यदिडामुपहूयावघ्राय न प्राश्नन्ति, पशवो वा इडा, नेत्पशून् प्रमृणजानीति। अथ यत् सूक्तवाके यजमानस्याशिषोऽन्वाह, नेद्यजमानं प्रमृणजानीति। अथ यत् पत्नीन्न संयाजयन्ति, नेत्पत्नीं प्रमृणजानीति। अथ यत् पवित्रवति मार्जयन्ते, शान्तिर्वै भेषजमापः, शान्तिरेवैषा भेषजमन्ततो यज्ञे क्रियते। अथ यदध्वर्युः पितृभ्यो निपृणाति, जीवानेव तत् पितॄननु मनुष्याः पितरोऽनुप्रवहन्ति। अथो देवयज्ञमेवैनं पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति। अथो दक्षिणासंस्थो वै पितृयज्ञः तमेवैतदुदक्संस्थं कुर्वन्ति। अथ यत् प्राञ्चोऽभ्युत्क्रम्यादित्यमुपतिष्ठन्ते देवलोको वा आदित्यः, पितृलोकः पितरः, देवलोकमेवैनं पितृलोकादुपसङ्क्रामन्तीति। अथ यद्दक्षिणाञ्चोऽभ्युत्क्रम्याग्नीनुपतिष्ठन्ते, प्रीत्यैव तद्देवेष्वन्ततोद्ध्वं चरन्ति। अथ यदुदञ्चोऽभ्युत्क्रम्य त्रैयम्बकैर्यजन्ते, रुद्रमेव तत् स्वस्याꣳ दिशि प्रीणन्ति। अथो देवयज्ञमेवैनं पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति। अथो दक्षिणासꣳस्थो वै पितृयज्ञः, तमेवैतदुदक्सꣳस्थं कुर्वन्ति। अथ यदन्तत आदित्येऽष्टचा यजति इयं वा अदितिरस्यामेवैनमन्ततः प्रतिष्ठापयति। अथ यत्परस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथाहास्य पूर्वपक्षे साकमेधैरिष्टं भवति॥ २५॥

कण्डिका २५॥ पितृयज्ञ के साथ देवयज्ञ आदि का विधान॥

(अथ यत् जीवनवन्तौ आज्यभागौ भवतः, यजमानम् एव तत् जीवयतः) फिर जब दो जीवन साधन वाले आज्यभाग [घृत की आहुति वाले मन्त्र] होते हैं, यजमान को ही वे दोनों जीवन देते हैं। (अथ यत् एकैकस्य हविषः तिस्रः तिस्रः याज्याः भवन्ति, एनान् एव प्रथमया ह्वयति, द्वितीयया गमयति, तृतीयया एव प्रयच्छति) फिर जब एक एक हवि की तीन तीन याज्या [ऋचायें] होती हैं, पहिली से ही इन [पितरों] को वह बुलाता है, दूसरी से वह चलाता है और तीसरी से ही वह

२५—(जीवनवन्तौ) जीवनसाधनयुक्तौ (हविषः) ग्राह्यपदार्थस्य। अन्नस्य (ह्वयति) आह्वयति (एनान्) पितॄन् (गमयति) प्रापयति (प्रयच्छति)

दान करता है। (अथो एनं देवयज्ञम् एव पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति) फिर इस देवयज्ञ [विद्वानों के सत्कार] को ही पितृयज्ञ [पितरों माता पिता आदि पालक विद्वानों के सत्कार] के साथ वर्त्तमान करते हैं। (अथो दक्षिणासंस्थः वै पितृयज्ञः, तम् एव एतत् उदक्संस्थं कुर्वन्ति) फिर दक्षिण दिशा में रक्खा हुआ ही पितृयज्ञ है, उसको ही इससे उत्तर दिशा में रक्खा हुआ करते हैं। (अथ यत् कव्यवाहनम् अग्निम् अन्ततः यजति, एतत् स्विष्टकृतः वै पितरः, तस्मात् कव्यवाहनम् अग्निम् अन्ततः यजति) फिर जब कव्यवाहन [विद्वानों को हितकारक पदार्थ पहुंचाने वाले] अग्नि [तेजस्वी पुरुष] का सत्कार करता है, इससे सुन्दर इष्ट व्यवहार करने वाले ही पितर लोग होते हैं, इसलिये कव्यवाहन [विद्वानों को हितकारक पदार्थ पहुँचाने वाले] अग्नि [तेजस्वी पुरुष] का सत्कार करते हैं। (अथ यत् इडाम् उपहूय अवघ्राय न प्राश्नन्ति, पशवः वै इडाः पशून् नेत् प्रमृणजानीति) फिर जब अन्न को मंगा कर और सूंघ कर वे अब खाते हैं, पशु [सब जीव] ही अन्न [अन्न के आश्रित] हैं, पशुओं [जीवों] को वह नहीं मारता है। (अथ यत् सूक्तवाके यजमानस्य आशिषः अन्वाह, यजमानं नेत् प्रमृणजानीति) फिर जब सूक्तवाक [सुन्दर कहे हुये वाक्य वाले यज्ञ] में यजमान के आशीर्वादों को वह पढ़ता है, यजमान को वह नहीं मारता है। (अथ यत् पत्नीं न सयाजयन्ति, पत्नीं नेत् प्रमृणजानीति) फिर जब [यजमान की] पत्नी से अब वह यज्ञ कराते हैं, पत्नी को वह नहीं मारता है [सुरक्षित करता है]। (अथ यत् पवित्रवति मार्जयन्ते, शान्तिः वै भेषजम् आपः, शान्तिः एव एषां भेषजम् अन्ततः यज्ञे क्रियते) फिर जब जल वाले [पात्र] में शुद्ध करते हैं, शान्ति ही औषध जल है, शान्ति ही इनकी औषधि अन्त में यज्ञ में की जाती है। (अथ यत् अध्वर्युः पितृभ्यो निपृणाति, तत् मनुष्याः पितरः पितॄन् अनु जीवान् एव अनुप्रवहन्ति) फिर जब अध्वर्यु पितरों [पालक विद्वानों] को परिपूर्ण करता है, मननशील और पालनकर्ता पुरुष तब पितरों के पीछे-पीछे जीवों को चलाते रहते हैं। (अथो एनं देवयज्ञम् एव पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति) फिर इस देवयज्ञ [विद्वानों के सत्कार] को ही पितृयज्ञ [पितरों माता पिता आदि पालक

ददाति (व्यावर्त्तयन्ति) वर्त्तमानं कुर्वन्ति (दक्षिणासंस्थः) दक्षिणस्यां दिशि सम्यक् स्थितः (उदक्संस्थम्) उत्तरस्यां दिशि सम्यक् स्थितम् (अग्निम्) विद्वांसं पुरुषम् (कव्यवाहनम्) कवि-यत्। कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (पा० ३। २। ६५) कव्य+वहेर्ञ्युट्। कविर्मेधाविनाम—निघ० ३। १५। कविभ्यो मेधाविभ्यो हितपदार्थानां प्रापकम् (इडाम्) अन्नम्—निघ० २। ७। (पशवः) जीवाः (प्रमृणजानीति) क० २४। प्रकर्षेण मृणति हिनस्ति (आशिषः) आशीर्वादान् (न) सम्प्रति (पवित्रवति) उदकनाम—निघ० १। १२। (मार्जयन्ते) शोधयन्ति (पितृभ्यः) पितॄन् (निपृणाति) पॄ पालनपूरणयोः—लट्। नितरां पालयति पूरयति वा (अनु) अनुसृत्य (प्राञ्चः) पूर्वदिक्स्थाः पुरुषाः (अभ्युत्क्रम्य) अभित उत्थाय (आदित्यम्) आदीप्यमानं सूर्य्यम् (उपतिष्ठन्ते) सेवन्ते (उपसङ्क्रामन्ति) उपसंगत्य गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति (दक्षिणाञ्चः) दक्षिणदिक्स्थाः (उदञ्चः) उत्तरदिक्स्थाः (त्रैयम्बकैः) त्रि+अम्ब गतौ—

विद्वानों के सत्कार] के साथ वर्त्तमान करते हैं। (अथो दक्षिणासंस्थः वै पितृयज्ञः, तम् एव एतत् उदक्संस्थं कुर्वन्ति) फिर दक्षिण दिशा में रक्खा हुआ ही पितृयज्ञ है, उसको ही इससे उत्तर दिशा में रक्खा हुआ करते हैं। (अथ यत् प्राञ्चः अभ्युत्क्रम्य आदित्यम् उपतिष्ठन्ते, देवलोकः वै आदित्यः, पितृलोकः पितरः, एनम् एव देवलोकं पितृलोकात् उपसङ्क्रामन्ति इति) फिर जब पूर्ववाले पुरुष उठ करके सूर्य को सेवते हैं, देवलोक [विद्वानों का स्थान] ही सूर्य [समान] है, पितृलोक [पितरों का स्थान] पितर [पालन करने वाले पदार्थ] हैं, इस देव लोक को ही पितृलोक से चलकर अच्छे प्रकार प्राप्त करते हैं। (अथ यत् दक्षिणाञ्चः उत्क्रम्य अग्नीन् उपतिष्ठन्ते प्रीत्या एव तत् देवेषु अन्ततः ऊर्द्ध्वं चरन्ति) फिर जब दक्षिण दिशा वाले उठकर अग्नियों को सेवते हैं, प्रीति के साथ ही तब विद्वानों के बीच अन्त में वे ऊंचे चलते हैं। (अथ यत् उदञ्चः अभ्युत्क्रम्य त्रैयम्बकैः यजन्ते, रुद्रम् एव तत् स्वस्यां दिशि प्रीणन्ति) फिर जब उत्तर वाले पुरुष उठकर त्रैयम्बक [अर्थात् त्र्यम्बक, तीनों कालों और तीनों लोकों में नेत्र वाले परमेश्वर] को देवता रखते हुये हवियों से वे पूजते हैं, रुद्र [दुष्टों को रुलाने वाले परमात्मा] को ही तब अपनी दिशा में वे प्रसन्न करते हैं। (अथो एनं देवयज्ञम् एव पितृयज्ञेन व्यावर्त्तयन्ति) फिर इस देवयज्ञ [विद्वानों के सत्कार] को ही पितृयज्ञ [पितरों माता पिता आदि पालक विद्वानों के सत्कार] के साथ वर्त्तमान करते हैं। (अथो दक्षिणासंस्थः वै पितृयज्ञः, तम् एव एतत् उदक्संस्थं कुर्वन्ति) फिर दक्षिण दिशा में रखा हुआ ही पितृयज्ञ है, उसको ही इससे उत्तर दिशा में रखा हुआ करते हैं। (अथ यत् अन्ततः आदित्येष्टचा यजति, इयं वै अदितिः, अस्याम् एव एनम् अन्ततः प्रतिष्ठापयति) फिर जब अन्त में अदिति देवता वाली इष्टि से वह यज्ञ करता है, यह [पृथिवी] ही अदिति [अदीन देवमाता, दिव्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली] है, इस [पृथिवी] पर ही इस [यजमान] को अन्त में वह प्रतिष्ठित करता है। (अथ यत् परस्तात् पौर्णमासेन यजते, तथा ह अस्य पूर्वपक्षे साकमेधैः इष्टं भवति) फिर जब पीछे से पौर्णमास यज्ञ के साथ वह यज्ञ करता है, उसी प्रकार ही उसका पहिले पखवाड़े में साकमेधों [क० २३ बल के लिये बुद्धि वाले यज्ञों] से यज्ञ होता है ॥ २५ ॥

भावार्थः--जैसे यज्ञ में यज्ञदेवताओं के लिये यज्ञपदार्थ एक स्थान से दूसरे ऊंचे स्थान को लाये जाते हैं, वैसे ही मनुष्य एक पद से दूसरे उच्च पद को चढ़ते जावें ॥ २५ ॥

ण्वुल् । तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (वा० पा० ६ । ४ । ७७) इति इयङ् । त्रिषु कालेषु लोकेषु च अम्बकं नेत्रं यस्य स त्र्यम्बकः त्रियम्बकः । ततः अण् । त्रियम्बकदेवताकैः (आदित्येष्टचा) अदिति—ण्यः । अदितिदेवताकयेष्टचा (इयम्) दृश्यमाना पृथिवी (अदितिः) अदीना देवमाता--निरु० ४ । २२ । दिव्य-पदार्थानां जनयित्री (साकमेधैः) क० २३ । शाकाय बलाय मेधा येषु तैर्यज्ञैः ॥

कण्डिका २६ ॥

त्रयोदशं वा एतं मासमाप्नोति, यच्छुनासीर्य्येण यजते, एतावान्वै संवत्सरः, यावानेष त्रयोदशो मासः । अथ यदग्निं प्रणयन्ति, यमेवामुं वैश्वदेवे मन्थन्ति, तमेव तत् प्रणयन्ति, यन्मथ्यते, तस्योक्तं ब्राह्मणं, यद्यु न मथ्यते पौर्णमासमेव तन्त्रं भवति, प्रतिष्ठा वै पौर्णमासं, प्रतिष्ठित्या एव । अथ यद्वायुं यजति, प्राणो वै वायुः प्राणमेव तेन प्रीणाति । अथ यच्छुनासीरं यजति, संवत्सरो वै शुनासी[1]रः, संवत्सरमेव तेन प्रीणाति । अथ यत्सूर्य्यं यजति, असौ वै सूर्य्यः, योऽसौ तपति, एतमेव तेन प्रीणाति । अथ यच्छ्वेता दक्षिणा ददाति, एतस्यैव तद्रूपं क्रियते । अथ यत् प्रायश्चित्तप्रतिनिधिं कुर्वन्ति, स्वस्त्ययनमेव तत् कुर्वन्ति, यज्ञस्यैव शान्तिर्यजमानस्य भैषज्याय । तैर्वा एतैश्चातुर्मास्यैर्देवाः सर्वान् कामानाप्नुवन्, सर्वा इष्टीः सर्वममृतत्वम् । स वा एष प्रजापति[2]श्चतुर्विंशः, यच्चातुर्मास्यानि, तस्य मुखमेव वैश्वदेवं, बाहू वरुणप्रघासाः प्राणोऽपानो व्यान इत्येतास्तिस्र इष्टयः, आत्मा महाहविः, प्रतिष्ठा शुनासीरं स वा एष प्रजापतिरेव संवत्सरः, यच्चातुर्मास्यानि, सर्वं वै प्रजापतिः, सर्वं चातुर्मास्यानि, तत्सर्वेणैव सर्वमाप्नोति य एवं वेद यश्चैवं विद्वांश्चातुर्मास्यैर्यजते चातुर्मास्यैर्यजते ॥ २६ ॥

इति अथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणोत्तरभागे प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥

कण्डिका २६ ॥ तेरहवें महीने और शुनासीर यज्ञ के साथ अग्नि, वायु, सूर्य, संवत्सर और चातुर्मास्यों का वर्णन ॥

(त्रयोदशं वै एतं मासम् आप्नोति, यत् शुनासीर्य्येण यजते) तेरहवें ही इस महीने को वह [यजमान] प्राप्त होता है जो शुनासीर [इन्द्र, वायु वा सूर्य—आगे देखो] देवता वाले हवि से यज्ञ करता है । (एतावान् वै संवत्सरः, यावान् एषः त्रयोदशः मासः) इतना ही संवत्सर [यज्ञ] है जितना [जहां तक] यह तेरहवां महीना है । (अथ यत् अग्निं प्रणयन्ति, यम् एव अमुं वैश्वदेवे मन्यन्ति तम् एव तत् प्रणयन्ति) फिर जब अग्नि को आगे लाते हैं, जिस उस [अग्नि] को ही वैश्वदेव यज्ञ में मथते हैं उसको ही उससे आगे लाते हैं, (यत् मथ्यते, तस्य ब्राह्मणम् उक्तम्) जो वह [अग्नि] मथा जाता है, उसका ब्राह्मण कहा गया है [क० २१] । (यदि उ न मथ्यते पौर्णमासम् एव तन्त्रं भवति) जो वह [अग्नि] अब नहीं मथा जाता है, पौर्णमास यज्ञ ही प्रधान होता है, (पौर्णमासं वै प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठित्यै एव) पौर्णमास

२६—(शुनासीर्य्येण) द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्त्व० (पा० ४ । २ । ३२) शुनासीर—यत् । शुनासीरदेवताकेन यज्ञेन (तन्त्रम्) तनु विस्तारे—ष्ट्रन् । तत्रि कुटुम्बधारणे—घञ् वा । कुटुम्बकृत्यम् । प्रधानम् (प्रतिष्ठा) यज्ञसमाप्तिः ।

---

१. जर्मनसंस्करणे सर्वत्र "शुनासीर" इत्येव पाठः ॥

२. अत्र ज. सं. "संवत्सरः" इत्यधिकः पाठः ॥ सम्पा० ॥

यज्ञ ही प्रतिष्ठा [यज्ञ की समाप्ति का व्रत] हैं, वह प्रतिष्ठा [कीर्ति] के लिये ही है। (अथ यत् वायुं यजति, प्राणः वै वायुः, प्राणम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब वायु को यज्ञ करता है, प्राण ही वायु है, प्राण को ही उससे वह तृप्त करता है। (अथ यत् शुनासीरं यजति, संवत्सरः वै शुनासीरः, संवत्सरम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब शुनासीर [सुन्दर बड़ी वीर अग्रगामी सेना वाले सेनापति इन्द्र] को वह यज्ञ करता है, संवत्सर ही शुनासीर [बड़े सेनापति के समान] है, संवत्सर को ही उससे वह तृप्त करता है। (अथ यत् सूर्यं यजति, असौ वै सूर्यः, यः असौ तपति, एतम् एव तेन प्रीणाति) फिर जब सूर्य को यज्ञ करता है, वही सूर्य है जो वह तपाता है, इसको ही उससे वह तृप्त करता है। (अथ यत् शेताः दक्षिणाः ददाति, एतस्य एव तत् रूपं क्रियते) फिर जब शेता [सूक्ष्म कर्म करने वाला यजमान] दक्षिणायें देता है, इस [यजमान] का ही वह रूप किया जाता है। (अथ यत् प्रायश्चित्तप्रतिनिधिं कुर्वन्ति, स्वस्त्ययनम् एव तत् कुर्वन्ति) फिर जब प्रायश्चित [पापशोधन] रूप प्रतिनिधि यज्ञ करते हैं, स्वस्त्ययन [स्वस्तिवाचन] ही तब वे करते हैं, (यज्ञस्य एव शान्तिः यजमानस्य भैषज्याय) यज्ञ की ही शान्ति यजमान की ओषधि के लिये है। (तैः वै एतैः चातुर्मास्यैः देवाः सर्वान् कामान् सर्वाः इष्टीः सर्वम् अमृतत्वम् आप्नुवन्) उन ही इन चातुर्मास्य यज्ञों से देवताओं ने सब कामनाओं, [अर्थात्] सब इष्टियों [सत्क्रियाओं] और सब अमरपन को पाया है। (सः वै एषः प्रजापतिः चतुर्विंशः, यत् चातुर्मास्यानि) वह ही यह प्रजापति चौबीस अवयव [अर्धमास] वाला है, जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं, (तस्य मुखम् एव वैश्वदेवम्, बाहू वरुणप्रघासाः, प्राणः अपानः व्यानः इति एताः तिस्रः इष्टयः, आत्मा महाहविः प्रतिष्ठा शुनासीरम्) उस [प्रजापति] का मुख ही वैश्वदेव यज्ञ है, दोनों भुजायें श्रेष्ठ अन्न हैं, प्राण, अपान, व्यान यह तीन इष्टियां [यज्ञ] हैं, आत्मा महाहवि है, प्रतिष्ठा [ठहराव वा आश्रय] शुनासीर [इन्द्र का हवि] है। (सः वै एषः प्रजापतिः एव संवत्सरः, यत् चातुर्मास्यानि) वह ही यह प्रजापति ही संवत्सर है जो चातुर्मास्य हैं। (सर्वं वै प्रजापतिः, सर्वं चातुर्मास्यानि, तत् सर्वेण एव सर्वम् आप्नोति, यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् चातुर्मास्यैः यजते चातुर्मास्यैः यजते) सब ही प्रजापति है, सब ही चातुर्मास्य हैं, इस लिये सबके साथ ही वह सब पाता है, जो ऐसा जानता है और जो ऐसा विद्वान् चातुर्मास्य यज्ञों से यज्ञ करता है, चातुर्मास्य यज्ञों से यज्ञ करता है ॥ २६ ॥

स्थितिः। आश्रयः (सुनासीरः, शुनासीरः) कृशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् (उ० ४। ३०) सु + णासृ शब्दे—ईरन्, सस्य शः विकल्पेन। सुष्ठु नासीरम् अग्रसैन्यं यस्य सः। सेनापतिरिन्द्रः। शुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे सीरः आदित्यः सरणात्— निरु० ९। ४० (शेता) शिञ् निशाने–तृच्। सूक्ष्मकर्मा। यजमानः (प्रायश्चित्त-प्रतिनिधिम्) पापशोधनप्रतिनिधिरूपं यज्ञम् (इष्टीः) यजेः—क्तिन्। सत्क्रियाः (वरुणप्रघासाः) श्रेष्ठान्नानि ॥

भावार्थः—देश और काल का विचार करके संसार के पदार्थों से उपकार लेकर मनुष्य उन्नति करें ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम*श्रीसयाजीरावगायकवाड़ाधिष्ठित*बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित-क्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्य उत्तरभागे प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे द्वादश्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।

मुद्रितम्—भाद्रकृष्णा ८ संवत् १९८१ वि० ता० २२ अगस्त सन् १९२४ ई० ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ।

कण्डिका १ ॥

ओम् । माꣳसीयन्ति वा आहिताग्नेरग्नयः, त एनमेवाग्रेऽभिध्यायन्ति यजमानं, य एतमैन्द्राग्नं पशुं षष्ठे षष्ठे मासे आलभते, तेनैवेन्द्राग्निभ्यां ग्रसितमात्मानं निरवदयत। आयुष्काम आलभेत, प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी, प्राणापानावेवात्मनि धत्तो, आयुष्मान् भवति । प्रजाकाम आलभेत, प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी, प्राणापानौ प्रजा अनु प्रजायन्ते. प्रजावान् भवति । पशुकाम आलभेत, प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी, प्राणापानौ पशवोऽनु प्रजायन्ते, पशुमान् भवति । यामं शुकं हरितमालभेत शठं वायःकामः, एता नाम यः[१] पितृलोके स्यामित्येतेन ह वै यमोऽमुष्मिंल्लोक आध्नोंत्, पितृलोक एवाध्नोति । त्वाष्ट्रं वडवमालभेत प्रजाकामः, प्रजापतिर्वै प्रजाः सिसृक्षमाणः स द्वितीयं मिथुनमन्वाविन्दत्, स त्वाष्ट्रं वडवमपश्यत्, त्वष्टा हि रूपाणां प्रजनयिता, तेन प्रजा असृजन्, तेन मिथुनमविन्दत् । प्रजावान् मिथुनवान् भवति, य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेतमालभते, योनीन् वा एष काम्यान् पशूनालभते, योनीष्ट्वैन्द्राग्नेन काम्यं पशुमालभन्त इष्ट्वालम्भः समृद्ध्यै ॥ १ ॥

---

१. "वा यः कामयेत अनामयः" इति पाठान्तरम् ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १ ॥ इन्द्र—अग्नि अर्थात् प्राण और अपान के लिये यज्ञ के लाभ ॥

(ओम् । आहिताग्नेः अग्नयः वै मांसीयन्ति) अग्नि स्थापित करने वाले की [यजमान की आहवनीय आदि] अग्नियाँ मननसाधक [बुद्धिवर्धक फल, बादाम अखरोट आदि हव्य] पदार्थों को चाहती हैं । (ते एनम् एव यजमानम् अग्रे अभिध्यायन्ति, यः एतम् ऐन्द्राग्नं पशुं षष्ठे षष्ठे मासे आलभते) वे [याजक लोग] इस ही यजमान को पहिले अच्छे प्रकार ध्यान में करते हैं, जो इस इन्द्र—अग्नि [प्राण अपान] देवता वाले पशु [जीव] को छठे छठे महीने अच्छे प्रकार प्राप्त होता है । (तेन एव इन्द्राग्निभ्यां ग्रसितम् आत्मानम् निरवदयत) इस कारण से ही इन्द्र और अग्नि [प्राण और अपान] से खाये गये आत्मा की वह निन्दा करता है । (आयुष्कामः आलभेत, प्राणापानौ वै इन्द्राग्नी, प्राणापानौ एव आत्मनि धत्तः, आयुष्मान् भवति) आयु [जीवन] चाहने वाला पुरुष [प्राण और अपान देवता वाले जीव को छठे छठे महीने] अच्छे प्रकार प्राप्त करे, दोनों प्राण और अपान ही इन्द्र और अग्नि हैं, दोनों प्राण और अपान ही आत्मा को पुष्ट करते हैं, वह [यजमान] बड़ी आयु वाला होता है । (प्रजाकामः आलभेत, प्राणापानौ वै इन्द्राग्नी प्राणापानौ अनु प्रजाः प्रजायन्ते, प्रजावान् भवति) प्रजायें चाहने वाला पुरुष [प्राण और अपान देवता वाले जीव को···] अच्छे प्रकार प्राप्त करे, दोनों प्राण और अपान ही इन्द्र और अग्नि हैं, दोनों प्राण और अपान के साथ साथ प्रजायें उत्पन्न होती हैं, वह उत्तम प्रजाओं वाला होता है । (पशुकामः आलभेत, प्राणापानौ वै इन्द्राग्नी, प्राणापानौ अनु पशवः प्रजायन्ते, पशुमान् भवति) पशुओं [जीवों] को चाहने वाला पुरुष [प्राण और अपान देवता वाले जीव को···] अच्छे प्रकार प्राप्त करे, दोनों प्राण और अपान ही इन्द्र और अग्नि हैं, प्राण और अपान के साथ साथ पशु उत्पन्न होते हैं, वह उत्तम पशु वाला होता है । (अयः[1]-कामः यामं शुकं शठं हरितं वा आलभेत, एता नाम यः पितृलोके स्याम् इति एतेन

१—(मांसीयन्ति) मनेर्दीर्घश्च (उ० ३ । ६४) मन ज्ञाने—सप्रत्ययो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा—निरु० ४ । ३ । सुप आत्मनः क्यच् (पा० ३ । १ । ८) मांस—क्यच् । मांसानि मननसाधकान् बुद्धिवर्धकान् पदार्थान् फल—बादाम—अक्षोटादीन् इच्छन्ति होमकरणाय (आहिताग्नेः) स्थापित-पावकस्य यजमानस्य (अग्नयः) आहवनीयादयः (अभिध्यायन्ति) सर्वतश्चिन्त-यन्ति (आ) समन्तात् (लभते) प्राप्नोति (ग्रसितम्) भक्षितम् (निरवदयत) निर्वादः, अपवादः । अपवादयति तिरस्करोति (आत्मनि) आत्मानम् (धत्तः) पोषयतः (यामम्) यम—अण् । यमो यच्छतीति सतः—निरु० १० । १९ । मध्यस्थानो वायुः । वायुदेवताकम् (शुकम्) शुक गतौ—कः । पक्षिविशेषम् (हरितम्) हसृरुहियुषिभ्य इतिः (उ० १ । ९७) हृञ् हरणे—इतिः । अश्वम् ।

---

१. पृ. ३०४ की टि. में प्रदर्शित पाठभेदानुसार 'यामं शुकं हरितमालभेत शठं वा, यः कामयेत अनामयः······' यह अन्वय अर्थसङ्गत है ॥ सम्पा० ॥

ह वै यमः अमुष्मिन् लोके आर्ध्नोत्, पितृलोके एव आर्ध्नोति) सुवर्ण चाहने वाला पुरुष यम [वायु] देवता वाले शुक [सुग्गा पक्षी] और शठ [प्रशंसनीय] घोड़े को अच्छे प्रकार प्राप्त करे, मैं चलने वाला [पुरुषार्थी] प्रसिद्ध हूं, जो पितृलोक [माता पिता आदि पालक विद्वानों की सभा] में रहूं—इस [मन्त्र] से ही यम [संयमी, जितेन्द्रिय पुरुष] उस लोक [दूर देश] में समृद्ध होता है, वह पितृलोक में ही समृद्ध होता है। (प्रजाकामः त्वाष्ट्रं वडवम् आलभेत) प्रजायें चाहने वाला पुरुष त्वष्टा [सूक्ष्मकर्ता परमात्मा] देवता वाले, बल पहुंचाने वाले पराक्रम को अच्छे प्रकार प्राप्त होवे। (प्रजाः सिसृक्षमाणः सः प्रजापतिः वै द्वितीयं मिथुनम् अन्वाविन्दत्) प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए उस प्रजापति ने दूसरे जोड़े को प्राप्त किया। (सः त्वाष्ट्रं वडवम् अपश्यत्, त्वष्टा हि रूपाणां प्रजनयिता, तेन प्रजाः असृजत्, तेन मिथुनम् अविन्दत्) उसने त्वष्टा देवता वाले, बल पहुँचाने वाले पराक्रम को देखा, त्वष्टा [सूक्ष्म बनाने वाला परमात्मा] ही रूपों को उत्पन्न करने वाला है, उससे प्रजायें उत्पन्न हुए, उससे उसने जोड़े को पाया। (प्रजावान् मिथुनवान् भवति, यः एवं वेद यः च एव विद्वान् एतम् आलभते) वह उत्तम प्रजाओं वाला और उत्तम मिथुन [जोड़ों पुत्र पुत्रियों] वाला होता है, जो ऐसा जानता है, और जो ऐसा विद्वान् इस [यज्ञ] को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है। (एषः वै काम्यान् योनीन् पशून् आलभते, ऐन्द्राग्नेन तु काम्यं योनिः[1] पशुम् आलभन्ते इष्ट्वा आलम्भः मृध्यै) वह ही पुरुष चाहने योग्य योनियों [घरों] और पशुओं को अच्छे प्रकार प्राप्त होता है, और इन्द्र और अग्नि [प्राण और अपान] देवता वाले यज्ञ से चाहने योग्य घर और पशु को वे अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं और यज्ञ करके [उनका] आरम्भ [उद्यम] समृद्धि के लिये होता है ॥ १ ॥

भावार्थ :—मनुष्य को योग्य है कि सुग्गे के समान अन्तरिक्षगामी और अश्व के समान भूगामी होकर न्यून से न्यून छठे छठे महीने यज्ञ करके अपनी अनेक प्रकार की उन्नति की जाँच करके उचित व्यवहार करे ॥ १ ॥

कण्डिका २ ॥

पञ्चधा वै देवा व्युदक्रामन्[2], अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः, इन्द्रो मरुद्भिः, वरुण आदित्यैः, बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैः। ते देवा अब्रुवन्, असुरेभ्यो वा इदं भ्रातृव्येभ्यो

(शठम्) शठ हिंसायां श्लाघायां च - अच्। श्लाघ्यम् (वा) चार्थे (अयःकामः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) इण् गतौ—असुन्। अयः, हिरण्यनाम—निघ० १। २। सुवर्णेच्छुकः (एता) इण् गतौ—तृच्। गमनशीलः (यमः) संयमी पुरुषः (आर्ध्नोत्) समृद्धो भवति (त्वाष्ट्रम्) त्वष्टा तनूकर्ता परमात्मा। त्वष्टृदेवताकम् (वडवम्) वल+वा गतौ—कः। बलप्रापकं पराक्रमम् (सिसृक्षमाणः) स्रष्टुमिच्छन् (मिथुनवान्) पुत्रपुत्रीवान् (योनीन्) गृहनाम—निघ० ३। ४। (योनिः) योनिम्। गृहम् (तु) समुच्चये (आलम्भः) आरम्भः। उद्यमः ॥

---

१. 'योनिः इष्ट्वा' इस पदच्छेद के अनुसार कण्डिका का पाठ योनिरिष्ट्वा होना चाहिये ॥
२. पू सं. व्युत्क्रामन् इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

रुध्याम, यन्मिथो विप्रियाः[1] स्मः, या न इमाः प्रियास्तन्वस्ताः समवद्यामहा इति। ताः समवाद्यन्त, ताभ्यः सन्निर्ऋच्छात्, यो नः प्रथमोऽन्योऽन्यस्मै द्रुह्यादिति। यत्तन्वः समवाद्यन्त, तत् तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम्[2]। ततो देवा अभवन् परासुराः। तस्माद्यस्तानूनप्त्रणां[3] प्रथमो द्रुह्यति, स आर्त्तिमार्च्छति। यत्तानूनप्त्रं समवद्यति, भ्रातृव्याभिभूत्यै भवति, आत्मना परास्याप्रियो भ्रातृव्यो भवति ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ देवताओं ने पांच प्रकार से चढ़ाई करके असुरों को जीता ॥

(पंचधा वै देवाः व्युदक्रामन् अग्निः वसुभिः, सोमः रुद्रैः, इन्द्रः मरुद्भिः, वरुणः आदित्यैः, बृहस्पतिः विश्वैः देवैः) पाँच प्रकार से ही देवताओं [विजय चाहने वाले पुरुषों] ने चढ़ाई की—अग्नि [प्रतापी पुरुष] ने वसुओं [निवास कराने वाले पुरुषों] के साथ, सोम [प्रेरक पुरुष] ने रुद्रों [दुष्टों के रुलाने वाले वीरों] के साथ, इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने मरुतों [शत्रुओं के मारने वाले वीरों] के साथ, वरुण [वैरियों को घेरने वाले पुरुष] ने आदित्यों [अखण्ड व्रतधारी शूरों] के साथ और बृहस्पति [बड़े बड़े सेना के रक्षक पुरुष] ने विश्वदेवों [सब दिव्य पदार्थों] के साथ। (ते देवाः अब्रुवन्, असुरेभ्यः भ्रातृव्येभ्यः वै इदं रुध्याम, यत् मिथः विप्रियाः स्मः, नः याः इमाः प्रियाः तन्वः ताः समवद्यामहै इति) वे देवता बोले—असुर शत्रुओं से अवश्य इस [राज्य] को हम रोकें [बचावें] जिससे हम आपस में विशेष प्रिय हों, हमारे जो यह प्यारे शरीर [शरीर के समान सेना वाले] हैं, उनको हम बलवान् करें। (ताः समवाद्यन्त, ताभ्यः सन्[4]निर्ऋच्छात्, यः नः प्रथमः अन्योन्यस्मै द्रुह्यात् इति) उन [शरीरों] को उन्होंने बलवान् किया [और कहा] उन [शरीरों] से वह सर्वथा निर्बल हो जावे, जो हमारा प्रधान होकर आपस में अनिष्ट चीते। (यत् तन्वः समवाद्यन्त, तत् तानून-

---

२—(पञ्चधा) पञ्चप्रकारेण (देवाः) विजिगीषवः (व्युदक्रामन्) अध्यारुहन् (अग्निः) प्रतापी पुरुषः (वसुभिः) निवासयितृभिः (सोमः) प्रेरकः सेनापतिः (रुद्रैः) दुष्टरोदकैः शूरैः (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् (मरुद्भिः) शत्रुमारकवीरैः (वरुणः) आच्छादकः (आदित्यैः) अखण्डव्रतिवीरैः (बृहस्पतिः) बृहतां सैन्यानां पालकः (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) दिव्यपदार्थैः (इदम्) राज्यम् (रुध्याम) रुन्ध्याम (तन्वः) शरीराणि (समवद्यामहै) सम्+अव+दो अवखण्डने इत्यस्य रूपम्। अवदानं पराक्रमः। सम्यक् पराक्रमयाम। पराक्रमयुक्ताः करवाम। (सन्निर्ऋच्छात्) सम्+निर्+ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु—लेट्। सर्वथा निर्बलो भवेत् (द्रुह्यात्) अनिष्टं चिन्तयेत् (तानूनप्त्रस्य) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २। ९५) तनू+न+पत्लृ गतौ—तृच्, नञः प्रकृतिभावः, अत् इति शब्दलोपः,

---

१. पू. सं. 'बिभ्रियास्मः' इति पाठः ॥ २. पू. सं. तानूनप्तृत्वमिति पाठः ॥

३. अत्र तानूनप्त्राणामिति शुद्धः पाठः भवितव्यः ॥

४. यहाँ सः निर्ऋच्छात् पाठ संगत प्रतीत होता है ॥ सम्पा० ॥

प्तुस्य तानूनप्त्रत्वम्) जो उन्होंने तनू [शरीरों] को बलवान् किया, वह तनूनप्ता [शरीरों के रक्षक] का तानूनप्त्रत्व [शरीरों का रक्षकपन] है। (ततः देवाः असुराः परा-अभवन्) उससे देवताओं ने असुरों को हरा दिया। (तस्मात् यः तानूनप्तॄणां प्रथमः द्रुह्यति, सः आर्तिम् आर्च्छति) इसलिये जो शरीर रक्षकों का प्रधान अनिष्ट चीतता हैं, वह सब ओर से पीड़ा पाता है। (यत् तानूनप्त्रं समवद्यति भ्रातृव्याभिभूत्यै भवति, आत्मना अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः परा भवति) जो पुरुष शरीरों के रक्षक वीर को बलवान् करता है, वह शत्रुओं के हराने के लिये समर्थ होता है, और आत्मबल से उसका कुप्रिय शत्रु हार जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ :—मनुष्य शारीरिक आत्मिक और सामाजिक पुष्टि से सेना की यथावत् व्यूहरचना करके शत्रुओं को हरावे और ध्यान रक्खें कि उनका प्रधान सेनापति सर्वथा उनका शुभचिन्तक होवे ॥ २ ॥

विशेषः—इस कण्डिका को अथ० १९ । १३ । १—११ से मिलाओ, उसका एक मन्त्र यहाँ दिया जाता है—

इन्द्र एषा नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देवसेनानामभि-भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये ॥ अथ० १९ । १३ । ९, ऋग्० १० । १०३ । ८, यजु० १७ । ४० साम उ० ९ । ३ । ३ । (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी मुख्य सेनापति] (एषाम्) इन [वीरों] का (नेता) नेता [होवे], (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े अधिकारों वाला सेनानायक] (दक्षिणा) दाहिनी ओर और (यज्ञः) पूजनीय (सोमः) सोम [प्रेरक, उत्साहक सेनाधिकारी] (पुरः) आगे (एतु) चले। (मरुतः) मरुद्गण [शूरवीर पुरुष] (अभिभञ्जतीनाम्) कुचल डालती हुयी, (जयन्तीनाम्) विजयिनी (देवसेनानाम्) विजय चाहने वालों की सेनाओं के (मध्ये) बीच में (यन्तु) चलें ॥

कण्डिका ३ ॥

पञ्चकृत्वोऽवद्यति, पाङ्क्तो यज्ञः, पञ्चधा हि ते ताः समवाद्यन्त। आपतये त्वा गृह्णामीत्याह, प्राणो वा आपतिः, प्राणमेव तेन प्रीणाति। परिपतये त्वेत्याह मनो वै परिपतिः मन एव तेन प्रीणाति। तनूनप्त्र इत्याह, तन्वो हि ते ताः सम-वाद्यन्त। शाक्वरायेत्याह, शक्तꣳ हि ते ताः समवाद्यन्त। शक्मन ओजिष्ठायेत्याह, ओजिष्ठं हि ते तदात्मनः समवाद्यन्त। अनाधृष्टमित्याह, अनाधृष्टं ह्येतत्। अना-धृष्यमित्याह, अनाधृष्यं ह्येतत्। देवानामोज इत्याह, देवानाꣳ ह्येतदोजः। अभि-शस्तिपा इत्याह, अभिशस्तिपा ह्येतत्। अनभिशस्ते ऽन्यमित्याह, अनभिशस्तेनꣳ

स्वार्थे-अण्। तनूनप्तुः। शरीरस्य न पातयितुः। देहरक्षकस्य (तानूनप्त्रत्वम्) शरीररक्षकत्वम् (असुराः) असुरान् (प्रथमः) प्रधानः (आर्तिम्) पीडाम् (आर्च्छति) आ + ऋच्छ गतौ। समन्तात् प्राप्नोति (तानूनप्त्रम्) तनूनप्तारम् (समवद्यति) सम्यक् पराक्रमिणं करोति ॥

ह्येतदत्तु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्प[1]तिः। अञ्जसा सत्यमुपगेषं[1] स्विते मा धा इत्याह, यथा यजुरेवैतत् ।। ३ ।।

कण्डिका ३ ।। यजुर्वेद के मन्त्र के आश्रय से यज्ञ कर्म ।।

(पंचकृत्वः अवद्यति, पाङ्क्तः यज्ञः, पंचधा हि ते ताः समवाद्यन्त) पाँच प्रकार से वह [यजमान] पराक्रमी होता है, पाँच प्रकार से प्रकाशित यज्ञ है, पाँच प्रकार से ही उन [देवताओं] ने उन [शरीरों] को समर्थ किया है [ऊपर क० २ देखो]। (आपतये त्वा गृह्णामि इति आह, प्राणः वै आपतिः, प्राणम् एव तेन प्रीणाति) धनादि प्राप्ति के लिये तुझे मैं ग्रहण करता हूं—यह [यजुर्वेद मन्त्र भाग] वह कहता है, प्राण ही अच्छे प्रकार प्रयत्न है, प्राण को ही उससे वह [यजमान] तृप्त करता है। (परिपतये त्वा इति आह, मनः वै परिपतिः, मनः एव तेन प्रीणाति) सब ओर से ऐश्वर्य्य के लिये तुझे [मैं ग्रहण करता हूं—यह भाग] वह कहता है, मन ही सब ओर से ऐश्वर्य है, मन ही को उससे वह तृप्त करता है। (तनूनप्त्रे इति आह, ते हि ताः तन्वः समवाद्यन्त) तनूनप्ता [शरीर को न गिराने वाले] के लिये [तुझे ग्रहण करता हूं—यह भाग] वह बोलता है, उन [देवताओं] नें उन शरीरों को समर्थ किया है। (शाक्वराय इति आह, शक्तं हि ते ताः समवाद्यन्त) सामर्थ्य के लिये [तुझे ग्रहण करता हूं—यह भाग] वह बोलता है, समर्थ ही वह [मन] है, उन्होंने उन [शरीरों] को समर्थ किया है। (शक्मने ओजिष्ठाय इति आह, तत् ओजिष्ठं हि ते आत्मनः समवाद्यन्त) समर्थ महाबली पुरुष के लिये [तुझे ग्रहण करता हूं—यह भाग] वह बोलता है, उससे महाबली को ही उन्होंने अपने से समर्थ किया है। (अनाधृष्टम् इति आह, अनाधृष्टं हि एतत्) अपमान नहीं किया गया [बल है—यह भाग] वह बोलता है, अपमान नहीं किया गया ही यह [ब्रह्म बल] है। (अनाधृष्यम् इति आह, अनाधृष्यं हि एतत्) आगे को अपमान के अयोग्य [बल है—यह भाग] वह बोलता है, आगे को अपमान के अयोग्य ही यह [ब्रह्म

३—(पाङ्क्तः) गो० पू० ४। २४। पङ्क्ति—अण्। पङ्क्त्या पञ्चप्रकारेण प्रकाशितः (आपतये) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४। ११८) आ+पत्लृ गतौ ऐश्वर्य्ये च—इन्। आगमाय। धनादिप्राप्तये (परिपतये) पत्यते, ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २। २१। परि+पत ऐश्वर्ये—इन्। सर्वत ऐश्वर्याय (तनूनप्त्रे) क० २। शरीरस्य न पातयित्रे (शाक्वराय) कॄगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २। १२१) शक्लृ शक्तौ—ष्वरच्। शक्वरः शक्तिमान्। ततो भावे—अण्। शक्तिमत्त्वाय। सामर्थ्याय (शक्तम्) समर्थम् (शक्मने) अशिशकिभ्यां छन्दसि (उ० ४। १४७) शक्लृ शक्तौ—मनिन्। समर्थाय पुरुषाय (ओजिष्ठाय) बलवत्तमाय (अनाधृष्टम्) अतिरस्कृतम् (अनाधृष्यम्) अतिरस्करणीयम् (देवानाम्) विदुषाम् (ओजः) बलम् (अभिशस्तिपाः) अभिशस्तेर्हिंसनात् पाता रक्षिता (अनभिशस्तेन्यम्) अनभिशस्ते+णीञ् प्रापणे—

---

१. अस्यां कण्डिकायाम् पू० सं० 'आयतये', 'आयतिः', 'तपस्तपस्यति', 'उपगेषाम्' इति पाठास्तत्रास्माभिः मन्त्रानुसारिणः संशोधिताः ।। सम्पा० ।।

बल] है। (देवानाम् ओजः इति आह, देवानां हि एतत् ओजः) विद्वानों का बल [तू है—यह भाग] वह बोलता है, विद्वानों का ही यह [ब्रह्म] बल है । (अभिशस्तिपाः इति आह, अभिशस्तिपाः हि एतत्) हिंसा से बचाने वाला [तू है —यह भाग] वह बोलता है, हिंसा से बचाने वाला ही यह [ब्रह्म] है । (अनभिशस्तेन्यम् इति आह, अनभिशस्तेनं हि एतत्, दीक्षापतिः मे दीक्षाम् अनुमन्यताम्, तपः अनु तपस्पतिः) अहिंसित कर्म में ले जाने वाला [तू है—यह मन्त्र भाग] वह बोलता है, अहिंसित कर्म में ले जाने वाला ही यह [ब्रह्म] है, दीक्षापति [ब्रह्मा] मेरी दीक्षा को स्वीकार करे और तप का पति मेरे तप को स्वीकार करे । (अञ्जसा सत्यम् उपगेषं स्विते मा धाः यथा एतत् यजुः एव) तेज के साथ वा सहज से सत्य [यथार्थ व्यवहार] को मैं आदर से खोजता रहूं, अच्छे चले हुए मार्ग में मुझे धारण कर, यह [मन्त्र भाग] वह बोलता है, जैसा यह ही यजुर्वेद [का मन्त्र] है ।। ३ ।।

भावार्थः—मनुष्य अपने कर्तव्य की सिद्धि के लिये उसके सूक्ष्म अवयवों को गम्भीरता से विचार लेवे ।। ३ ।।

विशेषः—इस कण्डिका में यजुर्वेद अध्याय ५ मन्त्र ५ के प्रतीक कुछ भेद से दिये हैं, वह मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है जिससे पद और आशय मिलाने में सुगमता होवे। (आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषꣳस्विते मा धाः) [हे परमेश्वर !] (त्वा) तुझको (आपतये) सब प्रकार पाने के लिये, (परिपतये) सब ओर से ऐश्वर्य के लिये, (तनूनप्त्रे शाक्वराय) शरीर को न गिराने वाले सामर्थ्य के लिये और (ओजिष्ठाय शक्वने) अत्यन्त पराक्रमी समर्थ पुरुष के हित के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । (अभिशस्तिपाः) हिंसा से बचाने वाला तू (देवानाम्) विद्वानों का (अनाधृष्टम्) अपमान नहीं किया गया, (अनाधृष्यम्)

क्विप् । आर्षं पुंस्त्वम्, द्वितीया प्रथमार्थे । अनभिशस्तेनी । अनभिशस्ते अहिंसिते व्यवहारे प्रापकम् (अनभिशस्तेनम्) अनभिशस्ते + नयतेः— डः । अहिंसिते कर्मणि प्रापकम् (अञ्जसा) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—असुन् । कान्त्या । ज्ञानेन । सहजेन (सत्यम्) यथार्थव्यवहारम् (उप) आदरेण (गेषम्[१]) गेषृ अन्वेषणे—विधिलिङ् । आर्षं परस्मैपदत्वम् । अहं गेषेय । अन्वेषणेन प्राप्नुयाम् (स्विते) सु + इण् गतौ—क्तः । सुगते मार्गे (मा) माम् (धाः) धेहि ।।

---

१. दुरूहेयं व्युत्पत्तिः "उपगेषम्" शब्दस्य । वस्तुतस्तु आशिषि लिङि लुङि वा रूपमेतत् । तथा च लिङि—कै गै शब्दे इति धातोः आशिषि लिङि, छन्दस्युभयथा (पा० ३ । ४ । ११७) इति सार्वधातुकत्वाद् अङ् । आतो लोप इटि च (पा० ६ । ४ । ६४) इत्याकारस्य लोपे ऽङोऽकारात् यासुटः अतो येयः (पा० ७ । २ । ८०) इतीयादेशः, आर्धधातुकत्वात् सलोपाभावः, लोपो व्योर्वलि (पा० ६ । १ । ६६) इति य्लोपः ।

लुङि विस्तरभिया अत्र न प्रदर्श्यते द्र० यजु० वि० भा० भू० पृ० ४३३ ।। सम्पा० ।।

आगे को नहीं अपमान योग्य, (अनभिशस्ति) हिंसा के अयोग्य (अनभिशस्तेन्यम्) अहिंसित कर्म में ले चलने वाला (ओजः असि) बल है। (स्विते) सुन्दर चले हुए [मार्ग] में (मा धाः) मुझे तू धारण कर। (अञ्जसा) तेज के साथ वा सहज से (सत्यम् उपगेषम्) सत्य को मैं खोजता रहूं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ ॥

घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्। स्रुचौ बाहू, तस्मात् स्रुचौ सौमीमाहुतिं नासाते। अवधीयेत सोमः, तस्मात् स्रुचौ चाज्यं चान्तिकमाहार्षीत्। अन्तिकमिव खलु वा अस्यैतत् प्रचरन्ति, यत्तानूनप्त्रेण प्रचरन्ति। अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविद इत्याह, यदेवास्यापवायते यन्मीयते, तदेवास्यैतेनाप्याययन्ति। आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामात्वमिन्द्राय प्यायस्वेत्याह, उभावेवेन्द्रश्च सोमं चाप्याययन्ति। आप्याययास्मान्त्सखीन् सन्या मेधया प्रजया धनेनेत्याह. ऋत्विजो वा एतस्य सखायः, तानेवास्यैतेनाप्याययन्ति। स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामुदृचमशीयेत्याह, आशिषमेवैतामाशास्ते, प्र वा एतस्माल्लोकाच्च्यवन्ते, ये सोममाप्याययन्ति। अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः आप्यायत एष्टा राय एष्टा वामानि प्रैषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो दिवे नमः पृथिव्या इति, द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ सोम यज्ञ में त्रुटि की यजुर्वेद मन्त्र से पूर्ति ॥

(देवाः वै घृतं वज्रं कृत्वा सोमम् अघ्नन्) देवों [ऋत्विजों] ने घृत [घी वा प्रकाश] को वज्र बनाकर सोम [ओषधिराज] को पीड़ित किया। (स्रुचौ बाहू, तस्मात् स्रुचौ सौमीम् आहुतिं न आसाते) दोनों स्रुचा [घृतपात्र] दो भुजायें हैं, इसलिये दोनों स्रुचायें सोम देवता वाली आहुति को नहीं छोड़ते। (सोमः अवधीयेत, तस्मात् स्रुचौ च आज्यं च अन्तिकम् आहार्षीत्) सोम ध्यान में किया जावे, इसलिये दोनों स्रुचाओं और घी को समीप में वह [यजमान] लावे। (अन्तिकम् इव खलु वै अस्य एतत् प्रचरन्ति, यत् तानूनप्त्रेण प्रचरन्ति) समीप रक्खे हुये के समान ही इस [सोम] के लिये यह [कर्म] वे करते हैं, जो तनूनप्ता देवता वाले [शरीर को न गिराने वाले चरु] से वे करते हैं। (देव सोम ते अंशुः—अंशुः एकधनविदे इन्द्राय आप्यायताम्—

४—(अघ्नन्) अपीडयन् (आसाते) अस्यतः। क्षिपतः (अवधीयेत) अव+दधातेः कर्मणि—विधिलिङ्। अवधाने ध्याने क्रियेत (अन्तिकम्) समीपम्। समीपस्थम् (आहार्षीत्) आहरेत्। आनयेत् (तानूनप्त्रेण) तनूनप्तृदेवताकेन चरुणा (अंशुरंशुः) मृगय्वादयश्च (उ० १। ३७) अंश विभाजने—कुः[1]। अवयवोऽवयवः। अङ्गमङ्गम् (देव) दिव्यगुणयुक्त। (सोम) हे ऐश्वर्यवन् पुरुष औषध वा (आ) समन्तात् (प्यायताम्) वर्धताम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते

---

१. अत्र नित्यवीप्सयोः (पा० ८। १। ४) इत्यनेन "अंशुः" शब्दस्य द्विर्वचनम् ॥ सम्पा० ॥

इति आह, यत् एव अस्य अपवायते, यत् मीयते, तत् एव अस्य एतेन आप्याययन्ति) हे दिव्यगुण वाले सोम ! तेरा अंश अंश एक धर्म से धन पाने वाले इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये सब ओर से बढ़े--यह [यजुर्वेद मन्त्र भाग] वह कहता है, जो कुछ भी इस [सोम] का सूख जाता है, जो कुछ मुरझा जाता है, इससे उसको ही इस [प्रयत्न] से वे अच्छे प्रकार बढ़ाते हैं। (इन्द्रः तुभ्यम् आ प्यायताम्, त्वम् इन्द्राय आप्यायस्व इति आह, उभौ एवं इन्द्रं च सोमं च आप्याययन्ति) इन्द्र तेरे लिये भले प्रकार बढ़े, तू इन्द्र के लिये भले प्रकार बढ़--यह [मन्त्र भाग] वह बोलता है, दोनों ही इन्द्र और सोम को वे भले प्रकार बढ़ाते हैं। (अस्मान् सखीन् सन्या मेधया प्रजया धनेन आप्यायय इति आह, ऋत्विजः वै एतस्य सखायः, अस्य तान् एतान् एव आप्याययन्ति) हम मित्रों के दान से, निश्चल बुद्धि से, प्रजा से और धन से तू भले प्रकार बढ़ा--यह [मन्त्र भाग वह बोलता है], ऋत्विज् लोग ही इस [सोम] के मित्र हैं, इसके उन इनको ही वे भले प्रकार बढ़ाते हैं। (देव सोम ते स्वस्ति, सुत्याम् उदृचम् अशीय इति आह, एताम् आशिषम् एव आशास्ते, एतस्मात् लोकात् वै प्रच्यवन्ते, ये सोमम् आ प्याययन्ति) हे दिव्य गुण वाले सोम ! तेरे लिये मंगल हो, सोम निचोड़ने की क्रिया और समाप्ति सूचक ऋचा को मैं प्राप्त होऊं—यह [मन्त्र भाग] वह बोलता है, इस आशीर्वाद को ही वह कहता है, इस लोक में ही वे अच्छे प्रकार चलते हैं, जो सोम को भले प्रकार बढ़ाते हैं। (अन्तरिक्षदेवत्यः हि सोमः आप्यायते, एष्टाः रायः एष्टा वामानि प्रइषे भगाय, ऋतवादिभ्यः ऋतम् नमः, दिवे पृथिव्यै नमः इति, द्यावापृथिवीभ्याम् एव नमस्कृत्य अस्मिन् लोके प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति) अन्तरिक्ष [मध्य में दिखाई देते हुये] लोक देवता वाला ही सोम [ओषधिराज] भले

पुरुषाय (एकधनविदे) एकेन धर्मेण धनं विन्दति लभते यः, तस्मै (अपवायते) ओवै शोषणे यद्वा वा गतिगन्धनयोः—कर्मणि लट्। शुष्यते (मीयते) मीञ् हिंसायाम्—कर्मणि लट्। हिंस्यते। नाश्यते (प्याययन्ति) वर्धयन्ति (प्यायस्व) वर्धस्व (सन्या) हृपिषिरुहि० (उ० ४। ११९) षण् दाने—इन्। दानेन (सन्न्या) सम्+णीञ् प्रापणे—क्विप्। सम्यक् नेत्र्या (स्वस्ति) कल्याणम् (सुत्याम्) सोमाभिषवक्रियाम् (उदृचम्) उत्तमां समाप्तिसूचिकाम् ऋचम् (अशीय) प्राप्नुयाम् (आशिषम्) आङ्—शास आशीर्वादे—क्विप्। मङ्गलप्रार्थनाम् (आशास्ते) आशीर्वादं कथयति (प्र) प्रकर्षेण (एतस्मात् लोकात्) एतस्मिन् लोके (च्यवन्ते) गच्छन्ति—निघ० २। १४। (एष्टाः) सर्वत इष्टाः। अभीष्टाः। अभीष्टानि वा (वामानि) अर्तिस्तुसुहु० (उ० १। १४०) वा गतौ--मन्। वामस्य वननीयस्य—निरु० ४। २६। शोभनानि वस्तूनि (प्र) प्रकर्षेण (इषे) अन्नाय (भगाय) ऐश्वर्याय (ऋतम्) सत्यव्यवहारम् (ऋतवादिभ्यः) सत्यकथनशीलेभ्यः (नमः) अन्नम्—निघ० २। ७ (दिवे) प्रकाशमानाय परमात्मने (नमः) सत्कारः (पृथिव्यै) विस्तृताय परमेश्वराय (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाशभूमिहितार्थम् (नमस्कृत्य) आदृत्य परमात्मानम्॥

प्रकार बढ़ता है, अभीष्ट धन और अभीष्ट सुन्दर पदार्थ अन्न के लिये और ऐश्वर्य के लिये भले प्रकार हों, सत्यवादियों के लिये सत्य व्यवहार और अन्न हो, प्रकाशमान विस्तृत परमेश्वर के लिये नमस्कार [आदर क्रिया] होवे—यह [मन्त्र भाग वह कहता है], प्रकाश और भूमि के हित के लिये ही [परमात्मा को] नमस्कार करके इस लोक में वह प्रतिष्ठा पाता है, प्रतिष्ठा पाता है [अवश्य ही बड़ाई पाता है]॥ ४॥

भावार्थः--मनुष्यों को चाहिये कि ओषधियों के अंश अंश का गुण जानें और उनसे ठीक ठीक उपयोग लेकर धन प्राप्त करके सुखी रहें॥ ४॥

विशेषः १–इस कण्डिका में भी कं० ३ के समान यजुर्वेद अध्याय ५ मन्त्र ७ के प्रतीक कुछ भेद से दिये हैं, वह मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है, जिससे पद और आशय मिलाने में सुगमता होवे। (अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे। आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व आ प्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्न्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय। एष्टा रायः प्रेषे भगाय ऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥ य० ५।७) (देव) हे दिव्य गुण वाले (सोम) ऐश्वर्यवान् पुरुष वा औषध! (ते) तेरा (अंशुः—अंशुः) अङ्ग अङ्ग (एकधनविदे) एक धर्म से धन पाने वाले (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के लिये (आ प्यायताम्) अच्छे प्रकार बढ़े, (तुभ्यम्) तेरे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष (आ प्यायताम्) अच्छे प्रकार बढ़े, (त्वम्) तू (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्य वाले के लिये (आ प्यायस्व) भले प्रकार बढ़। (अस्मान् सखीन्) हम मित्रों को (सन्न्या) ठीक ठीक ले चलने वाली (मेधया) धारणावती बुद्धि से (आ प्यायय) तू भले प्रकार बढ़ा। (देव) हे दिव्य गुण वाले (सोम) प्रेरक पुरुष (ते स्वस्ति) तेरे लिये कल्याण हो। (सुत्याम्) तत्त्व निचोड़ने की क्रिया को (अशीय) मैं प्राप्त होऊं। (आ—इष्टा रायः) अनेक अभीष्ट धन [होवें], (ऋतवादिभ्यः) सत्यवादी पुरुषों को (इषे) अन्न के लिये और (भगाय) ऐश्वर्य के लिए (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाश और भूमि से (ऋतम्) सत्यज्ञान और (नमः) अन्न वा सत्कार (प्र) अच्छे प्रकार [होवे]॥

विशेषः २—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण १। २६ से मिलाओ॥

विशेषः ३—निम्नलिखित शब्द शोधे गये हैं—

अशुद्ध	शुद्ध	प्रमाण
आस्यैतत्	अस्यैतत्	सायण भाष्य ऐ० ब्रा० १। २६
अंशुरꣳसृष्टे	अꣳशुरꣳशुष्टे	यजुर्वेद ५। ७ और ऐ० ब्रा०
आत्मिन्द्राय	आ त्वमिन्द्राय	१। २६
सन्या	सन्या सन्न्या	वेद में दोनों पाठ हैं

कण्डिका ५॥

मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं, छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्। छिद्रं खमित्युक्तं, तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति। छिद्रो हि यज्ञो भिन्न इवोदधिर्विस्रवति। तद्वै खलु छिद्रं भवति, ऋत्विग्यजमानविमानाद्वापि वैषां व्यपेक्षया मन्त्र-

कल्पब्राह्मणानामप्रयोगाद् यथोक्तानां वा दक्षिणानामप्रदानाद्धीनाद्वातिरिक्ताद्वोत्पाताद् भूतेषु प्रायश्चित्तव्यतिक्रमादिति। इत्येतद्वै सर्वं ब्रह्मण्यर्पितं ब्रह्मैव विद्वान् यद् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यगधीयानश्चरितब्रह्मचर्य्योऽन्यूनातिरिक्ताङ्गः अप्रमत्तो यज्ञं रक्षति, तस्य प्रमादाद्यदि वाप्यसान्निध्याद्यथा भिन्ना नौरगाधे महत्युदके सम्प्लवेत्, मत्स्यकच्छपशिशुमारनक्रमकरपुण्डरीकजषरजसपिशाचानां भागधेयं भवति, एवमादीनां चान्येषां विनष्टोपजीविनाम्। एवं खल्वपि यज्ञश्छिन्नभिन्नोऽपध्वस्त उत्पाताद्भुतो बहुलोऽथर्वभिरसंस्कृतोऽसुरगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां भागधेयं भवति, एवमादीनां चान्येषां विनष्टोपजीविनाम्। तदपि श्लोकाः,

छिन्नभिन्नोपध्वस्तो विश्रुतो बहुधा मखः।
इष्टापूर्त्तद्रविणं गृह्ययजमानस्यावापतत्॥ १॥

ऋत्विजां च विनाशाय राज्ञो जनपदस्य च।
संवत्सरद्विरिष्टं तद् यत्र यज्ञो विरिष्यते॥ २॥

दक्षिणाप्रवणीभूतो यज्ञो दक्षिणतः स्मृतः।
हीनाङ्गो रक्षसाम्भागो ब्रह्मवेदादसंस्कृतः॥ ३॥

चतुष्पात् सकलो यज्ञश्चातुर्होत्रविनिर्मितः।
चतुर्विधैः स्थितो मन्त्रैर्ऋत्विग्भिर्वेदपारगैः॥ ४॥

प्रायश्चित्तैरनुध्यानैरनुज्ञानानुमन्त्रणैः।
होमैश्च यज्ञविभ्रंशं सर्वं ब्रह्मा प्रपूरयेत्॥ इति। ५॥

तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्। स हि यज्ञन्तारयतीति ब्राह्मणम्॥ ५॥

कण्डिका ५॥ यज्ञ में दोषों को ब्रह्मा ही ठीक कर सकता है॥

(मखः इति एतत् यज्ञनामधेयम्, छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्) मख यह यज्ञ का नाम है, [क्योंकि उसमें] छिद्र [दोष] के निषेध का सामर्थ्य है। (खम् इति छिद्रम् उक्तम्, तस्य प्रतिषेधः मा इति, यज्ञं छिद्रं मा करिष्यति इति) ख--यह शब्द छिद्र कहा जाता है, उसका निषेध–मा यह पद है, यज्ञ को वह [ब्रह्मा] छिद्र वाला [दूषित] न करेगा, यह [तात्पर्य] है। (छिद्रः यज्ञः हि भिन्नः उदधिः इव विस्रवति) क्योंकि छिद्र वाला यज्ञ फूटे हुये जलाशय के समान बह जाता है। (तत् वै खलु छिद्रं भवति, ऋत्विग्यजमानविमानात् वा एषां व्यपेक्षया अपि वा, मन्त्रकल्पब्राह्मणानाम्

५--(मखः) मख गतौ--घः, यद्वा मा निषेधे+खनु विदारणे—डः, ह्रस्वत्वम्। अच्छिद्रः। यज्ञः (छिद्रम्) छिद्र--अर्शआद्यच्। छिद्रयुक्तम्। दूषितम् (उदधिः) जलाशयः (विमानात्) अपमानात् (व्यपेक्षया) अनिच्छया (कल्पः) कर्मपद्धतिः। संस्कारविधिः (उत्पातात्) भूकम्पाद्युपद्रवात् (अप्रमत्तः) प्रमा-

अप्रयोगात्, यथोक्तानां दक्षिणानां वा अप्रदानात्, हीनात् वा अतिरिक्तात् वा, भूतेषु उत्पातात्, प्रायश्चित्तव्यतिक्रमात् इति) वह ही निश्चय करके छिद्र [दूषण] होता है— ऋत्विजों और यजमान के अपमान से, अथवा इनकी अनपेक्षा से, अथवा मन्त्र, कल्प [कर्मपद्धति, संस्कारविधि] और ब्राह्मणों [ब्राह्मण ग्रन्थों में कहे विधानों] के प्रयोग न करने से, अथवा यथोक्त दक्षिणाओं के न देने से, अथवा न्यून वा अधिक [देने] से, अथवा प्राणियों पर उत्पात [भूकम्प आदि उपद्रव] से, अथवा प्रायश्चित्त के उल्लंघन से। (इति एतत् वै सर्वं ब्रह्मणि अर्पितम्) यह सब [विघ्नों की रोक] ही ब्रह्मा पर निर्भर है। (विद्वान् ब्रह्मा एव, यत् भृग्वङ्गिरोवित् सम्यक् अधीयानः, चरितब्रह्मचर्यः अन्यूनातिरिक्ताङ्गः, अप्रमत्तः, यज्ञं रक्षति) विद्वान् ब्रह्मा ही, जो भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञानों चारों वेदों] का जानने वाला, यथाविधि पढ़ा हुआ, ब्रह्मचर्य किये हुये, न्यून वा अधिक अङ्ग न रखने वाला [अङ्ग भङ्ग], न चूकने वाला है, यज्ञ की रक्षा करता है। (तस्य प्रमादात् यदि वा अपि असान्निध्यात्, यथा भिन्ना नौः अगाधे महति उदके संप्लवेत्, मत्स्य-कच्छप-शिशुमार-नक्र-मकर-पुण्डरीक-जषर-जसपिशाचानां भागधेयं भवति, एवमादीनाम् अन्येषां विनष्टोपजीविनां च) उस [ब्रह्मा] की भूल से अथवा समीप न रहने से, जैसे टूटी नाव अथाह बड़े जल में डूब जाती है, और मच्छ, कच्छ, शिशुमार, नाके, मगर, पुण्डरीक, जषर, जस, पिशाचों [मांसाहारियों] का भाग हो जाती है, इसी प्रकार दूसरे अपने आश्रितों के नष्ट करने वालों का [भाग होती है]। (एवं खलु अपि छिन्नभिन्नः अपध्वस्तः उत्पाताद्भुतः बहुलः, अथर्वभिः असंस्कृतः यज्ञः असुरगन्धर्वयक्षराक्षस-पिशाचानां भागधेयं भवति, एवमादीनाम् अन्येषां विनष्टोपजीविनां च) इसी प्रकार निश्चय करके टूटा फूटा, नष्ट हुआ, उत्पात [भूकम्पादि उपद्रव] से आश्चर्य युक्त किया हुआ, बहुत दोष ग्रहण करने वाला, अथर्वों [चारों वेदों के निश्चल ज्ञानों] से न संस्कार किया हुआ यज्ञ असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाचों [मांसाहारियों] का भाग होता है, और इसी प्रकार के दूसरे अपने आश्रितों के नष्ट करने वालों का [भाग होता है]। (तत् अपि श्लोकाः) उस विषय में ही श्लोक हैं ।।

दरहितः (असान्निध्यात्) नञ् + सन्निधि—ष्यञ् । अनैकटचात् (सम्प्लवेत्) निमज्जेत् (पुण्डरीकः) फर्फरीकादयश्च (उ० ४ । २०) पुडि मर्दने—ईकन् प्रत्ययान्तो निपातितः । जलजन्तुविशेषः (जषरः) ऋच्छेररः (उ० ३ । १३१) जष हिंसायाम्—अरः, हिंस्रजलजन्तुः (जसः) जष हिंसायाम्—घः । झषः । हिंसकमत्स्यभेदः (विनष्टोपजीविनाम्) विनष्टाश्रितानाम् (उत्पाताद्भुतः) उपद्रवविस्मितः (बहुलः) बहु + ला आदाने—कः । बहुदोषग्राहकः (अपतत्) पतति । अधोगच्छति (संवत्सरविरिष्टम्) संवत्सरयज्ञाद् विनष्टं कर्म (दक्षिणतः) दक्ष वृद्धौ—इनन्, स्वार्थे तसिल् । वृद्धिमान् (चातुर्होत्रविनिर्मितः) चतुर्होतृ—अण् स्वार्थे, अनुशतिकादीनां च (पा० ७ । ३ । २०) उभयपदवृद्धिः । चतुर्होतृभिर्विरचितः (अनुमन्त्रणैः) अनुकूलविचारैः (विभ्रंशम्) भ्रंशु अधःपतने—घञ् । विनाशम् (वृणीयात्) स्वीकुर्यात् ।।

(बहुधा विश्रुतः मखः छिन्नभिन्नः अपध्वस्तः यजमानस्य इष्टापूर्तद्रविणम् अवगृह्य अपतत् । १ ।) बहुत प्रकार से विख्यात यज्ञ छिन्न भिन्न और नष्ट होकर यजमान के इष्ट [अग्निहोत्र वेदाध्ययन आतिथ्य आदि] और पूर्त [बावड़ी कुआं देवमन्दिर आदि] के बल को छीन कर गिर जाता है ॥ १ ॥

(संवत्सरविरिष्टं तत् ऋत्विजां च राज्ञः जनपदस्य च विनाशाय यत्र यज्ञः विरिष्यते । २ ।) संवत्सर यज्ञ से नष्ट किया हुआ कर्म वहां पर ऋत्विजों के और राजा और राज्य के विनाश के लिये [होता है], जहां यज्ञ नष्ट किया जाता है ॥ २ ॥

(दक्षिणाप्रवणीभूतः यज्ञः दक्षिणतः स्मृतः, ब्रह्मवेदात् असंस्कृतः हीनाङ्गः रक्षसां भागः । ३ ।) दक्षिणाओं से विस्तारित यज्ञ षृद्धि वाला कहा गया है, ब्रह्मवेद [ईश्वर ज्ञान] से नहीं संस्कार किया हुआ, अङ्गों से हीन [यज्ञ] राक्षसों [उपद्रवी जीवों] का भाग होता है ॥ ३ ॥

(चातुर्होत्रविनिर्मितः, चतुर्विधैः मन्त्रैः, वेदपारगैः ऋत्विग्भिः स्थितः सकलः यज्ञः चतुष्पात् । ४ ।) चारों होताओं [होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा] से रचा गया, चार प्रकार वाले मन्त्रों और वेदों के पार पाने वाले ऋत्विजों के साथ ठहरा हुआ सम्पूर्ण यज्ञ चार पांव वाला होता है ॥ ४ ॥

(प्रायश्चित्तैः अनुध्यानैः अनुज्ञानानुमन्त्रणैः होमैः च सर्वं यज्ञविभ्रंशं ब्रह्मा प्रपूरयेत् इति । ५ ।) प्रायश्चित्तों [पापशोधन उपायों], अनुकूल ध्यानों, अनुज्ञानों [अनुकूल आज्ञाओं] के अनुमन्त्रण [अनुकूलसम्मतिदान] से और होमों से सब यज्ञ के दोष को ब्रह्मा पूरा करे ॥ ५ ॥

(तस्मात् यजमानः भृग्वङ्गिरोविदम् एव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात्) इसलिये यजमान भृगु अङ्गिराओं [परिपक्व ज्ञान वाले चार वेद] को जानने वाले को ही वहां [यज्ञ में] ब्रह्मा चुने । (सः हि यज्ञं तारयति इति ब्राह्मणम्) वह ही यज्ञ को तार देता है—यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ५ ॥

भावार्थः—जहां पर सब ऋत्विज् लोग चतुर होते हैं और विशेष करके ब्रह्मा चतुर्वेदी, ब्रह्मचारी, और सब विधान जानने वाला होता है, वह यज्ञ निर्विघ्न सिद्ध होकर सब राजा और प्रजा को सुख देता है ॥ ५ ॥

विशेषः- इस कण्डिका को गो० पू० २ । २४ से मिलाओ ॥

कण्डिका ६ ॥

यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्, न वोहमन्नं भविष्यामीति । नेति देवा अब्रुवन्, अन्नमेव नो भविष्यसीति । तं देवा विमेथिरे । स एभ्यो विहतः न प्रबभूव । ते होचुर्देवाः, न वै न इत्थं विहतः अलं भविष्यति हन्तेमꣳ सम्भरामेति[1] । तं सꣳजभ्रुः । तं सम्भृत्योचुरश्विनौ, इमं भिषज्यतमिति । अश्विनौ वै देवानां भिष-

१. सम्भरामीति पू. सं. पाठः ॥ सम्पा० ॥

जावश्विनावध्वर्यू, तस्मादध्वर्यू घर्मं सम्भरतस्तᳬं सम्भृत्योचतुः, ब्रह्मन् घर्मेण प्रचरिष्यामः, होतर्घर्ममभिष्टुहि, उद्गातः सामानि गायेति । प्रचरत घर्ममित्यनुजानाति । ब्रह्मप्रसूता हि प्रचरन्ति, ब्रह्म हेदं प्रसवानामीशे, सवितृप्रसूततायै घर्मं तपामि, ब्रह्म जज्ञानमियम्पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्र इति । घर्मं ताप्यमानमुपासीत, शस्त्रवदर्धर्चश आहावप्रतिगरवर्जं रूपसमृद्धाभिः । एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम् । यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति, स्वस्ति तस्य यज्ञस्य पारमश्नुते य एवं वेद । वेदमिथुनं वा एतत् यद् घर्मः, तस्मादन्तर्धाय[1] प्रचरन्त्यन्तर्हिता वै मिथुनं चरन्तीति । १ । तदेतदेव मिथुनमित्याचक्षते । २ । तस्य यो घर्मः तच्छिश्नं, यौ शफौ, तावाण्ड्यौ, य उपयमनी[2], ते श्रोणिकपाले, यत्पयः, तद्रेतः, तदग्नौ देवयोन्यां रेतो ब्रह्ममयं धत्ते प्रजन[3]नाय । ३ । सोऽग्निर्देवयोनिर्ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो ब्रह्ममयोऽमृतमय आहुतिमयः सर्वेन्द्रियः सम्पन्नो यजमान ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति । ४ । तदाहुः, न प्रथमयज्ञे प्रवर्ग्यं कुर्वीत, अनुपनामका ह वा एनमुत्तरे यज्ञक्रतवो भवन्तीति । कामन्तु योऽनूचानः श्रोत्रियः स्यात्, तस्य प्रवृञ्ज्यात् आत्मा वै स यज्ञस्येति विज्ञायते, अपशिरसा ह वा एष यज्ञेन यजते, योऽप्रवर्ग्येण यजते । शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य, यद् प्रवर्ग्यः । तस्मात् प्रवर्ग्यवतैव याजयेन्नाप्रवर्ग्येण । तदप्येषाभ्यनूक्ता, चत्वारि शृङ्गेति ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ यज्ञ, घर्म और प्रवर्ग्य का वर्णन ॥

(यज्ञः वै देवेभ्यः उदक्रामत् अहं वः अन्नं न भविष्यामि इति) यज्ञ देवताओं से निकल भागा—मैं तुम्हारा अन्न नहीं होऊंगा। (न इति देवाः अब्रुवन्, नः अन्नम् एव भविष्यसि इति) यह नहीं—देवता बोले—तू हमारा अन्न ही होगा। (तं देवाः विमेथिरे) उसको देवताओं ने मारा। (सः विहतः एभ्यः न प्रबभूव) वह मारा हुआ इनके लिये [अन्न बनने को] न समर्थ हुआ। (ते देवाः ह ऊचुः, इत्थं विहतः नः वै अलं न भविष्यति, हन्त इमं सम्भराम इति) वे देवता बोले—इस प्रकार से मारा हुआ यह हमारे लिये पर्य्याप्त न होगा, अच्छा! इसे हम मिलकर धारण करें। (तं संजभ्रुः) उसे उन्होंने मिलकर पकड़ा। (तं संभृत्य ऊचुः अश्विनौ इमं भिषज्यतम् इति) उसे मिलकर धारण करके वे बोले—हे दोनों अश्वियो! इसकी औषध करो। (अश्विनौ वै देवानां भिषजौ अश्विनौ अध्वर्यू तस्मात् अध्वर्यू घर्मं सम्भरतः) दोनों अश्वी [प्राण और अपान] ही देवों [इन्द्रियों] के दो वैद्य

६—(उदक्रामत्) उत्क्रान्तवान् (विमेथिरे) विविध हिंसितवन्तः (विहतः) विविधं ताडितः (अलम्) पर्य्याप्तम् (सम्भराम) ऐ० ब्रा० १ । १८ । सम्यग् धराम । पोषयाम । (संजभ्रुः) हस्य भः । सजह्रुः । एकीभूय गृहीतवन्तः (ऊचुः)—

---

१. पू. सं. "अन्तर्धा हि" इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'उपयमनीके' इति पाठः ॥

३. बृहदारण्यक ६ । २ । १३ तथा छान्दोग्य ५ । ८ । १-२ में वर्णित यज्ञ की विभिन्न उपमाओं के अनुरूप यहाँ भी विभिन्न रूपक वर्णित हुए हैं ॥ सम्पा० ॥

हैं, दो अश्वी दो अध्वर्यु [के समान] हैं, इसलिये दो अध्वर्यु घर्म [यज्ञ वा पात्र विशेष] को यथावत् धारण करते हैं। (तं सम्भृत्य ऊचतुः, ब्रह्मन् घर्मेण प्रचरिष्यामः, होतः घर्मम् अभिष्टुहि, उद्गातः सामानि गाय इति) उस [यज्ञ] को यथावत् धारण करके वे दोनों [अध्वर्यु] बोले—हे ब्रह्मन्! [ब्रह्मा] घर्म से हम कार्य करेंगे, हे होता घर्म की तू स्तुति कर, [इतने को ऐ० ब्रा० १ । १८ से मिलाओ], हे उद्गाता! तू साममन्त्रों को गा। (घर्मं प्रचरत इति अनुजानाति) घर्म को तुम सब काम में लाओ—यह वह [ब्रह्मा] आज्ञा देता है। (ब्रह्मप्रसूताः हि प्रचरन्ति, इदं ब्रह्म ह प्रसवानाम् ईशे, सवितृप्रसूततायै घर्मं तपामि, जज्ञानं ब्रह्म, इयं पित्र्या राष्ट्री अग्रे एतु इति) क्योंकि ब्रह्मा से प्रेरित [ऋत्विग् लोग] कार्य करते हैं—यह ब्रह्म [परमात्मा] ही उत्पन्न पदार्थों का ईश्वर है, सविता [सर्वप्रेरक परमात्मा] से प्रेरणा के लिये घर्म [यज्ञपात्र] को तपाता हूँ, [इन दो प्रतीकों को अथर्व० ५ । २४ । १ से मिलाओ], विद्यमान ब्रह्म, और यह पिता [जगत् पिता परमेश्वर] से आयी हुई राजराजेश्वरी [वेदवाणी] हमारे आगे आवे [यह दोनों प्रतीक अथर्व० ४ । १ । १ तथा २ के हैं]। (ताप्यमानं घर्मं रूपसमृद्धाभिः शस्त्रवत् अर्धर्चशः आहावप्रतिगरवर्जं उपासीत) तपाते हुये घर्म को रूप [प्रयोजनीय आशय] से सम्पन्न, स्तुति वाली आधी-आधी ऋचाओं से झगड़ा और प्रत्युत्तर छोड़ कर वह [यजमान] सेवे। (एतत् वै यज्ञस्य समृद्धं, यत् रूपसमृद्धम्, यत् क्रियमाणं कर्म ऋग् यजुः वा अभिवदति) यह ही यज्ञ की सम्पन्नता [सिद्धि] है जो रूप [प्रयोजनीय आशय] की सम्पन्नता है—[अर्थात्] जिस किये जाते हुये कर्म को ऋचा वा मन्त्र बताता है। (स्वस्ति तस्य यज्ञस्य पारम् अश्नुते यः एवं वेद) कल्याण के साथ उस यज्ञ का पार वह पाता है, जो ऐसा जानता है॥

(वेदमिथुनं वै एतत् यत् घर्मः, तस्मात् अन्तर्धाय प्रचरन्ति, अन्तर्हिताः वै मिथुनं चरन्ति इति) यह वेदोक्त मिथुन व्यापार ही है जो यह घर्म है, इसलिये गुप्त हो कर ही इसको वे सेवते हैं, गुप्त होकर ही मिथुन व्यापार लोग करते हैं। १। (तत् एतत् एव मिथुनम् इति आचक्षते) वह ही यह मिथुन व्यापार है—ऐसा लोग कहते हैं। २। (तस्य यः घर्मः तत् शिश्नं, यौ शफौ तौ आण्ड्यौ, ये उपयमनी ते श्रोणिकपाले, यत् पयः तत् रेतः, तत् अग्नौ देवयोन्यां ब्रह्ममयं रेतः प्रजनाय धत्ते)

ऐ० ब्रा० १ । १८ (सम्भरतः)—ऐ० ब्रा० १ । १८ (प्रचरिष्यामः) अनुष्ठास्यामः (अनुजानाति) आज्ञापयति (ब्रह्मप्रसूताः) ब्रह्मणा चतुर्वेदविदा प्रेरिताः (प्रसवानाम्) उत्पन्नपदार्थानाम् (ईशे) तलोपः। ईष्टे। ईश्वरोऽस्ति (घर्मम्) पात्रविशेषं यज्ञं वा (जज्ञानम्) जनी प्रादुर्भावे—शानच्, शपः श्लौ सति रूपम्[1]। जायमानम्। दृश्यमानम्। (पित्र्या) पितुर्यच्च (पा० ४ । ३ । ७९) पितृ—यत्, टाप्। पितृसकाशादागता। पैतृका (राष्ट्री) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—ष्ट्रन्, ङीष्। राष्ट्री, ईश्वरनाम—निघ० २ । २२। राज्ञी। ईश्वरी। सर्वनियन्त्री (एतु) गच्छतु (अग्रे) अभिमुखम् (उपासीत) उप +

---

१. शप् को श्लु बाहुलक नियम से हुआ है॥ सम्पा०॥

उस [यज्ञ] का जो घर्म [पात्र विशेष] है वह शिश्न [पुरुष लिङ्ग] है, जो दो शफ [उष्ण पदार्थ लेने के लिये काठ के शस्त्र विशेष] हैं वे दो आण्ड [अण्डकोश] हैं, जो दो उपयमनी [दर्वी वा डोई] हैं वे दो श्रोणिकपाल [कटिमध्य के दो खण्ड] हैं, जो दूध है वह वीर्य है, इसलिये अग्नि देवयोनि [दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति स्थान] में ब्रह्ममय वीर्य को गर्भाधान के लिये वह [यजमान] धारण करता है। ३। (सः अग्निः देवयोनिः ऋङ्मयः, यजुर्मयः, साममयः, ब्रह्ममयः, अमृतमयः, आहुतिमयः, सर्वेन्द्रियः, सम्पन्नः, यजमानः ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकम् एति) वह अग्नि देवयोनि [समान] ऋग्वेद युक्त, यजुर्वेद युक्त, सामवेद युक्त, ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] युक्त, अमृत [मोक्ष सुख] युक्त, आहुति [दान और ग्रहण व्यापार] युक्त, सब इन्द्रियों वाला और संपत्ति वाला यजमान ऊंचा होकर स्वर्ग लोक पाता है। ४। [इन चार वाक्यों को ऐ० ब्रा० १। २२ से मिलाओ]॥

(तत् आहुः प्रथमयज्ञे प्रवर्ग्यं न कुर्वीत, अनुपनामकाः ह वै उत्तरे यज्ञक्रतवः एनं भवन्ति इति) लोग यह कहते हैं—प्रथम यज्ञ में प्रवर्ग्य [यज्ञ] को न करे, उपनाम बिना ही पिछले यज्ञ कर्म इस [प्रवर्ग्य] को प्राप्त होते हैं। (कामं तु यः अनूचानः श्रोत्रियः स्यात् तस्य प्रवृंज्यात्, सः वै यज्ञस्य आत्मा इति विज्ञायते) ऐसा ही हो किन्तु जो अनूचान [अङ्ग उपाङ्गों सहित वेद पढ़ा हुआ], और श्रोत्रिय [वेद विहित धर्म जानने वाला] हो उसके समर्थ होने से [प्रवर्ग्य करे,] वह ही यज्ञ का आत्मा है यह जाना गया है। (अपशिरसा यज्ञेन ह वै एषः यजते, यः अप्रवर्ग्येण यजते) बिना शिर वाले यज्ञ से ही वह यज्ञ करता है, जो प्रवर्ग्य के बिना यज्ञ करता है। (यज्ञस्य एतत् ह वै शिरः यत् प्रवर्ग्यः) यज्ञ का यह ही शिर है जो प्रवर्ग्य है। (तस्मात् प्रवर्ग्यवता एव याजयेत्, न अप्रवर्ग्येण) इसलिये प्रवर्ग्यवान् [यजमान] से ही यज्ञ करावे, अप्रवर्ग्य वाले से न [यज्ञ करावे]। (तत् अपि एषा अभ्यनूक्ता, चत्वारि शृङ्गा इति) इसलिये यह [ऋचा] पढ़ी जाती है—चत्वारि शृङ्गा..... [देखो गो० पू० २। १७]॥ ६॥

भावार्थः—यज्ञ में यज्ञ विभागों को ठीक ठीक करने से यजमान स्वर्गलोक पाता है॥ ६॥

विशेषः १—यह शब्द शुद्ध किये गये हैं—इच्छन् = इत्थं, ऐ० ब्रा० १। १८, राष्ट्रेत्व = राष्ट्रचेत्व, अथर्व० ४। १। २॥

आस उपवेशने—विधिलिङ्। उपचरेत् (आहावप्रतिगरवर्जम्) युद्धं प्रतिकूलशब्दं च वर्जयित्वा (अन्तर्धाय) अन्तर्—दधातेः—ल्यप्। तिरोभूय (शफौ) शमु उपशमे—अच्, मस्य फः। उष्णपदार्थग्रहणाय काष्ठनिर्मितशस्त्रभेदौ (आण्ड्यौ) स्वार्थे—ष्यञ्। अण्डकोशौ (उपयमनी) दर्वीद्वयम् (श्रोणिकपाले) श्रोणिद्वय-मध्यगतमस्थिद्वयम् (देवयोन्याम्) देवानामुत्पत्तिस्थाने (सम्पन्नः) सम्पत्तिवान् (अनुपनामकाः) उपनामरहिताः (भवन्ति) प्राप्नुवन्ति (कामम्) अनुमतौ (प्रवृञ्ज्यात्) प्र+वृजी वृजि वर्जने—क्यप्। वृजनं बलं—निघ० २। ९। सामर्थ्यात् (अपशिरसा) विगतमस्तकेन॥

विशेष: २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

१—सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ।। अथ० ५ । २४ । १ । (सविता) सबका उत्पन्न करने वाला वा सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (प्रसवानाम्) उत्पन्न पदार्थों वा अच्छे अच्छे ऐश्वर्यों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे, (अस्मिन्) इस (ब्रह्मणि) बड़े वेदज्ञान में, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्तव्य कर्म में, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहित पदवी में, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा वा सत्क्रिया में, (अस्यां चित्याम्) इस चेतना में, (अस्याम् आकूत्याम्) इस संकल्प वा उत्साह में (अस्याम् आशिषि) इस अनुशासन में, और (अस्यां देवहूत्याम्) इस विद्वानों के बुलावे में (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ।।

२—ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः । स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ।। अथ० ४ । १ । १, यजु० १३ । ३ । साम० पू० ४ । ३ । ९ ।। (वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्) पहले काल में (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म) वृद्धि के कारण अन्न को और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतः) सीमाओं वा छोरों से (वि आवः) फैलाया है । (सः) उसने (बुध्न्याः) अन्तरिक्ष में वर्तमान (उपमाः) [परस्पर आकर्षण से] तुलना करने वाले (विष्ठाः) विशेष विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चय करके (वि वः) खोला है ।।

३—इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः । तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ।। अथ० ४ । १ । २ ।। (पित्र्या) पिता [जगत्पिता परमेश्वर] से आई हुयी, (भुवनेष्ठाः) सब जगत् में ठहरी हुई (इयम्) यह (राष्ट्री) राजराजेश्वरी शक्ति [वेदवाणी] (प्रथमाय) सबसे उत्तम (जनुषे) जन्म के लिये (अग्रे) हमारे आगे (एतु) आवे, [अर्थात्] (तस्मै) उस (प्रथमाय) सबसे ऊपर विराजमान (धास्यवे) संसार का धारण पोषण चाहने वाले परमात्मा के लिये (एतम्) इस (सुरुचम्) बड़े रुचिर (ह्वारम्) अनिष्ट को झुका देने वाले (अह्यम्) प्राप्ति योग्य, वा प्रतिदिन वर्तमान (घर्मम्) यज्ञ को (श्रीणन्तु) सब लोग परिपक्व करें ।।

कण्डिका ७ ।।

देवाश्च ह वा ऋषयश्चासुरैः संयत्ता आसन् । तेषामसुराणामिमाः पुरः प्रत्यभिजिता आसन्, अयस्मयी पृथिवी, रजतान्तरिक्षं, हरिणी द्यौः । ते देवाः सङ्घातं सङ्घातं पराजयन्त । ते विदुः, अनायतना हि वै श्यः[1] स्मः, तस्माद्

१. "श्यः" इति पाठो न सार्वत्रिकः ।। सम्पा० ।।

पराजयामहा इति त एताः पुरः प्रत्यकुर्वत, हविर्धानन्दिव आग्नीध्रमन्तरिक्षात्सदः पृथिव्याः । ते देवा अब्रुवन्, उपसदमुपायाम, उपसदा वै महापुरञ्जयन्तीति । त एभ्यो लोकेभ्यो निरघ्नन्, एकयामुष्माल्लोकादेकयान्तरिक्षादेकया पृथिव्याः । तस्मादाहुः, उपसदा वै महापुरञ्जयन्तीति । त एभ्यो लोकेभ्यो निर्हता ऋतून् प्राविशन् । ते षडुपायन्, तानुपसद्भिरेवर्तुभ्यो निरघ्नन्, द्वाभ्याममुष्माल्लोकाद् द्वाभ्यामन्तरिक्षाद् द्वाभ्यां पृथिव्याः । ते ऋतुभ्यो निर्हताः संवत्सरं प्राविशन् । ते द्वादशोपायन्, तानुपसद्भिरेव संवत्सरान्निरघ्नन्, चतसृभिरमुष्माल्लोकाच्चतसृभिरन्तरिक्षाच्चतसृभिः पृथिव्याः । ते संवत्सरान्[1] निर्हता अहोरात्रे प्राविशन्, ते यत्सायमुपायन्, तेनैतान् रात्र्या अनुदन्त, यत् प्रातः, तेनाह्नः । तस्माद् गौः सायम्प्रातःस्तनमाप्यायते । प्रातःसायन्तनन्तानुपसद्भिरेवैभ्यो लोकेभ्यो नुदमाना आयन्, ततो देवा अभवन् परासुराः । सर्वेभ्य एवैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यन्नुदमान एति, य एवं विद्वानुपसदमुपैति ॥ ७ ॥

कण्डिका ७ ॥ देवासुर सङ्ग्राम में उपसद् यज्ञ द्वारा देवताओं की विजय ॥

(देवाः च ऋषयः च ह वै असुरैः संयत्ताः आसन्) देव [विद्वान्] और ऋषि [सन्मार्गदर्शक लोग] असुरों [राक्षसों वा विघ्नों] करके वशीभूत हुये । (तेषाम् असुराणाम् इमाः पुरः प्रत्यभिजिताः आसन्, अयस्मयी पृथिवी, रजता अन्तरिक्षं, हरिणी द्यौः) उन असुरों करके यह नगरियां [देवताओं से] लड़कर जीती हुयी थीं--गति [वा सुवर्ण] वाली [नगरी] पृथिवी, सब लोकों वाली [नगरी] अन्तरिक्ष और प्रकाश वाली [नगरी] सूर्यलोक । (ते देवाः सङ्घातं सङ्घातं पराजयन्त) वे देवता टोली टोली करके हराये गये । (ते विदुः, अनायतनाः हि वै श्यः स्मः, तस्मात् पराजयामहै इति त एताः पुरः प्रत्यकुर्वत, हविर्धानं दिवः, आग्नीध्रम् अन्तरिक्षात्, सदः पृथिव्याः) उन्होंने विचारा--घरों के बिना हम सोते हुये हैं, इसलिये [असुरों को]

७-(देवाः) विद्वांसः (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः (असुरैः) असेरुरन् (उ० १ । ४२) असु क्षेपणे—उरन् । शुभगुणस्य क्षेपणशीलैः । राक्षसैः । विघ्नैः । (संयत्ताः) सम् + यती प्रयत्ने—क्तः । आयत्ताः वशीभूताः (पुरः) नगराणि । दुर्गाणि (अयस्मयी) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इण् गतौ—असुन् । अयः, हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । सुवर्णमयी । गतिमती (रजता) । पृषिरञ्जिभ्यां कित् (उ० ३ । १११) रञ्ज रागे—अतच्, ततः अर्शआद्यच् टाप् । लोका रजांस्युच्यन्ते—निरु० ४ । १९ । रज एव रजतं, सर्वलोकमयी नगरी (हरिणी) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २ । ४६) हृञ् हरणे—इनच्, ङीप् । मत्वर्थीयलोपः । हिरण्यमयी । प्रकाशमयी (द्यौः) सूर्यलोकः (सङ्घातम्) समूहम् (अनायतनाः) आश्रयरहिताः (श्यः) शीङ् स्वप्ने—क्विप् । शयिताः । निद्रिताः (प्रत्यकुर्वत) प्रतिकूलाः कृतवन्तः (हविर्धानम्) हविषः अन्नस्य यज्ञस्थानविशेषम् (सदः) सदनस्थानम्

---

१. पू. सं. 'संवत्सरा' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

हम हरावें--सो उन्होंने यह नगर बनाये, हविर्धान [अन्न स्थान] सूर्य से, आग्नीध्र [यज्ञ में अग्नि जलाने का स्थान] अन्तरिक्ष से और सद [बैठने का स्थान] पृथिवी से। (ते देवाः अब्रुवन्, उपसदम् उपायाम, उपसदा वै महापुरं जयन्ति इति) वे देवता बोले—उपसद् [यज्ञ विशेष वा पास पास पहुंचने की क्रिया] को हम करें, उपसद् से ही बड़े नगर को लोग जीतते हैं। (ते एभ्यः लोकेभ्यः निरघ्नन्, एकया अमुष्मात् लोकात् एकया अन्तरिक्षात्, एकया पृथिव्याः) उन्होंने [असुरों को] इन लोकों से मार निकाला, एक [उपसद्] द्वारा उस [सूर्य] लोक से, एक के द्वारा अन्तरिक्ष से और एक के द्वारा पृथिवी से। (तस्मात् आहुः, उपसदा वै महापुरं जयन्ति इति) इसलिये कहते हैं—उपसद् द्वारा ही बड़े नगर को लोग जीतते हैं। (ते एभ्यः लोकेभ्यः निर्हताः ऋतून् प्राविशन्) वे [असुर] इन लोकों से निकाले गये होकर ऋतुओं में प्रविष्ट हुये। (ते षट् उपायन् तान् उपसद्भिः एव ऋतुभ्यः निरघ्नन्, द्वाभ्याम् अमुष्मात् लोकात् द्वाभ्याम् अन्तरिक्षात् द्वाभ्यां पृथिव्याः) उन [देवताओं] ने छह [उपसदों] को प्राप्त किया, उन [असुरों] को उपसदों द्वारा ऋतुओं से निकाल दिया--दो [उपसद्] द्वारा उस लोक से, दो के द्वारा अन्तरिक्ष से और दो के द्वारा पृथिवी से [अर्थात् दो दो महीने वाले छह ऋतुओं के लिये छह उपसद् किये]। (ते ऋतुभ्यः निर्हताः संवत्सरं प्राविशन्) वे [असुर] ऋतुओं से निकाले गये होकर संवत्सर में प्रविष्ट हुये। (ते द्वादश उपायन्. तान् उपसद्भिः एव संवत्सरात् निरघ्नन्, चतसृभिः अमुष्मात् लोकात्, चतसृभिः अन्तरिक्षात्, चतसृभिः पृथिव्याः) उन [देवताओं] ने बारह [उपसदों] को प्राप्त किया, उन [असुरों] को उपसदों द्वारा ही संवत्सर से निकाल दिया—चार [उपसदों] द्वारा उस लोक से, चार के द्वारा अन्तरिक्ष से और चार के द्वारा पृथिवी से [चातुर्मास्य यज्ञ के लेखे से चार चार का ग्रहण किया है]। (ते संवत्सरात् निर्हताः अहोरात्रे प्राविशन्) वे [असुर] संवत्सर से निकाले गये होकर दिन रात्रि में प्रविष्ट हुये। (ते यत् सायम् उपायन् तेन एनान् रात्र्याः अनुदन्त, यत् प्रातः, तेन अह्नः) उन [देवताओं] ने जो सायंकाल [के उपसद्] को प्राप्त किया, उस [कर्म] से इन [असुरों] को रात्रि से निकाल दिया, जो प्रातःकाल [उपसद् किया], उसके द्वारा दिन से [उन्हें निकाल दिया]। (तस्मात् गौः सायम्प्रातः स्तनम् आप्यायते) इसलिये गौ सायंकाल और प्रातःकाल पिन्हाती है [अर्थात् यह दोनों काल अधिक स्वास्थ्यकारक हैं]। (प्रातः सायन्तनम् तान् उपसद्भिः एव एभ्यः लोकेभ्यः नुदमानाः आयन्) प्रातःकाल और सायंकाल उन [असुरों] को उपसदों [पास बैठने वा उपासना आदि क्रियाओं] के द्वारा ही इन लोकों से निकालने वाले वे [देवता] हुये हैं। (ततः देवाः असुराः परा अभवन्) इसी से देवताओं ने असुरों को हराया। (सर्वेभ्यः एव एभ्यः

(उपसदम्) उप+षद्लृ विशरणगतिहिंसनेषु—क्विप्। समीपोपवेशनक्रियाम्। यज्ञविशेषम् (उपायाम) उप+आङ्+या गतौ--लोट्। अनुतिष्ठाम (निरघ्नन्) निःसारितवन्तः (उपायन्) उप+इण् गतौ–लङ्। सम्पादितवन्तः (आप्यायते) वर्धते दुग्धेन (सायन्तनम्) सायंचिरंप्राह्णे० (पा० ४। ३। २३) स्वार्थे ट्यु तुट् च। सायङ्काले (नुदमानाः) प्रेरयन्तः (उपैति) अनुतिष्ठति॥

लोकेभ्यः भ्रातृव्यं नुदमानः एति, यः एवं विद्वान् उपसदम् उपैति) इन सभी लोकों से बैरी को निकालता हुआ वह चलता है. जो ऐसा विद्वान् होकर उपसद् [पास बैठने वा उपासना करने की क्रिया] को प्राप्त होता है ।। ७ ।।

भावार्थः—इस कण्डिका में असुर शब्द से भूकम्प, तारापतन आदि उत्पातों और विघ्नों की ओर संकेत है, जिनका बुरा प्रभाव स्थानों और समय पर होता है । बुद्धिमान् लोग ऐसे विघ्नों से बचने के लिये समय समय पर और सायं प्रातः परस्पर विचार करके उपाय करें ।। ७ ।।

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० १ । २३ से मिलाओ ।

विशेषः २—इस कण्डिका का कुछ आधार यजुर्वेद अ० ५ । म० ८ जान पड़ता है, वह अर्थ सहित यहाँ दिया जाता है । (या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा । या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा । या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा ।।) (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी परमेश्वर] (या ते) जो तेरा (अयःशया) सुवर्ण आदिकों में वर्त्तमान (तनूः) विस्तृत शरीर (वर्षिष्ठा) अत्यन्त बड़ा और (गह्वरेष्ठा) गहरे आभ्यन्तर में ठहरा हुआ है, [उसने] (स्वाहा) उत्तम वेदवाणी से (उग्रं वचः) भयंकर वचन को [संसार में] (अप अवधीत्) नष्ट किया है, (त्वेषं वचः) भड़कीले वचन को (अप अवधीत्) नष्ट किया है । (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी परमेश्वर] (या ते) जो तेरा (रजःशया) लोकों में वर्तमान (तनूः) विस्तृत शरीर...... नष्ट किया है । (अग्ने) हे अग्नि ! (या ते) जो तेरा (हरिशया) मनुष्य आदि में वर्तमान (तनूः) विस्तृत शरीर (वर्षिष्ठा) अत्यन्त बड़ा और (गह्वरेष्ठा) गहरे आभ्यन्तर में ठहरा हुआ है, [उसने] (स्वाहा) उत्तम वेदवाणी से (उग्रं वचः) भयंकर वचन को [संसार में] (अप अवधीत्) नष्ट किया है, (त्वेषं वचः) भड़कीले वचन को (अप अवधीत्) नष्ट किया है ।।

कण्डिका ८ ।।

न द्वादशाग्निष्टोमस्योपसदः स्युः, अशान्ता निर्मृज्युः[१] न[२] तिस्रोऽहीनस्य, उपरिष्टाद्यज्ञक्रतुर्गरीयानभिषीदेत्, यथा गुरुर्भारो ग्रीवा निः[३]श्रीणीयादार्त्तिमार्छेत्[४] । द्वादशाहीनस्य कुर्य्यात्, प्रत्यु तथैव सयत्वाय[५] । तिस्रोऽग्निष्टोमस्योपसदः स्युः, शान्ताग्निर्मार्गाय । ते देवा असुर्य्यान् इमांल्लोकानान्ववैतुमाधृष्णुवन् । तानग्निना मुखेनान्ववायन्, यदग्निमनुष्टुपसदां प्रतीकानि भवन्ति । यथा क्षेत्रपतिः क्षेत्रेऽन्ववनयन्ति एवमेवैतदग्निना मुखेनेमांल्लोकानभिनयन्तो यन्ति । यो ह वै देवान् साध्यान् वेद, सिद्ध्यत्यस्मै । इमे वाव लोकाः, यत्साध्याः देवाः । स य एवमेतान्

---

१. पू. सं. 'निर्मृज्येरन्' इति पाठः ।।　　२. पू. सं. 'न' इति पाठः नास्ति ।।
३. पू. सं. निःश्रोणीयात् इति पाठः ।।　　४. पू. सं. 'आर्छेदत्' इति पाठः ।।
५. भ्रष्टोऽयं पाठः प्रतीयते ।। सम्पा० ।।

साध्यान्वेद, सिद्ध्यत्यस्मै सिद्ध्यत्यमुष्मै । सिद्ध्यत्यस्माल्लोकात्, य एवं विद्वानुपसदमुपैति ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ उपसद् यज्ञों का अधिक वर्णन ॥

(अग्निष्टोमस्य द्वादश उपसदः न स्युः) *अग्निष्टोम[1] [जो एक दिन में प्रधान-सुत्या याग द्वारा निष्पन्न होता है] में बारह उपसत् नहीं करनी चाहिये, [क्योंकि अधिक होने से] (अशान्ताः निर्मृज्युः) अशान्त होकर बह जाती हैं। (अहीनस्य न तिस्रः) अहीन याग [जो द्विरात्रादि एकादशरात्रपर्यन्त अग्निष्टोम से अधिक दिनों में किया जाता है] में तीन [उपसद्] नहीं [करनी चाहिये, किन्तु बारह उपसद् ही करनी चाहिये, क्योंकि अग्निष्टोम से] (उपरिष्टात् गरीयान् यज्ञक्रतुः अभिषीदेत्, यथा गुरुः भारः ग्रीवाः निःश्रीणीयात् आर्तिम् आर्च्छेत्) ऊपर का [अहीनरूप] गुरुतर यज्ञक्रतु [अपने अनुरूप उपसद् याग के बिना सर्वतोमुख रीति से] क्षीण हो जायेगा, जिस प्रकार [अल्प बल वाली तीन उपसद् रूप] ग्रीवा में रखा हुआ अधिक भार [अहीन रूप अनेक दिन साध्य यज्ञ कार्य] ग्रीवा को निश्चयेन तोड़ देगा [जिसके कारण यजमान को] रोगादि कष्ट होगा[1]।* (अहीनस्य द्वादश कुर्यात् प्रत्यु तथा एव सयत्वाय) अहीन यज्ञ के बारह [उपसद्] करे, प्रत्यक्ष में वैसा ही समान प्रयत्न के लिये [होता है]। (अग्निष्टोमस्य तिस्रः उपसदः स्युः, शान्ताग्निः मार्गाय) अग्निष्टोम यज्ञ के तीन उपसद् हों, शान्त अग्नि मार्ग के लिये है। (ते देवाः असुर्य्यान् इमान् लोकान् आन्ववैतुम् आधृष्णुवन्) वे देवता लोग असुरों के इन लोकों पर चढ़ाई करने को साहसी हुये। (तान् मुखेन अग्निना आन्ववायन् यत् अग्निम् अनुष्टुपसदां प्रतीकानि भवन्ति) उन [लोकों] पर मुखिया अग्नि के द्वारा वे चढ़ गये,

---

८—(न) निषेधे (निर्मृज्युः) मृजूष् शोधने—विधिलिङ्। निर्वहेयुः (अहीनस्य) अह्नः खः क्रतौ (वा० पा० ४। २। ४२) अहन्—खप्रत्ययः समूहे। अह्नष्टखोरेव (पा० ६। ४। १४५) टिलोपः खप्रत्यये। अथवा, ओहाक् त्यागे—क्तः, नञ्समासः। न ह्येषु किञ्चन हीयते—गो० उ० ५। १५। अहर्गणसाध्ययज्ञम्। सम्पूर्णाङ्गयज्ञम् (गरीयान्) गुरु—ईयसुन्। गुरुतरः (अभिषीदेत्) विशीर्णो भवेत् (निःश्रीणीयात्) श्रीञ् हिंसायाम्। हिंसनम् कुर्यात् (आर्तिम्) पीडाम् (आर्च्छेत्) आ+ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु विधिलिङ्। सन्दीपयेत् (प्रत्यु) प्रत्यक्षेणैव (सयत्वाय) अशूप्रुषिलटिकणि० (उ० १। १५१) समान+यती प्रयत्ने—क्वन्, तुक् च। समानप्रयत्नत्वाय (असुर्य्यान्) असुर—यत्। असुरसम्बन्धिनः (आन्ववैतुम्) आ+अनु+अव+इण् गतौ—तुमुन्। समन्तात् प्राप्तुम् (आधृष्णुवन्) आ+अधृष्णुवन्। सर्वतो धृष्टाः साहसिनः अभवन्

---

१. अग्निष्टोमस्य से आर्तिमार्च्छेत् तक की कण्डिका का पुष्पाङ्कित भाष्य हमारा है। पूर्व स० में कई भ्रष्ट पाठ एवं 'न' का पाठ (द्र० पृ० ३२३ टि० २) च्युत होने से भाष्यकार का अर्थ असङ्गत हो गया था॥ सम्पा०॥

क्योंकि अग्नि को निरन्तर उन्नति पाने वाले यज्ञों के अवयव प्राप्त होते हैं । (यथा क्षेत्रपतिः क्षेत्रे अन्ववनयन्ति, एवम् एव एतत् मुखेन अग्निना इमान् लोकान् अभिनयन्तः यन्ति) जैसे किसान खेत में [अन्न आदि] निरन्तर पाते हैं, वैसे ही यह लोग मुखिया अग्नि के द्वारा इन लोकों को सब ओर से पाते हुये चलते हैं । (यः ह वै साध्यान् देवान् वेद, अस्मै सिध्यति) जो ही पुरुष साध्य [साधनीय श्रेष्ठ कर्मों को साधने वाले] देवों [विजयी पुरुषों] को जानता है, उसके लिये सिद्धि होती है । (इमे वाव लोकाः, यत् साध्याः देवाः) यह ही वे लोक [जन वा भुवन] हैं, जो साध्य देव हैं । (सः यः एवम् एतान् साध्यान् वेद, अस्मै सिध्यति, अमुष्मै सिध्यति) जो कोई इस प्रकार इन साध्यों [श्रेष्ठ कर्मों के साधने वालों] को जानता है, वह इस [समीप वाले पुरुष] के लिये सिद्धि पाता है और उस [दूर वाले पुरुष] के लिये सिद्धि पाता है । (अस्मात् लोकात् सिध्यति, यः एवं विद्वान् उपसदम् उपैति) वह इस लोक से सिद्धि पाता है, जो ऐसा जानकर पुरुष उपसद् यज्ञ को प्राप्त होता है ।। ८ ।।

भावार्थः--अग्निष्टोम यज्ञ और अहीन यज्ञ के उपसदों को यथावत् करने से यजमान को यथावत् सिद्धि होती है ।। ८ ।।

कण्डिका ९ ।।

अथ यत्राह, अध्वर्युरग्नीद्देवपत्नीर्व्याचक्ष्व, सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्यामाह्वयेति । तदपरेण गार्हपत्यं प्राङ्मुखस्तिष्ठन्ननवान्नाग्नीध्रो देवपत्नीर्व्याचष्टे, पृथिव्यग्नेः पत्नी, वाग् वातस्य पत्नी, सेनेन्द्रस्य पत्नी, धेना बृहस्पतेः पत्नी, पथ्या पूष्णः पत्नी गायत्री वसूनां पत्नी, त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी, जगत्यादित्यानां पत्नी, अनुष्टुप् मित्रस्य पत्नी, विराड् वरुणस्य पत्नी, पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी, दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नीति । अति भ्रातृव्यानारोहति, नैनं भ्रातृव्या आरोहन्ति उपरि भ्रातृव्यानारोहति, य एवं विद्वानग्नीध्रो देवपत्नीर्व्याचष्टे ।। ९ ।।

कण्डिका ९ ।। आग्नीध्र द्वारा देवपत्नियों का वर्णन ।।

(अथ यत्र आह, अग्नीत् अध्वर्युः देवपत्नीः व्याचक्ष्व, सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्याम् आह्वय इति) फिर जहां वह [ब्रह्मा] कहता है—हे अग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक] अध्वर्यु

(अन्ववायन्) अनु+अव+आयन् । निरन्तरं प्राप्तवन्तः (अनुष्टुपसदाम्) अनु+ष्टुप समुच्छ्राये---कः+षद्लृ गतौ--क्विप् । उन्नतिप्राप्तानां यज्ञानाम् (प्रतीकानि) अवयवाः (भवन्ति) प्राप्नुवन्ति (साध्यान्) साध्यं येषामस्तीति, साध्य--अर्शआद्यच् । साधनवतः । परोपकारकान् साधून् (देवान्) विजिगीषून् (लोकाः) जनाः । भुवनानि (सिध्यति) साधयति । सिद्धिं प्राप्नोति (अस्मै) समीपस्थाय पुरुषाय (अमुष्मै) दूरस्थाय पुरुषाय ।।

९ — (अग्नीत्) अग्नि + ञिइन्धी दीप्तौ—क्विप् । अग्निप्रज्वलयिता । ऋत्विक् (व्याचक्ष्व) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च । विविधं कथय पश्य वा (सुब्रह्म-

तू देवपत्नियों की व्याख्या कर, हे सुब्रह्मण्य ! [अच्छे प्रकार वेद में चतुर] सुब्रह्मण्या को बुला। (तत् अपरेण गार्हपत्यं प्राङ्मुखः तिष्ठन् अनवान् आग्नीध्रः न देवपत्नीः व्याचष्टे) वहां दूसरे [सुब्रह्मण्य] के साथ गार्हपत्य अग्नि से पूर्व मुख बैठा हुआ सावधान आग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक अध्वर्यु] अब देवपत्नियों की व्याख्या करता है—(पृथिवी अग्नेः पत्नी) पृथिवी अग्नि [तेजस्वी पुरुष] की पत्नी [पालनशक्ति] है, (वाक् वातस्य पत्नी) वाणी वात [वायु समान वेग वाले पुरुष] की पत्नी है, (सेना इन्द्रस्य पत्नी) सेना [सेनादल] इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] की पत्नी है, (धेना बृहस्पतेः पत्नी) धेना [पीने योग्य अर्थात् स्वीकार करने योग्य नीति] बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के स्वामी] की पत्नी है, (पथ्या पूष्णः पत्नी) पथ्या [शास्त्रीय मार्ग बताने वाली विद्या] पूषा [पोषण करने वाले पुरुष] की पत्नी है, (गायत्री वसूनां पत्नी) गायत्री [गाने योग्य विद्या] वसुओं [निवास कराने वाले पुरुषों] की पत्नी है, (त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी) त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान से पूजी गई विद्या] रुद्रों [दुष्टों के रुलाने वाले शूरों] की पत्नी है (जगती आदित्यानां पत्नी) जगती [प्राप्ति योग्य विद्या] आदित्यों [अखण्डव्रती विद्वानों] की पत्नी है, (अनुष्टुप् मित्रस्य पत्नी) अनुष्टुप् [निरन्तर स्तुति योग्य विद्या] मित्र [सर्वहितकारक पुरुष] की पत्नी है, (विराट् वरुणस्य पत्नी) विराट् [विविध ऐश्वर्य वाली विद्या] वरुण [चुनने योग्य पुरुष] की पत्नी है, (पङ्क्तिः विष्णोः पत्नी) पङ्क्ति [विस्तृत विद्या] विष्णु [कामों में व्यापक पुरुष] की पत्नी है, (दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नी) दीक्षा [नियम पालन प्रतिज्ञा] सोम राजा [प्रेरक प्रतापी पुरुष] की पत्नी [पालन शक्ति] है [मिलान करो—अथ० ८। ६। १४]। (भ्रातृव्यान् अति आरोहति. एनं भ्रातृव्याः न आरोहन्ति, उपरि भ्रातृव्यान् आरोहति, यः एवं विद्वान् अग्नीध्रः देवपत्नीः व्याचष्टे) वह बैरियों को लांघकर चढ़ाई करता है, इस पर बैरी लोग नहीं चढ़ाई करते हैं, वह ऊपर होकर बैरियों पर चढ़ाई

ण्य) साध्वर्थे यत्। हे सुष्ठुवेदज्ञाने साधो (अनवान्) अन जीवने—अच्। प्राणवान्। सावधानः (न) सम्प्रति (आग्नीध्रः) अग्नि+ञिइन्धी दीप्तौ—रक्। अग्निप्रदीपकः। ऋत्विक् (पत्नी) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (पा० ४। १। ३३) पतिशब्दस्य इकारस्य नकारः, ङीप्। पालयित्री शक्तिः (धेना) धेट इच्च (उ० ३। ११) धेट् पाने—नः, टाप्। वाक्—निघ० १। ११ (पथ्या) धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते (पा० ४। ४। ९२) पथिन्—यत्। शास्त्रीयमार्गवती वेदवाणी (गायत्री) गै गाने—अत्रन्—ङीष्। गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७। १२। गानयोग्या (त्रिष्टुप्) त्रि+ष्टुभ पूजायाम्—क्विप्। स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (जगती) गम्लृ गतौ—अति, ङीप्। जगती गोनाम—निघ० २। ११। गम्यमाना प्राप्तव्या (अनुष्टुप्) अनु+ष्टुभ पूजायाम्—क्विप्। वाक्—निघ० १। ११। निरन्तरस्तुत्या (विराट्) विविधेश्वरी (पङ्क्तिः) पचि विस्तारे—क्तिन्। विस्तृता (सोमस्य) प्रेरकस्य (राज्ञः) ऐश्वर्य्ययुक्तस्य (अति) अतीत्य। उल्लङ्घ्य (न) निषेधे॥

करता है, जो ऐसा जानकर अग्नीध्र [अग्नि प्रदीप्त करने वाला पुरुष] देवपत्नियों को व्याख्या करता है ।। ९ ।।

भावार्थः—विविध विद्याओं में चतुर पुरुष विविध विद्या वाले पुरुषों के मेल से शत्रुओं को जीतकर संसार में कीर्ति पाता है ।। ९ ।।

विशेषः—सङ्केतित मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है—

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः । गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् । अथ० ८ । ९ । १४ ।।
(यज्ञस्य) यज्ञ [रसों के संयोग वियोग] के (पक्षौ) ग्रहण करने वाले (अग्नीषोमौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान] (ऋषयः) ऋषि लोगों ने, (या) जो [वेदवाणी] (तुरीया) वेगवती वा ब्रह्म की [जो सत्त्व रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है] (आसीत्) थी, (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वः) मोक्ष सुख (आभरन्तीम्) भर देने वाली [उस] (गायत्रीम्) गाने योग्य, (त्रिष्टुभम्) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीन से पूजी गयी (जगतीम्) प्राप्ति योग्य, (बृहदर्कीम्) बड़े सत्कार वाली (अनुष्टुभम्) निरन्तर स्तुति योग्य [विराट् वा वेदवाणी] को (कल्पयन्तः) समर्थन करते हुये (अदधुः) धारण किया है ।।

कण्डिका १० ।।

यथा वै रथ एकैकमरमभिप्रतितिष्ठन् वर्तते, एवं यज्ञ एकैकां तन्वमभि-[२] प्रतितिष्ठन्नेति । पुरा प्रचरितोराग्नीध्रीये होतव्या एतद्ध वा उवाच वासिष्ठः सात्यहव्यः, अस्कन्नः[१] सोम इत्युक्ते मा सूर्क्षत प्रचरत प्रातर्वावाद्याहं सोमं संस्थापयामीति । नास्य सोम स्कन्दति, य एवं विद्वान्त्सोमं पिबति, स ह स्म वै आसन्द्यामासीनः सक्तुभिरुपमथ्य सोमं पिबति, अहं वाव सर्वतो यज्ञं वेद, य एतान् वेद, न मामेष हिंसिष्यतीति । नैनं सोमपीथोऽनपेयो हिनस्ति, य एवं विद्वान्त्सोमं पिबति । तं ह स्म यदाहुः, कस्मात्त्वमिदमासन्द्यामासीनः सक्तुभिरुपमथ्य सोमं पिबसीति । देवतास्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयामीति अब्रवीद् ब्राह्मणः । यस्यैवं विदुषो यस्यैवं विद्वान् यज्ञार्तान् यज्ञे प्रायश्चित्तं जुहोति, देवतास्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति । यज्ञार्त्ति प्रतिजुहुयाद्, संयोनित्वाय । त्रयस्त्रिंशद्वै यज्ञस्य तन्व इति, एकान्नत्रिंशत् स्तोमभागाः, त्रीणि सवनानि, यज्ञश्चतुर्थः, स्तोमभागैरेवैतत् स्तोमभागान् प्रति प्रयुङ्क्ते, सवनैः सवनानि, यज्ञेन यज्ञं, सर्वा ह वा अस्य यज्ञस्य तन्वः प्रयुक्ता भवन्ति, सर्वा आप्ताः सर्वा अवरुद्धा देवस्य सवितुः प्रसवे बृहस्पतये स्तुतेति । यद्यद्वै सविता देवेभ्यः प्रासुवत् तेनार्ध्नुवन्, सवितृप्रसूता एव स्तु[३]वन्ति

---

१. पू. सं. अस्कन् इति पाठः, अर्थसङ्गत्याऽत्र संशोधितः । तुलना कार्या श० ब्रा० १ । ४ । ५ । ११, यजु० २ । ८ ।। २. पू. सं. 'वसैह' इति पाठः ।।
३. अतीव व्यत्यस्तोऽत्र पाठोऽस्माभिः संशोधितः ।। सम्पा० ।।

ऋध्नुवन्ति, ऋध्यन्ते ह वा अस्य स्तोमाः, यज्ञ ऋध्यते, यजमान ऋध्यते, प्रजायां ऋध्यते, पशुभ्य ऋध्यते, ब्रह्मणे यस्यैवं विद्वान् ब्रह्मा भवति ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ यज्ञ में सोमपान की महिमा ॥

(यथा वै रथः एकैकम् अरम् अभिप्रतितिष्ठन् वर्तते, एवं यज्ञः एकैकां तन्वम् अभिप्रतितिष्ठन् एति) जैसे रथ [रथ का पहिया] एक एक अरे [दण्डे] में जुटा हुआ घूमता है, वैसे ही यज्ञ एक एक अंग में जुटा हुआ चलता है। (पुरा प्रचरितोः आग्नीध्रीये होतव्याः. एतत् ह वै वासिष्ठः सात्यहव्यः उवाच) पहिले प्रचार के लिये आग्नीध्र [अग्नि मण्डप] में हवन होने चाहियें–यह ही अवश्य वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न सात्यहव्य [सत्यहव्य अर्थात् सत्य ग्रहण करने वाले के पुत्र, मुनि विशेष] ने कहा है। (सोमः अस्कन्नः, इति उक्ते मा सूर्क्षत, प्रचरत, प्रातः अद्य वाव अहं सोमं संस्थापयामि इति) सोम न सूखा हुआ [हरा भरा] है—ऐसे कहे जाने पर, मत अनादर करो, सेवा करो, प्रातः काल आज ही मैं सोम को स्थापित करता हूं [ऐसा यजमान कहता है]। (अस्य सोमः न स्कन्दति यः एवं विद्वान् सोमं पिबति) उसका सोमरस नहीं सूखता है, जो ऐसा विद्वान् होकर सोम रस पीता है, (सः ह स्म वै आसन्द्याम् आसीनः सक्तुभिः उपमथ्य सोमं पिबति) वह ही पुरुष आसन्दी [सिंहासन] पर बैठा हुआ सक्तुओं [अन्न] के साथ मथकर सोम पीता है। (अहं वाव सर्वतः यज्ञं वेद, यः एतान् वेद, न माम् एषः हिंसिष्यति इति) मैं निश्चय करके सब प्रकार यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान] को जानता हूं, जो मैं इन [व्यवहारों] को जानता हूं उस मुझको यह [सोम] नहीं मारेगा [यह यजमान कहता है]। (अनपेयः सोमपीथः एनं न हिनस्ति यः एवं विद्वान् सोमं पिबति) सब प्रकार पीने योग्य सोमरस पान उसको नहीं मारता है, जो ऐसा विद्वान् सोमरस पीता है॥

१०—(रथः) रथचक्रः (अरम्) ऋ गतौ—अच्। चक्रस्य नाभिनेम्योर्मध्यस्थं काष्ठम् (तन्वम्) देहम्। अङ्गम् (प्रचरितोः) भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरि० (पा० ३। ४। १६) प्र+चर गतौ—तोसुन्। प्रचरितुम्। प्रचरणाय (आग्नीध्रीये) गो० पू० १। २३। स्वार्थे—छः। होतुर्गृहे (वासिष्ठः) वसिष्ठगोत्रोत्पन्नः (सात्यहव्यः) सत्यं हव्यं ग्राह्यं यस्य स सत्यहव्यः। सत्यहव्यस्य पुत्रः। मुनिविशेषः (अस्कन्नः) अ+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—क्तः। ततो नञ्समासः। अशुष्कः। सुपुष्टः (सूर्क्षत) सूर्क्ष आदरानादरयोः—लोट्। अनादरं कुरुत (स्कन्दति) शुष्यते (आसन्द्याम्) आसम् आसनं ददातीति आसन्दी, आसु उपवेशने—क्विप्+दधातेः–डः, ङीप्। सिंहासने (सोमपीथः) निशीथगोपीथावगथाः (उ० २। ९) पा पाने रक्षणे वा—थक्। सोमरसपाने (अनपेयः) नास्ति अपेयः। सर्वतः पानयोग्यः (यज्ञार्तान्) यज्ञपीडितान् (प्रतिजुहुयात्) प्रत्यक्षेण

(तं ह स्म यत् आहुः, कस्मात् त्वम् इदम् आसन्द्याम् आसीनः सक्तुभिः उपमथ्य सोमं पिबसि इति) उससे जो कहते हैं—किसलिये तू अब सिंहासन पर बैठा हुआ सत्तुओं के साथ मथकर सोमरस पीता है । (देवतासु एव यज्ञं प्रतिष्ठापयामि इति ब्राह्मणः अब्रवीत्) देवताओं में ही यज्ञ को स्थापित करता हूं—यह ब्राह्मण [ब्रह्मा] कहता है । (यस्य यस्य एवं विदुषः यज्ञे एवं विद्वान् यज्ञार्तान् प्रायश्चित्तं जुहोति, देवतासु एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति) जिस जिस ऐसे विद्वान् के यज्ञ में ऐसा विद्वान् [ब्रह्मा] यज्ञ में पीड़ित पुरुषों के लिये प्रायश्चित्त हवन करता है, वह देवताओं में ही यज्ञ को स्थापित करता है । (यज्ञार्तिं सयोनित्वाय प्रतिजुहुयात्) यज्ञार्ति [यज्ञ पीड़ा वा प्रायश्चित्त] को समान घर प्राप्ति के लिये मनुष्य करता रहे । (त्रयस्त्रिंशत् वै यज्ञस्य तन्वः इति, एकान्नत्रिंशत् स्तोमभागाः, त्रीणि सवनानि, यज्ञः चतुर्थः) तैंतीस [८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ वाणी, १ स्वर—गो० ब्रा० उ० २ । १३ यह ३३ देवता] ही यज्ञ के अङ्ग हैं—उनतीस स्तोम भाग [?], तीन [प्रातःसवन माध्यन्दिन सवन तृतीय सवन—गो० पू० ४ । ७] सवन हैं, और यज्ञ चौथा है । (स्तोमभागैः एव एतत् स्तोमभागान् प्रति प्रयुङ्क्ते, सवनैः सवनानि, यज्ञेन यज्ञम्) यह [ब्रह्मा] स्तोमभागों के साथ स्तोमभागों को प्रयोग में लाता है, सवनों के साथ सवनों को, यज्ञ के साथ यज्ञ को । (सर्वाः ह वै अस्य यज्ञस्य तन्वः प्रयुक्ताः भवन्ति, सर्वाः आप्ताः सर्वाः अवरुद्धाः देवस्य सवितुः प्रसवे बृहस्पतये स्तुत इति) सब ही इसके यज्ञ के अङ्ग प्रयोग में लाये जाते हैं, सब ही प्राप्त किये हुये, सब रक्षा किये हुये—[देवस्य सवितुः प्रसवे] सबके प्रकाशक और उत्पादक परमेश्वर के उत्पन्न किये संसार में [देखो यजु० १ । १०] और [बृहस्पतये स्तुत] सब विद्याओं के स्वामी परमात्मा के लिये स्तुति करो, [इन दो को वह पढ़ता है] । (यत् यत् वै सविता देवेभ्यः प्रासुवत् तेन आर्ध्नुवन् सवितृप्रसूताः एव स्तुवन्ति ऋध्नुवन्ति) जो जो ही सविता [सर्वजनक परमात्मा] ने विद्वानों के लिये प्रेरणा की है, उससे वे बढ़े हैं, परमात्मा से प्रेरणा किये हुये ही वे स्तुति करते हैं और बढ़ते हैं । (अस्य वै स्तोमाः ऋध्यन्ते, यज्ञः ऋध्यते, यजमानः ऋध्यते, प्रजायै ऋध्यते, पशुभ्यः ऋध्यते, ब्रह्मणे, यस्य एवं विद्वान् ब्रह्मा भवति) उस पुरुष के स्तोम [स्तुति योग्य व्यवहार] बढ़ते हैं, यज्ञ बढ़ता है [श्रीमान् होता है], यजमान बढ़ता है, प्रजा के लिये वढ़ता है, पशुओं के लिये बढ़ता है, और अन्न वा धन के लिये [बढ़ता है] जिसका ऐसा विद्वान् [जानकार] ब्रह्मा होता है ।। १० ।।

जुहुयात् (सयोनित्वाय) समानगृहत्वाय (त्रयस्त्रिंशत्) वसुरुद्रादित्यवाक्स्वरास्त्रयस्त्रिंशद् देवाः—गो० ब्रा० उ० २ । १३ (एकान्नत्रिंशत्) एकादिश्चैकस्यचादुक् (पा० ६ । ३ । ७६) एक+न+त्रिंशत्, एकस्य अदुगागमः, दस्य नः । एकोनत्रिंशत् (आप्ताः) प्राप्ताः (अवरुद्धाः) रक्षिताः (ऋध्नुवन्ति) प्रवृद्धाः भवन्ति (ऋध्यन्ते) वर्धन्ते (ब्रह्मणे) ब्रह्म, अन्ननाम—निघ० २ । ७ । धननाम—निघ० २ । १० । अन्नाय । धनाय ।।

भावार्थ:—यजमान ब्रह्मा की सम्मति से यज्ञ के सब अङ्गों को यथाविधि पूरा करके संसार में समृद्ध होवे ॥ १० ॥

विशेष:—सङ्केतित मन्त्र अर्थ सहित लिखा जाता है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि—यजु० १। १० [हे यज्ञ] (देवस्य) सब जगत् के प्रकाशक, (सवितुः) सब जगत् के उत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुये संसार में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य से तथा (पूष्णः) पुष्टि करने वाले प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और त्याग से (अग्नये) अग्नि विद्या की सिद्धि के लिये (जुष्टम्) सेवा किये गये (त्वा) तुझको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं। (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और जल की विद्या करके (जुष्टम्) सेवा किये [तुझ] को (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं ॥

कण्डिका ११ ॥

देवाश्च ह वा असुराश्चास्पर्द्धन्त, ते देवाः समावदेवा यज्ञे कुर्वाणा आसन्, यदेव देवा अकुर्वत, तदसुरा अकुर्वत, ते न व्यावृत्तमगच्छन्। ते देवा अब्रुवन्, नयतेमं यज्ञं तिर उपर्य्यसुरेभ्यस्तमस्यामहै इति। तमेताभिराच्छाद्योदक्रा[1]मन्, यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहेति। तन्तिर उपर्य्यसुरेभ्यो यज्ञमतन्वत, तमेषां यज्ञमसुराणाम् न्ववायन्, ततो न देवा अभवन्, परासुराः। स य एवं विद्वांस्तिर उपर्य्यसुरेभ्यो यज्ञं तनुते, भवत्यात्मना परास्याप्रियो भ्रातृव्यो भवति। एतैरेव जुहुयात्स वृतयज्ञे चतुर्भिश्चतुर्भिरन्वाख्याय[2] पुरस्ताद् प्रातरनुवाकस्य जुहुयात्, एतावान् वै यज्ञः यावानेष यज्ञस्तं वृङ्क्ते, स यज्ञो भवति, अयज्ञ इतरः। एतैरेव जुहुयात्, पुरस्ताद् द्वादशाहस्य। एष ह वै प्रत्यक्षं द्वादशाहः, तमेव आलभ्य एतैरेव जुहुयात्, पुरस्ताद् दीक्षायाः। एषा ह वै प्रत्यक्षं दीक्षा, तामेवालभ्यैतैरेवातिथ्यमभिमृशेत्, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इति ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ देवताओं ने यज्ञ द्वारा असुरों पर विजय पाया ॥

(देवाः च ह वै असुराः च अस्पर्धन्त) देवता [विद्वान् लोग] और असुर [अविद्वान्] लड़ने लगे। (ते समौ अदेवाः देवाः यज्ञे कुर्वाणाः आसन् यत् एव देवाः अकुर्वत, तत् असुराः अकुर्वत, ते न व्यावृत्तम् अगच्छन्) वे समान विजय चाहने वाले असुर एवं देवता यज्ञ में कर्म करते हुये थे, जो ही [यज्ञ कर्म] देवता करते थे, वह [यज्ञ कर्म] असुर करते थे, उससे वे [असुर] रुकावट को प्राप्त न हुये। (ते देवाः अब्रुवन्, इमं यज्ञं तिरः नयत असुरेभ्यः, उपरि तम् अस्यामहै इति) वे देवता [आपस में] बोले—इस

१—(देवाः) विद्वांसः (असुराः) अविद्वांसः (व्यावृतम्) निवारणम् (तिरः) तिरोधाय। आच्छाद्य (उपरि) उपरि सन्तः (अस्यामहै) असु क्षेपणे—

---

१. पू. सं. 'उदक्रामन्ति' इति पाठः ॥ २. पू. सं. "अन्वाख्यानं" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

यज्ञ को असुरों से छिपाकर चलाओ, हम उनके ऊपर होकर [उनको] गिरावें । (तम् आच्छाद्य एताभिः उदक्रामन्, यजूँषि यज्ञे समिधः स्वाहा इति) उस [यज्ञ] को छिपाकर इन [ऋचाओं] से उन्होंने चढ़ाई की—(यजूँषि) पूजनीय कर्मों और (समिधः) विद्या आदि प्रकाश क्रियाओं को (यज्ञे) संगति व्यवहार में (स्वाहा) उत्तम वाणी से……[अथर्व० ५ । २६ के १२ मन्त्रों की यह प्रतीक है] । (तं यज्ञं तिरः असुरेभ्यः उपरि अतन्वत, एषाम् असुराणां तं यज्ञं नु अवायन् ततः देवाः न परा अभवन्, असुराः) उस [अपने] यज्ञ को छिपाकर असुरों से ऊपर होकर उन्होंने विस्तृत किया, और इन असुरों के उस यज्ञ को निःसन्देह सुखा दिया, उससे देवता न हारे और असुर [हार गये] । (सः यः एवं विद्वान् असुरेभ्यः उपरि यज्ञं तिरः तनुते, अस्य अप्रियः भ्रातृव्यः आत्मना पराभवति भवति) जो कोई ऐसा विद्वान् असुरों से ऊपर होकर यज्ञ को छिपाकर [गुप्त रीति से विचार कर] विस्तृत करता है, उसका कुप्रिय वैरी आत्मबल से हार जाता है, हार जाता है । (सः एतैः एव जुहुयात् वृतयज्ञे चतुर्भिः चतुर्भिः अन्वाख्याय प्रातरनुवाकस्य पुरस्तात् जुहुयात्) वह इन [बारह मन्त्रों] से ही यज्ञ करे और स्वीकार किये हुये यज्ञ में चार चार [मन्त्रों] से व्याख्यान करके प्रातरनुवाक यज्ञ के पहिले यज्ञ करे । (एतावान् वै यज्ञः, यावान् एषः यज्ञः तं वृङ्क्ते सः यज्ञः भवति इतरः अयज्ञः) इतना ही यज्ञ है जितना यह यज्ञ उस [शत्रु] को रोकता है, वह यज्ञ होता है और दूसरा [असुरों का] कुयज्ञ । (एतैः एव द्वादशाहस्य पुरस्तात् जुहुयात्) इन ही [बारह] से द्वादशाह [बारह दिन वाले यज्ञ] के पहिले यज्ञ करे । (एषः ह वै प्रत्यक्षं द्वादशाहः तम् एव आलभ्य एतैः एव दीक्षायाः पुरस्तात् जुहुयात्) यह ही प्रत्यक्ष द्वादशाह [बारह दिन वाला यज्ञ] है, उसको ही प्राप्त होकर इन [बारह मन्त्रों] से ही दीक्षा [नियम व्रत धारण] के पहिले यज्ञ करे । (एषा ह वै प्रत्यक्षं दीक्षा, ताम् एव आलभ्य एतैः एव आतिथ्यम् अभिमृशेत्, यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः इति) यह ही प्रत्यक्ष दीक्षा है, उस [दीक्षा] को ही प्राप्त होकर इन [आगे के पांच मन्त्रों] से आतिथ्य [अतिथि सत्कार] को विचारे –(देवाः) विद्वानों ने (यज्ञेन) अपने पूजनीय कर्म से (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (अयजन्त) पूजा है……[अथर्व० ७ । ५ के पांच मन्त्रों की यह प्रतीक है] ॥ ११ ॥

भावार्थः—जो नीतिकुशल मनुष्य अपने कर्त्तव्यों को शत्रुओं से गुप्त रखकर करते रहते हैं, वे युद्ध में जीत पाते हैं ॥ ११ ॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्रों में से एक एक मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है, शेष वेद में देखो ।

लेट् । अस्याम, क्षिपाम (एताभिः) वक्ष्यमाणाभिः ऋग्भिः (नु) अवधारणे (अवायन्) ओवै शोषणे—लङ् । शोषितवन्तः । नाशितवन्तः (अन्वाख्याय) आख्यानं व्याख्यानमनुसृत्य (वृङ्क्ते) वृजी वर्जने । वर्जयति (आलभ्य) प्राप्य । (आतिथ्यम्) अतिथिसत्कारम् (अभिमृशेत्) विचारयेत् ॥

१—यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥ अथ० ५ । २६ । १ । (प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान् (अग्निः) तेजस्वी पुरुष (इह) यहां (यज्ञे) संगति में (यजूंषि) पूजनीय कर्मों और (समिधः) विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को (वः) तुम्हारे लिये (स्वाहा) उत्तम वाणी से (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥

२—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ अथ० ७ । ५ । १ । यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ५०, १० । ९० । १६, यजु० ३१ । १६, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ १२९ और निरुक्त १२ । ४१ में भी है । (देवाः) विद्वानों ने (यज्ञेन) अपने पूजनीय कर्म से (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (अयजन्त) पूजा है, (तानि) वे [उनके] (धर्म्माणि) धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म (प्रथमानि) मुख्य, प्रथम कर्त्तव्य (आसन्) थे । (ते) उन (महिमानः) महापुरुषों ने (ह) ही (नाकम्) दुःख रहित परमेश्वर को (सचन्त) पाया है, (यत्र) जिस परमेश्वर में रहकर (पूर्वे) पहिले बड़े बड़े (साध्याः) साधनीय श्रेष्ठ कर्मों के साधने वाले लोग (देवाः) देवता अर्थात् विजयी (सन्ति) होते हैं ॥

कण्डिका १२ ॥

यत्र विजानाति, ब्रह्मन्त्सोमोऽस्कन्न[1]इति । तमेतयालभ्याभिमन्त्रयते, अभूद्देवः सविता वन्द्योऽनूनः इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः, वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठन्नो अत्र द्रविणं यथा दधदिति । ये अग्नयो अप्स्वन्तरिति सप्तभिरभिजुहोति । यदेवास्यावस्कन्नं भवति, तदेवास्यैतदग्नौ स्वगाकरोति । अग्निर्हि सुकृतीनां हविषां प्रतिष्ठा । अथ विसृप्य वैप्रुषान् होमान् जुह्वति, द्रप्सश्चस्कन्देति । या एवास्याभिषूयमाणस्य विप्रुषः स्कन्दन्ति, अंशुर्वा ता एवास्यैतदाहवनीये स्वगाकरोति । आहवनीयो ह्याहुतीनां प्रतिष्ठा । यस्ते द्रप्स स्कन्दतीति, स्तोको वै द्रप्सः । यस्ते अंशुर्बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थादिति, बाहुभिरभिच्युतोऽशुंरधिषवणाभ्यामधिस्कन्दति[2] । अध्वर्य्योर्वा परि[3]यः पवित्रात्तन्ते जुहोमि मनसा वषट्कृतमिति, तद्यथा, वषट्कृतं स्वाहाकृतं हुतमेवं भवति ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ सोम यज्ञ का वर्णन ॥

(यत्र विजानाति, ब्रह्मन् सोमः अस्कन्नः इति) जहां [यज्ञ में] वह [यजमान] जान लेवे [वह कहे]—हे ब्रह्मन् [ब्रह्मा] सोम [अमृतरस] न गिर जावे । (तम् एतया आलभ्य अभिमन्त्रयते) उस [सोम] को इस [पूर्वोक्त ब्राह्मण

१२—(ब्रह्मन्) हे चतुर्वेदवित् (अस्कन्नः) अनधःपतितो भवेत् ।

---

१. "पू. सं. अस्कन् इति पाठः ॥ २. पू. सं. "स्कन्दन्ति" इति पाठः ॥
३. पू. सं. "पर्पः" इत्यासीत् । अस्माभिः मन्त्रस्य प्रतीकानुसारी पाठः "परि यः" इति संशोधितः ॥ सम्पा० ॥

ऋचा] से प्राप्त करके मन्त्र कहे, (देवः सविता वन्द्यः अभूत्, अनूनः इदानीं नृभिः अह्नः उपवाच्यः) प्रकाशमान लोकप्रेरक सूर्य [के समान परमात्मा] वन्दना योग्य है, वह न्यूनता रहित [सूर्य] अब मनुष्यों करके दिन का नाम है [इस ब्राह्मण मन्त्र से], (यः रत्ना मानवेभ्यः यथा विभजति, श्रेष्ठं द्रविणं नः अत्र दधत् इति) जो [परमात्मा] रत्नों को मनुष्यों के लिये जैसे बांटता है, [वैसे ही] हमारे लिये यहां श्रेष्ठ धन देवे यह ब्राह्मण मन्त्र बोले । (ये अग्नयः अप्सु अन्तः इति सप्तभिः अभिजुहोति) जो अग्नियां [ईश्वर के तेज] जल के भीतर हैं [अथ० ३ । २१ । १—७]—इन सात [मन्त्रों] से वह यज्ञ करे । (यत् एव अस्य अवस्कन्नं भवति तत् एतत् एव अस्य अग्नौ स्वगाकरोति) जो ही इस [सोम रस] का अङ्ग जाना गया होता है, वह यह ही इसका [अङ्ग] अग्नि में गमन करता है । (हि अग्निः सुकृतीनां हविषां प्रतिष्ठा) क्योंकि अग्नि पुण्य कर्मों की और ग्रहण करने योग्य व्यवहारों की प्रतिष्ठा [ठहरने का ठिकाना] है । (अथ विसृप्य वैप्रुषान् होमान् जुह्वति, द्रप्सः चस्कन्द इति) फिर सरककर विविध पूर्तियुक्त ग्राह्यव्यवहारों को वे [यज्ञ करने वाले] ग्रहण करते हैं—हर्षकारी परमात्मा व्यापक है [अथर्व० १८ । ४ । २८ । यह मन्त्र पढ़कर], (याः एव अस्य अभिषूयमाणस्य विप्रुषः स्कन्दन्ति, अंशुः वा, ताः एव अस्य एतत् आहवनीये स्वगाकरोति) जो ही इस निचोड़े जाते हुए [सोम] की विविध पूर्ति क्रियायें अथवा अंश व्यापक हैं, वे ही इसके अब आहवनीय [अग्नि] में गमन करते हैं, (हि आहवनीयः आहुतीनां प्रतिष्ठा) क्योंकि आहवनीय [अग्नि] आहुतियों [देने लेने की क्रियाओं] की प्रतिष्ठा [ठहरने का स्थान] है । (यः ते द्रप्सः स्कन्दति इति, स्तोकः वै द्रप्सः) जो तेरा हर्षकारी व्यवहार व्यापक है [यजु० ७ । २६—यह मन्त्र पढ़ता है]—प्रसन्न करने वाला सूक्ष्म विषय ही हर्ष व्यवहार है । (यः ते अंशुः बाहुच्युतः धिषणायाः उपस्थात्

(देवः) प्रकाशमानः (सविता) लोकप्रेरकः सूर्य इव परमात्मा (अनूनः) न्यूनतारहितः । परिपूर्णः (उपवाच्यः) प्रतिपाद्यः (वि भजति) विभज्य ददाति (द्रविणम्) धनम् (अग्नयः) ईश्वरतेजांसि (अप्सु) जलेषु (अवस्कन्नम्) अवगतम् । ज्ञातम् (स्वगाकरोति) स्वग, स्वगि सर्पणे—अच् । सुखप्रियादानुलोम्ये (पा० ५ । ४ । ६३) स्वगशब्दात् कृञो योगे—डाच् बाहुलकात् आनुलोम्ये । स्वगं सर्पणं व्यापनं करोति (सुकृतीनाम्) पुण्यकर्मणाम् (हविषाम्) ग्राह्यव्यवहाराणाम् (प्रतिष्ठा) स्थितिस्थानम् (वैप्रुषान्) विप्रुष्—अण् । विविधपूर्तियुक्तान् (होमान्) ग्राह्यव्यवहारान् (जुह्वति) गृह्णन्ति (द्रप्सः) वृतॄवदिवचि० (उ० ३ । ६२) दृप हर्षमोहनयोः—सप्रत्ययः । हर्षकारी परमात्मा (चस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—लिट् । स्कन्दति । गच्छति । व्याप्नोति (विप्रुषः) वि + प्रुष स्नेहनसेचनपूरणेषु—क्विप् । विविधपूर्तयः (स्कन्दन्ति) व्याप्नुवन्ति (अंशुः) विभागः (स्वगाकरोति) स्वगाकुर्वन्ति । व्यापनं कुर्वन्ति (आहुतीनाम्) दानादानक्रियाणाम् (स्तोकः) ष्टुच प्रसादे दीप्तौ च—घञ् । प्रसन्नकरः । दीप्यमानः । सूक्ष्मविषयः (धिषणायाः) धृषेर्धिष च संज्ञायाम्

इति, बाहुभिः अभिच्युतः अंशुः अधिषवणाभ्याम् अधिस्कन्दति) जो तेरा अंश [हमारे] भुजाओं पर गिरा हुआ प्रकाश वा भूमि की गोद से व्यापक है [उसी मन्त्र का भाग भेद से]--बाहुओं द्वारा प्राप्त हुआ अंश दोनों [अमृत के] निचोड़ स्थानों [प्रकाश और भूमि] से ऊपर व्यापक होता है। (अध्वर्योः वा पवित्रात् परि यः ते मनसा वषट्कृतं तं जुहोमि इति) और जो यज्ञ करने वाले के शुद्ध व्यवहार से चारों ओर तेरी प्राप्ति के लिये मनन के साथ प्राप्त किये हुये उसको मैं ग्रहण करता हूँ--[यह बोलता है]। (तत् यथा वषट्कृतम्, एवं स्वाहाकृतं हुतं भवति) सो जैसे वषट्कृत [प्राप्त किया हुआ कर्म] होता है, उसी प्रकार स्वाहाकृत [सत्यवाणी से किया हुआ] यज्ञ होता है ॥ १२ ॥

भावार्थः जैसे ऋत्विज् लोग सोम यज्ञ को विज्ञानपूर्वक करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य अपने कर्तव्य को विचारपूर्वक करें ॥ १२ ॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्रों में से एक एक अर्थ सहित लिखे जाते हैं; शेष मन्त्र वेद में देखें--

१—ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु। य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्। अथ० ३। २१। १। (ये) जो (अग्नयः) अग्नियें [ईश्वर के तेज] (अप्सु अन्तः) जल के भीतर (ये) जो (वृत्रे) मेघ में (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य शरीर] में और (ये) जो (अश्मसु) शिलाओं में हैं। (यः) जिस [अग्नि] ने (ओषधीः) औषधियों [अन्न सोमलता आदि] में और (यः) जिसने (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि] में (आविवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥

२—द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः। समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः। अथ० १८। ४। २८ यजु० १३। ५. भेद से ऋ० १०। १७। ११। (द्रप्सः) हर्षकारक परमात्मा (पृथिवीम्) पृथिवी और (द्याम् अनु) प्रकाश में (च) और (इमम्) इस (योनिम् अनु) घर [शरीर] में (च) और [उस शरीर में भी] (चस्कन्द) व्यापक है (यः) जो [शरीर] (पूर्वः) पहिला है। (समानम्) [सर्वसाधारण] (योनिम् अनु) कारण में (संचरन्तम्) विचरते हुये (द्रप्सम्) हर्षकारक परमात्मा को (सप्त) सात

(उ० २। ८२) ञिधृषा प्रागल्भ्ये--क्युः, धिषादेशः, यद्वा धिषि धारणे—क्युः। धिषणे द्यावापृथिवीनाम--निघ० ३। ३०। प्रकाशस्य भूमेर्वा (अधिषवणाभ्याम्) सोमस्य अमृतस्य निष्पीडनस्थानाभ्याम्। द्यावापृथिवीभ्याम् (पवित्रात्) शुद्धव्यवहारात् (जुहोमि) गृह्णामि (वषट्कृतम्) वहनेन कृतम् (स्वाहाकृतम्) सत्यवाण्या कृतम् ॥

[मस्तक के सात गोलक] (होत्राः अनु) विषय ग्रहण करने वाली शक्तियों के साथ (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं ॥

३—(यस्ते द्रप्स स्कन्दति—इत्यादि) यजुर्वेद ७। २६ के भाग कुछ भेद से यहां दिये हैं, वह मन्त्र यह है। (यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते अꣳशुर्ग्रावच्युतो धिषणयो-रुपस्थात्। अध्वर्य्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तन्ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ स्वाहा। देवानामुत्क्रमणमसि) [हे ईश्वर !] (यः ते द्रप्सः) जो तेरा हर्षकारक व्यवहार [सर्वत्र] (स्कन्दति) व्यापक है, और (यः ते अंशुः) जो तेरा विभाग (धिषणयोः) प्रकाश और भूमि की (उपस्थात्) गोद से (ग्रावच्युतः) मेघमण्डल में छूटा हुआ [व्यापक है], (वा वा) अथवा (यः) जो [विभाग] (अध्वर्योः) यज्ञ करने वाले के (पवित्रात्) शुद्ध व्यवहार से (परि) सब ओर [व्यापक है], (मनसा) विचार के साथ और (स्वाहा) सत्यवाणी के साथ (वषट्कृतम्) प्राप्त किये हुये (तम्) उस [विभाग] को (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं (देवानाम् उत्क्रमणम् असि) [हे परमात्मन् !] तू विद्वानों के ऊंचे चढ़ने का साधन है ॥

कण्डिका १३ ॥

ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्। तं वसिष्ठ एव प्रत्यक्षमपश्यत्। सोऽबिभेत्, इतरेभ्य ऋषिभ्यो मा प्रवोचदिति। सोऽब्रवीत्, ब्राह्मणन्ते वक्ष्यामि, यथा त्वत्पुरोहिताः प्रजाः प्रजनि[1]ष्यन्ते, अथेतरेभ्य ऋषिभ्यो मा प्रवोचदिति। तस्मा एतान् स्तोमभागानुवाच। ततो वसिष्ठपुरोहिताः प्रजाः प्रा[1]जायन्त। स्तोमो वा एतेषां भागः, तत् स्तोमभागानां स्तोमभाग*त्त्वम्[2]। रश्मिरसि क्षयाय त्वेति, क्षयो वै देवाः देवेभ्य एव* यज्ञं प्राह। प्रेतिरसि धर्मणे त्वेति, धर्मो मनुष्याः, मनुष्येभ्य एव यज्ञं प्राह। अनितिरसि सन्धिरसि प्रतिधिरसीति, त्रयो वै लोकाः लोकेष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति। विष्टम्भोऽसीति, वृष्टिमेवावरुन्धे। प्रावोस्यह्नाꣳसीति, मिथुनमेव करोति। उशिगसि प्रकेतोऽसि सुदितिरसीति, अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या वाग् द्वात्रिंशी स्वरस्त्रयस्त्रिंशस्त्रयस्त्रिंशत् देवा देवेभ्य एव यज्ञं प्राह। ओजोऽसि पितृभ्यस्त्वेति बलमेव तत् पितॄननुसन्तनोति। तन्तुरसि प्रजाभ्यस्त्वेति, प्रजा एव पशूननुसन्तनोति। रेवदस्योषधीभ्यस्त्वेति, ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति। पृतनाषाडसि पशुभ्यस्त्वेति, प्रजा एव पशूननुसन्तनोति। अभिजिदसीति, वज्रो वै षोडशी व्यावृत्तोऽसौ वज्रः, तस्मादेषोऽन्यैर्व्यावृत्तः। नाभुरसीति, प्रजापतिर्वै सप्तदशः, प्रजापतिमेवावरुन्धे ॥ १३ ॥

---

१ पू. सं. "प्रजनयिष्यन्ते, प्रजायन्त" इति पाठः ॥

२. पुष्पाङ्कितः पाठः पूर्वसंस्करणे चतुर्दश्यां कण्डिकायां स्थापितः आसीत्। अर्थसंगत्याऽस्माभिरत्र स्थाप्यते, जर्मनसंस्करणेऽप्यत्रैवायं पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १३ ॥ आख्यायिका--वसिष्ठ ने इन्द्र को देखा और इन्द्र ने उसे स्तोम भागों द्वारा ब्रह्मज्ञान बताया ॥

(ऋषयः वै इन्द्रं प्रत्यक्षं न अपश्यन्) ऋषियों [इन्द्रियों] ने निश्चय करके इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को साक्षात् न देखा। (तं वसिष्ठः एव प्रत्यक्षम् अपश्यत्) उसको वसिष्ठ [अत्यन्त बसने वाले जीवात्मा] ने ही साक्षात् देखा। (सः अबिभेत्, इतरेभ्यः ऋषिभ्यः मा प्रवोचत् इति) वह [इन्द्र] डरा—यह [वसिष्ठ] नीच ऋषियों [इन्द्रियों] से न कह देवे। (सः अब्रवीत् ब्राह्मणं ते वक्ष्यामि, यथा त्वत् पुरोहिताः प्रजाः प्रजनिष्यन्ते) वह [इन्द्र] बोला--[हे वसिष्ठ] मैं तुझे ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] बताऊंगा, जिससे तुझे पुरोहित [मुखिया] रखती हुई प्रजायें उत्पन्न होंगी। (अथ इतरेभ्यः ऋषिभ्यः मा प्रवोचत्) इसलिये नीच ऋषियों [इन्द्रियों] से आप न कहें। (तस्मै एतान् स्तोमभागान् उवाच) उस [वसिष्ठ] को यह [आगे वाले] स्तोमभाग [स्तुतियों के भाग] उसने बताये। (ततः वसिष्ठपुरोहिताः प्रजाः प्राजायन्त) फिर वसिष्ठ [जीवात्मा] को पुरोहित रखती हुई प्रजायें [इन्द्रिय आदि] उत्पन्न हुये। (स्तोमः वै एतेषां भागः, तत् स्तोमभागानां स्तोमभागयज्ञं प्राह) स्तोम [स्तुतियोग्य व्यवहार] ही इन [मनुष्यों] का भाग [सेवनीय है इसलिये स्तुति योग्य व्यवहार के सेवन करने वाले पुरुषों के स्तुति योग्य व्यवहार से सेवनीय यज्ञ [पूजनीय कर्म] को वह [इन्द्र परमात्मा वेद द्वारा] बताता है[1]। (प्रेतिः असि धर्मणे त्वा इति १, धर्मः मनुष्याः, मनुष्येभ्यः एव यज्ञं प्राह) [हे परमात्मन् !] तू उत्तमता से व्यापक है, धर्म [वेदविहित व्यवहार] के लिए तुझे [ग्रहण करता हूं], धर्म वाले ही मनुष्य हैं, मनुष्यों को

१३—(ऋषयः) ऋषी गतौ दर्शने च—इन् कित्। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे—यजु० ३४। ५५। सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी--निरु० १२। ३७। इन्द्रियाणि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (वसिष्ठः) वस निवासे-तृच्। तुश्छन्दसि (पा० ५। ३। ५९) वसितृ—इष्ठन्। तुरिष्ठेमेयस्सु (पा० ६। ४। १५४) तृशब्दलोपः। अतिशयेन वसिता निवासकः। जीवात्मा (इतरेभ्यः) पामरेभ्यः (त्वत्पुरोहिताः) प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (पा० ७। २। ९८) युष्म् इत्यस्य त्व इत्यादेशः। त्वं पुरोहितः प्रधानो यासां ताः (रश्मिः) अश्नोतेरश्च (उ० ४। ४६) अशूङ् व्याप्तौ-मिः, धातोः रशादेशः। व्यापकः। किरणः। प्रकाशः (क्षयाय) निवासाय (प्रेतिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (पा० ३। ३। १७४) प्र+इण् गतौ-क्तिच्। प्रकर्षेण गन्ता। व्यापकः (धर्मणे) शास्त्रविहितव्यवहाराय

---

१. यहाँ पाठच्युति होने से भाष्यकार का यह अर्थ असम्बद्ध है। कण्डिका में हमारे द्वारा परिवर्धित पाठ का निम्न तात्पर्यार्थ है—यह स्तोमों का स्तोमभागत्त्व है। [हे यज्ञ] तुम क्षयों के लिए प्रकाशस्वरूप हो। देवताओं को क्षय कहते हैं। इस प्रकार देवताओं के लिए यज्ञ का सम्बन्ध इन्द्र ने बताया ॥ सम्पा० ॥

ही यज्ञ [पूजनीय कर्म] वह बताता है। (अनितिः असि, सन्धिः असि, प्रतिधिः असि इति २, ३, ४, त्रयः वै लोकाः लोकेषु एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति) [हे परमात्मन्!] तू जिलाने वाला है, तू संयोग करने वाला है, तू प्रत्यक्ष धारण करने वाला है--तीन ही लोक [तीन धाम-स्थान, नाम और जन्म--निरु० ९। २८] हैं, लोकों में ही यज्ञ [पूजनीय कर्म को वह [यजमान] स्थापित करता है। (विष्टम्भः असि इति ५, वृष्टिम् एव अवरुन्धे) [हे परमात्मन्!] तू विविध प्रकार थामने वाला है--इस [स्तुति] से वह [यजमान] वृष्टि [आनन्द वृष्टि] पाता है। (अह्नांसि प्रावः असि इति ६, मिथुनम् एव करोति) [हे परमात्मन्!] तू व्याप्त वस्तुओं का बड़ा रक्षक है--इससे वह [यजमान] मिथुन [स्थिर ज्ञान] उत्पन्न करता है। (उशिक् असि, प्रकेतः असि, सुदितिः असि इति ७, ८, ९) [हे परमात्मन्!] तू कामना योग्य है, तू बड़ा ज्ञानी है, तू बड़ा दानी है--[यह स्तुति करता है]। (अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, वाक् द्वात्रिंशी, स्वरः त्रयस्त्रिंशः, त्रिंशत् देवाः, देवेभ्यः एव यज्ञं प्राह) आठ वसु [पृथिवी आदि] हैं, ग्यारह रुद्र [प्राण और जीवात्मा] हैं, बारह आदित्य [महीने] हैं, वाणी [जिह्वा] बत्तीसवीं और स्वर [उच्चारण व्यवहार] तैंतीसवाँ है, यह तैंतीस देवता हैं, इन देवताओं के हित [सुधार] के लिये ही यज्ञ [पूजनीय कर्म] वह [इन्द्र] बताता है। (ओजः असि पितृभ्यः त्वा इति १०, तत् बलम् एव पितॄन् अनु सन्तनोति) [हे परमात्मन्!] तू बल है पितरों [पालन करने वाले ज्ञानियों] के लिये तुझे [ग्रहण करता हूं], इस [मन्त्र] से वह [यजमान] बल को पितरों के पीछे पीछे फैलाता है। (तन्तुः असि प्रजाभ्यः त्वा इति ११, प्रजाः एव पशून् अनु सन्तनोति) [हे परमात्मन्!] तू तन्तु [फैलाने वाला] है, प्रजाओं के लिये तुझे [स्वीकार करता हूं]—इस मन्त्र से प्रजाओं को ही वह [यजमान] पशुओं के पीछे पीछे फैलाता है। (रेवत् असि ओषधीभ्यः त्वा इति १२, ओषधीषु एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति) [हे परमात्मन्!] तू धनवान्

(त्वा) त्वां, गृह्णामि इति शेषः (धर्मः) धर्म—अर्शआद्यच्, विभक्तेः सु—(पा० ७। १। ३९) धर्मयुक्ताः (अनितिः) अन प्राणने—क्तिच्, इट् च। अन्तर्गतण्यर्थः। जीवयिता (सन्धिः) सम्यक्धारकः। संयोजकः (प्रतिधिः) प्रत्यक्षधारकः (विष्टम्भः) विशेषेण स्तम्भकः। आश्रयदाता (वृष्टिम्) आनन्दवर्षम् (अवरुन्धे) प्राप्नोति (प्रावः) प्र + अव रक्षणे—घञ्। प्रकर्षेण रक्षकः (अह्नांसि) उदके नुट् च (उ० ४। १९७) अह व्याप्तौ—असुन्, नुट् च। अह्नसां व्याप्तपदार्थानाम (मिथुनम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् (उ० ३। ५५) मिथ वधे मेधायां सङ्गमे च—उनन् कित्। स्थिरस्थानम् (उशिक्) वशः कित् (उ० २। ७१) वश कान्तौ—इजिः, कित्। कमनीयः (प्रकेतः) प्र+कित ज्ञाने—अच्। प्रकर्षेण ज्ञाता (सुदितिः) सु + दाण् दाने—क्तिच्। महादाता (स्वरः) उच्चारणव्यवहारः (अनु) अनुसृत्य (रेवत्) रयि[1]--मतुप्, सम्प्रसारणं गुणश्च, मस्य वः। धनयुक्तं ब्रह्म

---

१. रयेर्मतौ बहुलम् (६। १। ३७) इस वार्तिक से मतुप् परे रहते 'रयि' को सम्प्रसारण हुआ है॥ सम्पा०॥

[ब्रह्म] है, ओषधियों [अन्न सोमलता आदि] के लिये तुझे [स्वीकार करता हूं]—ओषधियों में ही वह [यजमान] यज्ञ को स्थापित करता है। (पृतनाषाट् असि, पशुभ्यः त्वा इति १३, प्रजाः एव पशून् अनु सन्तनोति) [हे परमात्मन् !] तू संग्राम जिताने वाला है, पशुओं के लिये तुझे [स्वीकार करता हूं]—इस मन्त्र से वह [यजमान] प्रजाओं को ही पशुओं के पीछे पीछे बढ़ाता है। (अभिजित् असि इति १४, वज्रः वै षोडशी, व्यावृत्तः असौ वज्रः, तस्मात् एषः अन्यैः व्यावृत्तः) [हे परमात्मन् !] तू विजयी है, वज्र [समान] ही षोडशी [प्रश्नोपनिषद् ६ । ४, गो० पू० १ । ८—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, प्रकाश, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—इन सोलह कलाओं का स्वामी परमात्मा] है, वह शत्रु निवारक वज्र रूप है, इसलिये यह [परमात्मा] बैरियों का रोकने वाला है। (नाभुः असि इति १५, प्रजापतिः वै सप्तदशः, प्रजापतिम् एव अवरुन्धे) [हे परमात्मन् !] तू शत्रुनाशक है—यहां प्रजापति [प्रजापालक परमात्मा] सत्रह [गो० पू० १ । ५ चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की, एक नीचे की, दश दिशाओं, सत्त्व, रज और तम तथा ईश्वर, जीव और प्रकृति और संसार] का स्वामी है, प्रजापति [इन्द्र अर्थात् परमात्मा] को वह [यजमान] पाता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर की उपासना प्रार्थना से पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति करे और परम आनन्द पावे ॥ १३ ॥

विशेषः—इस कण्डिका में पन्द्रह स्तुति मन्त्र ब्राह्मण वचन हैं ॥

कण्डिका १४ ॥

अधिपतिरसि धरुणोऽसि सꣳसर्पोऽसि वयोधा असीति, प्राणोऽपानश्चक्षुः श्रोत्रमित्येतानि वै पुरुषमकरन्। प्राणानुपैति, प्रजात्या एव। त्रिवृदसि प्रवृदसि स्ववृदस्यनुवृदसीति, मिथुनमेव करोति। आरोहोऽसि प्ररोहोऽसि संरोहोऽस्यनुरोहोऽसीति, प्रजापतिरेव। वसुकोऽसि वस्यष्टिरसि वेषश्रीरसीति, प्रति[1]ष्ठितिरेव। आक्रमोऽसि सङ्क्रमोऽस्युत्क्रमोऽस्युत्क्रान्तिरसीति, ऋद्धिरेव। यद्यद्वै सविता

(पृतनाषाट्) छन्दसि सहः (पा० ३ । २ । ६३) पृतना + षह अभिभवे—ण्विः। सहेः साडः सः (पा० ८ । ३ । ५६) सस्य षः। पृतना संग्रामनाम—निघ० २ । १७। संग्रामजेता (षोडशी) गो० पू० १ । ८। प्राणादिषोडशकलानां स्वामी (व्यावृत्तः) कर्तरि क्तः। निवारकः (अन्यैः) अन्येषां शत्रूणाम् (नाभुः) कृवापाजि० (उ० १ । १) णभ हिंसायाम्—उण्। शत्रुपीडकः (सप्तदशः) गो० पू० १ । ५। प्राणश्रद्धाकाशादीनां सप्तदशपदार्थानां स्वामी ॥

---

१. अत्र प्रति इत्यनन्तरं "गत्वम् रश्मिरसि क्षयाय त्वेति क्षयो वै देवाः देवेभ्य एव" इत्यन्तः पाठः जर्मनसंस्करणे त्रयोदश्यां कण्डिकायां वर्त्तते। अर्थसङ्गत्याऽस्माभिरपि तत्रैव स्थापितः। द्र० पृ० ३३५ सम्पादकीया टि० २ ॥ सम्पा० ॥

देवेभ्यः प्रासुवन्, तेनार्ध्नुवत् सवितृप्रसूता एव स्तु[१]वन्त्यृध्नुवन्ति । बृहस्पतये स्तुतेति, बृहस्पतिर्वा आङ्गिरसो देवानां ब्रह्मा । तदनुमत्यैव ओं भूर्जनदिति, प्रातः-सवन ऋग्भिरेवोभयतोऽथर्वाङ्गिरोभिर्गुप्ताभिर्गुप्तैः स्तुतेत्येव । ओं भुवो जनदिति, माध्यन्दिने सवने यजुर्भिरेवोभयतोऽथर्वाङ्गिरोभिर्गुप्ताभिर्गुप्तैः स्तुतेत्येव । ओं स्वर्जनदिति, तृतीयसवने सामभिरेवोभयतोऽथर्वाङ्गिरोभिर्गुप्ताभिर्गुप्तैः स्तुतेत्येव । अथ यद्यहीन उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामो वा स्यात् सर्वाभिः सर्वाभिरत ऊर्ध्वं व्याहृतिभिरनुजानाति । ओं भूर्भुवः स्वर्जनद् वृधत् करद् गुहन् महत्तच्छमोमिन्द्रवन्त स्तुतेति, सेन्द्रान्मापगायत सेन्द्रांꣳस्तुत इत्येव । इन्द्रियवान् न्यृद्धिमान् वशीयान् भवति य एवं वेद, यश्चैवं विद्वान् स्तोमभागैर्यजते ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ आगे और स्तोम भागों और व्याहृतियों का वर्णन ॥

(अधिपतिः असि १) [हे परमात्मन् !] तू अधिपति [बड़ा राजा] है, (धरुणः असि २) तू धारण करने वाला है, (संसर्पः असि ३) तू भले प्रकार व्यापक है, (वयोधाः असि ४) तू अन्न धारण करने वाला है, (प्राणः अपानः चक्षुः श्रोत्रम् इति एतानि वै पुरुषम् अकरन्) [इस प्रकार परमात्मा की स्तुति द्वारा पराक्रम और स्वास्थ्य होने से] प्राण [भीतर जाने वाला श्वास], अपान [बाहर जाने वाला श्वास], नेत्र और कान, इन्होंने ही पुरुष बनाया है। (प्रजात्यै एव प्राणान् उपैति) [मनुष्य] उत्तम जन्म [जीवन] के लिये ही प्राणों को पाता है। (त्रिवृत् असि ५) [हे परमात्मन् !] तू तीनों [भूत भविष्य वर्तमान काल] में वर्तमान है, (प्रवृत् असि ६) उत्तमता से वर्तमान है, (स्ववृत् असि ७) तू अपने आप वर्तमान है, (अनुवृत् असि ८) तू निरन्तर वर्तमान है—(मिथुनम् एव करोति) इससे [मनुष्य] स्थिर ज्ञान ही करता है। (आरोहः असि ९) [हे परमात्मन् !] तू चढ़ने वाला है, (प्ररोहः असि १०) तू उपजाने वाला है, (संरोहः असि ११) तू बढ़ाने वाला है, (अनुरोहः असि १२) तू निरन्तर वर्तमान है—(प्रजापतिः एव) इससे [मनुष्य] प्रजापति [प्रजापालक] ही होता है। (वसुकः असि १३) [हे परमात्मन्] तू ढक लेने वाला है, (वस्यष्टिः

१४—(अधिपतिः) सर्वोपरि राजा (धरुणः) कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३।५३) धृञ् धारणे—उनन्। धर्ता (संसर्पः) सम्यग् व्यापकः (वयोधाः) वयसि धाञः (उ० ४।२२९) वयः+डुधाञ् धारणपोषणयोः—असिः। वयः, अन्ननाम—निघ० २।७। अन्नधारकः (प्रजात्यै) प्रकृष्टजन्मने। उत्तमजीवनाय (त्रिवृत्) त्रिषु भूतभविष्यवर्तमानकालेषु वर्तमानः (प्रवृत्) प्रकर्षेण वर्तमानः (स्ववृत्) आत्मना वर्तमानः (अनुवृत्) निरन्तरं वर्तमानः (मिथुनम्) क० १३। स्थिरज्ञानम् (आरोहः) आ+रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—घञ्। आरोहणशीलः (वसुकः) उलूकादयश्च (उ० ४।४१) वस आच्छादने—उकप्रत्ययः। आच्छादकः

---

१. पू. सं. 'स्तुवन्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

असि १४) तू बस्तियों में व्यापक है, (वेषश्रीः असि १५ इति प्रतिष्ठितिरेव[1]) तू व्याप्त पदार्थों में शोभा देने वाला है—इससे [मनुष्य का] प्रतिष्ठापक है।। (आक्रमः असि १६) [हे परमात्मन्!] तू चढ़ाई करने वाला है, (सङ्क्रमः असि १७) तू संयोग करने वाला है, (उत्क्रमः असि १८) तू ऊँचा चढ़ने वाला है, (उत्क्रान्तिः असि १९ इति ऋद्धिः एव) तू ऊपर को डग मारने वाला है [देखो यजु० १५। ६], इससे [मनुष्य को] ऋद्धि [संपत्ति] होती है। (यत् यत् वै सविता देवेभ्यः प्रासुवत्, तेन आध्नुवन् सवितृप्रसूताः एव स्तुवन्ति ऋध्नुवन्ति) जो जो ही सविता [सर्वजनक परमात्मा] ने विद्वानों के लिये प्रेरणा की है, उससे वे बढ़े हैं, परमात्मा से प्रेरणा किये हुये ही वे स्तुति करते हैं, बढ़ते हुये रहते हैं [देखो क० १०]। (बृहस्पतये स्तुत इति, बृहस्पतिः वै देवानाम् आङ्गिरसः ब्रह्मा) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणियों के पालन करने वाले विद्वान्] के लिये तुम स्तुति करो—बृहस्पति ही विद्वानों में वेद जानने वाला ब्रह्मा है। (तत् अनुमत्या एव ओम् भूः जनत् इति प्रातःसवने ऋग्भिः एव उभयतः अथर्वाङ्गिरोभिः गुप्ताभिः गुप्तैः स्तुत इति एव) उस ब्रह्मा की अनुमति से—ओं भूः जनत् [यह व्याहृति है]—प्रातःसवन यज्ञ में ऋग् मन्त्रों द्वारा ही दोनों ओर से [आदि और अन्त में] निश्चल ब्रह्म के ज्ञानों से रक्षा की हुयी [व्याहृतियों] से रक्षा किये हुये [स्तोमों] द्वारा तुम स्तुति ही करो। (ओं भुवः जनत् इति, माध्यन्दिने सवने यजुर्भिः एव उभयतः अथर्वाङ्गिरोभिः गुप्ताभिः गुप्तैः स्तुत इति एव) ओं भुवः जनत् [यह व्याहृति है] माध्यन्दिन सवन में यजुर्मन्त्रों द्वारा ही दोनों ओर से [आदि और अन्त में] निश्चल ब्रह्म के ज्ञानों से रक्षा की हुई [व्याहृतियों] से रक्षा किये हुये [स्तोमों] द्वारा, तुम स्तुति ही करो। (ओं स्वः जनत् इति, तृतीयसवने सामभिः एव उभयतः अथर्वाङ्गिरोभि. गुप्ताभिः गुप्तैः स्तुत इति एव) ओं स्वः जनत् [यह व्याहृति है]—तृतीयसवन में साममन्त्रों द्वारा ही दोनों ओर से [आदि और अन्त में] निश्चल ब्रह्म के ज्ञानों से रक्षा की हुई [व्याहृतियों] से रक्षा किये हुये [स्तोमों] द्वारा, तुम स्तुति ही करो। (अथ यदि अहीनः उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः अप्तोर्यामः वा स्यात्, अतः ऊर्ध्वं सर्वाभिः सर्वाभिः व्याहृतिभिः अनुजानाति) फिर जो अहीन, [गो० उ० २। ८]

(वस्यष्टिः) खनिकष्यज्यसिवसि० (उ० ४। १४०) वस निवासे—इप्रत्ययः। अशूङ् व्याप्तौ संघाते च—तिप्रत्ययः। वसि—अष्टिः। वसिषु वस्तिषु व्यापकः (वेषश्रीः) विष्लृ व्याप्तौ—घञ्+श्रीः। वेषाणां श्रीः यस्मात् सः। व्याप्तपदार्थशोभाप्रदः (आक्रमः) आ+क्रमु पादविक्षेपे घञ्। आक्रमकः। (सङ्क्रमः) संयोजकः (उत्क्रम) ऊर्ध्वं गन्ता (उत्क्रान्तिः) ऊर्ध्वं पादविक्षेपणशीलः (अथर्वाङ्गिरोभिः) निश्चलज्ञानैः (उभयतः) आद्यन्तयोः (गुप्ताभिः) रक्षिताभिः, व्याहृतिभिः (गुप्तैः) रक्षितैः, स्तोमैः (अप्तोः) गो० पू० ५। २३। प्राप्तायाः प्रजायाः (यामः)

---

१. इससे आगे १३ वीं कण्डिका का कुछ पाठ लेखक प्रमाद से यहाँ आ गया था, जिसे हमने पृ० ३३८ टि० १ में दिखा दिया है। पाठक इस अंश का अर्थ यथास्थित १३ वीं कण्डिका पृ० ३३६ की टि० १ में देख लें॥ सम्पा०॥

उक्थ्य, षोडशी [गो० उ० २ । १४] वाजपेय, अतिरात्र अथवा अप्तोर्याः [गो० पू० ५ । २३] यज्ञ होवे उससे उपरान्त [अर्थात् तीन तीन व्याहृतियों के अनुष्ठान के पीछे] सब ही व्याहृतियों से वह [ब्रह्मा] आज्ञा देता है । (ओं भूर्भुवः स्वः जनत् वृधत् करत् गुहत् महत् तत् शम् ओम् इन्द्रवन्तः स्तुत इति, सेन्द्रान् मा, अपगायत सेन्द्रान् स्तुत इति एव) ओम् [सर्वरक्षक परमेश्वर है गो० पू० १ । ५ । तथा १६] भूः भुवः स्वः [सर्वाधार, सर्वव्यापक और सुखस्वरूप परमात्मा है, गो० पू० १ । ६], जनत् वृधत्, करत्, गुहत्, महत्, तत्, शम्, ओम्, [उत्पन्न करने वाला–गो०पू० १ । ८, बढ़ती वाला, बनाने वाला, सबमें अन्तर्यामी, पूजनीय, फैला हुआ ब्रह्म–गो०पू० १ । १०, शान्तिकारक–गो०पू० १ । ११ और रक्षक ब्रह्म है, इन व्याहृतियों के साथ] इन्द्रवान् [इन्द्र वाले मन्त्रों का प्रयोग करते हुये] तुम स्तुति करो, इन्द्र सहित [इन्द्र वाले मन्त्रों सहित स्तोमों] को बुरी ध्वनि से मत गाओ, इन्द्र सहित [स्तोमों] को ही गाओ । (इन्द्रियवान् न्यृद्धिमान् वशीयान् भवति, यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् स्तोमभागैः यजते) वह पुरुष पुष्ट इन्द्रियों वाला, नित्य सम्पत्ति वाला और अत्यन्त जितेन्द्रिय [वा स्वतन्त्र] होता है, जो ऐसा जानता है, और जो ऐसा जानकार पुरुष स्तोम भागों से यज्ञ [पूजनीय कर्म] करता है ॥ १४ ॥

भावार्थ :—जो मनुष्य परमात्मा के गुणों के गूढ़ विचार से पदार्थों के विज्ञान द्वारा आत्मोन्नति करते हैं, वे ही पराक्रमी जन महाधनी होकर संसार में यशस्वी होते हैं ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ ॥

यो ह वा आयतांश्च प्रतियतांश्च स्तोमभागान् विद्यात् स[1] विष्वर्धमानयोः सवृतसोमयोः, ब्रह्मा स्यात्[2] स्तुतेषे स्तुतोर्जे स्तुत देवस्य सवितुः सवे बृहस्पतिं वः प्रजापतिं वो वसून् वो देवान् रुद्रान्वो देवानादित्यान्वो देवान् साध्यान्वो देवानाप्त्यान्वो देवान्विश्वान्वो देवान् सर्वान्वो देवान्विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्योऽस्माकमस्तु केवल इतः कृणोतु वीर्यम्, इत्येते ह वा आयताश्च प्रतियताश्च स्तोमभागाः, ताञ्जपन्नुपर्युपरि परेषां ब्रह्माणमवेक्षेत । तत एषामधःशिरा ब्रह्मा पतति, ततो यज्ञः, ततो यजमानः । यजमानेऽधःशिरसि पतिते स देशोऽधःशिराः पतति । यस्मिन्नर्धे यजन्ते देवाश्च ह वा असुराश्च, सवृतसोमौ[3] यज्ञावतनुताम् । अथ बृहस्पतिराङ्गिरसो देवानां ब्रह्मा, स आयतांश्च प्रतियतांश्च स्तोमभागान् जपन्नु-

---

गो० पू० ५ । २३ । नियमः (सेन्द्रान्) इन्द्रसहितान् स्तोमान् (मा) निषेधे (अपगायत) अपगानेन कुत्सितध्वनिना कुरुत (इन्द्रियवान्) पुष्टेन्द्रिययुक्तः (न्यृद्धमान्) नित्यसम्पत्तिमान् (वशीयान्) वश+ईयसुन् । अतिशयेन जितेन्द्रियः, स्वतन्त्रः ॥

---

१. पू. सं. 'च' इति पाठः ॥ २. पू. सं. "ब्रह्मास्याः" इति पाठः ॥

३. पू० सं० "सवृतसोमः" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

पर्य्यु पर्यसुराणां ब्रह्माणमवेक्ष[1]त । तत एषामधःशिरा ब्रह्माऽपतत्, ततो यज्ञः, ततोऽसुरा इति ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ स्तोम भागों से शत्रुओं का नाश ॥

(यः ह वै विष्पर्धमानयोः सवृतसोमयोः आयतान् च प्रतियतान् च स्तोम-भागान् विद्यात्, स ब्रह्मा स्यात्, देवस्य सवितुः सवे वः बृहस्पतिं प्रजापतिम् इषे स्तुत ऊर्जे स्तुत स्तुत) जो [परमात्मा] ही विविध प्रकार लगातार उन्नति वाले दो समान स्वीकार किये हुये सोम यज्ञ वालों के लम्बे और चौड़े स्तोम भागों [स्तुति योग्य व्यवहार के भागों] को निश्चय करके जाने वह ब्रह्मा होवे [तुम] प्रकाशमान प्रेरक [परमात्मा] की प्रेरणा में अपने बीच [उस] बृहस्पति [बड़े बड़े लोकों के पालक] और प्रजापति [प्रजापालक परमात्मा] की अन्न के लिये स्तुति करो, पराक्रम के लिये स्तुति करो, स्तुति करो । (वः वसून्, वः देवान् रुद्रान्, वः देवान्, आदित्यान्, वः देवान् साध्यान्, वः देवान् आप्त्यान्, वः विश्वान् देवान्, वः सर्वान् देवान् वः देवान् विश्वतः जनेभ्यः परिह्वामहे, अस्माकं केवलः अस्तु) तुम वसुओं [निवास कराने वालों] को, तुम विजयी रुद्रों [शत्रुओं के रुलाने वालों] को, तुम कामना योग्य आदित्यों [अखण्ड-व्रतियों] को, तुम गति वाले साध्यों [व्यवहार साधकों] को, तुम दिव्य गुण वाले आप्त [यथार्थ वक्ता] पुरुषों में रहने वालों को, तुम सब आनन्ददायकों को, तुम सब व्यवहार-कुशलों को, और तुम सब स्तुति योग्यों को सब प्राणियों के लिए सब प्रकार हम बुलाते हैं। वह [परमात्मा] हमारा सेवनीय होवे (इतः वीर्यं कृणोतु) इस [व्यवहार] से वह [परमात्मा] वीरत्व करे—(इति एते ह वै आयताः च प्रतियताः च स्तोमभागाः, तान् जपन् उपरि उपरि परेषां ब्रह्माणम् अवेक्षेत) यह ही निश्चय करके लम्बे और चौड़े स्तोम भाग [स्तुति योग्य व्यवहारों के भाग] हैं, उनको जपता हुआ [विचारता हुआ] ऊपर ऊपर होकर बैरियों के ब्रह्मा [पुरोहित] को निहारे [उसके छल बल रोके]। (ततः एषां ब्रह्मा अधःशिराः पतति, ततः यज्ञः, ततः यजमानः) इस [व्यवहार] से इन [बैरियों] का ब्रह्मा ओंधे सिर गिरता है, उससे यज्ञ [संगति व्यवहार], उससे यजमान [ओंधे सिर गिरता है]। (यजमाने अधःशिरसि पतिते सः देशः अधःशिराः पतति) यजमान के ओंधे सिर गिरने पर वह देश ओंधे सिर गिरता है। (यस्मिन् अर्द्धे

१५—(आयतान्) आ+यमु उपरमे—क्तः, वा यती प्रयत्ने—अच् । दीर्घान् (प्रतियतान्) विस्तृतान् (स्तोमभागान्) स्तुत्यव्यवहारभागान् (विद्यात्) जानाति (विष्पर्धमानयोः) विविधा स्पर्धा क्रमोन्नतिर्ययोस्तयोः (सवृतसोमयोः) समान-स्वीकृतसोमयज्ञयोः (इषे) अन्नाय (ऊर्जे) पराक्रमाय (सवितुः) प्रेरकस्य परमेश्वरस्य (सवे) प्रेरणायाम् (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां पालकं परमात्मानम् (वः) युष्माकं मध्ये (वः) युष्मान् (वसून्) निवासनशीलान् (रुद्रान्) शत्रुरोदकान् (आदित्यान्) अखण्डव्रतिनः पुरुषान् (साध्यान्) व्यवहारसाधकान् (आप्त्यान्)

---

१. पू. सं. 'अवेक्षेत' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

देवाः च ह वै असुराः च यजन्ते, सवृतसोमौ यज्ञौ अतनुताम्) जिस ऋद्धि युक्त व्यवहार में देव [विद्वान् लोग] और असुर [अविद्वान्] यज्ञ करते हैं, दो समान स्वीकार किये हुये सोम यज्ञ विस्तृत होवें । (अथ आङ्गिरसः बृहस्पतिः देवानां ब्रह्मा, सः आयतान् च प्रतियतान् च स्तोमभागान् जपन् उपरि उपरि असुराणां ब्रह्माणम् अवैक्षत) फिर वह वेदवेत्ता बृहस्पति देवताओं का ब्रह्मा है, उसने आयतों [लम्बे] और प्रतियतों [चौड़े] स्तोमभागों को जपते हुवे [विचारते हुवे] ऊपर ऊपर रहकर असुरों के ब्रह्मा को निहारा । (ततः एषां ब्रह्मा अधःशिराः अपतत्, ततः यज्ञः, ततः असुराः इति) उससे इन [असुरों] का ब्रह्मा नीचे सिर गिर गया, उससे यज्ञ और उससे असुर [नीचे सिर] गिर गये ।। १५ ।।

भावार्थः—जहाँ पर दो पुरुष शत्रुता करके समान प्रयत्न करते हैं, वहाँ जिसका ब्रह्मा वा पुरोहित अधिक चतुर होता है, वह विजय पाता है ।। १५ ।।

कण्डिका १६ ॥

देवा यज्ञं पराजयन्त, तमाग्नीध्रात्पुनरुपाजयन्त, तदेतद्यज्ञस्यापराजितं, यदाग्नीध्रं यदाग्नीध्रा[1]द्धिष्ण्यान्विहरति । तत एवैनं पुनस्तनुते पराजित्यै । अप खलु वा एते गच्छन्ति, ये बहिष्पवमानं सर्पन्ति । बहिष्पवमाने स्तुत आह अग्नी[2]त्, अग्नीन्विहर, बर्हिःस्तृणीहि, पुरोडाशानलङ्कुर्विति । यज्ञमेवापराजित्य पुनस्तन्वाना आयन्त्यङ्गारैर्द्वे सवने विहरति, शलाकाभिस्तृतीयसवनं सशुक्रत्वाय । अथो सम्भवत्येवमेवैतत्, दक्षिणतो वै देवानां यज्ञं रक्षांस्यजिघांसन्, तान्याग्नीध्रेणापाघ्नत । तस्माद्दक्षिणामुखस्तिष्ठन्नग्नीत् प्रत्याश्रावयति, यज्ञस्याभिजित्यै रक्षसामपहत्यै रक्षसामपहत्यै ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ आग्नीध्र द्वारा यज्ञ की सिद्धि ॥

(देवाः यज्ञम् पराजयन्त) देवताओं ने यज्ञ को हरा दिया । (तम् आग्नीध्रात् पुनः उपाजयन्त) उसको वे आग्नीध्र [अग्नि प्रज्वलन स्थान] से फिर जीत कर लाये । (तत् एतत् यज्ञस्य अपराजितम्, यत् आग्नीध्रम् यत् आग्नीध्रात् धिष्ण्यान् विहरति)

आत—यत् । आप्तेषु यथार्थवक्तृषु भवान् (विश्वतः) सर्वेभ्यः । सर्वान् (परि) सर्वतः (हवामहे) आह्वयामः (जनेभ्यः) जनानां हिताय (केवलः) सेवनीयः (वीर्यम्) वीरत्वम् (परेषाम्) शत्रूणाम् (अवैक्षत) अवेक्षणेन प्रतिजागरणेन अपश्यत् (एषाम्) परेषाम् । शत्रूणाम् (अर्द्धे) ऋद्धियुक्ते व्यवहारे (सवृतसोमौ) समानस्वीकृतसोमौ (अतनुताम्) विस्तृतौ भवताम् ॥

१६—(परा अजयन्त) पराजितवन्तः (आग्नीध्रात्) अग्निगृहात् (उप-अजयन्त) उपेत्य जितवन्तः (अपराजितम्) अपराजयत्वम् (धिष्ण्यान्) सानसि-

---

१. पू सं. 'आग्नीध्रा' इति पाठः ।।
२. पू. सं. 'अग्नीन्' इति पाठः ।। सम्पा० ।।

सो यह ही यज्ञ का न हार जाना है, जो आग्नीध्र है; और जो आग्नीध्र से धिष्णियों [यज्ञ अग्नियों] को वह विस्तृत करता है। (ततः एव एनं पुनः अपराजित्यै तनुते) फिर ही इस [यज्ञ] को न हराने के लिये वह विस्तृत करता है। (एते वै खलु अपगच्छन्ति, ये बहिष्पवमानं सर्पन्ति) वे लोग निश्चय करके नहीं हटते हैं, जो बहिष्पवमान [बाहिरले पवित्र स्थान विशेष] में जाते हैं। (बहिष्पवमाने स्तुते अग्नीत् आह—अग्नीन् विहर, बर्हिः स्तृणीहि, पुरोडाशान् अलङ्कुरु इति) बहिष्पवमान की स्तुति किये जाने पर अग्नीत् [अग्नि प्रदीपक ऋत्विज्] कहता है—तू अग्नियों को विस्तृत कर, आसन बिछा और पुरोडाशों [पक्वान्न विशेषों] को सजा। (यज्ञम् एव अपराजित्य पुनः तन्वानाः आयन्ति, अङ्गारैः द्वे सवने विहरति, शलाकाभिः सशुक्रत्वाय तृतीयसवनम्) यज्ञ को न हरा कर फिर [उसको] फैलाते हुये वे आते हैं, अङ्गारों [निर्धूम अग्नियों] से दोनों सवनों [प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन] को वह विस्तृत करता है, और शलाकाओं से समान वीरत्व के लिये तृतीय सवन को [विस्तृत करता है]। (अथो एवम् एव एतत् सम्भवति, दक्षिणतः वै देवानां यज्ञं रक्षांसि अजिघांसन्, तानि आग्नीध्रेण अपाघ्नत) फिर ऐसा ही यह हो सकता है—दक्षिण [दक्षिण आदि] दिशा में ही देवताओं के यज्ञ को राक्षसों ने नाश करना चाहा, उनको आग्नीध्र [अग्नि प्रज्वालन] द्वारा [देवताओं ने] हरा दिया। (तस्मात् दक्षिणामुखः तिष्ठन् अग्नीत् यज्ञस्य अभिजित्यै रक्षसाम् अपहत्यै रक्षसाम् अपहत्यै प्रत्याश्रावयति) इसलिये दक्षिण मुख बैठा हुआ अग्नीत् [अग्नि प्रदीपक ऋत्विज्] यज्ञ की पूरी जीत के लिये और राक्षसों की हार के लिये, राक्षसों की हार के लिये स्तुति सुनाता है ॥ १६ ॥

भावार्थः—जैसे यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञ के विघ्नों को हटाते हैं, वैसे ही मनुष्य पराक्रम बढ़ाकर शत्रुओं का नाश करें ॥ १६ ॥

कण्डिका १७ ॥

तदाहुः, अथ कस्मात् सौम्य एवाध्वरे प्रवृत्ताहुतीर्जुह्वति, न हविर्यज्ञ इति। अकृत्स्ना वा एषा देवयज्या, यद्धविर्यज्ञः। अथ हैषैव कृत्स्ना एषा देवयज्या, यत् सौम्योऽध्वरः, तस्मात् सौम्य एवाध्वरे प्रवृताहुतीर्जुह्वति। जुष्टो वाचे भूयासं जुष्टो वाचस्पतये देवि वाग् यद्वाचो मधुमत्तमं, तस्मिन्मा धाः स्वाहा वाचे स्वाहा वाचस्पतये स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्या इति, पुरस्तात् स्वाहाकारेण जुहोति। तस्माद्वाग् अत ऊर्ध्वमुत्सृष्टा यज्ञं वहति। मनसोन्तरा, मनसा हि मनः प्रीतम्। तदु हैके सप्ताहुतीर्जुह्वति, सप्त छन्दांसि प्रवृत्तानि प्रतिमन्त्रमिति वदन्तः। यथा मेखला पर्य्यस्यते मेध्यस्य चामेध्यस्य च विहृत्या एवं हवैते न्युप्यन्ते मेध्यस्य चामेध्यस्य च

वर्णसिपर्णसि० (उ० ४ । १०७) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—ण्यप्रत्ययः, ऋकारस्य इकारः, यद्वा धिष शब्दे—ण्यः। अग्नीन् (विहरति) विस्तारयति (अपराजित्यै) अपराभवाय (खलु) निषेधे (अङ्गारैः) अङ्गिमदिमन्दिभ्य आरन् (उ० ३ । १३४) अगि गतौ—आरन्। निर्धूमाग्निभिः (सशुक्रत्वाय) समानवीर्यत्वाय (सम्भवति) समर्थो भवति (अपाघ्नत) पराजितवन्तः। नाशितवन्तः ॥

विहृत्यै यज्ञस्य विहृत्यै । प्राचीनं हि धिष्ण्येभ्यो देवानां लोकाः, प्रतीचीनं मनुष्याणाम् । तस्मात् सोमं पिबता प्राञ्चो धिष्ण्या नोपसर्प्याः । जनं ह्य ेतद्देवलोकं ह्यध्यारोहन्ति, तेषामेतदायतनं चोदयनं च, यदाग्नीध्रं च सदश्च । तद्योऽविद्वान् सञ्चरति, आर्त्ति-मार्च्छति । अथ यो विद्वान् सञ्चरति, न स धिष्णीयामार्त्तिमार्च्छति ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ प्रवृत्त आहुतियों का वर्णन ॥

(तत् आहुः, अथ कस्मात् सौम्ये एव अध्वरे प्रवृत्ताहुतीः जुह्वति न हविर्यज्ञे इति) यह कहते हैं–फिर किस लिये सोम वाले ही यज्ञ में प्रवृत्ताहुति [लगातार आहुतियों] को वे देते हैं और हविर्यज्ञ में नहीं । (अकृत्स्ना वै एषा देवयज्या, यत् हविर्यज्ञः) [उत्तर] असम्पूर्ण ही यह देवयज्या है जो हविर्यज्ञ है । (अथ ह एषा एषा एव कृत्स्ना देवयज्या, यत् सौम्यः अध्वरः, तस्मात् सौम्ये एव अध्वरे प्रवृत्ताहुतीः जुह्वति) फिर यह ही निश्चय करके सम्पूर्ण देवयज्या है, जो सोम वाला यज्ञ है, इसलिये सोम वाले ही यज्ञ में प्रवृत्त आहुतियां वे देते हैं । (वाचे जुष्टः भूयासम्, वाचस्पतये जुष्टः, देवि वाक् यत् वाचः मधुमत्तमम्, तस्मिन् मा धाः स्वाहा, वाचे स्वाहा, वाचस्पतये स्वाहा, सरस्वत्यै सरस्वत्यै स्वाहा इति पुरस्तात् स्वाहाकारेण जुहोति) मैं वाणी के लिये प्रसन्न होऊँ, वाचस्पति [वाणी के स्वामी परमात्मा] के लिये प्रसन्न [होऊँ] हे देवि वाणी ! जो वाणी का अत्यन्त मधुर कर्म है उसमें मुझको स्वाहा [सुवाणी के साथ] धारण कर, वाणी के लिए स्वाहा [सुन्दर वाणी वा आहुति] है, वाचस्पति के लिये स्वाहा है, सरस्वती [विज्ञानवती विद्या] के लिए, सरस्वती के लिए स्वाहा है—इस मन्त्र से पहिले स्वाहा शब्द के साथ वह हवन करता है । (तस्मात् वाक् अतः ऊर्ध्वम् उत्सृष्टा यज्ञं वहति) इसलिए इसके उपरान्त वाणी छुटी हुई होकर यज्ञ को ले चलती है । (मनसः अन्तरा मनसा हि मनः प्रीतम्) मन के भीतर मन के साथ ही मन प्रसन्न रहता है ।

(तत् उ ह एके सप्त आहुतीः जुह्वति, सप्त छन्दांसि प्रतिमन्त्रं प्रवृत्तानि इति वदन्तः) फिर कोई कोई सात आहुतियाँ देते हैं—सात छन्द एक-एक मन्त्र में प्रवृत्त हैं—ऐसा कहते हुये । (यथा मेखला मेध्यस्य च अमेध्यस्य च विहृत्यै पर्य्यस्यते, एवं ह एव एते मेध्यस्य च अमेध्यस्य च यज्ञस्य विहृत्यै विहृत्यै न्युप्यन्ते) [उत्तर] जिस प्रकार मेखला [यज्ञ सीमा] पवित्र वस्तु के और अपवित्र वस्तु के अलग करने के लिए डाली जाती है, वैसे ही यह [पदार्थ] पवित्र एवं अपवित्र वस्तु के [पवित्र हुए २] यज्ञ के विस्तार के लिए, विस्तार के लिए ही [अग्नि में] डाले जाते हैं । (धिष्ण्येभ्यः हि प्राचीनं देवानां लोकाः, प्रतीचीनं मनुष्याणाम्) अग्नियों से पूर्व दिशा वाला स्थान ही देवताओं केऔर पश्चिम

१७—(जुह्वति) प्रक्षिपन्ति (अकृत्स्ना) असम्पूर्णा (जुष्टः) प्रीतः । सेवितः (मधुमत्तमम्) अतिशयेन माधुर्य्ययुक्तं कर्म (सरस्वत्यै) विज्ञानयुक्तायै वाचे (पुरस्तात्) अग्रे (उत्सृष्टा) त्यक्ता (प्रीतम्) प्रसन्नम् (मेखला) यज्ञसीमा (मेध्यस्य) पवित्रपदार्थस्य (अमेध्यस्य) अपवित्रव्यवहारस्य (विहृत्यै) वि+हृञ् हरणे—क्तिन् । पृथक्करणाय । विस्ताराय (प्राचीनम्) पूर्वदिशि वर्तमानं स्थानम्

दिशा वाला स्थान मनुष्यों के लोक हैं । (तस्मात् सोमं पिबता प्राञ्चः धिष्ण्याः न उपसर्प्याः) इसलिए सोम पीने वाले पुरुष करके पूर्व दिशा वाली अग्नियें अब न प्राप्त की जावें । (एतत् हि जनं देवलोकं हि अध्यारोहन्ति) इससे ही जन [महत्लोक से ऊपर वाले] देवलोक को ही वे चढ़ जाते हैं । (तेषाम् एतत् आयतनम् च उदयनं च, यत् आग्नीध्रं च सदः च) उनका यह विश्राम स्थान और उदय स्थान है जो आग्नीध्र [अग्नि प्रज्वलन] और सदः [बैठक] है । (तत् यः अविद्वान् सञ्चरति, आर्तिम् आर्च्छति) इसलिए जो अजानकार [यज्ञ] करता है, वह पीड़ा पाता है । (अथ यः विद्वान् सञ्चरति, सः धिष्णीयाम् आर्तिं न आर्च्छति) और जो विद्वान् [यज्ञ] करता है, वह अग्नि सम्बन्धी पीड़ा नहीं पाता है ॥ १७ ॥

भावार्थ :—मनुष्यों को चाहिये कि सदा समय के अनुकूल वाणी बोलें, पवित्र और अपवित्र की सीमा करें और यथायोग्य सब को बैठक देवें ॥ १७ ॥

कण्डिका १८ ॥

प्रजापतिर्वै यज्ञः, तस्मिन् सर्वे कामाः सर्वा इष्टीः सर्वममृतत्वम् । तस्य हैते गोप्तारः, यद्धिष्ण्याः[१], तान् सदः प्रस्रप्स्य[२]न् नमस्करोति, नमो नम इति । न हि नमस्कारमतिदेवाः, ते ह नमसिताः कर्तारमतिसृजन्तीति । तत एतं प्रजापतिं यज्ञं प्रपद्यते, नमो नम इति । न हि नमस्कारमतिदेवाः, स तत्रैव यजमानः सर्वान् कामानाप्नोति सर्वान् कामानाप्नोति ॥ १८ ॥

कण्डिका १८ ॥ प्रजापति को नमस्कार ॥

(प्रजापतिः वै यज्ञः, तस्मिन् सर्वे कामाः सर्वाः इष्टीः सर्वम् अमृतत्वम्) प्रजापति [प्रजापालक] ही यज्ञ [संगति व्यवहार] है, उसमें सब मनोरथ, सब यज्ञ क्रियायें और सब अमरपन [मोक्ष आनन्द] है । (तस्य ह एते गोप्तारः यत् धिष्ण्याः, तान् सदः प्रस्रप्स्यन् नमस्करोति, नमो नमः इति) उसके ही यह रक्षक हैं, जो अग्नि देवता वाले [ऋत्विज्] हैं, उनको सद [यज्ञशाला] में जाने की इच्छा करता हुआ [यजमान] नमस्कार करता है--नमो नमः [बहुत बहुत नमस्कार है] । (देवाः नमस्कारम् अति न हि, ते ह नमसिताः कर्तारम् अतिसृजन्ति) देवता [विद्वान् लोग] नमस्कार

(प्रतीचीनम्) पश्चिमदिशि वर्त्तमानं स्थानं (प्राञ्चः) पूर्वदिशि वर्तमानाः (न) सम्प्रति । निषेधे (जनम्) महोलोकादूर्ध्वलोकम् (आयतनम्) विश्रामस्थानम् (उदयनम्) उदयस्थानम् (धिष्णीयाम्) अग्निसम्बन्धिनीम् ॥

१८—(इष्टीः) पूर्वसवर्णदीर्घः । इष्टयः । यज्ञक्रियाः (धिष्ण्याः) अग्निदेवताकाः । ऋत्विजः (प्रस्रप्स्यन्) प्रगमिष्यन् (अति) अतिक्रम्य । तिरस्कृत्य (कर्तारम्) नमस्कर्तारम् (अतिसृजन्ति) आशीर्वादं ददति ॥

---

१. पू. सं. "धिष्ण्यीयः" इति पाठः ॥

२. पू. सं. "प्रसृप्स्यन् मस्करोति" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

का तिरस्कार करके नहीं रहते, वे अवश्य [दूसरों से] नमस्कार किये गये नमस्कार करने वाले को [आशीर्वाद] देते हैं [यह गोप्ताओं को आशीर्वाद का विषय हुआ]। (ततः एतं प्रजापतिं यज्ञं प्रपद्यते, नमो नमः इति) फिर इस प्रजापति यज्ञ में वह [यजमान] पहुँचता है—नमो नमः [कहता है]। (देवाः नमस्कारम् अति न हि, सः यजमानः तत्र एव सर्वान् कामान् आप्नोति सर्वान् कामान् आप्नोति) देवता [विद्वान् लोग] नमस्कार का तिरस्कार करके नहीं रहते, वह यजमान उस [नमस्कार करने] में सब मनोरथों को पाता है, सब मनोरथों को पाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ :—बड़े बड़ों की आदरपूर्वक सम्मति मानने से मनुष्य के मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९ ॥

यो वै सदस्यान् गन्धर्वान् वेद, न सदस्यामार्त्तिमार्च्छति। सदः प्रसृप्सन् ब्रूयादुपद्रष्ट्रे नम इति, अग्निर्वै द्रष्टा, तस्मा उ एवात्मानं परिदधाति सर्वमायुरेति न पुरा जरसः प्रमीयते, य एवं वेद। १। सदः प्रसृप्य ब्रूयादुपश्रोत्रे नम इति। वायुर्वा उपश्रोता, तस्मा उ एवात्मानं परिदधाति सर्वमायुरेति न पुरा जरसः प्रमीयते, य एवं वेद। २। सदः प्रसर्पन् ब्रूयात्, अनुख्यात्रे नम इति आदित्यो वा अनुख्याता तस्मा उ एवात्मानं परिदधाति सर्वमायुरेति न पुरा जरसः प्रमीयते, य एवं वेद। ३। सदः प्रसृप्तो ब्रूयात्, उपद्रष्ट्रे नम इति। ब्राह्मणो वा उपद्रष्टा, तस्मा उ एवात्मानं परिदधाति सर्वमायुरेति न पुरा जरसः प्रमीयते, य एवं वेद। ४। एते वै सदस्या गन्धर्वाः। स य[1] एवमेतान् सदस्यान् गन्धर्वानविद्वान् सदः प्रसर्पति, स सदस्यामार्त्तिमार्च्छति। अथ यो विद्वान् सञ्चरति, न सदस्यामार्त्तिमार्च्छति। एतेन ह स्म वा अङ्गिर[2]सः सर्वं सदः पर्य्याहुः, ते न सदस्यामार्त्तिमार्च्छन्ति। अथ यान् कामयेत न सदस्यामार्त्तिमार्च्छेयुरिति, तेभ्य एतेन सर्वं सदः परिब्रूयात्ते न सदस्यामार्त्तिमार्च्छन्ति। अथ यं कामयेत प्रमीयेतेति, तमेतेभ्य आवृश्चेत् प्रमीयते ॥ १९ ॥

कण्डिका १९ ॥ सदस्य गन्धर्वों को नमस्कार ॥

(यः वै सदस्यान् गन्धर्वान् वेद, सदस्याम् आर्त्तिं न आर्च्छति) जो [यजमान] सदस्य [यज्ञशाला में बैठने वाले] गन्धर्वों [वेदवाणी वा पृथिवी धारण करने वाले विद्वानों] को जानता है, वह यज्ञशाला में होने वाली पीड़ा को नहीं पाता है। (सदः प्रसृप्सन् ब्रूयात्, उपद्रष्ट्रे नमः इति) सद [यज्ञशाला] में जाना चाहता हुआ [यजमान] बोले:—उपद्रष्टा [अधिक देखने वाले] को नमस्कार है, (अग्निः वै द्रष्टा तस्मै उ एव

१९—(सदस्यान्) सदसि यज्ञशालायां भवान् (गन्धर्वान्) गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरतीति गन्धर्वः। कृगृशृदृभ्यो वः (उ० १। १५५) गो+धृञ् धारणे—वप्रत्ययः, गोशब्दस्य गम्। वेदवाणीधारकान् भूमिधारकान् (उपद्रष्ट्रे)

१. पू. सं. "यः" इति नास्ति ॥ २. पू. सं. 'आङ्गिरसः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

आत्मानं परिदधाति, सर्वम् आयुः एति, जरसः पुरा न प्रमीयते, यः एवं वेद १) अग्नि ही द्रष्टा [देखने वाला, ज्योति वाला] है, उसके लिये [उसके समान बल पाने के लिये] ही अपने को वह सब प्रकार पुष्ट करता है, पूर्ण आयु पाता है, और बुढ़ापे से पहिले नहीं मरता, जो ऐसा जानता है। १। (सदः प्रसृप्य ब्रूयात्—उपश्रोत्रे नमः इति) सद [यज्ञशाला] को चलकर वह बोले--उपश्रोता [बहुत सुनने वाले] के लिये नमस्कार है। (वायुः वै उपश्रोता, तस्मै उ एव आत्मानं परिदधाति, सर्वम् आयुः एति, जरसः पुरा न प्रमीयते, यः एवं वेद २) वायु ही उपश्रोता [भले प्रकार सुनने वाला, सुनने का साधन] है, उसके लिये [उसके समान बल पाने के लिये] ही अपने को वह सब प्रकार पुष्ट करता है, पूर्ण आयु पाता है, और बुढ़ापे से पहिले नहीं मरता, जो ऐसा जानता है। २। (सदः प्रसर्पन् ब्रूयात्, अनुख्यात्रे नमः इति) यज्ञशाला में आगे को चलता हुआ वह बोले--अनुख्याता [निरन्तर प्रसिद्धि करने वाले] के लिये नमस्कार है। (आदित्यः वै अनुख्याता तस्मै उ एव आत्मानं परिदधाति, सर्वम् आयुः एति, जरसः पुरा न प्रमीयते, यः एवं वेद ३) प्रकाशमान सूर्य ही [अनुख्याता] प्रसिद्धि करने वाला है, उसके लिये [उसके समान बल पाने के लिये] ही वह अपने को सब प्रकार पुष्ट करता है, सम्पूर्ण आयु पाता है, और बुढ़ापे से पहिले नहीं मरता, जो ऐसा जानता है। ३। (सदः प्रसृतः ब्रूयात्, उपद्रष्ट्रे नमः इति) यज्ञशाला में पहुँचा हुआ वह कहे–उपद्रष्टा [भली भांति देखने वाले] के लिये नमस्कार है। (ब्राह्मणः वै उपद्रष्टा तस्मै उ एव आत्मानं परिदधाति, सर्वम् आयुः एति, जरसः पुरा न प्रमीयते, यः एवं वेद ४) ब्राह्मण [वेदवेत्ता ब्रह्मा] ही उपद्रष्टा है, उसके लिये [उसके समान बल पाने के लिये] ही वह अपने को सब प्रकार पुष्ट करता है, सम्पूर्ण आयु पाता है, और बुढ़ापे से पहिले नहीं मरता, फिर जो ऐसा जानता है। ४। (एते वै सदस्याः गन्धर्वाः) यह ही सदस्य [यज्ञशाला में बैठने वाले] गन्धर्व [वेदवाणी वा पृथिवी के धारण करने वाले] हैं। (सः यः एवम् एतान् सदस्यान् गन्धर्वान् अविद्वान् सदः प्रसर्पति, सः सदस्याम् आर्तिम् आर्च्छति) फिर जो इस प्रकार इन सदस्य गन्धर्वों को न जानता हुआ पुरुष यज्ञशाला में घुस जाता है, वह यज्ञशाला सम्बन्धी पीड़ा पाता है। (अथ यः विद्वान् सञ्चरति सदस्याम् आर्तिम् न आर्च्छति) फिर जो [इनको] जानता हुआ पुरुष [यज्ञशाला में] चलता है, वह यज्ञशाला सम्बन्धी पीड़ा नहीं पाता। (एतेन ह स्म वै अङ्गिरसः सर्वं सदः पर्य्याहुः, ते सदस्याम् आर्तिं न आर्च्छन्ति) इस [व्यवहार] से ही आङ्गिरस [वेदवेत्ता लोग] सब यज्ञशाला का बखान करते हैं, वे यज्ञ सम्बन्धी पीड़ा नहीं पाते। (अथ यान् कामयेत सदस्याम् आर्तिं न आर्च्छेयुः इति, तेभ्यः एतेन सर्वं सदः परिब्रूयात्, ते सदस्याम् आर्तिं न आर्च्छन्ति) फिर वह जिन [पुरुषों] को चाहे—यह लोग यज्ञशाला सम्बन्धी पीड़ा न पावें—उनसे इस

उप+दृशिर् प्रेक्षणे—तृच्। अधिकदर्शकाय (परिदधाति) सर्वतः पोषयति। समर्पयति (प्रमीयते) प्रम्रियते (उपश्रोत्रे) अधिकश्रवणसाधकाय (अनुख्यात्रे) निरन्तरख्यापकाय। प्रसिद्धिकारकाय (अविद्वान्) अजानन् (अङ्गिरसः) वेदवेत्तारः॥

प्रकार सब यज्ञशाला को वह [ब्रह्मा] बता देवे, वे यज्ञशाला सम्बन्धी पीड़ा नहीं पाते हैं। (अथ यं कामयेत प्रमीयेत इति, तम् एतेभ्यः आवृश्चेत् प्रमीयते) फिर जिसे [पुरुष] को चाहे--वह मर जावे, उसको इन [लोगों] के हित के लिये वह छेद डाले, वह मर जाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः—मनुष्य सत्कर्मियों के आदर और दुष्कर्मियों के निरादर से संसार में बड़ाई पाते हैं ॥ १९ ॥

कण्डिका २० ॥

तदाहुः यदैन्द्रो यज्ञोऽथ कस्मात् द्वावेव प्रातःसवने प्रस्थितानां प्रत्यक्षादैन्द्रीभ्यां यजतो होता चैव ब्राह्मणाच्छंसी च । इदं ते सोम्यं मध्विति होता यजति । इन्द्र त्वा वृषभं वयमिति ब्राह्मणाच्छंसी, नानादेवत्याभिरितरे, कथं तेषामैन्द्रयो भवन्ति। मित्रं वयं हवामह इति, मैत्रावरुणो यजति । वरुणं सोमपीतय इति, यद्वै किञ्च पीतवत्, तदैन्द्रं रूपं, तेनेन्द्रं प्रीणाति । मरुतो यस्य हि क्षय इति, पोता यजति । स सुगोपातमो जन इति, इन्द्रो वै गोपाः, तदैन्द्रं रूपं तेनेन्द्रं प्रीणाति । अग्ने पत्नीरिहावहेति, नेष्टा यजति । त्वष्टारं सोमपीतय इति, यद्वै किञ्च पीतवत्, तदैन्द्रं रूपं, तेनेन्द्रं प्रीणाति । उक्षान्नाय वशान्नायेत्याग्नीध्रो यजति । सोमपृष्ठाय वेधस इति, इन्द्रो वै वेधाः, तदैन्द्रं रूपं, तेनेन्द्रं प्रीणाति । प्रातर्यावभिरागतं देवेभिर्जेन्यावसू, इन्द्राग्नी सोमपीतय इति स्वयं समृद्धा अच्छावाकस्यैवमु हैता ऐन्द्रयः भवन्ति, यन्नानादेवत्याः तेनान्या देवताः प्रीणाति । यद्गायत्र्यः तेनाग्नेय्यः, तस्मादेता-भिस्त्रयमवाप्तं भवति ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ प्रातःसवन में इन्द्र आदि के लिये हवि का निर्णय ॥

(तत् आहुः, यत् ऐन्द्रः यज्ञः, अथ कस्मात् द्वौ एव होता च एव ब्राह्मणाच्छंसी च प्रातःसवने प्रस्थितानां प्रत्यक्षात् ऐन्द्रीभ्यां यजतः) फिर वे [ब्रह्मवादी] कहते हैं—जब इन्द्र देवता वाला यज्ञ है, फिर क्यों दो ही होता और ब्राह्मणाच्छंसी [दूसरे ऋत्विजों को छोड़कर] प्रातःसवन में उपस्थित [सोमयज्ञों] के बीच प्रत्यक्ष दो इन्द्र देवता वाली ऋचाओं से यज्ञ करते हैं। (इदं ते सोम्यं मधु—इति होता यजति, इन्द्र त्वा वृषभं वयम् इति ब्राह्मणाच्छंसी, नानादेवत्याभिः इतरे, कथं तेषाम् ऐन्द्रयः भवन्ति) इदं ते सोम्यं मधु—इस मन्त्र से होता यज्ञ करता है, इन्द्र त्वा वृषभं वयम्—इससे ब्राह्मणाच्छंसी; और अनेक देवता वाली ऋचाओं से दूसरे [ऋत्विज् यज्ञ करते हैं] कैसे इन लोगों की इन्द्र देवता वाली ऋचायें हैं। (मित्रं वयं हवामहे—इति मैत्रावरुणः यजति, वरुणं सोमपीतये—इति वै यत् किंच पीतवत्, तत् ऐन्द्रं रूपम्,

---

२०—(यत्) यस्मात् कारणात् (ऐन्द्रः) इन्द्रदेवताकः (प्रस्थितानाम्) उपस्थितानां सोमयागानां मध्ये (प्रत्यक्षात्) श्रोत्रप्रत्यक्षेण (सोम्यम्) अमृतमयम् (मधु) मधुरं रसम् (वृषभम्) बलिष्ठम् (ऐन्द्रयः) इन्द्र—अण्, ङीप्, इन्द्रसम्बंधिन्यः

तेन इन्द्रं प्रीणाति) मित्रं वयं हवामहे--इस मन्त्र से मैत्रावरुण [प्राण और अपान की विद्या जानने वाला] यज्ञ करता है, वरुणं सोमपीतये--[उस मन्त्र के सोमपीतये पद में] जो कुछ पीत शब्द वाला पद है, वह इन्द्र का रूप है, उससे इन्द्र को वह प्रसन्न करता है। (मरुतो यस्य हि क्षये—इति पोता यजति, स सुगोपातमो जनः—इति इन्द्रः वै गोपाः, तत् ऐन्द्रं रूपं, तेन इन्द्रं प्रीणाति) मरुतो यस्य हि क्षये--इस मन्त्र से पोता यज्ञ करता है, स सुगोपातमो जनः—[उस मन्त्र के सुगोपातम शब्द में] इन्द्र ही गोपा [पृथिवी का रक्षक] है, वह इन्द्र का रूप है, उससे इन्द्र को वह प्रसन्न करता है। (अग्ने पत्नीरिहावह—इति नेष्टा यजति, त्वष्टारं सोमपीतये—इति यत् वै किंच पीतवत्, तत् ऐन्द्रं रूपं तेन इन्द्रं प्रीणाति) अग्ने पत्नीरिहावह—इस मन्त्र से नेष्टा [नेता पुरुष] यज्ञ करता है, त्वष्टारं सोमपीतये--[उस मन्त्र के सोमपीतये पद में] जो कुछ पीत शब्द वाला पद है, वह इन्द्र का रूप है, उससे इन्द्र को वह प्रसन्न करता है। (उक्षान्नाय वशान्नाय—इति आग्नीध्रः यजति, सोमपृष्ठाय वेधसे--इति इन्द्रः वै वेधाः, तत् ऐन्द्रं रूपं, तेन इन्द्रं प्रीणाति) उक्षान्नाय वशान्नाय—इस मन्त्र से आग्नीध्र [अग्नि जलाने वाला पुरुष] यज्ञ करता है, सोमपृष्ठाय वेधसे—[उस मन्त्र के इस भाग में] इन्द्र ही वेधा [बुद्धिमान्] है, वह इन्द्र का रूप है, उससे वह इन्द्र को प्रसन्न करता है। (प्रातर्य्यावभिरागतं देवेभिर्जेन्यावसू इन्द्राग्नी सोमपीतये--इति अच्छावाकस्य स्वयं समृद्धाः एवम् उ ह एताः ऐन्द्र्यः भवन्ति) प्रातर्य्यावभिरागतं······यह सब अच्छावाक [ऋत्विज्] की अपने आप समृद्ध [सम्पूर्ण ऋचायें] इस प्रकार से ही इन्द्र देवता वाली हैं। (यत् नानादेवत्याः, तेन अन्याः देवताः प्रीणाति) जो अनेक देवता वाली ऋचायें हैं, उससे दूसरे देवताओं को वह प्रसन्न करता है। (यत् गायत्र्यः, तेन आग्नेय्यः) जो गायत्री

ऋचः (मित्रम्) प्राणम् (वरुणम्) अपानम् (पीतवत्) पीतशब्दयुक्तं पदम् (प्रीणाति) तोषयति (मरुतः) हे शूरविद्वांसः ! (क्षये) क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्य्ये च—अच्। ऐश्वर्य्ये (सुगोपातमः) अतिशयेन सुष्ठु पृथ्वीरक्षकः (पत्नीः) पालनशक्तीः (वह) द्विकर्मकः। प्रापय (त्वष्टारम्) सूक्ष्मकर्तारं गुणम् (उक्षान्नाय) श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० १। १५९) उक्ष सेचने वृद्धौ च--कनिन्। उक्षा महन्नाम--निघ० ३। ३। उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै। प्रबलानां भोजनदात्रे (वशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् (वा० पा० ३। ३। ५८) वश स्पृहायाम्--अप्,--टाप्। वशाभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै। निर्बलप्रजानां भोजनदात्रे (सोमपृष्ठाय) पृषु सेचने--थक्। ऐश्वर्यस्य सेचकाय वर्धकाय (वेधसे) मेधाविने--निघ० ३। १५ (प्रातर्यावभिः) प्रातर्गामिभिः (आगतम्) आगच्छतम् (देवेभिः) देवैः। विद्वद्भिः (जेन्यावसू) वृञ एण्यः (उ० ३। ९८) जि जये--एण्यः, स च डित्[1]। जयशीलधनवन्तौ (गायत्र्यः) गायत्रीछन्दोभिर्युताः (आग्नेयः) अग्निदेवताकः (त्रयम्) इन्द्रनानादेवताग्नयः—इति त्रिविधदेवतासम्बद्धं त्रित्वम् (अवाप्तम्) प्राप्तम् ॥

---

१. वस्तुतः उक्त प्रक्रिया के अनुसार इस शब्द का सिद्ध होना असम्भव है। इसे अव्युत्पन्न माना जा सकता है॥ सम्पा०॥

छन्द वाली हैं, उससे वे अग्नि देवता वाली ऋचायें हैं । (तस्मात् एताभिः त्रयम् अवाप्तं भवति) इसलिये इन [ऋचाओं] से [इन्द्र, नाना देवता और अग्नि का] त्रित्व पाया जाता है ।। २० ।।

भावार्थ :—विद्वानों [देवताओं,] की स्तुति उनके गुण कर्म स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये ।। २० ।।

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्रा० ६ । १० से मिलाओ ।।

विशेषः २—(वावेव) के स्थान पर (द्वावेव) ऐतरेय ब्राह्मण से, और (जन्यावसू) के स्थान पर (जेन्यावसू) ऐ० ब्रा० और वेद से शुद्ध किया है ।।

विशेषः ३—सङ्केत वाले मन्त्र अर्थ सहित यहाँ लिखे जाते हैं ।।

१—इदं ते सोम्यं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः । जुषाण इन्द्र तत् पिब—ऋ० सा० भा० ८ । ६५ । ८ ।। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ते इदं सोम्यं मधु) तेरे लिये यह अमृतमय रस (नरः) नेता लोगों ने (अद्रिभिः) शिलबट्टाओं द्वारा (अधुक्षन्) दुहा है, (तत्) उसको (जुषाणः) प्रसन्न होकर (पिब) तू पी ।।

२—इन्द्र त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे । स पाहि मध्वो अन्धसः—अथ० २० । १ । १, ऋ० ३ । ४० । १ ।। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वा वृषभम्) तुझ बलिष्ठ को (सुते) सिद्ध किये हुये (सोमे) ऐश्वर्य वा ओषधियों के समूह में (वयं हवामहे) हम बुलाते हैं । (सः) सो तू (मध्वः) मधुर गुण वाले (अन्धसः) अन्न की (पाहि) रक्षा कर ।।

३—मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये । जज्ञाना पूतदक्षसा—ऋ० १ । २३ । ४ ।। (वयम्) हम (जज्ञाना) विज्ञान कराने वाले, (पूतदक्षसा) पवित्र बल वाले (मित्रम्) प्राण वायु (वरुणम्) और अपान वायु को (सोमपीतये) अमृत पीने के लिए (हवामहे) बुलाते हैं ।।

४—मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः—अथ० २० । १ । २ । ऋ० १ । ८६ । १ और यजु० ८ । ३१ ।। (विमहसः) हे विविध पूजनीय (मरुतः) शूर विद्वानों ! (यस्य) जिस [राजा] के (क्षये) ऐश्वर्य्य में (दिवः) उत्तम व्यवहारों की (पाथ) तुम रक्षा करते हो, (सः हि) वह ही (सुगोपातमः) अच्छे प्रकार पृथिवी का अत्यन्त पालने वाला (जनः) पुरुष है ।।

५—अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारं सोमपीतये—ऋ० १ । २२ । ६ । यजु० २६ । २० ।। (अग्ने) हे विज्ञानी पुरुष ! (इह) यहां पर (देवानाम्) विजय चाहने वाले वीरों की (उशतीः) कामना करती हुई (पत्नीः) पालन शक्तियों को (त्वष्टारम्) सूक्ष्म करने वाले गुण को (सोमपीतये) अमृत पीने के लिए (उप आ वह) तू ला ।।

६—उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये—अथ० २० । १ । ३ । ऋ० ८ । ४३ । ११ ॥ (उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्नदाता, (वशान्नाय) वशीभूत [निर्बल प्रजाओं] के अन्नदाता, (सोमपृष्ठाय) ऐश्वर्य के सींचने वाले, (वेधसे) बुद्धिमान् (अग्नये) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] को (स्तोमैः) स्तुति योग्य व्यवहारों से (विधेम) हम पूजा करें ॥

७—प्रातर्याविभिरागतं देवेभिर्जेन्यावसू । इन्द्राग्नी सोमपीतये—ऋ० ८ । ३८ । ७ ॥ (जेन्यावसू) हे जयशील धन वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि दोनों [बिजुली और अग्नि के समान राजा और मन्त्री] (प्रातर्याविभिः) प्रातःकाल चलने वाले (देवेभिः) विद्वानों के साथ (सोमपीतये) अमृत पीने के लिए (आ गतम्) तुम आओ ॥

कण्डिका २१ ॥

ते वै खलु सर्व एव माध्यन्दिने प्रस्थितानां प्रत्यक्षादैन्द्रीभिर्यजन्ति, अभितृण्णवतीभिरेके पिबा सोममभि यमुग्र तर्द इति, होता यजति । स ईम्पाहि य ऋजीषी तरुत्र इति, मैत्रावरुणः । एवा पाहि प्रत्नया मन्दतु त्वेति, ब्राह्मणाच्छंसी । अर्वाङेहि सोमकामन्त्वाहुरिति, पोता । तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङिति, नेष्टा । इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदाना इति, अच्छावाकः । आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहेति आग्नीध्रः । एवमु हैता अभितृण्णवत्यो भवन्ति । इन्द्रो वै प्रातः सवनन्नाभ्यजयत्, स एताभिर्माध्यन्दिनं सवनमभ्यतृणत्[१], तद्यदेताभिर्माध्यन्दिनं सवनमभ्यतृणत्[१], तस्मादेता अभितृण्णवत्यो भवन्ति ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ माध्यन्दिन सवन में इन्द्र को हवि ॥

(ते वै खलु सर्वे एव माध्यन्दिने प्रस्थितानां प्रत्यक्षात् ऐन्द्रीभिः यजन्ति, एके अभितृण्णवतीभिः) वे सब ही [ऋत्विज्] माध्यन्दिन सवन में उपस्थित [सोम यज्ञों] के बीच प्रत्यक्ष इन्द्र शब्द वाली ऋचाओं से यज्ञ करते हैं और कोई कोई अभितृण्णवती [अभि सहित तृद धातु के रूप वाली ऋचाओं] से [यज्ञ करते हैं, जैसे]—(पिबा सोममभि यमुग्र तर्दः—इति होता यजति, स ईम् पाहि यः ऋजीषी तरुत्रः—इति मैत्रावरुणः, एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा—इति ब्राह्मणाच्छंसी) पिबा सोममभि……—इस मन्त्र से होता यज्ञ करता है, स ईम् पाहि……—इससे मैत्रावरुण,

---

२१—(प्रस्थितानाम्) उपस्थितसोमयागानां मध्ये (अभितृण्ण[२]वतीभिः) अभिपूर्वस्य तृदिर् हिंसानादरयोः इति धातोः रूपं यासु ताभिः ऋग्भिः (उग्र) तेजस्विन् (तर्दः) नाशितवानसि (ईम्) प्राप्तं वस्तु (ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च (उ० ४ । २८) अर्ज अर्जने—ईषन् कित्, ऋजीष—इनिः । सरलस्वभावः (तरुत्रः) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ (उ० ४ । १७३) तॄ प्लवनसंतरणयोः अभिभवे च—उत्रप्र-

---

१. पू. सं. अभ्यतृणवत् इति पाठः ॥

२. अभि + तृण्ण + मतुप् + ङीप् यह इसका विभज्यान्वाख्यान है ॥ सम्पा० ॥

एवापाहि प्रत्नथा······—इससे ब्राह्मणाच्छंसी [यज्ञ करता है, इन तीन मन्त्रों में अभि सहित तृद धातु और इन्द्र शब्द का प्रयोग है]॥

(अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुः—इति पोता, तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्—इति नेष्टा, इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदानाः—इति अच्छावाकः, आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा—इति आग्नीध्रः) अर्वाङेहि···—इस मन्त्र से पोता, तवायं सोम···—इससे नेष्टा, इन्द्राय सोमाः······—इससे अच्छावाक, आपूर्णो अस्य·····इससे आग्नीध्र [यज्ञ करता है, यह चार मन्त्र इन्द्र शब्द के प्रयोग वाले हैं]॥

(एवम् उ ह एताः अभितृण्णवत्यः भवन्ति) इस प्रकार [माध्यन्दिन सवन में प्रयोग से] ही यह ऋचायें अभितृण्णवती [अभि सहित तृद धातु के प्रयोग वाली] होती हैं। (इन्द्रः वै प्रातःसवनं न अभ्यजयत्, सः एताभिः माध्यन्दिनं सवनम् अभ्यतृणत्) इन्द्र ने ही प्रातःसवन में विजय नहीं पाया, उसने इन ऋचाओं से माध्यन्दिन सवन को वश में किया। (तत् यत् एताभिः माध्यन्दिनं सवनम् अभ्यतृणत् तस्मात् एताः अभितृण्णवत्यः भवन्ति) सो जो इन ऋचाओं से माध्यन्दिन सवन को उसने वश में किया, इसलिये यह ऋचायें अभितृण्णवती [अभि सहित तृद मारना, अनादर करना धातु के प्रयोग वाली] हैं॥ २१ ॥

भावार्थः—कण्डिका २० के अनुसार है ॥ २१ ॥

विशेष: १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६ । ११ से मिलाओ ॥

विशेष: २—(अभितृणवतीभिः तथा अभितृणवत्यः) के स्थान पर (अभितृण्णवतीभिः तथा अभितृण्णवत्यः) और (आर्वाङ्) के स्थान पर (अर्वाङ्) पद ऐतरेय ब्राह्मण से शुद्ध किया है ॥

विशेष: ३—संकेत वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—पिबा सोममभि यमुग्र तर्द ऊर्वं गव्यं महि गृणान इन्द्र । वि यो धृष्णो वधिषो वज्रहस्त विश्वा वृत्रममित्रिया शवोभिः—ऋ० ६ । १७ । १ ॥ (उग्र इन्द्र) हे तेजस्वी इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमं पिब) सोम [तत्त्वरस] को पी, (यम् अभि) जिस [सोम] के लिये (महि गव्यं गृणानः) बड़े गौवों के घृत की स्तुति करते हुये तूने (ऊर्वम्) मारने योग्य शत्रु को (तर्दः) मारा है, (यः) जिस तूने (धृष्णो) हे निर्भय ! (वज्रहस्त) हे वज्र हाथ में रखने वाले ! (शवोभिः) अपने बलों से (विश्वा वृत्रम् अमित्रिया) सब रोकने वाले बैरियों को (वि वधिषः) विशेष करके नाश किया है ॥

त्ययः । अभिभविता । विजेता (प्रत्नथा) पूर्वं यथा (मन्दतु) हर्षयतु (अर्वाङ्) अभिमुखः (सोमकामम्) ऐश्वर्यं कामयमानम् (अभ्यतृणत्) अभितः तर्दनमकरोत् । दृढबन्धनेन स्थापितवान् (अभितृण्णवत्यः) अभिपूर्वस्य तृदिर्धातोः रूपयुक्ताः ॥

२—स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रो यः शिप्रवान् वृषभो यो मतीनाम् । यो गोत्रभिद्वज्रभृद्यो हरिष्ठाः स इन्द्र चित्राँ अभि तृन्धि वाजान्—ऋ० ६ । १७ । २ ॥ (सः) वह तू (ईं पाहि) प्राप्त वस्तु की रक्षा कर, (यः ऋजीषी तरुत्रः) जो तू सीधे स्वभाव वाला और विजयी है (यः शिप्रवान्) जो तू सुन्दर ठुड्डी और नासिका वाला है, (यः मतीनां वृषभः) जो तू विद्वानों में महाबली है, (यः गोत्रभित् वज्रभृत्) जो तू पहाड़ों का तोड़ने वाला और वज्र रखने वाला है, (यः हरिष्ठाः) जो तू मनुष्यों में बैठने वाला है, (सः इन्द्र) सो तू, हे इन्द्र ! [राजन्] (चित्रान् अभि) अद्भुत व्यवहारों के लिये (वाजान् तृन्धि) संग्रामों का नाश कर ॥

३—एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः । आविः सूर्यम् कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभिगा इन्द्र तृन्धि—अथ० २० । ८ । १, ऋ० ६ । १७ । ३ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (प्रत्नथा एव) पहिले के समान ही [हमारी] (पाहि) रक्षा कर, (ब्रह्म) ईश्वर वा वेद (त्वा मन्दतु) तुझे हर्षित करे, [उसे] (श्रुधि) सुन (उत) और (गीर्भिः) वेदवाणियों से (ववृधस्व) बढ़ । (सूर्यम्) सूर्य [सूर्य समान विद्या प्रकाश] को (आविः कृणु) प्रकट कर, (इषः) अन्नों को (पीपिहि) प्राप्त हो, (शत्रून् जहि) शत्रुओं को मार और [उनकी] (गाः) वाणियों को (अभि तृन्धि) सर्वथा मिटा दे ॥

४—अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय । उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः—अथ० २० । ८ । २ । ऋग्० १ । १०४ । ९ ॥ [हे सभाध्यक्ष !] (अर्वाङ् आ इहि) सामने आ, (त्वा) तुझको (सोमकामम्) ऐश्वर्य चाहने वाला (आहुः) वे कहते हैं, (अयं सुतः) यह सिद्ध किया हुआ [तत्त्वरस] है, (मदाय) हर्ष के लिये (तस्य पिब) उसका पान कर । (उरुव्यचाः) बड़े सत्कार वाला तू (जठरे) अपने पेट में [उसे] (आ वृषस्व) सींच ले, (पिता इव) पिता के समान (हूयमानः) पुकारा गया तू (नः) हमारी (शृणुहि) सुन ॥

५—तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि । अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र—ऋ० ३ । ३५ । ६ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तव अयं सोमः) तेरा यह सोम [ऐश्वर्य कारक तत्त्व रस] है, (त्वम् अर्वाङ् आ इहि) तू सामने आ, (सुमनाः) प्रसन्न चित्त तू (शश्वत्तमम्) सदा ही (अस्य पाहि) इस [ऐश्वर्य] की रक्षा कर । (अस्मिन् बर्हिषि यज्ञे) इस वृद्धिकारक यज्ञ [संगति व्यवहार] में (निषद्य) बैठ कर (इमम् इन्दुम्) इस इन्दु [ऐश्वर्यकारक तत्त्व रस] को (जठरे आ दधिष्व) उदर में भली प्रकार धारण कर ॥

६—इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदाना ऋभुर्येभिर्वृषपर्वा विहायाः । प्रयम्यमानान् प्रति षू गृभायेन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्णः—ऋ० ३ । ३६ । २ ॥ (इन्द्राय) अत्यन्त ऐश्वर्य के लिये (सोमाः) उत्पन्न पदार्थ (प्रदिवः) बड़े प्रकाशमान (विदानाः) प्राप्त होते हुये हैं, (येभिः) जिन [पदार्थों] के द्वारा (ऋभुः) बुद्धिमान् पुरुष

(वृषपर्वा) समर्थ पालनों वाला और (विहाया:) अनर्थ छोड़ने वाला है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (प्रयम्यमानान्) अच्छे प्रकार नियम युक्त पुरुषों को (सु प्रति गृभाय) ठीक ठीक ग्रहण कर और (वृषधूतस्य) सेचनों से मथे हुये (वृष्णः) बढ़ाने वाले रस का (पिब) पान कर ॥

७—आपूर्णो अस्य कलश: स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै। समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्—अ० २० । ८ । ३, ऋ० ३ । ३२ । १५ ।' (अस्य) इस [महापुरुष] का (कलश:) कलश (आपूर्ण:) मुंहामुंह भरा है, (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (सेक्ता इव) भरने वाले के समान मैंने (कोशम्) बर्तन को (पिबध्यै) पीने के लिये (सिसिचे) भरा है। (प्रिया:) प्यारे (प्रदक्षिणित्) दाहिनी ओर को प्राप्त होने वाले (सोमास:) सोम [महौषधियों के रस] (मदाय) हर्ष के लिये (इन्द्रम् अभि) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले प्रधान] को (उ) ही (सम्) यथाविधि (आ) सब ओर से (अववृत्रन्) वर्तमान हुये हैं ॥

कण्डिका २२ ॥

तदाहु:, यदैन्द्रार्भवं तृतीयसवनमथ कस्मादेक एव तृतीयसवने प्रस्थितानां प्रत्यक्षादैन्द्रार्भव्या यजति। इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितमिति होतैव नानादेवत्याभिरितरे कथं तेषामैन्द्रार्भव्यो भवन्ति। इन्द्रावरुणा सुतपाविमꣳसुतमिति मैत्रावरुणो यजति। युवो रथो अध्वरो देववीतय इति, बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। इन्द्रश्च सोम पिबतं बृहस्पत इति, ब्राह्मणाच्छंसी यजति। आ वां विशन्त्विन्दव: स्वाभुव इति बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यद इति पोता यजति। रघुपत्वान: प्र जिगात बाहुभिरिति बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। अमेव न: सुहवा आ हि गन्तनेति नेष्टा यजति। गन्तनेति, बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्येत्यच्छावाको यजति। आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्निति, बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। इमꣳस्तोममर्हते जातवेदस इत्याग्नीध्रो यजति। रथमिव सं महेमा मनीषयेति, बहूनि वा ह तदृभूणां रूपम्। एवमु हैता ऐन्द्रार्भव्यो भवन्ति, यन्नानादेवत्यास्तेनान्या देवता: प्रीणाति। यदु जगत् प्रासाहै जागतमु वै तृतीयसवनं तृतीयसवनस्य समष्ट्यै ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ तृतीय सवन में इन्द्र और ऋभुओं को हवि ॥

(तत् आहु:, यत् ऐन्द्रार्भवं तृतीयसवनम्, अथ कस्मात् एक: एव तृतीयसवने प्रस्थितानां प्रत्यक्षात् ऐन्द्रार्भव्या यजति) फिर वे [ब्रह्मवादी] कहते हैं—जब इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] और ऋभु देवताओं [विद्वानों] का तृतीय सवन है, फिर किसलिये एक ही [ऋत्विज्] तृतीय सवन में उपस्थित [सोमयाजों] के बीच प्रत्यक्ष रूप से इन्द्र और ऋभु देवताओं की ऋचा से यज्ञ करता है। (इन्द्र ऋभुभि: वाजवद्भिः

२२—(इन्द्रार्भवम्) इन्द्रदेवताकम् ऋभुदेवताकं च (ऋभुभि:) मेधा-

समुक्षितम् इति होता एव, नानादेवत्याभिः इतरे, कथं तेषाम् ऐन्द्रार्भव्यः भवन्ति) इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितम्--इस ऋचा से होता ही । १ । और अनेक देवताओं वाली ऋचाओं से दूसरे [यज्ञ करते हैं], कैसे इन [ऋत्विजों] की इन्द्र और ऋभुओं वाली [ऋचायें] होती हैं । (इन्द्रावरुणा सुतपाविम सुतम्—इति मैत्रावरुणः यजति) इन्द्रावरुणा······इस ऋचा से मैत्रावरुण [प्राण और अपान वायु जानने वाला] यज्ञ करता है । २ । (युवो रथो अध्वरो देववीतये—इति बहूनि वा ह तत् ऋभूणां रूपम्) युवो रथो अध्वरो देववीतये--[पूर्वोक्त ऋचा के देववीतये=देवानां वीतये] इस पद में बहुवचनत्व है, वह ऋभुओं का रूप है । (इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते, इति ब्राह्मणाच्छंसी यजति) इन्द्रश्च सोमं पिबतं······इस ऋचा से ब्राह्मणाच्छंसी यज्ञ करता है । ३ । (आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवः, इति बहूनि वा ह, तत् ऋभूणां रूपम्) आ वां विशन्त्विन्दवः······—[पूर्वोक्त मन्त्र के इस भाग में] जो बहुवचनान्त पद है, वह ऋभुओं का रूप है । (आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यद —इति पोता यजति) आ वो वहन्तु······—इस ऋचा से पोता यज्ञ करता है । ४ । (रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः—इति बहूनि वा ह, तत् ऋभूणां रूपम्) रघुपत्वानः······—[पूर्वोक्त ऋचा में जो] बहुवचनान्त है वह ऋभुओं का रूप है । (अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन इति नेष्टा यजति) अमेव नः······—इस ऋचा से नेष्टा यज्ञ करता है । ५ । (गन्तन इति बहूनि वा ह, तत् ऋभूणां रूपम्) गन्तन······--यह पद [पूर्वोक्त ऋचा में] बहुवचनान्त है, वह ऋभुओं का रूप है । (इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य—इति अच्छावाकः यजति) इन्द्राविष्णू······—इस ऋचा से अच्छावाक यज्ञ करता है । ६ । (आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्—इति बहूनि वा ह, तत् ऋभूणां रूपम्) आ वामन्धांसि······—[पूर्वोक्त ऋचा में] जो बहुवचनान्त है, वह ऋभुओं का रूप है । (इमं स्तोममर्हते जातवेदसे इति आग्नीध्रः यजति) इमं स्तोममर्हते······—इस

त्रिभिः (वाजवद्भिः) प्रशस्तान्नयुक्तैः (इन्द्रावरुणा) विद्युद् वायुवद् वर्तमानौ राजप्रजाजनौ (सुतपौ) पुत्रपालकौ (सुतम्) पुत्रम् (युवोः) युवयोः (अध्वरः) अध्वन्+रा दाने—कः । मार्गप्रदः (देववीतये) दिव्यपदार्थानां प्राप्तये (बहूनि) बहुवचनान्तानि पदानि (इन्द्रः) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमम्) महौषधिरसम् (बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (आविशन्तु) प्रविशन्तु । प्राप्नुवन्तु (इन्दवः) ऐश्वर्याणि (स्वाभुवः) सुष्ठु सर्वतो भवन्तः (वः) युष्मान् (सप्तयः) वसेस्तिः (उ० ४ । १८०) षप समवाये—तिप्रत्ययः । अश्वाः (रघुष्यदः) रघि गतौ—उप्रत्ययः, नलोपः+स्यन्दू प्रस्रवणे—क्विप् । दीर्घगामिनः (रघुपत्वानः) अन्येभ्योपि दृश्यन्ते (पा० ३ । २ । ७५) रघु+पत्लृ गतौ—वनिप् । शीघ्रं गच्छन्तः (जिगात) गा स्तुतौ—जुहोत्यादिकः । जिगाति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छत (अमा इव) गृहं यथा (नः) अस्मान् (सुहवाः) शोभनाह्वानाः (गन्तन) गच्छत (इन्द्राविष्णू) वायुविद्युताविव राजमन्त्रिणौ (मध्वः) मधुरस्य (अन्धांसि) अन्नानि (मदिराणि) आनन्दकराणि (स्तोमम्)

ऋचा से आग्नीध्र यज्ञ करता है। ७। (रथमिव सं महेमा मनीषया······—इति बहूनि वा ह, तत् ऋभूणां रूपम्) रथमिव सं·······—[पूर्वोक्त मन्त्र के इस भाग में] जो बहुवचनान्त पद है, वह ऋभुओं का रूप है। (एवम् उ ह एताः ऐन्द्रार्भव्यः भवन्ति, यत् नानादेवत्याः तेन अन्याः देवताः प्रीणाति) इस प्रकार से ही यह सब इन्द्र और ऋभु देवताओं की ऋचायें हैं, जो अनेक देवता वाली हैं उनसे दूसरे देवताओं को वह प्रसन्न करता है। (यत् उ जगत्प्रासाहै, जागतम् उ वै तृतीयसवनम्, तृतीयसवनस्य समष्टचै) जो [यह ऋचायें] संसार की बड़ी सहायता के लिये हैं, संसार के हित के लिये ही यह तृतीयसवन है, [वे ऋचायें] तृतीयसवन की सिद्धि के लिये हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—कण्डिका २० के समान है ॥ २२ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ६। १२ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(रघुष्पदः और इन्द्रविष्ण) के स्थान पर (रघुष्यदः और इन्द्राविष्णू) वेद और ऐतरेय ब्राह्मण से यथासंख्य ठीक किये गये हैं ॥

विशेषः ३—संकेत वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितं सुतं सोममा वृषस्वा गभस्त्योः। धियेषितो मघवन् दाशुषो गृहे सौधन्वनेभिः सह मत्स्वा नृभिः—ऋ० ३। ६०। ५ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (वाजवद्भिः) उत्तम अन्न वाले (ऋभुभिः) ऋभुओं [बुद्धिमान् जनों] के साथ (समुक्षितं सुतं सोमम्) यथाविधि सींचे हुए और उत्पन्न किये हुए ऐश्वर्य को (गभस्त्योः) [हमारे] दोनों हाथों में (आ वृषस्व) सब ओर से बरसा। (मघवन्) हे बड़े धन वाले ! (धिया इषितः) बुद्धि से प्रेरित तू (दाशुषः गृहे) दानी के घर में (सौधन्वनेभिः) बड़े बड़े धनुर्धारी वा विज्ञानी (नृभिः सह) नेताओं के साथ (मत्स्व) आनन्द कर ॥

२—इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ। युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुपयातु पीतये—अथ० ७। ५८। १। ऋ० ६। ६८। १० ॥ (सुतपौ) हे पुत्रों की रक्षा करने वाले ! (धृतव्रतौ) उत्तम कर्मों के धारण करने वाले (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु [के समान राजा और प्रजा जन] (इमं सुतम्) इस पुत्र को (मद्यम्) आनन्ददायक (सोमम्) ऐश्वर्य [वा बड़ी-बड़ी ओषधियों का रस] (पिबतं=पाययतम्) पान कराओ। (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) मार्ग बताने वाला (रथः) विमान आदि यान (देववीतये) दिव्यपदार्थों की प्राप्ति के लिए

गुणकीर्तनम् (अर्हते) योग्याय (जातवेदसे) जातानामुत्पन्नानां वेत्रे (सम्) सम्यक् (महेम) पूजयेम। सत्कुर्याम (मनीषया) प्रज्ञया (जगत्प्रासाहै) षह मर्षणे तृप्तौ च—अच्, टाप्। आर्षौ दीर्घयकारलोपौ। जगतः संसारस्य प्रासाहायै। प्रकृष्टसहायतायै तृप्तये (जागतम्) जगते संसाराय हितम् (समष्टचै) सम्प्राप्तये। संसिद्धये ॥

और (पीतये) वृद्धि के लिए (प्रति स्वसरम्) प्रति दिन वा प्रति घर (उप यातु) आया करे ॥

३—इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू। आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नियच्छतम्-अथ० २०।१३।१, ऋ० ४।५०।१०॥ (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (मन्दसाना) आनन्द देने वाले, (वृषण्वसू) बलवान् वीरों को निवास कराने वाले तुम दोनों (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों के रस] को (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ [राजपालन व्यवहार] में (पिबतम्) पीओ। (स्वाभुवः) अच्छे प्रकार सब ओर होने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य (वां) तुम दोनों में (आ विशन्तु) प्रवेश करें, (अस्मे) हमको (सर्ववीरम्) सबको वीर बनाने वाला (रयिम्) धन (नि) नियमपूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दो ॥

४—आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः। सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः—अथ० २०।१३।२, ऋ० १।८५।६॥ (मरुतः) हे विद्वान् शूरो (वः) तुमको (रघुष्यदः) शीघ्रगामी (सप्तयः) घोड़े (आ वहन्तु) सब ओर ले चलें, (रघुपत्वानः) शीघ्रगामी तुम (बाहुभिः) भुजाओं [हस्तक्रियाओं] से (प्र जिगात) आगे बढ़ो। और (उरु बर्हिः) चौड़े आकाश में (आ सीदत) आओ जाओ, (वः) तुम्हारे लिए (सदः) स्थान (कृतम्) बनाया गया है, (मध्वः अन्धसः) मधुर अन्न से (मादयध्वम्) [सबको] तृप्त करो ॥

५—अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन। अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः—ऋ० २।३६।३॥ (सुहवाः) हे अच्छे प्रकार पुकार सुनने वाले विद्वानों ! (अमा इव) घर के समान (नः) हममें (हि) निश्चय करके (आ गन्तन) आओ, (बर्हिषि) वृद्धिकारक व्यवहार में (नि सदतन) बैठो और (रणिष्टन) उपदेश करो। (अथ) फिर (त्वष्टः) हे सूक्ष्म करने वाले ! [सभापति] (देवेभिः) दिव्य गुणों से (जनिभिः) जनता के साथ (अन्धसः जुजुषाणः) अन्न का सेवन करता हुआ और (सुमद्गणः) बड़े माननीय सभासदों वाला तू (मन्दस्व) आनन्द पा ॥

६—इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम्। आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे—ऋ० ६।६९।७॥ (दस्रा इन्द्राविष्णू) हे दुःखनाशक इन्द्र और विष्णु [वायु और बिजुली के समान दोनों राजा और मन्त्री] (अस्य मध्वः सोमस्य) इस मीठे सोम आदि ओषधियों के रस का (पिबतम्) पान करो और (जठरं पृणेथाम्) उदर को भरो। (मदिराणि अन्धांसि) आनन्द देने वाले अन्न (वाम्) तुम दोनों को (आ अग्मन्) प्राप्त हुए हैं, (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों और (मे हवम्) मेरी पुकार को (उप शृणुतम्) तुम दोनों समीप से सुनो ॥

७—इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव—अथ० २० । १३ । ३, ऋ० १ । ९४ । १ और सामवेद पू० १ । ७ । ४ तथा पू० ४ । १ । ७ ॥ (अर्हते) योग्य, (जातवेदसे) उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे [पुरुष] के लिए (इमं स्तोमम्) इस गुण कीर्तन को (रथम् इव) रथ के समान (मनीषया) बुद्धि से (सम्) यथावत् (महेम) हम बढ़ावें । (हि) क्योंकि (अस्य) इस [विद्वान्] की (प्रमतिः) उत्तम समझ (संसदि) सभा के बीच (नः) हमारे लिए (भद्रा) कल्याण करने वाली है । (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (ते सख्ये) तेरी मित्रता में (वयम्) हम (मा रिषाम) न दुखी होवें ॥

कण्डिका २३ ॥

विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते चनसितवतीम् विचक्षयन्ति, ब्राह्मणं चनसयन्ति, प्राजापत्यं सत्यं वदन्ति । एतद्वै मनुष्येषु सत्यं यच्चक्षुः । तस्मादाहुराचक्षाणमद्रागिति । स यदाहाद्राक्षमिति । तथा हास्य श्रद्दधति, यद्यु वै स्वयं वै दृष्टं भवति, न बहूनां जनानामेष श्रद्दधाति । तस्माद्विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते चनसितवतीम् । सत्योत्तरा हैवैषां वागुदिता भवति ॥ २३ ॥

कण्डिका २३ ॥ सत्य ही बोलना चाहिये ॥

(विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते, चनसितवतीं विचक्षयन्ति) वे [ब्रह्मवादी लोग] विचक्षणवती [विविधदर्शी शब्द वाली] वाणी बोलते हैं और चनसितवती [पूजनीय शब्द वाली वाणी] कहते हैं । (प्राजापत्यं ब्राह्मणं चनसयन्ति) प्रजापति देवता वाले ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] को चनसित [पूजनीय] शब्द वाली वाणी वे बोलते हैं । [अर्थात् चनसित शब्द वाली वाणी ब्राह्मण को और विचक्षण शब्द वाली क्षत्रिय और वैश्य को बोलते हैं] । (सत्यं वदन्ति) वे सत्य बोलते हैं । (एतद् वै मनुष्येषु सत्यं यत् चक्षुः) यह ही मनुष्यों में सत्य है जो आँख [आंख से देखा हुआ] है । (तस्मात् आचक्षाणम् आहुः, अद्राक् इति) इसलिए बात कहते हुए से वे कहते हैं—क्या तूने देखा है ? (सः यत् आह अद्राक्षम् इति, तथा ह अस्य श्रद्दधति) सो जब वह कहता है—मैंने देखा है—उस प्रकार से ही उसकी [बात में] श्रद्धा करते हैं । (यदि उ वै वै स्वयं दृष्टं भवति बहूनां जनानाम् एषः न श्रद्दधाति) यदि निश्चय करके अपने आप देखा हुआ वस्तु होता है, [बिना देखने वाले] बहुत जनों का यह [आप देखने वाला] विश्वास नहीं करता ।

२३—(विचक्षणवतीम्) गो० पू० ३ । १९ । विचक्षणशब्दयुक्ताम् (विचक्षयन्ति) विशेषेण कथयन्ति (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानिनम् (चनसयन्ति) चनसितशब्दयुक्तां वाचं कथयन्ति (प्राजापत्यम्) प्रजापतिदेवताकम् (आचक्षाणम्) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-शानच् । कांचिद् वार्तां कथयमानं पश्यन्तं वा (अद्राक्) अद्राक्षीः । दृष्टवानसि (अद्राक्षम्) दृष्टवानस्मि (श्रद्दधति) श्रद्धां धरन्ति । विश्वासं कुर्वन्ति (सत्योत्तरा) सत्यपूर्णा (उदिता) कथिता ॥

(तस्मात् विचक्षणवतीं चनसितवतीं वाचं भाषन्ते) इसलिये विचक्षणवती [विविधदर्शी शब्द वाली] और चनसितवती [पूजनीय शब्द वाली] वाणी वे बोलते हैं। (एषां ह एव सत्योत्तरा वाक् उदिता भवति) इन [ब्रह्मवादियों] की ही सत्यपूर्ण वाणी कही हुई होती है ॥ २३ ॥

भावार्थ :—एक सत्यवादी आप्त पुरुष की बात में लोगों की श्रद्धा बढ़ती है और बहुत से मिथ्यावादियों की श्रद्धा घटती है, इसलिए मनुष्यों को सदा सत्य बोलना चाहिए ॥२३॥

विशेष: १—इस कण्डिका को गो० पू० ३ । १६ । और ऐ० ब्रा० १ । ६ से मिलाओ ॥

विशेष: २—(अन्दिराक्) शब्द के स्थान पर (अद्राक्) पद ऐतरेय ब्राह्मण से शुद्ध किया है ॥

कण्डिका २४ ॥

सवृतयज्ञो वा एषः, यद्दर्शपौर्णमासौ । कस्य वाव देवा यज्ञमागच्छन्ति, कस्य वा न, बहूनां वा एतत् यजमानानां सामान्यमहः । तस्मात् पूर्वेद्युर्देवताः परिगृह्णीयात् । यो ह वै पूर्वेद्युर्देवताः परिगृह्णाति, तस्य श्वोभूते यज्ञमागच्छन्ति । तस्माद्विहव्यस्य चतस्र ऋचो जपेत् । यज्ञविदो हि मन्यन्ते, सोम एव सवृत इति, यज्ञो यज्ञेन सवृतः ॥ २४ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणोत्तरभागे द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

कण्डिका २४ ॥ दर्शपौर्णमास यज्ञ में देवताओं को एक दिन पहिले निमन्त्रण करे ॥

(सवृतयज्ञः वै एषः, यत् दर्शपौर्णमासौ) बहुतों से एक साथ स्वीकार किया हुआ यज्ञ ही यह होता है जो दर्शपौर्णमास [अमावस और पूर्णमासी के यज्ञ] हैं। (देवाः कस्य वाव यज्ञम् आगच्छन्ति, कस्य वा न, बहूनां यजमानानाम् वा एतत् सामान्यम् अहः) देवता [विद्वान् लोग] किसी के ही यज्ञ में आते हैं और किसी के नहीं, बहुत से यजमानों का यह सामान्य दिन है। (तस्मात् पूर्वेद्युः देवताः परिगृह्णीयात्) इसलिये पहिले तीन देवताओं को स्वीकार करे। (यः ह वै पूर्वेद्युः देवताः परिगृह्णाति, श्वोभूते तस्य यज्ञम् आगच्छन्ति) जो [यजमान] पहिले दिन विद्वानों को स्वीकार करता है, दूसरे दिन होते उसके यज्ञ में वे आते हैं। (तस्मात् विहव्यस्य चतस्रः ऋचः जपेत्) इसलिये विहव्य [विविध देने योग्य हवि] की चार ऋचाओं को [??] वह जपे। (यज्ञविदः हि मन्यन्ते, सोमः एव सवृतः इति, यज्ञः यज्ञेन सवृतः) क्योंकि यज्ञ

२४—(सवृतयज्ञः) बहुभिः समानस्वीकृतयज्ञः (देवाः) विद्वांसः (पूर्वेद्युः) पूर्वस्मिन् दिने (परिगृह्णीयात्) स्वीकुर्यात् (श्वोभूते) आगामिदिने वर्तमाने (विहव्यस्य) विविधदातव्यस्य हविषः (सवृतः) बहुभिः समानस्वीकृतः ॥

जानने वाले मानते हैं—सोम यज्ञ ही समान स्वीकार किया हुआ है—[इसलिये] एक सोम यज्ञ दूसरे सोम यज्ञ से समान स्वीकार किया गया है ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानों के बुलाने को पहिले से निमन्त्रण देवे, जिससे वे उचित समय पर निर्विघ्न आ सकें ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम *श्रीसयाजीराव गायकवाडा-धिष्ठित* बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्ये उत्तरभागे द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे पौषमासे कृष्णप्रतिपदायां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे समाप्तिमगात् ।

मुद्रितम्—भाद्रशुक्ला ८ संवत् १९८० वि० ता० ६ सेप्टेम्बर सन् १९२४ ई० ॥

अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

कण्डिका १ ॥

ओम् । देवपात्रं वै वषट्कारः । यद्वषट् करोति, देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति । अथो यदाभितृष्यन्तीरभिसंस्थं तर्पयति, एवमेव तद्देवतास्तर्पयति । यदनुवषट् करोति, तद्यथैवादोऽश्वान्वा गा वा पुनरभ्याघारं तर्पयति, एवमेव तद्देवतास्तर्पयति, यदनुवषट् करोति । इमानेवाग्नीनुपासत इत्याहुर्धिष्ण्यानथ कस्मात् पूर्वस्मिन्नेवाग्नौ जुह्वति पूर्वस्मिन्वषट् करोति ! यदेव सोमस्याग्ने वीहीति अनुवषट् करोति, तेनैव वषट् करोति, धिष्ण्यान् प्रीणाति । अथ संस्थितान् सोमान् भक्षयन्तीत्याहुः । येषां नानुवषट् करोति, तदाहुः, को नु सोमस्य स्विष्टकृद्भाग इति । यदेव सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति, तेनैव संस्थितान् सोमान् भक्षयन्तीत्याहुः स उ एष सोमस्य स्विष्टकृद्भागः, यदनुवषट् करोति ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ वषट्कार और अनुवषट्कार का वर्णन ॥

(ओम् । देवपात्रं वै वषट्कारः) ओम् [रक्षक परमेश्वर !] देवताओं का पात्र रूप ही वषट्कार [यज्ञ में हवि का दान] है । (यत् वषट् करोति, तत् देवपात्रेण एव देवताः तर्पयति) जो वह [यजमान] वषट् [वषट् पद के साथ हवि का दान] करता है । इसलिये वह देवताओं के पात्र से ही देवताओं को तृप्त करता है । (अथो यत् आभितृष्यन्तीः अभिसंस्थं तर्पयति, एवम् एव तत् देवताः तर्पयति) फिर जैसे अति

१—(वषट्) वह प्रापणे—डषटि । हविस्त्यागः (आभितृष्यन्तीः) आङ् अभि + ञितृष पिपासायाम्–शतृ, ङीप् । सर्वतः पिपासिताः प्रजाः (अभिसंस्थम्)

प्यासी प्रजाओं को अच्छे प्रकार ठहरा हुआ सम्मान तृप्त करता है, ऐसे ही वह [वषट्कार] देवताओं को तृप्त करता है । (यत् अनुवषट् करोति, तत् अद: यथा एव अश्वान् वा गा: वा पुनरभ्याघारं तर्पयति, एवम् एव तत् देवता: तर्पयति यत् अनुवषट् करोति) जो वह अनुवषट् [पीछे से हविस्त्याग] करता है, सो वह जैसे ही घोड़ों अथवा बैलों को [यथेष्ट वस्तु देने से] बार बार यथावत् सींचकर मनुष्य तृप्त करता है, वैसे ही उससे देवताओं को [यजमान] तृप्त करता है, जब वह अनुवषट् करता है । (इमान् एव धिष्ण्यान् अग्नीन् उपासते —इति आहु:, अथ कस्मात् पूर्वस्मिन् एव अग्नौ जुह्वति, पूर्वस्मिन् वषट् करोति = कुर्वन्ति) [शंका] कहते हैं—इन ही धिष्ण्य [नामवाली] अग्नियों के समीप वे [ऋत्विज्] बैठते हैं, फिर किसलिए पहिली ही अग्नि में वे हवन करते हैं और अनुवषट् करते हैं । [समाधान] (यत् एव--सोमस्याग्ने वीहि इति अनुवषट् करोति, तेन एव वषट् करोति, धिष्ण्यान् प्रीणाति) जो वह [यजमान] हे अग्ने ! तू सोम का भक्षण कर—इस [ब्राह्मण वचन] से अनुवषट् करता है, और उससे ही [सामान्य अग्नि शब्द से] वह वषट् करता है, उससे धिष्ण्य अग्नियों को प्रसन्न करता है । (अथ संस्थितान् सोमान् भक्षयन्ति—इति आहु:) [शंका] कहते हैं—फिर संस्थित [समाप्त किये हुए] सोमरसों को वे खाते हैं, (येषाम् अनुवषट् न करोति, सोमस्य क: नु स्विष्टकृद्भाग: इति--तत् आहु:) जिन [अग्नियों] का अनुवषट् [यजमान] नहीं करता, सोम का कौन सा स्विष्टकृद् भाग [यज्ञ का समाप्ति सूचक व्यवहार] है--ऐसा वह कहते हैं । (यत् एव, सोमस्याग्ने वीहि इति अनुवषट् करोति, तेन एव संस्थितान् सोमान् भक्षयन्ति– इति आहु:) जो वह—हे अग्नि ! सोम का तू भक्षण कर—इस [ब्राह्मण वचन] से वह अनुवषट् करता है और उससे ही वे लोग समाप्त सोमरसों को खाते हैं--ऐसा वह कहते हैं । (स: उ एष: सोमस्य स्विष्टकृद्भाग: यत् अनुवषट् करोति) वह ही यह सोम का स्विष्टकृद् भाग [प्रायश्चित्त वा समाप्ति-सूचक मन्त्र] है, जो वह अनुवषट् [पीछे से वषट् उच्चारण] करता है ॥ १ ॥

भावार्थ :—जैसे यज्ञ में वषट्कार, अनुवषट्कार और स्विष्टकृत् का विचार किया जाता है, वैसे ही प्रत्येक काम में मनुष्य को आदि अन्त और मध्य का विचार लेना चाहिये ॥ १ ॥

विशेष: १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३ । ५ से मिलाओ ॥

विशेष: २—निम्नलिखित ब्राह्मण वचन स्विष्टकृत् वा प्रायश्चित्त मन्त्र है--

ओ३म् । यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत् स्विष्टकृत् विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्व-

---

अभित: सम्यक् स्थितं कर्म । सत्कृतयम् (गा:) वृषभान् (पुनरभ्याघारम्) पुन: + अभि + आ + घृ सेचने—णमुल् । पुन: पुन: अभिमुखम् आघृत्य यथेष्टवस्तुना संसिच्य (उपासते) सेवन्ते (वीहि) वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु—लोट् । भक्षणं कुरु (संस्थितान्) समाप्तान् (सोमान्) सोमरसान् (स्विष्टकृद्-भाग:) प्रायश्चित्तमन्त्रस्य यज्ञसमाप्तिसूचकमन्त्रस्य वा पाठ: ॥

प्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान् नः कामान्त्समर्धय स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम ॥ (ओम्) परमेश्वर । (यत्) जो कुछ (अस्य कर्मणः) इस कर्म में (अति—अरीरिचम्) मैंने अधिक किया है, (यद्वा) अथवा (न्यूनम्) न्यून (इह) इसमें (अकरम्) मैंने किया है, (तत्) उसको (सु-इष्ट-कृत्) उत्तम मनोरथ का सिद्धि करने वाला (अग्निः) परमेश्वर (विद्यात्) जाने, वह मेरे (सर्वम्) सब (स्विष्टम्) उत्तम मनोरथ को (सु-हुतम्) सुन्दर रीति से अङ्गीकार (करोतु) करे ।

(सु-इष्ट-कृते) उत्तम मनोरथ के सिद्ध करने हारे, (सु-हुत-हुते) उत्तम दान के दान करने हारे, (सर्वप्रायश्चित्त-आहुतीनाम्) सब पापनाशक तप की आहुतियों की (कामानाम्) उत्तम कामनाओं को (समर्धयित्रे) सिद्ध करने हारे (अग्नये) ज्ञान के निमित्त (नः) हम सबकी (सर्वान्) सब (कामान्) उत्तम कामनाओं को (समर्धय) [हे परमेश्वर !] तू सिद्ध कर । (स्वाहा) यह सुन्दर आहुति है । (इदम्) यह [आत्मसमर्पण] (सु-इष्ट-कृते) उत्तम इष्ट के सिद्ध करने हारे (अग्नये) परमेश्वर के लिये है—(इदम् न मम) यह मेरे लिये नहीं है ।

कण्डिका २ ॥

वज्रो वै वषट्कारः । स यं द्विष्यात् तं मनसा ध्यायन् वषट् कुर्य्यात् । तस्मिंस्तत्वज्रमास्थापयति । षडिति वषट्करोति । षड्वा ऋतव ऋतूनामाप्त्यै । वौषडिति वषट् करोति । असौ वाव वौ, ऋतवः षट् एतमेव तदृतुष्वादधाति, ऋतुषु प्रतिष्ठापयति । तदु ह स्माह, वैत एतानिव एतेन षट् प्रतिष्ठापयति । द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता, अन्तरिक्षं पृथिव्यां, पृथिव्यप्सु आपः सत्ये[1], सत्यं ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसि । इत्येता एव तद्देवताः प्रतिस्थान्याः[2] प्रतिष्ठन्तीरिदं सर्वमनु प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ वषट्कार वज्र, छह ऋतु और छह आकाश आदि हैं ॥

(वज्रः वै वषट्कारः) वज्र रूप ही वषट्कार [आहुति दान] है । (सः यं द्विष्यात् तं मनसा ध्यायन् वषट् कुर्यात्) वह [यजमान.] जिसको बैरी जाने, उसको मन से ध्यान करता हुआ वषट् [आहुति दान] करे । (तस्मिन् तद् वज्रम् आस्थापयति) उस [शत्रु] में उससे वह वज्र स्थापित करता है । (षट् इति वषट् करोति) षट् [छह, यह वषट्=व–षट्] शब्द को जताता है । (षट् वै ऋतवः ऋतूनाम् आप्त्यै) षट् [छह] ही ऋतुयें हैं, ऋतुओं की प्राप्ति के लिये [यह है] । (वौषट् इति वषट् करोति) वौषट् यह पद वषट्कार है । (असौ वाव वौ, ऋतवः षट्, एतम् एव तत् ऋतुषु आदधाति, ऋतुषु प्रतिष्ठापयति) वह [दिखाई देता हुआ सूर्य] ही वौ

२—(वषट्-करोति) वषट्कारं ज्ञापयति (आप्त्यै) प्राप्तये (वौषट्) वह प्रापणे—डौषट् । वषट् । हविस्त्यागः (असौ) दृश्यमानः सूर्यः (वौ) वह

---

१. पू. सं. "सत्येन" इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'प्रतिष्ठान्याः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

[रस पहुँचाने वाला] है, ऋतुयें छह हैं, इस [सूर्य] को ही उस [आहुति दान] से ऋतुओं में वह सब ओर से धारण करता है, ऋतुओं में दृढ़ करके ठहराता है। (तत् उ ह स्म वेतः आह, एतानि एव षट् एतेन प्रतिष्ठापयति) यह ही निश्चय करके वेत [गतिवेत्ता पुरुष विशेष] कहता है—इन ही छह [आगे कहे हुओं] को ही इस आहुति दान से दृढ़ स्थापित करता है। (द्यौः अन्तरिक्षे प्रतिष्ठिता, अन्तरिक्षं पृथिव्यां, पृथिवी अप्सु आपः सत्ये, सत्यं ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसि) द्यौ [आकाश] अन्तरिक्ष [मध्यस्थ वायु लोक] में ठहरा है १, अन्तरिक्ष पृथिवी में २, पृथिवी जल में ३, जल सत्य [सत्तामात्र वा यथार्थ व्यवहार] में सत्य [सत्तामात्र वा सत्य व्यवहार] ब्रह्म [परमेश्वर वा वेद] में, ब्रह्म तप [ब्रह्मचर्यादि व्रत धारण] में ६। (इति एताः एव तद् देवताः प्रतिस्थान्याः, प्रतिष्ठन्तीः, अनु इदं सर्वं प्रतितिष्ठति) सो यह ही देवता दृढ़ता से ठहरने वाले हैं, दृढ़ता से ठहरे हुए [देवताओं] के साथ साथ यह सब [जगत्] दृढ़ता से ठहरता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) प्रजा [सन्तान] से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा पाता है, जो ऐसा जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ :—यज्ञ की यथाविधि पूर्त्ति से मनुष्य को मनोरथ सिद्धि होती है ॥ २ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३ । ६ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(प्रतिष्ठाता) शब्द के स्थान पर (प्रतिष्ठिता) पद ऐतरेय ब्राह्मण से शुद्ध किया है ॥

कण्डिका ३ ॥

त्रयो वै वषट्काराः वज्रो धामच्छद्रिक्तः । स यदेवोच्चैर्बलं वषट् करोति स वज्रस्तन्तं प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय, वधं योऽस्य स्तृत्यः तस्मै स्तरीतवे । तस्मात् स भ्रातृव्यवता वषट् कृत्यः । अथ यः समः सन्ततो ऽनिर्हाणर्च्छ [अनिर्हाणर्च्चः] स्वधामच्छत् [स धामच्छत्] तन्तं प्रजाश्च पशवश्चानूपतिष्ठन्ते । तस्मात् स प्रजाकामेन पशुकामेन वषट्कृत्यः । अथ येनैव षट् पराप्नोति स रिक्तो रिणक्त्यात्मानं रिणक्ति यजमानम् । पापीयान् वषट्कर्त्ता भवति, पापीयान् यस्मै वषट् करोति । तस्मात् तस्याशान्नेयात् । किंस्वित् स यजमानस्य पापभद्रमाद्रियेतेति ह स्माह. योऽस्य वषट्कर्त्ता भवति, अत्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्य्याद्यं कामयेत यथैवानीजानोऽभूत्तथैवेजानः स्यादिति । यथैवास्यर्चं ब्रूयात्तथैवास्य वषट् कुर्य्यात्। समानमेवैनं तत् करोति यङ्कामयेत पापीयान् स्यादिति. उच्चैस्तरामस्यर्चं ब्रूयान्नीचैस्तरां वषट् कुर्यात्, पापीयांसमेवैनं तत् करोति, यं कामयेत श्रेयान् स्यादिति,

---

प्रापणे—डौ । रसवाहकः (वेतः) तदधीते तद्वेद (पा० ४ । २ । ५६) वीति—अण्, गतिवेत्ता (द्यौः) आकाशः (अन्तरिक्षे) मध्यलोके । वायुलोके (ब्रह्मणि) वेदे । परमेश्वरे (तपसि) ब्रह्मचर्यादिव्रतधारणे (प्रतिस्थान्याः) वदेरान्यः (उ० ३ । १०४) प्रति + ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आन्यः । दृढस्थितिशीलाः (अनु) अनुसृत्य ॥

नीचैस्तरामस्यर्चं ब्रूयादुच्चैस्तराम् वषट् कुर्य्यात्, श्रेयांसमेवैनं तत् करोति, श्रिय एवैनं तच्छ्रियमादधाति ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ तीन वषट्कार वज्र, धामच्छत् और रिक्त का वर्णन ॥

(त्रयः वै वषट्काराः, वज्रः धामच्छत्, रिक्तः) तीन ही वषट्कार हैं, वज्र, धामच्छत् [यज्ञ स्थान का ढकने वाला, रक्षा करने वाला], और रिक्त [रीता समृद्धि रहित]। (सः यत् एव उच्चैर्बलं वषट्करोति, सः वज्रः) सो जो ही ऊंचे स्वर से वषट् शब्द करता है वह [वषट्] वज्र है। (तं तं वधं द्विषते भ्रातृव्याय प्रहरति, यः अस्य स्तृत्यः तस्मै स्तरीतवे) उस ही अस्त्र [वषट्] को अनिष्ट करने वाले बैरी पर चलाता है, जो इस [यजमान] के ढकने [दबाने वा मारने] योग्य है, यह कर्म उसके ढकने [दबाने] के लिये है। (तस्मात् सः वषट् भ्रातृव्यवता कृत्यः) इसलिये वह वषट् बैरी वाले [यजमान] करके करना चाहिये।

(अथ यः समः सन्ततः अनिर्हाणच्छ [अनिर्हाणर्चः] सः धामच्छत्) फिर जो [वषट्] सम [निर्दोष], निरन्तर [लगातार] और सर्वथा हानिरहित ऋचा वाला [सम्पूर्ण मन्त्र पाठ वाला] है वह धामच्छत् है। (तं तम् अनु प्रजाः च पशवः च उपतिष्ठन्ते, तस्मात् सः प्रजाकामेन पशुकामेन वषट्कृत्यः) उस ही [धामच्छत्] के पीछे प्रजायें और पशु पास पास ठहरते हैं, इसलिये प्रजा चाहने वाले और पशु चाहने वाले पुरुष करके वह [धामच्छत्] वषट् करना चाहिये।

(अथ येन एव षट् पराध्नोति, सः रिक्तः आत्मानं रिणक्ति यजमानं रिणक्ति) फिर जिस [अपपाठ] करके ही षट् [वषट्] रीता करता है [समृद्धि रहित करता है], वह रिक्त वषट् [होता के] आत्मा को रीता करता है और यजमान को रीता करता है। (वषट्कर्ता पापीयान् भवति, पापीयान्, यस्मै वषट् करोति) वषट् करने वाला ऋत्विज् बड़ा पापी होता है और वह [यजमान] बड़ा पापी होता है, जिसके लिये वह वषट् करता है। (तस्मात् तस्य आशां न इयात्) इसलिये उस [रीते वषट्कार] की इच्छा को वह न पावे [न करे]।

३—(धामच्छत्) छद अपवारणे—क्विप्। धाम्नः यज्ञस्थानस्य आच्छादको रक्षकः (रिक्तः) रिचिर् पृथग्भावे—क्तः, कुत्वम्। सम्पत्तिशून्यः। (उच्चैर्बलम्) विभक्तिविपरिणामः। उच्चैर्बलेन। उच्चध्वनिना (वधम्) हनन-साधनं वज्रम्। (स्तृत्यः) स्तृञ् आच्छादने—क्यप्—तुक् च। आच्छादनीयः। हन्तव्यः शत्रुः (तस्मै) तम् (स्तरीतवे) स्तृञ् आच्छादने—तवेन्। स्तरितुम्। आच्छा-दयितुम् (भ्रातृव्यवता) शत्रुयुक्तेन यजमानेन (समः) समानस्वरेण (सन्ततः) निरन्तरः। विच्छेदरहितः (अनिर्हाणर्चः) निःशेषेण हानं परित्यागः। निःशेष-हानिरहिता ऋग् यस्मिन् स तथाभूतः। सम्पूर्णमन्त्रपाठोपेतः (अनूपतिष्ठन्ते) सेवन्ते (पराध्नोति) अवाध्नोति। अवरोधम् समृद्धिराहित्यं करोति (रिणक्ति) रिचिर् पृथग्भावे। रिक्तीकरोति। समृद्धिहीनं करोति (पापीयान्) अत्यन्तपापयुक्तः

(किं स्वित् सः यजमानस्य पापभद्रम् आद्रियेत यः अस्य वषट्कर्ता भवति, इति ह स्म आह) क्या वह यजमान का पाप वा कल्याण चाहता है जो [ऋत्विज्] इसका वषट् करने वाला है--ऐसा वह कहता है। (अत्र एव एनं यथा कामयेत तथा कुर्यात्) यहां पर ही इस [यजमान] को जैसा चाहे वैसा वह करे। (यं कामयेत यथा एव अनीजानः अभूत् तथा एव ईजानः स्यात् इति) जिसको वह चाहे--जैसा ही यज्ञ न करने वाला होता है वैसा ही यज्ञ करने वाला होवे। (यथा एव अस्य ऋचं ब्रूयात्, तथा एव अस्य वषट्कुर्यात्, तत् समानम् एव एनं करोति) जिस प्रकार से ही इसकी ऋचा को वह बोले, उस प्रकार से ही इसका वषट् करे, तब इस [यजमान] को समान ही वह करता है। (यं कामयेत पापीयान् स्यात् इति उच्चैस्तराम् अस्य ऋचं ब्रूयात्, नीचैस्तरां वषट्कुर्यात्, तत् पापीयांसम् एव एनं करोति) जिस को चाहे—यह पापी हो जावे, ऊंचे स्वर से उसकी ऋचा को बोले और नीचे स्वर से वषट् करे, तब वह इस [यजमान] को पापी ही करता है। (यं कामयेत श्रेयान् स्यात् इति, नीचैस्तराम् अस्य ऋचं ब्रूयात्, उच्चैस्तरां वषट्कुर्यात्, तत् श्रेयांसम् एव एनं करोति) जिस पुरुष को वह चाहे अधिक कल्याण वाला वह होवे, नीचे स्वर से उसकी ऋचा को बोले और ऊंचे स्वर से वषट् करे, तब वह इस [यजमान] को कल्याण युक्त ही करता है। (श्रिये एव, तत् एनं श्रियम् [श्रियाम्] आदधाति) श्री [सम्पति] के लिये ही [यह कर्म है], तब इस [यजमान] को सम्पत्ति में वह स्थापित करता है॥ ३॥

भावार्थः—कार्यकुशल और प्रसन्नचित्त ऋत्विज् लोग यजमान की इच्छानुसार यज्ञ को सिद्ध कर देते हैं, इसलिये यजमान उनका आदर करता रहे॥ ३॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३। ७ से मिलाओ॥

विशेषः २—नीचे के पद ऐतरेय ब्राह्मण ३। ७ से मिलाओ—

गोपथ	ऐतरेय	गोपथ	ऐतरेय
ऋक्तः	रिक्तः[1] ❀	रिक्ति	रिणक्ति *
सृत्यः	स्तृत्यः *	यजमानस्य	यजमानम् *
स यः	समः *	नीचैस्तरा	नीचैस्तरां *
अनिर्हाणच्छ	अनिर्हाणर्च्चः	तच्छ्रियम्	तच्छ्रियाम्
स्वधामच्छत्	स धामच्छत्		

(आशाम्) इच्छाम् (न) निषेधे (इयात्) प्राप्नुयात् (पापभद्रम्) पापं च कल्याणं च (आद्रियेत) आदृतं कुर्यात्। इच्छेत (अनीजानः) अकृतयज्ञः (ईजानः) यज देवपूजादिषु–कानच्। कृतयज्ञः (श्रेयान्) प्रशस्य–ईयसुन्। कल्याणवान् (श्रिये) सम्पदर्थम् (आदधाति) स्थापयति॥

१. पुष्पाङ्कित सभी संशोधित पद जर्मन सं० में भी ऐतरेय ब्रा० जैसे ही हैं अतः हमने मूल में वैसा ही संशोधन बिना टिप्पणी दिये कर दिया है॥ सम्पा०॥

कण्डिका ४ ॥

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायन् वषट् कुर्य्यात् । साक्षादेव तद्देवतां प्रीणाति, प्रत्यक्षाद्देवतां परिगृह्णाति । सन्ततमृचा वषट्कृत्यं सन्तत्यै सन्धीयते प्रजया पशुभिः, य एवं वेद ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ वषट्कार के साथ हवि के लिये देवता का निर्णय ॥

(यस्यै देवतायै हविः गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायन् वषट् कुर्यात्) जिस देवता के लिये हवि ग्रहण किया गया हो, उसको मन से ध्यान करता हुआ वषट्कार करे। (तत् साक्षात् एव देवतां प्रीणाति, प्रत्यक्षात् देवतां परिगृह्णाति) उससे साक्षात् ही देवता को प्रसन्न करता है, प्रत्यक्ष रूप से देवता को ग्रहण करता है। (ऋचा सन्ततं वषट्कृत्यं सन्तत्यै, प्रजया पशुभिः सन्धीयते, यः एवं वेद) ऋचा [वेद मन्त्र] के साथ लगातार वषट्कार किया हुआ विस्तार के लिये है, वह प्रजा और पशुओं से संयुक्त होता है जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थः—उद्दिष्ट देवता का ध्यान करके हवि देने से यजमान का मनोरथ सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

विशेषः—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३ । ८, ७ से मिलाओ ॥

कण्डिका ५ ॥

वज्रो वै वषट्कारः । स उ एष प्रहृतो [1]ऽशान्तो दीदाय । तस्य ह न सर्व एव शान्तिं वेद नो प्रतिष्ठाम् । तस्माद्वाप्येतर्हि भूयानिव मृत्युः, तस्य हैषैव शान्तिरेषा प्रतिष्ठा, यद्वागिति । वषट्कृत्य वागित्यनुमन्त्रयते, वषट्कार मा मां प्रमृक्षो माहं त्वां प्रमृक्षं बृहता मन उपह्वये व्यानेन शरीरं प्रतिष्ठासि, प्रतिष्ठां गच्छन् प्रतिष्ठां मा गमयेदिति । तदु ह स्माह, दीर्घमेवैतद् सदप्रभ्वोजः सह ओज इत्यनुमन्त्रयेत, ओजश्च ह वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ, प्रियाभ्यामेव तत्तनूभ्यां समर्द्धयति । प्रियया तन्वा समृध्यते, य एवं वेद ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ वषट्कार को उपयोगी बनाने का उपाय ॥

(वज्रः वै वषट्कारः) वज्ररूप ही वषट्कार है। (स उ एषः प्रहृतः अशान्तः दीदाय) वह ही यह वषट्कार छोड़ा गया [हमारे लिये] अशान्त चमकता है। (तस्य ह शान्तिं सर्वः एव न वेद नो प्रतिष्ठाम्) उसकी शान्ति को प्रत्येक मनुष्य नहीं जानता है, और न [उसके] आश्रय को। (तस्मात् वा

४—(प्रीणाति) तर्पयति (सन्ततम्) निरन्तरम् (सन्तत्यै) विस्ताराय । सन्तानाय (सन्धीयते) संयुज्यते ॥

५—(अशान्तः) उपद्रवसहितः (दीदाय) दीदयति ज्वलतिकर्म—निघ० १ । १६, लिट् । दीप्यते (नो) निषेधे (प्रतिष्ठाम्) दृढस्थानम् । आश्रयम् (एतर्हि)

---

१. पू. सं. 'शान्तः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

अपि एतर्हि भूयान् इव मृत्युः) इसलिये ही अब बहुत अधिक सा मृत्यु है। (तस्य ह एषा एव शान्तिः एषा प्रतिष्ठा, यत् वाक् इति) उस [वषट्कार] की यह ही शान्ति और यह ही आश्रय है, जो वाक्, [वाणी] है। (वषट्कृत्य वाक् इति अनुमन्त्रयते) वषट्कार करके वाक्, यह पद मन्त्र के साथ वह बोलता है। (वषट्कार मां मा प्रमृक्षः, अहं त्वां मा प्रमृक्षम्, बृहता मनः व्यानेन शरीरम् उपह्वये, प्रतिष्ठा असि, प्रतिष्ठां गच्छन् प्रतिष्ठां मा गमयेत् इति) हे वषट्कार! मुझको तू मत धो डाल [मत नष्ट कर], मैं तुझे न धो डालूं [न नष्ट करूं], बड़े प्रयत्न के साथ [अपने] मन को और व्यान [शरीर में फैले हुये वायु] के साथ शरीर को मैं बुलाता हूं, तू प्रतिष्ठा [आश्रय] है, आश्रय पाता हुआ तू मुझको आश्रय पहुँचा [यह ब्राह्मण वचन है]। (तत् उ ह स्म आह, दीर्घम् एव एतत् सत् अप्रभु, ओजः सहः ओजः इति अनुमन्त्रयेत्) कोई [ब्रह्मवादी] यह कहता है--यह [मन्त्र वाक्य] लम्बा होता हुआ भी असमर्थ है, ओजः सहः ओजः—इस [तीन पद वाले मन्त्र] को मन्त्र के साथ बोले। [दूसरा ओजः पद आदरार्थ है]। (ओजः च ह वै सहः च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ, प्रियाभ्याम् एव तनूभ्यां तत् समर्धयति) ओजः [पराक्रम] और सहः [बल] ही वषट्कार के दो अति प्रिय शरीर हैं, दोनों प्रिय शरीरों से ही उस [यजमान] को वह बढ़ाता है। (प्रियया तन्वा समृध्यते, यः एवं वेद) वह पुरुष प्रिय शरीर से बढ़ता है जो ऐसा जानता है॥ ५॥

भावार्थः—प्रकरण के अनुकूल मन्त्रों के विनियोग से यजमान का बल और पराक्रम बढ़ता है॥ ५॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३। ८ से मिलाओ॥

विशेषः २—(प्रतिष्ठामि) के स्थान पर (प्रतिष्ठासि), (सदः प्रभु) के स्थान पर (सदप्रभु) और (वषट्कारश्च) के स्थान पर (वषट्कारस्य) ऐतरेय ब्राह्मण से शोधा गया है।

कण्डिका ६॥

वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः, ते वषट्कृते वषट्कृते व्युत्क्रामन्ति।ताननुमन्त्रयते, वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानाविति। वाचं चैव तत् प्राणापानौ च होता आत्मनि प्रतिष्ठापयति, सर्वमायुरेति, न पुरा जरसः प्रमीयते,

---

इदानीम् (भूयान्) बहु-ईयसुन्। बहुतरः (वाक्) वाणी। विद्या (अनुमन्त्रयते) मन्त्रेण सह उच्चारयति (मा प्रमृक्षः) मृजी शोधे—लुङ्। मा शोधय। मा विनाशय (मा प्रमृक्षम्) विनष्टं मा कार्षम् (बृहता) महता प्रयत्नेन (मनः) स्वकीयं चित्तम् (उपह्वये) आह्वयामि (व्यानेन) व्यानादिवायुना (प्रतिष्ठा) आश्रयः (गच्छन्) प्राप्नुवन् (गमयेत्) गमय, प्रापय (सत्) वर्तमानम् (अप्रभु) असमर्थम् (ओजः सहः ओजः) पदत्रयात्मको मन्त्रः (ओजः) पराक्रमः (सहः) बलम् (समर्द्धयति) प्रवर्धयति॥

य एवं वेद। शन्नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः। सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्रण आयुर्जीवसे सोम तारीरित्यात्मानं प्रत्याभिमृशति, ईश्वरो वा एषोऽप्रत्यभिमृष्टो यजमानस्यायुः प्रत्यवहर्त्तुमनर्हन्मा भक्षयेदिति। तद्यदेतेन प्रत्याभिमृशति आयुरेवास्मै तत् प्रतिरते। आ प्यायस्व सन्ते पयांसीति द्वाभ्यां चमसानाप्याययन्त्यभिरूपाभ्याम्। यद् यज्ञेऽभिरूपं, तत् समृद्धम्॥ ६॥

कण्डिका ६॥ वाक् और प्राण और अपान ही वषट्कार हैं॥

(वाक् च प्राणापानौ च वै वषट्कारः) वाक् और प्राण और अपान ही वषट्कार [आहुति दान] हैं। (ते वषट्कृते वषट्कृते व्युत्क्रामन्ति) वे [तीनों] बार बार वषट्कार करने पर बाहिर चले जाते हैं। (तान् अनुमन्त्रयते, वाक् ओजः सहः ओजः प्राणापानौ मयि इति) उनको इस मन्त्र से अनुकूल करता है--वाक्, ओजः [पराक्रम], सहः [बल], ओजः, और प्राण और अपान मुझमें [होवें]। (तत् वाचं च एव प्राणापानौ च होता आत्मनि प्रतिष्ठापयति, सर्वम् आयुः एति, जरसः पुरा न प्रमीयते यः एवं वेद) उससे वाणी और प्राण और अपान को होता अपने में दृढ़ स्थापित करता है, वह पुरुष पूर्ण आयु पाता है और बुढ़ापे से पहिले नहीं मरता, जो ऐसा जानता है। (शन्नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः। सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्रण आयुर्जीवसे सोम तारीः)। (इन्दो) हे बड़े ऐश्वर्य वाले (सोम) हे सोम! [सर्वजनक परमेश्वर] (पीतः) [हम लोगों से] ग्रहण किया गया (सुशेवः) बड़ा सुख देने वाला तू (नः हृदे) हमारे हृदय के लिये, (पिता इव सूनवे) पिता के समान पुत्र के लिये (शम्) सुखदायक (आ भव) सब ओर से हो, (उरुशंस) हे बड़ी प्रशंसा वाले! (सोम) हे सोम! [सर्वप्रेरक परमात्मन्] (धीरः) बुद्धिमान् तू, (सखा इव सख्ये) मित्र के समान मित्र के लिये, (नः आयुः) हमारा आयु (जीवसे) जीने के लिये (प्र तारीः) बढ़ा--ऋ० ८। ४८। ४--(इति आत्मानं प्रत्याभिमृशति) इस मन्त्र से वह अपने शरीर को भले प्रकार छूता है। (एषः अप्रत्यभिमृष्टः यजमानस्य आयुः प्रत्यवहर्तुम् ईश्वरः वै, अनर्हन् मा भक्षयेत् इति) यह अङ्ग बिना छुये [मन्त्र] यजमान का आयु नाश करने को समर्थ होता है, अयोग्य होकर वह मुझे खा जायेगा [यह विचार करे]। (तत् यत् एतेन प्रत्याभिमृशति आयुः एव अस्मै तत् प्रतिरते) सो जो इस [पूर्वोक्त मन्त्र] से अङ्ग स्पर्श करता है,

---

६—(व्युत्क्रामन्ति) बहिरूर्ध्वं गच्छन्ति (शम्) सुखम् (नः) अस्माकम् (हृदे) हृदयाय (आ) समन्तात् (पीतः) गृहीतः (इन्दो) हे परमैश्वर्यवन् (सोम) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक परमेश्वर (सूनवे) पुत्राय (सुशेवः) शेवं सुखनाम—निघ० ३। ६। सुसुखयुक्तः (उरुशंस) बहुधा प्रशंसनीय। बहुकीर्ते (धीरः) धीमान् (जीवसे) जीवनाय (प्र तारीः) प्रवर्धय (प्रत्याभिमृशति) हस्तेन सर्वतः स्पृशति (अप्रत्याभमृष्टः) मन्त्रेण स्पर्शरहितः (प्रत्यवहर्तुम्) विनाशयितुम् (अनर्हन्) अयोग्यः सन् (प्रतिरते) प्रवर्धयति (आ) समन्तात्

आयु ही इस [यजमान] के लिये उससे वह बढ़ाता है। (आ प्यायस्व सं ते पयांसि इति द्वाभ्याम् अभिरूपाभ्यां चमसान् आप्याययन्ति) आ प्यायस्व, और सं ते पयांसि ऋ० १ । ९१ । १७, १८--इन दो अनुकूल विषय वाली ऋचाओं से खाद्य पदार्थों को वह बढाते हैं। (यत् यज्ञे अभिरूपम्, तत् समृद्धम्) जो यज्ञ में विषय के अनुकूल है वह समृद्ध [सफल] है ॥ ६ ॥

भावार्थः--वाणी, प्राण और अपान अर्थात् समस्त इन्द्रियों के सुप्रयोग से मनुष्य संसार में उन्नति करता है ॥ ६ ॥

विशेषः १--इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ३ । ८ तथा ७ । ३३ से मिलाओ ॥

विशेषः २--(इन्द्रो) के स्थान पर (इन्दो) ऋ० ८ । ४८ । ४ से और (प्रत्यविहर्तुर्मनरिहन) के स्थान पर (प्रत्यवहर्तुमनर्हन्[1]) ऐ० ब्रा० ७ । ३३ से शुद्ध किया है ॥

विशेषः ३—दोनों प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१--आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः । भवा नः सुश्रवस्तमः सखा वृधे--ऋ० १ । ९१ । १७ (मदिन्तम) हे अत्यन्त आनन्द वाले (सोम) सोम ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (विश्वेभिः) सब (अंशुभिः) तत्त्व के अंशों के साथ (आ) अच्छे प्रकार (प्यायस्व) तू बढ़, और (सुश्रवस्तमः) अत्यन्त बड़ी कीर्ति वाला वा अत्यन्त सुन्दर अन्नों वाला (सखा) मित्र तू (नः वृधे) हमारी बढ़ती के लिए (भव) हो ॥

२--सं ते पयांसि समुयन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः । आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व-ऋ० १ । ९१ । १८ । (सोम) हे सोम ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (ते) तेरे लिये (वृष्ण्यानि) वीरत्व बढ़ाने वाले (पयांसि) अनेक अन्न (सं यन्तु) अच्छे प्रकार मिलें, (उ) और (अभिमातिषाहः) अभिमानी शत्रुओं के दबाने वाले (वाजाः) पराक्रम (सं सम्) बहुत अच्छे प्रकार [मिलें]। (अमृताय) अमरपन वा मोक्ष के लिए (आप्यायमानः) सब ओर से बढ़ता हुआ तू (दिवि) व्यवहार के बीच (उत्तमानि श्रवांसि) उत्तम यशों को(धिष्व) धारण कर ॥

कण्डिका ७ ॥

प्राणा वा ऋतुयाजाः, तद्यदृतुयाजैश्चरन्ति, प्राणानेव तद्यजमाने दधति । षड्तुनेति यजन्ति, प्राणमेव तद्यजमाने दधति । चत्वार ऋतुभिर्यजन्ति, अपानमेव तद्यजमाने दधति । द्विर्ऋतुनेति उपरिष्टाद् व्यानमेव तद्यजमाने दधति । स चासुसम्भृतस्त्रेधा विहृतः, प्राणोऽपानो व्यान इति ततोऽन्यत्र गुणितस्तथाह, यजमानः

(प्यायस्व) वर्धस्व (सम्) सम्यक् (ते) तव (पयांसि) जलानि । अन्नानि (चमसान्) भक्ष्यपदार्थान् (आप्याययन्ति) प्रवर्धयन्ति (अभिरूपाभ्याम्) विषयानुकूलाभ्याम् ॥

---

१. जर्मन सं० में भी यही पाठ है ॥ सम्पा० ॥

सर्वमायुरेत्यस्मिंल्लोक आर्ध्नोत्याप्नोत्यमृतत्वमक्षितं स्वर्गे लोके। ते वा एते प्राणा एव, यदृतुयाजाः। तस्मादनवानं ततो यजन्ति प्राणानां सन्तत्यै। सन्तता इव हीमे प्राणाः। अथो ऋतवो वा ऋतुयाजाः। सꣳस्थानुवषट्कारः। योऽत्रानुवषट् कुर्य्यात्, असꣳस्थितानृतून् संस्थापयेत्। यस्तं तत्र ब्रूयात्, असꣳस्थितानृतून् समतिष्ठिपत्[1] दुःखमनुभविष्यतीति, शश्वत्तथा स्यात्॥ ७॥

कण्डिका ७॥ प्राण ही ऋतुयाज हैं, ऋतुयाजों में अनुवषट् न करे॥

(प्राणाः वै ऋतुयाजाः) प्राण ही ऋतुयाज [ऋतुओं के लिये यज्ञ] हैं। (तत् यत् ऋतुयाजैः चरन्ति, प्राणान् एव तत् यजमाने दधति) इसलिये जो ऋतुयाजों से वे यज्ञ करते हैं, प्राणों [प्राण, अपान, व्यान] को ही उससे यजमान में धारण करते हैं। (षट् ऋतुना इति यजन्ति, प्राणम् एव तत् यजमाने दधति) छह [ऋत्विज् लोग]--ऋतु के साथ [ऋतुना--इन मन्त्रों के लिये देखो यजु० २१। २३--२८] इससे वे यज्ञ करते हैं, प्राण [भीतर जाने वाले वायु] को ही उससे यजमान में धारण करते हैं। (चत्वारः ऋतुभिः यजन्ति, अपानम् एव तत् यजमाने दधति) चार [ऋत्विज्]--ऋतुओं से [ऋतुभिः--इसके लिये देखो यजु० १४। ७]--वे यज्ञ करते हैं, अपान [बाहर जाने वाले वायु] को ही उससे यजमान में धारण करते हैं। (द्विः ऋतुना इति उपरिष्टात्, व्यानम् एव तत् यजमाने दधति) दो [ऋत्विज्]-ऋतु से [ऋतुना-ऊपर देखो]--इससे पीछे से [यज्ञ करते हैं], व्यान [शरीर में फैले हुये वायु] को ही उससे यजमान में वे धारण करते हैं। (सः च सम्भृतः असुः त्रेधा विहृतः, प्राणः अपानः व्यानः इति) और वह अच्छे प्रकार पुष्ट किया हुआ प्राण तीन प्रकार से विहार वाला है—प्राण, अपान और व्यान। (ततःअन्यत्र गुणितः तथा आह) इस [ग्रन्थ] से दूसरे [ऐतरेय आदि] में यह कहा गया है--ऐसा वह [ब्रह्मवादी] कहता है। (यजमानः सर्वम् आयुः एति, अस्मिन् लोके स्वर्गे लोके आर्ध्नोति, अक्षितम् अमृतत्वम् आप्नोति) यजमान [उससे] पूर्ण आयु पाता है और इस लोक में स्वर्ग लोक के बीच समृद्ध होता है, और अक्षय अमरपन पाता है। (ते वै एते प्राणाः एव, यत् ऋतुयाजाः) वे ही यह प्राण हैं, जो ऋतुयाज हैं। (तस्मात् अनवानं ततः प्राणानां सन्तत्यै यजन्ति) इसलिये श्वास न लेकर उसके पीछे प्राणों की निरन्तरता के लिये वे यज्ञ करते हैं। (सन्तताः इव हि इमे प्राणाः) क्योंकि लगातार फैले हुये ही यह प्राण हैं। (अथो ऋतवः वै ऋतुयाजाः) फिर ऋतुयें ही ऋतुयाज हैं। (अनुवषट्-कारः संस्था) अनुवषट्कार [पीछे से बोला गया वषट्] समाप्ति है। (यः अत्र

७-(चरन्ति) अनुतिष्ठन्ति (दधति) स्थापयन्ति (षट्) षट्संख्याकाः ऋत्विजः (द्विः) द्वौ (उपरिष्टात्) पश्चात् (असुः) प्राणः (सम्भृतः) सम्यक् पोषितः (विहृतः) विविधं प्राप्तः (अनवानम्) नञ्+अव+अन प्राणने—घञ्। द्वितीयान्तं यथा भवति तथा। उच्छ्वासमकृत्वा (सन्तत्यै) अविच्छेदाय।

---

१. पू० सं० 'यः' इत्यधिकः पाठः॥ सम्पा०॥

अनुवषट् कुर्यात्, असंस्थितान् ऋतून् संस्थापयेत्) जो यहां [ऋतुयाज में] अनुवषट् करे, बिना समाप्त हुये ऋतुओं को वह रोक देवे । (यः तं तत्र ब्रूयात्, असंस्थितान् ऋतून् समतिष्ठिपत् दुःखम् अनुभविष्यति इति) जो उस [अनुवषट्कार] को वहां बोले और बिना पूरे हुये ऋतुओं को रोक देवे, वह दुःख ही पावेगा । (शश्वत् तथा स्यात्) [इसलिये यह नियम] सदा वैसा [अनुवषट् बिना] होवे ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य प्राण, अपान और व्यान की गतियों से बल और पराक्रम बढ़ाकर सब ऋतुओं को उपयोगी बनावें ॥ ७ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० २ । २६ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(षडतुना) के स्थान पर (षड्तुना) और (समतिष्ठि) के स्थान पर (समतिष्ठि[1]पत्) पद ऐ० ब्रा० २ । २६ । में है, पहिला पद शुद्ध कर दिया है ॥

विशेषः ३—प्रतीक वाले मन्त्रों में से एक एक अर्थ सहित लिखा जाता है—

१—वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः । रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः—यजु० २१ । २३ ॥ (त्रिवृता) तीनों काल में वर्तमान (वसन्तेन ऋतुना) वसन्त ऋतु के साथ (स्तुताः) स्तुति किये गये (देवाः) दिव्य गुण वाले (वसवः) पृथिवी आदि आठ वसु वा प्रथम कक्षा वाले विद्वान् लोग (रथन्तरेण) रथ से तरने वाले (तेजसा) तीक्ष्ण स्वरूप से (इन्द्रे) सूर्य के प्रकाश में (हविः) देने योग्य (वयः) आयु बढ़ाने हारे वस्तु को (दधुः) धारण करें ॥

२—सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ।

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा—यजु० १४ । ७ ॥

[हे स्त्री वा पुरुष !] (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वा सेवा वाला, (विधाभिः) विविध प्रकार धारण करने वाले जलों के साथ

(सन्तताः) अविच्छिन्नाः । निरन्तराः (संस्था) समाप्तिः (असंस्थितान्) असमाप्तान् (संस्थापयेत्) उपरमयेत् (शश्वत्) सदा । अवश्यम् ॥

---

[1]. जर्मन सं. में भी यही पाठ है अतः हमने कण्डिका में ऐसा ही रख दिया है ॥ सम्पा० ॥

सजूः) एक सी प्रीति वाला, (देवैः) अच्छे गुणों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला देवैः) दिव्य सुख देने वाले (वयोनाधैः) जीवन आदि वा गायत्री छन्दों से सम्बन्ध वाले प्राणों के साथ (सजूः) एकसी प्रीति वाला [तू हो], (वैश्वानराय) सम्पूर्ण पदार्थों को प्राप्त कराने वाली (अग्नये) अग्नि विद्या के लिए (त्वा त्वा) तुझको तुझ को (अध्वर्यू) हिंसा रहित गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक दोनों (इह) यहां जगत् में (सादयताम्) स्थापित करें।

[हे स्त्री वा पुरुष !] (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वा सेवा वाला (विधाभिः) विविध वस्तुओं को धारण कराने वाली प्राणों की चेष्टाओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला, (वसुभिः) अग्नि आदि आठ वसुओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला; (देवैः) विजय चाहने वाले (वयोनाधैः) विज्ञानों से सम्बन्ध युक्त विद्वानों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला [तू हो], (वैश्वानराय) सब जगत् के चलाने वाले (अग्नये) विज्ञान के लिए (त्वा त्वा) तुझको तुझको (अध्वर्यू) हिंसारहित गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक दोनों (इह) यहां [जगत् में] (सादयताम्) स्थापित करें।

[हे स्त्री वा पुरुष !] (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वा सेवा वाला (विधाभिः) विविध वस्तुओं को धारण कराने वाली प्राणों की चेष्टाओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला, (रुद्रैः) [प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीव, इन ग्यारह] रुद्रों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला, (देवैः) व्यापार कुशल (वयोनाधैः) वेद आदि शास्त्रों को जताने के प्रबन्ध करने वालों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला [तू हो], (वैश्वानराय) सब नरों के सुखसाधक (अग्नये) सब शास्त्रों के विज्ञान के लिये (त्वा त्वा) तुझको तुझको (अध्वर्यू) हिंसारहित गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक दोनों (इह) यहां [जगत् में] (सादयताम्) स्थापित करें।

[हे स्त्री वा पुरुष !] (ऋतुभिः) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वा सेवा वाला (विधाभिः) विविध प्रकार सत्य धारण कराने वाली क्रियाओं के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला, (आदित्यैः) वर्ष के बारह महीनों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला, (देवैः) तेजस्वी (वयोनाधैः) पूर्ण विद्या के विज्ञान और प्रचार के प्रबन्ध करने वालों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला [तू हो] (वैश्वानराय) सब नरों के पूर्ण सुख साधने वाले (अग्नये) पूर्ण विज्ञान के लिये (त्वा त्वा) तुझको तुझको (अध्वर्यू) हिंसारहित गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक दोनों (इह) यहां [जगत् में] (सादयताम्) स्थापित करें।

[हे स्त्री वा पुरुष !] (ऋतुभिः) क्षण आदि सब काल अवयवों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वा सेवा वाला (विधाभिः) सब सुखों में व्यापक क्रियाओं के साथ (सजूः)

एक सी प्रीति वाला (विश्वैः) समस्त (देवैः) परोपकार के लिये सत्य असत्य जताने वालों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला (देवैः) प्रशंसा योग्य (वयोनाधैः) कामयमान जीवन का प्रबन्ध करने वालों के साथ (सजूः) एक सी प्रीति वाला [तू हो], (वैश्वानराय) सब नरों के हितकारक (अग्नये) अच्छी शिक्षा के प्रकाश के लिये (त्वा त्वा) तुझ को तुझ को (अध्वर्यू) हिंसारहित गृहाश्रम आदि यज्ञ के चाहने वाले (अश्विना) सब विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक दोनों (इह) यहां [जगत् में] (सादयताम्) स्थापित करें।

कण्डिका ८ ॥

तदाहुः, यद्धोता यक्षद्धोता यक्षदिति, मैत्रावरुणो होत्रे प्रेष्यति, अथ कस्मादहोतृभ्यः सद्भ्यो होत्राशंसिभ्यो होता यक्षद्धोता यक्षदिति प्रेष्यतीति। वाग्वै होता, वाक् सर्वे ऋत्विजः वाग् यक्षद्वाग् यक्षदिति। अथो सर्वे वा एते सप्तहोतारोऽपि वा ऋचाभ्युदितं, सप्तहोतार ऋतुथा यजन्तीति। अथ य उपरिष्ट द्[1] *द्वादशर्चंजामितायै, ते वै द्वादश भवन्ति, द्वादश ह वै मासाः *संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः। स योऽत्र भक्षयेद्यस्तं तत्र ब्रूयात्, अशान्तो भक्षो नानुवषट्कृत आत्मानमन्तरगान्न जीविष्यतीति। तथा हास्याद्यो वै भक्षयेत्, प्राणो भक्षः प्राण आत्मानमन्तरगादिति। तथैव ह भवति लिम्पेदिति वात्र जिघ्रेत्तत्र च[2] द्विदेवत्येषु चेति, तद्वु तत्र शासनं वेदयन्ते अथ यदमू व्यभिचरतो नानान्योऽन्यमनुप्रपद्येते अध्वर्य्यू। तस्मादृतुर्ऋतुं नानुप्रपद्यते ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ होता यक्षत् होता यक्षत्—इन मन्त्रों के उच्चारण का विषय ॥

(तत् आहुः, होता यक्षत् होता यक्षत् इति, यत् मैत्रावरुणः होत्रे प्रेष्यति, अथ कस्मात् अहोतृभ्यः सद्भ्यः होत्राशंसिभ्यः प्रेष्यति इति—होता यक्षत् होता यक्षत् इति) फिर कहते हैं—होता यज्ञ करे, होता यज्ञ करे—[इन मन्त्रों के लिये देखो यजु० २१। २९—४७] इस प्रकार जब मैत्रावरुण [प्राण और अपान वायु जानने वाला याजक] होता से कहता है, फिर किसलिये होता से भिन्न, उपस्थित, वेदवाणी से स्तुति करने वालों से यह कहता है—होता यज्ञ करे, होता यज्ञ करे। (वाक् वै होता, वाक्

८—(होता) दाता। ग्रहीता (यक्षत्) यजेत् (प्रेष्यति) अनुजानाति (अहोतृभ्यः) होतृभिन्नयाजकेभ्यः (सद्भ्यः) वर्त्तमानेभ्यः (होत्राशंसिभ्यः) होत्रां

---

१. अस्यां कण्डिकायां पुष्पाङ्कितः पाठः पूर्वसंस्करणे 'भक्षयेत्, प्राणः···इत्यस्यानन्तरमासीत्। अर्थसङ्गत्या जर्मनसंस्करणानुसारेणास्माभिरत्र स्थापितः। तथैव भाष्यमपि यथावस्थितं कृतम् ॥

२. पू० सं० 'त' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

सर्वे ऋत्विजः, वाक् यक्षत् वाक् यक्षत् इति) [समाधान] वाणी ही होता, [हवन करने वाला] है, वाणी ही सब ऋत्विज् लोग हैं—वाणी यज्ञ करे, वाणी यज्ञ करे [यह उसका अभिप्राय है]। (अथो सर्वे वै एते सप्त होतारः अपि वै ऋचा अभ्युदितं, सप्त होतारः ऋतुथा यजन्ति इति) और यह सब ही सात हवन करने वाले होते हैं, यह ही इस ऋचा द्वारा कहा गया है—सात हवन करने वाले ऋतु ऋतुओं के अनुसार हवन करते हैं [यह ब्राह्मण वचन है--इसको आगे टिप्पणी में दिये यजु० ३४। ५५ के आशय से मिलाओ]। (अथ यः उपरिष्टात् द्वादशर्चजामितायै ते वै द्वादश भवन्ति, द्वादश ह वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिः यज्ञः) फिर जो पहिले से बारह ऋचाओं से सम्बन्ध के लिये हैं वे बारह हैं, बारह ही मास होते हैं। संवत्सर यज्ञ होता है, संवत्सर [वर्ष] प्रजापति है, [1]प्रजापति यज्ञ है। (सः यः अत्र भक्षयेत्, यः=सः, तं तत्र ब्रूयात्, अशान्तः भक्षः अनुवषट्कृतः आत्मानम् अन्तः न अगात्, न जीविष्यति इति) सो जो यहां [यज्ञ में] भोजन करे, वह उस [भोजन विषय] को वहां बोले--अशान्त भोजन अनुवषट् [समाप्तिसूचक यज्ञ] करने वाले के आत्मा में नहीं जाता, वह [उसे] न जिलावेगा। (तथा ह अस्य आद्यः वै भक्षयेत्, प्राणः भक्षः प्राणः आत्मानम् अन्तः अगात् इति) इस कारण से ही इस [यज्ञ] के खाने योग्य पदार्थ को ही वह खावे, प्राण भोजन है जो वह प्राण आत्मा में पहुँचता है। (तथा एव ह भवति लिम्पेत् इति वाव तत्र च द्विदेवत्येषु च जिघ्रेत् इति) वह वैसा ही होता है कि वह [भोजन उसे] बढ़ावे, और वहां ही उसको दो देवता वाले यज्ञों में वह ग्रहण करे। (तत्र तत् उ शासनं वेदयन्ते, अथ यत् अमू अध्वर्यू व्यभिचरतः, अन्योऽन्यं नाना अनुप्रपद्येते, तस्मात् ऋतुः ऋतुं न अनुप्रपद्यते) वहां पर यह शासन बताते हैं--फिर जब दो अध्वर्यु विरुद्ध व्यवहार करते हैं और एक दूसरे के बिना दोनों चले चलते हैं, इसलिये ऋतु ऋतु को साथ साथ प्राप्त नहीं होते ॥ ८ ॥

वेदवाचं शंसन्ति कथयन्ति तेभ्यः (अभ्युदितम्) सर्वतः कथितम् (ऋतुथा) ऋतुप्रकारेण। ऋतुना ऋतुना (द्वादशर्चजामितायै) जमतिर्गतिकर्मा–निघ० २। १४। जनिघसिभ्यामिण् (उ० ४। १३०) जमु भक्षणे गतौ च—इण्। जामिशब्दः समानजातीयवाचकः। द्वादशर्चैः संबन्धाय संयोगाय (अनुवषट्कृतः) अनुवषट्कारकस्य (आत्मानम्) शरीरम्। जीवम् (अन्तः) मध्ये (अगात्) गच्छति (जीविष्यति) जीवयिष्यति (आद्यः) आद्यं भक्षणीयं पदार्थम् (प्राणः) प्राणवायुः। (लिम्पेत्) वर्धयेत् (जिघ्रेत्) घ्रा गन्धोपादाने ग्रहणमात्रे च। गृह्णीयात् (द्विदेवत्येषु) द्विदेवताकेषु मन्त्रेषु (व्यभिचरतः) विरोधेन गच्छतः (नाना) बिना ॥

---

१. भाष्यकार का यह अर्थ सोमयाग की प्रक्रियानुसार संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सोमयाग में अनुवषट्कार प्रधानाहुति का समर्थक एवं समाप्ति सूचक होता है, अतः उन आहुतियों से रहित जो यज्ञ का यज्ञशेष होगा वह 'अशान्त भक्ष' होगा। यह यहाँ तात्पर्य है। विषय का स्पष्टीकरण भूमिका में देखें ॥ सम्पा० ॥

विशेषः १—प्रतीक वाले मन्त्रों में से एक मन्त्र और दूसरा संकेत वाला मन्त्र अर्थ सहित यहां दिया जाता है ॥

१—होता यक्षत् समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्र ँ्ँ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधुशष्पैर्न तेज इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ यजु० २१ । २९ ॥ (होता) हवन करने वाला (समिधा) इन्धन आदि से (अग्निम्) आग, (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा, (इन्द्रम्) ऐश्वर्य वा जीव और (सरस्वतीम्) सुशिक्षित वाणी को (इडः पदे) पृथिवी और अन्न के स्थान में (यक्षत्) संगत करे । (धूम्रः) धुमैले वर्ण वाला (अजः) अज [माक्षिक धातु-औषधविशेष] (गोधूमैः) गेहूं, (न) और (कुवलैः) बेरों (न) और (शष्पैः) घासों के सहित (मधु) मधुर जल, (भेषजम्) औषध, (तेजः) तेज, (इन्द्रियम्) धन, (पयः) दूध वा अन्न, (परिस्रुता) सब ओर से प्राप्त हुये रस के साथ (सोमः) सोम [औषधियों का रस], (घृतम्) घी (मधु) मधु [रस विशेष] (व्यन्तु) प्राप्त हों । (होतः) हे होम करने वाले जन ! (आज्यस्य) घी का (यज) होम कर ॥

२—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ यजु० ३४ । ५५ ॥ (सप्त ऋषयः) सात ऋषि [विषयों को प्राप्त कराने वाले, पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि] (शरीरे) शरीर में (प्रतिहिताः) ठहरे हुये हैं, (सप्त) वे सात (सदम्) ठहरने के स्थान [शरीर] की (अप्रमादम्) बिना भूल (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं । (सप्त) वे सात (आपः) व्यापने वाले [ऋषि] (स्वपतः) सोते हुये जन के (लोकम्) लोक [दीखते हुये शरीर वा जीवात्मा] को (ईयुः) प्राप्त होते हैं, (तत्र) वहां [शरीर में] (अस्वप्नजौ) दो न सोते हुये (सत्रसदौ) सत्र में बैठने वाले [यज्ञ अर्थात् शरीर में काम करने वाले] (च) और (देवौ) दिव्य गुण वाले [प्राण और अपान] (जागृतः) जागते हैं ॥

कण्डिका ९ ॥

प्रजापतिर्वै यत् प्रजा असृजत, ता वै तान्ता असृजत । ता हिङ्कारेणैवाभ्यजिघ्रत् । ताः प्रजा अश्व[१]मारन्, तद् बध्यते वा एतद्यज्ञो यद्धवींषि पच्यन्ते । यत् सोमः सूयते, यत् पशुरालभ्यते, हिङ्कारेण वा एतत् प्रजापतिर्हं तमभिजिघ्रति, यज्ञस्याहतता[२]यै यज्ञस्याप्त्यै यज्ञस्य वीर्य्यवत्ताया[३] इति । तस्माद्धु हिङ्क्रियते, तस्माद्धु य एव पिता पुत्राणां सूर्क्षति, स श्रेष्ठो भवति, प्रजापतिर्हि तमभिजिघ्रति । यच्छकुनिराण्डमध्यास्ते यत्र सूयते, तद्धि सापि हिङ्कृणोति । अथो खल्वाहुः, महर्षिर्वा एतद्यज्ञस्याग्रे गेयमपश्यत् । तदेतद्यज्ञस्याग्रे गेयं, यद्धिङ्कारः । तं देवाश्च ऋषयश्चाब्रुवन्, वसिष्ठोऽयमस्तु, यो नो यज्ञस्याग्रे गेयमद्रागिति । तदेतद्यज्ञस्याग्रे गेयं, यद्धिङ्कारः ।

---

१. पू. सं. 'अमारन्' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'अहतायै' इति पाठः ॥

३. पू. सं. 'वीर्यवत्तयै' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

ततो वै स देवानां श्रेष्ठोऽभवत् । येन वै श्रेष्ठः, तेन वसिष्ठः । तस्माद् यस्मिन्वासिष्ठो ब्राह्मणः स्यात्, तं दक्षिणाया नान्तरीयात् । तथा ह्यस्य प्रीतो हिङ्कारो भवति । अथ देवाश्च ह वा ऋषयश्च यदृक्सामे अपश्यन् । ते ह स्मैते अपश्यन् । ते यत्रैते अपश्यन्, तत एवैनं सर्वं दोहमदुहन् । ते वा एते दुग्धे यातयामे, य ऋक्सामे । ते हिङ्कारेणै-वाप्यायेते । हिङ्कारेण वा ऋक्सामे आपीने यजमानाय दोहं दुहाते । तस्मादु हिङ्कृत्याध्वर्य्यवः सोममभिषुण्वन्ति । हिङ्कृत्योद्गातारः साम्ना स्तुवन्ति । हिङ्कृत्योक्थश ऋचार्त्विज्यं कुर्वन्ति । हिङ्कृत्याथर्वाणो ब्रह्मत्वं कुर्वन्ति । तस्मादु हिङ्क्रियते । प्रजापतिर्हि तमभिजिघ्रति । अथो खल्वाहुः, एको वै प्रजापतेर्व्रतं बिभर्त्ति गौरेव, तदुभये पशव उपजीवन्ति, ये च ग्राम्या ये चारण्या इति ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ हिङ्कार [प्रतिध्वनि] के उच्चारण की महिमा और प्रमाण ॥

(प्रजापतिः वै यत् प्रजाः असृजत, ताः वै तान्ताः असृजत) प्रजापति ने जब प्रजाओं को उत्पन्न किया, उन ही (तान्ताः) फैली हुई [प्रजाओं] को उत्पन्न किया । (ताः हिङ्कारेण एव अभ्यजिघ्रत्) उन [प्रजाओं] को हिङ्कार [प्रीतिध्वनि] से ही उसने ग्रहण किया । (ताः प्रजाः अश्वम् आरन्[1]) उन प्रजाओं को वह न मारता हुआ [था] । (तत् एतत् यज्ञः वै बध्यते यत् हवींषि पच्यन्ते) इसलिये यह ही यज्ञ [संगतिकरण व्यवहार] संयुक्त किया जाता है, जो हवि [खाने के पदार्थ] पकाये जाते हैं । (यत् सोमः सूयते, यत् पशुः आलभ्यते, हिङ्कारेण वै एतत् प्रजापतिः ह·तं यज्ञस्य अहततायै, यज्ञस्य आप्त्यै, यज्ञस्य वीर्यवत्तायै अभिजिघ्रति इति) जो सोम [तत्त्वरस] निचोड़ा जाता है, जो पशु ग्रहण किया जाता है, हिङ्कार [प्रतिध्वनि] से ही यह प्रजापति उस [सोम] को यज्ञ के अविनाश के लिये, यज्ञ की प्राप्ति के लिये और यज्ञ की वीर्यवत्ता के लिये ग्रहण करता है । (तस्मात् उ हिङ्क्रियते) इसलिये यह हिङ्कार किया जाता है । (तस्मात् उ यः एव पिता पुत्राणां सूर्क्षति, सः श्रेष्ठो भवति, प्रजापतिः हि तम् अभिजिघ्रति) इसलिये ही जो पिता [हिङ्कार से] पुत्रों का आदर करता है, वह [पुत्र] श्रेष्ठ होता है, प्रजापति [परमात्मा] उसको ग्रहण करता है । (यत् शकुनिः आण्डम् अध्यास्ते यत् न सूयते तत् हि सा अपि हिङ्कृणोति) जो चिड़िया अण्डे पर बैठती है और जब वह उसे अब उत्पन्न करती है, तब वह भी हिङ्कार करती है । (अथो खलु आहुः,

---

९—(असृजत) सृष्टवान् (ताः) प्रजाः (तान्ताः) हसिमृग्रिण्वामिदमि० (उ० ३ । ८६) तनु विस्तारे–तन्, आर्षो दीर्घः । तन्ताः । विस्तृताः (हिङ्कारेण) हि गतिवृद्ध्योः—डि + करोतेः—अण्, आर्षं रूपम् । वृद्धिकरेण व्यवहारेण । प्रीतिध्वनिना (अभ्यजिघ्रत्) सर्वतो गृहीतवान् (आरन्) ऋ गतौ-लङ् (बध्यते) बध संयमने । संयम्यते । संबध्यते । नियमे क्रियते (सूयते) अभिषवणेन प्राप्यते (आलभ्यते) समन्तात्

---

१. यहाँ शोधे हुये पाठानुसार अर्थ ऐसा होगा—"वे सृष्ट प्रजायें अश्वः=मेध्य, यज्ञ का रूप धारण किये हुवे प्रजापति के पास आईं" इस विषय के लिये देखें–बृ०आ० १ । १ ॥ सम्पा० ॥

महर्षिः वै यज्ञस्य अग्रे एतत् गेयम् अपश्यत्) फिर लोग कहते हैं—महर्षि [बड़े ज्ञानी पुरुष] ने ही यज्ञ के पहिले [होने वाले] इस गाने योग्य वाक्य को देखा । (तत् यज्ञस्य अग्रे एतत् गेयं, यत् हिङ्कारः) सो यज्ञ के पहिले यह गाने योग्य वाक्य है, जो हिङ्कार है। (तं देवाः च ऋषयः च अब्रुवन्, अयं वसिष्ठः अस्तु यः नः यज्ञस्य अग्रे गेयम् अद्राक् इति) उस [महर्षि] से देव [विद्वान्] और ऋषि [वेदार्थ जानने वाले] बोले—यह वसिष्ठ [अत्यन्त निवास कराने वाला वा अत्यन्त जितेन्द्रिय पुरुष] होवे, जिसने हमारे लिये यज्ञ के पहिले गाने योग्य देखा है । (तत् यज्ञस्य अग्रे एतत् गेयं यत् हिङ्कारः) सो यज्ञ के पहिले यह गाने योग्य वाक्य है—जो हिङ्कार है । (ततः वै सः देवानां श्रेष्ठः अभवत्) इसलिये ही वह [हिङ्कार का देखने वाला] विद्वानों में श्रेष्ठ हुआ है । (येन वै श्रेष्ठः, तेन वसिष्ठः) जिस कारण से ही वह श्रेष्ठ है, उसी से वह वसिष्ठ [अत्यन्त निवास देने वाला] है । (तस्मात् यस्मिन् वासिष्ठः ब्राह्मणः स्यात् तं दक्षिणायाः न अन्तरीयात्) इसलिये जिस [यज्ञ] में वासिष्ठ [वसिष्ठ के देखे हुये हिङ्कार को जानने वाला] ब्राह्मण होवे, उसको दक्षिणा से पृथक् न करे । (तथा ह अस्य प्रीतः हिङ्कारः भवति) इस प्रकार से कि हिङ्कार इसका प्रिय है । (अथ देवाः च ह वै ऋषयः च यत् ऋक् सामे अपश्यन्) फिर देवताओं और ऋषियों ने ही जो ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] और सामवेद [मोक्ष विद्या] को देखा है । (ते ह स्म एते अपश्यन्) उन्होंने ही इन दोनों को देखा है । (ते यत्र एते अपश्यन्, ततः एव एनं सर्वं दोहम् अदुहन्) उन्होंने जिस [ब्रह्मचर्य्यादि व्रत] में इन दोनों को देखा है, उससे ही उन्होंने इस सब दोहने योग्य पदार्थ [तत्त्वरस] को दुहा है । (ते वै एते दुग्धे यातयामे, ये ऋक्सामे) वह ही यह दोनों दुहे हुये नियम प्राप्त किये हुये हैं, जो ऋग्वेद और सामवेद हैं । (ते हिङ्कारेण एव आप्यायेते) वे दोनों हिङ्कार से ही बढ़ते हैं । (हिङ्कारेण वै आपीने ऋक्सामे यजमानाय दोहं दुहाते) हिङ्कार से ही बढ़े हुये ऋग्वेद और सामवेद यजमान के लिये दुहने योग्य पदार्थ दुहते हैं [भरपूर करते हैं] । (तस्मात् उ हिङ्कृत्य अध्वर्य्यवः सोमम् अभिषुण्वन्ति) इसलिये ही हिङ्कार करके अध्वर्य्यु [सन्मार्ग बताने वाले] लोग सोम [तत्त्व रस] निचोड़ते हैं । (हिङ्कृत्य उद्गातारः साम्ना स्तुवन्ति) हिङ्कार करके उद्गाता [वेद गाने वाले] लोग साम [मोक्ष विद्या] से स्तुति करते हैं । (हिङ्कृत्य उक्थशः ऋचा आर्त्विज्यं कुर्वन्ति) हिङ्कार करके वेदमन्त्र बोलने वाले लोग ऋग्वेद [पदार्थों की स्तुति विद्या] से ऋत्विजों का काम करते हैं । (हिङ्कृत्य अथर्वाणः ब्रह्मत्वं कुर्वन्ति) हिङ्कार करके

प्राप्यते (अहततायै) अविनाशाय (आप्त्यै) पर्याप्त्यै (वीर्यवत्तायै) वीरत्वप्राप्तये (सूर्क्षति) सूर्क्ष सत्कारे । सत्करोति (शकुनिः) शकुनी । पक्षिणी (अध्यास्ते) उपतिष्ठति (न) सम्प्रति (सूयते) उत्पद्यते (गेयम्) गातव्यं वेदम् (वसिष्ठः) अतिशयेन निवासकः । अतिशयेन वशी (अद्राक्) अद्राक्षीत् (वासिष्ठः) दृष्टं साम (पा० ४ । २ । ७) वसिष्ठ—अण् । वसिष्ठेन दृष्टो हिङ्कारो वासिष्ठः । तदधीते तद्वेद (पा० ४ । २ । ५९) वासिष्ठ—अण् । वासिष्ठवेत्ता । वसिष्ठ—दृष्टहिङ्कारवेत्ता (यातयामे) प्राप्तनियमे (आप्यायेते) प्रवर्धेते (आपीने) प्रवृद्धे (उक्थशः) उक्थानि उक्थैर्वा शंसतीति उक्थशः । मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् (पा० ३ । २ । ७१) उक्थ+शंस

अथर्वा लोग [निश्चल ब्रह्म विद्या जानने वाले] ब्रह्मा का काम करते हैं। (तस्मात् उ हिङ्क्रियते) इसलिये ही यह हिङ्कार किया जाता है। (प्रजापतिः हिं तम् अभिजिघ्रति) प्रजापति [परमात्मा] ही उस [हिङ्कार करने वाले] को ग्रहण करता है। (अथो खलु आहुः, एकः गोः वै एव प्रजापतेर्व्रतं बिभर्ति, तत् उभये पशवः उपजीवन्ति, ये च ग्राम्याः ये च आरण्याः इति) फिर अवश्य वे कहते हैं—एक ही गौ [स्तोता वेदवेत्ता] निश्चय करके प्रजापति के व्रत [नियम] को धारण करता है, दोनों प्रकार के पशु [जीव] उस पुरुष के आश्रय जीते हैं जो ग्राम वाले और वन वाले हैं। ९ ॥

भावार्थः—परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले विद्वानों के आदेश के अनुसार जो पुरुष प्रयत्न करते हैं, वे सिद्धि पाते हैं ॥

कण्डिका १० ॥

देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुः, छन्दश्छन्दसि प्रतिष्ठाप्यमिति । शꣳसा-वोमित्याह्वयते, प्रातःसवने त्र्यक्षरेण । शंसावो दैवेत्यध्वर्युः प्रतिगृणा[1]ति पञ्चाक्षरम् । तत् अष्टाक्षरं सम्पद्यते । अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीमेवैतत् पुरस्तात् प्रातःसवनेऽ-चीक्लृपताम् । उक्थं वाचीत्याह शस्त्वा चतुरक्षरमोमुक्थशा इत्यध्वर्युः प्रतिगृणाति चतुरक्षरं तत्, अष्टाक्षरं सम्पद्यते अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीमेवैतत् । उभयतः प्रातःसवनेऽचीक्लृपताम् ।

अध्वर्यो शंसावोमित्याह्वयते माध्यन्दिने षडक्षरेण, शंसावो दैवेत्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरम् । तदेकादशाक्षरं सम्पद्यते । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रिष्टुभमेवैतत् पुरस्तान्माध्यन्दिनेऽचीक्लृपतामुक्थं वाचीन्द्रायेत्याह, शस्त्वा षडक्षरमोमुक्थशा यजेत्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरं, तदेकादशाक्षरं सम्पद्यते । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रिष्टुभमेवैतत् । उभयतो माध्यन्दिनेऽचीक्लृपताम् ।

अध्वर्यो शꣳशꣳसावोमित्याह्वयते तृतीयसवने सप्ताक्षरेण, शꣳसावो दैवेत्यध्वर्युः प्रतिगृणाति पञ्चाक्षरं, तद्द्वादशाक्षरं सम्पद्यते । द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीमेवैतत् पुरस्तात्तृतीयसवनेऽचीक्लृपताम्, उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्य इत्याह, शस्त्वा नवाक्षरमोमुक्थशा इत्यध्वर्युः प्रतिगृणाति त्र्यक्षरं, तद् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते । द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीमेवैतत् उभयतस्तृतीयसवनेऽचीक्लृपतामिति ।

एतद्वै तच्छन्दः, छन्दसि प्रतिष्ठापयति, कल्पयत्येव देवविशः, य एवं वेद । तदप्येषाभ्यनूक्ता, यद्गायत्रे अधिगायत्रमाहितमिति ॥ १० ॥

कथने स्तुतौ च—ण्विन् । आर्षरूपं बहुवचनस्य उक्थशासः । उक्थानां वेदमन्त्राणां कथयितारः (अथर्वाणः) निश्चलज्ञानिनः । सर्ववेदवेत्तारः (गोः) गमेर्डोः (उ० २ । ६७) गै गाने स्तुतौ च—डोः । स्तोता—निघ० ३ । १६ (ग्राम्याः) ग्रामीणाः (आरण्याः) अरण्य—णः । अरण्ये भवाः ॥

---

१. पू. सं. 'प्रतिगृह्णाति' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १० ॥ प्रातःसवन, माध्यन्दिन और तृतीयसवन में विशेषता से मन्त्रों का प्रयोग ॥

(देवविशः कल्पयितव्यः इति छन्दः छन्दसि प्रतिष्ठाप्यम् इति आहुः) देवताओं की प्रजायें बनाई जावें और छन्द [वेद] छन्द [वेद के आधार परमात्मा] में रक्खा जावे—ऐसा वे [ब्रह्मवादी] कहते हैं । (शंसावोम्—इति प्रातःसवने त्र्यक्षरेण आह्वयते) (शंसाव ओम्) हम दोनों स्तुति करें, अच्छा ! प्रातःसवन में इस तीन अक्षर वाले वाक्य से वह [होता अध्वर्यु से] कहता है । (शंसावो दैव—इति अध्वर्युः पञ्चाक्षरं प्रतिगृणाति) (शंसावः दैव) हम दोनों स्तुति करते हैं, हे देव ! अध्वर्यु इस पांच अक्षर वाले वाक्य को उत्तर में बोलता है । (तत् अष्टाक्षरं सम्पद्यते) उससे [शंसावोम् + शंसावो दैव—पहिला और दूसरा वाक्य मिल कर] आठ अक्षर वाला वाक्य बनता है । (अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीम् एव एतत् पुरस्तात् प्रातःसवने अचीक्लृपताम्) आठ अक्षर वाला ही गायत्री [छन्द] है, गायत्री [स्तुति योग्य वेद विद्या] को ही इससे आरम्भ में प्रातःसवन के बीच उन दोनों ने ठहराया है । (उक्थं वाचि—इति शस्त्वा चतुरक्षरम् आह) (उक्थं वाचि) स्तोत्र [मेरी] वाणी में है—स्तोत्र पढ़के यह चार अक्षर वाला वाक्य वह [होता] बोलता है । (ओम् उक्थशाः-इति अध्वर्युः चतुरक्षरं प्रतिगृणाति) (ओम् उक्थशाः) हां, तू स्तोत्र बोलने वाला [हो]—अध्वर्यु यह चार अक्षर वाला वाक्य उत्तर में बोलता है । (तत् अष्टाक्षरं सम्पद्यते) उससे [उक्थ वाचि + ओम् उक्थाः-पहिला और दूसरा वाक्य मिलकर] आठ अक्षर वाला वाक्य बनता है । (अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रीम् एव एतत् उभयतः प्रातःसवने अचीक्लृपताम्) आठ अक्षर वाला ही गायत्री छन्द है, गायत्री [गाने योग्य वेद विद्या] को ही इससे दोनों ओर [स्तोत्र के पहिले और पीछे] प्रातःसवन में उन दोनों ने ठहराया है ॥

(अध्वर्यो शंसावोम्—इति माध्यन्दिने षडक्षरेण आह्वयते) (अध्वर्यो शंसावोम्) हे अध्वर्यु ! हम दोनों स्तुति करें, अच्छा ! माध्यन्दिन यज्ञ में इस छह अक्षर वाले वाक्य से वह [होता अध्वर्यु से] कहता है । (शंसावो दैव—इति अध्वर्युः पञ्चाक्षरं प्रतिगृणाति) (शंसावः दैव) हम दोनों स्तुति करते हैं, हे देव ! अध्वर्यु इस पांच अक्षर वाले वाक्य को उत्तर में बोलता है ! (तत् एकादशाक्षरं सम्पद्यते) उससे [अध्वर्यो शंसावोम् + शंसावो दैव—पहिला और दूसरा वाक्य मिलकर] ग्यारह अक्षर वाला वाक्य बनता है । (एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप्, त्रिष्टुभम् एव एतत् पुरस्तात् माध्यन्दिने अचीक्लृपताम्) ग्यारह अक्षर वाला ही त्रिष्टुप् छन्द है, त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान से पूजित ब्रह्म] को ही इससे आरम्भ में माध्यन्दिन सवन के बीच उन दोनों ने ठहराया है । (उक्थं वाचीन्द्राय—इति शस्त्वा षडक्षरम् आह) (उक्थं वाचि इन्द्राय) स्तोत्र [मेरी] वाणी में इन्द्र के लिये है—स्तोत्र पढ़कर यह छह अक्षर वाला वाक्य वह [होता]

१०—(देवविशः) देवानां प्रजाः (कल्पयितव्याः) सम्पादनीयाः (प्रतिष्ठाप्यम्) प्रतिष्ठापनीयम् (शंसाव) आवां शंसनं स्तोत्रं करवाव (ओम्) अनुमतौ (शंसावः)

बोलता है । (ओमुक्थशाः यज-इति अध्वर्युः पञ्चाक्षरं प्रतिगृणाति) हां, स्तुति बोलने वाला तू यज्ञ कर—अध्वर्यु यह पांच अक्षर वाला वाक्य [उक्थ = उक्थ] उत्तर में बोलता है । (तत् एकादशाक्षरं सम्पद्यते) उससे [उक्थं वाचीन्द्राय + ओमुक्थशा यज-पहिला और दूसरा वाक्य मिलकर] ग्यारह अक्षर वाला वाक्य बनता है । (एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रिष्टुभम् एव एतत् उभयतः माध्यन्दिने अचीक्लृपताम्) ग्यारह अक्षर वाला ही त्रिष्टुप् छन्द है, त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान से पूजित ब्रह्म] को ही इससे दोनों ओर [स्तोत्र के आदि और अन्त में] माध्यन्दिन सवन के बीच उन दोनों [होता और अध्वर्यु] ने ठहराया है ॥

(अध्वर्यो शंशंसावोम्—इति तृतीयसवने सप्ताक्षरेण आह्वयते) (अध्वर्यो शंशंसाव ओम्) हे अध्वर्यु ! हम दोनों स्तुति करें, अच्छा ! तृतीयसवन में इस सात अक्षर वाले वाक्य से वह [होता अध्वर्यु से] कहता है । (शंसावो दैव-इति अध्वर्युः पञ्चाक्षरं प्रतिगृणाति) (शंसावः दैव) हम दोनों स्तुति करते हैं, हे देव ! अध्वर्यु इस पांच अक्षर वाले वाक्य को उत्तर में बोलता है । (तत् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते) उससे [अध्वर्यो शंशंसावोम् + शंसावो दैव--पहिला और दूसरा वाक्य मिलकर] बारह अक्षर वाला वाक्य बनता है । (द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीम् एव एतत् पुरस्तात् तृतीयसवने अचीक्लृपताम्) बारह अक्षर वाला ही जगती छन्द है, जगती [जगत् का उपकार करने वाली वेद विद्या] को ही इससे आरम्भ में तृतीयसवन के बीच उन दोनों ने ठहराया है । (उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्यः—शस्त्वा इति नवाक्षरम् आह) (उक्थं वाचि इन्द्राय देवेभ्यः) स्तोत्र [मेरी] वाणी में इन्द्र [परमेश्वर] को दिव्य गुणों के पाने के लिये है—स्तोत्र पढ़कर यह नौ अक्षर वाला वाक्य [होता] बोलता है । (ओम् उक्थशाः--इति अध्वर्युः त्र्यक्षरं प्रतिगृणाति) (ओम् उक्थशाः) हां ! तू स्तुति पढ़ने वाला हो-अध्वर्यु इस तीन अक्षर बाले वाक्य को उत्तर में बोलता है [इस वाक्य में एक स्वर के लोप से तीन अक्षर माने हैं, ऊपर चार अक्षर कह आये हैं] । (तत् द्वादशाक्षरं सम्पद्यते) इससे बारह अक्षर वाला वाक्य बनता है । (द्वादशाक्षरा वै जगती, जगतीम् एव एतत् उभयतः तृतीयसवने अचीक्लृपताम् इति) बारह अक्षर वाला ही जगती छन्द है, जगती [जगत् का उपकार करने वाली वेद विद्या] को ही इस से दोनों ओर [स्तुति के आदि और अन्त में] तृतीय सवन के बीच उन दोनों [होता और अध्वर्यु] ने ठहराया है ॥

(एतत् वै तच्छन्दः छन्दसि प्रतिष्ठापयति, देवविशः एव कल्पयति, यः एवं वेद) इस से ही वह [यजमान] छन्द [वेद] को छन्द [वेद के आधार परमात्मा] में स्थापित करता है और देवताओं की प्रजाओं की भी कल्पना करता है, जो ऐसा जानता है ।

आवां स्तुवः (दैव) देव--अञ् स्वार्थे । हे देव । विद्वन् (प्रतिगृणाति) प्रत्युत्तरं ब्रूते (सम्पद्यते) सम्यक् प्राप्नोति (पुरस्तात्) आदौ । आरम्भे (अचीक्लृपताम्) तौ कल्पितवन्तौ (उक्थम्) शंसनम् । स्तोत्रम् (वाचि) मम वाचि वर्तते (शस्त्वा) स्तोत्रं पठित्वा (उक्थशाः) गो० उ० ३ । ६ । मन्त्रशंसिनः (उभयतः) स्तोत्रस्य

(तत् अपि एषा अभ्यनूक्ता—यत् गायत्रे अधि गायत्रम् आहितम् इति) इससे ही यह बहुत अनुकूल ऋचा कही गयी है—यत् गायत्रे अधि गायत्रम् आहितम्, इत्यादि—अथर्व० ९ । १० । १ ॥ १० ॥

भावार्थ :—मनुष्यों को यथोचित वाक्यों द्वारा पदार्थों के गुणों के यथावत् ज्ञान और उपयोग से परमेश्वर की भक्ति के साथ आनन्द भोगना चाहिये ॥ १० ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ३ । १२ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(छन्दसि) के स्थान पर (छन्दश्छन्दसि) और (उभयः) के स्थान पर (उभयतः) ऐ० ब्रा० और इसी कण्डिका के दूसरे स्थल से शुद्ध किया है ॥

विशेषः ३—(यद्गायत्रे अधि······) यह मन्त्र अर्थ सहित लिखा जाता है ॥

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत । यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः—अथर्व० ९ । १० । १, ऋग्० १ । १६४ । २३ ॥ (यत्) क्योंकि (गायत्रम्) गायत्र [स्तुति करने वालों का रक्षक ब्रह्म] (गायत्रे) गायत्र [स्तुति योग्य गुण] में (अधि) ऐश्वर्य के साथ (आहितम्) स्थापित है, (वा) और (त्रैष्टुभम्) त्रैष्टुभ [तीन सत्त्व, रज और तम के बन्धन वाले जगत्] को (त्रैष्टुभात्) त्रैष्टुभ [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान से पूजित ब्रह्म] से (निरतक्षत) उन्होंने [ऋषियों ने] पृथक् किया है । (वा) और (यत्) क्योंकि (जगत्) जगत् [जानने योग्य] (पदम्) पद [पाने योग्य मोक्ष पद] (जगति) जगत् [संसार] के भीतर (आहितम्) स्थापित है, (ये इत्) जो ही [पुरुष] (तत्) उस [ब्रह्म] को (विदुः) जानते हैं, (ते) उन्होंने (अमृतत्वम्) अमरपन (आनशुः) पाया है ॥

कण्डिका ११ ॥

अथैतन्नानाच्छन्दांस्यन्तरेण गर्त्ता इव । अथैते श्रविष्ठे बलिष्ठे नान्तरे देवते[1] ताभ्यां प्रतिपद्यते, तद्गर्त्त कन्दं रोहस्य रूपं स्वर्ग्यं[2] तदनवा[3]नं सङ्क्रामेत् । अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति । तद्यथा मन्त्रेण वा वंशेन वा गर्त्तं सङ्क्रामेत्, एवं तत् प्रणवेनोपसन्तनोति । ब्रह्म ह वै प्रणवः, ब्रह्मणैवास्मै तद् ब्रह्मोपसन्तनोति । शुद्धः प्रणवः स्यात् प्रजाकामानां मकारान्तः । प्रतिष्ठाकामानां मकारान्तः प्रणवः स्यादिति हैक आहुः । शुद्ध इति त्वेव स्थितो मीमांसितः प्रणवः । अथात इह शुद्ध इह पूर्ण इति, शुद्धः प्रणवः स्याच्छस्त्रानुवचनयोर्मध्य इति, ह स्माह कौषीतकिः । तथा संहितं भवति

पुरस्तात् पश्चाच्च (शंशंसाव) आवां शंसाव स्तवाव (अभ्यनूक्ता) अभितः आनुकूल्येनोक्ता कथिता (यत्) यस्मात् कारणात् (गायत्रे) अमिनक्षियजि० (उ० ३ । १०५) गै गाने—अत्रन् युक् च । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १ । ८ । स्तुत्ये गुणे (अधि) ऐश्वर्य्ये (गायत्रम्) गै गाने—शतृ + त्रैङ् पालने—कः, तलोपः । गायतां रक्षकं ब्रह्म (आहितम्) धृतम् ॥

---

१. पू. सं. 'णवते' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'स्वर्गम्' इति पाठः ॥
३. पू. सं. 'तदनु वा न' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

मकारान्तोऽवसानार्थे । प्रतिष्ठा वा अवसानं, प्रतिष्ठित्या एव । अथोभयोः कामयोराप्त्या एतौ वै छन्दः प्रवाहावरं छन्दः परञ्छन्दोऽतिप्रवहतः, तस्यायुर्न हिनस्ति, छन्दसां छन्दोऽतिप्रौढं स्यात्, यत्रैव यं द्विष्यात्तं मनसा प्रैव विध्येच्छन्दसां ऋन्दत्रे द्रवति वाचं वा शीर्य्यत इति । त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह, यज्ञस्यैव तद्बर्हिसौ नह्यति, स्थेम्ने बलाया-विस्रंसाय । यद्यपि छन्दः प्रातःसवने युज्येतार्द्धर्चश एव तस्य शंस्यं गायत्र्या रूपेण । अथो प्रातःसवनरूपेणेति, न त्रिष्टुब्जगत्यावेतस्मिन् स्थानेऽर्द्धर्चशस्ये यत् किञ्चिच्छन्दः प्रातःसवने युज्येतां पच्छ एवैनयोः शस्यमिति सा स्थितिः ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ छन्दों के साथ प्रणव का सम्बन्ध और व्याख्यान ॥

(अथ एतत् नाना छन्दांसि अन्तरेण गर्ताः इव) फिर यह अनेक छन्द [पूर्व कण्डिका में कहे हुये] एक दूसरे के बीच गर्तों [गड़हों] के समान हैं । (अथ एते श्रविष्ठे बलिष्ठे) फिर यह दोनों [दो प्रकार के छन्द पूर्व कण्डिका में कहे हुये] अति विख्यात और अति बलवान् हैं । ([1]नान्तरे देवते ताभ्यां प्रतिपद्यते) अभिन्न देवता हैं, उन दोनों [दो प्रकार के छन्दों] से समझा जाता है । (तत् गर्तस्कन्दं रोहस्य रूपं स्वर्ग्यं तदनवानं सङ्क्रामेत्) उससे गर्त [गढ़हा वा भूमिच्छिद्र] को प्राप्त होके अङ्कुर के रूप स्वर्ग को उसके अनुकूल निश्चय करके अब वह [पुरुष] अच्छे प्रकार प्राप्त करे। (अमृतं वै प्रणवः, अमृतेन एव तत् मृत्युं तरति) अमृत [अविनाशी] ही प्रणव [स्तुति योग्य ओम्] है, अमृत [अविनाशी ओम्] के साथ ही तब वह मृत्यु को पार करता है । (तत् यथा मन्त्रेण वा वंशेन वा गर्तं सङ्क्रामेत्, एवं तत् प्रणवेन उपसन्तनोति) सो जैसे मन्त्र [विचार] द्वारा अथवा बांस द्वारा गढ़हे को अच्छे प्रकार प्राप्त करे, वैसे ही तत्त्व को प्रणव द्वारा वह अच्छे प्रकार फैलाता है । (ब्रह्म ह वै प्रणवः, ब्रह्मणा एव अस्मै तत् ब्रह्म उपसन्तनोति) ब्रह्म [सब से बड़ा] ही निश्चय करके प्रणव है, ब्रह्म के द्वारा ही इस [संसार] के लिये उस ब्रह्मज्ञान को मनुष्य अच्छे प्रकार फैलाता है । (प्रजाकामानां प्रणवः शुद्धः मकारान्तः स्यात्, प्रतिष्ठाकामानां प्रणवः मकारान्तः स्यात् इति ह एके आहुः) प्रजा चाहने वालों

११—(अन्तरेण) परस्परमध्ये (गर्ताः) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३ । ८६) गॄ निगरणे—तन् । भूमिच्छिद्राणि (श्रविष्ठे) श्रु श्रवणे—अप्, श्रवः—मतुप्, इष्ठन्, मतुपो लुक् । अतिशयेन प्रसिद्धे (नान्तरे) अनन्तरे । अभेदे (ताभ्याम्) द्विप्रकाराभ्यां छन्दोभ्याम् (गर्तस्कन्दम्) गर्त+स्कन्दिर्गतिशोषणयोः—णमुल् । गर्तं स्कत्त्वा प्राप्य (रोहस्य) अङ्कुरस्य (न) सम्प्रति (संङ्क्रामेत्) सम्यक् प्राप्नुयात् (अमृतम्)

---

१. नान्तरे देवते से लेकर तदनवानम् तक पूर्व संस्करण का मूल कण्डिका का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण भाष्य भी असङ्गत हो गया है । पाठ हमने शोधा है । वाक्य का भाव इस प्रकार है—"जो गायत्री एवं जगती छन्दों के पादों में ४-४ अक्षरों का भेद है मानों गायत्री छन्द का पाद गड़हे का किनारा है और जगती में ४ अक्षरों की अधिकता मानों (रोहस्य रूपम् स्वर्ग्यम्) चढ़ाई का स्वर्ग का रूप है । (तत् अनवानम्) उस पाद को बिना श्वास तोड़ एक साथ बोलना चाहिये ।। पहिले दशम कण्डिका में गायत्री एवं जगती छन्दों का प्रकरण आया था, उसी का यहाँ पुनः वर्णन है ॥ सम्पा० ॥

का प्रणव [ओम्] शुद्ध मकारान्त है, और प्रतिष्ठा चाहने वालों का प्रणव मकारान्त है—ऐसा कोई कोई कहते हैं। (शुद्धः प्रणवः इति तु एव स्थितः मीमांसितः) प्रणव शुद्ध है—यह तो स्थिर तत्त्व से निर्णय किया हुआ [सिद्धान्त] है। (अथ अतः इह शुद्धः इह पूर्णः इति शुद्धः प्रणवः शस्त्रानुवचनयोः मध्ये स्यात् इति ह स्म कौषीतकिः आह) फिर इस कारण से कि—वह यहाँ शुद्ध है, वह यहाँ पूर्ण है—वह शुद्ध प्रणव दोनों स्तोत्र और व्याख्यान के बीच में है—ऐसा कौषीतकि [तत्त्व परीक्षक का पुत्र ऋषि] कहता है। (तथा संहितं भवति मकारान्तः अवसानार्थे) इस प्रकार से यह संगत होता है—मकारान्त [ओम्] सीमा वा ठहराव के लिये है। (प्रतिष्ठा वै अवसानं प्रतिष्ठित्यै एव) प्रतिष्ठा [ठहराव] ही सीमा है, वह [ओम्] प्रतिष्ठा के लिये ही है। (अथ उभयोः कामयोः आप्त्यै एतौ वै छन्दःप्रवाहौ अरं छन्दः परं छन्दः अतिप्रवहतः) फिर [प्रजा और प्रतिष्ठा की] दोनों कामनाओं की प्राप्ति के लिये यह दोनों छन्द प्रवाह अरं छन्द और परं छन्द [अर्थात् पर्य्याप्त छन्द और श्रेष्ठ छन्द] अत्यन्त करके बहते रहते हैं। (तस्य आयुः न हिनस्ति, छन्दसां छन्दः अतिप्रौढं स्यात्) उस के आयु को वह नहीं नाश करता [जिसका] छन्द [वेद ज्ञान] छन्दों के बीच अति पुष्ट होवे। (यत्र एव यं द्विष्यात् तं मनसा एव प्र विध्येत्) जहां पर ही जिससे द्वेष करे, उसको मनन से ही छेद डाले। (छन्दसां क्रन्दत्रे वाचं द्रवति वा शीर्य्यते इति) छन्दों के बोलने वाले के लिये वह [शत्रु अपनी] वाणी पिघला देता है वा [आप] नष्ट हो जाता है। (त्रिः प्रथमां त्रिः उत्तमाम् अन्वाह तत् बर्हिसौ यज्ञस्य एव स्थेम्ने बलाय अविस्रंसाय नह्यति) वह तीन बार पहिली [ऋचा] और तीन बार सबसे पिछली [ऋचा] पढ़ता है और उससे दो वृद्धि-कारक व्यवहारों [प्रजा कामना और प्रतिष्ठा कामना, अथवा दो कुशाओं] को यज्ञ की स्थिरता के लिये, बल के लिये और अविनाश के लिए नियत करता है। (यद्यपि प्रातःसवने अर्धर्चशः एव तस्य शंस्यं छन्दः गायत्र्याः रूपेण युज्येत, अथो प्रातःसवन-रूपेण इति) यद्यपि प्रातःसवन में आधी आधी ऋचाओं से ही उस का बोलने योग्य छन्द गायत्री के रूप से बोला जावे और प्रातःसवन के रूप से भी। (त्रिष्टुब्जगत्यौ एतस्मिन् स्थाने अर्धर्चशस्ये न युज्येताम्. यत् किञ्चित् छन्दः प्रातःसवने) त्रिष्टुप् और जगती छन्द इस स्थान पर आधी आधी ऋचाओं के बोलने में न बोले जावें, जो कुछ छन्द प्रातः-सवन में [होवे वह ही बोला जावे]। (पच्छः एव एनयोः शस्यम् इति सा

अविनाशि ब्रह्म (मन्त्रेण) विचारेण (वंशेन) तृणजातिभेदेन (मीमांसितः) तत्त्वेन निर्णीतः (शस्त्रानुवचनयोः) स्तोत्रव्याख्यानयोः (कौषीतकिः) कुसेरुम्भोमेदेताः (उ० ४ । १०६) कुष निष्कर्षे—इतः, स्वार्थे—कन् दीर्घश्च । कुषीतक—इञ् अपत्यार्थे । कुषीतकस्य तत्त्वनिष्कर्षकस्य पुत्रः । ऋषिविशेषः (संहितम्) संगतम् (अवसानम्) विरामः । सीमा (अरम्) अलम् । पर्य्याप्तम् (परम्) श्रेष्ठम् (अतिप्रौढम्) अति प्रवृद्धम् (क्रन्दत्रे) कथयित्रे (द्रवति) रसीभूतां नम्रां करोति (बर्हिसौ) वृद्धिव्य-हारौ । कुशौ (स्थेम्ने) स्थिर—इमनिच् । स्थिरतायै (अविस्रंसाय) अविध्वं-साय (अर्द्धर्चशः) अर्धर्चप्रयोगेण (शंस्यं, शस्यम्) शंसु कथने—क्यप् ।

स्थितिः) पाद पाद करके ही इन दोनों [त्रिष्टुप् और जगती] का कथन होवे-यह मर्य्यादा है ॥ ११ ॥

भावार्थः—प्रणव वा ओम् सर्वनियन्ता और सर्वरक्षक है । जहाँ जहां मन्त्र में अवसान अर्थात् विराम किया जावे, वहाँ ओम् शब्द बोला जावे ॥ ११ ॥

विशेषः—इस कण्डिका का अर्थ और अधिक विचारणीय है । प्रणव वा ओम् के लिये माण्डूक्योपनिषद् और यही गो० ब्रा० पू० १ । १६-२८ देखो ॥

कण्डिका १२ ॥

अथात एकाहस्य प्रातःसवनम् । प्रजापतिं ह वै यज्ञं तन्वानं बहिष्पवमान एव मृत्युः मृत्युपाशेन प्रत्युपाक्रामत । स आग्नेय्या गायत्र्याज्यं प्रत्यपद्यत । मृत्युर्वाव तं पश्यत् प्रजापतिं पर्य्यक्रामत् । तं सामाज्येष्ठ सीदत् । स वायव्या प्रउगं प्रत्यपद्यत । मृत्युर्वाव तं पश्यत् प्रजापतिं पर्य्यक्रामत् । तं माध्यन्दिने पवमानेऽसीदत् । स ऐन्द्र्या त्रिष्टुभा मरुत्वतीयं प्रत्यपद्यत । मृत्युर्वाव तं पश्यत् प्रजापतिं पर्य्यक्रामत् । स तेनैव द्रविणे पूर्वो निष्केवल्यस्य स्तोत्रियमासीदत्, तमस्तृणोत् । तस्मादु य एव पूर्वमासीदति, स तत् स्तृणुते । विद्वान् मृत्युरनवकाशमपाद्रवत्, अशङ्कसत्, इतरो निष्केवल्यम् । तस्मादेकमेवोक्थं होता मरुत्वतीयेन प्रतिपद्यते । निष्केवल्यमेवात्र हि प्रजापतिं मृत्युर्व्यजहात् ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ एकाह यज्ञ के प्रातःसवन में प्रजापति मृत्यु को स्तोत्रों द्वारा भगाता है ॥

(अथ अतः एकाहस्य प्रातःसवनम्) अब यहां एकाह [एक दिन वाले] यज्ञ का प्रातःसवन [कहा जाता है] । **(यज्ञं तन्वानं प्रजापतिं ह वै बहिष्पवमाने एव मृत्युःमृत्युपाशेन प्रत्युपाक्रामत)** यज्ञ फैलाते हुये प्रजापति पर बहिष्पवमान स्तोत्र [जैसे—उपास्मै गायता नरः...... साम उ० १ । १ । तृच १-३ वा ६ मन्त्र] पर ही मृत्यु [विघ्न] ने मृत्युपाश से धावा किया । **(सः आग्नेय्या गायत्र्या आज्यं प्रत्यपद्यत)** उस [प्रजापति] ने आग्नेयी गायत्री से [अग्नि देवता वाले गायत्री छन्द से, जैसे—अग्निं दूतं वृणीमहे...... ऋग्० १ । १२ । १-१२, अथवा-समिधाग्निं दुवस्यत...... यजु० ३ । १--३] आज्य [उस गायत्री छन्द से घृत, इस नाम वाले स्तोत्र] को आरम्भ किया । **(मृत्युः वाव तं प्रजापतिं पश्यत् पर्य्यक्रामत्)** मृत्यु ने उस प्रजापति को देखा और [उस पर] धावा किया । **(तं सामाज्येष्ठ सीदत्)** उस [प्रजापति] को सामाज्येष्ठ

कथनीयम् । कथनम् (पच्छः) पद्—शः । पादशः । पादेन पादेन (स्थितिः) मर्यादा ॥

१२—(तन्वानम्) विस्तारयन्तम् (बहिष्पवमाने) एतन्नामके स्तोत्रे (प्रत्युपाक्रामत) प्रातिकूल्येन आक्रान्तवान् (आज्यम्) एतन्नामकं स्तोत्रम् (पश्यत्) अपश्यत् (पर्य्यक्रामत्) आक्रान्तवान् (सामाज्येष्ठ) सामज्येष्ठे । एतन्नामके स्तोत्रे (सीदत्) असीदत् । प्राप्नोत् (प्रउगम्) प्र+युजिर् योगे—अच्, पृषोदरादिरूपम् ।

[बृहत्साम नाम वाले स्तोत्र] में उस [मृत्यु] ने पाया । (सः वायव्या प्रउगं प्रत्यपद्यत) उस [प्रजापति] ने वायवी से [वायु देवता वाले गायत्री छन्द से, जैसे—वायवा याहि दर्शतेमे ······ ऋग्० १ । २ । १—३] प्रउग [उस गायत्री छन्द से प्रयोग योग्य, इस नाम वाला स्तोत्र] को आरम्भ किया । (मृत्युः वाव तं प्रजापतिं पश्यत् पर्य्यक्रामत्) मृत्यु ने उस प्रजापति को देखा और [उस पर] धावा किया । (तं माध्यन्दिने पवमाने असीदत्) उस [प्रजापति] को माध्यन्दिन पवमान [इस नाम वाले स्तोत्र] में उसने पाया । (सः ऐन्द्र्या त्रिष्टुभा मरुत्वतीयं प्रत्यपद्यत) उस [प्रजापति] ने ऐन्द्री त्रिष्टुप् से [इन्द्र देवता वाले त्रिष्टुप् छन्द से, जैसे—इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् ······ ऋग्० १ । ३२ । १—१५] मरुत्वतीय [मरुतों अर्थात् झोकों से युक्त मरुत्वान् इन्द्र अर्थात् वायु वा बिजुली देवता वाले स्तोत्र] को आरम्भ किया । (मृत्युः वात्र तं प्रजापतिं पश्यत् पर्य्यक्रामत्) मृत्यु ने उस प्रजापति को देखा और [उस पर] धावा किया । (सः पूर्वः तेन एव द्रविणे निष्केवल्यस्य स्तोत्रियम् आसीदत् तम् अस्तृणोत्) उस [प्रजापति] ने पहिले होकर उस [मरुत्वतीय स्तोत्र] से ही द्रविण [नाम वाले यज्ञ भाग] में निष्केवल्य [नाम वाले स्तोत्र] के स्तोत्रिय [नाम वाले स्तोत्र भाग] को पाया और उस [मृत्यु] को ढक दिया । (तस्मात् उ यः एव पूर्वम् आसीदति, सः तत् स्तृणुते) इसलिये जो ही पुरुष पहिले पहुँचता है, वह उस [मृत्यु] को ढक देता है । (मृत्युः अनवकाशं विद्वान् अपाद्रवत्, इतरः निष्केवल्यम् अशंसत्) मृत्यु अनवसर जानता हुआ भाग गया, दूसरे [प्रजापति] ने निष्केवल्य स्तोत्र पढ़ा । (तस्मात् एकम् एव उक्थं होता मरुत्वतीयेन प्रतिपद्यते) इसलिये एक ही उक्थ [कहने योग्य स्तोत्र] को होता मरुत्वतीय स्तोत्र से आरम्भ करता है । (निष्केवल्यम् एव अत्र हि प्रजापतिं मृत्युः व्यजहात्) निष्केवल्य स्तोत्र से ही यहाँ प्रजापति को मृत्यु ने छोड़ दिया है ॥ १२ ॥

भावार्थः—जैसे पहिले से विचार के साथ विघ्नों को हटा कर अग्नि प्रज्वलित करके यज्ञ सिद्ध करते हैं, वैसे ही मनुष्य प्रत्येक कार्य को पहिले से विचार कर प्रयत्न के साथ पूरा करें ॥ १२ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका के कुछ २ अंश के लिये ऐतरेय ब्राह्मण ३ । १४ देखो ॥

विशेषः २—सङ्केतित मन्त्र वेद में देखो ॥

प्रयुगं । प्रयोग र्हम् । एतन्नामकं स्तोत्रम् (प्रत्यपद्यत) प्रारब्धवान् (मरुत्वतीयम्) द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोम० (पा० ४ । २ । ३२) मरुत्वत्—छ, अस्य देवता इत्यर्थे । मरुत्वान् इन्द्रो देवता यस्य तत् स्तोत्रम् (द्रविणे) बले—निघ० २ । ९ । धने—निघ० २ । १० । एतन्नामके यज्ञभागे (निष्केवल्यस्य) एतन्नामकस्य स्तोत्रस्य (स्तोत्रियम्) स्तोत्र—घः । एतन्नामकं स्तोत्रभागम् (अस्तृणोत्) आच्छादितवान् (विद्वान्) जानन् (अनवकाशम्) अनवसरम् (अपाद्रवत्) दूरमगच्छत् (अशंसत्) स्तुतवान् (प्रतिपद्यते) आरभते (निष्केवल्यम्) निष्केवल्येन (व्यजहात्) विशेषेण त्यक्तवान् ॥

कण्डिका १३ ॥

मित्रावरुणावब्रवीत्, युवं न इमं यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतं मैत्रावरुणीयाम्। तथेत्यब्रूताम्। तौ सयुजौ सबलौ भूत्वा प्रासहा मृत्युमत्यैताम्। तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतां मैत्रावरुणीयाम्। तस्मात् मैत्रावरुणः प्रातःसवने मैत्रावरुणानि शंसति। तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरताम्। यद्वेव मैत्रावरुणानि शंसति, प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः। उत वामुषसो बुधि साकं सूर्य्यस्य रश्मिभिरिति ऋचाभ्यनूक्तम्। मा नो मित्रावरुणा नो गन्तं रिशादसेति, मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ। प्र वो मित्राय गायतेति उक्थमुखम्। प्र मित्रयोर्वरुणयोरिति पर्यासः। आयातं मित्रावरुणेति यजति। एते एव तद् देवते यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्यानुवषट्करोति। प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ प्रातःसवन में मैत्रावरुण द्वारा मित्र और वरुण की स्तुति ॥

(मित्रावरुणौ अब्रवीत्, युवं नः यज्ञस्य इमम् अङ्गं मैत्रावरुणीयाम् अनुसमाहरतम्) वह [यजमान] मित्र और वरुण [हितकारक और उत्तम आचरण वाले दोनों पुरुषों] के विषय में [ब्रह्मा और होता से] बोला—तुम दोनों हमारे यज्ञ के इस अङ्ग को मित्र और वरुण वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त करो। (तथा इति अब्रूताम्) ऐसा ही हो—वे दोनों [ब्रह्मा और होता] बोले। (तौ सयुजौ सबलौ प्रासहा भूत्वा मृत्युम् अति ऐताम्) [और] वे दोनों [मित्र और वरुण] समान योग [मेल] वाले, समान बल वाले और विजयी होकर मृत्यु को लांघकर चले हैं। (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गं मैत्रावरुणीयाम् अनुसमाहरताम्) उन दोनों ने ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को मित्र और वरुण वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त किया है। (तस्मात् मैत्रावरुणः प्रातःसवने मैत्रावरुणानि शंसति) इसलिये मैत्रावरुण [मित्र और वरुण की स्तुति करने वाला ऋत्विज्] प्रातःसवन में मित्र और वरुण वाले [स्तोत्र] बोलता है। (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गम् अनुसमाहरताम्) वे दोनों [मित्र और वरुण] ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को अनुकूलता से पूरा करें। (यत् उ एव मैत्रावरुणानि शंसति, मित्रावरुणा वां सूरे उदिते नमोभिः उत हव्यैः प्रति विधेम उत

१३—(मित्रावरुणौ) हितकरं च श्रेष्ठं च पुरुषम् (अब्रवीत्) द्विकर्मकः। अकथयत् (युवम्) युवाम् (अनुसमाहरतम्) अनुकूलतया समापयतम् (मैत्रावरुणीयाम्) मित्रवरुणसम्बन्धिनीं स्तुतिम् (सयुजौ) युजिर् योगे—क्विप्। समानं युञ्जानौ (सबलौ) समानबलवन्तौ (प्रासहा) प्र+षह मर्षणे अभिभवे च—अच्, आर्षो दीर्घः, विभक्तेराकारः। प्रकर्षेण जेतारौ (अति) अतीत्य। उल्लङ्घ्य (प्रति) प्रत्यक्षेण (सूरे) सूर्य्ये (उदिते) उद्गते (विधेम) पूजयेम

वाम् उषसः बुधिः सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्--इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) क्योंकि वह ही [मैत्रावरुण] मित्र और वरुण वाले स्तोत्र [इस प्रकार] पढ़ता है--हे मित्र और वरुण ! [हितकारक और उत्तम आचरण वाले पुरुषो] तुम दोनों को सूर्य के उदय होने पर सत्कारों और ग्रहण करने योग्य अन्नों से प्रत्यक्ष करके हम पूजें, और तुम दोनों को प्रभात वेला के ज्ञान में सूर्य की किरणों के साथ [हम पूजें]--यह इस ऋचा [ब्राह्मण वचन] करके अनुकूल कहा गया है । (रिशादसा मित्रावरुणा मा, नः नः गन्तम्, इति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ) हे दुःख के नाश करने वाले मित्र और वरुण [हितकारक और उत्तम आचरण वाले पुरुषो] तुम दोनों मत [जाओ], हमको हमको प्राप्त हो--यह [और पहिला ब्राह्मण वचन] मैत्रावरुण के स्तोत्र के अनुरूप दो [मन्त्र] हैं । (प्र वो मित्राय गायत--इति उक्थमुखम्, प्र मित्रयोर्वरुणयोः, इति पर्यासः, आ यातं मित्रावरुणा---इति यजति) प्र वो मित्राय गायत--ऋग्० ५ । ६८ । १, यह उक्थ यज्ञ का आरम्भ है, प्र मित्रयोर्वरुणयोः--ऋग्० ७ । ६६ । १, यह अन्त है, आ यातं मित्रावरुणा--ऋग्० ७ । ६६ । १९, इससे वह यज्ञ करता है । (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट्करोति) इन ही दोनों देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है, और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है । (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं--नरों की स्तुति रहित यज्ञ न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं बढ़ते हैं] ॥ १३ ॥

भावार्थः--चतुर मनुष्य विद्वानों की स्तुति उनके गुणों के अनुकूल करते हैं, उससे संसार में आनन्द बढ़ता है ॥ १३ ॥

विशेषः--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ।

१--प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा । महिक्षत्रावृतं बृहत्--ऋग्० ५ । ६८ । १ ॥ [हे विद्वानों] (वः) अपने लिये (विपा गिरा) प्रेरित [वेद] वाणी से (मित्राय) मित्र [हितकारक] और (वरुणाय) वरुण [उत्तम आचरण वाले पुरुष] की (प्र गायत) अच्छे प्रकार बड़ाई करो । (महिक्षत्रौ) वे दोनों बड़े हानि से बचाने वाले (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्य नियम रूप हैं ॥

(नमोभिः) सत्कारैः (उत) च (हव्यैः) ग्राह्यैरन्नैः (बुधिः) भुवः कित् (उ० २ । ११२) बुध अवगमने--इसिन्, विभक्तेर्लुक् । बुधिसि । बोधे (मा) निषेधे (मा गन्तम्) मा गच्छतम् (नः) अस्मान् (रिशादसा) शत्रुनाशकौ (पर्यासः) परि उपरमे+अस सत्तायां--घञ् । समाप्तिः । अन्तः (अभिमृशन्ते) सर्वतो विचारयन्ति ऋषयः (न) निषेधे (आप्याययन्ति) वर्धयन्ति (अनाराशंसाः) नञ्+नृ नये--अच्+शंसु हिंसायां स्तुतौ कथने च--घञ् । नराः नेतारः शस्यन्ते प्रशस्यन्ते यत्र स नराशंसः, नराशंसः एव नाराशंसः । नराणां प्रशंसारहितो यज्ञः (सीदन्ति) गच्छन्ति । प्रवर्त्तन्ते ॥

२--प्र मित्रयोर्वरुणयोः स्तोमो न एतु शूष्यः। नमस्वान् तुविजातयोः--ऋग्० ७ । ६६ । १९ ॥ (तुविजातयोः) बहुत प्रसिद्ध (मित्रयोः, वरुणयोः) मित्र और वरुण [हितकारक और श्रेष्ठ आचरण वाले] दोनों को (नः) हमारा (शूष्यः) सुख देने वाला और (नमस्वान्) उत्तम अन्नों वाला (स्तोमः) स्तुति योग्य व्यवहार (प्र एतु) अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥

३--आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा। पातं सोममृतावृधा--ऋग्० ७ । ६६ । १९ ॥ (नरा) हे दोनों नरो ! [नेताओं] (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण ! [हितकारक और उत्तम आचरण वाले पुरुषों] (आहुतिम्) आहुति [भेंट] को (जुषाणौ) सेवन करते हुये (आ यातम्) आओ, (ऋतावृधा) हे सत्य नियम बढ़ाने वाले दोनों (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] की (पातम्) रक्षा करो ॥

कण्डिका १४ ॥

इन्द्रमब्रवीत्, त्वं न इमं यज्ञस्याङ्गमनुसमाहर[1] ब्राह्मणाच्छंसीयाम्। केन सहेति। सूर्य्येणेति। तथेत्यब्रूताम्। तौ सयुजौ सबलौ भूत्वा प्रासहा मृत्युमत्यैताम्। तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतां ब्राह्मणाच्छंसीयाम्। तस्माद् ब्राह्मणाच्छंसी प्रातःसवन ऐन्द्राणि सूर्य्याण्यङ्गानि शꣳसति। तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरताम्। यद्वेव ऐन्द्राणि सूर्य्याण्यङ्गानि शꣳसति, इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातःसावस्तव हि पूर्वपीतिरिति ऋचाभ्यनूक्तम्। आ याहि सुषुमा हि त आ नो याहि सुतावत इति ब्राह्मणाच्छंसिन स्तोत्रियानुरूपौ। अयमु त्वा विचर्षण इति उक्थमुखम्। उद् घेदभिश्रुतामघमिति पर्य्यासः। इन्द्र ऋतुविदमिति यजति। एते एव तद् देवते यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्यानुवषट् करोति। प्रत्येवाभिमृशन्ते, नाप्याययन्ति न ह्यनाराशꣳसाः सीदन्ति ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ प्रातः सवन में ब्राह्मणाच्छंसी द्वारा इन्द्र और सूर्य की स्तुति ॥

(इन्द्रम् अब्रवीत्, त्वं नः यज्ञस्य इमम् अङ्गं ब्राह्मणाच्छंसीयाम् अनुसमाहर) वह [यजमान] इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के विषय में [ब्रह्मा और होता से] बोला—तू [तुम दोनों] हमारे यज्ञ के इस अङ्ग को ब्राह्मणाच्छंसी [वेद से स्तुति करने वाले ऋत्विज्] वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त करो। (केन सह इति) [वे बोले] किसके साथ। (सूर्येण इति) [यजमान बोला] सूर्य [प्रेरणा करने वाले वा सूर्य के समान प्रतापी पुरुष] के साथ। (तथा इति अब्रूताम्) वे दोनों [ब्रह्मा और होता] बोले—ऐसा ही हो। (तौ सयुजौ सबलौ प्रासहा भूत्वा मृत्युम् अति ऐताम्) और वे दोनों [इन्द्र और सूर्य] समान योग [मेल] वाले, समान बल वाले और विजयी

१४--(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (त्वम्) युवाम् (अनुसमाहर)

---

१. पू. सं. 'समाहरन्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

होकर मृत्यु को लाँघ कर चले हैं। (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गं ब्राह्मणाच्छंसीयाम् अनुसमाहरताम्) उन दोनों ने ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को ब्राह्मणाच्छंसी वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त किया है। (तस्मात् ब्राह्मणाच्छंसी प्रातःसवने ऐन्द्राणि सूर्याणि अङ्गानि शंसति) इसलिये ब्राह्मणाच्छंसी [ऋत्विज्] प्रातःसवन में इन्द्र वाले और सूर्य वाले अङ्गों को बोलता है। (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गम् अनुसमाहरताम्) वे दोनों [इन्द्र और सूर्य] ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को अनुकूलता से पूरा करें। (यत् उ एव ऐन्द्राणि सूर्य्याणि अङ्गानि शंसति) क्योंकि वह ही [ब्राह्मणाच्छंसी] इन्द्र वाले और सूर्य वाले अङ्गों को [इस प्रकार] बोलता है—(इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातःसावस्तव हि पूर्वपीतिः--इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) इन्द्र पिब प्रतिकामं [ऋ० १० । ११२ । १] इस ऋचा [वेद मन्त्र] करके अनुकूल कहा गया है। (आ याहि सुषुमा हि ते [ऋ० ८ । १७ । १] आ नो याहि सुतावतः······इति ब्राह्मणाच्छंसिनः स्तोत्रियानुरूपौ) आ याहि सुषुमा [ऋ० ८ । १७ । १] आ नो याहि [ऋ० ८ । १७ । १] यह दो [मन्त्र] ब्राह्मणाच्छंसी के स्तुति के अनुरूप हैं। (अयमु त्वा विचर्षणे--इति उक्थमुखम्) अयमु त्वा [ऋ० ८ । १७ । ७] यह उक्थ यज्ञ का आरम्भ है। (उद् घेदभि श्रुता मघम्······इति पर्य्यासः) उद् घेदभि श्रुता मघम् [ऋ० ८ । ९३ । १] यह अन्त है। (इन्द्र क्रतुविदम्······इति यजति) इन्द्र क्रतुविदम् [अथ० २० । ७ । ४] इससे वह यज्ञ करता है। (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट् करोति) इन ही दोनों देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं--नरों की स्तुति रहित यज्ञ न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं बढ़ते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थः--कण्डिका १३ के समान है ॥ १४ ॥

विशेषः--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१--इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातःसावस्तव हि पूर्वपीतिः। हर्षस्व

अनुकूलतया समापय (ब्राह्मणाच्छंसीयाम्) ब्राह्मणाच्छंसिसम्बन्धिनीं स्तुतिम् (सूर्य्याणि) सूर्य--यत्। सूर्य्यसम्बन्धीनि (प्रतिकामम्) यथेच्छम् (सुतस्य) अभिषुतसोमस्य (प्रातःसावः) प्रातः+षुञ् अभिषवे--घञ्। प्रातःकालाभिषुतः सोमरसः (पूर्वपीतिः) पूर्वपातव्यरसः (सुषु[1]म) अभिषुतवन्तो वयम् (सुतवतः) उत्तमसन्तानयुक्तान् (विचर्षणे) कृषेरादेश्च चः (उ० २ । १०४) वि+कृष विलेखने--अनिः, कस्य चः। विचर्षणिः पश्यतिकर्मा--निघ० ३ । ११ हे विविधं द्रष्टः। दूरदर्शिन् (उत्) ऊर्ध्वम् (घ) अवश्यम् (इत्) एव (श्रुतमघम्) प्रख्यातधनयुक्तम् (क्रतुविदम्) प्रज्ञाप्रापकम् अन्यद्गतम्--कं० १३ ॥

---

१. षुधातोर्लिटि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम् ॥ सम्पा० ॥

हन्तवे शूर शत्रूनुक्थेभिष्टे वीर्या३ प्र ब्रवाम––ऋग्० १०। ११२। १॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य्य वाले पुरुष] (प्रतिकामम्) इच्छानुसार (सुतस्य) निचोड़े हुये (तत्त्वरस] का (पिब) तू पान कर, (प्रातःसावः) प्रातःसवन का हवि (तव हि) तेरा ही (पूर्वपीतिः) प्रथम पान है। (शूर) हे शूर ! (शत्रून् हन्तवे) शत्रुओं के मारने को (हर्षस्व) प्रसन्न हो, (उक्थेभिः) स्तोत्रों से (ते वीर्या) तेरे वीर कर्मों को (प्र ब्रवाम) हम कहें॥

२––आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोम पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम––ऋग्० ८। १७। १॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (आ याहि) तू आ, (ते हि) तेरे लिये ही (सोमम्) सोम [तत्त्वरस] (सुषुम) हमने निचोड़ा है, (इमं पिब) इसको पी, (मम) मेरे (इदं बर्हिः) इस वृद्धिकारक व्यवहार में (आ सदः) बैठ॥

३––आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप। पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः अथर्व० २०। ४। १, ऋग्० ८। १७। ४॥ [हे इन्द्र राजन् !] (अस्माकं सुष्टुतीः) हमारी सुन्दर स्तुतियों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (सुतवतः) उत्तम पुत्रादि [सन्तानों] वाले (नः) हम लोगों को (आ याहि) आकर प्राप्त हो। (शिप्रिन्) हे दृढ़ जावड़े वाले (अन्धसः) इस अन्न रस का (सु) भले प्रकार (पिब) पान कर॥

४––अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः। प्र सोम इन्द्र सर्पतु––अथर्व० २०। ५। १, ऋ० ८। १७। ७॥ (विचर्षणे) हे दूरदर्शी (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अयम् उ) यह ही (अभि) सब प्रकार (संवृतः) यथा विधि स्वीकार किया हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस], (जनीः इव) कुछ स्त्रियों के समान, (त्वा) तुझको (प्र सर्पतु) अच्छे प्रकार प्राप्त होवे॥

५––उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य––अथर्व० २०। ७। १, ऋग्० ८। ९३। १, [सायणभाष्य]। साम० पू० २। ४। १॥ (सूर्य) हे सूर्य ! [सर्वव्यापक वा सर्वप्रेरक परमेश्वर] (श्रुतमघम्) विख्यात धन वाले, (वृषभम्) बलवान्, (नर्यापसम्) मनुष्यों के हितकारी कर्म वाले, (अस्तारम् अभि) शत्रुओं के गिराने वाले पुरुष को (इत्) ही (घ) निश्चय करके (उद् एषि) तू उदय होता है॥

६––इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम्––अथर्व० २०। ६। २, तथा २०। ७। ४॥ (पुरुष्टुत) हे बहुतों से बड़ाई किये गये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (क्रतुविदम्) बुद्धि प्राप्त कराने वाले (ततृपिम्) तृप्त कराने वाले, (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [महौषधियों के रस] की (हर्य) इच्छा कर (पिब) पी (आ) और (वृषस्व)बलवान् हो॥

कण्डिका १५॥

इन्द्राग्नी अब्रवीत्, [1]युवान्न इमं यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरतमच्छावाकीयाम्। तथेत्यब्रूताम्। तौ सयुजौ सबलौ भूत्वा प्रासहा मृत्युमत्यैताम्। तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनु-

१. पू. सं. "युवम्" इति पाठः॥ सम्पा०॥

समाहरतामच्छावाकीयाम् । तस्मादच्छावाकः प्रातःसवन ऐन्द्राग्नानि शंसति । तौ ह्यस्यैतद्यज्ञस्याङ्गमनुसमाहरताम् । यद्वेवैन्द्राग्नानि शंसति, प्रातर्य्यावभिरागतन्देवेभिर्जेन्यावसू । इन्द्राग्नी सोमपीतय इति, ऋचाभ्यनूक्तम् । इन्द्राग्नी आगतन्तोशा वृत्रहणा हुव इति, अच्छावाकस्य स्तोत्रियानुरूपौ । इन्द्राग्नी अपसस्परीत्युक्थमुखम् । इहेन्द्राग्नी उपह्वय इति पर्य्यासः । इन्द्राग्नी आगतमिति, यजति । एते एव तद्देवते यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्यानुवषट् करोति । प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति न ह्यनाराशꣳसाः सीदन्ति ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ प्रातःसवन में अच्छावाक द्वारा इन्द्र और अग्नि की स्तुति ॥

(इन्द्राग्नी अब्रवीत्, युवां नः यज्ञस्य इमम् अङ्गम् अच्छावाकीयाम् अनुसमाहरतम्) वह [यजमान] इन्द्र और अग्नि [वायु और बिजुली के समान अध्यापक और उपदेशक दोनों] के विषय में [ब्रह्मा और होता से] बोला—तुम दोनों हमारे यज्ञ के इस अङ्ग को अच्छावाक वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त करो । (तथा इति अब्रूताम्) ऐसा ही हो—वे दोनों [ब्रह्मा और होता] बोले । (तौ सयुजौ सबलौ प्रासहा भूत्वा मृत्युम् अति ऐताम्) [और] वे दोनों [इन्द्र और अग्नि] समान योग [मेल] वाले, समान बल वाले और विजयी होकर मृत्यु को लांघ कर चले हैं, (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गम् अच्छावाकीयाम् अनुसमाहरताम्) उन दोनों ने ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को अच्छावाक वाली [स्तुति] से अनुकूलता के साथ समाप्त किया है । (तस्मात् अच्छावाकः प्रातःसवने ऐन्द्राग्नानि शंसति) इसलिये अच्छावाक [ऋत्विज्] प्रातः सवन में इन्द्र और अग्नि वाले [स्तोत्र] बोलता है । (तौ हि अस्य यज्ञस्य एतत् अङ्गम् अनुसमाहरताम्) वे दोनों [इन्द्र और अग्नि] ही इस यज्ञ के इस अङ्ग को अनुकूलता से पूरा करें । (यत् उ एव ऐन्द्राग्नानि शंसति, प्रातर्यावभिरागतं देवेभिर्जेन्यावसू । इन्द्राग्नी सोमपीतये--इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) क्योंकि वह ही [अच्छावाक] इन्द्र और अग्नि वाले स्तोत्र [इस प्रकार] पढ़ता है—[प्रातर्यावभिरा...... ऋग्० ८ । ३८ । ७]—यह इस ऋचा करके अनुकूल कहा गया है । (इन्द्राग्नी आगतम्, तोशा बृत्रहणा हुवे इति अच्छावाकस्य स्तोत्रियानुरूपौ) हे इन्द्र और अग्नि ! तुम दोनों आओ—ऋ० ३ । १२ । १, सन्तुष्ट करने वाले शत्रुओं के मारने वाले दोनों को मैं बुलाता हूँ—ऋ० ३ । १२ । ४—यह अच्छावाक के स्तोत्र के अनुकूल दो [मन्त्र] हैं । (इन्द्राग्नी अपसस्परि—इति उक्थमुखम्) हे इन्द्र और अग्नि ! [वायु और बिजुली के समान सभापति और सेनापति दोनों] तुम्हारे कर्म के सब ओर—ऋ० ३ । १२ । ७—यह उक्थ यज्ञ का आरम्भ है । (इहेन्द्राग्नी उपह्वये, इति पर्य्यासः) यहाँ पर इन्द्र और अग्नि [वायु और

१५—(अच्छावाकीयाम्) अच्छावाकसम्बन्धिनीं स्तुतिम् (अच्छावाकः) ऋत्विग् विशेषः (प्रातर्यावभिः) गो० उ० २ । २० । प्रातर्गामिभिः (जेन्यावसू) गो० उ० २ । २० । जयशीलधनवन्तौ (सोमपीतये) अमृतरसपानाय (तोशा) तुष प्रीतौ तोषे च—घञ्, षस्य शः । विभक्तेराकारः । तोषौ । सन्तोषकौ (वृत्रहणा) शत्रुनाशकौ

अग्नि के समान सभापति और सेनापति दोनों] को समीप में बुलाता हूं—ऋ० १ । २१ । १ । यह अन्त है । (इन्द्राग्नी आगतम्—इति यजति) हे इन्द्र और अग्नि ! तुम दोनों आओ—ऋ० ३ । १२ । १ ।, इससे वह यज्ञ करता है । (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट् करोति) इन ही दोनों देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है, और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है । (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों की स्तुति रहित यज्ञ न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं बढ़ते हैं] ॥ १५ ॥

भावार्थः—कण्डिका १३ के समान है ॥ १५ ॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—(प्रातर्यावभिरागतं……ऋ० ८ । ३८ । ७) इस मन्त्र का अर्थ पृ० ३५२ में किया है, वहीं देखें ॥

२—इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता—ऋ० ३ । १२ । १ ॥ (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र और अग्नि ! [वायु और बिजुली के समान अध्यापक और उपदेशक दोनों] (गीर्भिः) वेदवाणियों के साथ (नभः) अन्तरिक्ष से (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य (सुतम्) पुत्र को (आ गतम्) प्राप्त हो, और (धिया) श्रेष्ठ बुद्धि से (इषिता) ज्ञान देने वाले दोनों (अस्य) इस [पुत्र] की (पातम्) रक्षा करो ॥

३—तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता । इन्द्राग्नी वाजसातमा—ऋ० ३ । १२ । ४ ॥ (तोशा) सन्तुष्ट करने वाले, (वृत्रहणा) शत्रुओं के मारने वाले, (सजित्वाना) विजयी वीरों सहित रहने वाले, (अपराजिता) नहीं हराये गये (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि [सूर्य और बिजुली के समान सभापति और सेनापति दोनों] को (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥

४—इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्र यन्ति धीतयः । ऋतस्य पथ्या३ अनु—ऋ० ३ । १२ । ७ ॥ (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र और अग्नि [वायु और बिजुली के समान सभापति और सेनापति दोनों] (धीतयः) [हमारे] कर्म (अपसः परि) [तुम्हारे] कर्म के सब ओर (ऋतस्य) सत्य नियम के (पथ्याः अनु) बड़े मार्गों से (उप प्र यन्ति) समीप में अच्छे प्रकार चलते हैं ॥

५—इहेन्द्राग्नी उपह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि । ता सोमं सोमपातमा—ऋ० १ । २१ । १ ॥ (इह) इहां पर (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि [वायु और अग्नि के समान सभापति और सेनापति दोनों] को (उप ह्वये) समीप में बुलाता हूं, (तयोः इत्) उन दोनों की ही (स्तोमम्) गुण प्रशंसा (उश्मसि) हम चाहते हैं । (ता) वे दोनों (सोमम्)

(हुवे) आह्वयामि (अपसः) कर्मणः—निघ० २ । १ (परि) सर्वतः । अन्यद् गतम्—क० १३ ॥

उत्पन्न संसार में (सोमपातमा) अत्यन्त सोम [तत्त्व रस] के पीने वाले [अथवा अत्यन्त ऐश्वर्य के रक्षक] हैं ॥

६—इन्द्राग्नी आगतम्—ऊपर संख्या २ देखो ॥

कण्डिका १६ ॥

अथ शंसावोमिति, स्तोत्रियायानुरूपायोक्थमुखाय परिधानीयायै इति, चतुश्चतुराह्वयन्ते । चतस्रो वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ति । अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनामाप्त्यै अथो चतुष्पर्वाणो हि प्रातःसवने होत्रकाः । तस्माच्चतुःसर्वे गायत्राणि शंसन्ति । गायत्रं हि प्रातःसवनं सर्वे समवतीभिः परिदधति । तद्यत् समवतीभिः परिदधति, अन्तो वै पर्यासोऽन्त उदर्कः, अन्तेनैवान्तं परिदधति । सर्वे मद्वतीभिर्यजन्ति, तद्यत् मद्वतीभिर्यजन्ति । सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिरभिरूपाभिर्यजन्ति । यद्यज्ञेऽभिरूपं, तत्समृद्धम् । सर्वेऽनुवषट् कुर्वन्ति, स्विष्टकृत्त्वा अनुवषट्कारो नेत् स्विष्टकृतमन्तरयामेति । अयं वै लोकः प्रातःसवनम् । तस्य पञ्च दिशः पञ्चोक्थानि । प्रातःसवनस्य स एतैः पञ्चभिरुक्थैरेताः पञ्च दिश आप्नोत्येताः पञ्च दिश आप्नोति ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ प्रातःसवन में (शंसावोम्) मन्त्र को चार चार बार बोलें ॥

(अथ शंसावोम् इति, स्तोत्रियाय अनुरूपाय उक्थमुखाय परिधानीयायै इति चतुः चतुः आह्वयन्ते) फिर (शंसाव ओम्) हम दोनों स्तुति करें, हां [क० १०]—इस मन्त्र से स्तोत्रिय [स्तुति योग्य व्यवहार] के लिये, अनुरूप [विषय की अनुकूलता] के लिये, उक्थमुख [यज्ञ की मुख्यता] के लिये और परिधानीया [समाप्ति क्रिया] के लिये—इस प्रकार चार चार बार वे बोलते हैं । (चतस्रः वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ति) चार ही दिशा हैं, दिशाओं में उससे वे [याजक] प्रतिष्ठा पाते हैं । (अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनाम् आप्त्यै) फिर चार पांव वाले पशु होते हैं, पशुओं की प्राप्ति के लिये [यह यज्ञ है] । (अथो प्रातः सवने चतुष्पर्वाणः हि होत्रकाः) फिर प्रातःसवन में चार प्रकार वाले ही सहायक होता लोग होते हैं । (तस्मात् चतुः सर्वे गायत्राणि शंसन्ति) इसलिये चार बार वे सब गायत्री [गाने योग्य] छन्द वाले स्तोत्रों को बोलते हैं । (गायत्रं हि प्रातःसवनं सर्वे समवतीभिः परिदधति, यत् तत् समवतीभिः परिदधति) गायत्री [गाने योग्य] छन्द वाले ही प्रातःसवन को वे सब समवती ऋचाओं से [सम शब्द वाली ऋचाओं से जैसे—समं ज्योतिः सूर्येण…… अथर्व०

१६—(शंसावोम्) क० १० (स्तोत्रियाय) स्तुतियोग्यव्यवहाराय (अनुरूपाय) विषयानुकूलत्वाय (उक्थमुखाय) यज्ञमुख्यतायै (परिधानीयायै) समाप्तिक्रियायै (प्रतितिष्ठन्ति) प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति (चतुष्पर्वाणः) स्नामदिपद्यर्तिपॄ० (उ० ४ । ११३ ।) पॄ पालनपूरणयोः—वनिप् । चतुरङ्गोपेतः (समवतीभिः) समशब्दयुक्ताभिः ऋग्भिः (उदर्कः) उत्+ऋच स्तुतौ—घञ् ।

४। १८। १, इत्यादि मन्त्रों से समाप्त करते हैं, क्योंकि वहां समवती ऋचाओं से वे समाप्त करते हैं। (अन्तः वै पर्यासः अन्तः उदर्कः, अन्तेन एव अन्तं परिदधति) अन्त ही पर्यास [विराम] है, अन्त ही उदर्क [अवसान वा विच्छेद अर्थात् रोक] है, अन्त के साथ ही अन्त को वे समाप्त करते हैं [एक एक विषय पर रुक कर दूसरे को आरम्भ करके पूरा करते हैं]। (सर्वे मद्वतीभिः यजन्ति, यत् तत् मद्वतीभिः यजन्ति) वे सब मद्वती [मद् शब्द वाली] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं [याज्या ऋचा बोलते हैं], क्योंकि वहाँ मद्वती ऋचाओं से वे यज्ञ करते हैं। (सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिः अभिरूपाभिः यजन्ति) वे सब सुतवती [सुत शब्द वाली] ऋचाओं से, पीतवती [पीत शब्द वाली] ऋचाओं से और अभिरूप [विषय के अनुकूल] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं। [मद्वती, सुतवती और पीतवती ऋचाओं के लिये देखो आगे ऋग्० १। १६। ८। और बहुवचन शब्द होने से ब्राह्मण में समस्त इस नौ ऋचा वाले सूक्त का ग्रहण अभीष्ट है। अभिरूप शब्द से यह प्रयोजन है कि अभीष्ट देवता की स्तुति में उस देवता के सूचक पद आ जावें]। (यत् यज्ञे अभिरूपं, तत् समृद्धम्) जो यज्ञ में अनुकूल [विषय के अनुकूल कर्म] है, वह समृद्ध है। (सर्वे स्विष्टकृत्वा अनुवषट् कुर्वन्ति) सब स्विष्टकृत् मन्त्र [यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं········देखो—गो० उ० ३। १] पढ़कर अनुवषट् [समाप्ति सूचक पद] पढ़ते हैं। (अनुवषट्कारः स्विष्टकृतं नेत् अन्तरयाम इति) अनुवषट्कार स्विष्टकृत् मन्त्र को कभी भी बीच [व्यवधान] से नहीं लेता [स्विष्टकृत् के पीछे ही अनुवषट् होता है]। (अयं वै लोकः प्रातःसवनम्) यह ही लोक प्रातःसवन है। (तस्य पञ्च दिशः, प्रातः-सवनस्य पञ्च उक्थानि) उस [लोक] की पांच दिशायें [पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और एक ऊपर नीचे की दिशा] हैं और प्रातःसवन के पांच उक्थ [समवती, मद्वती, सुत-वती, पीतवती और अभिरूपा ऋचाओं वाले स्तोत्र] हैं। (सः एतैः पञ्चभिः उक्थैः एताः पञ्च दिशः आप्नोति, एताः पञ्च दिशः आप्नोति) वह [यजमान] इन पांच प्रकार वाले स्तोत्रों से इन पाँच दिशाओं को पाता है॥ १६॥

भावार्थः—देश और काल के विचार से जो कार्य किये जाते है, वे सब प्रकार सिद्ध होते हैं॥ १६॥

विशेषः १—इस कण्डिका को मिलाओ—गो०उ० ३। १, उ० ४। ४ उ० ४। १८ और ऐतरेय ब्राह्मण ३। १२॥

विशेषः २—पूर्वोक्त दो मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१—समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती। कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः—अथर्व० ४। १८। १॥ (ज्योतिः) ज्योति (सूर्येण समम्) सूर्य के साथ साथ और (रात्री) रात्रि (अह्ना समावती) दिन के साथ वर्तमान है, [ऐसे ही]

विरामः। अवसानम्। विच्छेदः (मद्वतीभिः) मद्शब्दयुक्ताभिः ऋग्भिः (परिदधति) समापयन्ति (सुतवतीभिः) सुतशब्दयुक्ताभिः ऋग्भिः (पीतवतीभिः) पीतशब्द-युक्ताभिः ऋग्भिः (अभिरूपाभिः) अनुकूलविषययुक्ताभिः ऋग्भिः (अन्तरयाम) आर्षरूपम्। अन्तर्याति। अन्तरेण गच्छति॥

मैं (सत्यम्) सत्य कर्म को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणोमि) करता हूं, (कृत्वरीः= कृत्वर्यः) कतरने वाली विपत्तियां (अरसाः) नीरस (सन्तु) हो जावें ॥

२—विश्वमित् सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति । वृत्रहा सोमपीतये—ऋग्० १।१६।८॥ (वृत्रहा) मेघ को प्राप्त होने वाला [वा हटाने वाला] (इन्द्रः) वायु (सोमपीतये) उत्तम उत्तम पदार्थों का रस पिलाने के लिये और (मदाय) आनन्द के लिये (इत्) ही (सवनम्) सुख के सिद्ध करने वाले (सुतम्) उत्पन्न हुये (विश्वम्) जगत् को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥

कण्डिका १७ ॥

घ्नन्ति वा एतत्सोमं, यदभिषुण्वन्ति । यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति, यद्दक्षिणा नीयन्ते । यज्ञं वा एतद्[1] दक्षयन्ति, तद्दक्षिणानां दक्षिणात्वम् । स्वर्गो वै लोको माध्यन्दिनं सवनम् । यन्माध्यन्दिने सवने दक्षिणा नीयन्ते, स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै । बहुदेयं सेतुं वा एतत् यजमानः संस्कुरुते स्वर्गस्य लोकस्याक्रान्त्यै प्रजाक्रान्त्यै । द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोत्यध्वर्युः, अस्याक्रान्तेनाक्रामयत्याग्नेय्याग्नीध्रीये, अन्तरिक्षं तेन । यन्माध्यन्दिने सवने दक्षिणा नीयन्ते, स्वर्ग एतेन लोके हिरण्यं हस्ते भवति । अथ नयति सत्यं वै हिरण्यं, सत्येनैवैनं तन्नयति । अग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदोऽन्तराग्नीध्रीयञ्च सदश्च । ता उदीचीरन्तराग्नीध्रीयञ्च सदश्च चात्वालञ्चोत्सृजन्ति । एतेन ह स्म वा अङ्गिरसः स्वर्गं लोकमायन् । ता वा एताः पन्थानमभिवहन्ति ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ माध्यन्दिन सवन में दक्षिणा दातव्य है ॥

(एतत् वै सोमं घ्नन्ति, यत् अभिषुण्वन्ति, यज्ञं वै एतत् घ्नन्ति) इस [प्रकार] से ही सोम [तत्वरस] को वे प्राप्त होते हैं जब [उसको] निचोड़ते हैं, यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण, दान के व्यवहार] को ही इससे वे प्राप्त होते हैं । (यत् दक्षिणाः नीयन्ते, यज्ञं वै एतद् दक्षयन्ति, तद् दक्षिणानां दक्षिणात्वम्) जो दक्षिणायें दी जाती हैं, यज्ञ को ही यह [दक्षिणायें] अच्छे प्रकार चलाती हैं, यह ही दक्षिणाओं का दक्षिणापन है । (स्वर्गः लोकः वै माध्यन्दिनं सवनम्) स्वर्ग लोक ही माध्यन्दिन सवन है । (यत् माध्यन्दिने सवने दक्षिणाः नीयन्ते, स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै) जो माध्यन्दिन सवन में दक्षिणायें दी जाती हैं, स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये [वे हैं] । (बहुदेयं सेतुं वै एतत् यजमानः स्वर्गस्य लोकस्य आक्रान्त्यै प्रजाक्रान्त्यै संस्कुरुते) बहुमूल्य सेतु [जल तरण बन्ध] को ही इससे यजमान स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये और प्रजा

१७—(घ्नन्ति) हन हिंसागत्योः । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति । मारयन्ति (अभिषुण्वन्ति) अभिषवेण पीडनेन प्राप्नुवन्ति (नीयन्ते) दीयन्ते (दक्षयन्ति) दक्ष गतौ—णिच् । सम्यक् प्रापयन्ति (बहुदेयम्) बहुमूल्यम् (सेतुम्) जलतरणसाधनम् (आक्रान्त्यै) प्राप्तये (अस्य) इमं यजमानम् (आक्रामयति) प्रापयति

---

१. पू. सं. "सन्नक्षियन्ति" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

की प्राप्ति के लिये बनाता है। (द्वाभ्यां गार्हपत्ये अध्वर्युः जुहोति, अस्य आक्रान्तेन तेन आग्नेय्या आग्नीध्रीये अन्तरिक्षम् आक्रामयति) दोनों [स्वर्ग और प्रजा] के लिये गार्हपत्य [अग्नि] में अध्वर्यु हवन करता है, और इस [यजमान] को प्राप्त हुये उस [कर्म] से आग्नेयी [अग्नि देवता वाली ऋचा] से आग्नीध्रीय [अग्नि प्रकाशक व्यवहार] के बीच अन्तरिक्ष [मध्य लोक] में पहुँचाता है। (यत् माध्यन्दिने सवने दक्षिणाः नीयन्ते, एतेन स्वर्गे लोके हिरण्यं हस्ते भवति) जो माध्यन्दिन सवन में दक्षिणायें दी जाती हैं, इससे स्वर्ग लोक के बीच सुवर्ण [यजमान के] हाथ में होता है। (अथ सत्यं वै हिरण्यं नयति, सत्येन एव एनं तत् नयति, अग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदः, आग्नीध्रीयं च सदः च अन्तरा) फिर सत्य ही सुवर्ण पहुँचाता है, सत्य से ही इस [यजमान] को वह [सुवर्ण] ले चलता है, [अर्थात्] पहिले [सत्य] से गार्हपत्य यज्ञ में और दूसरे [सुवर्ण] से सद [सभा] में [पहुँचाता] है, [और फिर] आग्नीध्रीय [अग्नि प्रकाश स्थान] और सभा के बीच [वह पहुँचाता है]। (ताः उदीचीः आग्नीध्रीयं च सदः च अन्तरा चात्वालम् उत्सृजन्ति) उन उत्तर दिशाओं में आग्नीध्रीय और सभा के बीच चात्वाल [यज्ञ कुण्ड] वे [होता लोग] बनाते हैं। (एतेन ह स्म वै अङ्गिरसः स्वर्गं लोकम् आयन्) इस [व्यवहार] से ही निश्चय करके अङ्गिराओं [वेदवेत्ता लोगों] ने स्वर्ग लोक [सुख स्थान] पाया है। (ताः वै एताः पन्थानम् अभिवहन्ति) वे ही यह [दक्षिणायें] मार्ग चलाती हैं॥ १७॥

भावार्थः—क्रमानुसार कार्य करने से मनुष्य उन्नति करते हैं॥ १७॥

कण्डिका १८॥

आग्नीध्रेऽग्रे ददाति। यज्ञमुखं वा अग्नीत्, यज्ञमुखेनैव तद्यज्ञमुखं समर्धयति। ब्रह्मणे ददाति। प्राजापत्यो वै ब्रह्मा, प्रजापतिमेव तेन प्रीणाति। ऋत्विग्भ्यो ददाति, होत्रा एव तया प्रीणाति। सदस्येभ्यो ददाति, सोम[1]पीथंस्तया निष्क्रीणीते। न हि तस्मा अर्हति सोम[1]पीथं तया निष्क्रीणीयात्। यां शुश्रूषव आर्षेयाय ददाति, देवलोके तयार्ध्नोति। यामशुश्रूषवेऽनार्षेयाय ददाति, मनुष्यलोके तयार्ध्नोति। यामं प्रसृप्ताय ददाति, वनस्पतयस्तया प्रथन्ते। यां याचमानाय ददाति, भ्रातृव्यन्तया जिन्वीते। यां भीषाक्षत्रं, तया ब्रह्मातीयात्। यां प्रतिनुदन्ते सा व्याघ्री दक्षिणा। यस्तां पुनः प्रतिगृह्णीयात्, व्याघ्रो ह्येनं भूत्वा प्रव्लीनीयात्। अन्यया सह प्रतिगृह्णीयात्, अथ हैनन्न प्रव्लीनाति॥ १८॥

(आग्नेय्या) अग्निदेवताकया ऋचा (आग्नीध्रीये) आग्नीध्र—छः। आग्नीध्रस्य अग्निप्रकाशकस्य व्यवहारे गृहे वा (जघनेन) जघन्येन। अधमेन। द्वितीयेन—इत्यर्थः (अन्तरा) मध्ये (चात्वालम्) स्थाचतिमृजेरालज्वालजालीयचः (उ० १। ११६) चते याचने—वालच्। यज्ञकुण्डम् (अङ्गिरसः) वेदवेत्तारः (आयन्) प्राप्तवन्तः॥

---

१. पू. सं. 'सोमपीथः' इति पाठः॥ सम्पा०॥

कण्डिका १८ ॥ दक्षिणापात्र, लोगों का क्रम ॥

(आग्नीध्रे अग्रे ददाति) आग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक ऋत्विज्] को पहिले वह [यजमान दक्षिणा] देता है। (अग्नीत् वै यज्ञमुखं यज्ञमुखेन एव तत् यज्ञमुखं समर्धयति) अग्नीत् [अग्नि प्रकाशक] यज्ञ का मुखिया है, यज्ञ के मुखिया द्वारा ही तब यज्ञ के मुख [आरम्भ] को वह समृद्ध [परिपूर्ण] करता है। (ब्रह्मणे ददाति) ब्रह्मा को देता है। (प्राजापत्यः वै ब्रह्मा, प्रजापतिम् एव तेन प्रीणाति) प्रजापति [परमेश्वर] देवता वाला ही ब्रह्मा है, प्रजापति को ही उससे [दान से] वह प्रसन्न करता है। (ऋत्विग्भ्यः ददाति, होत्राः एव तया प्रीणाति) ऋत्विजों को वह देता है, ऋत्विजों को ही उस [दक्षिणा] से वह प्रसन्न करता है। (सदस्येभ्यः ददाति, सोमपीथं तया निष्क्रीणीते) सदस्यों [दूसरे ऋत्विजों] को देता है, सोमपान [तत्त्वरस पीने] को उस [दक्षिणा] से वह मोल लेता है। (तस्मै सोमपीथं न हि अर्हति, तया निष्क्रीणीयात्) उस [पुरुष] के लिये सोमपान नहीं योग्य है, उस [दक्षिणा] से वह मोल लेवे। (यां शुश्रूषवे आर्षेयाय ददाति, तया देवलोके ऋध्नोति) जो [दक्षिणा] सेवा करने वाले वेदवेत्ता को देता है, उससे देवलोक [विद्वानों के समाज] में वह बढ़ता है। (याम् अशुश्रूषवे अनार्षेयाय ददाति, तया मनुष्यलोके ऋध्नोति) जो [दक्षिणा] सेवा करने वाले से भिन्न और वेद जानने वाले से भिन्न पुरुष को देता है, इससे मनुष्य लोक में वह बढ़ता है। (यामं [यां] प्रसृप्ताय ददाति, वनस्पतयः तया प्रथन्ते) जो [दक्षिणा] प्रसृप्त [विस्तृत सामान्य अधिकारी विशेष] को देता है, वनस्पतियां उससे फैलती हैं। (यां याचमानाय ददाति, भ्रातृव्यं तया जिन्वीते) जो दक्षिणा मांगने वाले को देता है, वैरी को उससे वह प्रसन्न करता है [क्षमा देता है]। (यां भीषाक्षत्रं, तया ब्रह्म अति ईयात्) जो [दक्षिणा] भय के व्यवहार से रक्षा करने वाले को [वह देता है], उससे ब्रह्म [धन] को अत्यन्त करके वह पाता है। (यां प्रतिनुदन्ते सा दक्षिणा व्याघ्री) जिसको वे [ऋत्विज् लोग] लौटा देते हैं, वह दक्षिणा व्याघ्री [के समान भयानक] है। (यः तां पुनः प्रतिगृह्णीयात्, व्याघ्री हि भूत्वा एनं प्रव्लीनीयात्) जो [यजमान] उस [दक्षिणा] को फिर लौटा लेवे, वह

१८—(आग्नीध्रे) आग्नीध्राय। अग्निप्रकाशकाय (अग्नीत्) अग्निप्रज्वालकः (समर्धयति) सम्यग् वर्धयति (होत्राः) स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तः। ऋत्विग्विशेषान् (निष्क्रीणीते) मूल्येन गृह्णाति (शुश्रूषवे) सेवाशीलाय। उपासकाय (आर्षेयाय) ऋषि-ढक्, ऋषिर्वेदः। वेदज्ञाय (देवलोके) विदुषां समाजे (ऋध्नोति) वर्धते (अशुश्रूषवे) सेवकाद् भिन्नाय (अनार्षेयाय) वेदज्ञाद् भिन्नाय (यामं) याम् (प्रसृप्ताय) विस्तृताय पुरुषाय (जिन्वीते) जिवि प्रीणने, आर्षरूपम्। जिन्वति। प्रीणाति (भीषाक्षत्रम्) ञिभी भये-अङ्। टाप्, पुक् च + अक्षू व्याप्तौ-अच् + त्रैङ् पालने—कः। भीषायाः भयस्य अक्षाद् व्यवहाराद् रक्षकाय (ब्रह्म) धनम्—निघ० २। १०। (अति) अत्यन्तम् (ईयात्) प्राप्नुयात् (प्रतिनुदन्ते) प्रतिकूल

व्याघ्री ही होकर इसको दबा लेवे। (अन्यया सह प्रतिगृह्णीयात्, अथ ह एनं न प्रव्लीनाति) दूसरी [दक्षिणा] के साथ वह [ऋत्विज् उसे] लौटा लेवे, फिर वह निश्चय करके इस [यजमान] को नहीं दबाती है॥ १८॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानों के यथायोग्य सत्कार से उन्नति, और सत्कार योग्य पुरुषों के अनादर से अवनति पाता है॥ १८॥

कण्डिका १९॥

यद् गां ददाति, वैश्वदेवी वै गौः, विश्वेषामेव तद्देवानां तेन प्रियं धामोपैति। यदजं ददाति, आग्नेयो वा अजः, अग्नेरेव तेन प्रियं धामोपैति। यदविं ददाति, आव्यन्तेनापजयति। यत् कृतान्नं ददाति, मांसन्तेन निष्क्रीणीते। यदनो वा रथो वा ददाति[1] शरीरन्तेन। यद्वासो ददाति, बृहस्पतिं तेन। यद्धिरण्यं ददाति, आयुस्तेन वर्षीयः कुरुते। यदश्वं ददाति, सौर्यो वा अश्वः, सूर्य्यस्यैव तेन प्रियं धामोपैति। अन्ततः प्रतिहर्त्रे देयम्। रौद्रो वै प्रतिहर्ता, रुद्रमेव तन्निरवजयति। यन्मध्यतः प्रतिहर्त्रे दद्यात्, मध्यतो रुद्रमन्ववयजेत्। स्वर्भानुर्वा आसुरिः सूर्य्यन्तमसाविध्यत्। तदत्रिरपनुनोद। तदत्रिरन्वपश्यत्। यदात्रेयाय हिरण्यं ददाति, तम एव तेनापहते[2]। अथो ज्योतिरुपरिष्टाद्धारयति, स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै॥१९॥

कण्डिका १९॥ दक्षिणा में दातव्य पदार्थ और उनके गुण॥

(यत् गां ददाति, वैश्वदेवी वै गौः, तत् तेन विश्वेषाम् एव देवानां प्रियं धाम उपैति) जो वह गौ देता है, सब दिव्य गुण वाली ही गौ है, तब उस [दान] से सब ही दिव्य गुणों का प्रिय धाम [तेज] वह पाता है। (यत् अजं ददाति, आग्नेयः वै अजः, तेन अग्नेः एव प्रियं धाम उपैति) जो वह बकरा देता है, अग्नि के गुण वाला बकरा है, उससे अग्नि का ही प्रिय तेज पाता है। (यत् अविं ददाति. तेन आव्यम् अपजयति) जो वह मेंढ़ा देता है, उससे वह मेंढ़ा से उत्पन्न पदार्थ [ऊन आदि] पाता है। (यत् कृतान्नं ददाति, तेन मांसं निष्क्रीणीते) जो वह बनाया हुआ अन्न देता है उससे वह मांस [मनन साधक गुण] बढ़ाता है। (यत् अनः वा रथः वा ददाति, तेन शरीरम्) जो वह छकड़ा अथवा रथ [देता है], उससे वह शरीर [बढ़ाता है]। (यत्

प्रेरयन्ति (प्रतिगृह्णीयात्) प्रतिकूलं स्वीकुर्यात् (प्रव्लीनीयात्) प्र+व्ली वरणे आच्छादने। आच्छादयेत् (प्रव्लीनाति) आच्छादयति॥

१९—(गाम्) धेनुम् (वैश्वदेवी) सर्वदिव्यगुणयुक्ता (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (धाम) तेजः। स्थानम् (अजम्) अज गतिक्षेपणयोः—अच् छागम् (अविम्) अव रक्षणे—इन्। मेषम् (आव्यम्) अवि—ष्यञ्। अवेः मेषात् प्राप्तं पदार्थम् (मांसम्) मनेर्दीर्घश्च (उ० ३। ६४) मन ज्ञाने—सप्रत्ययो दीर्घश्च। मांसं माननं वा मानसं वा मनो अस्मिन् सीदतीति वा—निरु० ४। ३। मननसाधकं गुणम् (निष्क्रीणीते) मूल्येन गृह्णाति (अनः) शकटम् (रथः)

---

१. पू. सं. "ददाति" इति पाठो नास्ति॥ २. पू. सं. "अपहेत" इति पाठः॥ सम्पा०॥

वासः ददाति, तेन बृहस्पतिम्) जो वह वस्त्र देता है, उससे वह बृहस्पति [बड़े बड़ों के पालन करने वाले गुण, बढ़ाता है] । (**यत् हिरण्यं ददाति, तेन वर्षीयः आयुः कुरुते**) जो वह सुवर्ण देता है, उससे वह अति बड़ा जीवन करता है । (**यत् अश्वं ददाति, सौर्यः वै अश्वः, तेन सूर्यस्य एव प्रियं धाम उपैति**) जो वह घोड़ा देता है, सूर्य के गुण वाला [वेगवान्] ही घोड़ा है, उससे वह सूर्य का ही प्रिय तेज पाता है। (**अन्ततः प्रतिहर्त्रे देयम्**) अन्त में प्रतिहर्ता [द्वारपाल, ऋत्विज्] के लिये दान है। (**रौद्रः वै प्रतिहर्ता, तत् रुद्रम् एव निरवजयति**) उग्र स्वभाव वाला ही प्रतिहर्ता है, उससे वह उग्र स्वभाव को ही निकाल कर जीतता है । (**यत् मध्यतः प्रतिहर्त्रे दद्यात्, मध्यतः रुद्रम् अन्ववयजेत्**) जो वह बीच से प्रतिहर्ता को देवे, बीच से वह उग्र स्वभाव को सर्वथा निकाल देवे । (**आसुरिः वै स्वर्भानुः सूर्यं तमसा आविध्यत्**) आसुरि [मेघ से उत्पन्न], आकाश में दिखाई देने वाले [राहु अर्थात् अन्धकार] ने सूर्य को अन्धकार द्वारा छेद डाला । (**तत् अत्रिः अपनुनोद**) उसको अत्रि [नित्य ज्ञानी परमेश्वर] ने हटा दिया, (**तत् अत्रिः अन्वपश्यत्**) उसको अत्रि ने [नित्य ज्ञानी परमेश्वर ने वेद में] दिखा दिया है [देखो गो० पू० २ । १७] । (**यत् आत्रेयाय हिरण्यं ददाति तेन तमः एव अपहते**) जो वह आत्रेय [अत्रि, नित्य ज्ञानी परमेश्वर के मानने वाले ब्राह्मण] को सुवर्ण देता है, उससे वह अन्धकार ही हटाता है । (**अथो स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै ज्योतिः उपरिष्टात् धारयति**) फिर वह स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये ज्योति [अपने] ऊपर धारण करता है ॥ १९ ॥

भावार्थः—दानी पुरुष दान पदार्थों के गुण जानकर दानग्रहीता की योग्यता के अनुसार उनका दान करे ॥ १९ ॥

विशेषः—एकाह यज्ञ के प्रातःसवन का विषय कण्डिका १२ से चलकर अब कण्डिका १९ पर समाप्त हुआ ॥

कण्डिका २० ॥

अथात एकाहस्यैव माध्यन्दिनम् । ऋक् च वा इदमग्रे साम वास्तां, सैव नामर्गासीत्, अमो नाम साम, सा वा ऋक् सामोपावदत्, मिथुनं सम्भवाव

रथम् (**बृहस्पतिम्**) बृहतां महतां पालकं गुणम् (**वर्षीयः**) प्रियस्थिरस्फिरोरु० (पा० ६ । ४ । १५७) वृद्ध—ईयसुन् । अतिवृद्धम् । बहुदीर्घम् (**प्रतिहर्त्रे**) द्वारपालकाय । ऋत्विग्विशेषाय (**रौद्रः**) उग्रस्वभावयुक्तः (**रुद्रम्**) उग्रगुणम् (**अन्ववयजेत्**) अनु निरन्तरम् अवयजेत् । दूरं कुर्यात् (**स्वर्भानुः**) दाभाभ्यां नुः (उ० ३ । ३२) स्वः + भा दीप्तौ—नुः । स्वः, आकाशे भाति दीप्यते असौ । राहुः । अंधकारकर्ता (**आसुरिः**) अत इञ् (पा० ४ । १ । ९५) असुर—इञ् । असुरो मेघः—निघ० १ । १० । मेघोत्पन्नो ऽन्धकारः (**अत्रिः**) गो० पू० २ । १७ । सदा ज्ञानवान् परमात्मा (**अपनुनोद**) दूरीकृतवान् (**अन्वपश्यत्**) निरन्तरं दर्शितवान् वेदे (**आत्रेयाय**) अत्रेः सदा ज्ञानवतः परमेश्वरस्य सेवकाय (**अपहते**) ओहाक् त्यागे इत्यस्य रूपम् । अपत्यजति ।

प्रजात्या इति। नेत्यब्रवीत्साम, ज्यायान् वा अतो मम महिमेति। ते द्वे भूत्वोपावदताम्। ते न प्रतिवचनं समवदत। तास्तिस्रो भूत्वोपावदन्। यत् तिस्रो भूत्वोपावदन्, तत् तिसृभिः समभवत्। यत् तिसृभिः समभवत्, तस्मात्तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिरुद्गायन्ति, तिसृभिर्हि साम सम्मितं भवति। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, न हैकस्या बहवः सह पतयः। यद्वै तत्सा चामश्च समवदताम्, तत् सामाभवत्। तत् साम्नः सामत्वम्। सामन् भवति श्रेष्ठतां गच्छति। यो वै भवति, स सामन् भवति। असा[1]मन्य इति ह निन्दन्ते। ते वै पञ्चान्यद्भूत्वा पञ्चान्यद्भूत्वा कल्पेताम्, आहावश्च हिङ्कारश्च प्रस्तावश्च प्रथमा चोद्गीथश्च मध्यमा च प्रतिहारश्चोत्तमा च निधनञ्च वषट्कारश्च। ते यत् पञ्चान्यद्भूत्वा पञ्चान्यद्भूत्वा कल्पेतां, तस्मादाहुः, पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पशव इति। यदु विराजं दशनीमभिसम्पद्ये[2]तां तस्मादाहुर्विराजो यज्ञो दशन्यां प्रतिष्ठित इति। यदु बृहत्याः प्रतिपद्यते, बार्हतो वा एषः य एषस्तपति, तदेनं स्वेन रूपेण समर्धयति द्वे तिस्रः करोति। पुनरादाय प्रजात्यै रूपं, द्वाविवाग्रे भवतः। तत उपप्रजायते ॥ २० ॥

कण्डिका २० ॥ आख्यायिका के रूप में ऋक् और साम के सम्बन्ध का वर्णन ॥

(अथ अतः एकाहस्य एव माध्यन्दिनम्) अब यहां एकाह यज्ञ का माध्यन्दिन [सवन, कहा जाता है]। (इदम् अग्रे ऋक् च वै साम वा आस्ताम्) इससे पहिले ऋक् [स्तुति योग्य प्रकृति] और साम [मोक्षदाता ब्रह्म] यह दोनों थे। (सा एव नाम ऋक् आसीत्, अमः नाम साम) सा [साम शब्द का पहिला अक्षर सा का अर्थ लक्ष्मी है] नाम वाली ही ऋक् थी और अमः [साम शब्द का दूसरा अक्षर, अमः का अर्थ ज्ञान है] नाम वाला साम था। (सा वै ऋक् साम उपावदत्, मिथुनं प्रजात्यै सम्भवाव इति) सा [नाम वाली] ऋक् पास आकर साम से बोली—हम दोनों जोड़ा होकर सन्तान के लिये समर्थ होवें। (न इति, साम अब्रवीत्, मम महिमा अतः वै ज्यायान् इति) नहीं, साम बोला, मेरी महिमा इस [तेरी महिमा] से बहुत अधिक है। (ते द्वे भूत्वा उपावदताम्) [ऋक् दो हो गईं] वे [कारण और कार्य रूप प्रकृति] दोनों होकर पास आकर [साम से उसी प्रकार] बोलीं। (ते प्रतिवचनं न समवदत)

२०—(ऋक्) स्तुत्या वाणी। प्रकृतिः (सा) षो अन्तकर्मणि—डः टाप्। लक्ष्मीः। प्रकृतिः (अमः) अम गतौ भोजने च-असुन्। ज्ञानम् (सोम) मोक्षस्वरूपं ब्रह्म (मिथुनम्) यथा भवति तथा। मिथुनेन संयोगेन (संभवाव) समर्थौ भवताम् (प्रजात्यै) प्रजननाय (ज्यायान्) वृद्ध—ईयसुन्। वृद्धतरः (अतः) अस्मात्। ऋङ्महिम्नः सकाशात् (उपावदताम्) उपेत्य उक्तवत्यौ (ते) तयोः (प्रतिवचनम्) प्रत्युत्तरम् (समवदत्) समवादमङ्गीकारं कृतवान्

---

१. पू. सं. 'असामान्य' इति पाठः ॥ २. पू. सं. सम्पद्येयाताम् इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

उन दोनों का प्रत्युत्तर उस [साम] ने स्वीकार न किया। (ताः तिस्रः भूत्वा उपावदन्) [वह ऋक् तीन हो गईं] वे [सत्त्व रज तम रूप] तीनों होकर [साम से उसी प्रकार] बोलीं। (यत् तिस्रः भूत्वा उपावदन्, तत् तिसृभिः समभवत्) जो तीन होकर बोलीं, उससे उसने तीनों के साथ संयोग किया [सृष्टि करने का सामर्थ्य उनमें दिया]। (यत् तिसृभिः समभवत्, तस्मात् तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिः उद्गायन्ति, तिसृभिः हि साम सम्मितं भवति) जो उसने तीनों के साथ संयोग किया, इसलिये तीन [ऋचाओं] से वह स्तुति करते हैं और तीन से ही उद्गीथ [ऊंचा गान] करते हैं, और तीन से ही साम सम्मानित होता है। (तस्मात् एकस्य बह्व्यः जायाः भवन्ति, एकस्याः बहवः पतयः सह न ह) इसलिये एक पुरुष के बहुत पत्नियां होती हैं, और एक पत्नी के बहुत पति एक साथ नहीं होते [[1]यह वेद विरुद्ध है, आगे विशेष: २ देखो]। (यत् उ एतत् सा च अमः च समवदताम्, तत् साम अभवत्) जो ही इस प्रकार सा [ऋक् वा प्रकृति] और अमः [ज्ञान] दोनों संयुक्त हुये, वह साम [मोक्ष दाता ब्रह्म] हुआ। (तत् साम्नः सामत्वम्) वह ही साम [मोक्ष दाता ब्रह्म] का सामत्व [मोक्ष दातापन] है। (सामन् भवति श्रेष्ठतां गच्छति) जो [मनुष्य] साम [साम के समान सुखदायक] होता है, वह श्रेष्ठता पाता है। (यः वै भवति सः सामन् भवति) जो ही पदार्थ सत्ता वाला है वह साम [ब्रह्म के सामर्थ्य] में है। (असामन्यः इति ह निन्दन्ते) [जो ऐसा न माने] वह असामन्य = श्रेष्ठ नहीं है—इस प्रकार लोग निन्दा करते हैं। (ते वै पञ्च अन्यत् भूत्वा पञ्च अन्यत् भूत्वा कल्पेताम्) वे दोनों [कारण और कार्यरूप ऋक्] ही पांच एक प्रकार से [कारण रूप पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] होकर और पाँच दूसरे प्रकार से [कार्यरूप पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] होकर समर्थ होते हैं। (आहावः च हिङ्कारः च प्रस्तावः च प्रथमा च उद्गीथः च मध्यमा च प्रतिहारः च उत्तमा च निधनं च वषट्कारः च) [सो ही यज्ञ के दश अङ्ग हैं] आहाव [आवाहन मन्त्र] १, और हिङ्कार [हिं शब्द] २,

---

(समभवत्) समभवनं संयोगं कृतवान् (सम्मितम्) सम्मानितम् (सामन्) सामवेदेन मोक्षज्ञानेन (भवति) सत्तावान् अस्ति (असामन्यः) असाधारणः। असमदर्शी। पक्षपाती (अन्यत्) एकप्रकारेण। द्वितीयप्रकारेण (कल्पेताम्) समर्थे भवताम् (आहावः) आह्वानमन्त्रः (प्रस्तावः) प्रस्तोत्रा गातव्यः (उद्गीथः) उद्गात्रा गातव्यः (प्रतिहारः) प्रतिहर्त्रा गातव्यः (निधनम्) अन्ते

---

१. यहाँ पति साम है ऋक् पत्नी है। तीन ऋचाओं को संयुक्त कर साम-गान की प्रक्रिया होती है, अतः एक साम = पति की तीन ऋक् = पत्नियाँ हुईं। यह पति पत्नी का साम एवं ऋक् को आधार मान कर आलङ्कारिक वर्णन है। अतः "तस्मात् एकस्य बह्व्यः जायाः भवन्ति" वाक्य का अर्थ है—इसलिये एकस्य साम्नः पत्युः = एक साम पति के बहुत सी जायाः = ऋक् पत्नियाँ होती हैं परन्तु एक ऋक् से अनेक सामगान सम्पन्न नहीं होते अतः "बहवः पतयः सह न" कहा। इसमें कोई अवैदिकता नहीं, क्योंकि यहाँ साम, ऋक् की आलङ्कारिक चर्चा है न कि लौकिक पति पत्नी की ॥सम्पा०॥

और प्रस्ताव [प्रस्तोता का गान] ३, प्रथमा [पहिली ऋचा] ४, और उद्गीथ [उद्गाता का गान] ५, और मध्यमा [बीच वाली ऋचा] ६, और प्रतिहार [प्रतिहर्ता का गान] ७, और उत्तमा [सबसे पिछली ऋचा] ८, और निघन [अन्त में गान का भाग] ९, और वषट्कार [अन्तिम आहुति दान] १०, । (ते यत् पञ्च अन्यत् भूत्वा पञ्च अन्यत् भूत्वा कल्पेताम्, तस्मात् आहुः, पाङ्क्तः यज्ञः पाङ्क्ताः पशवः इति) जो वे दोनों [कारण और कार्यरूप ऋक्] पांच एक प्रकार से [कारण रूप पृथिवी जल तेज वायु आकाश] होकर और पांच दूसरे प्रकार से [कार्यरूप पृथिवी जल तेज वायु आकाश] होकर समर्थ होते हैं, इसलिये वे [ऋषि] कहते हैं—पाङ्क्त [पङ्क्ति अर्थात् विस्तार और गौरव वाला अथवा दस अवयव वाला] यज्ञ है और पाङ्क्त [दश अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय वाले] पशु [जीव] हैं । (यत् उ दशनीं विराजम् अभि सम्पद्येताम्, तस्मात् आहुः, दशन्यां विराजः यज्ञः प्रतिष्ठितः इति) और जो वे दोनों दशनी [दश अक्षर वाले] विराट् छन्द को लक्ष्य में करके [यज्ञ करने में] समर्थ होते हैं, इसलिये वे कहते हैं—दश अक्षर वाली विराट् में यज्ञ ठहरा हुआ है । (यत् उ बृहत्याः प्रतिपद्यते, बार्हतः वै एषः, यः एषः तपति, तत् एनं स्वेन रूपेण समर्धयति) जो वह [यज्ञ] बृहती छन्द से सिद्ध होता है, बृहती [वृद्धि] वाला ही यह है जो यह [यज्ञ] तपता है, इसलिये इस [यजमान] को अपने रूप से वह [यज्ञ] समृद्ध करता है । (द्वे तिस्रः करोति) वह [ब्रह्म] दो [कारण और कार्यरूप प्रकृति] को तीन [सत्त्व रज और तम रूप] करता है । (पुनः प्रजात्यै रूपम् आदाय द्वौ इव अग्रे भवतः) फिर संतान उत्पत्ति के लिये रूप ग्रहण करके दो ही पहिले होते हैं । (ततः उपप्रजायते) उससे वह [सन्तान] उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि कार्य और कारण का परस्पर सम्बन्ध विचार कर अपना कर्तव्य सिद्ध करें ॥ २० ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ३ । २३ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(तस्मात् एकस्य बह्व्यः जायाः भवन्ति, एकस्याः बहवः पतयः सह न ह) इसलिये एक पुरुष के बहुत पत्नियां होती हैं, और एक पत्नी के बहुत पति एक साथ नहीं होते—यह मत वेद विरुद्ध है । यहां ब्राह्मण में भी प्रकरण तीन का था बहुत का नहीं । वेद में एक पुरुष को एक पत्नी और एक पत्नी को एक पति एक समय में रखने का विधान है । वह ही मन्त्र, जो इस आख्यायिका का आधार जान पड़ता है लिखा जाता

गातव्यो भागः (पाङ्क्तः) पचि विस्तारे व्यक्तीकरणे च—क्तिन् । पङ्क्ति—अण् । पङ्क्त्या विस्तारेण गौरवेण वा युक्तः । अथवा पङ्क्तिः दशसंख्यायाम् । दशावयवोपेताः (पाङ्क्ताः) विस्तारयुक्ताः । दशेन्द्रिययुक्ताः (दशनीम्) लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः (पा० ५ । २ । १००) दश—नप्रत्ययो मत्वर्थीयः, ङीप् । दशिनीम् । दशाक्षरयुक्ताम् (अभि) अभिलक्ष्य (विराजः) विराजि (दशन्याम्) दशाक्षरायाम् (बृहत्याः) बृहतीच्छन्दसः (प्रतिपद्यते) सिध्यति (बार्हतः) बृहती—अण् । वृद्धियुक्तः (आदाय) गृहीत्वा ॥

है। यह मन्त्र कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में वधू वर के परस्पर प्रतिज्ञा करने में भी व्याख्यात है। मन्त्र में पद एक वचन और द्विवचन हैं॥ (अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् । ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै—अथर्व० १४ । २ । ७१) । [हे वधू !] (अहम्) मैं [वर] (अमः अस्मि) ज्ञानवान् हूँ, (सा त्वम्) सो तू [ज्ञानवती है], (अहम्) मैं (साम) सामवेद [मोक्षज्ञान के समान सुखदायक] (अस्मि) हूं, (त्वम्) तू (ऋक्) ऋग्वेद की ऋचा [पदार्थों के गुणों की बड़ाई बताने वाली विद्या के तुल्य आनन्द देने वाली] है, (अहम्) मैं (द्यौः) सूर्य [वृष्टि आदि करने वाले सूर्य के समान उपकारी] हूं, और (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी [अन्न आदि उत्पन्न करने वाली भूमि के समान उत्तम सन्तान उत्पन्न करने वाली] है। (तौ) वे हम दोनों (इह) यहां [गृहाश्रम में] (सं भवाव) पराक्रमी होवें, और (प्रजाम्) प्रजा [उत्तम सन्तान] को (आ जनयावहै) उत्पन्न करें॥

कण्डिका २१ ॥

आत्मा वै स्तोत्रियः, प्रजा अनुरूपः, पत्नी धाय्या, पशवः प्रगाथः, गृ[1]हाः सूक्तं, यदन्तरात्मन् तन्निवित्, प्रतिष्ठा परिधानीया, अन्नं याज्या। सोऽस्मिंश्च लोके भवत्यमुष्मिंश्च प्रजया च पशुभिश्च गृहेषु भवति, य एवं वेद ॥ २१ ॥

कण्डिका २१ ॥ स्तोत्रिय आदि यज्ञाङ्गों की आत्मा आदि से सामान्यता ॥

(आत्मा वै स्तोत्रियः) आत्मा [के समान] ही स्तोत्रिय [स्तुति विशेष] है, (प्रजाः अनुरूपः) प्रजायें अनुरूप [विषय के सदृश स्तोत्र] हैं, (पत्नी धाय्या) पत्नी धाय्या [स्तुति विशेष] है। (पशवः प्रगाथः) सब पशु प्रगाथ [स्तुति विशेष] हैं। (गृहाः सूक्तम्) सब घर सूक्त [अच्छे प्रकार कहा हुआ स्तोत्र] हैं, (यत् अन्तरात्मन्, तत् निवित्) जो अन्तरात्मा [अन्तःकरणवर्ती पराक्रम] है, वह निवित् [निश्चित विद्या, स्तुति विशेष] है, (प्रतिष्ठा परिधानीया) प्रतिष्ठा [ठहरने का स्थान] परिधानीया [सब ओर से धारण करने योग्य स्तुति विशेष] है, (अन्नं याज्या) अन्न [भोजनीय पदार्थ के तुल्य] याज्या [स्तुति विशेष] है। (सः अस्मिन् च अमुष्मिन् च लोके प्रजया च पशुभिः च गृहेषु भवति भवति, यः एवं वेद) वह पुरुष इस और उस लोक में प्रजा के साथ और पशुओं के साथ घरों में रहता है, रहता है, जो ऐसा जानता है॥ २१ ॥

२१—(अनुरूपः) विषयसदृशः स्तोमः (आत्मा) जीवः (अन्तरात्मन्) अन्तःकरणवर्ती पराक्रमः। सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः (निवित्) सत्सूद्विषद्रुहदुह० (पा० ३ । २ । ६१) नि+विद ज्ञाने—क्विप्। निवित्, वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । निश्चितविद्या। स्तुतिविशेषः ॥

---

१. पू. सं. 'ग्रहाः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को गुणों के अनुसार ही स्तुति करनी चाहिये ॥ २१ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ३ । २३ के अन्तिम भाग से मिलाओ ॥

विशेषः २—(ग्रहाः) शब्द के स्थान पर (गृहाः) पद ऐतरेय ब्राह्मण और गोपथब्राह्मण की अगली कण्डिका २२ से शुद्ध किया है ॥

कण्डिका २२ ॥

स्तोत्रियं शꣳसति । आत्मा वै स्तोत्रियः, स मध्यमया वाचा शंस्तव्य आत्मानमेवास्य तत् कल्पयति । अनुरूपं शंसति, प्रजा वा अनुरूपः, तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपं कुर्वन्ति । प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः । तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपं कुर्वन्ति । स उच्चैस्तरामिव शंस्तव्यः, प्रजामेवास्य तच्छ्रेयसीं करोति । धाय्यां शंसति, पत्नी वै धाय्या, सा नीचैस्तरामिव शंस्तव्याप्रतिवादिनी हैवास्य गृहेषु पत्नी भवति, यत्रैवं विद्वान् नीचैस्तराम् धाय्यां शंसति । प्रगाथं शंसति, पशवो वै प्रगाथः, स स्वरवत्या वाचा शंस्तव्यः । पशवो वै प्रगाथः, पशवः स्वरः, पशूनामाप्त्यै । सूक्तं शंसति । गृहा वै सूक्तं, प्रतिवीतं तद्, प्रतिवीततमया वाचा शंस्तव्यम् । स यद्यपि ह दूरात् पशूंल्लभते गृहानेवैनानाजिगमिषति । गृहा हि पशूनां प्रतिष्ठा । निविदं शंसति यदन्तरात्मन्, तन्निवित्, तदेवास्य तत् कल्पयति । परिधानीयां शंसति, प्रतिष्ठा वै परिधानीया, प्रतिष्ठाया एवैनमन्ततः प्रतिष्ठापयति । याज्यया यजति, अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यमेवास्य तत् कल्पयति । मूलं वा एतद्यज्ञस्य, यद्धाय्याश्च याज्याश्च । तद्यदन्नाः अन्नाद्धाय्याश्च याज्याश्च कुर्युः, उन्मूलमेव तद्यज्ञं कुर्युः । तस्मात्ताः सामान्या एव स्युः ॥ २२ ॥

कण्डिका २२ ॥ स्तोत्र इत्यादि यज्ञाङ्गों की आत्मा आदि से सदृशता का अधिक विवरण ॥

(स्तोत्रियं शंसति) वह [ऋत्विज्] स्तोत्रिय [स्तोत्र] बोलता है। (आत्मा वै स्तोत्रियः, सः मध्यमया वाचा शंस्तव्यः) आत्मा [जीव के तुल्य] ही स्तोत्रिय है, वह मध्यम [न ऊंची न नीची] वाणी से बोलना चाहिये, (अस्य आत्मानम् एव तत् कल्पयति) इस [यजमान] के आत्मा को ही वह समर्थ करता है। (अनुरूपं शंसति) वह अनुरूप [विषय सदृश स्तोत्र] बोलता है। (प्रजा वै अनुरूपः, तस्मात् प्रतिरूपम् अनुरूपं कुर्वन्ति) प्रजा [के तुल्य] ही अनुरूप है, इसलिये प्रतिरूप [समान विषय वाले स्तोत्र] को अनुरूप [अनुकूल वा योग्य स्तोत्र] वे करते हैं। (अस्य प्रजायाम् प्रतिरूपः ह एव आजायते, न अप्रतिरूपः) इस [यजमान] की प्रजा में [कुल आदि के] सदृश ही [सन्तान] उत्पन्न होता है, असदृश नहीं। (तस्मात् प्रतिरूपम् अनुरूपं कुर्वन्ति) इसलिये प्रतिरूप [समान विषय वाले स्तोत्र] को अनुरूप [अनुकूल

२२—(शंसति) पठति (अस्य) यजमानस्य (कल्पयति) समर्थं करोति (प्रतिरूपम्) सदृशम् । विषयसदृशतुल्यगुणम् (श्रेयसीम्) प्रशस्य—ईयसुन्,

था योग्य स्तोत्र] वे करते हैं । (सः उच्चैस्तराम् इव शंस्तव्यः) वह [अनुरूप] ऊंची ध्वनि से ही बोलना चाहिये । (अस्य प्रजाम् एव तत् श्रेयसीं करोति) इस [यजमान] की प्रजा को ही उसके द्वारा [यजमान से] अधिक श्रेष्ठ वह करता है। (धाय्यां शंसति) धाय्या [धारण योग्य स्तुति] को वह बोलता है । (पत्नी वै धाय्या) पत्नी [के समान] ही धाय्या है । (सा नीचैस्तराम् इव शंस्तव्या, गृहेषु अस्य पत्नी अप्रतिवादिनी ह एव भवति, यत्र एवं विद्वान् नीचैस्तरां धाय्यां शंसति) वह नीची ध्वनि से बोलनी चाहिये, घरों में इसकी पत्नी अकटुभाषिणी [प्रियवादिनी] ही होती है, जहां ऐसा विद्वान् नीची ध्वनि से धाय्या बोलता है । (प्रगाथं शंसति) वह प्रगाथ [गाने योग्य स्तोत्र] को बोलता है । (पशवः वै प्रगाथः) पशुओं [के तुल्य] ही प्रगाथ है। (सः स्वरवत्या वाचा शंस्तव्यः) वह [प्रगाथ] अच्छे स्वर वाली वाणी से बोलना चाहिये । (पशवः वै प्रगाथः पशवः स्वरः, पशूनाम् आप्त्यै) पशुओं [के तुल्य] ही प्रगाथ है, पशुओं [के तुल्य] ही स्वर है [पशु चार पांव वाले होते हैं और अनुदात्त, अनुदात्ततर, उदात्त और स्वरित, चार स्वर हैं], पशुओं की प्राप्ति के लिये [वह बोला जाता है]। (सूक्तं शंसति) वह सूक्त [अच्छा कहा हुआ स्तोत्र] बोलता है । (गृहाः वै प्रतिवीतं सूक्तं, तत् प्रतिवीततमया वाचा शंस्तव्यम्) घरों के समान ही अभीष्ट सूक्त है, वह अत्यन्त अभीष्ट वाणी से बोलना चाहिये । (सः यद्यपि ह दूरात् पशून् लभते, गृहान् एव एनान् आजिगमिषति) वह [कोई पुरुष] जब ही दूर से पशुओं को [चरते हुये] पाता है, घरों को ही उन्हें लाना चाहता है । (गृहाः हि पशूनां प्रतिष्ठा) क्योंकि घर ही पशुओं की प्रतिष्ठा [ठहरने का स्थान] हैं । (निविदं शंसति) निवित् [निश्चित विद्या वाली स्तुति] वह बोलता है । (यत् अन्तरात्मन्, तत् निवित्, तत् एव अस्य तत् कल्पयति) जो अन्तरात्मा [अन्तःकरण में वर्तमान पराक्रम] है, वह निवित् है, उससे ही इस [यजमान] के उस [अन्तरात्मा] को समर्थ करता है। (परिधानीयां शंसति) वह परिधानीया [स्तुति] बोलता है । (प्रतिष्ठा वै परिधानीया, प्रतिष्ठायै एव एनम् अन्ततः प्रतिष्ठापयति) प्रतिष्ठा [ठहरने के स्थान के समान अथवा गौरव के समान] परिधानीया है, प्रतिष्ठा के लिये ही इस [यजमान] को अन्त में वह स्थापित करता है । (याज्यया यजति) याज्या [यज्ञ योग्य स्तुति] से वह यज्ञ करता है । (अन्नं वै याज्या अस्य अन्नाद्यम् एव तत् कल्पयति) अन्न ही याज्या [स्तुति] है, इस [यजमान] के खाने योग्य अन्न को ही उससे वह समर्थ करता है । (यज्ञस्य एतत् वै मूलम्, यत् धाय्याः च याज्याः च) यज्ञ का यह ही मूल है, जो धाय्यायें और याज्यायें हैं । (तत् यत् अन्नाः, अन्नात् धाय्याः च याज्याः च कुर्युः) जो वे अन्न वाली हैं, अन्न के लिये धाय्याओं और याज्याओं को वे [याजक]

ङीप् । उत्तमतराम् (शंस्तव्या) पठितव्या (अप्रतिवादिनी) पत्युः प्रतिकूलं वदतीति प्रतिवादिनी तद्विपर्य्ययेण । अकटुभाषिणी । प्रियभाषिणी (प्रतिवीतम्) प्रति + वी गतिव्याप्तिकान्त्यादिषु—क्तः । अभीष्टम् । अतिप्रियम् (प्रतिवीततमया) अभीष्टतमया (लभते) प्राप्नोति (आजिगमिषति) आ + गमेः—सनि रूपम् । आनेतुमिच्छति (यद्यपि) यदा हि (प्रतिष्ठा) स्थितिस्थानम् (अन्नाः)

करें । (तत् यज्ञम् उन्मूलम् एव कुर्युः) [जो वे अन्यथा करें] उस यज्ञ को ही वे निर्मूल कर दें । (तस्मात् ताः सामान्याः एव स्युः) इसलिये वे [धाय्यायें और याज्यायें] सामान्य [सब यज्ञों में समान] ही होवें ॥ २२ ॥

भावार्थः— जैसे यज्ञ में उत्तम स्वर से अवसर के अनुसार स्तुति की जाती है, वैसे ही मनुष्यों को सब स्थानों में मनोहर वाणी से अवसर के अनुकूल बोलना चाहिये ॥ २२ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ३ । २४ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(शंस्तव्या प्रतिवादिनी) के स्थान पर (शंस्तव्याप्रतिवादिनी = शंस्तव्या—अप्रतिवादिनी) ऐतरेय ब्राह्मण से ठीक किया है ।

कण्डिका २३ ॥

तदाहुः, किंदेवत्यो यज्ञ इति । ऐन्द्र इति ब्रूयात्, ऐन्द्रे वाव यज्ञे सति यथाभागमन्या देवता न्ववायन् । ता प्रातःसवने मरुत्वतीये तृतीयसवने च । अथ हैतत् केवलमेवेन्द्रस्य, यदूर्ध्वं मरुत्वतीयात् । तस्मात् सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति । यदेव निष्केवल्यानि, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेव निष्केवल्यानि, एकं ह वा अग्रे सवनमासीत् प्रातःसवनमेव । अथ हैतं प्रजापतिरिन्द्राय ज्येष्ठाय पुत्रायैतत् सवनं निरमिमत, यत् माध्यन्दिनं सवनम् । तस्मात् माध्यन्दिने सवने सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति । यदेव निष्केवल्यानि, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेव निष्केवल्यानि, या ह वै देवताः प्रातःसवने होता शंसति, ताः शस्त्वा होत्राशंसिनोऽनुशंसन्ति । मैत्रावरुणं तृचं प्रउगे होता शंसति तदुभयं मैत्रावरुणम्, मैत्रावरुणं मैत्रावरुणोऽनुशंसति । ऐन्द्रं तृचं प्रउगे होता शंसति, तदुभयमैन्द्रम् । ऐन्द्रं ब्राह्मणाच्छंस्यनुशंसति, ऐन्द्राग्नं तृचं प्रउगे होता शंसति तदुभयमैन्द्राग्नम् । ऐन्द्राग्नमच्छावाकोऽनुशंसति । अथ हैतत् केवलमेवेन्द्रस्य, यदूर्ध्वं मरुत्वतीयात् । तस्मात् सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति । यदेव निष्केवल्यानि, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेव निष्केवल्यानि, यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्येति ऋचाभ्यनूक्तम् । देवान् ह यज्ञन्तन्वा[1]नान् असुररक्षांस्यजिघांसन् । तेऽब्रुवन्, वामदेवं त्वं न इमं यज्ञं दक्षिणतो गोपायेति, मध्यतो वसिष्ठं, उत्तरतो भरद्वाजं, सर्वाननु विश्वामित्रम् । तस्मात् मैत्रावरुणो वामदेवान्न प्रच्यवते, वसिष्ठाद् ब्राह्मणाच्छंसी, भरद्वाजादच्छावाकः, सर्वे विश्वामित्रात् । एत एवास्मै तदृषयोऽहरहर्नमर्गा अप्रमत्ता यज्ञं रक्षन्ति, य एवं वेद य एवं वेद ॥ २३ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणोत्तरभागे तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

अन्न—अर्शआद्यच् । अन्नवत्यः (अन्नात्) अन्नाय (उन्मूलम्) उन्मूलितम् । उत्पाटितम् (सामान्याः) साधारणाः ॥

---

१. पू. सं. 'तन्वानाः' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका २३ ॥ माध्यन्दिन सवन के देवता इन्द्र की महिमा ॥

(तत् आहुः, किंदेवत्यः यज्ञः इति) फिर वे [ऋषि] कहते हैं—कौन देवता वाला यज्ञ है । (ऐन्द्रः, इति ब्रूयात्, ऐन्द्रे वाव यज्ञे सति यथाभागम् अन्याः देवताः नुअवायन्) इन्द्र देवता वाला है- ऐसा वह कहे, इन्द्र देवता वाले ही यज्ञ होने पर अपने अपने भाग के अनुसार दूसरे देवता अवश्य आते हैं । (ताः प्रातःसवने मरुत्वतीये तृतीयसवने च) वे [देवता] प्रातःसवन, मरुत्वतीय [माध्यन्दिन सवन] और तृतीय सवन में [आते हैं] । (अथ ह इन्द्रस्य एव एतत् केवलं यत् मरुत्वतीयात् ऊर्ध्वम्) फिर यह इन्द्र का ही केवल [सेवनीय स्वरूप] है, जो मरुत्वतीय [यज्ञ] से ऊपर है । (तस्मात् सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति) इसलिये सब [याजक] निष्केवल्य [केवल इन्द्र के स्तोत्रों] को बोलते हैं । (यत् एव निष्केवल्यानि, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्, यत् उ एव निष्केवल्यानि) जो ही निष्केवल्य [स्तोत्र] हैं, वह स्वर्गलोक का रूप है, क्योंकि यही निष्केवल्य [केवल इन्द्र के स्तोत्र] हैं । (अग्रे ह वै एकं सवनं प्रातःसवनम् एव आसीत्) पहिले निश्चय करके एक सवन प्रातःसवन ही था । (अथ ह प्रजापतिः एतं [=एतस्मै] ज्येष्ठाय पुत्राय इन्द्राय एतत् सवनं निरमिमत, यत् माध्यंदिनं सवनम्) फिर प्रजापति परमेश्वर ने सबसे बड़े पुत्र इस इन्द्र [परम ऐश्वर्य्यवान् पुरुष] के लिये यह सवन बनाया, जो माध्यन्दिन सवन है । (तस्मात् माध्यन्दिने सवने सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति) इसलिये माध्यन्दिन सवन में सब [याजक] निष्केवल्य [स्तोत्रों] को बोलते हैं [अर्थात् इन्द्र के ही स्तोत्र बोलते हैं] । (यत् एव निष्केवल्यानि तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्, यत् उ एव निष्केवल्यानि) जो ही निष्केवल्य [स्तोत्र] हैं, वह स्वर्ग लोक का रूप है, क्योंकि यही निष्केवल्य [केवल इन्द्र के स्तोत्र] हैं । (याः ह वै देवताः प्रातःसवने होता शंसति, ताः शस्त्वा होत्राशंसिनः अनुशंसन्ति) जिन ही देवताओं को प्रातःसवन में होता बुलाता है, उनको स्तुति करके होत्राशंसी [वेदवाणी से स्तुति करने वाले ऋत्विज्] पीछे से बुलाते हैं । (मैत्रावरुणं तृचं प्रउगे होता शंसति, मैत्रावरुणं मैत्रावरुणः अनुशंसति, तत् उभयं मैत्रावरुणम्) मैत्रावरुण [मित्र और वरुण देवता वाले] तृच [तीन मंत्रों के समूह] को प्रउग यज्ञ में होता बोलता है, मैत्रावरुण स्तोत्र को मैत्रावरुण [ऋत्विज्] पीछे से बोलता है, वह दोनों [होता और मैत्रावरुण ऋत्विज् का स्तोत्र] मित्र और वरुण देवता वाला है । (ऐन्द्रं तृचं प्रउगे होता शंसति, ऐन्द्रं ब्राह्मणाच्छंसी अनुशंसति, तत् उभयम् ऐन्द्रम्) इन्द्र देवता वाले तृच को प्रउग यज्ञ में होता बोलता है, इन्द्र देवता वाले [तृच] को

२३—(निष्केवल्यानि) वृषादिभ्यश्चित् (उ० १ । १०६) निः+केवृ सेवने—कलच्, ततो यत् । निरन्तरस्वरूपयुक्तानि । इन्द्रस्तोत्राणि (होत्राशंसिनः) होत्रा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणीभाषिणः (अनु) पश्चात् (अदेवीः) विदुषां विरुद्धाः । आसुरीः (असहिष्ट) अभ्यभूत् (मायाः) छलकपटक्रियाः (अथ) अनन्तरमेव (केवलः) सेवनीयः (सोमः) अमृतरसः । मोक्षानन्दः (अजिघांसन्) हन्तुमैच्छन् (वामदेवम्) उत्तमविद्वांसम् (वसिष्ठम्) अति-

ब्राह्मणाच्छंसी पीछे से बोलता है, वे दोनों [दोनों के स्तोत्र] इन्द्र देवता वाले हैं। (ऐन्द्राग्नं तृचं प्रउगे होता शंसति, ऐन्द्राग्नम् अच्छावाकः अनुशंसति, तत् उभयम् ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र और अग्नि देवता वाले तृच को प्रउग यज्ञ में होता बोलता है और इन्द्र और अग्नि देवता वाले [तृच] को अच्छावाक पीछे से बोलता है, वह दोनों [दोनों का स्तोत्र] इन्द्र और अग्नि देवता वाला है। (अथ ह एतत् केवलम् एव इन्द्रस्य यत् मरुत्वतीयात् ऊर्द्ध्वम्) फिर यह इन्द्र का ही केवल [सेवनीय स्वरूप] है, जो मरुत्वतीय [यज्ञ] से ऊपर है। (तस्मात् सर्वे निष्केवल्यानि शंसन्ति) इसलिये सब [याजक] निष्केवल्य [केवल इन्द्र के स्तोत्रों] को बोलते हैं। (यत् एव निष्केवल्यानि तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपं, यत् उ एव निष्केवल्यानि) जो ही निष्केवल्य [स्तोत्र] हैं, वह स्वर्ग लोक का रूप है, क्योंकि यह ही निष्केवल्य [केवल इन्द्र के स्तोत्र] हैं। (यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य—इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) (यदा इत्) जब ही (अदेवीः) विद्वानों के विरुद्ध [आसुरी] (मायाः) मायाओं [छल कपट क्रियाओं] को (असहिष्ट) उसने जीत लिया, (अथ) तब ही (सोमः) सोम [अमृत रस अर्थात् मोक्षसुख] (अस्य) उस [पुरुषार्थी] का (केवलः) सेवनीय (अभवत्) हुआ है [अथ० २०। ८७। ५ पाद ३, ४]—इस ऋचा करके अनुकूल कहा गया है। (यज्ञं तन्वानान् देवान् असुररक्षांसि अजिघांसन्) यज्ञ को फैलाते हुए देवताओं को असुर राक्षसों ने मारना चाहा। (वामदेवम् अब्रुवन्, त्वं दक्षिणतः नः इमं यज्ञं गोपाय इति, वसिष्ठम् मध्यतः, भरद्वाजम् उत्तरतः, अनु विश्वामित्रं सर्वान्) वे वामदेव [उत्तम विद्वान्] से बोले—तू दक्षिण से हमारे इस यज्ञ की रक्षा कर, वसिष्ठ से [अति श्रेष्ठ पुरुष से, वे बोले]—बीच से [रक्षा कर], भरद्वाज से [अन्न वा ज्ञान धारण करने वाले पुरुष से बोले]—उत्तर से [रक्षा कर] और पीछे से विश्वामित्र से [सबके मित्र पुरुष से बोले]—सबों की [सब यज्ञों की] [रक्षा कर]। (तस्मात् मैत्रावरुणः वामदेवात् न प्रच्यवते, ब्राह्मणाच्छंसी वसिष्ठात्, अच्छावाकः भरद्वाजात्, सर्वे विश्वामित्रात्) इसलिये मित्र और वरुण देवता वाला ऋत्विज् वामदेव [श्रेष्ठ विद्वान्] से नहीं बढ़ कर जाता है, ब्राह्मणाच्छंसी [वेद से स्तुति करने वाला ऋत्विज्] वसिष्ठ [अति श्रेष्ठ पुरुष] से, अच्छावाक [अच्छा उच्चारण करने वाला ऋत्विज्] भरद्वाज [बहुत अन्न वा ज्ञान रखने वाले पुरुष] से, और सब [ऋत्विज्] विश्वामित्र से [सबके मित्र पुरुष से नहीं बढ़ कर जाते हैं अर्थात् सब समान ऋत्विज् हैं]। (अस्मै एव तत् एते ऋषयः अहरहः नमर्गाः अप्रमत्ताः यज्ञं रक्षन्ति, यः एवं वेद यः एवं वेद) उस पुरुष के लिये ही तब यह ऋषि लोग दिन दिन न मरते हुये [अमर] और अप्रमत्त [भूल चूक बिना] होकर

श्रेष्ठं पुरुषम् (भरद्वाजम्) अन्नस्य ज्ञानस्य वा धर्तारम् (विश्वामित्रम्) सर्वस्य मित्रम् (न) निषेधे (प्रच्यवते) च्युङ् गतौ। प्रकर्षेण गच्छति (नमर्गाः) गन् गम्यद्योः (उ० १। १२३) नञ् + मृङ् प्राणत्यागे—गन्। अमर्गाः। अमृताः (अप्रमत्ताः) प्रमादरहिताः॥

यज्ञ की रक्षा करते हैं जो पुरुष ऐसा जानता है जो पुरुष ऐसा जानता है [द्विर्वचन प्रपाठक की समाप्ति बताता है] ॥ २३ ॥

भावार्थ:—जैसे यज्ञ में एक इन्द्र की स्तुति करने से अन्य देवताओं की स्तुति हो जाती है, वैसे ही एक श्रेष्ठ महाप्रतापी पुरुष की बड़ाई में उसके साथियों की बड़ाई हो जाती है ॥ २३ ॥

विशेष:—ऊपर प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित पूरा लिखा जाता है—

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार । यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवल: सोमो अस्य—अथ० २० । ८७ । ५, ऋ० ७ । ९८ । ५ ॥ (**इन्द्रस्य**) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (**प्रथमा**) पहिले और (**नूतना**) नवीन (**कृतानि**) कर्मों को, (**या**) जो (**मघवा**) उस महाधनी ने (**चकार**) किये हैं, (**प्र प्र वाचम्**) बहुत अच्छे प्रकार मैं कहूं । (**यदा इत्**) जब ही (**अदेवी:**) अदेवी [विद्वानों के विरुद्ध, आसुरी] (**माया:**) मायाओं [छल कपट क्रियाओं] को (**असहिष्ट**) उसने जीत लिया है, (**अथ**) तब ही (**सोम:**) सोम [अमृत रस अर्थात् मोक्ष सुख] (**अस्य**) उस [पुरुषार्थी] का (**केवल: अभवत्**) सेवनीय हुआ है ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज-प्रथितमहागुणमहिम-*श्रीसयाजीराव-गायकवाड़ाधिष्ठित* बड़ोदेपुरीगत श्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्य उत्तरभागे द्वितीय: प्रपाठक: समाप्त: ॥

अयं प्रपाठक: प्रयागनगरे माघमासे कृष्णतृतीयायां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आश्विन कृष्णा ७ संवत् १९८१ वि० ता० २० सेप्टेम्बर सन् १९२४ ई० ॥

अथ चतुर्थ: प्रपाठक:

कण्डिका १ ॥

ओम् । कया नश्चित्र आ भुवत्, कया त्वं न ऊत्येति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ । कस्तमिन्द्र त्वावसुमिति बार्हत: प्रगाथ: । तस्योपरिष्टाद् ब्राह्मणम् । सद्यो ह जातो वृषभ: कनीन इति उक्थमुखम् । एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्रेति पर्य्यास: । उशन्नु षु ण: सुमना उपाक इति यजति । एतामेव तद्देवतां यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्यानुवषट् करोति । प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति, न ह्यनाराशंसा: सीदन्ति ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ एकाह यज्ञ के माध्यन्दिन सवन में मैत्रावरुण के मन्त्र प्रयोग ॥

(ओम्। कया नश्चित्र आ भुवत्. कया त्वं न ऊत्या—इति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ) कया नश्चित्र आ भुवत्......, और कया त्वं न ऊत्या..... यह दो मन्त्र मैत्रावरुण [ऋत्विज्] के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं। (कस्तमिन्द्र त्वावसुम्, इति बार्हतः प्रगाथः) कस्तमिन्द्र त्वावसुम्......यह मन्त्र बृहती छन्द वाला प्रगाथ [अच्छे प्रकार गाने योग्य स्तोत्र] है। (तस्य उपरिष्टात् ब्राह्मणम्) उसके ऊपर यह [आगे वाला मन्त्र] ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है। (सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः. इति उक्थमुखम्) सद्यो ह जातः वृषभः कनीनः...यह मन्त्र उक्थ [स्तोत्र] का आरम्भ है। (एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र—इति पर्य्यासः) एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र...यह मन्त्र [उक्थ का] पर्य्यास [विराम] है। (उशन्नु षु णः सुमना उपाके,—इति यजति) उशन्नु षु णः सुमना उपाके...इस मन्त्र से वह यज्ञ करता है [याज्या आहुति देता है]। (एताम् एव देवतां तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट् करोति) इस ही देवता को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है, और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों की स्तुति के बिना [यज्ञ यजमान को] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते हैं। देखो गो० उ० ३। १५]॥ १॥

भावार्थः—समय के अनुकूल यथावत् स्तुति होनी चाहिये ॥ १॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१—कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता—अथर्व २०। १२४। १, ऋक् ४। ३१। १, यजु० २७। ३९ तथा साम० उ० १। १। १२॥ (चित्रः) विचित्र वा पूज्य और (सदावृधः) सदा बढ़ाने वाला [राजा] (नः) हमारी (कया) कमनीय वा सुख देने वाली [वा कौन सी] (ऊती) रक्षा से और (कया) कमनीय वा सुख देने वाली [वा कौन सी] (शचिष्ठया) अति उत्तम कर्म वा बुद्धि वाले (वृता) बर्ताव से (सखा) [हमारा] सखा (आ) ठीक ठीक (भुवत्) होवे॥

१—(कया) अन्येष्वपि दृश्यते (पा० ३। २। १०१) कमेः—डः, टाप्। कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा—निरु० १०। २० कमनीयया। सुखप्रदया। अथवा प्रश्नवाचकोऽस्ति (नः) अस्माकम् (चित्रः) अद्भुतः। पूज्यः (आ) समन्तात् (भुवत्) भवेत् (नः) अस्मान् (ऊत्या) रक्षया (त्वावसुम्) त्वया प्राप्तधनम् (कनीनः) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—ईनप्रत्ययः। दीप्तिमान् (उशन्) वश कान्तौ—शतृ। हे कामयमान (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (उपाके) समीपे॥

२—कया त्वं न ऊत्याऽभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर—ऋग्० ८ । ९३ [सायण भाष्य ८२] । १९, साम० उ० ७ । ३ । ७ ।। (वृषन्) हे बलवान् ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (कया) कमनीय वा सुखदायक (ऊत्या) रक्षा से (नः) हमें (अभि) सब ओर से (प्र मन्दसे) आनन्द देता है, (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (कया) कमनीय वा सुखदायक [रक्षा] से (आ भर) भरपूर कर ॥

३—कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति । श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति—ऋग्० ७ । ३२ । १४ ।। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (कः मर्त्यः) कौन मनुष्य (तम्) उस (त्वावसुम्) तुझसे पाये हुए धन वाले को (आ दधर्षति) तिरस्कार करता है । (मघवन्) हे महाधनी ! (ते) तेरे लिये (श्रद्धा इत्) श्रद्धा से ही (पार्ये दिवि) पालने योग्य व्यवहार में (वाजी) विज्ञानी पुरुष (वाजम्) विज्ञान को (सिषासति) बांटना चाहता है ॥

४—सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्र भर्त्तुमावदन्धसः सुतस्य । साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य—ऋग्० ३ । ४८ । १ ।। (सद्यः ह) शीघ्र ही (जातः) प्रकट हुये, (कनीनः) प्रकाशमान, (वृषभः) सुखों की वर्षा करने वाले [आप, हे इन्द्र राजन् !] (प्रभर्त्तुम्) अच्छे प्रकार पालन करने के लिये (सुतस्य अन्धसः) सिद्ध किये हुये अन्न की (आवत्) रक्षा करें । (रसाशिरः) रसों का खाने वाला तू (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामना में, (यथा ते) जैसे तेरे लिये हो, (साधोः) सिद्धि करने वाले (सोम्यस्य) सोम [ऐश्वर्य] में उत्पन्न रस का (प्रथमम्) पहिले (पिब) पान कर ॥

५—एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः । महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये—ऋग्० ४ । १९ । १ ।। (वज्रिन्) हे प्रशंसित शस्त्र अस्त्र वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अत्र एव) यहां पर ही (सुहवासः) अच्छे प्रकार पुकारने वाले (ऊमाः) रक्षा करने वाले (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोग, (उभे रोदसी) दोनों सूर्य और भूमि [के समान वर्तमान] (महाम्) महान् (वृद्धम्) वृद्ध [विद्यावृद्ध], (ऋष्वम्) श्रेष्ठ (एकम् इत्) अकेले ही (त्वाम्) तुझको (वृत्रहत्ये) शत्रुओं के नाश वाले संग्राम में (निः वृणते) निरन्तर चुन लेते हैं ॥

६—उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः । पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन—ऋग्० ४ । २० । ४ ।। (नः उ सु उशन्) हे हमको निश्चय करके अच्छे प्रकार चाहने वाले ! (स्वधावः) हे उत्तम अन्न वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाला तू (उपाके) समीप में (सुषुतस्य) अच्छे प्रकार निचोड़े गये (सोमस्य) सोम [ऐश्वर्य युक्त पदार्थ] की (नु) शीघ्र (पाः) रक्षा कर, और (प्रतिभृतस्य) प्रत्यक्ष पुष्ट किये हुये (मध्वः) मधु [उत्तम ज्ञान] के (पृष्ठ्येन) पीछे होने वाले सुख से (अन्धसा) अन्न के साथ (सं ममदः) अच्छे प्रकार आनन्द कर ॥

कण्डिका २ ॥

तं वो दस्ममृतीषहं तत्त्वा यामि सुवीर्य्यमिति ब्राह्मणाच्छंसिनः स्तोत्रियानुरूपौ । उदु त्ये मधुमत्तमा गिर इति बार्हतः प्रगाथः । पशवो वै प्रगाथः, पशवः स्वरः, पशूनामाप्त्यै । अतो मध्यं वै सर्वेषां छन्दसां बृहती, मध्यं माध्यन्दिनं सवनानां, तन्मध्येनैव मध्यं समर्द्धयति । इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैरित्युक्थमुखम् । उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येति पर्य्यासः । एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुमिति परिदधाति । वसिष्ठासो अभ्यर्चन्ति अर्कैरिति । अन्नं वा अर्कोऽन्नाद्यमेवास्मै तत्परिदधाति । स न स्तुतो वीरवद्धातु गोमदिति, प्रजाञ्चैवास्मै तत्पशूंश्चाशास्ते । यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न इति, स्वस्तिमती रूपसमृद्धा । एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं, यत् रूपसमृद्धम् । यत् कर्म्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति, स्वस्ति तस्य यज्ञस्य पारमश्नुते । य एवं वेद यश्चैवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी एतया परिदधाति । ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाडिति यजति । एतामेव तद्देवतां यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्यानुवषट्करोति । प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति, न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ एकाह यज्ञ के माध्यन्दिन सवन में ब्राह्मणाच्छंसी के मन्त्र प्रयोग ॥

(तं वो दस्ममृतीषहम्, तत् त्वा यामि सुवीर्यम्, इति ब्राह्मणाच्छंसिनः स्तोत्रियानुरूपौ) तं वो दस्ममृतीषहं······और तत् त्वा यामि सुवीर्यम्···यह दो मन्त्र ब्राह्मणाच्छंसी [ऋत्विज्] के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं। (उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः···इति बार्हतः प्रगाथः) उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः···यह मन्त्र बृहती छन्द वाला प्रगाथ [अच्छे प्रकार गाने योग्य स्तोत्र] है। (पशवः वै प्रगाथः, पशवः स्वरः पशूनाम् आप्त्यै) पशुओं [के तुल्य] ही प्रगाथ है, पशुओं [के तुल्य] ही स्वर है, पशुओं की प्राप्ति के लिये [वह बोला जाता है—देखो गो० उ० ३ । २२] । (अतः सर्वेषां छन्दसां मध्यं वै बृहती, सवनानां मध्यं माध्यंदिनम्, तत् मध्येन एव मध्यं समर्धयति) इसलिये कि सब छन्दों का मध्य ही बृहती है [गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती—इन सात छन्दों में बृहती मध्यम है], [तीनों] सवनों का मध्य माध्यन्दिन है, इसलिये मध्य से ही मध्य को वह सम्पन्न करता है। (इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैः···इति उक्थमुखम्) इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैः···यह मन्त्र उक्थ [स्तोत्र] का आरम्भ है। (उदु ब्रह्माण्यैरत

२—(तम्) प्रसिद्धम् (वः) युष्मदर्थम् (दस्मम्) इषियुधीन्धिदसि० (उ० १ । १४५) दस दर्शनसंदंशनयोः—मक् । दर्शनीयम् (ऋतीषहम्) सांहितको दीर्घः । ऋतयो बाधकाः शत्रवः, तेषामभिभवितारम् (तत्) तादृक् (त्वा) त्वाम् (यामि) याचामि—निरु० २ । १ । याचे (सुवीर्य्यम्) महद्वीरवत्वम् (उत्) ऊर्द्ध्वम् (उ) चार्थे (त्ये) ते (मधुमत्तमाः) अतिशयेन मधुराः

श्रवस्या...इति पर्यासः) उदु ब्रह्माण्यरत श्रवस्या...यह मन्त्र [उक्थ का] पर्यास [विराम] है। (एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्...इति परिदधाति) एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्.....[अथ० २०। १२। ६ पाद १] इससे परिधानीया स्तुति बोलता है। (वसिष्ठासो अभ्यर्चन्ति अर्कैः इति) वसिष्ठासो अभ्यर्चन्ति अर्कैः--[उसी मन्त्र का यह दूसरा पाद है]। (अन्नं वै अर्कः अन्नाद्यम् एव अस्मै तत् परिदधाति) अन्न ही अर्क है, खाने योग्य अन्न को ही इस [यजमान] के लिये उससे वह सब ओर धारण करता है। (स न स्तुतो वीरवद् धातु गोमत् इति प्रजां च पशून् च एव अस्मै तत् आशास्ते) स न स्तुतो वीरवद् धातु गोमत्,-यह [यह उसी का तीसरा पाद है] प्रजा को [वीरवत् शब्द से] और पशुओं को [गोमत् शब्द से] ही इस [यजमान] के लिये उससे वह आशा करता है। (यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः, इति स्वस्तिमती रूपसमृद्धा) यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः--[यह उसी का चौथा पाद है] यह स्वस्ति शब्द वाली स्तुति रूप से समृद्ध है। (एतत् वै यज्ञस्य समृद्धं यत् रूपसमृद्धम्) यह ही यज्ञ का समृद्ध कर्म है जो रूप से समृद्ध है। (यत् क्रियमाणं कर्म ऋग् यजुः वा अभिवदति, स्वस्ति तस्य यज्ञस्य पारम् अश्नुते, यः एवं वेद यः च एवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी एतया परिदधाति) जो किये जाते हुये कर्म को ऋग्वेद वा यजुर्वेद बतलाता है, [उसके अनुसार] स्वस्ति [आनन्द के साथ] उस [यजमान] के यज्ञ का पार [अन्त] वह [विद्वान्] पाता है जो ऐसा जानता है और जो ऐसा विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी इस [ऋचा] से परिधानीया स्तुति बोलता है। (ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्...इति यजति) ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्...इस मन्त्र से वह यज्ञ करता है [याज्या आहुति देता है]। (एताम् एव देवतां तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट् करोति) इस ही देवता को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते,

---

(गिरः) वाण्यः (पूर्भित्) शत्रूणां पुरां दुर्गाणां भेत्ता (आ अतिरत्) प्रावर्धयत् (दासम्) दासृ दाने—घञ्। सेवकम् (अर्कैः) अर्चनीयैर्मन्त्रैर्विचारैः। अन्नैः (उत् ऐरत) ईर गतौ—लङ्। ते विद्वांस उदीरितवन्तः। उच्चारितवन्तः। (उ) एव (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (श्रवस्या) श्रवस्—यत्। श्रवसे यशसे हितानि (एव) एवम् (इत) अपि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनापतिम् (वृषणम्) बलवन्तम् (वज्रबाहुम्) शस्त्रास्त्रपाणिम् (वसिष्ठासः) वसु—इष्ठन्, असुक्। अतिशयेन वसवः श्रेष्ठविद्वांसः (अभि) सर्वतः (अर्चन्ति) सत्कुर्वन्ति (नः) अस्मान् (स्तुतः) प्रशंसितः (वीरवत्) वीरैर्युक्तम् (धातु) दधातु (गोमत्) प्रशस्तधेनुभिर्युक्तं राज्यम् (आशास्ते) आकाङ्क्षते (पात) रक्षत (स्वस्तिभिः) सुखैः (स्वस्ति) स्वस्त्या। सुखेन (अश्नुते) प्राप्नोति (क्रियमाणम्) अनुष्ठीयमानम् (ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च (उ० ४। २८) अर्ज अर्जने--ईषन्, कित्, ऋजादेशश्च। ऋजीषं धनमस्यास्तीति—इनिः। महाधनी (वज्री) शस्त्रास्त्रभृत् (वृषभः) बलिष्ठः (तुराषाट्) तुर हिंसायाम्—क+षह अभिभवे—ण्विः, छान्दसो दीर्घः। तुराणां हिंसकशत्रूणामभिभविता॥

अनाराशंसा: न आप्यायन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों की स्तुति बिना [यज्ञ यजमान को] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते हैं । देखो क० १] ॥ २ ॥

भावार्थ:—कण्डिका १ के समान है ॥ २ ॥

विशेष:--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः । अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे—अथर्व० २० । ६ । १, ऋग्० ८ । ८८ । [सायण भाष्य ७७] । १, साम० उ० १ । १ । १३ ॥ [हे मनुष्यों !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतीषहम्) शत्रुओं के हराने वाले, (वसोः) धन से और (अन्धसः) अन्न से (मन्दानम्) आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (नवामहे) हम सराहते हैं, (न) जैसे (धेनवः) गौयें (स्वसरेषु) घरों में [वर्तमान] (वत्सम्) बछड़े को [हिङ्कारती हैं] ॥

२—तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये । येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ—अथर्व० २० । ६ । ३, ऋग्० ८ । ३ । ६ ॥ [हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझसे (तत्) वह (सुवीर्यम्) बड़ा वीरत्व और (तत्) वह (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (पूर्वचित्तये) पहिले ज्ञान के लिए (यामि) मैं माँगता हूँ । (येन) जिस [वीरत्व और अन्न] से (धने हिते) धन के स्थापित होने पर (यतिभ्यः) यतियों [यत्नशीलों] के लिए (भृगवे = भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को और (येन) जिससे (प्रस्कण्वम्) बड़े बुद्धिमान् पुरुष को (आविथ) तूने बचाया है ।

३—उदुत्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते । सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव—अथर्व० २० । १० । १, ऋ० ८ । ३ । १५, साम उ० ६ । १ । ६ ॥ (त्ये) वे (मधुमत्तमा) अति मधुर (स्तोमासः) स्तोत्र (उ) और (गिरः) वाणियाँ (उत् ईरते) ऊँची जाती हैं । (इव) जैसे (सत्राजितः सत्य से जीतने वाले, (धनसा) धन देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा वाले, (वाजयन्तः) बल प्रकट करते हुए (रथाः) रथ [आगे बढ़ते हैं] ॥

४—इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दय मानो वि शत्रून् । ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे—अथर्व० २० । ११ । १ । ऋ० ३ । ३४ । १ ॥ (विदद्वसुः) ज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त, (पूर्भित्) [शत्रुओं के] गढ़ों को तोड़ने वाले (शत्रून्) बैरियों को (वि) विविध प्रकार (दयमानः) मारते हुए (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (दासम्) दास [सेवक] को (आ अतिरत्) बढ़ाया है । (ब्रह्मजूतः) ब्रह्माओं [महाविद्वानों] से प्रेरणा किये गये (तन्वा) उपकार शक्ति से (वावृधानः) बढ़ते हुये, (भूरिदात्रः) बहुत से अस्त्र शस्त्र वाले [शूर] ने (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि को (आ) भले प्रकार (अपृणत्) तृप्त किया है ॥

५—उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ । आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि—अथर्व० २० । १२ । १, ऋग्वेद ७ । २३ । १ ॥ (श्रवस्था) यश के लिए हितकारी (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (उ) ही (उत् ऐरत) उन [विद्वानों] ने उच्चारण किया है, (वसिष्ठ) हे अति श्रेष्ठ ! (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (समर्ये) युद्ध में (महय) पूज । (यः) जिस (उप श्रोता) आदर से सुनने वाले [शूर] ने (ईवतः) उद्योगी (मे) मेरे (विश्वानि) सब (वचांसि) वचनों को (शवसा) बल के साथ (आ) अच्छे प्रकार (ततान) फैलाया है ॥

६—एवेदिन्द्रं वृषण वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः । स न स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः-अथर्व० २० । १२ । ६, ऋग्० ७ । २३ । ६ । यजु० २० । ५४ ॥ (एव इत्) इस प्रकार से ही (वसिष्ठासः) अत्यन्त वसु [श्रेष्ठ विद्वान् लोग] (वृषणम्) बलवान्, (वज्रबाहुम्) वज्र [शस्त्र अस्त्रों] को भुजा पर रखने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (अर्कैः) पूजनीय विचारों और अन्नों से (अभि अर्चन्ति) यथावत् पूजते हैं । (स्तुतः) स्तुति किया गया (सः) वह (नः) हमारे लिये (वीरवत्) वीरों से युक्त (गोमत्) उत्तम गौओं वाले [राज्य] को (धातु) धारण करे, [हे वीरों !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों से (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥

७—ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोम पावा । युक्त्वा हरिभ्यामुपयासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः—अथर्व० २० । १२ । ७ । ऋ० ५ । ४० । ४ ॥ (ऋजीषी) महाधनी, (वज्री) वज्रधारी [शस्त्र अस्त्रों वाला], (वृषभः) बलवान् (तुराषाट्) हिंसक शत्रुओं का हराने वाला, (शुष्मी) बलवान् सेना वाला, (राजा) राजा, (वृत्रहा) बैरियों का मारने वाला, (सोमपावा) सोम [महौषधियों के रस] का पीने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (हरिभ्याम्) दो घोड़ों से [रथ को] (युक्त्वा) जोत कर (अर्वाङ्) सामने (उपयासत्) आवे और (माध्यन्दिने) मध्याह्न में (सवने) यज्ञ के बीच (मत्सत्) आनन्द पावे ॥

कण्डिका ३ ॥

तरोभिर्वोविदद्वसुन्तरणिरित्सिषासतीति, अच्छावाकस्य स्तोत्रियानुरूपौ। उदिन्वस्य रिच्यत इति, बार्हतः प्रगाथः । तस्योक्तं ब्राह्मणम् । भूय इद्वावृधे वीर्य्यायेति उक्थमुखम् । इमामूषु प्रभृतिं सातये धा इति, पर्यासः । तस्य दशमीमुद्धरति। घोरस्य वा आङ्गिरसस्यैतदार्षं नेद्यज्ञं निर्दहेत् शस्यमानं पिबा वर्धस्व तव घा सुतास इति यजति । एतामेव तद्देवतां यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्यानुवषट् करोति । प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति, न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ एकाह यज्ञ के माध्यन्दिन सवन में अच्छावाक के मन्त्र प्रयोग ॥

(तरोभिर्वो विदद्वसुम्, तरणिरित् सिषासति, इति अच्छावाकस्य स्तोत्रियानु-

रूपौ) तरोभिर्वो विदद्वसुम्॰ और, तरणिरित् सिषासति॰॰॰, १, २ यह दो मन्त्र अच्छावाक ऋत्विज् के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं। (उदिन्न्वस्य रिच्यते॰॰॰इति वार्हतः प्रगाथः) उदिन्वस्य रिच्यते॰॰॰ ३ यह मन्त्र बृहती छन्द वाला प्रगाथ [अच्छे प्रकार गाने योग्य स्तोत्र] है। (तस्य उक्तं ब्राह्मणम्) उसका ही कहा गया ब्राह्मण है। (भूय इद् वावृधे वीर्याय इति उक्थमुखम्) भूय इद् वावृधे वीर्याय ४ यह मन्त्र उक्थ [स्तोत्र] का आरम्भ है। (इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः--इति पर्यासः) इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः,॰॰॰५ यह मन्त्र [उक्थ का] पर्यास [विराम] है। (तस्य दशमीम् उद्धरति) उस [सूक्त] की दसवीं ऋचा [अस्मे प्र यन्धि-६] को उठाकर पढ़ता है। (घोरस्य आङ्गिरसस्य वै एतत् आर्षं शस्यमानं नेत् यज्ञं निर्दहेत्) घोर आङ्गिरस का [ऋषि विशेष का व्याख्या किया हुआ] यह वेद मन्त्र [दसवीं ऋचा] बोलना चाहिये, नहीं तो वह यज्ञ को भस्म कर देवे। (पिबा वर्धस्व तव घा सुतासः, इति यजति) पिबा वर्धस्व तव घा सुतासः ७, इस मन्त्र से वह यज्ञ करता है [याज्या आहुति देता है]। (एताम् एव देवतां तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट्करोति) इस ही [इन्द्र] देवता को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों की स्तुति के विना [यज्ञ यजमान को] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते हैं। देखो क० १, २]॥ ३ ॥

भावार्थः—कण्डिका १ के समान है ॥ ३ ॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये। बृहद् गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्--ऋ० ८। ६६। १ [सायण भाष्य ५५]॥ [हे मनुष्यो !] (भरम्) पोषण करने वाले (कारिणं न) कर्म कुशल के समान (वः) तुम्हारे लिये (तरोभिः) शीघ्रता से (विदद्वसुम्) धन पाने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] को (बृहत्) वृद्धिकारक स्तोत्र (गायन्तः) गाते हुये, (सबाधः) बाधा में पड़े हुये हम (ऊतये) रक्षा के लिये (सुतसोमे) सिद्ध किये हुये सोम [तत्त्व रस] रखने वाले (अध्वरे) हिंसा रहित यज्ञ में (हुवे=आह्वयामः) बुलाते हैं ॥

३—(तरोभिः) वेगैः। बलैः--निघ० २। ९ (वः) युष्मदर्थम् (विदद्वसुम्) वेदयद्वसुम्। धनप्रापकम् (तरणिः) तारकः (इत्) एव (सिषासति) संभक्तुमिच्छति (उत्) आधिक्ये (नु) क्षिप्रम् (अस्य) राज्ञः (रिच्यते) अधिको भवति (भूयः) बहु—ईयसुन्। बहुतरम्। पुनः (वावृधे) वर्धते (वीर्याय) पराक्रमाय (उ) वितर्के (सु) शोभने (प्रभृतिम्) प्रकृष्टां धारणाम् (सातये) संविभागाय (धाः) दध्याः (उद्धरति) उद्धृत्य पठति (आर्षम्) ऋषिणा परमेश्वरेण प्रोक्तः। वेदमन्त्रः (नेत्) नैव (शस्यमानम्) कथ्यमानम् (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (घ) एव (सुतासः) निष्पन्नाः ॥

२—तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा । आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम्—ऋ० ७ । ३२ । २० ॥ (तरणिः इत्) तारने वाला पुरुष ही (युजा) योग्य, (पुरन्ध्या) बहुत अर्थों को धारण करने वाली बुद्धि से (वाजम्) विज्ञान वा धन को (सिषासति) बांटना चाहता है । (वः) तुम्हारे लिये (पुरुहूतम्) बहुतों से बुलाये गये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (गिरा) वाणी से (आ नमे) अच्छे प्रकार झुकता हूं, (तष्टा इव) जैसे बढ़ई (सुद्र्वम्) दृढ काठ वाले (नेमिम्) पहिये को झुकाता है ॥

३—उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः । य इन्द्रो हरिवान् न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि—अथर्व० २० । ५९ । ३, ऋ० ७ । ३२ । १२ ॥ (अस्य) उस [राजा] का (इत्) ही (अंशः) भाग (जिग्युषः) विजयी वीर के (धनं न) धन के समान (नु) शीघ्र (उत् रिच्यते) बढ़ाता जाता है, (यः) जो (हरिवान्) श्रेष्ठ मनुष्यों वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सोमिनि) तत्त्वरस वाले व्यवहार में (दक्षम्) बल को (दधाति) लगाता है, और (तम्) उस [राजा] को (रिपः) बैरी लोग (न दभन्ति) नहीं सताते हैं ॥

४—भूय इद् वावृधे वीर्यायँ एको अजुर्यो दयते वसूनि । प्ररिरिचे दिव इन्द्रः पृथिव्या अर्धमिदस्य प्रति रोदसी उभे—ऋ० ६ । ३० । १ ॥ (एकः) अकेला (अजुर्यः) न बूढ़ा होने वाला [महाबली राजा] (भूयः इत्) बहुत अधिक ही (वीर्याय) पराक्रम के लिये (वावृधे) बढ़ता है और (वसूनि दयते) अनेक धनों का दान करता है, [जैसे] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (दिवः) प्रकाश लोक से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (प्ररिरिचे) बहुत बड़ा है, (अस्य) उस [परमात्मा] का (अर्धम् इत्) आधा भाग ही (उभे रोदसी प्रति) दोनों अन्तरिक्ष और पृथिवी में है ॥

५—इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः शश्वच्छश्वदूतिभिर्यादमानः । सुतेसुते वावृधे वर्धनेभिर्यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्—ऋ० ३ । ३६ । १ ॥ [हे इन्द्र ! बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (शश्वच्छश्वत्) नित्य नित्य (ऊतिभिः) रक्षण क्रियाओं से (यादमानः) प्रयत्न करता हुआ तू (इमाम् उ प्रभृतिम्) इस ही पालन शक्ति को (सातये) बांटने के लिये (सु धाः) अच्छे प्रकार धारण कर । (यः) जो मनुष्य (सुतेसुते) प्रत्येक निचोड़े हुये [तत्त्वरस] में (वर्धनेभिः) बढ़ती करने वाले साधनों से (वावृधे) बढ़ा है, वह (महद्भिः कर्मभिः) महान् कर्मों से (सुश्रुतः) बड़ा विख्यात (भूत्) हुआ है ॥

६—अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः । अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्—ऋ० ३ । ३६ । १० ॥ (मघवन्) हे पूजनीय (ऋजीषिन्) महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अस्मे) हम को (विश्ववारस्य) सबसे स्वीकार करने योग्य (भूरेः) बहुत (रायः) धन का (प्र यन्धि) दान कर । (शिप्रिन्) हे सुन्दर नासिका और ठोढ़ी वाले (इन्द्र) इन्द्र ! (अस्मे) हमारे (शतं शरदः जीवसे) सौ वर्ष जीने को (अस्मे) हमारे लिये (शश्वतः)

सदा वर्तमान (वीरान्) वीरों को (धाः) धारण कर । [इस दसवें मन्त्र के घोर आङ्गिरस ऋषि और शेष सूक्त के विश्वामित्र ऋषि हैं] ॥

७—पिबा वर्धस्व तव घा सुतास इन्द्र सोमासः प्रथमा उतेमे । यथापिबः पूर्व्यां इन्द्र सोमाँ एवा पाहि पन्यो अद्या नवीयान्—ऋ० ३ । ३६ । ३ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (पिब वर्धस्व) पी और बढ़, (प्रथमाः) पहिले (उत इमे) और यह [अब] (सुतासः) निचोड़े हुये (सोमासः) सोमरस [ऐश्वर्य करने वाले सोमलता आदि तत्त्व रस] (तव घ) तेरे ही हैं । (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यथा) जैसे (पूर्व्यान्) पूर्व जनों के सिद्ध किये हुये (सोमान्) सोमों [तत्त्वरसों] को (अपिबः) तूने पिया है, (एव) वैसे ही (पन्यः) प्रशंसनीय और (नवीयान्) नवीनतर [अधिक बल वाला] तू (अद्य) आज (पाहि) [उनकी] रक्षा कर ॥

कण्डिका ४ ॥

अथाध्वर्य्यो शꣳसावोमिति, स्तोत्रियानुरूपाय प्रगाथायोक्थमुखाय परिधानीयाया इति पञ्चकृत्व आह्वयन्ते । पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः । सर्वे ऐन्द्राणि त्रैष्टुभानि शंसन्ति । ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनम् । सर्वे समवतीभिः परिदधति, तद्यत् समवतीभिः परिदधति । अन्तो वै पर्य्यासोऽन्त उदर्कः, अन्तेनैवान्तं परिदधति । सर्वे मद्वतीभिर्यजन्ति, तद्यत् मद्वतीभिर्यजन्ति । सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिरभिरूपाभिर्यजन्ति । यद्यज्ञेऽभिरूपं, तत् समृद्धम् । सर्वे ऽनुवषट् कुर्वन्ति, स्विष्टकृत्त्वा अनुवषट्कारो नेत् स्विष्टकृतमन्तरयामेति । अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनम् । तस्य पञ्च दिशः, पञ्चोक्थानि माध्यन्दिनस्य सवनस्य । स एतैः पञ्चभिरुक्थैरेताः पञ्च दिश आप्नोत्येताः पञ्च दिश आप्नोति ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ एकाह यज्ञ के माध्यन्दिन सवन में (शंसावोम्) मन्त्र को पांच बार बोलें ॥

(अथ अध्वर्य्यो शंसावोम् इति, स्तोत्रियाय, अनुरूपाय, प्रगाथाय, उक्थमुखाय, परिधानीयायै इति, पंचकृत्वः आह्वयन्ते) फिर (अध्वर्य्यो शंसाव ओम्) हे अध्वर्यो ! हम दोनों स्तुति करें, हां—इस मन्त्र से स्तोत्रिय [स्तुति योग्य व्यवहार] के लिये, अनुरूप [विषय की अनुकूलता] के लिये, प्रगाथ [उत्तम गान] के लिये, उक्थमुख [यज्ञ की मुख्यता] के लिये और परिधानीया [समाप्ति क्रिया] के लिये—इस प्रकार पांच बार वे बोलते हैं । (पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तः यज्ञः) पांच पाद वाला [अथवा पांच दिशाओं में व्यापक] पङ्क्ति [छन्द विशेष, अथवा विस्तार शक्ति प्रकृति] है, पङ्क्ति [विस्तार] वाला यज्ञ है । (सर्वे ऐन्द्राणि त्रैष्टुभानि शंसन्ति) सब ऋत्विज् इन्द्र देवता

४—(पञ्चकृत्वः) पञ्चवारम् (पङ्क्तिः) पचि विस्तारे व्यक्तीकरणे च—क्तिन् । विस्तारः । गौरवम् । छन्दविशेषः (पाङ्क्तः) गो० उ० ३ । २० । विस्तारयुक्तः । अन्यद् गतम्—गो० उ० ३ । १६ ॥

वाले और त्रिष्टुप् छन्द वाले स्तोत्रों को बोलते हैं। (ऐन्द्रं हि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्) क्योंकि इन्द्र देवता वाला और त्रिष्टुप् छन्द वाला माध्यन्दिन सवन है। (सर्वे समवतीभिः परिदधति, यत् तत् समवतीभिः परिदधति) वे सब समवती ऋचाओं से [सम शब्द वाली ऋचाओं से जैसे—समं ज्योतिः सूर्येण......अथर्व० ४। १८। १, इत्यादि मन्त्रों से] समाप्त करते हैं क्योंकि वहां समवती ऋचाओं से वे समाप्त करते हैं। (अन्तः वै पर्यासः अन्तः उदर्कः, अन्तेन एव अन्तं परिदधति) अन्त ही पर्यास [विराम] है, अन्त ही उदर्क [अवसान वा विच्छेद अर्थात् रोक] है, अन्त के साथ ही अन्त को वे समाप्त करते हैं [एक एक विषय पर रुक कर दूसरे को आरम्भ करके पूरा करते हैं]। (सर्वे मद्वतीभिः यजन्ति, यत् तत् मद्वतीभिः यजन्ति) वे सब मद्वती [मद शब्द वाली] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं [याज्या बोलते हैं], क्योंकि वहाँ मद्वती ऋचाओं से वे यज्ञ करते हैं। (सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिः अभिरूपाभिः यजन्ति) वे सब सुतवती [सुत शब्द वाली] ऋचाओं से, पीतवती [पीत शब्द वाली] ऋचाओं से और अभिरूप [विषय के अनुकूल] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं। [मद्वती, सुतवती और पीतवती ऋचाओं के लिये देखो ऋ० १। १६। ८। और बहुवचन होने से ब्राह्मण में समस्त इन नौ ऋचा वाले सूक्त का ग्रहण अभीष्ट है। अभिरूप शब्द से यह प्रयोजन है कि अभीष्ट देवता की स्तुति में उस देवता के सूचक पद आजावें]। (यत् यज्ञे अभिरूपं, तत् समृद्धम्) जो यज्ञ में विषय के अनुकूल कर्म है, वह समृद्ध [सफल] है। (सर्वे स्विष्टकृत्वा अनुवषट् कुर्वन्ति) सब स्विष्टकृत् मन्त्र [यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्...गो० उ० ३। १] पढ़कर अनुवषट् [समाप्ति सूचक पद] पढ़ते हैं। (अनुवषट्कारः स्विष्टकृतम् नेत् अन्तरयाम इति) अनुवषट्कार स्विष्टकृत् मन्त्र को कभी भी बीच [व्यवधान] से नहीं करता। (अन्तरिक्षलोकः माध्यन्दिनं सवनम्) अन्तरिक्षलोक ही माध्यन्दिन सवन है। (तस्य पञ्च दिशः, माध्यन्दिनस्य सवनस्य पञ्च उक्थानि) उस [लोक] की पांच दिशायें [पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और एक ऊपर नीचे की दिशा] हैं माध्यन्दिन सवन के पांच उक्थ [समवती, मद्वती, सुतवती, पीतवती और अभिरूपा ऋचाओं वाले स्तोत्र] हैं। (स एतैः पंचभिः उक्थैः एताः पंच दिशः आप्नोति, एताः पंच दिशः आप्नोति) वह [यजमान] इन पांच प्रकार वाले स्तोत्रों से इन पांच दिशाओं को पाता है इन पांच दिशाओं को पाता है [अर्थात् अवश्य पाता है]॥ ४॥

भावार्थ :—विद्वान् मनुष्य अपनी कर्मकुशलता से सब दिशाओं में सिद्धि पाता है॥ ४॥

विशेष :—इस कण्डिका को मिलाओ गो० उ० ३। १६। तथा गो० उ० ४। १८ और ऐतरेय ब्राह्मण ३। १२। और प्रतीक वाले मन्त्रों को गो० उ० ३। १६ टिप्पणी २ में देखो॥

कण्डिका ५॥

अथ यदौपासनं तृतीयसवन उपास्यन्ते पितॄनेव तेन प्रीणाति। उपांशु पात्नीवतस्याग्नीध्रो यजति, रेतो वै पात्नीवतः, उपांश्विव वै रेतः सिच्यते, तन्ना-

नुवषट्करोति, नेद्रेतः सिक्तं संस्थापयामीति, असंस्थितमिव वै रेतः सिक्तं समृद्धम्। संस्था वा एषा, यदनुवषट्कारः। तस्मान्नानुवषट् करोति। नेष्टुरुपस्थे धिष्ण्यान्ते वासीनो भक्षयति,[1] पत्नीभाजनं वै नेष्टा, अग्नीत् पत्नीषु रेतो धत्ते, रेतसः सिक्ताः प्रजाः प्रजायन्ते प्रजानां प्रजननाय। प्रजावान् प्रजनयिष्णुर्भवति प्रजात्यै। प्रजायते प्रजया पशुभिः, य एवं वेद ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ एकाह यज्ञ के तृतीय सवन में पात्नीवत स्तोत्र को आग्नीध्र का चुपके चुपके जपने का कारण ॥

(अथ यत् औपासनं तृतीयसवने उपास्यन्ते, पितॄन् एव तेन प्रीणाति) फिर जो उपासना वाले स्तोत्र को तीसरे सवन में वे [ऋत्विज् लोग] सेवन करते हैं, पितरों [पालन करने वाले विद्वानों] को ही उस से वह [यजमान] तृप्त करता है। (पात्नीवतस्य उपांशु आग्नीध्रः यजति) पात्नीवत [पत्नी शब्द वाले स्तोत्र] के उपांशु [शब्द बिना किये जप से] आग्नीध्र [अग्नि प्रकाशक ऋत्विज्] यज्ञ करता है। (रेतः वै पात्नीवतः, उपांशु इव वै रेतः सिच्यते, तत् न अनुवषट् करोति) वीर्य [के सामान] ही पात्नीवत [पत्नी शब्द वाला स्तोत्र] है, बिना शब्द किये [बिना घबराहट] ही वीर्य सींचा जाता है, इस लिये वह अनुवषट् नहीं करता। (सिक्तं रेतः नेत् संस्थापयामि इति, असंस्थितम् इव वै सिक्तं रेतः समृद्धम्) सींचते हुये वीर्य को मैं नहीं रोकता हूँ [ऐसा वह विचारता है], बिना रुका हुआ ही सींचा हुआ वीर्य सफल होता है। (संस्था वै एषा, यत् अनुवषट्कारः) यह रुकावट है जो अनुवषट्कार है। (तस्मात् न अनुवषट् करोति) इस लिये वह अनुवषट् नहीं करता है। (नेष्टुः उपस्थे धिष्ण्यान्ते वा आसीनः भक्षयति) नेष्टा [ऋत्विज्] के समीप अथवा धिष्ण्य [नाम वाली अग्नि] के समीप बैठा हुआ वह [आग्नीध्र] भोजन करता है। (पत्नीभाजनं वै नेष्टा, अग्नीत् पत्नीषु रेतः धत्ते) पत्नियों का स्थान ही नेष्टा है, अग्नीत् [अग्नि प्रज्वालन मन्त्र वा विचार] पत्नियों में वीर्य स्थापित करता है। (रेतसः सिक्ताः प्रजाः प्रजानां प्रजननाय प्रजायन्ते) वीर्य से सींचें हुये प्रजायें प्रजाओं की उत्पत्ति के लिये उत्पन्न होती हैं। (प्रजनयिष्णुः प्रजावान् प्रजात्यै भवति) सन्तान उत्पन्न करने वाला पुरुष सन्तानोत्पत्ति के लिये सन्तान वाला होता है। (प्रजया पशुभिः प्रजायते यः एवं वेद) सन्तान से और पशुओं से वह बढ़ता जो ऐसा जानता है ॥ ५ ॥

५—(औपासनम्) उपासना—अण्। उपासनायुक्तं स्तोत्रम् (उपास्यन्ते) आर्षं दिवादित्वम्। उपासते। सेवन्ते (उपांशु) निर्जने। निजश्रवणयोग्येन जपेन (पात्नीवतः) पत्नीवत्—अण्। पत्नीशब्देन युक्तं स्तोत्रम् (रेतः) वीर्यम् (नेत्) नैव (संस्थापयामि) संस्थितं करोमि। निरुणध्मि (असंस्थितम्) अनुपरतम् (समृद्धम्) सफलम् (संस्था) स्थितिः। निवृत्तिः (उपस्थे) समीपे (पत्नीभाजनम्) पत्नीनां स्थानवान् (अग्नीत्) अग्निप्रज्वालनस्य मन्त्रो

---

१. पू. सं. "भक्षयन्ति" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

भावार्थ:—मनुष्य विचार पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करके वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पितरों को सेवा से तृप्त करे॥ ५॥

विशेष :—इस कण्डिका को मिलाओ, ऐ० ब्रा० ६। ३ अन्तिम भाग॥

कण्डिका ६॥

अथ शाकलां जुह्वति। तद्यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्येत इषीका वा मुञ्जात्. एवं हैवैते सर्वस्मात्पाप्मनः सम्प्रमुच्यन्ते, ये शाकलां जुह्वति। द्रोणकलशे धाना भवन्ति, तासां हस्तैरादधति। पशवो वै धानाः, ता आहवनीयस्य भस्मान्ते निर्वपन्ति। योनिर्वै पशूनामाहवनीयः, स्व एवैनां[1]स्तद्गोष्ठे निरपक्रमे निदधति। अथ स व्यावृतोऽप्सु सोमानाप्याययन्ति, तान् ह अन्तर्वेद्यां सादयन्ति, तद्धि सोमस्यायतनम्। चात्वालादपरेणाध्वर्युश्चमसानद्भिः पूरयित्वोदीचः प्रणिधाय हरितानि तृणानि व्यवदधाति। यदा वा आपश्चौषधयश्च सङ्गच्छन्ते, अथ कृत्स्नः सोमः सम्पद्यते। ता वैष्णव्यर्चा निनयन्ति। यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञमेवैनमन्ततः प्रतिष्ठापयति। अथ यद्भक्षः प्रतिनिधिं कुर्वन्ति, मानुषेणैवैनं तद्भक्षेण दैवं भक्षमन्तर्दधति॥ ६॥

कण्डिका ६॥ तृतीय सवन में शाकला इष्टि॥

(अथ शाकलां जुह्वति) फिर शाकला [शक्ति वाली इष्टि] को वे [याजक] करते हैं। (तत् यथा अहिः जीर्णायाः त्वचः वा इषीका मुञ्जात् निर्मुच्येत, एवं ह एव एते सर्वस्मात् पाप्मनः सम्प्रमुच्यन्ते, ये शाकलां जुह्वति) सो जैसे सांप पुरानी केंचुरी से अथवा सरकण्डा मूंज [के छिलका] से छुट जाता है, ऐसे ही वे लोग सब पाप से सर्वथा छुट जाते हैं, जो शाकला [शक्ति वाली इष्टि] को करते हैं। (द्रोणकलशे धानाः भवन्ति, तासां हस्तैः आदधति) द्रोण कलश [काठ के घड़े] में भुंजे जौ होते हैं, उनको हाथों से लेकर वे धरते हैं। (पशवः वै धानाः, ताः आहवनीयस्य भस्मान्ते निर्वपन्ति) पशुओं [के समान] ही भुंजे जौ हैं, उनको आहवनीय [अग्नि] के भस्म निकलने पर वे छोड़ते हैं। (पशूनां योनिः वै आहवनीयः, स्वे निरपक्रमे गोष्ठे

विचारो वा (प्रजनयिष्णुः) णेश्छन्दसि (पा० ३। २। १३७) प्रजनयतेः-इष्णुच् प्रजनयिता। जनकः (प्रजात्यै) सन्तानोत्पत्तये॥

६—(शाकलाम्) शकिशम्योर्नित् (उ० १। ११२) शक्लृ शक्तौ--कल-प्रत्ययो नित्, शकल--अण्, टाप्। शकलेन सामर्थ्येन युक्ताम् इष्टिम् (अहिः) सर्पः (इषीका) ईषेः किद्ध्रस्वश्च (उ० ४। २१) ईष गतौ—ईकन्, टाप्, ह्रस्वश्च। मुञ्जशलाका (पाप्मनः) पापात् (द्रोणकलशे) द्रोणं द्रुममयम्—निरु० ५। २६। काष्ठमये कलशे (धानाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३। ६)

---

१. पू. सं० 'एनन्' इति पाठः॥ सम्पा०॥

एव एनान् तत् निदधति) पशुओं के घर [के समान] ही आहवनीय अग्नि है, भागने के मार्ग रहित अपनी गोशाला में इन [पशुओं] को तब वे बाँधते हैं । (अथ सः [ते] व्यावृतः अप्सु सोमान् आप्याययन्ति, तान् ह अन्तर्वेद्यां सादयन्ति, तत् हि सोमस्य आयतनम्) फिर वे लोग निवृत्त होकर जल में सोमों [ओषधियों] को बढ़ाते हैं, और उनको भीतर की वेदी पर रखते हैं, वह ही सोम का घर है । (अध्वर्युः चात्वालात् अपरेण चमसान् अद्भिः पूरयित्वा उदीचः प्रणिधाय हरितानि तृणानि व्यवदधति) अध्वर्यु चात्वाल [यज्ञकुण्ड] से दूसरे [ऋत्विज्] के साथ पात्रों को जल से भरवा कर उत्तर वाले स्थान में रख कर हरी घासों को बीच में रखता है । (यदा वै आपः च ओषधयः च सङ्गच्छन्ते, अथ कृत्स्नः सोमः सम्पद्यते) जब ही जल और ओषधियाँ मिल जाते हैं, तब सब सोम [ओषधियों का रस] प्राप्त होता है । (ताः वैष्णव्या ऋचा निनयन्ति) उस [जल] को विष्णु देवता वाली ऋचा से नितार देते हैं । (यज्ञः वै विष्णुः, यज्ञम् एव एनम् अन्ततः प्रतिष्ठापयति) यज्ञ ही विष्णु [व्यापक पदार्थ] है, यज्ञ को ही इस [सोमरस] में अन्त में वह स्थापित करता है । (अथ यत् भक्षः प्रतिनिधिं कुर्वन्ति, मानुषेण एव भक्षेण तत् एनं दैवं भक्षम् अन्तर्दधति) फिर जब भोजन को प्रतिनिधि [सोम का स्थानी] वे करते हैं, मनुष्यों के योग्य भोजन के साथ ही तब इस दिव्य भोजन [सोम] को भीतर धरते हैं ।। ६ ।।

भावार्थः—जो मनुष्य अपनी शक्ति को काम में लाते हैं, वे ही कष्टों को हटाकर सोम रस [अमृत रस वा तत्त्व रस] पाते हैं ।। ६ ।।

कण्डिका ७ ।।

पूतिर्वा एषोऽमुष्मिल्लोकेऽध्वर्युश्च यजमानश्चाभिवहति, तद्यदेनं दध्नानभिहुत्यावभृथमुपहरेयुः । यथा कुणपं वाति, एवमेवैनं तत् करोति । अथ यदेनं दध्नानभिहुत्यावभृथमुपहरन्ति, सर्वमेवैनं सयोनिं सन्तनुते, समृद्धिं सम्भरन्ति । अभूद्देवः सविता वन्द्योनु[१] न इति जुहोति, सर्वमेवैनं सपर्वाणं सम्भरन्ति[२] । तिसृभिस्त्रिवृद्धिर्यज्ञो द्रप्सवतीभिरभिजुहोति, सर्वमेवैनं सर्वाङ्गं सम्भरति । सौमीभिरभिजुहोति, सर्वमेवैनं सात्मानं संभरति । पञ्चभिरभिजुहोति, पाङ्क्तो यज्ञः । यज्ञमेवावरुन्धे । पाङ्क्तः पुरुषः, पुरुषमेवाप्नोति । पाङ्क्ताः पशवः, पशुष्वेव प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः य एवं वेद ।। ७ ।।

दधातेः—नः, टाप् । भृष्टयवाः (योनिः) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (निरपक्रमे) पलायनमार्गरहिते (व्यावृतः) निवृत्तः (सादयन्ति) स्थापयन्ति (चात्वालात्) यज्ञकुण्डात् (चमसान्) पात्राणि (व्यवदधति) दध धारणे—लट् । व्यवधानेन स्थापयति (वैष्णव्या) विष्णुदेवताकया (भक्षः) भक्ष अदने—घञ् । भक्षणीयं पदार्थम् (प्रतिनिधिम्) प्रतिरूपं स्थानिनम् (मानुषेण) मनुष्ययोग्येन ।।

---

१. पू सं. ''नू'' इति पाठः ।। २. 'सम्भरति' इति पाठोऽत्र समुचितः ।।सम्पा०।।

कण्डिका ७ ॥ अध्वर्यु और यजमान की शुद्धि और अवभृथ स्नान ॥

(एषो पूतिः वै अमुष्मिन् लोके अध्वर्युं च यजमानं च अभिवहति, तत् यत् एनं दध्ना अनभिहुत्य अवभृथम् उपहरेयुः) यह ही शुद्धि निश्चय करके उस [स्वर्ग] लोक में अध्वर्यु और यजमान को सर्वथा ले जाती है, सो जब इस [यजमान] को, दधि [नामवाली हवि] से हवन न करके, अवभृथ [यज्ञान्त स्नानशाला] में वे ले जावें। (यथा कुणपं वाति, एवम् एव एनं तत् करोति) जैसे उपकारी पुरुष को मनुष्य प्राप्त होता है, वैसे ही इस [यजमान] को वह [स्नान, उपकार] करता है। (अथ यत् एनं दध्ना अनभिहुत्य अवभृथम् उपहरन्ति, सयोनिं सर्वम् एव एनं सन्तनुते, समृद्धिं सम्भरन्ति) फिर जब इस [यजमान] को, दधि [नाम वाली हवि] से हवन न करके, अवभृथ [यज्ञान्त स्नानशाला] में वे ले जाते हैं, घर सहित सब ही इस [यजमान] को वह [अध्वर्यु] यथावत् बढ़ाता है और समृद्धि [सम्पत्ति] को यथावत् पुष्ट करता है। (अभूद् देवः सविता वन्द्यो नु नः इति जुहोति, सपर्वाणं सर्वम् एव एनं सम्भरति) अभूद् देवः सविता वन्द्यो नु नः .... इस वेद मन्त्र से वह हवन करता है, और जोड़ों सहित सब ही इस [यजमान] को वह यथावत् पुष्ट करता है। (तिसृभिः त्रिवृद्भिः द्रप्सवतीभिः अभि जुहोति, सर्वाङ्गं सर्वम् एव एनं सम्भरति) तीन तीन बार वर्तमान द्रप्सवतियों से [द्रप्स शब्द वाली ऋचाओं से जैसे--द्रप्सश्चस्कन्द..... इत्यादि,—ऋ० १० । १७ । ११-१३] वह सर्वथा हवन करता है, अङ्गों सहित सब ही इस [यजमान] को वह यथावत् पुष्ट करता है। (सौमीभिः अभिजुहोति, सात्मानं सर्वम् एव एनं संभरति) सौमियों से [सोम देवता वाली ऋचाओं से, जैसे--त्वं सोम प्रचिकितो.... इत्यादि ऋ० १ । ९१ । १—२३] सब प्रकार हवन करता है, आत्मा [आत्मबल, पुरुषार्थ] सहित सब ही इस [यजमान] को वह पुष्ट करता है। (पञ्चभिः अभिजुहोति, पाङ्क्तः यज्ञः, यज्ञम् एव अवरुन्धे) पाँच [उन १-२३ मन्त्रों में से पाँच ऋचाओं] से वह सब प्रकार हवन करता है, पाङ्क्त [पङ्क्ति, विस्तार वाला] यज्ञ है, यज्ञ को ही वह प्राप्त होता है। (पाङ्क्तः पुरुषः, पुरुषम् एव आप्नोति) पाङ्क्तः [पङ्क्ति, विस्तार वाला] पुरुष है, पुरुष को ही वह पाता है। (पाङ्क्ताः पशवः, पशुषु

७—(पूतिः) पूञ् शोधने--क्तिन्। शुद्धिः। पवित्रव्यवहारः (एषो) एषा उ। एषा एव (अभिवहति) सर्वतो नयति (दध्ना) दधिनामकेन हविषा (अवभृथम्) अवे भृञः (उ० २ । ३) अव+डुभृञ् धारणपोषणयोः—क्थन्। यज्ञान्तस्नानम् (कुणपम्) क्वणेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ३ । १४३) क्वण शब्दोपकरणयोः-कपन्। उपकारिणम् (वाति) गच्छति। प्राप्नोति (सयोनिम्) सगृहम् (सम्भरन्ति) सम्यक् पोषयन्ति (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (नु) क्षिप्रम् (सपर्वाणम्) शरीरग्रन्थिभिः सहितम् (द्रप्सवतीभिः) द्रप्सशब्दयुक्ताभिः (सौमीभिः) सोमदेवताकाभिः (सात्मानम्) आत्मबलेन पुरुषार्थेन सहितम् (अवरुन्धे) प्राप्नोति ॥

एव प्रतितिष्ठति) पाङ्क्त [पङ्क्ति, विस्तार वाले] पशु हैं, पशुओं में ही वह प्रतिष्ठा पाता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति, यः एवं वेद) प्रजा से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा पाता है, जो ऐसा जानता है ।। ७ ।।

भावार्थः--मनुष्य आत्मशुद्धि अर्थात् निष्कपट आचरण से कुटुम्बियों और सेना आदि प्रजाओं औ र गौ घोड़े आदि पशुओं को बढ़ाकर संसार में प्रतिष्ठा पावे। [पाङ्क्त शब्द का अर्थ पङ्क्ति, पाँच वा विस्तार वाला है] ।। ७ ।।

विशेषः—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित लिखा जाता है। अन्य सङ्केतित मन्त्र वेद में देखो ।।

१—अभूद् देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः।

वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्--ऋ० ४।५४।१ ॥

(देवः) दिव्य गुण वाला (सविता) सविता [सर्वप्रेरक परमात्मा] (नु) शीघ्र (अह्नः) दिन के (इदानीम्) इस समय (नः) हमारा (वन्द्यः) वन्दना योग्य और (नृभिः) नेता मनुष्यों से (उपवाच्यः) सादर कहने योग्य (अभूत्) है, (यः) जो [सविता परमात्मा] (मानवेभ्यः) मननशीलों के लिए (रत्ना) रत्नों [रमणीय धनों] को (यथा) जैसे (वि भजति) बाँटता है, [वैसे ही] वह [परमात्मा] (नः) हमको (अत्र) यहाँ (श्रेष्ठं द्रविणम्) श्रेष्ठ धन वा यश (दधत्) देवे ।।

कण्डिका ८ ।।

अग्निर्वाव यम इयं यमी। कुसीदं वा एतद्यमस्य यजमान आदत्ते, यदोषधीभिर्वेदिं स्तृणाति। तां यदनुपोष्य प्रयायात्, यातयेरन्नेनममुष्मिंल्लोके यमे यत् कुसीदमयमित्यमप्रतीतमिति वेदिमुपोषन्तीहैव सन्यमङ्कुसीदं निरवदाय अनृणो भूत्वा स्वर्गं लोकमेति। विश्वलोप विश्वदावस्य त्वा सं जुहोमीत्याह, होताद्धा यजमानस्यापराभवाय यदु मिश्रमिव चरन्त्यञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात्। एष ह वा अग्निर्वैश्वानरो यत् प्रदा[1]व्यः, स्वस्यामेवैनं तद्योन्यां सादयति ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ।। वेदी पर ओषधी स्थापन और सक्तुओं से होम ।।

(अग्निः वाव यमः इयं यमी) अग्नि निश्चय करके यम [जोड़िया भाई के समान] और यह [वेदी] यमी [जोड़िया बहिन के समान] है। (यजमानः यमस्य एतत् वै कुसीदम् आदत्ते, यत् ओषधीभिः वेदिं स्तृणाति) यजमान यम [अग्नि] का यह ब्याज वाला ऋण ही लेता है, जो ओषधियों [हव्य पदार्थों] से वेदी को ढकता है। (यत् ताम् अनुपोष्य प्रयायात्, एनम् अमुष्मिन् यमे लोके यातयेरन्, यत् कुसीदमयम् इति अमप्रतीतम् इति वेदिम् उपोषन्ति, इह एव सन्यमन् कुसीदं निरवदाय अनृणः भूत्वा

८—(यमः) यम परिवेषणे--अच्। एकगर्भजायमानो यमजो भ्राता (इयम्) वेदिः (यमी) यम—ङीष्। एकगर्भजायमाना यमजा भगिनी (कुसीदम्) कुसेरुम्भोमेदेताः (उ० ४। १०६) कुस संश्लेषणे--ईदप्रत्ययः। वृद्धिजीवि-

---

१. पू. सं. "प्रदातव्यः" इति पाठः ।। सम्पा० ।।

स्वर्गं लोकम् एति) जो उस [वेदी] को उष्ण न करके वह [यजमान] चला जावे, उस [यजमान] को ही उस यमलोक में ताड़ना करें, जो ब्याज वाला ऋण है वह रोग के ज्ञान से युक्त है—ऐसा विचार कर वेदी को उष्ण करते हैं, यहाँ ही संयम [इन्द्रियनिग्रह] करता हुआ ब्याज वाले ऋण को चुकाकर बिना ऋण होकर वह [यजमान] स्वर्ग लोक पाता है। (विश्वलोप विश्वदावस्य त्वा सं जुहोमि--इति आह) हे विश्व के नाश करने वाले [अग्नि !] तुझ विश्वतापक को मैं अच्छे प्रकार होमता हूं—यह [ब्राह्मण वचन] वह बोलता है। (होता अद्धा यजमानस्य अपराभवाय, यत् उ मिश्रम् इव चरन्ति, अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात्) होता साक्षात् यजमान के जिताने के लिये है, जो मिश्र [मिले हुए अन्न] को वे चरु [हव्य पदार्थ] बनावें, अञ्जलि से [दोनों हाथ मिलाये हुए] सक्तु [भुंजे हुए जौ आदि चूर्ण] को तपाने में कुशल [अग्नि] में हवन करे। (एषः ह वै वैश्वानरः अग्निः यत् प्रदाव्यः, तत् स्वस्याम् एव योन्याम् एनं सादयति) यह ही वैश्वानर [सब नरों का हितकारी] अग्नि है, जो तपाने में कुशल है, तब वह [अग्नि] अपने ही घर में इस [यजमान] को स्थापित करता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे यज्ञ में आहुति देने से अग्नि तृप्त होकर यजमान को स्वर्ग लोक में पहुँचाता है, वैसे ही अन्न के भोजन से जठराग्नि तृप्त होकर प्राणी को पुष्ट करता है ॥८॥

कण्डिका ९ ॥

अह्नां विधान्यामेकाष्टकायामपूपश्चतुःशरावं पक्त्वा प्रातरेतेन कक्षमुपोषेत्। यदि दहति पुण्यसमं भवति, यदि न दहति पापसमं भवति। एतेन ह स्म वा अङ्गिरसः पुरा विज्ञानेन दीर्घसत्रमुपयन्ति। यो ह वा उपद्रष्टारमुपश्रोतारमनुख्यातारमेव विद्वान् यजते, सममुष्मिंल्लोक इष्टापूर्तेन गच्छते। अग्निर्वा उपद्रष्टा, वायुर्वा उपश्रोता, आदित्यो वा अनुख्याता, तान्य एवं विद्वान्यजते, सममुष्मिंल्लोक इष्टापूर्तेन गच्छते अयन्नो नभसस्पतिरित्याह, अग्निर्वै नभसस्पतिरग्निमेव तदाह। एतन्नो गोपा-

---

कासहितम् ऋणम् (आदत्ते) गृह्णाति (अनुपोष्य) अनु+उप+उष दाहे--ल्यप्। अदग्ध्वा (प्रयायात्) प्रगच्छेत् (यातयेरन्) यत ताडने--वि० लि०। हन्युः। ताडनां पीडां कुर्युः (कुसीदमयम्) ऋणमयं कर्म (अमप्रतीतम्) अम रोगे--घञ्+प्रति+इण् गतौ—क्तः। रोगप्रतीतियुक्तम् (उपोषन्ति) उपेत्य दहन्ति (सन्यमन्) सम्+यम नियमने--शतृः। संयममिन्द्रियनिग्रहं कुर्वन् (निरवदाय) निर्+अव+दो अवखण्डने--ल्यप्। शोधयित्वा (विश्वलोप) विश्वस्य संसारस्य लोपो नाशो यस्मात् तत् सम्बुद्धौ (विश्वदावस्य) दुन्योरनुपसर्गे (पा० ३। १। १४२) टुदु उपतापे--णः। सर्वोपतापकम् (अद्धा) साक्षात्। अवधारणेन (अपराभवाय) अपराजयाय (मिश्रम्) मिश्रितमन्नम् (चरन्ति) चरुं हव्यान्नं कुर्वन्ति (सक्तून्) सितनिगमिमसिसच्यवि० (उ० १। ६९) षच सेचने--तुन्। भृष्टयवादिचूर्णम् (प्रदाव्ये) तत्र साधुः (पा० ४। ४। ९८) प्रदाव—यत्। प्रकर्षेण दाहकुशले अग्नौ (वैश्वानरः) सर्वनरहितः (प्रदाव्यः) प्रदाहकुशलः (सादयति) स्थापयति ॥

येति स त्वं नो नभसस्पतिरित्याह, वायुर्वै नभसस्पतिर्वायुमेव तदाह । एतन्नो गोपायेति देव संस्फानेत्याह, आदित्यो वै देवःसंस्फानः, आदित्यमेव तदाह । एतन्नो गोपायेत्ययं ते योनिरिति, अरण्योरग्निं समारोपयेत् । तदाहुः, यदरण्योः समारूढो नश्येदुदस्याग्निः सीदेत् पुनराधेयः स्यादिति । या ते अग्नेर्यज्ञिया तनूस्तया मे ह्यारोह तया मे ह्याविशायन्ते योनिरित्यात्मन्नग्नीन् समारोपयेत् । एष ह वा अग्निर्योनिः, स्वस्यामेवैनं तद्योन्यां सादयति ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ एकाष्टका इष्टि और दो अरणियों से अग्निसमारोपण

(अह्नां विधान्याम् एकाष्टकायां चतुःशरावम् अपूपं पक्त्वा प्रातः कक्षम् उ पोषेत्) दिनों [यज्ञदिनों] के विधान करने वाली एकाष्टका में [सप्तमी आदि तीन तिथियों में से किसी तिथि की इष्टि विशेष में] चार शरावों में रखे हुए अपूप [पक्वान्न] को पकाकर प्रातःकाल उससे पेट [वेदी] को ही पुष्ट करे । (यदि दहति पुण्यसमं भवति, यदि न दहति पापसमं भवति) जो वह [अग्नि] जलता है, पुण्य सहित कर्म होता है, जो वह नहीं जलता, पाप सहित कर्म होता है । (एतेन ह वै विज्ञानेन अङ्गिरसः पुरा दीर्घसत्रम् उपयन्ति स्म) इस ही विज्ञान [सूक्ष्म विचार] से अङ्गिराओं [महाविद्वानों] ने पहिले समय में दीर्घसत्र [बहुत समय वाले यज्ञ] को प्राप्त किया था । (यः ह वै उपद्रष्टारम् उपश्रोतारम् अनुख्यातारम् एव विद्वान् यजते, अमुष्मिन् लोके इष्टापूर्तेन समं गच्छते) जो ही मनुष्य निश्चय करके समीप से देखने वाले, समीप से सुनने वाले और लगातार जताने वाले को ही जानता हुआ यज्ञ करता है, उस [स्वर्ग] लोक में इष्टापूर्त्त से [अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, देवमन्दिर आदि कर्म द्वारा] सर्वथा जाता है । (अग्निः वै उपद्रष्टा, वायुः वै उपश्रोता, आदित्यः वै अनुख्याता, यः तान् एवं विद्वान् यजते, अमुष्मिन् लोके इष्टापूर्तेन समं गच्छते) अग्नि ही समीप से देखने वाला, वायु ही समीप से सुनने वाला और सूर्य ही लगातार जताने वाला है, जो पुरुष उन को ऐसा जानता हुआ यज्ञ करता है, उस [स्वर्ग] लोक में इष्टापूर्त से [अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, देवमन्दिर आदि कर्म द्वारा] सर्वथा जाता है । (यन्नो नभसस्पतिः इति आह, अग्निः वै नभसः पतिः अग्निम् एव तत् आह) यन्नो नभसस्पतिः--१, यह मन्त्र वह बोलता है, अग्नि ही आकाश का पालने वाला है, अग्नि को ही तब वह यह कहता है । (एतन्नो गोपाय इति, स त्वं नो नभसस्पतिः इति आह, वायुः वै नभसः पतिः वायुम् एव तत् आह) एतन्नो गोपाय--२, और, स त्वं नो नभसस्पतिः--३, इन दो मन्त्रों को वह बोलता है, वायु ही आकाश का पालने वाला है, वायु को ही वह यह कहता है । (एतन्नो गोपाय इति, देव संस्फान--इति आह,

---

९--(अह्नाम्) यज्ञदिनानाम् (विधान्याम्) विधानकारिकायाम् (एकाष्टकायाम्) इष्यशिभ्यां तकन् (उ० ३ । १४८) अश भोजने अशू व्याप्तौ वा--तकन्, टाप् । सप्तम्यादिदिनत्रयमध्ये एकस्यां तिथौ । इष्टिविशेषे (अपूपम्) अ+पूयी दुर्गन्धे भेदने विशरणे च--पप्रत्ययः । गोधूमादिचूर्णपिष्टकम् (कक्षम्) वेदिकक्षम् (उ) एव (पोषेत्) पोषयेत् (पुण्यसमम्) पुण्येन सहितं कर्म

आदित्यः वै देवः संस्फानः, आदित्यम् एव तत् आह) एतन्नो गोपाय--४ और, देव संस्फान--५, यह दो मन्त्र वह बोलता है, सूर्य ही प्रकाशमान और यथावत् बढ़ता हुआ है, सूर्य को ही वह यह कहता है। (एतन्नो गोपाय इति, अयन्ते योनिः इति अरण्योः अग्निम् समारोपयेत्) एतन्नो गोपाय--६ और, अयं ते योनिः--७ इन दो मन्त्रों से दो अरणियों [अग्नि मथने की लकड़ियों] की अग्नि को समारोपित [स्थापित] करे। (तत् आहुः, यत् अरण्योः अस्य समारूढः अग्निः नश्येत् उत्सीदेत्, पुनः आधेयः स्यात् इति) यह कहते हैं--जो दो अरणियों की निकली हुई इस [यजमान] की अग्नि बुझ जावे [अथवा वायु आदि से] उड़कर बिखर जावे, फिर वह अग्न्याधान योग्य होवे। [इसका उत्तर] (या ते अग्नेर्यज्ञिया तनूस्तया मे ह्यारोह तया मे हि आविश, अयं ते योनिः इति आत्मन् अग्नीन् समारोपयेत्) या ते अग्नेर्यज्ञिया तनूः......८ और, अयन्ते योनिः--९, इन दो मन्त्रों से आत्मा में अग्नियों को समारोपित करे [अर्थात् भौतिक यज्ञ न करे किन्तु मन्त्रों से आत्मिक यज्ञ करे]। (एषः ह वै अग्निः योनिः, तत् स्वस्याम् एव योन्याम् एनं सादयति) यह ही अग्नि [आत्मिक अग्नि, इस यजमान का] घर है, तब वह [अग्नि] अपने ही घर में इस [यजमान] को स्थापित करता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—यज्ञ, प्रज्वलित अग्नि में ही हवन करने से सफल होता है। यदि अग्नि बुझ जावे, तो मन्त्रों से आत्मिक यज्ञ करना चाहिये ॥ ६ ॥

विशेषः—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः—अथर्व० ६ ७९ । २ ॥ (अयम) यह (नभसः) सूर्य [वा आकाश] का (पतिः) स्वामी परमेश्वर (संस्फानः) यथावत् बढ़ता हुआ (नः) हमारे लिये (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) असामान्य [विशेष] लक्ष्मी वा बुद्धि को (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्खे [यह मन्त्र इस ब्राह्मण में कुछ भेद से है] ॥

२—एतन्नो गोपाय--यह ब्राह्मण वचन है ॥

३—त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु—अथर्व० ६ । ७९ । १ ॥ (नभसः पते) हे सूर्य [वा आकाश] के स्वामी! (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) बल बढ़ाने वाला अन्न (धारय) धारण कर। (पुष्टम्) पुष्टि (आ) और (वसु) धन (आ एतु) चला आवे [यह मन्त्र इस ब्राह्मण में कुछ भेद से है] ॥

४—एतन्नो गोपाय—संख्या २ ऊपर देखो ॥

(अङ्गिरसः) विद्वांसः (दीर्घसत्रम्) दीर्घकालिकयज्ञम् (उपयन्ति स्म) प्राप्तवन्तः (उपद्रष्टारम्) समीपेन अवलोकयितारम् (उपश्रोतारम्) उपश्रवणशीलम् (अनुख्यातारम्) निरन्तरज्ञापकम् (इष्टापूर्तेन) इष्टेन च पूर्तेन च। अग्निहोत्रवेदाध्ययनदेवमन्दिरादिकर्मणा (समम्) सर्वथा (नभसः) णह बन्धने —असुन्, हस्य भः। नभ आदित्यो भवति—निरु० २। १४। सूर्यस्य। आकाशस्य (पतिः) पालयिता (गोपाय) रक्ष (देव) हे प्रकाशमान (संस्फान)

५—देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य भक्तिवांसः स्याम—अथ० ६ । ७९ । ३ ॥ (संस्फान) हे सब प्रकार वृद्धि वाले (देव) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सहस्रपोषस्य) सहस्र प्रकार के पोषण का (ईशिषे) तू स्वामी है । (तस्य) उस [पोषण] का (नः) हमें (रास्व) दान कर, (तस्य) उसका (नः) हमारे लिए (धेहि) धारण कर, (तस्य ते) उस तेरी (भक्तिवांसः) भक्ति वाले (स्याम) हम होवें ॥

६—एतन्नो गोपाय—संख्या २ ऊपर देखो ॥

७—अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम्—अथर्व० ३ । २० । १, ऋग्० ३ । २९ । १० और यजु० ३ । १४ ॥ (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमेश्वर] (ते) तेरा [ऋत्वियः] सब ऋतुओं में मिलने वाला (योनिः) कारण है, (यतः) जिससे (जातः) प्रकट होकर (अरोचथाः) तू प्रकाशमान हुआ है, (तम्) उस [कारण] को (जानन्) पहिचान कर (आरोह) ऊँचा चढ़, (अथ) और (नः) हमारे लिए (रयिम्) धन (वर्धय) बढ़ा ॥

८—या ते अग्नेर्यज्ञिया तनूस्तया मे ह्यारोह तया मे ह्याविश- ब्राह्मण वचन है । (अग्नेः) हे अग्नि [प्रकाश स्वरूप परमेश्वर] (या ते) जो तेरा (यज्ञिया तनूः) पूजनीय विस्तार है, (तया) उससे (मे) मेरे लिए (हि) अवश्य (आरोह) ऊँचा हो । और (तया) उससे (मे) मेरे लिए ही अवश्य (आविश) प्रवेश कर ॥

९—(अयं ते योनिः……) संख्या ७ ऊपर देखो ॥

कण्डिका १० ॥

यो ह वा अग्निष्टोमं साह्नं वेद, अग्निष्टोमस्य साह्नस्य सायुज्यं सलोकतामश्नुते य एवं वेद, यो ह वा एष ह्यत्येषोऽग्निष्टोम एष साह्नः, तं सहैवाह्ना संस्थापयेयुः, साह्नो वै नामैषः, तेनासन्त्वरमाणाश्चरेयुः यद्ध वा इदं पूर्वयोः सवनयोरसन्त्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद् घेदं तं प्राच्यो ग्रामता बहुलाविष्ठा । अथ यद्घेदं तृतीयसवने सन्त्वरमाणाश्चरन्ति, तस्माद्घेदं प्रत्यञ्चो दीर्घारण्यानि भवन्ति । यथैव प्रातःसवन एवं माध्यन्दिनसवन एवं तृतीयसवने, एवमु ह यजमानो ऽप्रमायुको भवति । तेनासन्त्वरमाणाश्चरेयुः । यदा वा एष प्रातरुदेत्यथ मन्द्रतमं तपति, तस्मान्मन्द्रतमया वाचा प्रातःसवने शंसेत् । अथ यदाभ्येत्यथ बलीयस्तपति, तस्माद् बलीयस्या वाचा माध्यन्दिने सवने शंसेत् । अथो यदाभितरामेत्यथ

सम्+स्फायी वृद्धौ—क्तः । छान्दसं रूपम् । हे सम्यक् स्फीत । प्रवृद्ध (अरण्योः) अर्तिसृधृ० (उ० २ । १०२) ऋ गतौ—अनिः । अग्निमन्थनकाष्ठद्वयोः (समारोपयेत्) स्थापयेत् (उत्सीदेत्) वायुना उद्गत्य विशीर्णो भवेत् (आधेयः) अग्न्याधानेन स्थापनीयः (अग्नेः) हे अग्ने (यज्ञिया) यज्ञयोग्या (तनूः) विस्तृतिः । शरीरम् ॥

बलिष्ठतमं तपति, तस्माद् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शंसेत् । एवं शंसेत्, यदि वाच ईशीत[1], वाग् हि शस्त्रं, ययातु वाचोत्तरण्योत्तरया उत्सहेत, आसमापनायतना प्रतिपद्येत । एतत् सुशस्ततरमिव भवति, स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति । तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते, अह्न एव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्य्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कृणुते रात्रीं परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्य्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुतेऽहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति न ह वै कदाचन निम्लोचति । एतस्य ह सायुज्यं सलोकतामश्नुते, य एवं वेद ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ अग्निष्टोम सूर्य समान है, तीनों सवनों में मन्त्र बोलने का विधान, सूर्य न कभी उदय और न अस्त होता है, इसका विचार ॥

(यः ह वै साह्नम् अग्निष्टोमं वेद साह्नस्य अग्निष्टोमस्य सायुज्यं सलोकताम् अश्नुते, यः एवं वेद) जो ही मनुष्य दिन सहित [दिन में पूर्ण होने वाले] अग्निष्टोम को जानता है, वह दिन सहित अग्निष्टोम का सहवास और समान लोक पाता है, जो ऐसा जानता है । (यः ह वै एषः तपति, एषः एषः साह्नः अग्निष्टोमः, तम् अह्ना सह संस्थापयेयुः) जो ही यह [दीखता हुआ सूर्य] तपता है, सो ही यह दिन सहित [दिन में पूरा होने वाला] अग्निष्टोम है, [इसलिये] उस [अग्निष्टोम] को दिन ही दिन में पूरा करें । (साह्नः वै नाम एषः, तेन असन्त्वरमाणाः चरेयुः) साह्न [दिन में रहने वाला] ही नाम यह [अग्निष्टोम] है, इसलिए [उसको] बिना शीघ्रता किये हुए [भले प्रकार देख भाल कर] करें । (यत् ह वै इदं पूर्वयोः सवनयोः असन्त्वरमाणाः चरन्ति, तस्मात् ह इदं तं प्राच्यः ग्रामता बहुलाविष्टा) जो ही इस कर्म को पहिले दो सवनों में बिना शीघ्रता किये हुये वे करते हैं, इसलिये ही इससे उस [यजमान] के लिए पूर्व देश में रहने वाला ग्राम समूह बहुत जनों से परिपूर्ण होता है । (अथ यत् ह इदं तृतीयसवने सन्त्वरमाणाः चरन्ति, तस्मात् ह इदं प्रत्यञ्चेत्, दीर्घारण्यानि भवन्ति) फिर जब इस कर्म को तीसरे सवन में शीघ्रता करते हुये वे करें, उससे ही यह कर्म पश्चिम देश में जावे और [वहां] बड़े बड़े वन [निर्जन देश] हो जावें । (यथा एव

१०—(साह्नम्) अह्ना सह वर्तमानम् । एकेन दिनेन सह समापनीयम् (सायुज्यम्) सहवासम् (सलोकताम्) समानलोकत्वम् (एषः) दृश्यमानः सूर्यः (संस्थापयेयुः) समापयेयुः (असन्त्वरमाणाः) त्वरामकुर्वन्तः, सम्यक् पर्यालोचयन्तः (चरेयुः) अनुतिष्ठेयुः (प्राच्यः) प्राची । पूर्वदिग्वर्तिनी (ग्रामता) ग्रामसमूहः (बहुलाविष्टाः) बहुभिर्जनैः सम्पूर्णाः (सन्त्वरमाणाः) अतित्वरया सह वर्त्तमानाः (प्रत्यञ्चेत्) पश्चिमदिशि प्राप्नुयात् (दीर्घारण्यानि)

---

१. पू. सं. "ईशत" इति पाठः ॥ २. पू. सं. "एतत् सह" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

प्रातःसवने, एवं माध्यन्दिने सवने, एवं तृतीयसवने, एवम् उ ह यजमानः अप्रमायुकः भवति) जैसा ही प्रातःसवन में होवे, वैसा ही माध्यन्दिन सवन में और वैसा ही तृतीयसवन में [बिना शीघ्रता किये] होवे, इस प्रकार से ही यजमान बिना अचानक मृत्यु वाला होता है । (तेन असन्त्वरमाणाः चरेयुः) इसलिये बिना शीघ्रता किये हुये वे [ऋत्विज् लोग अग्निष्टोम को] करें । (यदा वै एषः प्रातः उदेति, अथ मन्द्रतमं तपति, तस्मात् मन्द्रतमया वाचा प्रातःसवने शंसेत्) जब ही यह [सूर्य] प्रातःकाल निकलता है तब वह मन्द मन्द तपता है, इसलिये अति मन्द वाणी से प्रातःसवन में वह [स्तोत्र] बोले । (अथ यदा अभ्येति अथ बलीयः तपति, तस्मात् बलीयस्या वाचा माध्यन्दिने सवने शंसेत्) फिर जब वह [सूर्य] ऊंचा चढ़ता है तब वह [दोपहर को] अधिक प्रबल तपता है, इसलिये अधिक प्रबल वाणी से माध्यन्दिन सवन में वह [स्तोत्र] बोले । (अथो यदा अभितराम् एति, अथ बलिष्ठतमं तपति, तस्मात् बलिष्ठतमया वाचा तृतीय सवने शंसेत्) फिर जब वह [सूर्य दोपहर पीछे] अत्यन्त ऊंचा चलता है, तब वह अत्यन्त प्रबल तपता है, इसलिये अत्यन्त प्रबल वाणी से तृतीय सवन में वह [स्तोत्र] बोले । (एवं शंसेत्, यदि वाचः ईशीत, वाक् हि शस्त्रं यया उत्तरण्या उत्तरया वाचा तु उत्सहेत, आसमापनायतना प्रतिपद्येत) इस प्रकार से वह बोले कि वह वाणी पर समर्थ हो, क्योंकि वाणी शस्त्र [स्तोत्र] है, जिस बहुत बढ़ती हुई और अधिक ऊँची वाणी से वह उत्साही तो होवे, और समाप्ति पर्य्यन्त वह [वाणी] प्राप्त होवे । (एतत् सुशस्ततरम् इव भवति) यह ही कर्म बहुत ही प्रशंसित होता है ।

(सः वै एषः न कदाचन अस्तम् अयति न उदयति) वह ही यह [सूर्य] न कभी अस्त होता है और न कभी उदय होता है । (तत् यत् एनं मन्यन्ते पश्चात् अस्तम् अयति इति) फिर जो इस [सूर्य] को लोग मानते हैं कि वह पश्चिम में अस्त होता है [सो यह बात ठीक नहीं है] । (तत् अह्नः एव अन्तं गत्वा अथ आत्मानं विपर्य्यस्यते, अहः एव अधस्तात् कृणुते रात्रीं परस्तात्) [क्योंकि] तब वह [सूर्य] दिन के अन्त पर पहुँचकर फिर अपने को विरुद्ध प्रकार से करता है, [अर्थात्] वह [सूर्य] दिन को नीचे [अपने नीचे वा सामने] की ओर बनाता है और रात्रि को [पृथिवी की] दूसरी ओर [बनाता है] ।

(सः वै एषः न कदाचन अस्तम् अयति न उदयति) वह ही यह [सूर्य] न कभी

विस्तृतवनानि । जनशून्यस्थानानि (अप्रमायुकः) अपमृत्युरहितः (मन्द्रतमम्) मन्दतमं यथा भवति तथा (अभ्येति) आभिमुख्येनोर्ध्वं गच्छति (बलीयः) प्रबलं यथा भवति तथा (अभितराम्) किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (पा० ५ । ४ । ११) अभितर—आम् । पश्चिमाभिमुखानां पुरुषाणामत्यन्ताभिमुख्येन (बलिष्ठतमम्) अत्यन्तप्रबलम् (वाचः) वाण्याः (ईशीत) ईश्वरो भवेत् (उत्तरण्या) उत् + तॄ तरणे-ल्युट्, ङीप् । उत्कर्षेण वर्धमानया (उत्तरया) उच्चतरया (उत्सहेत) उत्साहवान् भवेत् (आसमापनायतना) आसमापनात् आयतनं यस्याः सा । समाप्तिपर्य्यन्तम् आश्रयवती वाक् (प्रतिपद्येत) प्राप्नुयात् (सुशस्ततरम्) अतिशयेन प्रशस्तम् (अस्तम्) अस्यन्ते सूर्यकिरणाः अत्र । हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३।८६) असु क्षेपणे-तन् ।

अस्त होता है न उदय होता है। (तत् यत् एनं मन्यन्ते पुरस्तात् उदयति इति) फिर जो उस [सूर्य] को लोग मानते हैं कि वह पूर्व में उदय होता है [सो यह ठीक नहीं है]। (तत् रात्रेः एव अन्तं गत्वा अथ आत्मानं विपर्य्यस्यते, रात्रिम् एव अधस्तात् कृणुते अहः परस्तात्) [क्योंकि] तब वह [सूर्य] रात्रि के अन्त पर पहुँचकर फिर अपने को विरुद्ध प्रकार से करता है, [अर्थात्] वह [सूर्य] रात्रि को [पृथिवी के] नीचे की ओर बनाता है और दिन को दूसरी ओर [अपने सामने की ओर, बनाता है। अर्थात् सूर्य एक सर्वतः प्रकाशमय घूमता हुआ गोला भूगोल से बहुत बड़ा है। भूगोल के घूमने से प्रत्येक समय पृथिवी का जो भाग सूर्य के सामने आता जाता है, वह दिन होता चला जाता है और जो भाग पीछे रहता जाता है वहाँ रात्रि होती जाती है, और सूर्य का गोला सर्वतः प्रकाशमय होने से प्रत्येक समय चमकता रहता है]।

(सः वै एषः न कदाचन अस्तम् अयति न उदयति) वह ही यह [सूर्य] न कभी अस्त होता है, न कभी उदय होता है। (न ह वै कदाचन निम्लोचति, एतस्य ह सायुज्यं सलोकताम् अश्नुते, यः एवं वेद) [इसलिए] वह [यजमान] कभी भी नहीं नीचे जाता है [नहीं अधोगति पाता है] और वह इस [सूर्य] के साथ सहवास और समान लोक [अवस्था] पाता है जो ऐसा जानता है ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्य सूर्य के समान प्रतापी होकर दिन रात उन्नति का प्रयत्न करे ॥१०॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ३। ४४ से मिलाओ ॥

विशेषः २—(यदि वा तः) के स्थान पर ऐ०ब्रा०से (यदि वाचः) शोधा गया है।

कण्डिका ११ ॥

अथात एकाहस्यैव तृतीयसवनं, देवाऽसुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त। ते देवा असुरानभ्यजयन्। ते जिता अहोरात्रयोः सन्धिं समभ्यवागुः। स हेन्द्र उवाच, इमे वा असुरा अहोरात्रयोः सन्धिं समभ्यवागुः। कश्चाहश्चेमानसुरानभ्युत्थास्यामहा इति। अहश्चेत्यग्निरब्रवीत्, अहश्चेति वरुणः, अहंचेति बृहस्पतिः, अहं चेति विष्णुः। तानभ्युत्थायाहोरात्रयोः सन्धेर्निर्जघ्नुः। यदभ्युत्थायाहोरात्रयोः सन्धेर्निर्जघ्नुः, तस्मादुत्था अभ्युत्थाय ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यं निर्हन्ति, य एवं वेद। सोऽग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय। यदग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय, तस्मादाग्नेयीभिरुक्थानि प्रणयन्ति। यदग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय, तस्मात्साकमश्वम्। यत्पञ्च देवता अभ्युत्तस्थुः, तस्मात्पञ्च देवता उक्थे शस्यन्ते। या वाक् सोऽग्निः, यः प्राणः स वरुणः, यन्मनः स इन्द्रः, यच्चक्षुः स बृहस्पतिः, यच्छ्रोत्रं, स विष्णुः। एते ह वा एतान् पञ्चभिः प्राणैः समीर्योदस्थापयन्[1]। तस्मादु ह एवैताः पञ्च देवता उक्थे शस्यन्ते ॥११॥

अदर्शनम्। पश्चिमाचलम् (अयति) अय गतौ-लट्। गच्छति। प्राप्नोति (उदयति) उदेति। ऊर्ध्वं गच्छति (पश्चात्) पश्चिमदिशि (अन्तम्) समाप्तिम् (गत्वा) प्राप्य (अथ) अनन्तरम् (आत्मानम्) स्वात्मानम् (विपर्य्यस्यते) विपर्य्यस्तं विरुद्धं प्रतिकूलं करोति (अधस्तात्) अधः स्थाने (परस्तात्) परस्मिन् देशे (पुरस्तात्) पूर्वस्मिन् देशे (निम्लोचति) नि+म्रुचु म्लुचु गतौ—लट्। नीचैर्गच्छति ॥

---

१. पू. सं. "उत्थापयन्" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका ११ ॥ आख्यायिका–एकाह यज्ञ के तृतीय सवन में से सायंकाल में घुसे हुये असुर लोग इन्द्र, अग्नि, वरुण, बृहस्पति और विष्णु पांच देवताओं अथवा वाक् आदि पांच इन्द्रियों करके निकाले गये ॥

(अथ अतः एकाहस्य एव तृतीयसवनम्) अब यहां से एकाह यज्ञ का ही तृतीयसवन [कहा जाता है]। (देवाऽसुराः वै एषु लोकेषु समयतन्त) देव और असुर इन लोकों [शरीर के अङ्गों] में लड़ने लगे। (ते देवाः असुरान् अभ्यजयन्) उन देवताओं ने असुरों को सामने होकर जीत लिया। (ते जिताः अहोरात्रयोः सन्धि समभ्यवागुः) वे जीते गये [असुर] रात्रि दिन की सन्धि में घुस गये। (सः ह इन्द्रः उवाच, इमे वै असुराः अहोरात्रयोः सन्धि समभ्यवागुः, कः च अहं च इमान् असुरान् अभि उत्थास्यामहै इति) वह इन्द्र [अर्थात् मन] बोला—यह असुर दिन और रात्रि की सन्धि में घुस गये, कौन और मैं [हम] इन असुरों के सम्मुख होकर खड़े होवें। (अहं च इति अग्निः अब्रवीत्, अहं च इति वरुणः, अहं च इति बृहस्पतिः, अहं च इति विष्णुः) और मैं—यह अग्नि [वाक्] बोला, और मैं—यह वरुण [प्राण], और मैं—यह बृहस्पति [नेत्र], और मैं—यह विष्णु [कान बोला]। (तान् अभ्युत्थाय अहोरात्रयोः सन्धेः निर्जघ्नुः) उन [असुरों] को उन्होंने उठकर दिन और रात्रि की सन्धि से निकाल दिया। (यत् अभ्युत्थाय अहोरात्रयोः सन्धेः निर्जघ्नुः, तस्मात् उत्थाः अभ्युत्थाय ह वै द्विषन्तं भ्रातृव्यं निर्हन्ति, यः एवं वेद) जो उन्होंने उठकर दिन और रात्रि की सन्धि से [असुरों को] निकाल दिया, इसलिये उठने वाला [उत्साही पुरुष] सामने उठकर द्वेषी वैरी को मार निकालता है, जो ऐसा जानता है। (सः अग्निः अश्वः भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय) उस अग्नि ने घोड़ा [के समान वेगवान्] होकर पहिले जीत लिया। (यत् अग्निः अश्वः भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय, तस्मात् आग्नेयीभिः उक्थानि प्रणयन्ति) जो अग्नि ने घोड़ा होकर पहिले जीत लिया, इसलिये अग्नि देवता वाली [ऋचाओं] से उक्थों [स्तोत्रों] को वे बोलते हैं। (यत् अग्निः अश्वः भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय, तस्मात् साकम् अश्वम्) जो अग्नि ने अश्व [घोड़ा] होकर पहिले जीता, इसलिये वह साकम् अश्व [साथ साथ चलने वाला घोड़ा वा स्तोत्र विशेष हुआ]। (यत् पञ्च देवताः अभ्युत्तस्थुः तस्मात् पञ्च देवताः उक्थे शस्यन्ते) जो पांच देवता सामने खड़े हुये, इसलिये पांच देवता उक्थ [स्तोत्र] में स्तुति किये जाते हैं। (या वाक् सः अग्निः, यः प्राणः सः वरुणः, यत् मनः सः इन्द्रः, यत् चक्षुः सः बृहस्पतिः, यत् श्रोत्रं सः विष्णुः) जो वाणी

११—(समयतन्त) युद्धाय यत्नं कृतवन्तः (सन्धिम्) संयोगम् (अभि) अभिगत्य (उत्थास्यामहै) उत्थास्यामः (निर्जघ्नुः) निःसारितवन्तः (उत्थाः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च (उ० ४। २२७) उत्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—असिः। उत्थानशीलः। उत्साही (साकम्) सह+अक गतौ—अम्, सहस्य सः। सहगन्ता। सह (अश्वम्) अश्वः (शस्यन्ते) स्तूयन्ते (वरुणः) वरणीयः स्वीकरणीयः पदार्थः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बृहतां

है वह अग्नि [तापक पदार्थ] है, जो प्राण [श्वास] है वह वरुण [स्वीकार करने योग्य पदार्थ] है, जो मन है वह इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पदार्थ] है, जो नेत्र है वह बृहस्पति [बड़े बड़ों का पालने वाला पदार्थ] है, जो कान है वह विष्णु [व्यापक पदार्थ] है। (एते ह वै एतान् पञ्चभिः प्राणैः समीर्य उदस्थापयन्) इन ही [देवताओं] ने इन [असुरों] को पांच प्राणों से मिलकर उठा दिया [निकाल दिया]। (तस्मात् उ ह एव एताः पञ्च देवताः उक्थे शस्यन्ते) इसलिये ही यह पांच देवता उक्थ [स्तोत्र] में स्तुति किये जाते हैं ।। ११ ।।

भावार्थः--मनुष्यों को चाहिये कि मन, वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र आदि को स्वस्थ रख कर विघ्नों को हटावें ।। ११ ।।

विशेषः--ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ४९ में (साकमश्वम्) को साम अर्थात् स्तोत्र लिखा है और उसके सायण भाष्य में निम्नलिखित मन्त्रों की ओर साकमश्व साम के लिये संकेत किया है ।

१--एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ २--यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् । तत्रा सदः कृणवसे ॥ ३--नहि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां वसो । अथा दुवो वनवसे ॥ ऋग्० ६ । १६ । १६--१८, साम० उ० १ । १ । तृच २२, मन्त्र १, यजु० २६ । १३ ॥ १--(अग्ने) हे अग्ने ! [तेजस्वी विद्वान्] (उ) अवश्य (आ इहि) तू आ, (ते) तेरे लिये (इत्था) सत्य सत्य (इतराः) दूसरी (गिरः) वाणियों को (सु) सुन्दर प्रकार से (ब्रवाणि) मैं कहूँ, (एभिः) इन (इन्दुभिः) ऐश्वर्य वाले पदार्थों से (वर्धासि) तू बढ़ ।। २--[हे विद्वन् !] (यत्र क्व च) जहां कहीं भी (ते मनः) तेरा मन हो, (तत्र) वहां तू (सदः) स्थान (कृणवसे) करता है, [क्योंकि] तू (उत्तरं दक्षम्) अति श्रेष्ठ बल (दधसे) रखता है ।। ३--(नेमानां वसो) हे नीतियों में वास करने वाले पुरुष ! (ते) तेरा (पूर्तम्) पूर्ति करने वाला कर्म (अक्षिपत्) [हमारी] आँखों से गिरने वाला (नहि भुवत्) नहीं होवे, (अथ) इसलिये (दुवः) [हमारी] सेवा को (वनवसे) तू स्वीकार कर ।।

कण्डिका १२ ।।

प्रजापतिर्ह्येतेभ्यः पञ्चभ्यः प्राणेभ्यो देवान् ससृजे । यदु चेदं किंच पाङ्क्तं तत् सृष्ट्वा व्याज्वलयत् । ते होचुर्देवाः, म्लानोऽयं पिता मयोभूः, पुनरिमं समीर्योत्थापया[१]म इति । स ह सत्त्वमाख्यायाभ्युपतिष्ठते, यदि ह वा अपि निर्णिक्तस्यैव कुलस्य सन्ध्युक्षेण यजते, सत्त्वं हैवाख्यायाभ्युपतिष्ठते । यो वै प्रजापतिः स यज्ञः । स एतैरेव पञ्चभिः प्राणैः समीर्योत्थापितः । ये ह वा एनं पञ्चभिः प्राणैः समीर्योदस्थापयंस्ता उ एवैताः पञ्च देवता उक्थे शस्यन्ते ।। १२ ।।

पालकः (विष्णुः) व्यापकः (समीर्य) संगत्य (उदस्थापयन्) उत्थापितवन्तः । निःसारितवन्तः ॥

---

१. पू. सं. "उत्थापयामीति" पाठः ।। सम्पा० ।।

कण्डिका १२ ॥ आख्यायिका—प्रजापति पांच प्राणों से पांच देवताओं को उत्पन्न करता है और पांच देवता स्तुति किये जाते हैं ॥

(प्रजापतिः हि एतेभ्यः पञ्चभ्यः प्राणेभ्यः देवान् ससृजे) प्रजापति [इन्द्रिय आदि प्रजा के पालक यज्ञ] ने ही इन पांच प्राणों से देवताओं को उत्पन्न किया [देखो कण्डिका ११] । (यत् उ च इदं किंच पाङ्क्तं तत् सृष्ट्वा व्याज्वलयत्) और जो कुछ भी पाङ्क्त [पङ्क्ति पांच वा विस्तार में होने वाला] है, उसको उत्पन्न करके उसने विविध प्रकार प्रकाशित किया । (ते ह देवाः ऊचुः, अयं मयोभूः पिता म्लानः, पुनः इमं समीर्य उत्थापयामः इति) वे ही देवता बोले—यह सुख पहुँचाने वाला पिता [प्रजापति] मुरझाया हुआ है, फिर इसको हम मिलकर उठावें । (सः ह सत्त्वम् आख्याय अभ्युपतिष्ठते) वह [प्रजापति] ही सत्त्व [पौरुष] दिखा कर सब ओर उपस्थित हुआ । (यदि ह वै अपि निर्णिक्तस्य एव कुलस्य सन्ध्युक्षेण यजते, सत्त्वं ह एव आख्याय अभ्युपतिष्ठते) जब ही मनुष्य निश्चय करके शुद्ध किये हुये ही कुल के संयोग बढ़ाने से यज्ञ करता है, वह पुरुषार्थ ही दिखाकर सब ओर उपस्थित होता है । (यः वै प्रजापतिः सः यज्ञः) जो ही प्रजापति है वह यज्ञ है । (सः एतैः एव पञ्चभिः प्राणैः समीर्य उत्थापितः) वह [प्रजापति वा यज्ञ] इन ही पांच प्राणों से मिल कर उठाया गया है । (ये ह वै एनं पञ्चभिः प्राणैः समीर्य उदस्थापयन्, ताः उ एव एताः पञ्च देवताः उक्थे शस्यन्ते) जिन ही [देवताओं] ने इस [प्रजापति वा यज्ञ] को पांच प्राणों से मिल कर उठाया है, वे ही यह पाँच देवता उक्थ [स्तोत्र] में स्तुति किये जाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ:—कण्डिका ११ के विषय का विशेष वर्णन है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३ ॥

तदाहुः, यद् द्वयोर्देवतयो स्तुवत इन्द्राग्न्योरिति, अथ कस्माद्भूयिष्ठो देवता उक्थे शस्यन्त इति । अन्तो वा आग्निमारुतमन्तरुक्थान्यन्त आश्विनं कनीयसीषु देवतासु स्तुवते, अन्तेष्विति । अथ कस्माद् भूयिष्ठो देवता उक्थे शस्यन्त इति । द्वे द्वे उक्थमुखे भवतः, तद्यद् द्वे द्वे ॥ १३ ॥

१२—(देवान्) इन्द्रियाणां दिव्यव्यापारान् (ससृजे) सृष्टवान् (पाङ्क्तम्) पङ्क्तिभवम् । पञ्चभवम् । विस्तारयुक्तम् (व्याज्वलयत्) विशेषेण अदीपयत् (म्लानः) म्लै हर्षक्षये—क्तः । ग्लानियुक्तः (मयोभूः) मिञ् हिंसायाम् —असुन् । मिनोति हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्—निघ० ३ । ६ । मयः+भू सत्तायाम्—क्विप् । सुखस्य भावयिता प्रापकः (सत्त्वम्) सत्ताम् । पौरुषम् (आख्याय) व्याख्याय । प्रसिद्धं कृत्वा (निर्णिक्तस्य) णिजिर् शोधे—क्तः । निरन्तरशोधितस्य (सन्ध्युक्षेण) उक्ष सेचने वृद्धौ च घञ् । उक्षणः उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेनेति वा—निरु० १२ । ९ । संयोगवर्धनेन (समीर्य) संगत्य ॥

कण्डिका १३ ॥ उक्थ में दो इन्द्र और अग्नि की स्तुति रहते हुये बहुत देवताओं की स्तुति का विचार ॥

(तत् आहुः, यत् द्वयोः देवतयोः इन्द्राग्न्योः स्तुवते इति, अथ कस्मात् भूयिष्ठः देवताः उक्थे शस्यन्ते इति) फिर लोग कहते हैं--जब दो देवताओं इन्द्र और अग्नि [मन और वाणी, क० ११] की स्तुति करते हैं, फिर किस लिये बहुत से देवता उक्थ [स्तोत्र] में स्तुति किये जाते हैं । (अन्तः वै आग्निमारुतम्, अन्तः उक्थानि, अन्तः आश्विनम्, अन्तेषु कनीयसीषु देवतासु स्तुवते इति) अन्त ही अग्नि और मरुत् देवता वाला स्तोत्र है, अन्त उक्थ हैं, अन्त दोनों अश्वियों का स्तोत्र है, अन्तों [स्तोत्रों के अन्तों] में छोटे-छोटे देवताओं की स्तुति करते हैं । (अथ कस्मात् भूयिष्ठः देवताः उक्थे शस्यन्ते इति) फिर किस लिये बहुत से देवता उक्थ में स्तुति किये जाते हैं । [शंका समाधान] (द्वे द्वे उक्थमुखे भवतः, तत् यत् द्वे, द्वे) दो दो उक्थमुख [उक्थ के आरम्भ के स्तोत्र] होते हैं, इस लिये जो दो हैं, [वे] दो [देवता] हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः--कण्डिका ११ का विशेष वर्णन है ॥ १३ ॥

विशेषः--मिलाओ कण्डिका ११ से ॥

कण्डिका १४ ॥

अथ यदैन्द्रावारुणं मैत्रावरुणस्योक्थं भवति । ऐन्द्राबार्हस्पत्यं ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थं भवति । ऐन्द्रावैष्णवमच्छावाकस्योक्थं भवति । द्वे संशस्यंस्त ऐन्द्रं च वारुणञ्चैकमैन्द्रावारुणं भवति । द्वे संशस्यंस्त ऐन्द्रं च बार्हस्पत्यञ्चैकमैन्द्राबार्हस्पत्यं भवति । द्वे संशस्यंस्त ऐन्द्रं च वैष्णवञ्चैकमैन्द्रावैष्णवं भवति । द्वे द्वे उक्थमुखे भवतः, तद्यद् द्वे द्वे ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ तीन ऋत्विजों के अलग अलग उक्थ और दो दो देवता वाले उक्थ हैं ॥

(अथ यत् मैत्रावरुणस्य ऐन्द्रावारुणम् उक्थं भवति) फिर जो मैत्रावरुण [ऋत्विज्] का इन्द्र और वरुण [मन और प्राण—क० ११] देवता वाला उक्थ [स्तोत्र] होता है [उस का वर्णन] । (ब्राह्मणाच्छंसिनः ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् उक्थं भवति) ब्राह्मणाच्छंसी [ऋत्विज्] का इन्द्र और बृहस्पति [मन और आँख] देवता वाला उक्थ होता है, (अच्छावाकस्य ऐन्द्रावैष्णवम् उक्थं भवति) और अच्छावाक [ऋत्विज्] का

१३—(आहुः) कथयन्ति (स्तुवते) स्तुवन्ति । स्तुतिं कुर्वन्ति (भूयिष्ठः) बहु—इष्ठन् । पुंस्त्वमेकवचनत्वं चार्षम् । भूयिष्ठाः । बहुतमाः (आश्विनम्) अश्विनोरिदम् अण् अश्विदेवताकं स्तोत्रम् (कनीयसीषु) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् (पा० ५ । ३ । ६४) अल्प--ईयसुन्, ङीप् कन् इत्यादेशः अल्पतरासु ॥

१४—(संशस्यम्) संशस्ये । स्तोतव्ये (स्तः) भवतः ॥

इन्द्र और विष्णु [मन और कान] देवता वाला उक्थ होता है। (द्वे ऐन्द्रं च वारुणं च संशस्यं स्तः, एकम् ऐन्द्रावारुणं भवति) [इस लिये] इन्द्र और वरुण [मन और प्राण] देवता वाले [स्तोत्र] स्तुति योग्य हैं, एक इन्द्र और वरुण देवता वाला उक्थ होता है, (द्वे ऐन्द्रं च बार्हस्पत्यं च संशस्यं स्तः, एकम् ऐन्द्राबार्हस्पत्यं भवति) दो इन्द्र और बृहस्पति [मन और आंख] देवता वाले [स्तोत्र] स्तुति योग्य हैं, एक इन्द्र और बृहस्पति [मन और आँख] देवता वाला [उक्थ] होता है, (द्वे ऐन्द्रं च वैष्णवं च संशस्यं स्तः, एकम् ऐन्द्रावैष्णवं भवति) दो इन्द्र और विष्णु [मन और कान] देवता वाले [स्तोत्र] स्तुति योग्य हैं, एक इन्द्र और विष्णु [मन और कान] देवता वाला [उक्थ] होता है। (द्वे द्वे उक्थमुखे भवतः, तत् यत् द्वे द्वे) दो उक्थमुख [उक्थ के आरम्भ के स्तोत्र] होते हैं, इस लिये जो दो हैं, [वे] दो [देवता] हैं ॥१४॥

भावार्थः—कण्डिका ११ का विशेष वर्णन है ॥ १४ ॥

विशेषः—मिलाओ कण्डिका ११ ॥

कण्डिका १५ ॥

अथ यदैन्द्रावारुणं मैत्रावरुणस्योक्थं भवति । इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रताविति ऋचाभ्यनूक्तम् । मद्वद्धि तृतीयसवनम् । एह्यू षु ब्रवाणि त आग्निरगामि भारत इति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ । चर्षणीधृतं मघवान-मुक्थ्यमित्युक्थमुखम् । तस्योपरिष्टाद् ब्राह्मणम् । अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा इति वारुणं सांशंसिकम् । अहञ्चेति वरुणोऽब्रवीद्देवतयोः संशंसायानतिशंसाय । इन्द्रावरुणा युवमध्वराय न इति पर्य्यास ऐन्द्रावारुणे । ऐन्द्रावारुणमस्यैतन्नित्य-मुक्थम् । तदेतत् स्वस्मिन्नायतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति । द्वन्द्वं वा एता देवता भूत्वा व्यजयन्त विजित्या एव । अथो द्वन्द्वस्यैव मिथुनस्य प्रजात्यै सैकपादिनी भवति । एकपादिन्या होता परिदधाति । यत्र होतुर्होत्रकाणां युञ्जन्ति, तत् समृद्धन्तद्वै खल्वा वां राजानावध्वरे ववृत्यामिति । एवमेव केवलपर्य्यासं कुर्य्यात् । केवलसूक्तं केवलसूक्तमेवोत्तरयोर्भवति । इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्येति यजति । एते एव तद् देवते यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्यानुवषट्करोति । प्रत्येवाभि-मृशन्ते नाप्यायन्ति न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ १५ ॥

कण्डिका १५ ॥ एकाह यज्ञ के तृतीयसवन के उक्थ में मैत्रावरुण ऋत्विज् के मन्त्र ॥

(अथ यत् मैत्रावरुणस्य ऐन्द्रावारुणम् उक्थं भवति) फिर जो मैत्रावरुण [ऋत्विज्] का इन्द्र और वरुण [मन और प्राण क० ११] देवता वाला उक्थ [स्तोत्र] होता है [उसका वर्णन]। (इन्द्रावरुणा सुतपौ इमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ— इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) इन्द्रावरुणा सुतपौ...... १—इस ऋचा करके अनुकूल कहा गया है। (मद्वत् हि तृतीयसवनम्) हर्ष युक्त [अथवा मद शब्द वाला] ही तृतीयसवन

१५—(मद्वत्) मदी हर्षे - क्विप्, मतुप् । हर्षयुक्तम् । मदशब्दयुक्तम् (आ

है । (एहि उ षु ब्रवाणि ते, आग्निरगामि भारतः—इति मैत्रावरुणस्य स्तोत्रियानुरूपौ) एहि उ षु ब्रवाणि ते······२—आ अग्निः अगामि भारतः······३—यह दो मन्त्र मैत्रावरुण के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं । (चर्षणीधृत मघवानम् उक्थ्यम्······इति उक्थमुखम्) चर्षणीधृतं मघवानम् उक्थ्यम्······४—यह मन्त्र [मैत्रावरुण का] उक्थमुख है । (तस्य उपरिष्टात् ब्राह्मणम्) उसके उपरान्त ब्राह्मण है । (अस्तभ्नाद् द्याम् असुरः विश्ववेदाः, इति वारुणं सांशंसिकम्) अस्तभ्नाद् द्याम् असुरः विश्ववेदाः······५—यह मन्त्र वरुण देवता वाला सांशंसिक [यथार्थ प्रशंसायुक्त उक्थ] है । (अहं च इति वरुणः अब्रवीत् देवतयोः संशंसाय अनतिशंसाय) और मैं—यह वरुण ने कहा [क० ११], वह दो देवताओं की यथार्थ प्रशंसा के लिये है जो अत्युक्ति बिना प्रशंसा हो। (इन्द्रावरुणा युवम् अध्वराय नः······इति ऐन्द्रावारुणे पर्य्यासः) इन्द्रावरुणा युवम् अध्वराय नः······६—यह मन्त्र इन्द्र और वरुण वाले [उक्थ] में पर्य्यास [अन्त] है । (अस्य ऐन्द्रावारुणम् एतत् नित्यम् उक्थम्) इस [मैत्रावरुण ऋत्विज्] का इन्द्र और वरुण देवता वाला यह नित्य उक्थ है । (तत् एतत् स्वस्मिन् आयतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति) सो यह [उक्थ] अपने स्थान में और अपनी प्रतिष्ठा में [यजमान को] स्थापित करता है। (एताः देवताः द्वन्द्वं वै भूत्वा विजित्यै एव व्यजयन्त) इन देवताओं ने दो दो होकर विजय के लिये ही विजय पाया है । (अथो द्वन्द्वस्य एव मिथुनस्य प्रजात्यै सा एकपादिनी भवति) फिर दो दो [देवता] वाले ही मिथुन [ज्ञान वा जोड़] की उत्पत्ति के लिए वह [स्तुति वा ऋचा] एक पाद वाली होती है । (एकपादिन्या होता परिदधाति) एक पाद वाली [ऋचा] से होता परिधानीया इष्टि करता है । (यत्र होतुः होत्रकाणां युञ्जन्ति, तत् समृद्धम्) जहाँ होता के होत्रक लोगों [सहायक ऋत्विजों] का वे योग करते हैं, वह समृद्ध [सफल] होता है। (तत् वै खलु—आ वां राजानौ अध्वरे ववृत्याम् इति) वह ही यह मन्त्र है—आ वां राजानौ अध्वरे ववृत्याम्······७—(एवम् एव केवलपर्यासं कुर्यात्) इस प्रकार से

इहि) आगच्छ (ब्रवाणि) कथयानि (ते) तुभ्यम् (आ) समन्तात् (अग्निः) अग्निरिव तेजस्वी पुरुषः (अगामि) गम्यते (भारतः) भृमृदृशियजि० (उ० ३ । ११०) भृञ् भरणे—अतच् । प्रज्ञादिभ्यश्च (पा० ५ । ४ । ३८) स्वार्थे—अण् । भारताः, ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । भर्ता । पोषकः (चर्षणीधृतम्) मनुष्याणां धर्तारम् (मघवानम्) बहुधनयुक्तम् (उक्थ्यम्) प्रशंसनीयम् (अस्तभ्नात्) स्थापितवान् (द्याम्) सूर्यलोकम् (असुरः) असुरिति प्रज्ञानाम–निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः । प्रज्ञावान् (विश्ववेदाः) वेदो धनम्—निघ० २ । १० । सर्वधनः (सांशंसिकम्) संशंस—ठक् । सम्यक् प्रशंसायुक्तमुक्थम् (संशंसाय) प्रशंसनाय (अनतिशंसाय) अत्युक्तिरहिताय प्रशंसनाय । यथावत् प्रशंसनाय (द्वन्द्वम्) द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचन० (पा० ८ । १ । १५) द्वि द्वि. पूर्वपदस्य इकारस्य अम्, उत्तरस्य इकारस्य अत्वम् । द्वंद्वे (मिथुनम्) मिथृ वधे मेधायां च–उनन् । ज्ञानम् । युगलम् (एकपादिनी) एकपादयुक्ता ऋक् (परिदधाति) परिधानीयां यजति (वाम्)

ही केवलपर्यास [एक देवता के स्तोत्र वाला अन्तिम उक्थ] करे। (केवलसूक्तं केवलसूक्तम् एव उत्तरयोः भवति) केवलसूक्त, केवलसूक्त [एक देवता की स्तुति वाला सूक्त] ही पिछले दो [देवताओं] का होता है। (इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य ······ इति यजति) इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य ······ ८—इस मन्त्र से वह याज्या आहुति देता है। (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति, वषट्कृत्य अनुवषट्करोति) इन ही दो देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों [नेताओं] की स्तुति बिना यज्ञ [यजमान को] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते हैं। देखो क० ३] ॥ १५ ॥

भावार्थः—योग्य पुरुष योग्य देवता की स्तुति योग्य विचारों से करे ॥ १५ ॥

विशेषः—नीचे शुद्धि पत्र देखो ॥

अशुद्ध	शुद्ध	प्रमाण
एत्यू	एह्यू	वेदमन्त्र
ता अग्नि	त आग्नि	,,
मघवानमुक्थम्	मघवानमुक्थ्यम्	,,
अस्तभ्नाद्याम्	अस्तभ्नाद् द्याम्	,,
नित्युक्थम्	नित्यमुक्थम्	कण्डिका १६, १७
राजानामध्वरे	राजानावध्वरे	वेदमन्त्र
ऽववृत्याम्	ववृत्याम्	,,

विशेषः—२—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं।

१—इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ······॥ यह मन्त्र आ चुका है, गो० ब्रा० उ० २ । २२, विशेषः ३ ॥

२—एह्यू षु ब्रवाणि ते······ ॥ आ चुका है—गो० ब्रा० उ० ४ । ११, विशेषः ॥

३—आग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः। दिवोदासस्य सत्पतिः—ऋ० ६ । १६ । १९ ॥ (दिवोदासस्य) प्रकाश के देने वाले का (भारतः) पोषण करने वाला, (वृत्रहा) शत्रुओं को मारने वाला, (पुरुचेतनः) बहुत चेतना वाला, (सत्पतिः) सत्पुरुषों का पालने वाला (अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी पुरुष] (आ अगामि) सब ओर से प्राप्त किया जाता है ॥

४—चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्य १ मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत। वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे—ऋ० ३ । ५१ । १, सा० पू० ४ । ९ । ५ ॥ (बृहतीः) बड़े विषय वाली (गिरः) [विद्वानों की] वाणियाँ (चर्षणीधृतम्) मनुष्यों के धारण

युवाम् (राजानौ) ऐश्वर्यवन्तौ (अध्वरे) हिंसारहितयागे (आ ववृत्याम्) आवर्तयामि । आह्वयामि ॥

करने वाले, (मघवानम्) बहुत धन वाले, (उक्थ्यम्) प्रशंसा योग्य, (वावृधानम्) बढ़ते हुये, (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे गये (अमर्त्यम्) अमर, (सुवृक्तिभिः) सुन्दर ग्रहण योग्य क्रियाओं से (जरमाणम्) स्तुति किये जाते हुये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य्य वाले राजा] की (दिवेदिवे) दिन दिन (अभि) सब ओर से (अनूषत) बड़ाई करें ॥

५--अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः । आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि--ऋ० ८ । ४२ । १ ॥ (असुरः) बुद्धिमान्, (विश्ववेदाः) सम्पूर्ण धन वाले परमात्मा ने (द्याम्) सूर्य लोक को (अस्तभ्नात्) थांभा है, और (पृथिव्याः) पृथिवी की (वरिमाणम्) चौड़ाई को (अमिमीत) नापा है । (सम्राट्) सम्राट् [वह राजराजेश्वर परमात्मा] (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवनों में (आ असीदत्) आकर बैठा है, (तानि इत्) वे ही (विश्वा) सब (वरुणस्य) वरुण [स्वीकार करने योग्य परमेश्वर] के (व्रतानि) कर्म हैं ॥

६--इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् । दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः--ऋ० ७ । ८२ । १ ॥ (इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र और वरुण ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा और स्वीकार करने योग्य मन्त्री] (युवम्) तुम दोनों (अध्वराय) हिंसा रहित यज्ञ के लिये (नः) हमारी (विशे) प्रजा को और (जनाय) कुटुम्बियों को (महि) बड़ा (शर्म) स्थान (यच्छतम्) दो (यः) जो [शत्रु] (दीर्घप्रयज्युम्) बड़े यज्ञ करने वाले पुरुष को (अति) उल्लंघन करके (वनुष्यति) मारे, [उसको और] (दूढ्यः) दुर्बुद्धियों को (पृतनासु) संग्रामों में (वयं जयेम) हम जीतें ॥

७--आ वां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः । प्र वां घृताची बाह्वोर्दधाना परि त्मना विषुरूपा जिगाति--ऋ० ७ । ८४ । १ ॥ (राजानौ) हे राजाओ (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा और स्वीकार करने योग्य मन्त्री] (वाम्) तुम दोनों को (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (हव्येभिः) देने और लेने योग्य पदार्थों और (नमोभिः) सत्कारों से (आ ववृत्याम्) मैं लौटाऊँ । (बाह्वोः) [हमारी] दोनों भुजाओं में (दधाना) रक्खी हुई (घृताची) घृत पहुँचाने वाली [चमची] (त्मना) अपने आप (विषुरूपा) नानाविध स्वभाव वाले (वाम्) तुम दोनों को (परि) सब ओर से (प्र जिगाति) पहुँच जाती है ।

८--इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् । इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम्--अथर्व० ७ । ५८ । २, ऋ० ६ । ६८ । ११ ॥ (वृषणा) हे बलिष्ठ ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु [के समान राजा और प्रजाजनो] तुम (मधुमत्तमस्य) अत्यन्त ज्ञानयुक्त, (वृष्णः) बल करने वाले (सोमस्य) ऐश्वर्य की (आ वृषेथाम्) भले प्रकार वर्षा करो । (वाम्) तुम दोनों का (इदम्) यह (परिषिक्तम्) सब प्रकार सींचा हुआ (अन्धः) अन्न है, (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठ कर (मादयेथाम्) आनन्दित करो ॥

कण्डिका १६ ॥

अथ यदैन्द्राबार्हस्पत्यं ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थं भवति इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू इत्यृचाभ्यनूक्तं मद्वद्धि तृतीयसवनम् । वयमु त्वामपूर्व्य यो न इदमिदं पुरेति ब्राह्मणाच्छंसिन स्तोत्रियानुरूपौ । प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रय इत्युक्थमुखम् । ऐन्द्रं जागतं, जागताः पशवः, पशूनामाप्त्यै । जागतमु वै तृतीयसवनं तृतीयसवनस्य रूपम् । उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा इति बार्हस्पत्यं सांशंसिकम् । अहञ्चेति बृहस्पतिरब्रवीत्, देवतयोः संशंसायानतिशंसाय । अच्छाम इन्द्रं मतयः स्वर्विद इति पर्य्यास ऐन्द्राबार्हस्पत्ये । ऐन्द्राबार्हस्पत्यमस्यैतन्नित्यमुक्थम् । तदेतत् स्वस्मिन्नायतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति । द्वन्द्वं वा एता देवता भूत्वा व्यजयन्त विजित्या एव, अथो द्वन्द्वस्यैव मिथुनस्य प्रजात्यै । बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादित्यैन्द्राबार्हस्पत्या परिदधाति । इन्द्राबृहस्पत्योरेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति, उतोत्तरस्मादधरादघायोरिन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोत्विति । सर्वाभ्य एव दिग्भ्य आशिषमाशास्ते, नार्त्वीयं कामं कामयते । सोऽस्मै कामः समृध्यते, य एवं वेद, यश्चैवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंस्येतया परिदधाति । बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्व इति यजति । एते एव तद्देवते यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्यानुवषट् करोति प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ १६ ॥

कण्डिका १६ ॥ एकाह यज्ञ के तृतीय सवन के उक्थ में ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विज् के मन्त्र ॥

(अथ यत् ब्राह्मणाच्छंसिनः ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् उक्थं भवति) फिर जो ब्राह्मणाच्छंसी [ऋत्विज्] का इन्द्र और बृहस्पति [मन और आँख—क० ११] देवता वाला उक्थ [स्तोत्र] होता है [उसका वर्णन]। (इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू ···इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) इन्द्रः च सोमं पिबतं··· १—इस ऋचा करके अनुकूल कहा गया है। (मद्वत् हि तृतीयसवनम्) हर्ष युक्त [अथवा मद शब्द वाला] ही तृतीय सवन है। (वयमु त्वामपूर्व्य, यो नः इदमिदं पुरा—इति ब्राह्मणाच्छंसिनः स्तोत्रियानुरूपौ) वयम् उ त्वाम् अपूर्व्य······२, और, यः न इदमिदं पुरा······३—यह दो मन्त्र ब्राह्मणाच्छंसी के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं। (प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये·····इति उक्थमुखम्) प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये······

१६—(बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (मन्दसाना) मदि आमोदस्तुतिदीप्त्यादिषु—असानच्। आमोदयितारौ (वृषण्वसू) यौ वृष्णो बलवतो वीरान् वासयतस्तौ (अपूर्व्य) स्वार्थे-यत् नास्ति पूर्वः श्रेष्ठो यस्मात् सः अपूर्वः, अपूर्व्यः। हे अनुपम (इदमिदम्) बहुनिर्दिष्टम् (पुरा) अग्रे (मंहिष्ठाय) मंहतेर्दानकर्मा—निघ० ३। २०। महि वृद्धौ दाने च—तृच्, मंहितृ—इष्ठन्, तृलोपः। दातृतमाय (बृहते) गुणैर्महते (बृहद्रये) रै शब्दस्य ऐकारस्य एकारः। प्रभूतधनाय (जागतम्) जगत्

४—यह मन्त्र [ब्राह्मणाच्छंसी का] उक्थमुख है । (ऐन्द्रं जागतं, जागताः पशवः, पशूनाम् आप्त्यै) इन्द्र देवता वाला [स्तोत्र] जगत् का हितकारी है, जगत् के हितकारी पशु हैं, पशुओं की प्राप्ति के लिये [यह स्तोत्र है] । (जागतम् उ वै तृतीयसवनं तृतीयसवनस्य रूपम्) जगत् का हितकारी ही तीसरा सवन है [और पूर्वोक्त कर्म] तृतीय सवन का रूप है । (उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः……इति बार्हस्पत्यं सांशंसिकम्) उदप्रुतः न वयः रक्षमाणाः……५—यह मन्त्र बृहस्पति देवता वाला सांशंसिक [यथार्थ प्रशंसायुक्त उक्थ] है । (अहं च इति बृहस्पतिः अब्रवीत्, देवतयोः संशंसाय अनतिशंसाय) और मैं—यह बृहस्पति ने कहा [क० ११], वह दो देवताओं की यथार्थ प्रशंसा के लिये है जो अत्युक्ति विना प्रशंसा हो । (अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः……इति ऐन्द्राबार्हस्पत्ये पर्य्यासः) अच्छा मे इन्द्रं मतयः स्वर्विदः…१… ६—यह मन्त्र इन्द्र और बृहस्पति वाले [उक्थ] में पर्य्यास [अन्त] है । (अस्य ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् एतत् नित्यम् उक्थम्) इस [ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विज्] का इन्द्र और बृहस्पति देवता वाला यह नित्य उक्थ है । (तत् एतत् स्वस्मिन् आयतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति) सो यह [उक्थ] अपने स्थान में और अपनी प्रतिष्ठा में [यजमान को] स्थापित करता है । (एताः देवताः द्वन्द्वं वै भूत्वा विजित्यै एव व्यजयन्त) इन देवताओं ने दो दो होकर विजय के लिए ही विजय पाया है । (अथो द्वन्द्वस्य एव मिथुनस्य प्रजात्यै) फिर दो दो [देवता] वाले ही मिथुन [ज्ञान वा जोड़] की उत्पत्ति के लिये है । (बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चात्… इति ऐन्द्राबार्हस्पत्या परिदधाति) बृहस्पतिः नः परि पातु पश्चात्…… ७—इस इन्द्र और बृहस्पति वाली [ऋचा] से वह परिधानीया इष्टि करता है । (इन्द्राबृहस्पत्योः एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति) इन्द्र और बृहस्पति के ही यज्ञ को वह स्थापित करता है । (उत उत्तरस्मात् अधरात् अघायोः इन्द्रः पुरस्तात् उत मध्यतः नः सखा सखिभ्यः वरिवः कृणोतु इति) उत उत्तरस्माद्…… यह [पूर्वोक्त मन्त्र ७ के तीन पाद बोले जाते हैं] (सर्वाभ्यः एव दिग्भ्यः आशिषम् आशास्ते, अत्वीयं कामं न कामयते) सब ही दिशाओं से वह आशीर्वाद चाहता है और निन्दा योग्य कामना नहीं चाहता । (सः कामः अस्मै समृध्यते, यःएवं वेद, यः च एवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी एतया परिदधाति) वह काम [कामना योग्य पदार्थ] उस के लिये समृद्ध [सफल] होता है, जो ऐसा जानता है, और ऐसा

अण् । जगते हिताय (उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—क्विप् । उदकं प्राप्ताः (न) यथा (वयः) पक्षिणः (रक्षमाणाः) आत्मानं पालयन्तः (अच्छ) सुष्ठु (मे) मम (मतयः) बुद्धयः (स्वर्विदः) सुखस्य लम्भयित्र्यः (बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां रक्षकः सेनापतिः (नः) अस्मान् (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (ऐन्द्राबार्हस्पत्या) विभक्तेर्लुक् । ऐन्द्राबार्हस्पत्यया ऋचा (उत) अपि च (उत्तरस्मात्) ऊर्ध्वलोकात् (अधरात्) अधस्तनलोकात् (अघायोः) पापेच्छुकात् । दुराचारिणः (पुरस्तात्) अग्रे (नः) अस्मभ्यम् (सखा) सुहृत् (सखिभ्यः) मित्राणां हिताय (वरिवः) वृञ् वरणे यङ्लुकि—ऋतश्च (पा० ७ । ४ । ९२) अभ्यासस्य

विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी [ऋत्विज्] इस [स्तुति] से परिधानीया इष्टि करता है। (बृहस्पते युवम् इन्द्रश्च वस्वः······इति यजति) बृहस्पते युवम् इन्द्रः च वस्वः···८—इस मन्त्र से वह याज्या आहुति देता है। (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्य अनुवषट्करोति) इन ही दोनों देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों [नेताओं] की स्तुति बिना यज्ञ [यजमान को] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते हैं। देखो क० ३]॥ १६॥

भावार्थः—कण्डिका १५ के समान है॥ १६॥

विशेष : १—(बृहद्रथ) के स्थान पर (बृहद्रय) वेदमन्त्र से शुद्ध किया है॥

विशेषः २--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१--इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू। आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्---अथर्व० २०। १३। १, ऋग्० ४। ५०। १०॥ (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (मन्दसाना) आनन्द देने वाले, (वृषण्वसू) बलवान् वीरों के निवास कराने वाले तुम दोनों (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों के रस] को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ [राजपालन व्यवहार] में (पिबतम्) पीओ। (स्वाभुवः) अच्छे प्रकार सब ओर होने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य (वाम्) तुम दोनों में (आ विशन्तु) प्रवेश करें, (अस्मे) हम को (सर्ववीरम्) सबको वीर बनाने वाला (रयिम्) धन (नि) नियम पूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दो॥

२--वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे – अथर्व २०। १४। १, ऋग्० ८। २१। १, साम० पू० ५। २। १०॥ (अपूर्व्य) हे अनुपम ! [राजन्] (कत् चित्) कुछ भी (स्थूरम्) स्थिर वस्तु (न) नहीं (भरन्तः) रखते हुये, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (वयम्) हम (वाजे) संग्राम के बीच (चित्रम्) विचित्र स्वभाव वाले (त्वाम्) तुझ को (उ) ही (हवामहे) बुलाते हैं॥

३--यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु वः स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये—अथर्व० २०। १४। ३, ऋग्० ८। २१। ९, साम० उ० ५। २। २॥ (यः) जो [पराक्रमी] (नः) हमारे लिये (इदमिदम्) इस--इस (वस्यः) उत्तम वस्तु

रिगागमः, वरिवो धननाम--निघ० २। १०। वरणीयं धनम् (कृणोतु) करोतु (अर्त्वीयम्) भृमृशीङ्० (उ० १। ७) ऋत जुगुप्सायाम्--उप्रत्ययः। अतु--छः। निन्दायोग्यम् (युवम्) युवाम् (वस्वः) वसुनः। धनस्य। अन्यत् पूर्ववत् क० १५॥

को (पुरा) पहिले (प्र) अच्छे प्रकार (आनिनाय) लाया है, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] को, (सखायः) हे मित्रो ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के लिये (स्तुषे) मैं सराहता हूं ॥

४--प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे। अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्–अथर्व० २०। १५। १, ऋग्० १। ५७। १॥ (मंहिष्ठाय) अत्यन्त दानी, (बृहते) महागुणी, (बृहद्रये) महाधनी, (सत्यशुष्माय) सच्चे बलवान् [सभाध्यक्ष] के लिये (तवसे) बल पाने को (मतिम्) बुद्धि (प्र) उत्तम रीति से (भरे) मैं धारण करता हूँ (प्रवणे) ढालू स्थान में (अपाम् इव) जलों के [प्रवाह के] समान, (यस्य) जिस [सभाध्यक्ष] का (दुर्धरम्) बेरोक (विश्वायु) सब को जीवन देने वाला (राधः) धन (शवसे) बल के लिये (अपावृतम्) फैला हुआ है ॥

५--उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः। गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन्—अथर्व २०। १६। १, ऋग्० १०। ६८। १॥ (उदप्रुतः) जल को प्राप्त हुये, (रक्षमाणाः) अपनी रक्षा करते हुये (वयः न) पक्षियों के समान, (वावदतः) बार बार गरजते हुये (अभ्रियस्य) बादल के (घोषाः इव) शब्दों के समान (गिरिभ्रजः) पहाड़ों से गिरते हुये, (मदन्तः) तृप्त करते हुये (ऊर्मयः न) जल के प्रवाहों के समान, (अर्काः) पूजनीय पण्डितों ने (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] को (अभि) सब ओर से (अनावन्) सराहा है ॥

६—अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत। परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये--अथर्व० २०। १७। १, ऋग्० १०। ४३। १॥ (स्वर्विदः) सुख पहुँचाने वाली, (सध्रीचीः) आपस में मिली हुई, (उशतीः) कामना करती हुई, (विश्वाः) सब (मे) मेरी (मतयः) बुद्धियों ने (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] को (अच्छ) अच्छे प्रकार से (अनूषत) सराहा है और (ऊतये) रक्षा के लिये [ऐसे, उसे] (परिष्वजन्ते) सब ओर से घेरती हैं, (यथा) जैसे (जनयः) पत्नियाँ (पतिम्) [अपने अपने] पति को और (न) जैसे (शुन्ध्युम्) शुद्ध आचार वाले (मघवानम्) महाधनी (मर्यम्) मनुष्य को [लोग घेरते हैं] ॥

७—बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु--अथर्व० २०। १७। ११, ऋग्० १०। ४३। ११॥ (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से, (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा जीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरिवः) सेवनीय धन (कृणोतु) करे, (सखा) [जैसे] मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [धन करता है] ॥

८—बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य । धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः—अथर्व० २० । १७ । १२, ऋ० ७ । ९७ । १० ॥ (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) आकाश के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवी के (वस्वः) धन के (ईशाथे) स्वामी हो । (स्तुवते) स्तुति करते हुये (कीरये) विद्वान् को (रयिम्) धन को (चित्) अवश्य (धत्तम्) तुम दोनों दो, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥

कण्डिका १७ ॥

अथ यदैन्द्रावैष्णवमच्छावाकस्योक्थं भवति इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधानेत्यृचाभ्यनूक्तम् । मद्वद्धि तृतीयसवनम् । अधा हीन्द्र गिर्वण इयन्त इन्द्र गिर्वण इत्यच्छावाकस्य स्तोत्रियानुरूपौ । ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परीत्युक्थमुखम् । तस्योक्तं ब्राह्मणं, नूमर्तो दयते सनिष्यन्निति वैष्णवं सांशंसिकम् । अहञ्चेति विष्णुरब्रवीत्, देवतयोः संशंसायानतिशंसाय । सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीति पर्य्यास ऐन्द्रावैष्णवे । ऐन्द्रावैष्णवमस्यैतन्नित्यमुक्थम् । तदेतत् स्वस्मिन्नायतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति । द्वन्द्वं वा एता देवता भूत्वा व्यजयन्त विजित्या एव । अथो द्वन्द्वस्यैव मिथुनस्य प्रजात्या उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे इत्यैन्द्रावैष्णव्यर्चा परिदधाति, इन्द्राविष्णोरेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति । इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्येति यजति । एते एव तद्देवते यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्यानुवषट्करोति । प्रत्येवाभिमृशन्ते नाप्याययन्ति न ह्यनाराशंसाः सीदन्ति ॥ १७ ॥

कण्डिका १७ ॥ एकाह यज्ञ के तृतीयसवन के उक्थ में अच्छावाक ऋत्विज् के मन्त्र ॥

(अथ यत् अच्छावाकस्य ऐन्द्रावैष्णवम् उक्थं भवति) फिर जो अच्छावाक [अच्छे बोलने वाले ऋत्विज्] का इन्द्र और विष्णु [मन और कान—क० ११] देवता वाला उक्थ [स्तोत्र] होता है [उसका वर्णन]। (इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना······इति ऋचा अभ्यनूक्तम्) इन्द्राविष्णू मदपती ··· १—इस ऋचा करके अनुकूल कहा गया है। (मद्वत् हि तृतीयसवनम्) हर्ष युक्त [अथवा मद शब्द वाला] ही तृतीय सवन है। (अधा हीन्द्र गिर्वणः इयं त इन्द्र गिर्वणः···इति अच्छावाकस्य स्तोत्रियानुरूपौ) अधा हि इन्द्र गिर्वणः··· २—और, इयं ते इन्द्र

१७—(इन्द्राविष्णू) वायुविद्युताविव सभासेनेशौ (मदपती) आनन्दस्य पालकौ (मदानाम्) आनन्दानाम् (सोमम्) ऐश्वर्यम् (आ यातम्) आगच्छतम् (द्रविणो) द्रविणा उ इति पदद्वयमेकीभूय द्रविणो इति सिद्धम्। द्रविणा द्रविणानि धनानि उ अपि (दधाना) दधानौ। धरन्तौ (अध) अद्य। सम्प्रति (हि) एव (गिर्वणः) स्तुतिभिः सेवनीय (ऋतुः) वर्षाकालः (जनित्री)

गिर्वणः······३—यह दो मन्त्र अच्छावाक के स्तोत्रिय और अनुरूप हैं। (ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि······इति उक्थमुखम्) ऋतुः जनित्री तस्याः अपः परि······४—यह मन्त्र [अच्छावाक का] उक्थमुख है। (तस्य उक्तं ब्राह्मणम्) उसका ब्राह्मण कहा गया है। (नू मर्त्तो दयते सनिष्यन्······इति वैष्णवं सांशंसिकम्) नु मर्त्तः दयते सनिष्यन्······ ५—यह मन्त्र विष्णु देवता वाला सांशंसिक [यथार्थ प्रशंसा युक्त उक्थ] है। (अहं च इति विष्णुः अब्रवीत्, देवतयोः संशंसाय अनतिशंसाय) और मैं—यह विष्णु ने कहा [क० ११], वह देवताओं की यथार्थ प्रशंसा के लिये है जो अत्युक्ति बिना प्रशंसा हो। (सं वां कर्मणा समिषा हिनोमि······, इति ऐन्द्रावैष्णवे पर्य्यासः) सं वां कर्मणा······६—यह मन्त्र इन्द्र और विष्णु वाले [उक्थ] में पर्यास [अन्त] है। (अस्य ऐन्द्रावैष्णवम् एतत् नित्यम् उक्थम्) इस [अच्छावाक] का इन्द्र और विष्णु देवता वाला यह नित्य उक्थ है। (तत् एतत् स्वस्मिन् आयतने स्वस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति) सो यह [उक्थ] अपने स्थान में और अपनी प्रतिष्ठा में [यजमान को] स्थापित करता है। (एताः देवताः द्वन्द्वं वै भूत्वा विजित्यै एव व्यजयन्त) इन सब देवताओं ने दो दो होकर विजय के लिये ही विजय पाया है। (अथो द्वन्द्वस्य एव मिथुनस्य प्रजात्यै) फिर दो दो [देवता] वाले ही मिथुन [ज्ञान वा जोड़ा] की उत्पत्ति के लिये है। (उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे······इतिऐन्द्रावैष्णव्या ऋचा परिदधाति) उभा जिग्यथुः न······ ७—इस इन्द्र और विष्णु वाली ऋचा से वह परिधानीया इष्टि करता है। (इन्द्राविष्णोः एव यज्ञं प्रतिष्ठापयति) इन्द्र और विष्णु के यज्ञ को वह स्थापित करता है। (इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य······इति यजति) इन्द्राविष्णू पिबतम्······८—इस मन्त्र से वह याज्या आहुति देता है। (एते एव देवते तत् यथाभागं प्रीणाति वषट्कृत्य अनुवषट्करोति) इन ही दो देवताओं को उससे अपने अपने भाग के अनुसार वह प्रसन्न करता है और वषट्कार करके अनुवषट्कार [अन्तिम आहुति दान] करता है। (प्रति एव अभिमृशन्ते, अनाराशंसाः न आप्याययन्ति न हि सीदन्ति) वे [ऋषि लोग] प्रत्यक्ष ही विचारते हैं—नरों [नेताओं] की स्तुति

जनयित्री। जननी (अपः) जलानि (परि) सर्वतः (नु) शीघ्रम् (मर्त्तः) मनुष्यः (दयते) धनमादत्ते (सनिष्यन्) सर्वधातुभ्यः इन् (उ० ४। ११८) षणु दाने—इन्। सुप आत्मनः क्यच् (पा० ३। १। ८) सनि—क्यच्, लालसायां सुगागमः, ततः शतृ।[1] दातव्यधनमिच्छन् (सम्) सम्यक् (वाम्) युवाम् (कर्मणा) ईप्सिततमेन व्यापारेण (इषा) अन्नेन (हिनोमि) वर्धयामि (उभा) उभौ। इन्द्राविष्णू (जिग्यथुः) लिटि रूपम्। युवां जितवन्तौ शत्रून् (न) निषेधे (पराजयेथे) पराजयं प्राप्नुथः (मध्वः) मधुरस्य। अन्यत् पूर्ववत्॥

---

१. रूपसिद्धि की प्रक्रिया के इतने लम्बे व्यायाम की अपेक्षा लृडन्त सन् धातु से 'लृटः सद्वा' के नियम के अनुसार शतृ प्रत्यय होकर प्रथमा के एकवचन में 'सनिष्यन्' बनाना अधिक श्रेयस्कर है॥ सम्पा०॥

बिना यज्ञ [यजमान का] न बढ़ाते हैं और नहीं चलते हैं [नहीं आप बढ़ते है। देखो क० ३]॥ १७॥

भावार्थ:—कण्डिका १५ के समान है॥ १७॥

विशेष: १—(मदयती) के स्थान पर (मदपती) और (अपसस्परि) के स्थान पर (अपस्परि) वेद मन्त्र से शोधा है॥

विशेष: २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१—इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना। सं वामञ्जन्त्वक्तुभिर्मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः—ऋग्० ६। ६९। ३॥ (इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु [वायु और बिजुली के समान सभापति और सेनापति] (मदानाम्) आनन्दों के बीच (मदपती) आनन्द के पालने वाले और (द्रविणो) धनों के भी (दधाना) धारण करने वाले तुम दोनों (सोमम्) ऐश्वर्य को (आ यातम्) प्राप्त होओ। (मतीनाम्) मनुष्यों के (शस्यमानासः) बोले हुये (स्तोमासः) स्तोम [स्तुति व्यवहार] (अक्तुभिः) तेजों और (उक्थैः) वेद स्तोत्रों के साथ (वाम्) तुम दोनों को (सं सम् अञ्जन्तु) बहुत अच्छे प्रकार प्रकट करें।

२—अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान् महः ससृज्महे। उदेव यन्त उदभिः—अथर्व० २०। १००। १, ऋ० ८। ९८। ७, [सायण भाष्य ८७] साम० उ० १। १। तृच २३ (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र! [महाप्रतापी राजन्] (अध हि) अब ही (त्वा) तुझे (महः) अपनी बड़ी (कामान्) कामनाओं को, (उदा) जल [जल की बाढ़] के पीछे (उदभिः) दूसरे जलों की बाढ़ों के साथ (यन्तः इव) चलते हुये पुरुषों के समान हमने (उप) आदर से (ससृज्महे) समर्पण किया है॥

३—इयं त इन्द्र गिर्वणो रातिः क्षरति सुन्वतः। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि—ऋ० ८। १३। ४॥ (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र! [महाप्रतापी राजन्] (ते) तेरे लिये (सुन्वतः) तत्त्वरस निचोड़ने वाले पुरुष की (इयम्) यह (रातिः) दान क्रिया (क्षरति) बहती है, (मन्दानः) हर्ष करता हुआ तू (अस्य बर्हिषः) इस वृद्धि कारक व्यवहार का (वि) विशेष करके (राजसि) राजा है॥

४—ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि मक्षू जात आविशद्यासु वर्धते। तदाहना अभवत् पिप्युषी पयोंऽशोः पीयूषं प्रथमं तदुक्थ्यम्—ऋ० २। १३। १॥ (ऋतुः) ऋतु [वर्षाकाल] (जनित्री) [प्रत्येक पदार्थ की] जननी है, (तस्याः परि) उस [जननी] से (जातः) उत्पन्न होकर वह [पदार्थ] (मक्षु) शीघ्र (अपः) जलों में (आ अविशत्) सब प्रकार से प्रवेश करता है, (यासु) जिन [जलों] में (वर्धते) वह बढ़ता है। (तत्) इससे वह [पदार्थ] (आहनाः) पाने योग्य (अभवत्) होता है, और (पयः) रस की (पिप्युषी) बढ़ाने वाली [वह जननी ऋतु होती है]। (तत्)

तब (अंशोः) अंशु [ओषधि के डांठल] का (पीयूषम्) पीने योग्य रस (प्रथमम्) मुख्य करके (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय [अथवा उक्थ नामक यज्ञ के योग्य] होता है ॥

५—नू मर्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव उरुगायाय दाशत् । प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमा विवासात्--ऋग्० ७ । १०० । १ ॥ (सनिष्यन्) भक्ति चाहता हुआ (मर्तः) वह मनुष्य (नु) शीघ्र (दयते) [मनोरथ] पाता है, (यः) जो (उरुगायाय) बहुत गाने योग्य (विष्णवे) विष्णु [व्यापक परमात्मा] को (दाशत्) देवे [आत्मदान करे] और (यः) जो (सत्राचा) सत्य को प्राप्त हुये (मनसा) मन से (एतावन्तम्) इतने बड़े (नर्यम्) नरों के हितकारी [विष्णु] को (प्र यजाते) अच्छे प्रकार पूजे और (आविवासात्) सब ओर से सेवे ॥

६—सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य । जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता—ऋ० ६ । ६९ । १ ॥ (इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णु [सूर्य और बिजुली के समान सभापति और सेनापति] (वाम्) तुम दोनों को (अस्य) इस (अपसः पारे) कर्म के पार में (कर्मणा) अत्यन्त चाहे हुये व्यापार और (इषा) अन्न से (सं सं हिनोमि) मैं बढ़ाता हूं, (यज्ञम्) यज्ञ [संगति करण व्यवहार] को (जुषेथाम्) सेवो (च) और (नः) हमको (अरिष्टैः) बेरोक (पथिभिः) मार्गों से (पारयन्ता) पार करते हुये तुम दोनों (द्रविणम्) धन वा यश (धत्तम्) दो ॥

७—उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनयोः । इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्--अथर्व० ७ । ४४ । १, ऋ० ६ । ६९ । ८ ॥ (विष्णो) हे विष्णु ! [बिजुली के समान व्याप्त होने वाले सभापति] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [वायु के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति] (उभा) तुम दोनों ने [शत्रुओं को] (जिग्यथुः) जीता है, और तुम दोनों (न) कभी नहीं (परा जयेथे) हारते हो, (एनयोः) इन [तुम] दोनों में से (कतरः चन) कोई भी (न) नहीं (परा जिग्ये) हारा है। (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्) तुम दोनों ललकारे हो (तत्) तब (सहस्रम्) असंख्य [शत्रु सेना दल] को (त्रेधा) तीन विधि पर [ऊंचे, नीचे और मध्य स्थान में] (वि) बिविध प्रकार से (ऐरयेथाम्) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥

८--इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम् । आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे--ऋग्० ६ । ६९ । ७ ॥ (दस्रा) हे दुःखनाशक (इन्द्राविष्णू) इन्द्र और विष्णु ! [वायु और बिजुली के समान अध्यापक और उपदेशक] तुम दोनों (अस्य) इस (मध्वः) मधुर (सोमस्य) सोम [ओषधियों के रस] का (पिबतम्) पान करो और (जठरम्) पेट को (आ पृणेथाम्) अच्छे प्रकार भरो । (वाम्) तुम दोनों को (मदिराणि) आनन्द देने वाले (अन्धांसि) अन्न (अग्मन्) प्राप्त हुये हैं, (मे) मेरे (ब्रह्माणि) स्तोत्रों और (हवम्) पुकार को (उप शृणुतम्) तुम दोनों समीप से सुनो ॥

कण्डिका १८ ॥

अथाध्वर्य्यो शꣳ,शꣳ,सावोमिति स्तोत्रियायानुरूपायोक्थमुखाय परिधानीयाया इति चतुश्चतुराह्वयन्ते। चतस्रो वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ते। अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनामाप्त्यै। अथो चतुष्पर्वाणो हि तृतीयसवने होत्रकाः तस्माच्चतुः सर्वे त्रैष्टुभं जागतानि शंसन्ति। जागतं हि तृतीयसवनम्। अथ हैतत् त्रैष्टुभान्यप्रतिभूतमिव हि प्रातःसवने मरुत्वतीये तृतीयसवने च होत्रकाणां शस्त्रम्। धीतरसं वा एतत्सवनं, यत्तृतीयसवनम्। अथ हैतदधीतरसं शुक्रियं छन्दः, यत् त्रिष्टुभा यातयामसवनस्यैव तत् सरसतायै। सर्वे समवतीभिः परिदधति, तद्यत्समवतीभिः परिदधति। अन्तो वै पर्य्यासोऽन्त उदर्कोऽन्तः, सजाया उ ह वा अवेनायान्तेनैवान्तं परिदधति। सर्वे मद्वतीभिर्यजन्ति। तद्यन्मद्वतीभिर्यजन्ति सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिरूपाभिर्यजन्ति। यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्। सर्वेऽनुवषट् कुर्वन्ति, स्विष्टकृत्त्वा अनुवषट्कारो नेत् स्विष्टकृतमन्तरयामेति। असौ वै लोकस्तृतीयसवनं, तस्य पञ्च दिशः, पञ्चोक्थानि तृतीयसवनस्य। स एतैः पञ्चभिरुक्थैः एताः पञ्च दिश आप्नोति। तद्यदेषां लोकानां रूपं, या मात्रा। तेन रूपेण तया मात्रयेमांल्लोकानृध्नोतीमांल्लोकानृध्नोतीति ॥ १८ ॥

कण्डिका १८ ॥ एकाह यज्ञ के तृतीयसवन में (शंशंसावोम्) इस मन्त्र को चार चार बार बोलें ॥

(अथ अध्वर्य्यो शंशंसावोम् इति, स्तोत्रियाय अनुरूपाय उक्थमुखाय परिधानीयायै इति चतुः चतुः आह्वयन्ते) फिर (अध्वर्य्यो शंशंसाव ओम्) हे अध्वर्यो ! हम दोनों स्तुति करें, हां—इस मन्त्र से स्तोत्रिय [स्तुति योग्य व्यवहार] के लिये, अनुरूप [विषय की अनुकूलता] के लिये, उक्थमुख [यज्ञ की मुख्यता] के लिये और परिधानीया [समाप्ति क्रिया] के लिये—इस प्रकार चार-चार बार वे बोलते हैं। (चतस्रः वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ते) चार ही दिशायें हैं, दिशाओं में उससे वे [याजक] प्रतिष्ठा पाते हैं। (अथो चतुष्पादः पशवः पशूनाम् आप्त्यै) फिर चार पांव वाले पशु होते हैं, पशुओं की प्राप्ति के लिये [यह यज्ञ] है। (अथो तृतीयसवने चतुष्पर्वाणः हि होत्रकाः) फिर तृतीयसवन में चार अङ्ग वाले ही सहायक होता लोग होते हैं। (तस्मात् चतुः सर्वे त्रैष्टुभं जागतानि शंसन्ति) इसलिये चार बार वे सब त्रिष्टुप् [कर्म उपासना ज्ञान के सहारे वाले अथवा त्रिष्टुप्] छन्दों वाले स्तोत्रों से जगत् के हितकारी कर्म वे बोलते हैं। (जागतं हि तृतीयसवनम्) जगत् का हितकारी ही तीसरा सवन है। (अथ ह एतत् त्रैष्टुभानि प्रातःसवने मरुत्वतीये तृतीयसवने च

१८—(शंशंसाव) पूर्वाक्षरस्य द्वित्वमार्षम्—गो० उ० ३। १०, १६ तथा ४। ४। शंसाव। आवाम् शंसनं स्तोत्रं करवाव (ओम्) अनुमतौ (त्रैष्टुभम्) त्रैष्टुभानि। त्रिष्टुप्छन्दोयुक्तानि। कर्मोपासनाज्ञानयुक्तानि (जागतानि)

होत्रकाणाम् अप्रतिभूतम् इव हि शस्त्रम्) फिर यह ही त्रिष्टुप् छन्द वाले स्तोत्र प्रातःसवन में, मरुत्वतीय [माध्यन्दिन सवन] में और तीसरे सवन में सहायक होता लोगों का अप्रतिभूत [प्रतिभू अर्थात् स्थानी बिना] ही शस्त्र [स्तोत्र] हैं [अर्थात् त्रिष्टुप् तीनों सवनों में अवश्य बोला जाता है]। (धीतरसं वै एतत् सवनम्, यत् तृतीयसवनम्) पी चुके हुये रस वाला ही यह सवन है, जो तीसरा सवन है [तीसरे सवन से पहिले सोमरस पी लिया जाता है फिर किस लिये तीसरा सवन है—इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है]। (अथ ह एतत् अधीतरसं शुक्रियं छन्दः, यत् त्रिष्टुभा यातयामसवनस्य एव तत् सरसतायै) फिर यह बिना पी चुके हुये रस वाला, वीर्यवान् छन्द [स्तोत्र] है, जो त्रिष्टुप् [तीनों सवनों में ठहरने वाले छन्द] के साथ बीते हुये योग्य समय वाले सवन के रसीलेपन के लिये है [देखो–ऐतरेय ब्रा० ६। १२]। (सर्वं समवतीभिः परिदधति, यत् तत् समवतीभिः परिदधति) वे सब समवती ऋचाओं से [सम शब्द वाली ऋचाओं से जैसे—समं ज्योतिः सूर्येण······अथर्व० ४। १८। १, इत्यादि मन्त्रों से] समाप्त करते हैं, क्योंकि वहां समवती ऋचाओं से वे समाप्त करते हैं। (अन्तः वै पर्यासः, अन्तः उदर्कः, अन्तः सजायाः उ ह वै अवेनाय अन्तेन एव अन्तं परिदधति=परिदधाति) अन्त ही पर्यास [विराम] है, अन्त ही उदर्क [अवसान वा विच्छेद अर्थात् रोक] है, अन्त ही संगति के रक्षक के लिये अन्त के साथ ही अन्त को समाप्त करता है। [एक एक विषय पर रुककर दूसरे को आरम्भ करके समाप्त किया जाता है]। (सर्वे मद्वतीभिः यजन्ति, यत् तत् मद्वतीभिः यजन्ति) वे सब मद्वती [मद शब्द वाली] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं [याज्या ऋचा बोलते हैं], क्योंकि वहां मद्वती ऋचा से वे यज्ञ करते हैं। (सर्वे सुतवतीभिः पीतवतीभिः अभिरूपाभिः यजन्ति) वे सब सुतवती [सुत शब्द वाली] ऋचाओं से, पीतवती [पीत शब्द वाली] ऋचाओं से और अभिरूप [विषय के अनुकूल] ऋचाओं से यज्ञ करते हैं। [मद्वती, सुतवती और पीतवती ऋचाओं के लिये देखो ऋग्० १। १६। ८। और बहुवचन शब्द होने से ब्राह्मण में समस्त इस नौ ऋचा वाले सूक्त का ग्रहण अभीष्ट है। अभिरूप शब्द से यह प्रयोजन है कि अभीष्ट देवता की स्तुति में उस देवता के सूचक पद आ जावें]। (यत् यज्ञे अभिरूपं, तत् समृद्धम्) जो यज्ञ में विषय के अनुकूल कर्म है, वह समृद्ध है। (सर्वे स्विष्टकृत्त्वा अनुवषट् कुर्वन्ति) सब स्विष्टकृत् मन्त्र [यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिच········देखो--गो० उ० ३। १] पढ़कर अनुवषट् [समाप्ति सूचक पद] पढ़ते हैं। (अनुवषट्कारः स्विष्टकृतं नेत् अन्तरयाम इति) अनुवषट्कार स्विष्टकृत् मन्त्र को कभी भी बीच [व्यवधान] से नहीं लेता [स्विष्टकृत् के पीछे ही अनुवषट् होता है]। (असौ वै लोकः तृतीयसवनम्)

जगतीछन्दोयुक्तानि। जगते हितानि (अप्रतिभूतम्) प्रतिभूरहितम्। स्थानिना रहितम् (धीतरसम्) धेट् पाने--क्तः। पीतसारम् (अधीतरसम्) अपीतसारम्। सर्वरसोपेतम् (शुक्रियम्) शुक्र—घन्। वीर्ययुक्तम्। (यातयामसवनस्य) गतयोग्यकालसवनस्य (सरसतायै) सरसत्वाय (सजायाः) षञ्ज सङ्गे—कः, टाप्। सङ्गतेः (अवेनाय) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २। ४६) अव रक्षणादौ

वह ही [सूर्य] लोक तीसरा सवन है। (तस्य पञ्च दिशः, तृतीयसवनस्य पञ्च उक्थानि) उस [सूर्य लोक] की पांच दिशायें [पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और एक ऊपर नीचे की दिशा] हैं और तीसरे सवन के पांच उक्थ [समवती, मद्वती, सुतवती, पीतवती और अभिरूपा ऋचाओं वाले स्तोत्र] हैं। (सः एतैः पञ्चभिः उक्थैः, एताः पञ्चदिशः आप्नोति) वह [यजमान] इन पांच प्रकार वाले स्तोत्रों से इन पांच दिशाओं को पाता है। (तत् यत् एषां लोकानां रूपं या मात्रा) क्योंकि वह इन लोकों का रूप [आकार] है जो मात्रा [परिमाण] है। (तेन रूपेण तया मात्रया इमान् लोकान् ऋध्नोति, इमान् लोकान् ऋध्नोति इति) उस ही रूप [आकार] से और उस मात्रा [परिमाण] से इन लोकों को वह समृद्ध करता है, इन लोकों को वह समृद्ध करता है [अवश्य समृद्ध करता है] ।। १८ ।।

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि देश और काल का विचार करके कार्य करें जिससे उन्हें सफलता प्राप्त हो ।। १८ ।।

विशेषः १—(शस्त्रं) के स्थान पर (शस्त्रं) ठीक है, और (सरस्वतायै) के स्थान पर (सरसतायै) ऐ० ब्रा० ६ । १२ से शुद्ध किया है ।।

विशेषः २—इस कण्डिका को प्रातःसवन में गो० उ० ३ । १६ और माध्यन्दिन सवन में उ० ४ । ४ से मिलाओ और वहां पर ही प्रयोजनीय मन्त्र हैं ।।

कण्डिका १९ ।।

तदाहुः, किं षोडशिनः षोडशित्वं षोडश स्तोत्राणि षोडश शस्त्राणि षोडशभिरक्षरैरादत्ते, द्वे वा अक्षरे अतिरिच्येते, षोडशिनोऽनुष्टुभमभिसम्पन्नस्य । वाचो वा एतौ स्तनौ, सत्यानृते वाव ते, अवत्यैनं सत्यम् नैनमनृतं हिनस्ति, य एवं वेद ।। १९ ।।

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणस्य चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ।। ४ ।।

कण्डिका १९ ।। एकाह यज्ञ में षोडशी शब्द की व्याख्या ।।

(तत् आहुः, षोडशिनः किं षोडशित्वम्) वे कहते हैं—षोडशी [सोलह अङ्ग वाले यज्ञ] का क्या षोडशित्व [सोलहपन] है ? [इस का समाधान] (षोडश स्तोत्राणि षोडश शस्त्राणि षोडशभिः अक्षरैः आदत्ते) सोलह स्तोत्रों और सोलह शस्त्रों को [आधे आधे अनुष्टुप् छन्द के] सोलह अक्षरों से वह [अध्वर्यु] ग्रहण करता है। (अनुष्टुभम् अभिसम्पन्नस्य षोडशिनः द्वे अक्षरे वै अतिरिच्येते) अनुष्टुप् रखने वाले षोडशी [स्तोत्र] के दो दो अक्षर बढ़ जाते हैं [आधे अनुष्टुप् के १६ अक्षरों के आदि और अन्त में ओम् शब्द बोलने से १८ अक्षर होते हैं—इस का समाधान]।

—इनच् = एनच् । अविनाय । रक्षकाय (अन्तरयाम) गो० उ० ३ । १६ । अन्तर्याति । अन्तरेण गच्छति । अन्यद् गतम्—गो० उ० ३ । १६ ।।

१९—(आदत्ते) गृह्णाति (अतिरिच्येते) अधिके भवतः (अभिसम्प-

(वाचः वै एतौ स्तनौ, ते वाव सत्यानृते) वाणी के [स्त्रीलिङ्ग होने से] यह दोनों स्तन [कुच वा चूची] हैं जो ही सत्य और झूठ हैं । (सत्यम् एनम् अवति अनृतम् एनं न हिनस्ति, यः एवं वेद) सत्य उसकी रक्षा करता है और झूठ उसको नहीं सताता है जो ऐसा जानता है ।। १९ ।।

भावार्थ :--मनुष्य को उन्नति के लिये सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना चाहिये ।। १९ ।।

विशेषः १--एकाह यज्ञ समाप्त हुआ ।।

विशेषः २ - इस कण्डिका को मिलाओ--ऐ० ब्रा० ४ । १ ।।

विशेषः ३--(ते वा) के स्थान पर (द्वे वा) ऐ० ब्रा० से शुद्ध किया है ।।

इति श्रीमद्राजाधिराज-प्रथितमहागुणमहिम-*श्रीसयाजीराव गायकवाडा-धिष्ठित*-बड़ोदेपुरीगत-श्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्य उत्तरभागे चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः ।।

अथ प्रपाठकः प्रयागनगरे माघमासे शुक्लचतुर्दश्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ।।

मुद्रितम्—आश्विनशुक्ला ४ संवत् १९८१ वि० ता० २ अक्टूबर सन् १९२४ ई० ।।

अथ पञ्चमः प्रपाठकः ।।

कण्डिका १ ।।

ओम् । अहर्वै देवा आश्रयन्त रात्रीमसुराः । तेऽसुराः समावद्वीर्य्या एवासन्, नो व्यावर्त्तन्त । सोऽब्रवीत् इन्द्रः, कश्चाहं चेमानसुरान् रात्रीमन्ववैष्यामहा इति । स देवेषु न प्रत्यविन्दत्, अबिभयू रात्रेस्तमसः । मृत्योस्तम इव हि रात्रिः, मृत्युर्वै तमः, तस्माद्धाप्येतर्हि भूयानिव नक्तम् । स यावन्मात्रमिवाप[1]क्रम्य बिभेति, तं वै छन्दांस्येवान्ववायन् । तद्यच्छन्दांस्येवान्ववायन्, तस्मादिन्द्रश्च छन्दांसि च रात्रिं वहन्ति, न निविच्छस्यते न पुरोरुङ् न धाय्या नान्या देवता । इन्द्रश्च ह्येव छन्दांसि च रात्रिं वहन्ति तान्वै पर्य्यायैः पर्य्यायमनुदन्त । यत् पर्य्यायैः पर्य्यायमनुदन्त, तस्मात् पर्य्यायाः, तत् पर्य्यायाणां पर्य्यायत्वम् । तान्वै प्रथमैरेव पर्य्यायैः पूर्वरात्रादनुदन्त, मध्यमैर्मध्यरात्रादुत्तमैरपररात्रात् । अपिशर्वर्या अपिस्मसीत्य-

---

न्नस्य) अभिप्राप्तस्य (स्तनौ) स्तन मेघशब्दे—अच् । स्त्रीणाम् अङ्गभेदौ (सत्यानृते) सत्यं यथार्थवदनं च अनृतं मिथ्यावदनं च (अवति) रक्षति (हिनस्ति) दुःखयति ।।

---

१. पू. सं. "आप्रक्रम्य" इति पाठः ।। सम्पा० ।।

ब्रुवन् । तद्यदपिशर्वर्या अपिस्मसीत्यब्रुवन्, तदपिशर्वराणामपिशर्वरत्वम् । शर्वराणि खलु ह वा अस्यैतानि छन्दांसीति ह स्माह । एतानि ह वा इन्द्रं रात्र्यास्तमसो मृत्योरभिपत्यावारयन्, तदपिशर्वराणामपिशर्वरत्वम् ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ आख्यायिका—अतिरात्र यज्ञ में से इन्द्र और छन्दों ने तीन पर्य्यायों में असुरों को निकाल दिया ॥

(ओम्) ओम् [हे परमेश्वर] । (देवाः वै अहः आश्रयन्त, असुराः रात्रीम्) देवताओं ने दिन [प्रकाश वा ज्ञान] का आश्रय लिया और असुरों ने रात्रि [अन्धकार वा अज्ञान] का । (ते असुराः समावद्वीर्याः एव आसन् नो व्यावर्तन्त) वे असुर [देवताओं के] तुल्य पराक्रमी निश्चय करके थे, [इसलिये] वे न हटे । (सः इन्द्रः अब्रवीत् कः च अहं च इमान् असुरान् रात्रीम् अनु अवैष्यामहै इति) वह इन्द्र बोला—कौन और मैं [हम दोनों] इन असुरों को रात्रि में ढूंढ़कर निकाल दें । (सः देवेषु न प्रत्यविन्दत्, रात्रेः तमसः अबिभयुः) उसने देवताओं में ढूँढ़कर [किसी को भी] न पाया, वे रात्रि के अन्धकार से डर गये । (मृत्योः तमः इव हि रात्रिः, मृत्युः वै तमः) मृत्यु के अन्धकार के समान ही रात्रि है, मृत्यु [के समान] ही अन्धकार है । (तस्मात् ह अपि एतर्हि नक्तं भूयान् इव सः यावन्मात्रम् इव अपक्रम्य बिभेति) इसलिये ही अब भी रात्रि में अधिकतर वह [प्रत्येक मनुष्य] थोड़ा भी बाहर जाकर डरता है । (छन्दांसि एव तं वै अनु अवायन्) छन्द [आह्लादक गायत्री आदि] ही उस [इन्द्र] के साथ साथ चले । (तत् यत् छन्दांसि एव अनु अवायन्, तस्मात् इन्द्रः च छन्दांसि च रात्रिं वहन्ति, न निवित् शस्यते, न पुरोरुक् न धाय्या, न अन्या देवता) सो जो छन्द ही साथ साथ चले, इसलिये इन्द्र और छन्द रात्रि [अतिरात्र यज्ञ] को चलाते हैं, न निवित् [निश्चित विद्या स्तुति विशेष] बोली जाती है, न पुरोरुक् [आगे से प्रसन्न करने वाली स्तुति विशेष] न धाय्या [धारण करने योग्य, सामिधेनी ऋचा] न दूसरा देवता । (इन्द्रः च हि एव छन्दांसि च रात्रिं वहन्ति, तान् वै पर्य्यायैः पर्य्यायम् अनुदन्त) इन्द्र और छन्दों ने ही रात्रि [अतिरात्र यज्ञ] को चलाया, उन्होंने उन [असुरों] को ही पर्य्यायों [क्रम क्रम से] घेरकर निकाल दिया । (यत् पर्य्यायैः पर्य्यायम् अनुदन्त, तस्मात् पर्य्यायाः, तत् पर्य्यायाणां पर्य्यायत्वम्)

१—(आश्रयन्त) आ—अश्रयन्त । आश्रितवन्तः । सेवितवन्तः (समावद्वीर्याः) पूर्वपदस्य दीर्घत्वं मतुपो योजनं चार्षम् । समवीर्याः । तुल्यपराक्रमाः (नो) निषेधे (व्यावर्तन्त) वि+आ+वृतु वर्तने—लङ् । निवृत्ता अभवन् (अनु) अनुगम्य (अवैष्यामहै) अव+आ+इष गतौ—लोट् । निःसारयाम (प्रत्यविन्दत) प्रतीक्ष्य प्राप्तवान् (अबिभयुः) भीताः अभवन् (तमसः) अन्धकारात् (एतर्हि) इदानीम् (भूयान्) बहुतरः (यावन्मात्रम्) यत्किंचित् (इव) एव । अपि (छन्दांसि) गायत्र्यादीनि छन्दांसि (अन्ववायन्) अनु+अव+इण् गतौ—लङ् । अनुगम्य प्राप्ताः (रात्रिम्) रात्रिभवमतिरात्रयज्ञम् (वहन्ति)

जो पर्यायों से घेरकर [उनको] उन्होंने निकाला, इसलिये वे पर्य्याय [घूमकर आने वाले] हैं, वह ही पर्य्यायों का पर्य्यायपन है। (तान् वै प्रथमैः एव पर्य्यायैः पूर्वरात्रात् अनुदन्त, मध्यमै मध्यरात्रात्, उत्तमैः अपररात्रात्) उन [असुरों] को उन्होंने पहिले पर्य्यायों [घूमकर आने के व्यवहारों] के द्वारा रात्रि के पहिले भाग से निकाला, मध्यमों के द्वारा मध्यरात्रि से और पिछलों के द्वारा पिछली रात्रि से। (अपिशर्वर्याः अपिस्मसि—इति अब्रुवन्) वे [छन्द] बोले--निश्चित रात्रि से [असुरों के निकालने को] हम उपस्थित हुये हैं। (तत् यत् अपिशर्वर्याः अपिस्मसि इति अब्रुवन्, तत् अपिशर्वराणाम् अपिशर्वरत्वम्) जो उन [छन्दों] ने कहा--निश्चित रात्रि से [असुरों के निकालने को] हम उपस्थित हुये हैं, इसलिये अपिशर्वरों [निश्चित नाश करने वालों] का अपिशर्वरत्व [निश्चित नाश करने वाला व्यवहार] है। (शर्वराणि खलु ह वै अस्य एतानि छन्दांसि इति ह स्म आह) [निश्चय करके असुरों के] नाश करने वाले इस [यज्ञ] के यह छन्द हैं--यह वह [ऋषि] कहता है। (एतानि ह वै इन्द्रं रात्र्याः मृत्योः तमसः अभिपत्य अवारयन्, तत् अपिशर्वराणाम् अपिशर्वरत्वम्) इन [छन्दों] ने ही इन्द्र को रात्रि के मृत्यु [के समान] अन्धकार से निकाल कर स्वीकार किया, इसलिये अपिशर्वरों [निश्चित नाश करने वालों] का अपिशर्वरत्व [निश्चित नाश करने वाला व्यवहार] है ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सदा सावधान रह कर पर्यायों अर्थात् पहरुओं द्वारा परस्पर रक्षा करें जिससे निशाचर चोर डाकू आदि कष्ट न देवें ॥ १ ॥

विशेषः—इस कण्डिका को मिलाओ--ऐ० ब्रा० ४। ५ ॥

कण्डिका २ ॥

प्रथमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, प्रथमान्येव पदानि पुनराददते। यदेवैषां मनोरथा आसन्, तदेवैषान्तेनाददते। मध्यमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, मध्यमान्येव पदानि पुनराददते। यदेवैषामश्वा गाव आसन्, तदेवैषां तेनाददते। उत्तमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, उत्तमान्येव पदानि पुनराददते। यदेवैषां वासो हिरण्यं मणिरध्या-

---

निर्वहन्ति (निवित्) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविद० (पा० ३। २। ६१) नि+विद ज्ञाने-क्विप्। निवित्, वाङ्नाम—निघ० १। ११। निश्चितविद्या। स्तुतिविशेषः (पुरोरुक्) पुरः+रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—क्विप्। स्तुतिविशेषः (धाय्या) पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या० (पा० ३। १। १२९) दधातेर्ण्यत्। अग्निज्वालनार्था ऋक्। सामिधेनी (पर्य्यायैः) परि+इण् गतौ—घञ्। अनुक्रमैः (पर्य्यायम्) पर्य्याय—णमुल्। परीत्य (अनुदन्त) निःसारितवन्तः (पूर्वरात्रात्) रात्रिप्रथमभागात् (अपिशर्वर्याः) कृगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २। १२१) शॄ हिंसायाम्—ष्वरच्, ङीष्। निश्चयेन रात्रेः सकाशात् (अपिस्मसि) अपिस्मः। निश्चयेन तिष्ठामः (अपिशर्वराणाम्) निश्चयेन असुरादिनाशकानाम् (शर्वराणि) असुरनाशकानि (अभिपत्य) उद्धृत्य (अवारयन्) स्वीकृतवन्तः ॥

त्ममासीत्, तदेवैषां तेनाददते । आ द्विषतो वसु दत्ते, निरेवैनमेभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यो नुदते, य एवं वेद ॥ २ ॥

कण्डिका २ ॥ अतिरात्र यज्ञ के तीन पर्य्यायों में तीन प्रकार से स्तुति ॥

(प्रथमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, प्रथमानि एव पदानि पुनः आददते) पहिले पर्य्यायों में वे [ऋत्विज्] स्तुति करते हैं, [मन्त्रों के] पहिले ही पदों को वे दो बार लेते हैं [बोलते हैं] । (यत् एव एषां मनोरथाः आसन्, एषां तत् एव तेन आददते) जो कुछ भी इन [असुरों] के मनोरथ होते हैं, उनके उन [मनोरथों] को उसके द्वारा वे ले लेते हैं । (मध्यमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, मध्यमानि एव पदानि पुनः आददते) मध्य वाले पर्य्यायों में वे स्तुति करते हैं, [मन्त्रों के] मध्य वाले ही पदों को वे दो बार लेते हैं । (यत् एव एषाम् अश्वाः गावः आसन्, एषां तत् एव तेन आददते) जो कुछ भी इन [असुरों] के घोड़े और गौयें हैं उनके उनको ही वे उस के द्वारा ले लेते हैं । (उत्तमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, उत्तमानि एव पदानि पुनः आददते) पिछले पर्यायों में वे स्तुति करते हैं, [मन्त्रों के] पिछले ही पदों को वे दो बार लेते हैं । (यत् एव एषां वासः हिरण्यं मणिः अध्यात्मम् आसीत्, एषां तत् एव तेन आददते) जो कुछ भी इन [असुरों] का वस्त्र, सुवर्ण, और मणि शरीर पर वर्तमान है, उनका उसको ही उसके द्वारा वह ले लेते हैं । (द्विषतः वसु आदत्ते, एनम् एभ्यः सर्वेभ्यः लोकेभ्यः एव निर् नुदते, यः एवं वेद) वह [मनुष्य] शत्रु का धन ले लेता है और इस [शत्रु] को इन सब लोकों से निकाल देता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥ २ ॥

भावार्थ:—नीति निपुण पुरुष सावधानी से शत्रुओं को अनेक प्रकार से आधीन करें ॥ २ ॥

विशेष :—इस कण्डिका को मिलाओ–ऐ० ब्रा० ४ । ६ ॥

कण्डिका ३ ॥

पवमानवदहरित्याहुः, न रात्रिः पवमानवती, कथमुभे पवमानवती भवतः, केन ते समावद्भाजौ भवत इति । यदेवेन्द्राय मद्वने सुतमिदं वसो सुतमन्ध इदं ह्यन्वोजसा सुतमिति स्तुवन्ति च शंसन्ति च, तेन रात्रिः पवमानवती, तेनोभे पवमानवती भवतः, तेन ते समावद्भाजौ भवतः । पञ्चदशस्तोत्रमहरित्याहुः, न रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा, कथमुभे पञ्चदशस्तोत्रे भवतः, केन ते समावद्भाजौ भवत इति । द्वादशस्तोत्राण्यपिशर्वराणि तिसृभिर्देवताभिः सन्धिना राथन्तरेणाश्विना

२—(स्तुवते) स्तुवन्ति (पुनः) द्विवारम् (आददते) गृह्णन्ति (मनोरथाः) इच्छाव्यवहाराः (एषाम्) असुराणाम् (आसन्) सन्ति (अध्यात्मम्) आत्मानं शरीरमधिकृत्य वर्तमानम् । शरीरे अवस्थितम् (आसीत्) अस्ति (द्विषतः) शत्रोः (आदत्ते) गृह्णाति ॥

यः स्तुवते, तेन रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा, तेनोभे पञ्चदशस्तोत्रे भवतः, तेन ते समावद्भाजौ भवतः। परिमितं स्तुवन्त्यपरिमितमनुशंसन्ति, परिमितं भूतमपरिमितं भव्यमपरिमितान्येवावरुन्ध्यादित्यतिशंसन्ति। स्तोममति वै प्रजास्यात्मानमति पशवः। तद्यदेवास्यात्या[1]त्मानन्तदेवास्यैतेनाप्याययन्ति। अथो द्वयं वा इदं सर्वं स्नेहश्चैव तत्तेजश्च। अथ तदहोरात्राभ्यामाप्तं[2] स्नेहतेजसोराप्त्यै। गायत्रीं स्तोत्रियानुरूपं शंसन्ति, तेजो वै गायत्री, तमः पाप्मा, रात्रिस्तेन तेजसा तमः पाप्मानन्तरन्ति पुनरादाय[3], शंसन्ति। एवं हि सामगाः स्तुवते, यथास्तुतमनुशस्तं भवति। न हि तत् स्तुतं यन्नानुशस्तम्। तदाहुः, अथ कस्मादुत्तमात् प्रतीहारादाहूय साम्ना शस्त्रमुपसन्तन्वन्तीति॥ ३॥

कण्डिका ३॥ अतिरात्र यज्ञ में पवमान आदि स्तोत्रों का विचार॥

(पवमानवत् अहः इति आहुः, रात्रिः पवमानवती न, कथम् उभे पवमानवती भवतः, केन ते समावद्भाजौ भवतः इति) वे [ब्रह्मवादी] कहते हैं दिन [यज्ञ] पवमान स्तोत्र वाला है, और रात्रि [यज्ञ] पवमान स्तोत्र वाली नहीं है, कैसे दोनों [दिन और रात] पवमान स्तोत्र वाले होते हैं और किस कारण से वे दोनों एक से भाग वाले होते हैं। [इसका समाधान] (इन्द्राय मद्वने सुतम्. इदं वसो सुतमन्धः, इदं हि अन्वोजसा सुतम् इति—यत् एव स्तुवन्ति च शंसन्ति च. तेन रात्रिः पवमानवती. तेन उभे पवमानवती भवतः, तेन ते समावद्भाजौ भवतः) इन्द्राय मद्वने सुतम्...... ऋ० ८। ९२। १९, [सायणभाष्य ८१]। साम० उ० २।७।४। इदं वसो सुतम् अन्धः...... ऋ० ८। २। १, सा० पू० २। ३। १०, इदं हि अनु ओजसा सुतम्...... ऋ० ३। ५१। १०, सा० पू० २। ८। १, इन [तीन मन्त्रों] से वे [उद्गाता लोग] स्तोत्र पढ़ते हैं और [होता लोग] शस्त्र पढ़ते हैं, इससे रात्रि पवमान स्तोत्र वाली है [क्योंकि तीनों मन्त्रों में सुत—निचोड़ा गया सोम—शब्द पवमानवाची है], इस से दोनों पवमान स्तोत्र वाले हैं, इस कारण से वे दोनों एकसे भाग वाले हैं॥

(पञ्चदश स्तोत्रम् अहः इति आहुः रात्रिः पञ्चदश स्तोत्रा न, कथम् उभे पञ्चदश स्तोत्रे भवतः. केन ते समावद्भाजौ भवतः इति) वे [ब्रह्मवादी] कहते

३—(पवमानवत्) पवमानस्तोत्रयुक्तम् (उभे) अहोरात्रे (समावद्भाजौ) समानभागयुक्ते (मद्वने) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ३। २। ७५) मदी हर्षे—क्वनिप्। हर्षशीलाय (सुतम्) अभिषुतं सोमम् (वसो) हे वासयितः (अन्धः) अन्नम् (ओजसा) बलेन (स्तुवन्ति) उद्गातारः स्तोत्रं पठन्ति (शंसन्ति) होतारः शस्त्रं पठन्ति (पवमानवती) पवमानस्तोत्रयुक्ता। तथा द्विवचनस्य ईकारादेशः

---

१. पू. सं. "त्या" पाठः नास्ति॥ २. पू. सं. 'आप्त्यं' इति पाठः॥

३. पू. सं 'आदायं' इति पाठः॥ सम्पा०॥

हैं—दिन पन्द्रह स्तोत्र वाला है, और रात्रि पन्द्रह स्तोत्र वाली नहीं है, कैसे दोनों [दिन और रात्रि] पन्द्रह स्तोत्र वाले हैं और किस कारण से वे दोनों एक से भाग वाले होते हैं। [इस का समाधान] (द्वादश स्तोत्राणि अपिशर्वराणि तिसृभिः देवताभिः, राथन्त-रेण सन्धिना अश्विना यः स्तुवते, तेन रात्रिः पञ्चदशस्तोत्रा, तेन उभे पञ्चदश-स्तोत्रे भवतः तेन ते समानद्भाजौ भवतः) तीन देवताओं सहित बारह स्तोत्र वाले अपिशर्वरस्तोत्र हैं [आगे विशेषः ४ देखो, उन स्तोत्रों में] रथन्तर साम की ध्वनि वाले सन्धि [प्रातःकालीन स्तोत्र] से दोनों अश्वियों [दिन रात के मेल] को जो [ऋत्विज्] स्तुति करता है, उस से रात पन्द्रह स्तोत्र वाली है, उससे वे दोनों पन्द्रह स्तोत्र वाले होते हैं, और उसी कारण से वे दोनों एक से भाग वाले होते हैं। (परिमितं स्तुवन्ति, अप-रिमितम् अनुशंसन्ति) परिमित [गिने हुये मन्त्र युक्त] स्तोत्र पढ़ते हैं और अपरिमित [बेगिनती मन्त्र वाला] अनुशस्त्र [स्तोत्र के पीछे पढ़ा गया स्तोत्र] वे पढ़ते हैं। (परि-मितं भूतम्, अपरिमितं भव्यम्) परिमित [सीमाबद्ध] भूतकाल है और अपरिमित [सीमा बिना] भविष्यकाल है। (अपरिमितानि एव अवरुन्ध्यात् इति अति-शंसन्ति) अपरिमितों [सीमा बिना फलों] को वह प्राप्त करे, इसलिये वे अति शस्त्र [स्तोत्रों से अधिक शस्त्र] पढ़ते हैं। (स्तोमम् अति, अस्य आत्मानम् अति वै प्रजा पशवः) स्तोत्र से अधिक [जैसे अनुशस्त्र हैं, वैसे] इस के आत्मा से अधिक प्रजा [पुत्र पौत्र आदि] और पशु [गौ, घोड़ा हाथी आदि] होते हैं। (तत् यत् एव अस्य आत्मा-नम् अति, अस्य तत् एव एतेन आप्याययन्ति) जो वे [प्रजा और पशु] इस के आत्मा से अधिक होते हैं, उसके उनको इस व्यवहार से वे बढ़ाते हैं ॥

(अथो द्वयं वै इदं सर्वं स्नेहः च एव तत् तेजः च) फिर यह सब दो हैं स्नेह और वह तेज ही [रात्रि का रस और दिन का प्रकाश]। (अथ तत् अहोरात्राभ्याम् आप्तम्, स्नेहतेजसोः आप्त्यै) फिर जो कुछ दिन और रात्रि से पाने योग्य है, वह

(वा० पा० ७। १। ३९) पवमानवत्यौ[1] (सन्धिना) प्रातःसन्धिना (राथन्तरेण) रथ-न्तरसामध्वनियुक्तेन (अश्विना) अशूङ् व्याप्तौ–क्वन्, इनिः। अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः अहोरात्रावित्येके–निरु० १२। १। व्याप्तिमन्तौ। अहोरात्रौ। सूर्याचन्द्रमसौ (परिमितम्) परिमितमन्त्रोपेतम् (अनुशंसन्ति) स्तोत्रपश्चात् शस्त्रं पठन्ति (परिमितम्) सीमाबद्धम् (अपरिमितम्) सीमार-हितम् (अवरुन्ध्यात्) प्राप्नुयात् (अतिशंसन्ति) स्तोत्रगतामृक्संख्यामतिलङ्घ्य होतारः शस्त्रं पठन्ति (स्तोमम्) स्तोत्रम् (अति) अतीत्य। उल्लङ्घ्य (प्रजा) पुत्रपौत्रादिरूपा (अस्य) यजमानस्य (स्नेहः) रसः। आर्द्रम् (आप्तम्) प्राप्त-

---

१—यह सिद्धि ठीक नहीं है। यह 'पवमानवती' शब्द को नपुंसकलिङ्ग का द्वि-वचन मान कर की गई है, पर वस्तुतः यह शब्द स्त्रीलिङ्ग द्विवचन का है। जैसा कि इसके विशेषण 'उभे' शब्द से प्रकट है। यद्यपि ऐसी स्थिति में पवमानवत्यौ बनना चाहिये। पुन-रपि 'वाच्छन्दसि' के नियम से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'पवमानवती' शब्द साधु सिद्ध होता है ॥ सम्पा० ॥

[यजमान के] स्नेह और तेज [रस और प्रताप] की प्राप्ति के लिये है। (गायत्रीं स्तोत्रियानुरूपं शंसन्ति) गायत्री [छन्द वा मन्त्र] में स्तोत्रिय अनुरूप को वे बोलते हैं। (तेजः वै गायत्री, तमः पाप्मा) तेज ही गायत्री है, अन्धकार पाप है। (तेन तेजसा रात्रिः तमः पाप्मानं तरन्ति, पुनः [तेजः] आदाय शंसन्ति) उस [गायत्री रूप] तेज से रात्रि के अन्धकार [समान] पाप को वे पार करते हैं, और फिर [तेज] ग्रहण करके वे बोलते हैं [शस्त्र पढ़ते हैं]। (एवं हि सामगाः स्तुवते यथा स्तुतम् अनुशस्तं भवति) ऐसे ही सामगायक [उद्गाता लोग] स्तोत्र बोलते हैं कि स्तुति के योग्य अनुशस्त्र होवे। (तत् स्तुतं न हि, यत् अनुशस्तं न) वह स्तोत्र नहीं है जिस में अनुशस्त्र न हो। (तत् आहुः, अथ कस्मात् उत्तमात् प्रतीहारात् आहूय साम्ना शस्त्रम् उपसन्तन्वन्ति इति) वे कहते हैं—फिर किसलिये सबसे पिछले प्रतीहार [प्रतिहर्ता के गाने योग्य स्तोत्र] से बोलकर सामगान के साथ शस्त्र को समीप में वे बढ़ाते हैं [इसका उत्तर ऊपर आ चुका है]॥ ३॥

भावार्थः अवसर को विचार कर स्तुति करनी योग्य है॥ ३॥

विशेषः १—इस कण्डिका को मिलाओ—ऐ० ब्रा० ४। ६॥

विशेषः २—(उभ) के स्थान में (उभे) ऐ० ब्रा० से शुद्ध किया गया है॥

विशेषः ३—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं॥

१—इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः अर्कमर्चन्तु कारवः—ऋग्० ८। ९२। १९, [सायण भाष्य ८१]। साम० २। ७। ४॥ (नः गिरः) हमारी वाणियाँ (मद्वने) हर्षशील (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर पुरुष] के लिये (सुतम्) सुत [निचोड़े हुये तत्त्व रस] को (परि स्तोभन्तु) सब ओर से सराहें, और (कारवः) स्तुति करने वाले लोग (अर्कम्) पूजनीय [वीर] को (अर्चन्तु) पूजें॥

२—इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन् ररिमा ते—ऋग्० ८। २। १, साम० पू० ३। २। १०॥ (वसो) हे वसु ! [बसाने वाले इन्द्र राजन्] (इदम्) इस (सुतम्) सुत [निचोड़े हुये] (अन्धः) अन्न [तत्त्वरस] को (सुपूर्णम् उदरम्) भले प्रकार भर पेट (पिब) पी, (अनाभयिन्) हे निर्भय ! (ते) तुझे (ररिम) [वह] हम देते हैं॥

३—इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्व१स्य गिर्वणः—ऋ० ३। ५१। १०, साम० पू० २। ८। १॥ (राधानां पते) हे धनों के स्वामी ! [इन्द्र राजन्] (इदं हि) यह ही (ओजसा) बल के साथ (अनु) निरन्तर (सुतम्) सुत [निचोड़ा गया तत्त्व रस] है, (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय ! (अस्य) इस [तत्त्वरस] का (तु) (पिब) पान कर॥

व्यम् (आदाय) गृहीत्वा (सामगाः) उद्गातारः (प्रतीहारात्) प्रति+हृञ् हरणे—घञ् वा दीर्घः। प्रतिहर्त्रा गातव्यात् स्तोमात्॥

विशेषः ४—बारह स्तोत्र वाले अपिशर्वर छह मन्त्र प्रातः सन्धि में रथन्तर साम की ध्वनि से गाये जाते हैं। छह मन्त्रों के अर्धर्च अर्धर्च करके पाठ करने से बारह हो जाते है [देखो—गो० उ० ६ । ८], तीन देवता इस प्रकार हैं—पहिले और दूसरे मन्त्र अग्नि, तीसरे और चौथे उषा तथा पांचवें और छठे अश्विनी देवता वाले हैं। सामवेद में यह छह मन्त्र एक स्थान पर हैं ॥

१, २ अग्निर्देवता ॥

१—एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्—ऋग्० ७ । १६ । १ यजु० १५ । ३२, साम० १ । २ । १३ ॥ (एना नमसा) इस अन्न वा सत्कार से (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्जः नपातम्) पराक्रम के न गिराने वाले, (प्रियम्) प्रिय, (चेतिष्ठम्) अत्यन्त चेताने वाले, (अरतिम्) गति वाले [पुरुषार्थी], (स्वध्वरम्) अच्छे प्रकार हिंसा रहित व्यवहार वाले, (विश्वस्य दूतम्) सबके कार्य साधने वाले, (अमृतम्) न मरने वाले (अग्निम्) अग्नि [अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान्] को (आ हुवे) मैं बुलाता हूं ॥

२—स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम्—ऋ० ७ । १६ । २, यजु० १५ । ३३, ३४ भेद से, साम० उ० १ । २ । १३ ॥ (सः) वह [अग्नि समान तेजस्वी विद्वान्] (विश्व-भोजसा) संसार के रक्षा करने वाले (अरुषा) तेज से (योजते) युक्त होता है, (स्वाहुतः) अच्छे प्रकार बुलाया गया (सः) वह (दुद्रवत्) शीघ्र पहुँचता है, वह (सुब्रह्मा) सुन्दर अन्न वा धनों वाला वा अच्छे प्रकार चारों वेद जानने वाला, (यज्ञः) संगति योग्य (सुशमी) सुन्दर कर्मों वाला, (जनानाम्) मनुष्यों के लिये (वसूनाम्) धनों के बीच (देवम्) प्रकाशमान (राधः) धन [के समान] है ॥

३, ४ उषा देवता ॥

३—प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१ च्छन्ती दुहिता दिवः । अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी—ऋ० ७ । ८१ । १, साम० उ० १ । २ । १४ भेद से ॥ (आयती) आती हुई (उच्छन्ती) अन्धकार निकालती हुई (दिवः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री [उषा, प्रभात वेला] (उ) निश्चय करके (प्रति अदर्शि) प्रत्यक्ष देखी जाती है, वह (महि तमः) बड़े अन्धकार को (अपो व्ययति) हटा देती है, (सूनरी) सुन्दर नेत्री [अच्छे प्रकार ले चलने वाली वह] (चक्षसे) देखने के लिये (ज्योतिः) ज्योति [उजाला] (कृणोति) करती है ॥

४—उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन् नक्षत्रमर्चिवत् । तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि—ऋग्० ७ । ८१ । २, साम० उ० १ । २ । १४ ॥ (अर्चिवत्) किरणों वाला (नक्षत्रम्) नक्षत्र, [अर्थात्] (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (उस्रियाः) किरणों को (सचा) एक साथ ही (उत् सृजते) ऊपर को छोड़ता है । (उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (तव) तेरे (च) और

(सूर्यस्य) सूर्य के (उत्) ही (व्युषि) प्रकाश में (भक्तेन) अपने विभाग वा अन्न से (सं गमेमहि) हम मेल करें ॥

५, ६ अश्विनौ देवते ॥

५—इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना । अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः—ऋग्० ७ । ७४ । १, साम० उ० १ । २ । १५ ॥ (अश्विना) हे अश्वियो ! [दिन रात] (इमाः) यह (दिविष्टयः) प्रकाश चाहने वाली [प्रजायें] (उस्रा वाम्) निवास कराने वाले तुम दोनों को (उ) ही (हवन्ते) बुलाती हैं, (शचीवसू) हे कर्म वा बुद्धि का धन रखने वाले ! (अयम्) यह मैं (वाम्) तुम दोनों को (अवसे) रक्षा के लिये (अह्वे) बुलाता हूं, (हि) क्योंकि (विशंविशम्) प्रजा प्रजा को (गच्छथः) तुम प्राप्त होते हो ॥

६—युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते । अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु—ऋग्० ७ । ७४ । २, साम० उ० २ । । १५ ॥ (नरा) हे नरो ! [नेताओ, वीरो] (युवम्) तुम दोनों (चित्रम्) अद्भुत (भोजनम्) भोजन (ददथुः) धारण करते हो और (सूनृतावते) सुन्दर वेदवाणी वाले पुरुष को (चोदेथाम्) [उसे] भेजते हो, (समनसा) समान मन वाले तुम दोनों (रथम्) रथ [रमणीय स्वरूप] को (अर्वाक्) सामने (नि यच्छतम्) नियम से लाओ और (सोम्यम्) सोम [ओषधियों] के (मधु) मधु [मीठे रस] को (पिबतम्) पीओ ॥

कण्डिका ४ ॥

पुरुषो वै यज्ञः, तस्य शिर एव हविर्धानं, मुखमाहवनीयः, उदरं सदः, अन्तरुक्थानि बाहू मार्जालीयश्चाग्नीध्रीयश्च, या इमा देवतास्ते अन्तःसदः, सन्धिष्ठचाप्रतिष्ठे गार्हपत्यव्रतश्रवणौ इति । अथापरन्तस्य, मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्त्ता, वाग्घोता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अङ्गानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः । तद्यदध्वर्युः स्तोत्रमुपाकरोति सोमः पवत इति चक्षुरेव तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ यत् प्रस्तोता ब्रह्माणमामन्त्रयते, ब्रह्मन् स्तोष्यामः प्रशास्तरिति । मनोऽग्रणीर्भवति एतेषां प्राणानां, मनसा हि प्रसूताः स्तोमेन स्तु[1]यामेति, प्राणानेव तत् मनसा सन्दधाति । अथ यद् ब्रह्मा स्तुतेत्युच्चैरनुजानाति, मनो वै ब्रह्मा, मन एव तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ यत् प्रस्तोता प्रस्तौति, अपानमेव तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ यत् प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, व्यानमेव तदपानैः सन्दधाति । अथ यदुद्गातोद्गायति, समानमेव तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ यद्धोता साम्ना शस्त्रमुपसन्तनोति, वाग्वै होता, वाचमेव तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ यत् सदस्यो ब्रह्माणमुपासीदति, प्रजापतिर्वै सदस्यः प्रजापतिमेवाप्नोति । अथ यद्धोत्राशंसिनः साम[2]सन्ततिं कुर्वन्ति, अङ्गानि वै होत्राशंसिन, अङ्गान्येवास्य तत् प्राणैः सन्दधाति । अथ

---

१. पू. सं. 'स्तयाम' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'सामं सन्तति' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

यद्यजमानः स्तोत्रमुपासीदति, आत्मा वै यजमानः, आत्मानमेवास्य तत् कल्पयति। तस्मान्नैनं बहिर्वेद्यभ्याश्रावयेयुर्नाभ्युदियान्नाभ्यस्तमियान् नाधिष्ण्ये प्रतपेन्नेत् प्राणेभ्य आत्मानमन्तरगादिति ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ यज्ञ का मनुष्य के अङ्गों और ऋत्विजों का प्राणों आदि के दृष्टान्त से वर्णन ॥

(**पुरुषः वै यज्ञः**) पुरुष [के समान] ही यज्ञ है। (**तस्य शिरः एव हविर्धानम्**) उस [यज्ञ] का शिर हविर्धान [हविःस्थान] ही है, (**मुखम् आहवनीयः**) मुख आहवनीय [अग्नि] है, (**उदरं सदः**) पेट सद [यज्ञशाला] है, (**अन्तः उक्थानि**) भीतर वाली [आँत] उक्थ [स्तोत्र] हैं, (**बाहू मार्जालीयः च आग्नीध्रीयः च**) दोनों भुजायें मार्जालीय [शुद्धिस्थान] और आग्नीध्रीय [अग्नि का स्थान] हैं, (**याः इमाः देवताः ते अन्तःसदः**) जो यह देवता [इन्द्रियां] हैं, वे भीतर बैठने वाले [सभासद] हैं, (**सन्धिष्ठ्याप्रतिष्ठे गार्हपत्यव्रतश्रवणौ इति**) सन्धिष्ठ्या और प्रतिष्ठा [पैर की गांठ और तलुआ दोनों] गार्हपत्य और व्रत श्रवण [यज्ञाग्नि विशेष] हैं ॥

(**अथ तस्य अपरम्**) फिर इस [यज्ञ] का दूसरे प्रकार [वर्णन] है। (**मन एव ब्रह्मा**) मन [यज्ञ के मन समान] ही ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला ऋत्विज्] है, (**प्राणः उद्गाता**) प्राण उद्गाता है, (**अपानः प्रस्तोता**) अपान प्रस्तोता है, (**व्यानः प्रतिहर्ता**) व्यान प्रतिहर्ता है, (**वाक् होता**) वाक् [जिह्वा] होता है, (**चक्षुः अध्वर्युः**) नेत्र अध्वर्य्यु है, (**प्रजापतिः सदस्यः**) प्रजापति [प्रजाओं इन्द्रियों का पालने वाला व्यवहार] सदस्य है, (**अङ्गानि होत्राशंसिनः**) अङ्ग होत्राशंसी [ऋचा बोलने वाले] लोग हैं, (**आत्मा यजमानः**) और आत्मा [समान] यजमान है। (**सोमः पवते...... –इति तत् यत् अध्वर्युः स्तोत्रम् उपाकरोति, चक्षुः एव तत् प्राणैः सन्दधाति**) सोमः पवते......१, इस मंत्र से जब वह अध्वर्यु स्तोत्र को विधिपूर्वक आरम्भ करता है, नेत्र को ही उससे प्राणों के साथ वह मिलाता है, (**अथ यत् प्रस्तोता ब्रह्माणम् आमन्त्रयते, ब्रह्मन् प्रशास्तःस्तोष्यामः इति**) फिर जब प्रस्तोता ब्रह्मा को बुलाता है-- हे ब्रह्मन् ! हे प्रशास्ता ! [शासक] हम स्तुति करेंगे। (**मनः एतेषां प्राणानाम् अग्रणीः भवति, मनसा हि प्रसूताः स्तोमेन स्तुयाम इति, प्राणान् एव तत् मनसा सन्दधाति**)

४—(अन्तः) शरीरमध्ये भवानि। आन्त्राणि (मार्जालीयः) स्थाचतिमृजेरालज्वालञ्आलीयचः (उ० १ । ११६) मृजू शौचालङ्कारयोः—आलीयच्। शोधनदेशः (आग्नीध्रीयः) स्वार्थे—छः। आग्नीध्रम्। होतुर्गृहम्। अग्निस्थानम् (देवताः) इन्द्रियाणि (अन्तःसदः) सभासदः (सन्धिष्ठ्याप्रतिष्ठे) पादग्रंथिश्च पादतलं च (वाक्) जिह्वा (प्रजापतिः) इन्द्रियपालकव्यवहारः (उपाकरोति) विधिपूर्वकमारभते (सोमः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (पवते) शुद्धोऽस्ति (सन्दधाति) संयोजयति (अग्रणीः) अग्र+णीञ् प्रापणे--क्विप्। अग्रनेता। प्रधानः

मन इन प्राणों का अग्रणी [आगे ले चलने वाला प्रधान] होता है, मन से ही प्रेरणा किये हुये हम स्तोत्र के साथ स्तुति करें—इस प्रकार प्राणों को ही उससे मन के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् ब्रह्मा स्तुत इति उच्चैः अनुजानाति, मनः वै ब्रह्मा, मन एव तत् प्राणैः सन्दधाति) फिर जब ब्रह्मा ऊंचे स्वर से अनुमति देता है—तुम स्तुति करो--मन ही ब्रह्मा है, मन को ही उससे प्राणों के साथ मिलाता है । (अथ यत् प्रस्तोता प्रस्तौति, अपानम् एव तत् प्राणैः सन्दधाति) फिर जब प्रस्तोता प्रस्तोत्र बोलता है, अपान को ही उससे प्राणों के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् प्रतिहर्ता प्रतिहरति, व्यानम् एव तत् अपानैः सन्दधाति) फिर जब प्रतिहर्ता प्रतिहार स्तोत्र बोलता है, व्यान को ही उससे अपानों के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् उद्गाता उद्गायति, समानम् एव तत् प्राणैः सन्दधाति) फिर जब उद्गाता [उत्तम गाने वाला] उद्गान [उत्तम साम गान] करता है, समान वायु को ही उससे प्राणों के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् होता साम्ना शस्त्रम् उपसन्तनोति, वाक् वै होता, वाचम् एव तत् प्राणैः सन्दधाति) फिर जब होता साम गान के साथ शस्त्र [स्तोत्र] को अच्छे प्रकार फैलाता है, वाक् [जिह्वा] ही होता, [हवन करने वाला] है, जिह्वा को ही उससे प्राणों के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् सदस्यः ब्रह्माणम् उपासीदति, प्रजापतिः वै सदस्यः, प्रजापतिम् एव आप्नोति) फिर जब सदस्य ब्रह्मा [मन] के पास बैठता है, प्रजापति [प्रजापालक] ही सदस्य है, प्रजापति [प्रजापालक व्यवहार] को ही वह पाता है । (अथ यत् होत्राशंसिनः सामसन्ततिं कुर्वन्ति, अङ्गानि वै होत्राशंसिनः, अस्य अङ्गानि एव तत् प्राणैः सन्दधाति) फिर जब होत्राशंसी लोग साम गान का फैलाव करते हैं, अङ्ग ही होत्राशंसी लोग हैं, इस [यजमान] के अङ्गों को उससे प्राणों के साथ वह मिलाता है । (अथ यत् यजमानः स्तोत्रम् उपासीदति आत्मा वै यजमानः, अस्य आत्मानम् एव तत् कल्पयति) फिर जब यजमान स्तोत्र को समीप से सेवता है, आत्मा ही यजमान है, इस [यजमान] के ही आत्मा को उससे वह [ऋत्विज्] समर्थ करता है । (तस्मात् एनं बहिर्वेदि न अभ्याश्रावयेयुः) इसलिये इससे [आवश्यकता के लिये बाहिर जाने पर यजमान से] वेदी से बाहिर स्थान में वे [ऋत्विज्] न बातचीत करें, (न अभ्युदियात् न अभ्यस्तमियात्) न [उसको दूसरे स्थान में] सूर्य उदय हो और न अस्त हो [दिन रात यजमान यज्ञ शाला में रहे], (न अधिष्ण्ये प्रतपेत्) वह [यजमान] धिष्ण्य [यज्ञाग्नि] से अन्यत्र न तापे, (प्राणेभ्यः आत्मानम् अन्तः नेत् अगात्) और प्राणों से [अलग पदार्थों को] अपने भीतर न आने दे ॥ ४ ॥

(प्रसूताः-) प्रेरिताः (स्तुयाम) स्तुतिं कुर्याम (अनुजानाति) अनुमन्यते (सामसन्ततिम्) साम्मगानविस्तृतिम् (कल्पयति) समर्थयति (बहिर्वेदि) अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (पा० २ । १ । १२) समासान्तोऽव्ययीभावः । वेद्याः सकाशाद् बहिर्देशे (अभ्याश्रावयेयुः) अभ्याश्रावणम् अभितो वार्तालापं कुर्युः (अभ्युदियात्) उदयं प्राप्नुयात् (अस्तमियात्) अस्तं गच्छेत् (अधिष्ण्ये) धिष्ण्यनामकाग्निसकाशाद् भिन्नदेशे (अन्तः) मध्ये (अगात्) प्राप्नुयात् ॥

भावार्थः— जो मनुष्य प्राण अपान आदि प्राणों और जिह्वा नेत्र आदि इन्द्रियों को सावधान रखते हैं, वे अपने मनोरथ सिद्ध करते हैं ॥

विशेषः—प्रतीक वाला मन्त्र अर्थ सहित दिया जाता है ॥

१—सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः—ऋग्० ९ । ९६ । ५, साम० पू० ६ । ४ । ५ ॥ (सोमः) सोम [सर्वोत्पादक परमेश्वर] (पवते) शुद्ध है [वा व्यापक है], वह (मतीनाम्) मननशील मनुष्यों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला, (दिवः) आकाश [वा व्यवहार] का (जनिता) उत्पन्न करने वाला, (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पन्न करने वाला, (अग्नेः) अग्नि का (जनिता) उत्पन्न करने वाला, (सूर्यस्य) सूर्य का (जनिता) उत्पन्न करने वाला, (इन्द्रस्य) बिजुली [वा ऐश्वर्य] का (जनिता) उत्पन्न करने वाला (उत) और (विष्णोः) विष्णु [व्यापक वायु आदि] का (जनिता) उत्पन्न करने वाला है ॥

कण्डिका ५ ॥

प्रथमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, प्रथमेषु पदेषु निनर्दयन्ति, प्रथमरात्रादेव तदसुरान्निर्घ्नन्ति । मध्यमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, मध्यमेषु पदेषु निनर्दयन्ति, मध्यमरात्रादेव तदसुरान्निर्घ्नान्ति । उत्तमेषु पर्य्यायेषु स्तुवते, उत्तमेषु पदे[१]षु निनर्दयन्ति, उत्तमरात्रादेव तदसुरान्निर्घ्नन्ति । तद्यथाभ्याघारात् पुनः पुनः पाप्मानं निर्हरन्त्येवमेवैतत् स्तोत्रियानुरूपाभ्यामहोरात्राभ्यामेव तदसुरान्निर्घ्नन्ति । गायत्रीं शंसन्ति, तेजो वै ब्रह्मवर्च्चसं गायत्री, तेज एवास्मै तत् ब्रह्मवर्चसं यजमाने दधति । गायत्री [गायत्रीं] शस्त्वा जगतीं शंसन्ति, ब्रह्म ह वै जगती, ब्रह्मणैवास्मै तद् ब्रह्मवर्च्चसं यजमाने दधति । व्याह्वयन्ते गायत्रीश्च जगतीश्चान्तरेण, छन्दांस्येव तं नानावीर्य्याणि कुर्वन्ति । जगतीः शस्त्वा त्रिष्टुभः शंसन्ति पशवो वै जगती, पशूनेव तत् त्रिष्टुभः परिदधति । बलं वै वीर्य्यं त्रिष्टुप्, बलमेव तद्वीर्य्येऽन्ततः प्रतिष्ठापयति । अन्धस्वत्यो मद्वत्यः सुतवत्यः पीतवत्यस्त्रिष्टुभो याज्याः समृद्धा सुलक्षणाः, एतद्वै रात्रीरूपं जागृयात् । रात्रिं यावदु ह वै न वा स्तुवते न वा शस्यते, तावदीश्वरा असुररक्षांसि च यज्ञमनुवनयन्ति । तस्मादाहवनीयं समिधमाग्नीध्रीयं गार्हपत्यं धिष्ण्यं समुज्ज्वलयते । अतिभाषयेरन् ज्वलयेरन् प्रकाशमिव वै तस्यादारे भिन्नं सुवीरंस्तान् हातःश्रेष्ठो वा इति पाप्मा नाभिवृक्णोति । ते तमःपाप्मानमपाघ्नते ते तमःपाप्मानमपाघ्नते ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ यज्ञ के पर्य्यायों में स्तोत्रों और शस्त्रों के प्रयोग ॥

(प्रथमेषु पर्यायेषु स्तुवते, प्रथमेषु पदेषु निनर्दयन्ति, प्रथमरात्रात् एव तत् असुरान् निर्घ्नन्ति) पहिले पर्य्यायों में [क० २] वे स्तोत्र पढ़ते हैं, पहिले पदों में ऊँचे बोलते हैं, रात्रि के प्रथम भाग से ही तब असुरों को निकाल मारते हैं । (मध्यमेषु पर्यायेषु

५—(स्तुवते) स्तुवन्ति (निनर्दयन्ति) उच्चैः शब्दयन्ति (निर्घ्नन्ति)

---

१. पू. सं. "पदेषु" इति पाठः नास्ति ॥ सम्पा० ॥

स्तुवते, मध्यमेषु पदेषु निनर्दयन्ति, मध्यमरात्रात् एव तत् असुरान् निर्घ्नन्ति) मध्यम पर्य्यायों में वे स्तोत्र पढ़ते हैं, मध्यम पदों में ऊँचे बोलते हैं, रात्रि के मध्य से ही तब असुरों को निकाल मारते हैं । (उत्तमेषु पर्यायेषु स्तुवते, उत्तमेषु पदेषु निनर्दयन्ति, उत्तम-रात्रात् एव तत् असुरान् निर्घ्नन्ति) पिछले पर्य्यायों में वे स्तोत्र पढ़ते हैं, पिछले पदों में ऊँचे बोलते हैं, रात्रि के पिछले भाग से ही तब असुरों को निकाल मारते हैं । (तत् यथा अभ्याघारात् पुनः पुनः पाप्मानं निर्हरन्ति, एवम् एव एतत्, स्तोत्रियानुरूपाभ्याम् अहोरात्राभ्याम् एव तत् असुरान् निर्घ्नन्ति) सो जैसे बड़े प्रकाश से बार बार पाप को निकाल देते हैं, वैसे ही यह है, स्तोत्रिय और अनुरूप [विषय के सदृश स्तोत्र] के द्वारा दिन और रात से ही तब से असुरों को निकाल मारते हैं ॥

(गायत्रीं शंसन्ति, ब्रह्मवर्चसं तेजः वै गायत्री, ब्रह्मवर्चसं तेजः एव अस्मै तत् यजमाने दधति) गायत्री [गायत्री मन्त्र और छन्द] को वे पढ़ते हैं, ब्रह्मवर्चस तेज [वेद पढ़ने से पाया हुआ तेज] ही गायत्री है, ब्रह्मवर्चस तेज को ही इस [जगत् के] हित के लिए तब यजमान में वे धारण करते हैं । (गायत्री [गायत्रीं] शस्त्वा जगतीं शंसन्ति, ब्रह्म ह वै जगती, ब्रह्मणा एव अस्मै तत् ब्रह्मवर्चसं यजमाने दधति) गायत्री बोलकर जगती [जगती छन्द वा जगत् उपकारिका ऋचा] वे बोलते हैं, ब्रह्म [वेद ज्ञान] ही जगती है, ब्रह्म [वेदज्ञान] से ही इस [जगत्] के हित के लिए तब ब्रह्मवर्चस् को यजमान में वे धारण करते हैं । (गायत्रीः च जगतीः च अन्तरेण व्याह्वयन्ते, छन्दांसि एव तं नानावीर्याणि कुर्वन्ति) गायत्री छन्दों और जगती छन्दों को अलग अलग वे विविध प्रकार बोलते हैं, छन्द ही उस [यजमान] में बहुत से सामर्थ्य करते हैं । (जगतीः शस्त्वा त्रिष्टुभः शंसन्ति, पशवः वै जगती, पशून् एव तत् त्रिष्टुभः परिदधति) जगती छन्दों को बोलकर वे त्रिष्टुभों को बोलते हैं, पशु ही जगती [जगत् उपकारिका शक्ति] हैं, पशुओं को ही तब त्रिष्टुभ् धारण करते हैं । (बलं वै वीर्य्यं त्रिष्टुप्, बलम् एव तत् वीर्ये अन्ततः प्रतिष्ठापयति) बल वीर्य ही त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना और ज्ञान का ठहराव] है, बल को ही तब वीर्य [धातु पुष्टि] में अन्त में वह स्थापित करता है । (अन्धस्वत्यः, मद्वत्यः, सुतवत्यः, पीतवत्यः त्रिष्टुभः याज्याः समृद्धाः सुलक्षणाः, एतत् वै रात्रीरूपं जागृयात्) अन्धस्वती [अन्धस्, अन्न शब्द वाली], मद्वती [मद अर्थात् हर्ष शब्द वाली], सुतवती [सुत, निचोड़े हुए सोम शब्द वाली] पीतवती [पीत, पीये हुये सोम रस शब्द वाली], त्रिष्टुभ ऋचायें यज्ञ करने योग्य, समृद्ध और सुन्दर लक्षण वाली हैं, इनसे ही रात्रि रूप [अन्धकार] में वह जागता रहे । (रात्रि यावत् उ ह वै न वा स्तुवते,

---

निःसार्य नाशयन्ति (अभ्याघारात्) अभि+आ+घृ क्षरणे दीप्तौ च—घञ् । सर्वतः प्रकाशात् (निर्हरन्ति) नाशयन्ति (ब्रह्मवर्चसम्) वेदाध्ययनजन्यतेजः (दधति) धारयन्ति (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (व्याह्वयन्ते) विविधमाह्वयन्ति कथयन्ति (नानावीर्याणि) विविधवीरकर्माणि (वीर्ये) धातुपुष्टौ (सुलक्षणाः) सुलक्षणयुक्ताः (जागृयात्) प्रबुध्येत् (ईश्वरा) शेलुक् । ईश्वराणि समर्थानि (अनुवनयन्ति) वन हिंसायाम् । निरन्तरं नाशयन्ति (सम्) सम्भूय (उ) एव (तस्य) दृश्यमानस्य सूर्यस्य (आदारे) आदारयन्ति शत्रून् यत्र । आ+दृ विदारणे-

न वा शस्यते, तावत् ईश्वरा असुररक्षांसि च यज्ञम् अनुवनयन्ति) रात्रि में जब ही वह न तो स्तोत्र पढ़ता है और न शस्त्र पढ़ता है, तब समर्थ होते हुये असुर और राक्षस यज्ञ को नष्ट कर डालते हैं। (तस्मात् आहवनीयं समिधम् आग्नीध्रीयं गार्हपत्यं धिष्ण्यं सम् उज्ज्वलयते) इसलिए आहवनीय, समिध्, आग्नीध्रीय, गार्हपत्य और धिष्ण्य [पांच अग्नियों] को ठीक ठीक ही जलाता रहे। (तस्य प्रकाशम् इव वै आदारे भिन्नं सुवीरम् अतिभाषयेरन्, ज्वलयेरन्, स्तान् हातः श्रेष्ठः वै इति, पाप्मा न अभिवृक्णोति) उस [सूर्य] के प्रकाश के समान ही संग्राम में प्रफुल्ल बड़े वीर पुरुष को आदर से बोलें और प्रकाशित करें—यह अव्याकुल [दृढ़ स्वभाव], गतिमान् [पुरुषार्थी] और श्रेष्ठ है— [उसको] पाप नहीं पकड़ता है। (ते तमः पाप्मानम् अपाघ्नते ते तमः पाप्मानम् अपाघ्नते) वे [शूर लोग] अन्धकार रूप पाप को नष्ट कर देते हैं वे [शूर लोग] अन्धकार रूप पाप को नष्ट कर देते हैं [अवश्य ही नष्ट करते हैं]॥ ५॥

भावार्थः--जैसे संग्राम के पड़ाव में मित्र और शत्रु की पहिचान के लिए विशेष बोलियां बोली जाती हैं, वैसे ही यज्ञ में सिद्धि पाने और विघ्नों के हटाने के लिये विशेष स्तोत्र और शस्त्र बोले जाते हैं॥ ५॥

कण्डिका ६ ॥

विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रमिन्द्रोऽहन्स त्वष्टा हतपुत्रोऽभिचरणीयमपेन्द्रं सोममाहरत्। तस्येन्द्रो जज्ञिरे। स संस्कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्टद् व्यार्छत्। तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पातव्यः। सोमपीथोऽस्य द्व्यृद्धिको भवति। तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीर्यशांस्यूर्ध्वान्युदक्रामन्। तानि पशून् प्राविशन्। तस्मात् पशवो यशो यशो ह भवति, य एवं वेद। ततोऽस्मा एतदश्विनौ च सरस्वती च यज्ञं समभरन् सौत्रामणिं भैषज्याय। तयेन्द्रमभ्यषिञ्चन्। ततो वै स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्। श्रेष्ठः स्वानां चान्येषां च भवति, य एवं वेद यश्चैवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते॥ ६॥

कण्डिका ६ ॥ आख्यायिका—त्वष्टा का इन्द्र से सोमरस छीनना और सौत्रामणी इष्टि ॥

(इन्द्रः विश्वरूपं त्वाष्ट्रं वै अहन्) इन्द्र [सूर्य] ने विश्वरूप [संसार में व्यापक] त्वाष्ट्र [त्वष्ट्रा प्रकाशमान सूर्य के पुत्र मेघ वा अन्धकार] को मार डाला। (हतपुत्रः सः त्वष्टा अभिचरणीयम् इन्द्रम् सोमम् अप आहरत्) मरे पुत्र वाले उस त्वष्टा ने सब प्रकार

घञ्। संग्रामे (भिन्नम्) प्रस्फुटितम्। विकसितम् (स्तान्) ष्टम अवैक्लव्ये—क्विप्। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (पा० ६। ४। १५) उपधादीर्घः। मो नो धातोः (पा० ८। २। ६४) मस्य नः। अव्याकुलः। दृढस्वभावः (हातः) हसिमृग्रिण्वा० (उ० ३। ८६) ओहाङ् गतौ—तन्। गतिमान् (अभिवृक्णोति) वृक आदाने--लट्। स्वागणदित्वमार्षम्। अभिवर्कते। अभिगृह्णाति॥

६—(विश्वरूपम्) सर्वजगद्व्यापकरूपयुक्तम् (त्वष्टारम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० (उ० २। ६५) त्विष दीप्तौ वा त्वक्षू तनूकरणे—तृच्, इकारस्य

प्राप्ति योग्य इन्द्र [सूर्य] से सोम रस [जल] को छीन लिया। (इन्द्र: तस्य जज्ञिरे) इन्द्र ने उसे जान लिया। (सः संस्कृत्वा प्रासहा सोमम् अपिबत्, सः विष्टद् व्यर्छत्) उस [त्वष्टा] ने शुद्ध करके बलात्कार सोमरस पी लिया, और वह [सोम को] प्रवेश करता हुआ मूर्छित हो गया। (तस्मात् सोमः अनुपहूतेन न पातव्यः) इसलिये सोमरस [यज्ञ में ओषधियों का तत्त्वरस] विना बुलाये पुरुष को न पीना चाहिये। (अस्य सोमपीथः द्व्यृद्धिकः भवति) इस [यजमान] का सोमरस पान दो ऋद्धि वाला होता है। (तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीः यशांसि ऊर्ध्वानि उदक्रामन्) उसके मुख और प्राणों से श्री और अनेक यश [दोनों ऋद्धियाँ] ऊंचे चढ़ते हैं। (तानि पशून् प्राविशन्) वे [श्री और यश] पशुओं में प्रवेश करते हैं। (तस्मात् पशवः यशो यशः ह [तस्मै] भवति, यः एवं वेद) इसलिये पशु [सब प्राणी] बहुत यश रूप [उसके लिये] होते हैं, जो ऐसा विद्वान् है। (ततः अस्मै एतत् अश्विनौ च सरस्वती च सौत्रामणिं यज्ञं भैषज्याय सम् अभरन्) इसी से इस [यजमान] के लिये इस प्रकार दोनों अश्वी [दिन रात वा सूर्य चन्द्रमा] और सरस्वती [विज्ञान वाली वेद विद्या] सौत्रामणी [अच्छे प्रकार रक्षक इन्द्र परमात्मा की भक्ति युक्त क्रिया] यज्ञ को औषध के लिये यथावत् पुष्ट करते हैं। (तया इन्द्रम् अभ्यषिञ्चन्) उस [सौत्रामणी इष्टि] से इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष को उन्होंने अभिषेक किया है। (ततः वै सः देवानां श्रेष्ठः अभवत्) इसलिये ही वह देवों [विद्वानों] में श्रेष्ठ हुआ है। (स्वानां च अन्येषां च श्रेष्ठः भवति, यः एवं वेद, यः च एवं विद्वान् सौत्रामण्या अभिषिच्यते) वह अपने और दूसरे लोगों में श्रेष्ठ होता है, जो ऐसा जानता है, और जो ऐसा विद्वान् सौत्रामणी [बड़े रक्षक परमात्मा की भक्ति वाली इष्टि] से अभिषेक किया जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थः--जैसे सूर्य वृत्रासुर अर्थात् मेघ को हटाकर पृथिवी के जल को खींचकर समृद्ध होता है, वैसे ही वीर पुरुष शत्रुओं को मारकर संसार में यश पाता है ॥ ६ ॥

विशेषः—इस आख्या का मूल वेदमन्त्र है, जो अर्थ सहित लिखा जाता है--

---

अकारः। त्वष्ट-अण्। त्वष्टुः सूर्यस्य पुत्रम् इव मेघम् अन्धकारं वा (इन्द्रः) सूर्यः (अहन्) हतवान् (त्वष्टा) सूर्यः (अभिचरणीयम्) अभितः प्रापणीयम् (सोमम्) रसम्। मेघजलम् (जज्ञिरे) ज्ञा अवबोधने—लिट्। बहुवचनमार्षम्। जज्ञे। ज्ञातवान् (संस्कृत्वा) संस्कृत्य। संशोध्य (प्रासहा) प्रसह्य। बलात्कारेण (विष्टत्) विष्लृ व्याप्तौ वा विश प्रवेशे--क्तः। विष्ट इति नामधातुः, ततः शतृः। विष्टं प्रवेशं कुर्वन्। (व्यार्छत्) वि+ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु--लङ्, मूर्छामगात् (द्व्यृद्धिकः) द्विधासम्पत्तियुक्तः (यशो यशः) बहुकीर्तिरूपम् (अश्विनौ) गो० उ० ५। ३। अहोरात्रौ। सूर्याचन्द्रमसौ (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (सौत्रामणिम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४। १४५) सु+त्रैङ् पालने--मनिन्। साऽस्य देवता (पा० ४। २। २४) सुत्रामन्--अण्, टिलोपाभावः स्त्रियां ङीप्। ईकारस्य ह्रस्वत्वमार्षम्। महारक्षकयोग्यां भक्तिं पूजां वा। इष्टिविशेषम् (स्वानाम्) ज्ञातीनां बन्धूनाम् ॥

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः—ऋ० १। ३२। ५॥ (इन्द्रः) इन्द्र [सूर्य वा बिजुली] ने (वृत्रतरम्) अत्यन्त ढक लेने वाले (वृत्रम्) वृत्र [रोकने वाले मेघ] को (महता वधेन) बड़े हथियार, (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े के समान छेदने वाले किरण समूह] से (व्यंसम्) बिना कन्धे करके (अहन्) मार डाला (कुलिशेन) कुल्हाड़े से (विवृक्णा) काट डाले गये (स्कन्धांसि इव) वृक्ष दण्डों के समान (अहिः अहि [सब ओर चलता हुआ मेघ] (पृथिव्याः) पृथिवी से (उपपृक्) छूता हुआ (शयते) सोता है [अर्थात् सूर्य की किरणों से मेघ छिन्न भिन्न होकर पृथिवी पर बरसता है]॥

कण्डिका ७॥

अथ साम गायति ब्रह्मा, क्षत्रं वै साम, क्षत्रेणैवैनं तदभिषिञ्चति। अथो साम्राज्यं वै साम, साम्राज्येनैवैनं तत् साम्राज्यं गमयति। अथो सर्वेषां वा एष वेदानां रसः, यत् साम, सर्वेषामेव तद्वेदानां रसेनाभिषिञ्चति। बृहत्यां गायन्ति, बृहत्यां वा असावादित्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति। ऐन्द्यां बृहत्यां गायति। ऐन्द्रो वा एष यज्ञक्रतुर्यत् सौत्रामणिः। ऐन्द्रायतन एष एतर्हि यो यजते, स्व एवैनं तदायतने प्रीणाति। अथ कस्मात् संश्यानानि नाम, एतैर्वै सामभिर्देवा इन्द्रमिन्द्रियेण वीर्य्येण समश्यन्, तथैवैतद्यजमाना एतैरेव सामभिरिन्द्रियेणेव वीर्य्येण संश्यन्ति। संश्रवसे विश्रवसे सत्यश्रवसे श्रवस इति सामानि भवन्ति। एष्वेवैनं लोकेषु प्रतिष्ठापयति। चतुर्निधनं भवति, चतस्रो वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ते। अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनामाप्त्यै। तदाहुः, यदेतत् साम गीयते, अथ क्वैतस्य साम्न उक्थं, का प्रतिष्ठा। त्रयो देवा एकादशेत्याहुः, एतद्वा एतस्य साम्न उक्थमेषा प्रतिष्ठा। त्रयस्त्रिंशं ग्रहं गृह्णाति, साम्नः प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठायै॥ ७॥

कण्डिका ७। साम सब वेदों का रस है, सौत्रामणी यज्ञ में साम गान॥

(अथ ब्रह्मा साम गायति) फिर ब्रह्मा [चतुर्वेदी ऋत्विज्] साम [वेदों के सार, मोक्षज्ञान] को गाता है। (क्षत्रं वै साम, क्षत्रेण एव एनम् तत् अभिषिञ्चति) राज्य ही साम [मोक्ष ज्ञान] है, राज्य के साथ ही इस [यजमान] को तब वह अभिषेक करता है। (अथो साम्राज्यं वै साम, साम्राज्येन एव एनं तत् साम्राज्यं गमयति) फिर साम्राज्य [चक्रवर्ती राज्य] ही साम गान है, साम्राज्य [साम्राज्य के समान सामगान] के साथ ही इस [यजमान] को तब साम्राज्य वह पहुँचाता है। (अथो सर्वेषां वेदानां वै एषः रसः, यत् साम) फिर सब वेदों का ही यह रस है, जो साम गान है।

७—(साम) मोक्षज्ञानम् (क्षत्रम्) राज्यम् (साम्राज्यम्) सम्राज्—ष्यञ्। चक्रवर्तिराज्यम्। सार्वभौमराज्यम् (गमयति) प्रापयति (रसः) सारः

(सर्वेषां वेदानाम् एव रसेन तत् अभिषिञ्चति) सब ही वेदों के रस से तब वह [यजमान को] अभिषेक करता है । (बृहत्यां गायन्ति) बृहती [बड़े विषय वाली वेद विद्या वा बृहती छन्द] में वे [साम] गाते हैं । (बृहत्यां वै असौ आदित्यः श्रियां प्रतिष्ठायाम् प्रतिष्ठितः तपति) बृहती [बड़े विषय वाली वेद वाणी] में ही वह चमकने वाला सूर्य शोभा और प्रतिष्ठा में ठहरा हुआ तपता है । (ऐन्द्र्यां बृहत्यां गायति) इन्द्र [परमेश्वर] देवता वाली बृहती [वेदवाणी] में वह [साम] गाता है । (ऐन्द्रः वै एषः यज्ञक्रतुः यत् सौत्रामणिः) इन्द्र देवता वाला ही यह यज्ञ कर्म है जो सौत्रामणी [सुत्रामा बड़े रक्षक इन्द्र परमेश्वर देवता वाली इष्टि] है । (ऐन्द्रायतनः एषः, एतर्हि यः यजते, स्वे एव आयतने एनं तत् प्रीणाति) इन्द्र देवता वाले आश्रय से युक्त यह [यजमान] है जो अब यज्ञ करता है, अपने ही आश्रय में इस [यजमान] को तब वह [इन्द्र] प्रसन्न करता है ॥

(अथ कस्मात् संश्यानानि नाम, एतैः वै सामभिः देवाः इन्द्रम् इन्द्रियेण वीर्येण समश्यन्, तथा एव एतत् यजमानाः एतैः एव सामभिः इन्द्रियेण एव वीर्येण संश्यन्ति) फिर किसलिये संश्यान [आपस में मिले हुये साम ज्ञान] प्रसिद्ध हैं । [उत्तर] इन ही सामज्ञानों से विद्वानों ने इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जीव] को इन्द्रपन [ऐश्वर्य] और वीर्य [पराक्रम] के साथ अच्छे प्रकार तीक्ष्ण किया है वैसे ही अब यजमानों को इन ही साम ज्ञानों से ऐश्वर्य और पराक्रम के साथ वे सब प्रकार तीक्ष्ण करते हैं । (संश्रवसे विश्रवसे सत्यश्रवसे श्रवसे इति सामानि भवन्ति) संश्रव [अच्छे प्रकार अन्न, धन और यश] के लिये, विश्रव [विविध अन्न धन और यश] के लिये, सत्यश्रव [सत्य अन्न धन और यश] के लिये और श्रव [सामान्यतः अन्न धन और यश] के लिये यह सामज्ञान होते हैं । (एषु एव लोकेषु एनं प्रतिष्ठापयति) इन ही लोकों में इस [यजमान] को वह प्रतिष्ठित करता है । (चतुः निधनं भवति, चतस्रः वै दिशः, दिक्षु तत् प्रतितिष्ठन्ते) चार बार निधन [अन्तिम यज्ञ कर्म] होता है, चार ही दिशायें हैं, दिशाओं में तब वे प्रतिष्ठा पाते हैं । (अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनाम् आप्त्यै) फिर चार पांव वाले पशु हैं, पशुओं की प्राप्ति के लिये [साम है] ॥

(बृहत्याम्) बृहद्विषयायां वेदवाण्याम् (सौत्रामणिः) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) सु + त्रैङ् पालने–मनिन् । साऽस्य देवता (पा० ४ । २ । २४) सुत्रामन्—अण्, टिलोपो न, ङीप्, अत्र पुँलिङ्गः । सौत्रामणी । महारक्षकयोग्या भक्तिः । इष्टिविशेषः (ऐन्द्रायतनः) इन्द्रदेवताकस्याश्रययुक्तः (संश्यानानि) सम + श्यैङ् गतौ–क्तः । संगतानि सामानि (समश्यन्) शो तनूकरणे––लङ् । सम्यक् तीक्ष्णीकृतवन्तः (यजमानाः) यजमानान् (संश्यन्ति) सम्यक् तीक्ष्णीकुर्वन्ति (संश्रवसे) श्रु श्रवणे—असुन् । श्रवः=अन्नम्—निघ० २ । ७, धनम्––२ । १० । सम्यग् अन्नस्य धनस्य यशसो वा प्राप्तये (चतुः) चतुर्वारम् (निधनम्) अन्तिमयज्ञकर्म (साम्नः) सामन्

(तत्, आहुः, यत् एतत् साम गीयते, अथ क्व एतस्य साम्नः उक्थम्, का प्रतिष्ठा) फिर वे कहते हैं--जो यह साम गाया जाता है, तब कहां इस साम का उक्थ है और क्या प्रतिष्ठा है । (त्रयः देवाः एकादश इति, आहुः, एतत् वै एतस्य साम्नः उक्थम्, एषा प्रतिष्ठा) [उत्तर] तीन [तीन बार] ग्यारह [तेंतीस] देवता हैं [देखो गो० उ० २ । १३]--ऐसा कहते हैं, यह ही इस साम का उक्थ है, यही प्रतिष्ठा है । (त्रयस्त्रिंशं ग्रहं साम्नः प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठायै गृह्णाति) तेंतीस अवयव वाला पात्र वह [यजमान] साम से प्रतिष्ठा के लिये, प्रतिष्ठा के लिये ग्रहण करता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् चतुर्वेदी ब्रह्मा के वेदज्ञान के उपदेश से मनुष्य चक्रवर्ती राज्य आदि पाकर संसार में प्रतिष्ठा बढ़ाता है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८ ॥

प्रजापतिरकामयत, वाजमाप्नुयाम्, स्वर्गं लोकमिति । स एतं वाजपेयमपश्यत् । वाजपेयो वा एषः, य एष तपति, वाजमेतेन यजमानः स्वर्गं लोकमाप्नोति । शुक्रवत्यो ज्योतिष्मत्यः प्रातःसवने भवन्ति, तेजो ब्रह्मवर्चसं ताभिराप्नोति । वाजवत्यो माध्यन्दिने सवने स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै । अन्नवत्यो गणवत्यः पशुमत्यस्तृतीयसवने भवन्ति, भूमानं ताभिराप्नोति । सर्वः सप्तदशो भवति, प्रजापतिर्वै सप्तदशः, प्रजापतिमेवाप्नोति । हिरण्यस्रज ऋत्विजो भवन्ति, महस एव तद्रूपं क्रियते । एष मेऽमुष्मिंल्लोके प्रकाशोऽसदिति, ज्योतिर्वै हिरण्यं, ज्योतिषैवैनमन्तर्दधत्याजिं धावन्ति यजमानमुज्जापयन्ति, नाके रोहति, स महसे रोहति, विश्वमहसे रोहति, सर्वमहसे रोहति, मनुष्यलोकादेवैनमन्तर्दधति । देवस्य सवितुः सवं स्वर्गं लोकं वर्षिष्ठं नाकं रोहेयमिति ब्रह्मा रथचक्रं सर्पति, सवितृप्रसूत एवैनं तत् समर्पयति । अथो प्रजापतिर्वै ब्रह्मा, प्रजापतिमेवैनं वज्रादधिप्रसुवति, नाकस्योज्जित्यै वाजिनां सन्तत्यै । वाजिसामाभिगायति, वाजिमान् भवति । वाजो वै स्वर्गो लोकः, स्वर्गमेव तं लोकं रोहति । विष्णोः शिपिविष्टवतीषु बृहदुत्तमं भवति, स्वर्गमेव तं लोकं रूढ्वा ब्रध्नस्य विष्टपमतिक्रामत्यतिक्रामति ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ आख्यायिका—वाजपेय यज्ञ का वर्णन ॥

(प्रजापतिः अकामयत, वाजम् आप्नुयाम्, स्वर्गं लोकम् इति) प्रजापति [प्रजापालक चतुर्वेदी ऋत्विज्] ने चाहा—मैं वाज [ज्ञान वा बल] प्राप्त करूँ, और स्वर्गलोक पाऊँ । (सः एतं वाजपेयम् अपश्यत्) उसने इस वाजपेय [ज्ञान रक्षक यज्ञ] को देखा । (वाजपेयः वै एषः, यः एषः तपति) वाजपेय ही यह है जो यह तपता है [हवन

—अण्, सामयुक्तस्य (त्रयस्त्रिशम्) त्रयस्त्रिंशावयवोपेतम् (ग्रहम्) पात्रम् (साम्नः) सामसकाशात् ॥

८--(एति) इयात् । प्राप्नुयात् (वाजपेयम्) वज गतौ--घञ् । अचो यत्

किया जाता है]। (एतेन यजमानः वाजं स्वर्गं लोकम् आप्नोति) इससे यजमान ज्ञानयुक्त स्वर्गलोक पाता है। (शुक्रवत्यः ज्योतिष्मत्यः प्रातःसवने भवन्ति) शुक्रवती [शुक्र शब्द वाली ऋचायें जैसे १—वायो शुक्रो अयामि ते ·· ऋग्० ४ । ४७ । १] और ज्योतिष्मती [ज्योतिः शब्द वाली ऋचायें जैसे २—अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु ..... अथर्व० १ । ९ । २] प्रातःसवन में होती हैं। (ताभिः ब्रह्मवर्चसं तेजः आप्नोति) उन [ऋचाओं] से ब्रह्मवर्चस् तेज वह पाता है। (वाजवत्यः माध्यन्दिने सवने स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै) वाजवती [वाज शब्द वाली ऋचायें जैसे ३—मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।..... अथर्व० ४ । २७ । १] माध्यन्दिन सवन में स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये हैं। (अन्नवत्यः गणवत्यः पशुमत्यः तृतीयसवने भवन्ति, ताभिः भूमानम् आप्नोति) अन्नवती [अन्न शब्द वाली ऋचायें जैसे ४—यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु । अथर्व० १० । ५ । ४५], गणवती [गण शब्द वाली ऋचायें जैसे ५—मरुतो मा गणैरवन्तु.....अथर्व० १९ । ४५ । १०] और पशुमती [पशु शब्द वाली ऋचायें जैसे ६—सं सं स्रवन्तु पशवः—अथर्व० २ । २६ । ३] तृतीय सवन में होती है, उन से वह [उन सबकी] बहुतायत पाता है। (सर्वः सप्तदशः भवति, प्रजापतिः वै सप्तदशः, प्रजापतिम् एव आप्नोति) यह सब सत्रह अवयव [मन्त्र] वाला होता है, प्रजापति [प्रजापालक यज्ञ ही] सत्रह अवयव वाला है, [उससे] प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] को ही वह पाता है। (हिरण्यस्रजः ऋत्विजः भवन्ति, महसे एव तत् रूपं क्रियते) सुवर्ण की माला वाले ऋत्विज् होते हैं, महत्त्व के लिये ही वह रूप किया जाता है। (एषः प्रकाशः मे अमुष्मिन् लोके असत् इति) यह प्रकाश मेरे लिये उस लोक में होवे—यह प्रयोजन है। (ज्योतिः वै हिरण्यं, ज्योतिषा एव एनम् अन्तः दधति) ज्योति ही सुवर्ण है, ज्योति के साथ ही इस [यजमान] को भीतर धारण करते हैं, (आजिं धावन्ति यजमानम् उज्जापयन्ति)संग्राम को वे धावा करते हैं और यजमान को अच्छे प्रकार जिताते हैं। (सः नाके आरोहति,महसे रोहति,विश्वमहसे रोहति,सर्वमहसे रोहति, मनुष्यलोकात् एव एनम् अन्तः दधति) वह सुख के लिये चढ़ता है, महत्त्व के लिये चढ़ता है, व्यापक महत्त्व

(पा० ३ । १ । ९७) पा रक्षणे वा पा पाने--यत्। ईद्यति (पा० ६ । ४ । ६५) आकारस्य ईकारः, गुणश्च । वाजो विज्ञानं बलं च पेयं रक्षणीयं यस्मिन् स वाजपेयः। विज्ञानस्य बलस्य च रक्षकं यज्ञम् (वाजम्)। वाज--अर्शआद्यच् । विज्ञानवन्तम् । बलवन्तम् (शुक्रवत्यः) शुक्रशब्दयुक्ताः ऋचः, (भूमानम्) पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा (पा० ५ । १ । १२२) बहु इमनिच् । बहोर्लोपो भू च बहोः (पा० ६ । ४ । १५८) इकारलोपः, बहोर्भूः । बहुत्वम् (सप्तदशः) बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् (पा० ५ । ४ । ७३) सप्तदशन्–डच् । सप्तदशावयवयुक्तः (हिरण्यस्रजः) सुवर्णमालायुक्ताः (महसे) महत्त्वाय (असत्) भवेत् (अन्तः) मध्ये (आजिम्) अज्यतिभ्यां च (उ० ४ । १३१) अज गतिक्षेपणयोः—इण् । संग्रामम्—निघ० २ । १७ (उज्जापयन्ति) जि जये—णिच् । उत्कृष्टजयं कारयन्ति (विश्वमहसे) व्यापकमहत्वाय संसारे महत्त्वाय। (सवितुः) प्रेरकस्य परमेश्वरस्य (सवम्) सव—अर्शआद्यच् । ऐश्वर्य्योपेतम् (वर्षि-

के लिये चढ़ता है, सम्पूर्ण महत्त्व के लिये चढ़ता है, मनुष्य लोक से [अलग करके शूरवीरों में]ही इस [यजमान] को भीतर धारण करते हैं। (देवस्य सवितुः सवं स्वर्गं लोकं वर्षिष्ठं नाकं रोहेयम् इति ब्रह्मा रथचक्रं सर्पति, सवितृप्रसूतः एव एनं तत् समर्पयति) प्रकाशमान प्रेरक परमात्मा के ऐश्वर्य युक्त स्वर्ग लोक और सबसे बड़े सुख में मैं चढ़ूँ—[यह ब्राह्मण वचन बोलकर] ब्रह्मा रथ के पहिये के पास जाता है, सर्वप्रेरक परमात्मा से प्रेरणा किया हुआ ही वह इस [यजमान] को उसे [रथ] सौंप देता है। (अथो प्रजापतिः वै ब्रह्मा, प्रजापतिम् एव एनम् वज्रात् नाकस्य उज्जित्यै वाजिनां सन्तत्यै अधि प्रसुवति) फिर प्रजापति [प्रजापालक] ही ब्रह्मा [चतुर्वेदी ऋत्विज्] है, प्रजापति [प्रजापालक] इस [यजमान] को ही वज्र से सुख के लाभ के लिये और ज्ञानियों के विस्तार के लिये वह अधिकार पूर्वक प्रेरणा करता है। (वाजिसाम अभिगायति, वाजिमान् भवति) ज्ञानियों का साम वह [ब्रह्मा] भली भांति गाता है, ज्ञानी पुरुषों वाला वह [यजमान] होता है। (वाजः वै स्वर्गः लोकः, तं स्वर्गं लोकम् एव रोहति) वाज [ज्ञान] ही स्वर्गलोक है, उस स्वर्ग लोक को ही वह [यजमान] चढ़ता है। (विष्णोः शिपिविष्टवतीषु बृहत् उत्तमं भवति, तं स्वर्गं लोकम् एव रूढ्वा ब्रध्नस्य विष्टपम् अतिक्रामति अतिक्रामति) विष्णु देवता [सर्वव्यापक परमेश्वर] की शिपिविष्टवती ऋचाओं में [शिपिविष्ट, प्रकाशयुक्त परमेश्वर शब्द वाली ऋचाओं में जैसे ७--किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्......ऋग् ७ । १०० । ६] बहुत बड़ा सबसे पिछला [अन्तिम यज्ञ भाग] होता है, उस स्वर्ग लोक को ही चढ़कर ब्रध्न [लोकों को आकर्षण में बांधने वाले सूर्य] के लोक को वह [यजमान] लाँघ जाता है, लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

भावार्थः--मनुष्य को चाहिये कि महाविद्वानों की सम्मति से ज्ञानपूर्वक पराक्रमी होकर संसार में बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा पावे ॥ ८ ॥

विशेषः--सङ्केतित मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१--शुक्रवती ऋचा--वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु । आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता--ऋग्० ४ । ४७ । १ ॥ (वायो) हे वायु ! [वायु के समान वेग वाले वीर (शुक्रः) शुक्र [शुद्ध--स्वभाव वाला वा वीर्यवान्] मैं

ष्ठम्) वृद्ध—इष्ठन् । वृद्धतमम् (सर्पति) प्राप्नोति (समर्पयति) ऋ गतौ—णिच् । सम्प्रददाति (वाजिनाम्) ज्ञानिनाम् (वाजिसाम) वाजिनो ज्ञानिनः परमेश्वरस्य मोक्षज्ञानम् (वाजिमान्) ज्ञानिपुरुषैर्युक्तः (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (शिपिविष्टवतीषु) शिपिविष्टशब्दयुक्तासु । सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) शिञ् निशाने, छेदने--इन् कित् पुक् च, शिपि + विश प्रवेशने--क्तः । शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति—निरु० ५ । ८ । रश्मिभिर्युक्तः । प्रकाशयुक्तः परमेश्वरः (ब्रध्नस्य) बन्धेर्ब्रधिबुधी च (उ० ३ । ५) बन्ध बन्धने—नक्, ब्रधादेशः । लोकानां बन्धकस्य आकर्षणे धारकस्य सूर्यस्य (विष्टपम्) विटपविष्टपविशिपोलपाः (उ० ३ । १४५) विश प्रवेशने-कपन्प्रत्ययः तुट् च । भुवनम् । लोकम् (अतिक्रामति) अतीत्य गच्छति ॥

(दिविष्टिषु) विजय की इच्छाओं में (ते) तेरे लिये (मध्वः) मधु [तत्त्व ज्ञान] का (अग्रम्) प्रधान अंश (अयामि) लाता हूं। (देव) हे देव! [विजय चाहने वाले शूर] (स्पार्हः) चाहने योग्य तू (सोमपीतये) सोम [तत्त्वरस] पीने के लिये (नियुत्वता) नित्य मेल वाले व्यवहार के साथ (आ याहि) आ॥

२—ज्योतिष्मती ऋचा—अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्। सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्—अथर्व० १। ९। २॥ (देवाः) हे व्यवहार जानने वाले महात्माओ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे। (सपत्नाः) सब बैरी (अस्मत्) हमसे (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें। (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (इमम्) इसको [मुझको] (अधि) ऊपर (रोहय = रोहयत) तुम चढ़ाओ॥

३—वाजवती ऋचा—मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु। आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः—अथर्व० ४। २७। १॥ (मरुताम्) शत्रुनाशक वीरों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (मे) मेरे लिये (अधि) अनुग्रह से (ब्रुवन्तु) वे बोलें और (इमम्) इस (वाजम्) बल को (वाजसाते) अन्न के सुख वा दान के निमित्त (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें। (आशून् इव) शीघ्रगामी घोड़ों के समान (सुयमान्) उन सुन्दर नियम वालों को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) मैंने पुकारा है। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें॥

४—अन्नवती ऋचा—यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु। तस्य नस्त्वं भुवस्पत संप्रयच्छ प्रजापते—अथर्व० १०। ५। ४५॥ (भुवः पते) हे भूपति [राजन्!] (यत्) जो (ते) तेरा (अन्नम्) अन्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (आक्षियति) रहा करता है। (भुवः पते) हे भूपति! (प्रजापते) हे प्रजापति [राजन्!] (त्वम्) तू (नः) हमें (तस्य) उस [अन्न] का (संप्रयच्छ) दान करता रह॥

५—गणवती ऋचा—मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा—अथर्व० १९। ४५। १०॥ (मरुतः) शूर पुरुष (मा) मुझे (गणैः) सेना दलों के साथ (अवन्तु) बचावें, (प्राणाय) प्राण के लिये, (अपानाय) अपान के लिये, (आयुषे) जीवन के लिये, (वर्चसे) प्रताप के लिये, (ओजसे) पराक्रम के लिये, (तेजसे) तेज के लिये, (स्वस्तये) स्वस्ति [सुन्दर सत्ता] के लिये और (सुभूतये) बड़े ऐश्वर्य्य के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो॥

६—पशुमती ऋचा—सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः। सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि—अथर्व० २। २६। ३॥ (पशवः) गौ आदि पशु (सम्) मिलकर, (अश्वाः) घोड़े (सम्) मिल कर, (उ) और (पूरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्रवन्तु) चलें। और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम् सम् स्रवन्तु) मिल मिलकर

चले। (संस्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करूं ॥

७—शिपिविष्टवती ऋचा—किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदप गूह एतद् यदन्यरूपः समिथे बभूथ-ऋग्० ७। १००। ६ ॥ (विष्णो) हे विष्णु ! [व्यापक परमेश्वर] (किम् इत्) क्या ही [अद्भुत वर्णन] (ते) तेरा (परिचक्ष्यं भूत्) कथन योग्य है, (यत्) जो (प्र ववक्षे) तू कहता है (शिपिविष्टः अस्मि) मैं शिपिविष्ट [तेज में प्रवेश किये हुये] हूं— (अस्मत्) हम से (एतत् वर्पः) इस रूप को (मा अप गूहः) तू मत छिपा, (यत्) जब (समिथे) संग्राम में (अन्यरूपः) दूसरे रूप वाला तू (बभूथ) होता है ॥

कण्डिका ९ ॥

अथातो अप्तोर्यामाः, प्रजापतिर्वै यत् प्रजा असृजत, ता वै तां ता असृजत। ताः सृष्टाः पराच्य एवासन्नोपावर्तन्त। ता एकेन स्तोमेनोपागृह्णात्। ता अत्यरिच्यन्त, ता द्वाभ्यान्ताः सर्वैः। तस्मात् सर्वस्तोमः, ता एकेन पृष्ठेनोपागृह्णात्। ता अत्यरिच्यन्त, ता द्वाभ्यां ताः सर्वैः, तस्मात् सर्वस्पृष्टः। ता अतिरिक्तोक्थे वारवन्तीयेनावारयन्, तस्मादेषोऽतिरिक्तोक्थवान् भवति। तस्माद्वारवन्तीयं ता यदाप्त्वाऽयच्छत्, अतो वा अप्तोर्यामाः। अथो प्रजावाप्नुरित्याहुः, प्रजानां यमन इतीहैवैतदुक्थ ꣳ, ता र्हिः प्रजाः श्नायेरंस्तर्हि हैतेन यजते, स एषोऽष्टापृष्ठो भवति, तद्यथान्यस्मिन् यज्ञे विश्वजितः पृष्ठमनुसञ्चरं भवति, कथमेतदेवमत्रेति। पितैष यज्ञानां तद्यथा श्रेष्ठिनि संवशेयुरपि विद्विषाणाः, एवमेवैतच्छ्रैष्ठिनो वशेयान्नमन्नस्यानुचर्य्याय क्षमन्ते ॥ ९ ॥

कण्डिका ९ ॥ आख्यायिका—अप्तोर्याम यज्ञ का वर्णन ॥

(अथ अतः अतोर्यामाः) अब यहां अप्तोर्याम [पायी हुई प्रजा के नियम, यज्ञ विशेष—गो० पू० ५। २३, कहे जाते हैं]। (प्रजापतिः वै यत् प्रजाः असृजत, ताः वै तान् ताः असृजत) प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] ने जब प्रजाओं को सृजा, और (ताः) उन [प्रजाओं] को ही (तान्) वे [पुरुष] और (ताः) वे [स्त्रियां] बनाया। (ताः सृष्टाः पराच्यः एव आसन्, न उपावर्तन्त) वे उत्पन्न हुये [प्रजायें] पराङ्मुख [मुँह फेरे हुये] ही हुये और न लौटे। (ताः एकेन स्तोमेन उपागृह्णात्) उनको एक स्तोम से उस [प्रजापति] ने ग्रहण किया। (ताः अत्यरिच्यन्त) वे प्रजायें और आगे निकल गये। (ताः द्वाभ्यां ताः सर्वैः, तस्मात् सर्वस्तोमः) उनको दो [स्तोम] से उनको सबसे [सब स्तोमों से उसने ग्रहण किया], इसलिये वह सर्वस्तोम

९—(अप्तोः) गो० पू० ५। २३। आप्तायाः प्राप्तायाः प्रजायाः (यामाः) गो० पू० ५। २३। नियमाः (ताः) प्रजाः (तान्) पुरुषान् (ताः) स्त्रियः (पराच्यः) परा+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप्। पराङ्मुख्यः (उपावर्तन्त) निवृत्ता अभवन् (अत्यरिच्यन्त) रिच वियोजनसंपर्चनयोः, रिचिर् विरेचने च—लङ्।

[सब स्तोभ वाला यज्ञ] है। (ताः एकेन पृष्ठेन उपागृह्णात्) उनको एक पृष्ठ [नाम वाले स्तोत्र] से उसने ग्रहण किया। (ताः अत्यरिच्यन्त) वे और आगे निकल गये। (ताः द्वाभ्यां ताः सर्वैः, तस्मात् सर्वस्पृष्टः) उनको दो [पृष्ठ] से, उनको सबों से [सब पृष्ठों से उसने ग्रहण किया], इसलिये वह सर्वस्पृष्ट [सर्वस्पृष्टों वा पृष्ठों वाला यज्ञ] है। (ताः अतिरिक्तोक्थे वारवन्तीयेन अवारयन्, तस्मात् एषः अतिरिक्तोक्थवान् भवति) उनको अतिरिक्त उक्थ [औरों से अधिक स्तोत्र वाले यज्ञ] में वारवन्तीय [रोकने के कर्म सेवने वाले स्तोत्र] से उसने रोका, इसलिये वह [यज्ञ] और से अधिक स्तोत्र वाला होता है। (तस्मात् यत् वारवन्तीयं ताः आप्त्वा अयच्छत् अतः वै अप्तोर्यामाः) इसलिये जब वारवन्तीय [स्तोत्र] से प्राप्त करके [प्रजाओं] को उसने नियम में किया, इसलिये वे अप्तोर्याम [प्राप्त हुये प्रजा के नियम वाले यज्ञ] हैं। (अथो प्रजावाप्नुः इति आहुः, प्रजानां यमनः इति, इह एव एतत् उक्थम्) फिर वह [प्रजापति] प्रजाओं का प्राप्त करने वाला और प्रजाओं का नियम में करने वाला है--ऐसा कहते हैं--इसलिये यहाँ ही यह उक्थ [अप्तोर्याम] है। (ताः प्रजाः बर्हिः श्नायेरन्, तर्हि ह एतेन यजते, सः एषः अष्टापृष्ठः भवति) उन प्रजाओं ने बर्हि [वृद्धिकारक कर्म वा कुश तृण] को शुद्ध किया, तब ही इस [बर्हि] से वह यज्ञ करता है, वह ही यह [यज्ञ] आठ पृष्ठों [स्तोत्रों] वाला होता है। (तत् यथा अन्यस्मिन् यज्ञे विश्वजितः अनुसञ्चरं पृष्ठं भवति, कथम् एतत् एवम् अत्र इति) सो जैसे दूसरे यज्ञ में विश्वजित् के पीछे चलने वाला पृष्ठ होता है, कैसे यह [पृष्ठ] ऐसा यहाँ है [उत्तर] (एषः यज्ञानां पिता) यह [विश्वजित्] यज्ञों का पिता है। [देखो गो० पू० ४। १४] (तत् यथा श्रेष्ठिनि अपि विद्विषाणाः संवशेयुः, एवम् एतत् श्रेष्ठिनः वशेयान्नम् अन्नस्य आनुचर्य्याय क्षमन्ते) सो जिस प्रकार से श्रेष्ठी [श्रेष्ठ कर्म वाले महाधनी सेठ] में ही द्वेष छोड़े हुये पुरुष कामना करते हैं, ऐसे ही यह है, श्रेष्ठी पुरुष के कामना योग्य अन्न को अन्न के अनुचरण [प्राप्ति के लिये] सहते हैं ॥ ६ ॥

अतिक्रान्ताः पृथग्भूता अभवन् (वारवन्तीयेन) वृञ् वरणे--घञ्। हसिमृग्रिण्० (उ० ३। ८६) वन संभक्तौ--तन्। वारवन्त--छ। निवारणसेवनीयेन यज्ञेन (अयच्छत्) यम नियमने---लङ्। नियमितवान् (प्रजावाप्नुः) दाभाभ्यां नुः (उ० ३। ३२) प्रजा+अव+आप्लृ लम्भने—नुः। प्रजानां लम्भकः प्रापकः (यमनः) यम नियमने—ल्युट्। नियामकः (श्नायेरन्) ष्णै वेष्टनशोभाशोचेषु--भ्वा० वि० लि०, सस्य शः। स्नायेयुः। शोधयेयुः (अनुसञ्चरम्) पश्चाद्गमनशीलम् (श्रेष्ठिनि) श्रेष्ठं कर्म अस्य—इनिः। श्रेष्ठकर्मकारके महाधनिके (संवशेयुः) वश कान्तौ—वि० लि०। सम्यक् कामनां कुर्युः (विद्विषाणाः) द्विष अप्रीतौ--शानच्। विगतद्वेषाः (वशेयान्नम्) ढश्छन्दसि (पा० ४। ४। १०६) वशा--ढप्रत्ययो बाहुलकात्। कामनार्हमन्नम् (आनुचर्य्याय) अनुचर--ष्यञ्। अनुचरणाय। प्रापणाय (क्षमन्ते) सहन्ते। लभन्ते ॥

भावार्थः—जैसे प्रजापति परमात्मा प्रजाओं और अन्नों को उत्पन्न करके सबको अपने वश में रखता है, वैसे ही प्रजापालक वीर पुरुष सब लोगों को अन्न दान आदि से सन्तुष्ट करके परस्पर अनुकूल रक्खे ॥ ९ ॥

कण्डिका १० ॥

तद्यथैवादोऽह्न उक्थानामाग्नेयं प्रथमं भवति, एवमेवैतदत्राप्याग्नेयं प्रथमं भवति। ऐन्द्रे वाव तत्रोत्तरे ऐन्द्रे वा एते ऐन्द्रावैष्णवमच्छावाकस्योक्थं भवति। चतुराहावान्यतिरिक्तोक्थानि भवन्ति, चतुष्टया वै पशवः, अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनामाप्त्यै। त एते स्तोत्रियानुरूपास्तृचा अर्द्धर्चशस्याः। प्रतिष्ठा वा अर्द्धर्चः प्रतिष्ठित्या एव। अथैतेषामेवाश्विनानां सूक्तानां द्वे द्वे समाहावमेकैकमहरहः शंसति, अश्विनौ वै देवानां भिषजौ, तस्मादाश्विनानि सूक्तानि शंसन्ति, तदश्विभ्यां प्रददुरिदं भिषज्यतमिति। क्षेत्रवत्यः परिधानीया भवन्ति, यत्र हतस्तत्प्रजा अशनायन्तीः पिपासन्तीः संरुद्धा स्थिता आसन्, ता दीना एताभिर्यथाक्षेत्रं पाययाञ्चकार, तर्पयाञ्चकार, अथो इयं वै क्षेत्रं पृथिवी, अस्यामदीनायामन्ततः प्रतिष्ठास्यामहा इति। त्रिष्टुभो याज्या भवन्ति, यत्र हतस्तत्प्रजा अशनायन्तीः पिपासन्तीः संरुद्धा स्थिता बभूवुः, ता हैवैना एताभिर्यथौकसं व्यवसाययाञ्चकार, तस्मादेता याज्या भवन्ति तस्मादेता याज्या भवन्ति ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ अप्तोर्याम यज्ञ का अधिक वर्णन ॥

(तत् यथा एव अह्नः उक्थानाम् अदः आग्नेयं प्रथमं भवति, एवम् एव एतत् अत्र अपि आग्नेयं प्रथमं भवति) सो जैसे ही दिन के [यज्ञों के] उक्थों में अब अग्नि देवता वाला स्तोत्र पहिले होता है, वैसे ही यहां [अप्तोर्याम में—क० ९] भी यह अग्नि देवता वाला स्तोत्र पहिले होता है। (तत्र ऐन्द्रे वाव, उत्तरे ऐन्द्रे वै एते) वहां [उक्थों में] दो इन्द्र देवता वाले स्तोत्र ही हैं और पिछले [अप्तोर्याम] में दो इन्द्र देवता वाले ही यह [स्तोत्र] हैं। (अच्छावाकस्य ऐन्द्रावैष्णवम् उक्थं भवति) अच्छावाक ऋत्विज् का इन्द्र और विष्णु देवता वाला उक्थ होता है। (चतुराहावानि अतिरिक्तोक्थानि भवन्ति, चतुष्टयाः वै पशवः, अथो चतुष्पादः पशवः, पशूनाम् आप्त्यै) चार आवाहन मन्त्र वाले अतिरिक्त उक्थ [औरों से अधिक मन्त्र वाले उक्थ] हैं, चार अङ्ग वाले ही पशु यज्ञ हैं, फिर चार पांव वाले पशु हैं, पशुओं की प्राप्ति के लिये [यह यज्ञ है]। (ते एते स्तोत्रियानुरूपाः तृचाः अर्धर्चशस्याः) सो यह ही स्तोत्रिय और अनुरूप वाले तृच [सामवेद उत्तरार्चिक देखो] आधी आधी ऋचाओं में बोलने योग्य हैं। (प्रतिष्ठा वै अर्धर्चः, प्रतिष्ठित्यै एव) प्रतिष्ठा [स्थिति समान] ही आधी ऋचा है, प्रतिष्ठा के लिये ही [यह विधान है]। (अथ एतेषाम् एव आश्विनानां सूक्तानां द्वे द्वे, एकैकं समाहावम्

१०—(अदः) इदानीम् (आग्नेयम्) अग्नेर्ढक् (पा० ४। २। ३३) अग्नि—ढक्। अग्निदेवताकम् (चतुराहावानि) चतुरावाहनयुक्तानि (चतुष्टयाः) चतुर्—तयप्। चतुरवयवाः (पशवः) पशुनामकयज्ञाः। गवादयः (समाहावम्)

अहरहः शंसति) फिर इन ही आश्विन [अश्वि देवता वाले] सूक्तों के दो दो [स्तोत्र] हैं, एक एक समाहाव [आवाहन स्तोत्र] को दिन दिन वह बोलता है। (अश्विनौ वै देवानां भिषजौ, तस्मात् आश्विनानि सूक्तानि शंसन्ति) दोनों अश्वी [दिन रात] ही विद्वानों के दो वैद्य हैं, इसलिये अश्वियों के सूक्तों को वे बोलते हैं। (तत् अश्विभ्यां प्रददुः, इदं भिषज्यतम् इति) वह [यज्ञकर्म दोनों अश्वियों को उन्होंने दिया--इसकी तुम दोनों ओषधि करो। (क्षेत्रवत्यः परिधानीयाः भवन्ति) क्षेत्रवती [क्षेत्र शब्द वाली ऋचायें जैसे—शं नो देवः सविता········ अथर्व १९। १०। १०] परिधानीया [अन्तिम इष्टि] होती हैं। (यत्र हतः तत् प्रजाः अशनायन्तीः पिपासन्तीः संरुद्धाः स्थिता आसन्) जहां वह [यज्ञ] मारा गया [परिधानीय स्तोत्र ठीक न हुआ], वहां प्रजायें भूख की मारी और प्यास की मारी रुकी हुई स्थित होती हैं। (ताः दीनाः एताभिः यथाक्षेत्रं पाययाञ्चकार तर्पयाञ्चकार) उन दीन [दुखिया प्रजाओं] को इन [परिधानीया ऋचाओं] से खेत के अनुसार उस [यजमान] ने जलपान कराया और तृप्त किया। (अथो इयं वै पृथिवी क्षेत्रम्, अस्याम् अदीनायाम् अन्ततः प्रतिष्ठास्यामहे इति) फिर यह ही पृथिवी खेत है, इस अदीना [बलवती और उपजाऊ पृथिवी] पर अन्त में [पुरुषार्थ के पीछे] हम प्रतिष्ठा पावेंगे। (त्रिष्टुभः याज्याः भवन्ति) त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना, ज्ञान के सहारे वाली, वा त्रिष्टुप् छन्द वाली स्तुतियां] याज्या [यज्ञ करने योग्य] होती हैं। (यत्र हतः, तत् प्रजाः अशनायन्तीः पिपासन्तीः संरुद्धाः स्थिताः बभूवुः) जहां वह [यज्ञ] मारा गया है [याज्या स्तोत्र ठीक नहीं होते], वहां प्रजायें भूख की मारी, प्यास की मारी और रुकी हुई स्थित होती हैं। (ताः ह एव एनाः एताभिः यथौकसं व्यवसाययाञ्चकार) उन ही इन [प्रजाओं] को इन [याज्या स्तुतियों] से घर घर के अनुसार उस [यजमान] ने उद्यमी बनाया। (तस्मात् एताः याज्याः भवन्ति, तस्मात् एताः याज्याः भवन्ति) इसलिये यह [प्रजायें] याज्या [पूजने योग्य] होती हैं इसलिये यह [प्रजायें] याज्या [पूजनीया] होती हैं॥ १०॥

भावार्थः—विचारशील पुरुष ही अपनी प्रजाओं अर्थात् सन्तानों और अन्य लोगों को उत्तम उत्तम उपायों द्वारा भूख प्यास से बचाकर सुखी रखते हैं॥ १०॥

विशेषः--सङ्केतित मन्त्र अर्थ सहित दिये जाते हैं।

१– आश्विन सूक्त--इमा उ वां दिविष्टय ······। देखो गो० उ० ५। ३। विशेषः ४।

२--क्षेत्रवती ऋचा--शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः। शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः—अथर्व०

आवाहनमन्त्रयुक्तम् (क्षेत्रवत्यः) क्षेत्रपदयुक्ताः (अशनायन्तीः) अशन–क्यच् शतृ, ङीप्। अशनायन्त्यः। बुभुक्षिताः (पिपासन्तीः) पिपासन्त्यः। पिपासिताः (दीनाः) दुःखिताः (पाययाञ्चकार) जलपानं कारितवान् (तर्पयाञ्चकार) तर्पितवान् (अदीनायाम्) बलवत्याम्। शस्योत्पादिकायाम् (प्रतिष्ठास्यामहे) प्रतिष्ठिताः भविष्यामः (व्यवसाययाञ्चकार) व्यवसायमुद्योगं कारितवान्॥

१६ । १० । १० ॥ (देवः) प्रकाशमान (सविता) लोकों का चलाने वाला सूर्य (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ (नः)हमें (शम्) सुखदायक हो, (विभातीः) जगमगाती हुयी (उषसः) प्रभात वेलायें (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों। (पर्जन्यः) सींचने वाला मेघ (नः) हमें और (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (शम्) सुखदायक (भवतु) हो, (शंभुः) मङ्गल दाता (क्षेत्रस्य) खेत का (पतिः) स्वामी (नः) हमें (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो ॥

कण्डिका ११ ॥

अथातोनैकाहिकं श्वःस्तोत्रियमद्यस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति, प्रातःसवनेऽहीनमेव तत्सन्तन्वन्त्यहीनस्य सन्तत्यै । तद्यथा ह वा एकाहःसुत एवमहीनः सुतः, तद्यथैकाहस्य सुतस्य सवनानि सन्तिष्ठमानानि यन्ति, एवमहीनस्य सुतस्याहानि सन्तिष्ठमानानि यन्ति । तद्यच्छ्वःस्तोत्रियमद्यस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति, प्रातःसवनेऽहरेव तदह्नो रूपं कुर्वन्ति। अपरेणैव तदह्नापरमहरभ्यारभन्ते, तत्तथा न माध्यन्दिने सवने। श्रीर्वै पृष्ठानि तानि तस्मिन्नेवावस्थितानि भवन्ति । एतेनैव विधिना तृतीयसवने न श्वःस्तोत्रियमद्यस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ अनैकाहिक वा अहीन अर्थात् अनेक दिनों में होने वाले यज्ञ का वर्णन ॥

(अथ अतः अनैकाहिकम्) अब यहाँ अनैकाहिक [वा अहीन अर्थात् अनेक दिनों में होने वाला वा सम्पूर्ण अङ्ग वाला यज्ञ कर्म कहा जाता है]। (श्वःस्तोत्रियम् अद्यस्तोत्रियस्य अनुरूपं कुर्वन्ति) आगामी दिन में होने वाले स्तोत्रिय [स्तोत्र] को आज होने वाले स्तोत्रिय के अनुरूप [छन्द, देवता आदि से सदृश] करते हैं। (प्रातःसवने अहीनम् एव तत् अहीनस्य सन्तत्यै सन्तन्वन्ति) प्रातःसवन में अहीन [बहुत दिनों में होने वाले वा सम्पूर्ण अङ्ग वाले यज्ञ] को ही तब अहीन के फैलाव के लिये फैलाते हैं [क० १५]। (तत् यथा ह वै एकाहः सुतः एवम् अहीनः सुतः) सो जैसे ही एकाह [एक दिन में होने वाला यज्ञ] निचोड़ा जाता है, वैसे ही अहीन [बहुत दिन में होने वाला यज्ञ] निचोड़ा जाता है। (तत् यथा एकाहस्य सुतस्य सवनानि सन्तिष्ठमानानि यन्ति, एवम् अहीनस्य सुतस्य अहानि सन्तिष्ठमानानि यन्ति । सो जैसे एकाह यज्ञ के निचोड़े हुए सोम के

११--(अनैकाहिकम्) कालाट्ठञ् (पा० ४ । ३ । ११) एकाह--ठञ्, नञ्समासः। अनेकदिनवर्तमानं यज्ञकर्म । अहीननामकयज्ञः (श्वःस्तोत्रियम्) आगामिदिने क्रियमाणं स्तोत्रम् (अद्यस्तोत्रियस्य) अस्मिन् दिने क्रियमाणस्य स्तोत्रस्य (अनुरूपम्) छन्दोदेवतादिना सदृशम् (अहीनम्) गो० ब्रा० उ० २ । ८ । अहर्गणसाध्यसुत्याकम्। बहुदिनेषु क्रियमाणं यज्ञविशेषम् । सम्पूर्णाङ्गयज्ञम् (सन्तन्वन्ति) सम्यग् विस्तारयन्ति। अनुतिष्ठन्ति (एकाहः) राजाहःसखिभ्यष्टच् (पा० ५ । ४ । ६१) एकाहन्--टच् । उत्तमैकाभ्यां च (पा० ५ ।

[तीन] सवन साथ साथ वर्तमान होकर चलते हैं, वैसे ही अहीन यज्ञ के निचोड़े हुये सोम के दिन [दिनों में होने वाले यज्ञ कर्म] साथ साथ वर्तमान होकर चलते हैं। (तत् यत् श्व.स्तोत्रियम् अद्यस्तोत्रियस्य अनुरूपं कुर्वन्ति, प्रातःसवने अहः एव तत् अह्नः रूपं कुर्वन्ति) सो जब आगामी दिन में होने वाले स्तोत्रिय को आज होने वाले स्तोत्रिय के अनुरूप [समान रूप] करते हैं, प्रातः सवन में दिन को ही तब दिन के अनुरूप करते हैं। (अपरेण एव अह्ना तत् अपरम् अहः अभ्यारभन्ते, तत् तथा न माध्यन्दिने सवने) दूसरे ही दिन के साथ तब दूसरे दिन को आरम्भ करते हैं, सो वैसा माध्यन्दिन सवन में नहीं [आरम्भ करते]। (श्रीः वै पृष्ठानि तानि तस्मिन् एव अवस्थितानि भवन्ति) श्री ही पृष्ठ [स्तोत्र] हैं, वे [पृष्ठ] उस [माध्यन्दिन सवन] में ही ठहरे हुये हैं। (एतेन एव विधिना तृतीयसवने श्वःस्तोत्रियम् अद्यस्तोत्रियस्य अनुरूपं न कुर्वन्ति) इस ही विधि से तीसरे सवन में आगामी दिन में होने वाले स्तोत्रिय को आज होने वाले स्तोत्रिय के अनुरूप नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः—यज्ञों को यथा विधान करना चाहिये ॥ ११ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को मिलाओ—ऐ० ब्रा० ६ । १७ ॥

विशेषः २—(प्रातःसवने ऽहीनमेव तत् सन्तन्वन्त्यहीनस्य सन्तत्यै) ऐसा पाठ राजेन्द्रलाल मित्र एशियाटिक सोसैटी के पुस्तक से और आगे वाली कण्डिका १५ के पाठ से (प्रातःसवनेऽहीनस्य सन्तत्यै) जीवानन्द विद्यासागर के पाठ के स्थान पर शुद्ध किया है। (तद्यश्वः) के स्थान पर (तद्यच्छ्वः) ऐतरेय ब्राह्मण में है ॥

कण्डिका १२ ॥

अथात आरम्भणीया एव, ऋजुनीती नो वरुण इति मैत्रावरुणस्य। मित्रो नयतु विद्वानिति, प्रणेता वा एष होत्रकाणां, यन्मैत्रावरुणः, तस्मादेषा प्रणेत्रिमती [प्रणेतृमती] भवति, इन्द्रं वो विश्वतस्परीति ब्राह्मणाच्छंसिनः। हवामहे जनेभ्य इति, इन्द्रमेवैतयाहरहर्निर्ह्वयन्ते, न हैवेषां विहवेऽन्य इन्द्रं वृङ्क्ते, यत्रैवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंस्येतामहरहः शंसति। यत् सोम आ सुते नर इत्यच्छावाकस्य। इन्द्राग्नी अजोहवुरितीन्द्राग्नी एवैतयाहरहर्निर्ह्वयन्ते, न हैवैषां विहवेऽन्य इन्द्राग्नी वृङ्क्ते। यत्रैवं विद्वानच्छावाक एताम् अहरहः शंसति, ता वा एताः स्वर्गस्य लोकस्य नावः सन्तारण्यः। स्वर्गमेवैताभिर्लोकमनुसञ्चरन्ति ॥ १२ ॥

कण्डिका १२ ॥ अहीन [अहर्गण यज्ञ] में आरम्भणीया ऋचाओं का वर्णन ॥

(अथ अतः आरम्भणीयाः एव) अब यहां आरम्भणीया [अहर्गण यज्ञ की पहिली ऋचायें] ही हैं। (ऋजुनीती नो वरुणः इति मैत्रावरुणस्य) ऋजुनीती नो

---

४ । ६०) अहन् इत्यस्य अह्न इत्ययमादेशो न। एकस्मिन् दिने क्रियमाणो यज्ञः (सन्तिष्ठमानानि) सहवर्त्तमानानि (यन्ति) गच्छन्ति। अनुष्ठीयन्ते ॥

वरुणः ··· १ ऋ० १ । ६० । १ । यह ऋचा मैत्रावरुण ऋत्विज् की [आरम्भणीया] है। (मित्रो नयतु विद्वान् इति, एषः वै होत्रकाणां प्रणेता, यत् मैत्रावरुणः) मित्रो नयतु विद्वान् [यह उसी मन्त्र का दूसरा पाद है, उसमें नयतु ले चले—यह पद णीञ् = ले चलना, धातु से है] इसमे यह होता लोगों का प्रणेता [प्रवर्त्तक, ले चलने वाला] है, जो मैत्रावरुण ऋत्विज् है। (तस्मात् एषा प्रणेत्रिमती [प्रणेतृमती] भवति) इसलिये यह ऋचा प्रणेतृ [ले चलने वाले शब्द] वाली है। (इन्द्र वो विश्वतस्परि इति ब्राह्मणाच्छंसिनः) इन्द्रं वो विश्वतस्परि··· ··· २, अथर्व० २० । ३९ । १ । यह ब्राह्मणाच्छंसी की [आरम्भणीया] है। (हवामहे जनेभ्यः इति, इन्द्रम् एव एतया अहरहः निर्ह्वयन्त) हवामहे जनेभ्यः [यह उसी मन्त्र का दूसरा पाद है, उसमें हवामहे— हम बुलाते हैं—यह पद है] इस ऋचा से इन्द्र को ही दिन दिन वे बुलाते हैं। (एषां ह एव विहवे अन्यः इन्द्रं न वृङ्क्ते, यत्र एवं विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी एताम् अहरहः शंसति) इन [यजमानों] के विशेष आवाहन में दूसरा कोई इन्द्र को नहीं रोकता है, जहां ऐसा विद्वान् ब्राह्मणाच्छंसी इस ऋचा को दिन दिन बोलता है। (यत् सोम आ सुते नरः इति अच्छावाकस्य) यत् सोम आ सुते नरः ··· ३, ऋ० ७ । ९४ । १० । यह अच्छावाक ऋत्विज् की [आरम्भणीया] है। (इन्द्राग्नी अजोहवुः इति, इन्द्राग्नी एव एतया अहरहः निर्ह्वयन्ते) इन्द्राग्नी अजोहवुः [यह उस मन्त्र का दूसरा पाद है उसमें अजोहवुः—वे बुलाते हैं—यह पद है] इससे इन्द्र और अग्नि को ही इस ऋचा से दिन दिन वे बुलाते रहते हैं। (एषां ह एव विहवे इन्द्राग्नी न वृङ्क्ते यत्र एवं विद्वान् अच्छावाकः एताम् अहरहः शंसति) इन ही [यजमानों] के विशेष आवाहन में दूसरा कोई इन्द्र और अग्नि को नहीं रोकता है, जहां ऐसा विद्वान् अच्छावाक इस [ऋचा] को दिन दिन बोलता है। (ताः वै एताः स्वर्गस्य लोकस्य सन्तारण्यः नावः) वे ही यह [तीनों ऋचायें] स्वर्ग लोक की तरा देने वाली नावें हैं। (स्वर्गम् एव लोकम् एताभिः अनुसञ्चरन्ति) स्वर्ग लोक को ही इन [ऋचाओं] से वे निरन्तर चले जाते हैं॥ १२॥

१२—(आरम्भणीयाः) अहर्गणे आरब्धुमर्हाः ऋचः (ऋजुनीती) सुपां सुलुक्० (पा० ७ । १ । ३९) तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। ऋजुनीत्या। सरलनयनेन (नः) अस्मान् (वरुणः) श्रेष्ठः (मित्रः) सर्वोपकारी (नयतु) गमयतु (प्रणेता) प्रवर्त्तकः (प्रणेतृमती) प्रणेतृवाचकशब्दवती (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यवन्तं परमात्मानम् (वः) युष्मभ्यम् (विश्वतः) सर्वेभ्यः (परि) सर्वतः (हवामहे) आह्वयामः (जनेभ्यः) प्राणिनां हिताय (निर्ह्वयन्ते) नितराम् आह्वयन्ते (एषाम्) यजमानानाम् (विहवे) विशेषावाहने (वृङ्क्ते) वर्जयति (अजोहवुः) आहूतवन्तः। आह्वयन्ते (सन्तारण्यः) सम्पारण्यः। सम्यक् पारनेत्र्यः (अनुसञ्चरन्ति) निरन्तरं गच्छन्ति॥

भावार्थः--जहाँ यज्ञ में ऋत्विज् लोग मन्त्रों का प्रयोग ठीक२ करते हैं, वहाँ यजमान परमानन्द पाते हैं ।। १२ ।।

विशेष: १—इस कण्डिका को मिलाओ—ऐ० ब्रा० ६ । ६ ।।

विशेष: २--शुद्धिपत्र नीचे है ।

अशुद्ध	शुद्ध	प्रमाण
प्रणेत्रिर्मती	प्रणेतृमती	ऐ० ब्रा० ६ । ६
आ सते	आ सुते	वेद और ऐ० ब्रा०
अच्छावाकस्येता	अच्छावाक एता	ऐ० ब्रा० ६ । ६

विशेष: ३—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ।।

१--ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् । अर्यमा देवैः सजोषाः ·· ऋ० १ । ९० । १ ।। (वरुणः) श्रेष्ठ गुण वाला (मित्रः) सबका उपकारी, (विद्वान्), जानकार, (अर्यमा) न्यायकारी पुरुष, (देवैः) दिव्य गुण वाले विद्वानों से (सजोषाः) समान प्रीति करता हुआ (नः) हमको (ऋजुनीती) सीधी नीति से (नयतु) ले चले ।।

२—इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः--अथर्व० २० । ३९ । १, ऋ० १ । ७ । १०, साम० उ० ८ । १ । २ । [हे मनुष्यो !] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (वः) तुम्हारे लिये और (विश्वतः जनेभ्यः) सब प्राणियों के लिये (परि) सब प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं वह (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सेवनीय (अस्तु) हो ।।

३—यत्सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः । सप्तीवन्ता सपर्यवः—ऋ० ७ । ९४ । १० ।। (यत्) जब (सोमे सुते) सोम [तत्त्वरस] निचुड़ने पर (सपर्यवः) सत्कार करने वाले (नरः) नर [नेता लोग] (सप्तीवन्ता) उत्तम घोड़ों वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि [सूर्य और अग्नि के समान राजा और मन्त्री] को (आ अजोहवुः) बुलाते हैं [तब वे दोनों सहायता करते हैं] ।।

कण्डिका १३ ।।

अथातः परिधानीया एव, ते स्याम देव वरुणेति, मैत्रावरुणस्य । इषं स्वश्च धीमहीति, अयं वै लोक इषमित्यसौ वै लोकः स्वरिति, उभावेवैनौ तौ लोकाच्चारभते । व्यन्तरिक्षमतिरदिति ब्राह्मणाच्छंसिनो विवृतृचम् । स्वर्गमेवैताभिर्लोकं विवृणोति । मदे सोमस्य रोचनेन्द्रो यदभिनद् वलमिति, सिषासवो ह वा एते यद् दीक्षिताः, तस्मादेषा वलवती भवति । उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहासतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलमिति, सनिमेतेभ्य एतयावरुन्धे । इन्द्रेण रोचना दिवो दृढानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुद इति, स्वर्गमेवैतयाहर-

हलोंकमवरुन्धे । आहं सरस्वतीवत्तोरित्यच्छावाकस्य । इन्द्राग्न्योरवो वृण इति, एतद् ह वा इन्द्राग्न्योः प्रियं धाम यद्वागिति, प्रियेणैवैनौ तद्धाम्ना समर्द्धयति । प्रियेणैव धाम्ना समृध्यते, य एवं वेद ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ अहीन वा अहर्गण यज्ञ में परिधानीया अर्थात् समाप्ति वाली ऋचाओं का वर्णन ॥

(अथ अतः परिधानीयाः एव) अब यहाँ परिधानीया ही [समाप्ति वाली ऋचायें कही जाती हैं]। (ते स्याम देव वरुण इति, मैत्रावरुणस्य) ते स्याम देव वरुण .....१, ऋग्० ७ । ६६ । ६, यह मैत्रावरुण की [परिधानीया] है । (इषं स्वश्च धीमहि इति, अयं वै लोकः इषम् इति, असौ वै लोकः स्वः इति, उभौ एव एनौ तौ लोकात् च आरभते) इषं स्वश्च धीमहि--अन्न और सुख को हम धारण करें [यह उस मन्त्र का तीसरा पाद है], यह ही लोक अन्न है, वह ही लोक सुख है, इससे दोनों ही उन [दो लोकों] को इस लोक से वह अवश्य पाता है । (व्यन्तरिक्षमतिरत् इति ब्राह्मणाच्छंसिनः विवृतृचम्) व्यन्तरिक्षम् अतिरत्.....अथर्व० २० । २८ । १—३, यह ब्राह्मणाच्छंसी का विवृतृच् [विवृ–खोलना, शब्द वाला तीन मन्त्रों का समूह, परिधानीया] है । (स्वर्गम् एव लोकम् एताभिः विवृणोति) स्वर्ग ही लोक को इन [तीन ऋचाओं] से वह खोल देता है [विवृ शब्द का अर्थ--खोलना–है, मन्त्र के वि शब्द से विवृ–खोलना--लिया है] (मदे सोमस्य रोचना, इन्द्रो यदभिनद् वलम् इति, सिषासवः ह वै एते यत् दीक्षिताः, तस्मात् एषा वलवती भवति) मदे सोमस्य रोचना, इन्द्रः यत् अभिनद् वलम् [तृच के पहिले मन्त्र के यह दूसरे और तीसरे पाद हैं, तीसरे पाद में वल शब्द है], देने की इच्छा वाले ही यह सब हैं जो दीक्षा पाये हुये हैं, इसलिये यह ऋचा वलवती [वल शब्द वाली] है । (उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः, अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् इति, सनिम् एतेभ्यः एतया

१३--(परिधानीयाः) समाप्तिसाधनभूता ऋचः (इषम्) अन्नम् (स्वः) सुखम् (धीमहि) धारयामहे (लोकात्) अस्माल्लोकात् (च) अवधारणे (आरभते) आलभते । प्राप्नोति (वि) विविधम् । वियुक्तम् । (अतिरत्) पारं कृतवान् (विवृतृचम्) विवृशब्दयुक्त तृचम् (विवृणोति) विवृतं करोति (मदे) आनन्दे (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (रोचना) विभक्तेराकारः । रोचनया । प्रीत्या (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (यत्) यदा (अभिनत्) व्यदारयत् (वलम्) हिंसकम् । विघ्नम् (सिषासवः) षणु दाने वा षण संभक्तौ—सनि उप्रत्ययः । सनीवन्तर्द्ध० (पा० ७ । २ । ४९) इटो विकल्पनाद् अभावपक्षे जनसनखनां० (पा० ६ । ४ । ४२) आत्वम् । सनितुं दातुं वेच्छवः (वलवती) वलशब्दयुक्ता ऋक् (उत्) ऊर्ध्वम् (गाः) वाणीः । विद्याः (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । अगमयत् (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानिभ्यः (आविष्कृण्वन्) प्रकटयन् (गुहा) गुहायाम् । गुप्तावस्थायाम् (सतीः) विद्यमानाः (अर्वाञ्चम्)

अवरुन्धे) उद्‌गा आजदङ्गिरोभ्यः...... [यह उस तृच का दूसरा मन्त्र है] इससे लाभ इन [दीक्षितों] के लिये इस [ऋचा] से वह प्राप्त करता है। (इन्द्रेण रोचना दिवो दृह्लानि दृंहितानि च स्थिराणि न पराणुदे इति, स्वर्गम् एव लोकम् एतया अहरहः अवरुन्धे) इन्द्रेण रोचना दिवः...... [यह तृच का तीसरा मन्त्र है] स्वर्ग ही लोक को इस [ऋचा] से दिन दिन वह [यजमान] प्राप्त करता है। (आहं सरस्वतीवतोः, इति अच्छावाकस्य) आहं सरस्वतीवतोः ... ऋग्० ८। ३८। १०। यह अच्छावाक की [परिधानीया ऋचा] है। (इन्द्राग्न्योरवो वृणे, इति, एतत् ह वै इन्द्राग्न्योः प्रियं धाम यत् वाक् इति) इन्द्राग्न्योरवो वृणे, [यह उसी मन्त्र का दूसरा पाद है]; इन्द्र और अग्नि का यह ही प्रिय धाम है [मन्त्रोक्त--अवः--रक्षा ही धाम वा स्थान है], जो वाणी [सरस्वती] है। (प्रियेण एव धाम्ना एनौ तत् समर्धयति) प्रिय धाम से ही इन दोनों [इन्द्र और अग्नि] को तब वह [अच्छावाक] समृद्ध [सफल] करता है। (प्रियेण एव धाम्ना समृध्यते यः एवं वेद) प्रिय धाम से ही वह समृद्ध होता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥ १३ ॥

भावार्थ :—कण्डिका १२ के समान है ॥ १३ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को मिलाओ—ऐ० ब्रा० ६। ७ ॥

विशेषः २—शुद्धिपत्र नीचे दिया जाता है ॥

अशुद्ध	शुद्ध	प्रमाण
इषांश्च	इषं	वेद तथा ऐ० ब्रा०
स्वघी०	स्वश्च धी०	,, ,,
व्यन्ततरिक्ष	व्यन्तरिक्ष	,, ,,
धामः	धाम	ऐतरेय ब्राह्मण

विशेषः ३—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहि—ऋ० ७। ६६। ६, साम० उ० ४। १। ८॥ (देव) हे देव ! [विजय चाहने वाले वीर] (वरुण) हे वरुण ! [श्रेष्ठ] (मित्र) हे मित्र ! [सर्वोपकारी] (सूरिभिः सह) बुद्धिमानों सहित (ते ते) तेरे ही (स्याम) हम होवें और (इषम्) अन्न (च) और (स्वः) सुख (धीमहि) धारण करें ॥

अधोगतम् (नुनुदे) प्रेरितवान् (सनिम्) लब्धम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता परमात्मना (रोचना) रोचनानि। प्रकाशाः (दिवः) व्यवहारस्य (दृह्लानि) दृह वृद्धौ—क्तः। दृढीकृतानि (दृंहितानि) दृहि वृद्धौ—क्तः। वर्धितानि। विस्तारितानि (स्थिराणि) स्थितिशीलानि (न) निषेधे (पराणुदे) परा+णुद प्रेरणे क्विप्। परानोदनाय। दूरे प्रेरणाय (सरस्वतीवतोः) वाग्वतोः (अवः) रक्षणम् (आ वृणे) सर्वतः प्रार्थयामि (धाम्ना) स्थानेन (समर्धयति) समृद्धौ करोति ॥

२—व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद् वलम्—अथर्व० २०। २८। १—३, ऋग्० ८। १४। ७—९, साम० उ० ८। १। तृच ६॥ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा] ने (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) आनन्द में (रोचना) प्रीति के साथ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरत्) पार किया है, (यत्) जब कि उसने (वलम्) वल [हिंसक विघ्न] को (अभिनत्) तोड़ डाला॥ १॥

३—उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ (गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (सतीः) वर्तमान (गाः) वाणियों को (आविः कृण्वन्) प्रकट करते हुये उस [परमेश्वर] ने (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (उत् आजत्) ऊँचा पहुँचाया और (वलम्) वल [हिंसक विघ्न] को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) हटाया है॥ २॥

४—इन्द्रेण रोचना दिवो दृह्लानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] कर के (दिवः) व्यवहार के (स्थिराणि) ठहराऊ (रोचना) प्रकाश (न पराणुदे) न हटने के लिये (दृह्लानि) पक्के किये गये (च) और (दृंहितानि) बढ़ाये गये [फैलाये गये] हैं॥ ३॥

५—आहं सरस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योरवो वृणे। याभ्यां गायत्रमृच्यते—ऋ० ८। ३८। १०॥ (अहम्) मैं (सरस्वतीवतोः) सरस्वती [विज्ञानवती वेद वाणी] वाले (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि [सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी राजा और मन्त्री] की (अवः) रक्षा (आ वृणे) चाहता हूँ, (याभ्यां) जिन दोनों के लिये (गायत्रम्) गायत्र [गाने योग्य वैदिक स्तोत्र] (ऋच्यते) गाया जाता है॥

कण्डिका १४॥

उभय्यो होत्रकाणां परिधानीया भवन्ति, अहीनपरिधानीयाश्चैकाहिन्यस्य [न्यश्च] तत एकाहिकीभिरेव मैत्रावरुणः परिदधाति, तेनास्माल्लोकान्न प्रच्यवते। आहिनीकीभिरच्छावाकः स्वर्गस्य लोकस्याप्त्यै, उभयीभिर्ब्राह्मणाच्छंसी, एवमसावुभौ व्यन्वारभमाण एतीमञ्च लोकममुञ्च। अथोऽहीनञ्चैकाहञ्च, अथो संवत्सरञ्चाग्निष्टोमञ्च, अथो मैत्रावरुणञ्चाच्छावाकञ्च, एवमसावुभौ व्यन्वारभमाण एति। अथ तत एकाहिकीभिरेव तृतीयसवने होत्रकाः परिद[1]धति, तेनास्माल्लोकान्न प्रच्यवते। आहिनीकीभिरच्छावाकः स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै। कामं तद्धोता शंसेत्, यद्धोत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः। यद्वै होता तद्धोत्रकाः, प्राणो वै होता, अङ्गानि होत्रकाः, समानो वा अयं प्राणोऽङ्गान्यनुसञ्चरन्ति। तस्मात् तत् कामं होता शंसेत्, यद्धोत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः। यद्वै होता तद्धोत्रकाः, आत्मा वै होता, अङ्गानि होत्रकाः, समानो वा इमेऽङ्गानामन्ताः, तस्मात् तत् कामं होता शंसेत्, यद्धोत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः। यद्वै होता तद्धोत्रकाः, सूक्तान्तैर्होता परिदधाति, अथ समान्य एव होत्रकाणां परिधानीया भवन्ति॥ १४॥

---

१. पू. सं. "परिदधाति" इति पाठः॥ सम्पा०॥

कण्डिका १४ ॥ अहीन और एकाह यज्ञों में होत्रक लोगों की दो प्रकार की परिधानीया ऋचायें ॥

(उभय्यः होत्रकाणां परिधानीयाः भवन्ति, अहीनपरिधानीयाः च एकाहिन्यस्य = एकाहिन्यः च) दो प्रकार की होत्रक लोगों [तीन सहायक होताओं] की परिधानीया [समाप्ति वाली ऋचायें] होती हैं, अहीनपरिधानीया [बहुत दिन वाले यज्ञ की परिधानीया] और एकाहिनी [एक दिन वाले यज्ञ की]। (ततः एकाहिकीभिः एव मैत्रावरुणः परिदधाति, तेन अस्मात् लोकात् न प्रच्यवते) इसलिये एकाहिकी [एक दिन में होने वाले यज्ञ की ऋचाओं] से ही मैत्रावरुण ऋत्विज् परिधानीया बोलता है, इस कारण इस लोक से वह [यजमान] नहीं गिरता है। (आहिनीकीभिः अच्छावाकः स्वर्गस्य लोकस्य आप्त्यै) आहिनीकी [बहुत दिन में होने वाले यज्ञ की ऋचाओं] से अच्छावाक ऋत्विज् स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये [परिधानीया बोलता है]। (उभयीभिः ब्राह्मणाच्छंसी, एवम् असौ उभौ इमं च अमुं च लोकं व्यन्वारभमाणः एति) दोनों प्रकार वाली [ऋचाओं] से ब्राह्मणाच्छंसी [परिधानीया बोलता है], इस प्रकार से वह [यजमान] दोनों इस और उस लोक को निरन्तर पाता हुआ चलता है। (अथो अहीनं च एकाहं च, अथो संवत्सरं च अग्निष्टोमं च, अथो मैत्रावरुणं च अच्छावाकं च, एवम् असौ उभौ व्यन्वारभमाणः एति) फिर अहीन [बहुत दिनों में होने वाले] और एकाह [एक दिन में होने वाले यज्ञ] को, फिर संवत्सर और अग्निष्टोम [यज्ञ] को, फिर मैत्रावरुण और अच्छावाक [ऋत्विज्] को, इस प्रकार वह [यजमान] दो दो को ग्रहण करता हुआ चलता है॥

(अथ ततः एकाहिकीभिः एव तृतीयसवने होत्रकाः परिदधति तेन अस्माद् लोकाद् न प्रच्यवन्ते) फिर तब एकाहिकी [एक दिन में होने वाले यज्ञ की ऋचाओं] से ही तीसरे सवन में होत्रक लोग परिधानीयायें बोलते हैं, इस कारण इस लोक से वह [यजमान] नहीं गिरता। (आहिनीकीभिः अच्छावाकः स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै) आहिनीकी [बहुत दिन में होने वाले यज्ञ की ऋचाओं] से अच्छावाक स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये [परिधानीया बोलता है]। (तद् होता कामं शंसेत्, यत् होत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः) तब होता चाहे तो [वे मन्त्र] बोले, जो होत्रक लोगों ने पहिले दिन बोले थे। (यद् वै होता, तद् होत्रकाः) जो ही होता ऋत्विज् है वे ही होत्रक लोग हैं। (प्राणः वै होता,

---

१४--(उभय्यः) उभय—ङीप् द्विविधाः (एकाहिन्यस्य) लेखप्रमादः। एकाहिन्यश्च। एकाह—इनिः, ङीप्, जसि रूपम्। एकाहिन्यः। एकाहयज्ञे विहिता ऋचः (एकाहिकीभिः) एकाह—ठन्, ङीप्। ऐकाहिकाभिः। एकाहविहिताभिः (परिदधाति) परिधानीयां शंसति (आहिनीकीभिः) अहीन—ठक्, ङीप्, वर्णव्यत्ययः। आहीनिकीभिः। अहीनेषु अहर्गणेषु विहिताभिः (व्यन्वारभमाणः) लस्य रः। विविधमालभमानः स्पृशन् (एति) गच्छति। प्राप्नोति (कामम्) यथाकामम्। यथेष्टम् (समानः) तुल्यः (पूर्वेद्युः) सद्यः

अङ्गानि होत्रकाः, अयं प्राणः वै समानः अङ्गानि अनुसञ्चरन्ति = अनुसञ्चरति) प्राण [के तुल्य] ही होता ऋत्विज् है, और अङ्ग होत्रक लोग हैं, यह प्राण ही समान [एक रस फैलने वाला होकर अङ्गों में घूमता रहता है । (**तस्माद् तद् कामं होता शंसेत् यत् होत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः**) इसलिये तब होता चाहे तो [वे मन्त्र] बोले, जो होत्रक लोगों ने पहिले दिन बोले थे । (**यत् वै होता तत् होत्रकाः**) जो ही होता ऋत्विज् है वे ही होत्रक लोग हैं । (**आत्मा वै होता, अङ्गानि होत्रकाः, अङ्गानां वै इमे अन्ताः समानः = समानाः**) आत्मा ही होता ऋत्विज् है, और अङ्ग होत्रक लोग हैं, अङ्गों के यह अन्त [हाथ पैर अङ्गुली आदि] एक से हैं । (**तस्मात् तत् होता कामं शंसेत् यत् होत्रकाः पूर्वेद्युः शसेयुः**) इसलिये तब होता चाहे तो [वे मन्त्र] बोले, जो होत्रक लोगों ने पहले दिन बोले थे । (**यत् वै होता तत् होत्रकाः, सूक्तान्तैः होता परिदधाति**) जो ही होता ऋत्विज् है, वे ही होत्रक लोग हैं, [इसलिये] सूक्त के पिछले [मन्त्रों] से होता परिधानीया बोलता है । (**अथ होत्रकाणाम् एव परिधानीयाः समान्यः भवन्ति**) फिर होत्रक लोगों की परिधानीया भी समान [एक साथ बोली हुई] होती हैं ।। १४ ।।

भावार्थः—जहाँ विद्वान् ऋत्विज् लोग अपना अपना काम यथाविधि करते हैं, वह यज्ञ सर्वथा सुफल होता है ।। १४ ।।

विशेषः—इस कण्डिका को क० १३ और ऐतरेय ब्राह्मण ६ । ८ से मिलाओ ।

कण्डिका १५ ।।

यः श्वःस्तोत्रियमद्यस्तोत्रियस्यानुरूपं कुर्वन्ति प्रातःसवनेऽहीनमेव तत्सन्तन्वन्ति, अहीनस्य सन्तत्यै । त एते होत्रकाः प्रातःसवने षडहस्तोत्रियं शस्त्वा माध्यन्दिनेऽहीनसूक्तानि शंसन्त्या सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषीति । सत्यवन्[1] मैत्रावरुणो अस्मा इदु प्रतवसे तुरायेति ब्राह्मणाच्छंसी । शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गादित्यच्छावाकः । तदाहुः कस्मादच्छावाको वह्निवदेतद् सूक्तमुभयत्र शंसति, स पराक्षु चैवाह सर्वाक्षु चेति । वीर्य्यवान् वा एष बह्वृचः, यदच्छावाकः । वहति ह वै वह्निर्धुरः, यासु युज्यते । तस्मादच्छावाको वह्निवदेतद् सूक्तमुभयत्र शंसति, स पराक्षु चैवाह सर्वाक्षु चेति । तानि पञ्चस्वहःसु शस्यन्ते । चतुर्विंशेऽभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते तान्येतान्यहीनसूक्तानीत्याचक्षते । न ह्येषु किञ्चन हीयते, पराञ्चि ह वा एतान्यहान्यभ्यावर्त्तीनि भवन्ति । तस्मादेतान्येतेष्वहःसु शस्यन्ते । यदेनानि शंसन्ति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेवैतानि शंसति, इन्द्रमेवैतैर्निर्ह्वयन्ते, यथा ऋषभं वासितायै ते वै देवाश्च ऋषयश्चाब्रुवन्, समानेन

परुत्परार्यैषमः० (पा० ५ । ३ । २२) पूर्व--एद्युस् । **पूर्वदिने (सूक्तान्तैः) सूक्तानाम् अन्तिमाभिर्ऋग्भिः (समान्यः) तुल्याः ।।**

---

१. पू. सं. 'सत्यवान्' इति पाठः ।। सम्पा० ।।

यज्ञं सन्तन्वामहा इति । तदेतद्यज्ञस्य समानमपश्यत् । समानां प्रगाथां समानीः प्रतिपदः समानानि सूक्तानि ओकःसारी वा इन्द्रो यत्र वा इन्द्रः पूर्वं गच्छति, गच्छत्येव तत्रापरं यज्ञस्यैव सेन्द्रतायै ॥ १५ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणोत्तरभागे पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ ५ ॥

कण्डिका १५ ॥ यज्ञों में अच्छावाक ऋत्विज् के विशेष स्तोत्र ॥

(यः श्वःस्तोत्रियम् अद्यस्तोत्रियस्य अनुरूपं कुर्वन्ति, प्रातःसवने अहीनम् एव तत् अहीनस्य सन्तत्यै सन्तन्वन्ति) जब आगामी दिन में होने वाले स्तोत्रिय [स्तोत्र] को आज होने वाले स्तोत्रिय के अनुरूप [छन्द, देवता आदि से सदृश] करते हैं, प्रातःसवन में अहीन [बहुत दिनों में होने वाले यज्ञ] को ही तब अहीन [पूर्ण व्यवहार] के फैलाव के लिए फैलाते हैं [कण्डिका ११ तथा ऐ० ब्रा० ६ । १७] । (ते एते होत्रकाः प्रातःसवने षडहस्तोत्रियं शस्त्वा माध्यन्दिने अहीनसूक्तानि शंसन्ति) वे ही यह होत्रक लोग प्रातःसवन में छह दिन वाले यज्ञ के स्तोत्रिय बोलकर माध्यंदिन सवन में अहीन [बहुत दिनों में होने वाले यज्ञ] के सूक्तों को बोलते हैं— (आ सत्यो यातु मघवान् ऋजीषी इति, सत्यवत् मैत्रावरुणः, अस्मा इदु प्र तवसे तुराय इति, ब्राह्मणाच्छंसी, शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात् इति, अच्छावाकः) आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी··· अथर्व० २० । ७७ । १—८, इस सत्यवत् [सत्य शब्द वाले आठ मन्त्र के सूक्त] को मैत्रावरुण [बोलता है] । (अस्मा इदु प्र तवसे तुराय··· अथर्व० [२]० । ३५ । १—१६ इस [सोलह मन्त्र वाले सूक्त] को ब्राह्मणाच्छंसी [बोलता है] । (शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात् इति······ ऋग्० ३ । ३१ । १—२२, इस [बाईस मन्त्र वाले सूक्त] को अच्छावाक [बोलता है] ॥

(तत् आहुः, कस्मात् अच्छावाकः वह्निवत् एतत् सूक्तम् उभयत्र शंसति सः पराक्षु च एव सर्वाक्षु च आह इति) वे कहते हैं—किसलिये अच्छावाक वह्निवत् [वह्निशब्द वाले] इस सूक्त को दो जगह बोलता है, [अर्थात्] आवृत्ति रहित [चतुर्विंश आदि यज्ञों] में और भी आवृत्ति वाले [षडह आदि यज्ञों] में बोलता है । [समाधान] (वीर्यवान् वै एषः बह्वृचः, यत् अच्छावाकः वह्नेः धुरः ह वै वहति यासु

१५—(यः) यत् । यदा (मघवान्) धनवान् (ऋजीषी) ऋजीष—इनिः । सरलस्वभावः । (सत्यवत्) सत्यशब्दयुक्तं सूक्तम् (अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) विचारे (तवसे) बलाय (तुराय) त्वर त्वरणे—कः । वेगवते (शासत्) शासु अनुशिष्टौ—शतृ । जक्षित्यादयः षट् (पा० ६ । १ । ६) अभ्यस्तसंज्ञात्वात् नुमभावः । अनुशासनं कुर्वन् (वह्निः) वोढा । गृहवाहकः (दुहितुः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २ । ९५) दुह प्रपूरणे —तृच् । इडागमः । सुखस्य पूरयित्र्याः कन्यायाः (नप्त्यम्) नप्तृ—यत् स्वार्थे । रलोपः । नप्तारम् । दौहित्रम्—निरु० ३ । २१ । दुहितृपुत्रम् (गात्) अगमत् । प्राप्नोति । (पराक्षु) परा—अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । परा अञ्चति गच्छतीति पराक् । आवृत्तिरहितेषु चतुर्विंशादिषु अहस्सु (आह) ब्रवीति (सर्वाक्षु)

युज्यते) सामर्थ्य वाला ही यह बहुत ऋचायें जानने वाला है जो अच्छावाक है और वह वह्नि [बोझ ले चलने वाले] के बोझों को ही ले जाता है, जिन [बोझों] में वह जोड़ा जाता है । (तस्मात् अच्छावाकः वह्निवत् एतत् सूक्तम् उभयत्र शंसति, सः पराक्षु च एव सर्वाक्षु च आह इति) इसलिये अच्छावाक वह्निवत् [वह्नि शब्द वाले] इस सूक्त को दो जगह बोलता है, [अर्थात्] आवृत्ति रहित [चतुर्विंश आदि यज्ञों] में और भी आवृत्ति वाले [षडह आदि यज्ञों] में बोलता है । (तानि पञ्चसु अहःसु शस्यन्ते, चतुर्विंशे अभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते तानि एतानि अहीनसूक्तानि इति आचक्षते हि एषु किंचन न हीयते) वे [सूक्त] पाँच दिन [यज्ञों] में बोले जाते हैं, [अर्थात्] चतुर्विंश में, अभिजित् में, विषुवान् में, विश्वजित् में और महाव्रत में, वे ही यह अहीन [बहुत दिन रहने वाले वा हीनता रहित यज्ञ के] सूक्त हैं—ऐसा कहते हैं, क्योंकि इन [सूक्तों] में कुछ भी [अङ्ग] नहीं छोड़ा जाता है। (पराञ्चि ह वै एतानि अहानि अभ्यावर्तीनि भवन्ति) आवृत्ति रहित ही यह दिन आवृत्ति वाले होते हैं । (तस्मात् एतानि एतेषु अहःसु शस्यन्ते) इसलिये यह [सूक्त] इन दिनों में बोले जाते हैं । (यत् एतानि शंसन्ति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो वे इनको बोलते हैं, वह स्वर्ग लोक का रूप [चिह्न] है। (यत् उ एव एतानि शंसति [शंसन्ति] इन्द्रम् एव निर्ह्वयन्ते, यथा ऋषभं वासितायै) जो ही इन [सूक्तों] को वे बोलते हैं, इन्द्र को ही इनसे वे बुलाते हैं, जैसे गतिमान् [पुरुषार्थी वीर] को निवास करायी हुई प्रजा के लिये [बुलाते हैं] [ऐ० ब्रा० ६ । १८]॥

(ते वै देवाः च ऋषयः च अब्रुवन्, समानेन यज्ञं सन्तन्वामहै इति) वे ही देव [विजयी पुरुष] और ऋषि लोग [दूरदर्शी पुरुष] बोले—एक से विधान से यज्ञ को हम फैलावें । (तत् एतत् यज्ञस्य समानम् अपश्यत् [अपश्यन्], समानां प्रगाथां समानीः प्रतिपदः समानानि सूक्तानि) सो यह ही यज्ञ के एक से विधान को उन्होंने देखा—अर्थात् एक सी प्रगाथा को, एक सी आरम्भणीया ऋचाओं को और एक से सूक्तों को । (ओकःसारी वै इन्द्रः, यत्र वै इन्द्रः पूर्वं गच्छति तत्र यज्ञस्य एव सेन्द्रतायै अपरम् एव गच्छति) घर घर पहुँचने वाला ही इन्द्र है जहाँ ही इन्द्र पहिले घर जाता है, वहाँ यज्ञ में इन्द्र सहित विद्यमानता के लिये दूसरे [घर] भी जाता है [ऐ० ब्रा० ६ । १७]॥ १५ ॥

सर्व–अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन् । सर्वम् अञ्चति गच्छतीति सर्वाक् । आवृत्तिसहितेषु षडहगतेषु अहःसु (वीर्यवान्) शक्तिमान् (बह्वृचः) बह्वीनाम् ऋचामध्येता (धुरः) भारान् (हीयते) त्यज्यते (पराञ्चि) आवृत्तिरहितानि (अभ्यावर्तीनि) आवृत्तिसहितानि (ऋषभम्) ऋषिवृषिभ्यां कित् (उ० ३ । १२३) ऋष गतौ दर्शने च––अभच्, कित् । गतिमन्तं पुरुषार्थिनम् (वासितायै) वस निवासे—णिच् —क्तः, टाप् । निवासितायै प्रजायै (समानेन) सदृशेन विधानेन (प्रतिपदः) आरम्भणीया ऋचः (ओकःसारी) गृहेषु सञ्चरणशीलः (सेन्द्रतायै) इन्द्रेण सह वर्तमानतायै ॥

भावार्थः--ऋत्विज् लोग समय के अनुकूल मन्त्रों से देवताओं का आवाहन करें ॥ १५ ॥

विशेषः १--इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६। १७, । ६। १८ से मिलाओ॥

विशेषः २--प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं।

१--आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः। तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः--अथर्व० २०। ७७। १-८, ऋ० ४। १६। १--८॥ (**सत्यः**) सच्चा [सत्यवादी, सत्यकर्मी]. (**मघवान्**) महाधनी, (**ऋजीषी**) सरल स्वभाव वाला [राजा] (**आ यातु**) आवे और (**अस्य**) इस [राजा] के (**हरयः**) मनुष्य (**नः**) हमारे (**उप द्रवन्तु**) पास आवें। (**तस्मै**) उसके लिये (**इत्**) ही (**सुदक्षम्**) सुन्दर बल वाला (**अन्धः**) अन्न (**सुषुम**) हमने सिद्ध किया है, (**गृणानः**) उपदेश करता हुआ वह (**इह**) यहाँ (**अभिपित्वम्**) मेल मिलाप (**करते**) करे॥ [सूक्त में आठ मन्त्र हैं, शेष के लिये वेद देखो]॥

२--अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय। ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा--अथर्व० २०। ३५। १--१६ ऋ० १। ६१। १--१६॥ (**अस्मै**) इस [संसार] के हित के लिए (**इत्**) ही (**उ**) विचार पूर्वक (**तवसे**) बल के निमित्त, (**तुराय**) फुर्तीले (**माहिनाय**) पूजनीय, (**ऋचीषमाय**) स्तुति के समान गुण वाले, (**अध्रिगवे**) वे रोग गति वाले, (**इन्द्राय**) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिए (**स्तोमम्**) स्तुति को (**ओहम्**) पूरे विचार को और (**राततमा**) अत्यन्त देने योग्य (**ब्रह्माणि**) धनों को (**प्रयः न**) तृप्ति करने वाले अन्न के समान (**प्र हर्मि**) मैं आगे लाता हूँ [सूक्त में १६ मन्त्र हैं, शेष के लिए वेद देखो]॥

३--शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे--ऋ० ३। ३१। १--२२॥ (**विद्वान्**) जानकार (**वह्निः**) वह्नि [घर का चलाने वाला पिता] (**ऋतस्य**) सत्य नियम के (**दीधितिम्**) धारण करने वाले [जामाता] को (**शासत्**) शिक्षा देता हुआ और (**सपर्यन्**) पूजता हुआ (**दुहितुः**) पुत्री से (**नप्त्यम्**) नाती [नाती के समान दोहते] को (**गात्**) पाता है, (**यत्र**) जहाँ [गृहस्थ व्यवहार में] (**दुहितुः**) पुत्री के (**सेकम्**) सेचन [सींचे हुए पुत्र] को (**ऋञ्जन्**) समर्थ पाता हुआ (**पिता**) वह पिता (**शग्म्येन**) सुखी (**मनसा**) मन के साथ (**सं दधन्वे**) संगत होता है, [अर्थात् पुत्रहीन पिता बेटी से दोहते को लेकर नाती के समान अपना दायभागी करता और सुखी होता है॥ यह मन्त्र निरु० ३। ४ और ५ में व्याख्यात है। सूक्त में २२ मन्त्र हैं, शेष के लिए वेद देखो]॥

इति श्रीमद्राजाधिराज-प्रथितमहागुणमहिम-*श्रीसयाजीराव-गायकवाडा-धिष्ठित*-बड़ोदेपुरीगत-श्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु

लब्धदक्षिणेन *श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना* अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्योत्तरभागे पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठकः प्रयागनगरे फाल्गुनमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ १९८० [अशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे समाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—कार्तिककृष्ण ८ संवत् १९८० वि० ता० २१ अक्टूबर सन् १९२४ ई० ॥

अथ षष्ठः प्रपाठकः ॥

कण्डिका १ ॥

ओम् । तान्वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्, एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि कथा महामवृधत् कस्य होतुरिति । तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत । स हेक्षाञ्चक्रे विश्वामित्रो यान् वाहं सम्पातानदर्शंस्तान्वामदेवो असृजत । कानि न्वहं हि सूक्तानि सम्पातांस्तत्प्रतिमान् सृजेयमिति । स एतानि सूक्तानि सम्पातांस्तत्प्रतिमानसृजत, सद्यो ह जातो वृषभः कनीन, उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्याभितष्टेव दीधया मनीषामिति विश्वामित्रः । इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्य एक इद्धव्यश्चर्षणीनां यस्तिग्मश्रृङ्गो वृषभो न भीम इति वसिष्ठः । इमामू षु प्रभृतिं सातये धा इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः शासद्वह्नि-र्दुहितुर्नप्त्यङ्गादिति भरद्वाजः । एतैर्वै सम्पातैरेत ऋषय इमान् लोकान् समपतन् । तद्यत्समपतन्, तस्मात् सम्पाताः, तत् सम्पातानां सम्पातत्वम् । ततो वा एतांस्त्रीन् सम्पातान् मैत्रावरुणो विपर्यासमेकैकमहरहः शंसति, एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्रेति प्रथमेऽहनि, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टीति द्वितीये, कथा महामवृधत् कस्य होतु-रिति तृतीये । त्रीनेव सम्पातान् ब्राह्मणाच्छंसी विपर्यासमेकैकमहरहः शंसति, इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैरिति प्रथमेऽहनि, य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिति द्वितीये, यस्तिग्मश्रृङ्गो वृषभो न भीम इति तृतीये । त्रीनेव सम्पातानच्छावाको विपर्या-समेकैकमहरहः शंसति, इमामू षु प्रभृतिं सातये धा इति प्रथमेऽहनि, इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखाय इति द्वितीये, शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यङ्गादिति तृतीये । तानि वा एतानि नव त्रीणि चाहरहः शंस्यानि । तानि द्वादश भवन्ति । द्वादश ह वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिर्यज्ञः, तत् संवत्सरं प्रजापतिं यज्ञमाप्नोति । तस्मिन् संवत्सरे प्रजापतौ यज्ञे अहरहः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति, प्रतितिष्ठन्ते । इदं सर्वमनु प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद । तान्यन्तरेणावापमावपेरन्, अन्यूङ्खा विराजश्चतुर्थेऽहनि, वैमदीश्च पङ्क्तीः पञ्चमे, पारुच्छेपीः षष्ठेऽथ यान्यन्यानि महास्तोत्राण्यष्टच्चर्चान्यावपेरन् ॥ १ ॥

कण्डिका १ ॥ अहीन यज्ञ में सम्पात सूक्तों का वर्णन ॥

(ओम्) ओम् [हे रक्षक परमेश्वर] । (तान् वै एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथमम् अपश्यत्, एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि, कथा

महामवृधत् कस्य होतुः—इति) उन ही इन सम्पातों [भली भाँति प्राप्ति योग्य वा ऐश्वर्ययुक्त ज्ञान वाले सूक्त विशेषों] को विश्वामित्र [सब के मित्र वा सब के प्यारे ऋषि] ने पहिले ही पहिले देखा [विचारा]—एवा त्वामिन्द्र······ऋ० ४ । १६ । १—११, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि······ऋ० ४ । २२ । १—११, और कथा महामवृधत् कस्य होतुः······ ऋ० ४ । २३ । १—११ । **(विश्वामित्रेण दृष्टान् तान् वामदेवः असृजत)** विश्वामित्र के देखे हुए उन [तीन सम्पातों] को वामदेव [श्रेष्ठ विद्वान् ऋषि] ने प्रकट कर दिया । **(सः ह विश्वामित्रः ईक्षाञ्चक्रे, अहं वा यान् सम्पातान् अदर्शम् तान् वामदेवः असृजत)** उस ही विश्वामित्र ने देखा [विचारा]—मैंने जिन सम्पातों को देखा था, इनको वामदेव ने प्रकट कर दिया । **(कानि नु अहं सूक्तानि हि तत्प्रतिमान् सम्पातान् सृजेयम् इति)** कौन से सूक्तों को अब मैं उनके सदृश सम्पात प्रकट करूँ । **(सः एतानि सूक्तानि तत्प्रतिमान् सम्पातान् असृजत—सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः, उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या, अभि तष्टेव दीधया मनीषाम् इति विश्वामित्रः, इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः, य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम्, यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः इति वसिष्ठः, इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः, इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः, शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात् इति भरद्वाजः)** उसने इन सूक्तों को उनके सदृश सम्पात प्रकट किया—सद्यो ह जातो वृषभो कनीनः······ऋ० ३ । ४८ । १—५, उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या······ ऋ० ७ । २३ । १—६, अभि तष्टेव दीधया मनीषाम्······ऋ० ३ । ३८ । १—१०, इन [तीन सूक्तों] के विश्वामित्र [ऋषि] हैं, इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः—ऋ० ३ । ३४ । १—११, यः एकइद् धव्यश्चर्षणीनाम्—ऋ० ६ । २२ । १—११, यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः—ऋ० ७ । १६ । १—११, इन [तीन सूक्तों] के वसिष्ठ [ऋषि] हैं, इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः—ऋ० ३ । ३६ । १—६, इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः—ऋ० ३ । ३१ । १—२२, शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात्······ ऋ० ३ । ३० । १—२२, इन [तीन सूक्तों] के भरद्वाज [ऋषि] हैं । **(एतैः वै सम्पातैः एते ऋषयः इमान् लोकान् समपतन्)** इन ही सम्पातों [प्राप्ति योग्य ज्ञानों] से इन ऋषियों ने इन लोकों को पाया । **(तत् यत् समपतन् तस्मात् सम्पाताः, तत् सम्पातानां सम्पातत्वम्)** सो जो उन्होंने [लोकों को] अच्छे प्रकार पाया, इसी से वे सम्पात [अच्छे प्रकार पाने योग्य ज्ञान] हैं, वह ही सम्पातों का सम्पातत्व [अच्छे पाने योग्य धर्म है] । **(ततः वै एतान् त्रीन् सम्पातान् मैत्रावरुणः विपर्य्यासम् एकैकम् अहरहः शंसति, एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र इति–प्रथमे अहनि, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि इति द्वितीये, कथा महामवृधत् कस्य होतुः इति तृतीये)** फिर ही इन तीन सम्पातों

१—(सम्पातान्) सम्+पत गतौ ऐश्वर्ये च–घञ्, अथवा पा रक्षणे—क्तः । सम्पतनशीलान् । सम्यक् प्राप्तव्यान् सम्यगैश्वर्ययुक्तान् बोधान् । सूक्तविशेषान् (अपश्यत्) दृष्टवान् । वेदमध्ये ज्ञातवान् (जुजुषे) जुषते । सेवते (वष्टि) कामयते (कथा) केन प्रकारेण (महाम्) महान्तम् (अवृधत्) वर्धते

को मैत्रावरुण ऋत्विज् उलटे क्रम से एक एक को दिन दिन बोलता है--[अर्थात्] एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र--इस [सम्पात] को पहिले दिन में, यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि--इसको दूसरे में, कथा महामवृधत् कस्य होतुः--इसको तीसरे में।

(त्रीन् एव सम्पातान् ब्राह्मणाच्छंसी विपर्यासम् एकैकम् अहरहः शंसति, इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः--इति प्रथमे अहनि, य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम्--इति द्वितीये, यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः--इति तृतीये) तीन ही सम्पातों को ब्राह्मणाच्छंसी उलटे क्रम से एक एक को दिन दिन बोलता है--[अर्थात्] इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैः--इसको पहिले दिन में, यः एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम्--यह दूसरे में, यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः--यह तीसरे में। (त्रीन् एव सम्पातान् अच्छावाकः विपर्य्यासम् एकैकम् अहरहः शंसति, इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः--इति प्रथमे अहनि इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः--इति द्वितीये, शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात्--इति तृतीये) तीन ही सम्पातों को अच्छावाक उलटे क्रम से एक एक को दिन दिन बोलता है--इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः--यह पहिले दिन में, इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः--यह दूसरे में, शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात्--यह तीसरे में। (तानि त्रीणि वै एतानि नव च अहरहः शंस्यानि) वे तीन [वामदेव वाले] और यह नौ [विश्वामित्र, वसिष्ठ और भरद्वाज वाले सूक्त] दिन दिन बोलने चाहियें। (तानि द्वादश भवन्ति) वे बारह होते हैं। (द्वादश वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापतिः यज्ञः, तत् प्रजापतिं संवत्सरं यज्ञम् आप्नोति) बारह ही महीने संवत्सर हैं, संवत्सर प्रजापति है और प्रजापति यज्ञ है, इसलिए प्रजापति, संवत्सर और यज्ञ को वह [यजमान] पाता है। (तस्मिन् प्रजापतौ संवत्सरे यज्ञे अहरहः प्रतितिष्ठन्तः यन्ति, प्रतितिष्ठन्ते) उस प्रजापति, संवत्सर और यज्ञ में दिन दिन दृढ़ बैठे हुए वे चलते हैं और प्रतिष्ठा पाते हैं। (इदं सर्वम् अनु प्रतितिष्ठति) इस सब [कर्म] के पीछे पीछे मनुष्य प्रतिष्ठा पाता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) प्रजा के साथ और पशुओं के साथ वह प्रतिष्ठा [बड़ाई] पाता है जो ऐसा विद्वान् है। (तानि अन्तरेण आवापम् आवपेरन्, अन्यूङ्खाः विराजः चतुर्थे अहनि, वैमदीः च पङ्क्तीः पञ्चमे, पारुच्छेपीः षष्ठे) उन

(असृजत) प्रकटीकृतवान् (ईक्षांचक्रे) विचारितवान् (वा) वै। एव (तत्प्रतिमान्) तैः सदृशान् (सृजेयम्) प्रकटीकरवाणि (कनीनः) गो० उ० ४। १। दीप्तिमान् (उद् ऐरत) ईर गतौ--लङ्। ते उदीरितवन्तः। उच्चारितवन्तः (उ) एव (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (श्रवस्या) श्रवसे यशसे हितानि (तष्टा) सूक्ष्मीकरणशीलः (दीधय) प्रकाशय (मनीषाम्) प्रज्ञाम् (चर्षणीनाम्) कृषेरादेश्च चः (उ० २। १०४) कृष विलेखने--अनिः, कस्य चः। मनुष्याणाम् --निघ० २। ३ (सोम्यासः) सोममर्हति यः (पा० ४। ४। १३७) सोम--यः। तत्त्वरसयोग्याः (समपतन्) सम्यक् प्राप्तवन्तः (विपर्य्यासम्) वि+परि+असु क्षेपे--घञ्। यथा भवति तथा विपर्य्यासेन। विपरीतक्रमेण (आवापम्) आ उप्यते स्थाप्यते। डुवप बीजतन्तुसन्ताने--घञ्। प्रक्षेपणीयम् (आवपेरन्)

[सूक्तों] में आवाप [क्षेपक सूक्त] को वे [ऋत्विज्] डालें--[अर्थात् न्यूङ्ख को छोड़कर विराट् छन्द छह दिन वाले यज्ञ के] चौथे दिन में, वैमदी [विमदी अर्थात् विमद ऋषि की देखी हुई ऋचायें] पङ्क्ति छन्द वाली पाचवें में, और पारुच्छेपी [परुच्छेपी अर्थात् परुच्छेप ऋषि की देखी हुई ऋचायें] छठे में [इस विषय में विशेषः ४ देखो] (अथ यानि अन्यानि महास्तोत्राणि अष्टर्चानि, आवपेरन्) जो दूसरे महास्तोत्र आठ ऋचा वाले हैं, [उनको] आवाप [क्षेपणीय] बनावें [कण्डिका २ देखो] ॥१॥

भावार्थः—यज्ञ में ठीक ठीक मन्त्रों के प्रयोग से ऋत्विज् लोग यजमान को स्वर्ग में पहुँचाते हैं ॥ १ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ६ । १८ तथा ६ । १९ से मिलाओ।

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित दिये जाते हैं ॥

१—एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः। महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये--ऋ० ४ । १९ । १—११, वामदेव ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४ । १ । शेष मन्त्र वेद में देखो ।

२—यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान् करति शुष्म्या चित्। ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति--ऋग्० ४ । २२ । १—११, वामदेव ऋषि ॥ (यत् इन्द्रः) जो इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] नः) हमें (जुजुषे) सेवता है (च) और (यत्) जो (वष्टि) चाहता है, (तत्) वह (महान्) महान् [पूजनीय], (शुष्मी) अति बली (नः) हम को (चित्) ही (आ करति) स्वीकार करे, (यः) जो (मघवा) महाधनी [राजा] (ब्रह्म) बहुत धन वा अन्न, (स्तोमम्) प्रशंसनीय गुण, (सोमम्) तत्त्वरस, (उक्था) प्रशंसनीय वस्तुओं और (अश्मानम्) मेघ [के समान उपकारी गुण] को (शवसा) बल के साथ (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (एति) चलता है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

३—कथा महामवृधत् कस्य होतुर्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः। पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय--ऋ० ४ । २३ । १--११, वामदेव ऋषि ॥ (कथा) किस प्रकार से (कस्य होतुः) किस दानी के (महाम्) बड़े (यज्ञम्) यज्ञ [सङ्गति योग्य व्यवहार] को (जुषाणः) सेवन करता हुआ वह [इन्द्र विद्वान्] (ऊधः) निवाहने वाले (सोमम् अभि) सोम [तत्त्वरस] के लिये (अवृधत्) बढ़ता है। [उस सोम को] (उशानः) चाहता हुआ (पिबन्) पीता हुआ, और (जुषमाणः) प्रसन्न होता हुआ (ऋष्वः) वह महान् पुरुष (अन्धः) अन्न (ववक्ष) पहुँचाता है, और (धनाय) धन के लिये (शुचते) सोचता है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

प्रक्षिपेयुः (अन्यूङ्खाः) न्यूङ्खाख्याभिर्ऋग्भी रहिताः (वैमदीः) विमद—अण्, ङीप्। विमदाख्येन महर्षिणा दृष्टाः (पारुच्छेपीः)—ऐ० ब्रा० ६ । १९ । परुच्छेपेण दृष्टाः ॥

४—सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः—............ऋ० ३ । ४८ । १—५, विश्वामित्र ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४ । १ ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

५—उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ । आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि—अथर्व० २० । १२ । १—६, ऋग्० ७ । २३ । १ ६, वसिष्ठ ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४ । १ ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

६—अभि तष्टेव दीधया मनीषामत्यो न वाजी सुधुरो जिहानः । अभि-प्रियाणि मर्मृशत् पराणि कवीँरिच्छामि संदृशे सुमेधाः—ऋ० ३ । ३८ । १—१० । विश्वामित्र के गोत्र का प्रजापति, अथवा वाच्य वाक् का पुत्र, अथवा प्रजापति और वाच्य दोनों, अथवा विश्वामित्र ही ऋषि—शाकलर्क संहिता और सायण भाष्य ॥ [हे इन्द्र विद्वन् !] (तष्टा इव) बढ़ई के समान और (सुधुरः) बहुत बोझ उठाने वाले, (अत्यः) लगातार चलने वाले (वाजी न) घोड़े के सदृश (जिहानः) चलता हुआ तू (मनीषाम्) बुद्धि को (अभि)सब ओर से (दीधय) प्रकाशित कर, (प्रियाणि) प्रिय और (पराणि) श्रेष्ठ कर्मों को (अभि मर्मृशत्) सब ओर से विचारता हुआ (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला मैं (कवीन्) बड़े विद्वानों को (सन्दृशे) ठीक ठीक दर्शन के लिए (इच्छामि) चाहता हूँ ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

७—इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे—ऋ० ३ । ३४ । १—११, विश्वामित्र ऋषि—अथर्व० २० । ११ । १—११ ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४ । २, शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

८—य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः । यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान् त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्—ऋ० ६ । २२ । १—११, भरद्वाज ऋषिः । अथर्व० २० । ३६ । १—११ ॥ (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (आभिः) इन (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (अर्चे) मैं पूजता हूँ । (यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच (हव्यः) ग्रहण करने योग्य है और (यः) जो (वृषभः) श्रेष्ठ (वृष्ण्यावान्) पराक्रम वाला (सत्यः) सच्चा (सत्वा) वीर (पुरुमायः) बहुत बुद्धि वाला और (सहस्वान्) महाबलवान् (पत्यते) स्वामी है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

९—यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः । यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः—ऋ० ७ । १९ । १—११, वसिष्ठ ऋषि, अथर्व० २० । ३७ । १—११ ॥ (एकः) अकेला [वही] (विश्वाः) सब (कृष्टीः) मनुष्य प्रजाओं को (प्र) अच्छे प्रकार (च्यावयति) चलाता है, (यः) जो (तिग्मशृङ्गः न) तीखी किरणों वाले सूर्य के समान (भीमः) भयङ्कर और (वृषभः) वर्षा करने वाला है । और (यः) जो तू (शश्वतः) निरन्तर (अदाशुषः)

न देने वाले के (गयस्य) घर का (वेदः) धन (सुष्विततराय) अधिक ऐश्वर्य वाले व्यवहार के लिए (प्रयन्ता) देने वाला (असि) है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो]॥

१०--इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः शश्वच्छश्वदूतिभिर्यादमानः । सुतेसुते वावृधे वर्धनेभिर्यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्--ऋ० ३ । ३६ । १—६, विश्वामित्र ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है--गो० उ० ४ । ३ ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

११—इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि । तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः—ऋ० ३ । ३० । १--२२, विश्वामित्र ऋषि ॥ (सोम्यासः) तत्त्वरस के योग्य [ब्रह्मज्ञानी] (सखायः) मित्र लोग (त्वा) तुझे (इच्छन्ति) चाहते हैं, (सोमम्) ऐश्वर्य को (सुन्वन्ति) सिद्ध करते हैं, (प्रयांसि) तृप्त करने वाले अन्न आदि वस्तुयें (दधति) धारण करते हैं और (जनानाम्) मनुष्यों की (अभिशस्तिम्) सब ओर से हिंसा का (आ तितिक्षन्ते) भले प्रकार सहते हैं, (हि) क्योंकि, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] (त्वत्) तुझसे [अधिक] (प्रकेतः) उत्तम बुद्धिवाला (कः चन) कौन सा है ? ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

१२--शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् । पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे—ऋ० ३ । ३१ । १—२०, विश्वामित्र ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है । गो० उ० ५ । १५ ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

विशेषः ३—(अन्यूङ्खा विराजः--इत्यादि) न्यूङ्ख रहित । विराट् छन्द, वैमदी, पङ्क्ति, और पारुच्छेपी ऋचायें । (यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु पाणिनि १ । २ । ३४) यज्ञ कर्म में जप, न्यूङ्ख और साम गान को छोड़ कर एक श्रुति स्वर हो—यहाँ न्यूङ्ख शब्द आया है । सोलह प्रकार के ओङ्कार सहित वेद मन्त्र न्यूङ्ख कहाते हैं । सायण भाष्य ऐ० ब्रा० ६ । १६ में अन्यूङ्ख आदि इस प्रकार माने हैं—(न ते गिरो अपि मृष्ये—ऋ० ७ । २२ । ५—८) तथा (प्र वो महे महिवृधे भरध्वं—ऋ० ७ । ३१ । १०-१२) यह सात विराट् ऋचायें हैं जिनका प्रयोग न्यूङ्ख बिना होता है ॥

(यजामह इन्द्रं—ऋ० १० । २३ । १—७) यह सात ऋचायें वैमदी हैं, अर्थात् इन के विमद ऋषि हैं । (यच् चिद्धि सत्य सोमपा ऋ० १ । २९ । १—७) यह सात ऋचायें पङ्क्ति छन्द वाली हैं ॥

(इन्द्राय हि द्यौरसुरो—ऋ० १ । १३१ । १—७) यह सात ऋचायें पारुच्छेपी हैं, इन के परुच्छेप ऋषि हैं ॥

कण्डिका २ ॥

को अद्य नर्यो देवकाम इति मैत्रावरुणः । वने न वा यो न्यधायि चाकन्निति ब्राह्मणाच्छंसी । आ याह्यर्वाङुप बन्धुरेष्ठा इत्यच्छावाकः । एतानि वा आवपनानि, एतैरेवावपनैर्देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन् । तथैवैतद्यज-

माना एतैरेवावपनैः स्वर्गं लोकं यन्ति । सद्यो ह जातो वृषभः कनीन इति मैत्रावरुणः पुरस्तात् सम्पातानामहरहः शंसति । तदेतत् सूक्तं स्वर्ग्यमेतेन सूक्तेन देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन् । तथैवैतद्यजमाना एतेनैव सूक्तेन स्वर्गं लोकं यन्ति । तदृक्षभवत् पशुमद्भवति पशूनामाप्त्यै । तत्पञ्चर्च्चं भवति, अन्नं वै पङ्क्तिः, अन्नाद्यस्यावरुध्यै, अरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्तेति स्वर्गताया एवैतदहरहः शंसति । उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येति ब्राह्मणाच्छंसी । ब्रह्मण्वदेतत् सूक्तं समृद्धमेतेन सूक्तेन देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन् । तथैवैतद्यजमाना एतेनैव सूक्तेन स्वर्गं लोकं यन्ति । तदु वै षडर्चं, षड् वा ऋतवः ऋतूनामाप्त्यै । तदुपरिष्टात् सम्पातानामहरहः शंसति । अभि तष्टेव दीधया मनीषामित्यच्छावाकोऽहरहः शंसति । अभिवदति तत्यै रूपमभिप्रियाणि मर्मृशत्पराणीति, यान्येव पराण्यहानि, तानि प्रियाणि, तान्येव तदभिमर्मृशन्तो यन्त्यभ्यारभमाणाः परो वा अस्माल्लोकात् स्वर्गो लोकः, स्वर्गमेव तं लोकमभिमृशन्ति । कवीँरिच्छामि संदृशे सुमेधा इति, ये ह वा अनेन पूर्वे प्रीतास्ते वै कवयः तानेव तदभ्यभिवदति । यदु वै दशर्चं, दश वै प्राणाः, प्राणानेव तदाप्नोति प्राणानां सन्तत्यै । यदु वै दशर्चं, दश वै पुरुषे प्राणाः, दश स्वर्गा लोकाः, प्राणांश्चैव तत् स्वर्गांश्च लोकानाप्नोति । प्राणेषु चैवैतत् स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति । यदु वै दशर्चं, दशाक्षरा विराड् *इयं वै वि[1]राड्* इय वै स्वर्गस्य लोकस्य प्रतिष्ठा, तदेतदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति । सकृदिन्द्रं निराह तेनै[2]न्द्राद्रूपान्न प्रच्यवते, तदुपरिष्टात् सम्पातानामहरहः शंसति ।। २ ।।

कण्डिका २ ।। अहीन यज्ञ में आवाप सूक्तों का वर्णन और महत्त्व ।।

(को अद्य नर्यः देवकामः इति मैत्रावरुणः) को अद्य नर्यः देवकामः--ऋ० ४ । २५ । १—८, इस सूक्त को मैत्रावरुण [अहीन यज्ञ में बोलता है] । (वने न वा यो न्यधायि चाकन्—इति ब्राह्मणाच्छंसी) वने न वा यो न्यधायि चाकन्—ऋ० १० । २९ । १—८, इस सूक्त को ब्राह्मणाच्छंसी [बोलता है] । (आ याह्यर्वाङुप बन्धुरेष्ठाः–इति अच्छावाकः) आ याह्यर्वाङुप बन्धुरेष्ठाः—ऋ० ३ । ४३ । १—८, इस सूक्त को अच्छावाक [बोलता है] । (एतानि वै आवपनानि, एतैः एव आवपनैः देवाः च ऋषयः च स्वर्गं लोकम् आयन्) यह ही आवपन [क्षेपणीय सूक्त] हैं, इन ही आवपनों से देवों [विद्वानों] और ऋषियों [सन्मार्गदर्शक महात्माओं] ने स्वर्गलोक पाया है । (तथा एव एतत्, यजमानाः एतैः एव आवपनैः स्वर्गं लोकं यन्ति) वैसे ही यह है—यजमान लोग

२—(अद्य) इदानीम् (नर्यः) नृषु साधुः (देवकामः) देवान् विदुषः कामयमानः (वने) अरण्ये वृक्षे (न) इव (वायः) शकुनिः (नि अधायि) निहितः (चाकन्) कामयमानः । उत्सुकमनाः (आ याहि) आगच्छ (अर्वाङ्)

---

१. पुष्पाङ्कितः पाठः जर्मनसंस्करणे नास्ति ॥

२. पू. सं. 'तेनेन्द्रात्' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

इन ही आवपनों से स्वर्गलोक पाते हैं । (सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः—इति मैत्रा० वरुणः सम्पातानां पुरस्तात् अहरहः शंसति) सद्यो ह जातः वृषभः कनीनः—ऋ० ३ । ४८ । १—५, गो० उ० ४ । १,—इस सूक्त को मैत्रावरुण सम्पातों से पहिले [कण्डिका १] दिन दिन बोलता है । (तत् एतत् सूक्तं स्वर्ग्यं एतेन सूक्तेन देवाः च ऋषयः च स्वर्गं लोकम् आयन्) सो यह सूक्त स्वर्ग के लिए हितकारी है, इस सूक्त से देवों [विद्वानों] और ऋषियों [सन्मार्गदर्शक महात्माओं] ने स्वर्गलोक पाया है । (तथा एव एतत् यजमानाः एतेन एव सूक्तेन स्वर्गं लोकं यन्ति) वैसे ही यह है—यजमान लोग इस ही सूक्त से स्वर्ग लोक पाते हैं । (तत् ऋषभवत् पशुमत् पशूनाम् आप्त्यै भवति) वह ऋषभ [वृषभ] शब्द वाला पशु युक्त [सूक्त] पशुओं की प्राप्ति के लिये हैं [ऋषभ वा वृषभ बैल भी है और वह पशु है] । (तत् पञ्चर्चं भवति, अन्नं वै पङ्क्तिः अन्नाद्यस्य अवरुद्ध्यै) वह पाँच ऋचा वाला [सूक्त] है, अन्न भी पङ्क्ति [पाँच तत्त्व वाला] है । खाने योग्य अन्न की प्राप्ति के लिए है [पंचभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभूतिकः । विपक्वः पंचधा सम्यग् गुणान् स्वानभिवर्धयेत्—सुश्रुत—आहारविधिः । पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश इन पाँच तत्त्वों से बने देह में आहार पाँच तत्त्वों के स्वरूप का है, अच्छे प्रकार पका हुआ आहार पाँच प्रकार अपने गुणों को बढ़ाता है—जैसे पार्थिव गुण गन्ध को बढ़ाता है, इसी प्रकार और भी जानो] । (अरिष्टैः नः पथिभिः पारयन्ता इति स्वर्गतायै एव एतत् अहरहः शंसति) अरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता [सं वां कर्मणा—ऋ० ६ । ६९ । १, इस मन्त्र का यह चौथा पाद है, देखो गो० उ० ४ । १७] स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ही इसको वह [मैत्रावरुण] बोलता है । (उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या इति ब्राह्मणाच्छंसी) उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या—ऋ० ७ । २३ । १—६ । गो० उ० ४ । १ तथा ६ । १, इस सूक्त को ब्राह्मणाच्छंसी [बोलता है] । (ब्रह्मण्वत् एतत् समृद्धं सूक्तम्, एतेन सूक्तेन देवाः च ऋषयः च स्वर्गं लोकम् आयन्) ब्रह्मन् [ब्रह्माणि] शब्द वाला यह समृद्ध सूक्त है, इस सूक्त से देवों [विद्वानों] और ऋषियों [सन्मार्गदर्शक महात्माओं] ने स्वर्ग लोक पाया है । (तथा एव एतत्, यजमानाः एतेन सूक्तेन स्वर्गं लोकं यन्ति) उसी प्रकार ही यह है—यजमान लोग इस ही सूक्त से स्वर्ग लोक पाते हैं । (तत् उ वै षडर्थं, ऋतवः, ऋतूनाम् आप्त्यै) यह सूक्त छह ऋचा वाला है, छह ही ऋतुयें हैं, ऋतुओं की प्राप्ति के लिये [यह सूक्त है] । (तत् सम्पातानाम् उपरिष्टात् अहरहः शंसति) उसको सम्पात सूक्तों के उपरान्त [क० १] दिन दिन वह पढ़ता है ॥

(अभि तष्टेव दीधया मनीषाम्—इति अच्छावाकः अहरहः शंसति) अभि तष्टेव दीधया मनीषाम्—ऋ० ३ । ३८ । १—१० गो० उ० ६ । १, इस सूक्त को

अभिमुखः (उप) समीपे (बन्धुरेष्ठाः) मद्गुरादयश्च (उ० १ । ४१) बन्ध बन्धने—उरच्, बन्धुर—तिष्ठतेर्विच् । बन्धुरे बन्धनयुक्ते रम्ये वा रथे तिष्ठन् (आवपनानि) आवपनेयानि । प्रक्षेपणीयानि सूक्तानि (ऋषभवत्) ऋषभेण वृषभशब्देन युक्तम् (पङ्क्तिः) पचि व्यक्तीकरणे, विस्तारे—क्तिन् क्तिच् वा । पञ्चावयवा श्रेणिः पञ्चतत्त्वयुक्तत्वात् (अरिष्टैः) गो० उ० ४ । १६ । अहिंसितैः (पारयन्ता) पारं गमयन्तौ (अभिवदति) अभिशब्दयुक्तं सूक्तं ब्रूते (तत्यै)

अच्छावाक दिन दिन बोलता है। (अभिवदति तत्यै रूपम्, अभिप्रियाणि मर्मृशत् पराणि, इति यानि एव पराणि अहानि, तानि प्रियाणि तानि एव तत् अभिमर्मृशन्तः अभ्यारभमाणाः यन्ति) अभि, [सब ओर], शब्द वाला [पहिला पाद] वह बोलता है, वह विस्तार के लिये रूप है, अभिप्रियाणि मर्मृशत् पराणि [यह उसी मन्त्र का तीसरा पाद है], जो ही श्रेष्ठ दिन हैं, वे ही प्रिय हैं, उनको ही तब सब ओर से विचारते हुये और आरम्भ करते हुये लोग चलते हैं। (अस्मात् लोकात् परः वै स्वर्गः लोकः तं स्वर्गम् एव लोकम् अभिमृशन्ति) इस [सामान्य] लोक से श्रेष्ठ ही स्वर्ग लोक है, उस स्वर्ग लोक को ही वे छूते हैं [पाते हैं] (कवीँरिच्छामि सन्दृशे सुमेधाः इति ये ह वै पूर्वे अनेन प्रीताः ते वै कवयः, तान् एव तत् अभ्यभिवदति) कवीँरिच्छामि सन्दृशे सुमेधाः [यह उस मन्त्र का चौथा पाद है] जो ही पहिले ऋषि इस [सूक्त भाग] से प्रसन्न हुये हैं, वे ही कवि [महाज्ञानी] हैं, उनको ही इस [पाद से] वह प्रणाम करता है। (यत् उ वै दशर्चम्, दश वै प्राणाः, प्राणान् एव तत् प्राणानां सन्तत्यै आप्नोति) जो वह दश ऋचा वाला सूक्त है, दश ही प्राण [पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय] हैं, प्राणों को ही तब प्राणों के फैलाव के लिये वह पाता है। (यत् उ वै दशर्चम् दश वै पुरुषे प्राणाः, दश स्वर्गाः लोकाः, तत् प्राणान् च एव स्वर्गान् लोकान् च आप्नोति) जो यह दस ऋचा वाला सूक्त है, और दस ही पुरुष में प्राण हैं, [दस इन्द्रियों की स्वस्थता से] दस स्वर्ग लोक है, उससे ही प्राणों और स्वर्ग लोकों [इन्द्रियों की स्वस्थ गोलकों] को वह पाता है। (एतत् प्राणेषु च एव स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतिष्ठन्तः यन्ति) इससे ही प्राणों और स्वर्ग लोकों में दृढ़ ठहरे हुये वह चलते हैं। (यत् उ वै दशर्चम्, दशाक्षरा विराट्, इयं वै विराट् इयं वै स्वर्गस्य लोकस्य प्रतिष्ठा, तत् एतत् अस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति) जो ही यह [सूक्त] दश ऋचा वाला है, दश अक्षर वाला विराट् छन्द है, यह [पृथिवी] ही विराट् [विविध ऐश्वर्य वाली] है, यह [पृथिवी] ही स्वर्ग लोक की प्रतिष्ठा [दृढ़ स्थिति] है, सो यह इस प्रतिष्ठा में [यजमान को] प्रतिष्ठित करता है। (सकृत् इन्द्रं निराह, तेन ऐन्द्रात् रूपात् न प्रच्यवते) एक बार इन्द्र को वह बोलता है, इसलिये इन्द्र वाले रूप [ऐश्वर्य] से नहीं गिरता है। (तत् सम्पातानाम् उपरिष्टात् अहरहः शंसति) इसलिये सम्पात सूक्तों के उपरान्त [इस सूक्त को] दिन दिन वह बोलता है ॥ २ ॥

भावार्थः—कण्डिका १ के समान है ॥ २ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६ । १९ और ६ । २० से मिलाओ ॥

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष । को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे—ऋ० ४ । २५ । १–८ वामदेव ऋषि ॥

सन्तत्यै (अभिमर्मृशन्तः) अभितः पुनः स्पृशन्तः, विचारयन्तः, (अभ्यभिवदति) अभि अभि इति शब्दद्वययुक्तं सूक्तं ब्रूते । अभितो अभिवादनं नमस्करोति (सकृत्) एकवारम् (ऐन्द्रात्) इन्द्रसम्बन्धिनः सकाशात् ॥

(अद्य) आज (कः) कौन (नर्य्यः) नरों [नेताओं] में श्रेष्ठ, (देवकामः) विद्वानों को चाहने वाला और (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] की (सख्यम्) मित्रता की (उशन्) कामना करता हुआ [मनुष्य] (जुजोष) सेवा करता है। (वा) अथवा (कः) कौन (समिद्धे) प्रज्वलित (अग्नौ) अग्नि में (सुतसोमः) सोम [तत्त्वरस] निचोड़ता हुआ [मनुष्य] (महे) बड़े (पार्याय) पार लगाने वाले (अवसे) रक्षणादि कर्म के लिये (ईट्टे) ऐश्वर्यवान् होता है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

२–वने न वा यो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः। यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्––ऋ० १०। २९। १–८, वसुक्र ऋषि, अथर्व० २०। ७६। १–८ ॥ (वने) वृक्ष पर (न) जैसे (चाकन्) प्रीति करने वाला (वा, यः = वायः) पक्षी का बच्चा (नि अधायि) रखा जाता है, [वैसे ही] (भुरणौ) हे दोनों पोषको ! [माता पिताओ] (शुचिः) पवित्र (स्तोमः) बड़ाई योग्य गुण ने (वाम्) तुम दोनों को (अजीगः) ग्रहण किया है। (यस्य) जिस [बड़ाई योग्य गुण] का (इत्) ही ग्रहण करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (पुरुदिनेषु) बहुत दिनों के भीतर (नृणाम्) नेताओं का (नृतमः) सबसे बड़ा नेता, (नर्यः) पुरुषों का हितकारी (क्षपावान्) श्रेष्ठ रात्रियों वाला है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

३––आ याह्यर्वाङुप बन्धुरेष्ठास्तवेदनु प्रदिवः सोमपेयम्। प्रिया सखाया वि मुचोप बर्हिस्त्वामिमे हव्यवाहो हवन्ते–ऋ० ३। ४३। १––८ विश्वामित्र ऋषि ॥ [हे इन्द्र राजन्] (बन्धुरेष्ठाः) बन्धनों वाले वा सुन्दर रथ में बैठा हुआ तू (अर्वाङ्) सामने (उप आ याहि) समीप आ, (प्रदिवः तव) उत्तम प्रकाश वाले तेरे (इत्) ही (सोमपेयम् अनु) सोम [तत्त्व वा ओषधियों के रस] पीने के लिये (प्रिया सखाया) दो प्रिय मित्र [अध्यापक और उपदेशक वर्त्तमान हैं], (बर्हिः) ऊंचे आसन को (वि मुच) छोड़ दे, (इमे) यह (हव्यवाहः) देने लेने योग्य पदार्थ लाने वाले लोग (त्वाम्) तुझको (उप हवन्ते) आदर से बुलाते है ॥ [शेष मन्त्र वेद में देखो] ॥

४––सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्त्तुमावदन्धसः सुतस्य। साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य––ऋ० ३। ४८। १––५, विश्वामित्र ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४। १ तथा ६। १। शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

५––सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य। जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता—ऋ० ६। ६९। १–८ ॥ भरद्वाज बृहस्पति का पुत्र ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है गो०उ० ४। १७ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

६—उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ। आ यो विश्वानि शवसा ततानोप श्रोता म ईवतो वचांसि–ऋ० ७। २३। १–६, वसिष्ठ ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है गो० उ० ४। १ तथा ६। १ ॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

७—अभि तष्टेव दीधया मनीषामत्यो न वाजी सुधुरो जिहानः अभि-प्रियाणि मर्मृशत् पराणि कवीँरिच्छामि सन्दृशे सुमेधाः—ऋ० ३। ३८। १—१०, विश्वामित्र के गोत्र का प्रजापति, अथवा वाच्य वाक् का पुत्र, अथवा प्रजापति और वाच्य दोनों, अथवा विश्वामित्र ही ऋषि ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ६। १॥ शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

कण्डिका ३ ॥

कस्तमिन्द्र त्वावसुं कन्नव्यो अतसीनां कदून्व१स्याकृतं इति कद्वन्तः प्रगाथा अहरहः शस्यन्ते। को वै प्रजापतिः, प्रजापतेराप्त्यै। यदेव कद्वन्तः, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्। यद्वेव कद्वन्तः, अथो अन्नं वै कम्, अथो अन्नस्यावरुध्यै। यद्वेव कद्वन्तः अथो सुखं वै कम्, अथो सुखस्यावरुध्यै यद्वेव कद्वन्तः, अथोऽहरहर्वा एते, शान्तान्यहीनसूक्तान्युपयुञ्जाना यन्ति, तानि कद्वद्भिः प्रगाथैः शमयन्ति तान्येभ्यः शान्तानि कं भवन्ति तान्येताञ्छान्तानि स्वर्गं लोकमभिवहन्ति। त्रिष्टुभः सूक्तप्रतिपदः शंसेयुः, ता हैके पुरस्तात् प्रगाथानां शंसन्ति, धाय्या इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात्। क्षत्रं वै होता, विशो होत्राशंसिनः, क्षत्रस्यैव तद्विश प्रत्युद्यामिनीं कुर्युः। पापवस्यसं त्रिष्टुभो म इमा सूक्तप्रतिपद इत्येवं विद्यात्, यथा वै समुद्रं प्रतरेयुः, एवं हैवैते प्रप्लवन्ते ये संवत्सरं द्वादशाहं वोपासन्ते, तद्यथा सैरावतीं नावं पारकामाः समारोहेयुः एवं हैवैतास्त्रिष्टुभः स्वर्गकामाः समारोहन्ति। न ह वा एतच्छन्दो गमयित्वा स्वर्गं लोकमुपावर्त्तन्ते वीर्य्यवन्तं महिताभ्यो न व्याह्वयीत समानं हि छन्दः, अथो नेद् धाय्या करवाणीति। यदेनाः शंसन्ति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्। यद्वेवैनाः शंसन्ति, इन्द्रमेवैतैर्निह्वयन्ते, यथा ऋषभं वासितायै ॥ ३ ॥

कण्डिका ३ ॥ अहीन यज्ञ में कद्वत् प्रगाथों का उपयोग और महत्त्व ॥

(कस्तमिन्द्र त्वावसुं, कन्नव्यो अतसीनां, कदू न्वस्याकृतम् इति कद्वन्तः प्रगाथाः अहरहः शस्यन्ते) कस्तमिन्द्र त्वावसुम्—......ऋ० ७। ३२। १४; कन्नव्यो अतसीनाम्......ऋ० ८। ३। १३, कदू न्व१स्याकृतम् ...ऋ० ८। ६६। ९, [सायणभाष्य ५५]। यह कत् वा क शब्द वाले प्रगाथ दिन दिन बोले जाते हैं। (कः वै प्रजापतिः, प्रजापतेः आप्त्यै) क शब्द प्रजापति [का वाचक] है, प्रजापति के पाने के लिये [यह हैं]। (यत् एव कद्वन्तः, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो यह [प्रगाथ] कत् अथवा क शब्द वाले हैं, वह स्वर्गलोक का रूप है। (यत् उ एव कद्वन्तः अथो अन्नं वै कम्, अथो अन्नस्य अवरुध्यै) जिस कारण से यह [प्रगाथ] कत् शब्द वाले हैं, और अन्न ही क

३—(त्वावसुम्) गो० उ० ४। १ त्वया प्राप्तधनम् (कत्) कथम् (नव्यः) नव—ईयसुन्, ईकारलोपः। नवीयः। नवतरं कर्म (अतसीनाम्) अत्यविचमितमि० (उ० ३। ११७) अत सातत्यगमने—असच्, ङीष्। सन्ततगामिनीनां

है, इसलिये अन्न की प्राप्ति के लिये [यह है] । (यत् उ एव कद्वन्तः, अथो सुखं वै कं, अथो सुखस्य अवरुध्यै) जिस कारण से यह [प्रगाथ] कत् शब्द वाले हैं, और सुख ही क है, इसलिये सुख की प्राप्ति के लिये [यह है] । (यत् उ एव कद्वन्तः अथो अहरहः वै एते शान्तानि अहीनसूक्तानि उपयुञ्जानाः यन्ति, तानि कद्वद्भिः प्रगाथैः शमयन्ति) जिस कारण से यह [प्रगाथ] कत् शब्द वाले हैं, इसलिये दिन दिन यह [यजमान] शान्ति वाले अहीन [बहुत दिन रहने वाले यज्ञ] के सूक्तों को उपयोग में लाते हुये चलते हैं, उनको वे कत् शब्द वाले प्रगाथों से शान्ति युक्त करते हैं । (तानि शान्तानि एभ्यः कं भवन्ति) वे शान्ति युक्त [सूक्त] इन [यजमानों] के लिये सुखकारी होते हैं । (तानि शान्तानि एतान् स्वर्गं लोकम् अभिवहन्ति) वे शान्ति युक्त [सूक्त] इन [यजमानों] को स्वर्ग लोक में पहुँचाते हैं । (त्रिष्टुभः सूक्तप्रतिपदः शंसेयुः) त्रिष्टुप् [छन्द वाली] सूक्त की आरम्भ वाली ऋचाओं को वे बोलें । (ताः ह एके प्रगाथानां पुरस्तात् शंसन्ति, धाय्याः इति वदन्तः, तत् उ तथा न कुर्यात्) उन [त्रिष्टुभों] को कोई कोई प्रगाथों के पहिले बोलते हैं, यह धाय्या [अग्नि प्रज्वलित करने के मन्त्र] हैं—ऐसा कहते हुये, सो वैसा वह [होता ऋत्विज्] न करे । (क्षत्रं वै होता, विशः होत्राशंसिनः, क्षत्रस्य एव तत् विशं प्रत्युद्यामिनीं कुर्युः) राजा [के समान] होता पुरुष है, प्रजायें होत्राशंसी [सहायक होता लोग] हैं, इसलिये [उन्हें बोलने से] प्रजा को राजा के प्रतिकूल उद्योग वाली वे करेंगे, (पापवस्यसम्) अतिशय पाप वाला व्यवहार [उससे वे करेंगे] । (त्रिष्टुभः मे इमाः सूक्तप्रतिपदः, इति एवं विद्यात्) त्रिष्टुप् छन्द मेरी यह सूक्त की आरम्भणीय ऋचायें हैं—ऐसा वह [होता] जाने । (यथा वै समुद्रं प्रतरेयुः, एवं ह एव एते प्रप्लवन्ते, ये संवत्सरं द्वादशाहं वा उपासन्ते) जैसे ही लोग समुद्र पार करते हैं, वैसे ही वे पार जाते हैं जो संवत्सर [वर्ष भर रहने वाले यज्ञ] अथवा द्वादशाह [बारह दिन वाले यज्ञ] को करते हैं । (तत् यथा सैरावतीं नावं पारकामाः समारोहेयुः, एवं ह एव एताः त्रिष्टुभः स्वर्गकामाः समारोहन्ति) सो जैसे बहुत अन्न वाली नाव पर पार जाना चाहने वाले लोग चढ़ते हैं, वैसे ही इन त्रिष्टुप् छन्दों पर स्वर्ग चाहने वाले लोग चढ़ते हैं । (एतत् छन्दः ह वै वीर्यवन्तं स्वर्गं लोकं गमयित्वा न उपावर्तन्ते = उपावर्तयते) यह छन्द वीर्यवान्

सृष्टीनाम् (कत्) किम् (उ) एव (नु) इदानीम् (अकृतम्) अनाचरितम् (कद्वन्तः) कच्छब्दयुक्ताः । कशब्दयुक्ताः (शान्तानि) सुखकराणि (उपयुञ्जानाः) उपयुक्तानि कुर्वाणाः (शमयन्ति) शान्तानि कुर्वन्ति (अभिवहन्ति) प्रापयन्ति (सूक्तप्रतिपदः) सूक्तस्य प्रारम्भणीया ऋचः (धाय्या) दधातेः--ण्यत् । अग्निज्वालनार्था ऋचः । सामिधेन्यः (क्षत्रम्) क्षत्रियः । राजा (विशः) प्रजाः (होत्राशंसिनः) वेदवाणीवाचकाः (प्रत्युद्यामिनीम्) प्रतिकूलोद्योगयुक्ताम् (पापवस्यसम्) पाप+वसु--ईयसुन्, ईकारलोपः । पापवसीयसम् । अतिशयेन पापव्यवहारम् (प्रतरेयुः) परतीरं गच्छेयुः (प्रप्लवन्ते) परतीरं गच्छन्ति (उपासन्ते) उपासते । अनुतिष्ठन्ते (सैरावतीम्) इरा--अण्, इरा अन्नम्, तत्समूहः ऐरम्, तेन सह वर्तत इति सैरम्, मतुप्, ङीप्, आर्षो दीर्घः । पर्याप्तान्नयुक्ताम्

[बलिष्ठ यजमान] को स्वर्गलोक में ले जाकर नहीं लौटाता है। (मंहिताभ्यः न व्याह्वयीत, समानं हि छन्दः, अथो नेत् धाय्याः करवाणि इति) प्रकाशित [ऊपर जाने हुये] त्रिष्टुभों से पहिले [शंसावोम्—गो० उ० ३ । १६] व्याहाव न करे, समान ही [सूक्तों का] छन्द है, इससे धाय्या [अग्नि प्रज्वलित करने की ऋचाओं] को मैं न करूँ [ऐसा होता कहे]। (यत् एनाः शंसन्ति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो वे इन [त्रिष्टुभों] को बोलते हैं वह स्वर्ग लोक का रूप है। (यत् उ एव एनाः शंसन्ति, इन्द्रम् एव एतैः निह्वयन्ते यथा ऋषभं वासितायै) जब वे इन [त्रिष्टुभों] को बोलते हैं, इन्द्र को ही इन [छन्दों] से वे बुलाते हैं, जैसे गतिमान् [पुरुषार्थी] को निवास करती हुई प्रजा के लिये [बुलाते हैं]॥ ३ ॥

भावार्थः—कण्डिका १ के समान है ॥ ३ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को—ऐ० ब्रा० ६ । २१ से मिलाओ ॥

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१--कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति। श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति--ऋ० ७ । ३२ । १४, १५ ॥ यह मन्त्र आ चुका है--गो० उ० ४ । १ ॥

२--कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः। नहीन्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः--ऋ० ८ । ३ । १३, १४ अथर्व० २० । ५० । १, २ ॥ (अतसीनाम्) सदा चलती हुई [सृष्टियों] के (तुरः) वेग देने वाले [परमात्मा] के (नव्यः) अधिक नवीन कर्म को (मर्त्यः) मनुष्य (कत्) कैसे (गृणीत) बता सके ? (नु) क्या (अस्य) उसकी (महिमानम्) महिमा को और (इन्द्रियम्) इन्द्रपन [परम ऐश्वर्य] को (गृणन्तः) वर्णन करते हुये पुरुषों ने (स्वः) आनन्द (नहि) नहीं (आनशुः) पाया है ? ॥

३—कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् । केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा—ऋ० ८ । ६६ । ९, [सायण भाष्य ५५]। अथर्व० २० । ९७ । ३, साम० ८ । २ । १३ ॥ (अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] का (नु) अब (कत् उ) कौन सा (पौंस्यम्) पौरुष (अकृतम्) बिना किया हुआ (अस्ति) है ? (केनो) किस (श्रोमतेन) श्रुति [वेद] मानने वाले करके (नु) अब (जनुषः परि) जन्म से लेकर (वृत्रहा) शत्रुनाशक [वीर पुरुष] (कम्) सुख से (न) नहीं (शुश्रुवे) सुना गया है ॥

(पारकामाः) परतीरगमनेच्छुकाः (उपावर्तन्ते) उपवर्तयते (वीर्यवन्तम्) सामर्थ्योपेतं यजमानम् (मंहिताभ्यः) महि दीप्तौ—क्तः। दीप्ताभ्यः। प्रज्ञाताभ्यः। त्रिष्टुब्भ्यः पूर्वम् (न) निषेधे (व्याह्वयीत) शंसावोम्—गो० उ० ३ । १६, इति व्याहावं कुर्यात् (नेत्) नैव (ऋषभम्) गो० उ० ५ । १५। गतिमन्तं पुरुषार्थिनम् (वासितायै) गो० उ० ५ । १५ । निवासितायै प्रजायै ॥

कण्डिका ४ ॥

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानिति, मैत्रावरुणः पुरस्तात् सम्पातानामहरहः शंसति। अपापाचो अभिभूते नुदस्वापोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्म्मन् मदेमेति, अभयस्य रूपमभयमिव ह्यन्विच्छेति, ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मीति, ब्राह्मणाच्छंस्येतामहरहः शंसति युक्तवतीं युक्त इवाह्यहीनोऽहीनस्य रूपमुरुं नो लोकमनुनेषीति, अच्छावाको अहरहः शंसति। अनुनेषीत्येत इवाह्यहीनोऽहीनस्य रूपं नेषीति सत्रायणरूपम्। ओकःसारी हैवैषामिन्द्रो भवति, यथा गौः प्रज्ञातं गोष्ठं, यथा ऋषभं वासितायाः, एवं हैवैषामिन्द्रो यज्ञमागच्छति।[1] न शुनं हुवेम यथाहीनस्य परिदध्यात्। क्षत्रियो ह राष्ट्राच्च्यवते, यो हैव परो भवति, तमभिह्वयति ॥ ४ ॥

कण्डिका ४ ॥ अहीन यज्ञ में विशेष मन्त्रों का प्रयोग।

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान्—इति मैत्रावरुणः सम्पातानां पुरस्तात् अहरहः शंसति) अपेन्द्र प्राचो मघवन् अमित्रान्—...... अथर्व० २०।१२५।१, हे महाधनी इन्द्र! पूर्व वाले बैरियों को दूर [हटा] यह मन्त्र मैत्रावरुण सम्पात सूक्तों के पहिले दिन दिन बोलता है। (अपापाचो अभिभूते नुदस्वापोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्म्मन् मदेम, इति अभयस्य रूपम्, अभयम् इव हि अन्विच्छ इति) अप अपाचः अभिभूते ...... [उसी मन्त्र के शेष तीन पाद, अर्थ नीचे देखो] यह [वाक्य] अभय का रूप है, अभय को ही तू ढूंढ़। (ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि इति ब्राह्मणाच्छंसी एतां युक्तवतीम् अहरहः शंसति, युक्तः इव हि अहीनः, अहीनस्य रूपम्) ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि—अथर्व० २०।८६। १—इस युक्तवती [युनज्मि इस पद में युज, संयुक्त करना धातु के अर्थ वाली ऋचा] को ब्राह्मणाच्छंसी दिन दिन बोलता है युक्त [मिला हुआ, यज्ञ के दिनों से मिला हुआ] ही अहीन [बहुत दिनों वाला यज्ञ] है, [इसलिये यह मन्त्र] अहीन का रूप है। (उरुं नो लोकम् अनुनेषि, इति अच्छावाकः अहरहः शंसति) उरुं नो लोकम् अनुनेषि—अथर्व०

४—(अप) दूरे (प्राचः) प्र+अञ्चतेः क्विन्, शस्। पूर्वदेशे वर्तमानान् (मघवन्) महाधनिन् (अमित्रान्) पीडकान् वैरिणः (अपाचः) पश्चिमदेशे वर्तमानान् (अभिभूते) हे अभिभवितः (नुदस्व) प्रेरय (उदीचः) उत्तरदेशे वर्तमानान् (अधराचः) दक्षिणदिशि वर्तमानान् (उरौ) विस्तीर्णे (शर्मन्) शर्मणि। शरणे (मदेम) हृष्येम (इव) एव (अन्विच्छ) अन्वेषणेन प्राप्नुहि (ब्रह्मणा) अन्नेन (ते) तुभ्यम् (ब्रह्मयुजा) धनस्य संयोजकौ संग्राहकौ (युनज्मि) संयोजयामि (युक्तवतीम्) युनज्मि इति श्रवणाद् युजि धात्वर्थवतीम् (युक्तः) अह्नां परस्परसम्बन्धवान् (नः) अस्मान् (लोकम्) स्थानम्

---

१. पू. सं. "आगच्छन्ति" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

१६ । १५ । ४, यह मन्त्र अच्छावाक दिन दिन बोलता है। (अनु नेषि इति एतः इव हि अहीनः, अहीनस्य रूपम्) अनु नेषि, [तू निरन्तर ले चलता है] इससे एतः [आया हुआ] ही अहीन यज्ञ है, [इसलिये यह मन्त्र] अहीन यज्ञ का रूप है। (नेषि इति सत्रायणरूपम्) नेषि [तू ले चलता है] यह सत्र यज्ञ के अनुष्ठान का रूप है। (एषाम् ओकःसारी ह एव इन्द्रः भवति) इन [यजमानों] के घरों में जाने वाला इन्द्र है। (यथा गौः प्रज्ञातं गोष्ठं, यथा वासितायाः ऋषभम्, एवं ह एव इन्द्रः एषां यज्ञम् आगच्छति) जैसे गौ जाने हुये गोट में आती है, और जैसे निवास कराई हुई प्रजायें उद्योगी पुरुष के पास [आती हैं], वैसे ही इन्द्र इन [यजमानों] के यज्ञ में आता है। (शुनं हुवेम यथा अहीनस्य न परिदध्यात्) शुनं हुवेम अथर्व० २० । ११ । ११, इस पद वाली ऋचा से जिस प्रकार अहीन यज्ञ की परिधानीया [समाप्ति विधि] न करे [वैसा करे]। (क्षत्रियः ह राष्ट्रात् च्यवते, यः ह एव परः भवति, तम् अभिह्वयति) [इस मन्त्र की परिधानीया से] क्षत्रिय [राजा] राज्य से गिर जाता है, [क्योंकि] जो ही [इसका] बैरी है, उस [बैरी] को [इस परिधानीया से] वह बुलाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ :—कण्डिका १ के समान है ॥ ४ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६ । २२ से मिलाओ ॥

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व। अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम—अथर्व० २० । २५ । १, ऋ० १० । १३१ । १ भेद से ॥ (मघवन्) हे महाधनी ! (अभिभूते) हे विजयी ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (प्राचः) पूर्व वाले (अमित्रान्) बैरियों को (अप) दूर, (अपाचः) पश्चिम वाले [बैरियों] को (अप) दूर, (उदीचः) उत्तर वाले [बैरियों] को (अप) दूर, और (अधराचः) दक्षिण वाले [बैरियों] को (अप) दूर, नुदस्व) हटा, (यथा) जिससे (तव) तेरी (उरौ) चौड़ी (शर्मन्) शरण में (मदेम) हम आनन्द करें ॥

२—ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू। स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम्—अथर्व० २० । ८६ । १, ऋ० ३ । ३५ । ४ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (ते) तेरे लिए (ब्रह्मणा) अन्न के साथ (ब्रह्मयुजा) धन के संग्रह करने वाले, (आशू) शीघ्र चलने

(अनु) निरन्तरम् (नेषि) शपो लुक्। नयसि। नय (एतः) आ+इण् गतौ–क्तः। प्रवृत्तः (सत्रायणरूपम्) सत्रस्य यज्ञविशेषस्य अयनस्य अनुष्ठानस्य रूपम् (ओकः-सारी) गृहगामी (वासितायाः) गो० उ० ५ । १५ । प्रथमार्थे षष्ठी। वासिता। निवासिता प्रजा (शुनम्) सुखप्रदम्। शुनं इति पदयुक्तया ऋचा (परिदध्यात्) परिधानीयां समाप्तविधिं कुर्यात् (परः) शत्रुः (अभिह्वयति) आह्वयति ॥

वाले, (हरी) दोनों जल और अग्नि को (सखाया) दो मित्रों के तुल्य (सधमादे) चौरस स्थान में (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूँ, (स्थिरम्) दृढ़ (सुखम्) सुख देने वाले [इन्द्रियों के लिए अच्छे हितकारी--निरु० ३ । १३] (रथम्) रथ पर (अधितिष्ठन्) चढ़ता हुआ (प्रजानन्) बड़ा चतुर (विद्वान्) विद्वान् तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप याहि) प्राप्त हो ॥

३--उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति । उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता--अथर्व० १९ । १५ । ४, ऋ० ६ । ४७ । ८ भेद से ॥ (विद्वान्) जानकार तू (नः) हमें (उरुम्) चौड़े (लोकम्) स्थान में (अनु नेषि) निरन्तर ले चलता है, (यत्) जो (स्वः) सुखप्रद, (ज्योतिः) प्रकाशमान (अभयम्) निर्भय और (स्वस्ति) मङ्गलदाता [अच्छी सत्ता वाला] है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (स्थविरस्य ते) तुझ दृढ़ स्वभाव वाले के (उग्रा) प्रचण्ड, (शरणा) शरण देने वाले, (बृहन्ता) विशाल (बाहू) दोनों भुजाओं का (उप) आश्रय लेकर (क्षयेम) हम रहें ॥

४--शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ । शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सं जितं धनानाम्--अथर्व० २० । ११ । ११, ऋ० ३ । ३० । २२ आदि १४ बार ॥ (शुनम्) सुख देने वाले (मघवानम्) बड़े धनी, (अस्मिन्) इस (भरे) युद्ध के बीच (वाजसातौ) अन्न के पाने में (नृतमम्) बड़े नेता, (शृण्वन्तम्) सुनने वाले, (उग्रम्) तेजस्वी, (समत्सु) सङ्ग्रामों में (वृत्राणि) शत्रुओं को (घ्नन्तम्) मारने वाले, (धनानाम्) धनों के (संजितम्) जीत लेने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी जन] को (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम) हम बुलावें ॥

कण्डिका ५ ॥

अथातोऽहीनस्य युक्तिश्च विमुक्तिश्च व्यन्तरिक्षमतिरदित्यहीनं युङ्क्ते। एवेदिन्द्रमिति विमुञ्चति । नूनं सा त इत्यहीनं युङ्क्ते । नू ष्टुत इति विमुञ्चति। एष ह वा अहीनं तन्तुमर्हति, य एनं योक्त्रञ्च विमोक्त्रञ्च वेद, तस्य हैषैव युक्तिरेषा विमुक्तिः । तद्यत् प्रथमेऽहनि चतुर्विंश एकाहिकीभिः परिदध्युः, प्रथम एवाहनि यज्ञं संस्थापयेयुर्नाहीनकर्म्म कुर्युः । अथ यदहीनपरिधानीयाभिः परिदध्युः, तद्यथा युक्तो विमुच्यमानः उत्क्रत्येत, एवं यजमाना उत्क्रत्येरन्, नाहीनकर्म कुर्युः । अथ यदुभयीभिः परिदध्युः, तद्यथा दीर्घाध्व उपविमोकं याज्याः, तादृक् तत् समानीभिः परिदध्युः । तदाहुः, एकया द्वाभ्यां वा स्तोममतिशंसेत्, दीर्घारण्यानि भवन्ति यत्र बह्वीभिः स्तोमोऽतिशस्यते, अथो क्षिप्रन्देवेभ्योऽन्नाद्यं सम्प्रयच्छामीति, अपरिमिताभिरुत्तरयोः सवनयोः । अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः, स्वर्गस्य लोकस्य समष्टचै । तद्यथा अभिहेषते पिपासते क्षिप्रं प्रयच्छेत्, तादृक् तत् समानीभिः परिदध्युः । सन्ततो हैवैषामारब्धो ऽविस्रस्तो यज्ञो भवति, सन्ततमृचा वषट्कृत्यं सन्तत्यै सन्धीयते प्रजया पशुभिः, य एवं वेद ॥ ५ ॥

कण्डिका ५ ॥ अहीन यज्ञ की युक्ति और विमुक्ति ॥

(अथ अतः अहीनस्य युक्तिः च विमुक्तिः च) अब अहीन [बहुत दिन वाले यज्ञ] का संयोग और वियोग [कहा जाता है]। (व्यन्तरिक्षमतिरत्, इति अहीनं युङ्क्ते, एवेदिन्द्रम्—इति विमुञ्चति) व्यन्तरिक्षमतिरत्...... अथर्व० २० । २८ । १, इस मन्त्र से वह अहीन यज्ञ को जोड़ता है, और एवेदिन्द्रम्.....अथर्व० २० । १२ । ६, इस मन्त्र से वह [उसको] अलगाता है । (नूनं सा ते—इति अहीनं युङ्क्ते, नू ष्टुतः-इति विमुञ्चति) नूनं सा ते...... ऋ० २ । १२ । २१ आदि इस मन्त्र से वह अहीन यज्ञ को जोड़ता है, और नू ष्टुतः...... ऋ० ४ । १६ । २१ । इत्यादि, इस मन्त्र से वह [उसे] अलगाता है । (एषः ह वै अहीनं तन्तुम् अर्हति यः एनम् योक्त्रं च विमोक्त्रं च वेद) वह ही निश्चय करके अहीन यज्ञ को फैलाने योग्य है, जो इस [यज्ञ] के मिलाव और अलगाव को जानता है । (तस्य ह एषा एव युक्तिः एषा विमुक्तिः) उस [मनुष्य] की यह ही युक्ति और यह ही विमुक्ति है । (तत् यत् प्रथमे अहनि चतुर्विंशे एकाहिकीभिः परिदध्युः, प्रथमे एव अहनि यज्ञं संस्थापयेयुः, अहीनकर्म न कुर्युः) फिर जब पहिले दिन चतुर्विंश यज्ञ में एकाहिकी [एक दिन वाले यज्ञ की ऋचाओं] से पूरा करें, पहिले ही दिन यज्ञ को पूरा करें और अहीन [बहुत दिन वाले यज्ञ] के कर्म को न करें । (अथ यत् अहीनपरिधानीयाभिः परिदध्युः, तत् यथा युक्तः विमुच्यमानः उत्कृत्येत, एवं यजमानाः उत्कृत्येरन्. अहीनकर्म न कुर्युः) फिर जब अहीन यज्ञ की परिधानीयाओं [समाप्ति क्रियाओं] से पूरा करें सो जैसे जुता हुआ [रथादि में जुता हुआ घोड़ा बहुत थकने पर] छुटा हुआ कतर जावे [नष्ट हो जावे], ऐसे ही यजमान लोग कतरे जावें [नष्ट हो जावें, इसलिये] अहीन यज्ञ कर्म न करे । (अथ यत् उभयीभिः परिदध्युः, तत् यथा दीर्घाध्वे उपविमोकं याज्याः, तादृक् तत् समानीभिः परिदध्युः) फिर जो दोनों प्रकार वाली [एक दिन वाले और बहुत दिन वाले यज्ञ की ऋचाओं] से समाप्त करें, सो जैसे लम्बे मार्ग में उपविमोक [जगह जगह विश्राम के समान] याज्या ऋचायें हैं, उसी प्रकार उस [कर्म] को एकसी ऋचाओं से पूरा करें ॥

(तत् आहुः, एकया द्वाभ्यां वा स्तोमम् अतिशंसेत्, दीर्घारण्यानि भवन्ति, यत्र बह्वीभिः स्तोमः अतिशस्यते) फिर कहते हैं, एक अथवा दो ऋचाओं द्वारा स्तोम अधिक बोला जावे, [वहाँ] बड़े बड़े वन हो जाते हैं, जहाँ बहुत सी ऋचाओं द्वारा [स्तोम] बढ़ाकर बोला जाता है । (अथो क्षिप्रं देवेभ्यः अन्नाद्यं सम्प्रयच्छामि इति, अपरिमिताभिः उत्तरयोः सवनयोः) फिर शीघ्र विद्वानों को खाने योग्य अन्न देता हूँ—

५—(युक्तिः) संयोगः (विमुक्तिः) वियोगः (युङ्क्ते) संयोजयति (विमुञ्चति) वियोजयति (योक्त्रम्) दाम्नीशसयुयुजस्तु० (पा० ३ । २ । १८२) युजिर् योगे—ष्ट्रन् । बन्धनम् (विमोक्त्रम्) गुधृवीपचिवचि० (उ० ४ । १६७) मुच्लृ मोचने–त्रः । विमोचनम् (परिदध्युः) समापयेयुः (संस्थापयेयुः) समापयेयुः (युक्तः) रथयुक्तोऽश्वः (उत्कृत्येत) उच्छिद्येत । विनश्येत् (उत्कृत्येरन्) विनश्येयुः (दीर्घाध्वे) दूरमार्गे (उपविमोकम्) तत्र तत्र विमोचनम् (अभिहेषते)

यह [ब्राह्मण वचन बोलकर] अपरिमित [बेगिनती ऋचाओं] से दोनों पिछले सवनों में [माध्यन्दिन और तृतीयसवन में स्तोम बढ़ाकर बोला जाता है]। (अपरिमितः वै स्वर्गः लोकः, स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै) अपरिमित [परिमाण रहित] ही स्वर्ग लोक है, स्वर्ग लोक की प्राप्ति के लिये [यह कर्म होता है]। (तत् यथा अभिहेषते पिपासते क्षिप्रं प्रयच्छेत्, तादृक् तत् समानीभिः परिदध्युः) सो जैसे हिनहिनाते हुये, प्यासे [घोड़े] को शीघ्र [जल] देवे, वैसे ही उस [यज्ञ कर्म] को समान ऋचाओं से समाप्त करे। (एषां ह एव सन्ततः आरब्धः अविस्रस्तः यज्ञः भवति, ऋचा सन्ततं वषट्कृत्यं सन्तत्यै) इन [पुरुषों] का ही फैलाया हुआ, आरम्भ किया हुआ यज्ञ विनाश रहित होता है, ऋचा द्वारा फैलाया हुआ वषट् कर्म [यजमान के] फैलाव के लिए है। (प्रजया पशुभिः सन्धीयते, यः एवं वेद) प्रजा और पशुओं से वह संयुक्त होता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥ ५ ॥

भावार्थः—यज्ञों के यथाविधि समाप्त होने पर यजमान लोग सुख पाते हैं ॥ ५ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६। २३। से मिलाओ ॥

विशेषः २—प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—व्य१ न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ अथर्व० २०। २८। १ ॥ इत्यादि ऊपर आ चुका है—गो० उ० ५। १३ ॥

२—एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः। स न स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः—अथर्व० २०। १२। ६, ऋग्० ७। २३। ६, यजु० २०। ५४ ॥ यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ४। २ ॥

३—नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी। शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः—ऋग्० २। ११। २१, २। १५। १०, २। १६। ६, २। १७। ६, २। १८। ९, २। १९। ९, २। २०। ९ और निरु० १। ७ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] (नूनम्) निश्चय करके (ते) तेरी (सा) वह (मघोनी) बहुत धन वाली (दक्षिणा) दक्षिणा [दानक्रिया] (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (वरम्) वर [कामना] (प्रति) प्रत्यक्ष (दुहीयत्) पूर्ण करे। (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (शिक्ष) शिक्षा दे, (नः) हमें (अति=अतीत्य) छोड़ कर (भगः) [हमारे] ऐश्वर्य को (मा धक्) मत भस्म कर, (सुवीराः) बड़े वीरों वाले हम (विदथे) ज्ञान स्थान यज्ञ में (बृहत्) बृहत् [साम आदि विज्ञान] (वदेम) कहें ॥

४—नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः। अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः—ऋ० ४। १६। २१, ४। १७। २१, ४। १९। ११, ४। २०। ११, ४। २१। ११, ४। २२। ११, ४। २३। ११,

---

हेषृ अश्वशब्दे—शतृ, आर्षं परस्मैपदम्। हेषां कुर्वाणाय (पिपासते) तृषिताय (अविस्रस्तः) अविनाशितः (सन्धीयते) संयुज्यते ॥

४ । २४ । ११ ॥ (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े एश्वर्य वाले राजन्] (नु नु) अब ही (स्तुतः) स्तुति किया गया और (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (नद्यः न) नदियों के समान (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (इषम्) अन्न (पीपेः) बढ़ा, (हरिवः) हे उत्तम घोड़ों वाले ! (ते) तेरे लिये (नव्यम्) अधिक नवीन (ब्रह्म) अन्न (अकारि) किया गया है, (धिया) बुद्धि वा कर्म के साथ हम (रथ्यः = रथ्याः) उत्तम रथों वाले और (सदासाः) सेवकों वाले (स्याम) होवें ॥

कण्डिका ६ ॥

तदाहुः, कथं द्व्युक्थो होतैकसूक्त एकोक्था होत्रा द्विसूक्ता इति । असौ वै होता योऽसौ तपति, स वा एक एव, तस्मादेकसूक्तः । स यद्विध्यातो द्वाविवा भवति, तेज एव मण्डलं भा अपरं शुक्लमपरं कृष्णं, तस्माद् द्व्युक्थः । रश्मयो वाव होत्राः, ते वा एकैकं, तस्मादेकोक्थाः । तद्यदेकैकस्य रश्मेर्द्वौ द्वौ वर्णौ भवतः, तस्माद् द्विसूक्ताः । संवत्सरो वाव होता, स वा एक एव, तस्मादेकसूक्तः । तस्य यद् द्व्यान्यहानि भवन्ति, शीतान्यन्यान्युष्णान्यन्यानि, तस्माद्द्व्युक्थः । ऋतवो वाव होत्राः ते वा एकैकं, तस्मादेकोक्थाः, तद्यदेकैकस्यर्त्तो द्वौ द्वौ मासौ भवतः, तस्माद् द्विसूक्ताः । पुरुषो वाव होता स वा एक एव, तस्मादेकसूक्तः । स यत्पुरुषो भवत्य-न्यथैव प्रत्यङ् भवत्यन्यथा प्राङ्, तस्माद् द्व्युक्थः । अङ्गानि वाव होत्राः, तानि वा एकैकं, तस्मादेकोक्थाः । तद्यदेकैकमङ्गं द्युतिर्भवति, तस्माद् द्विसूक्ताः । तदाहुः, यद् द्व्युक्थो होतैकसूक्त एकोक्था होत्रा द्विसूक्ताः, कथं तत् समं भवति, यदेव द्विदेवत्याभिर्यजन्ति, अथो यद् द्विसूक्ता होत्रा इति ब्रूयात्, तदाहुः, यदग्निष्टोम एव सति यज्ञे द्वे होतुरुक्थे अतिरिच्येते, कथ ततो होत्रा न व्यवच्छिद्यन्त इति । यदेव द्विदेवत्याभिर्यजन्ति, अथो यद् द्विसूक्ता होत्रा इति ब्रूयात्, तदाहुः, यदग्निष्टोम एव सति यज्ञे सर्वा देवताः सर्वाणि छन्दांस्याप्याययन्ति, अथ कतमेन छन्दसायातया-मान्युक्थानि प्रणयन्ति, कया देवतयेति । गायत्रेण छन्दसाग्निना देवतयेति ब्रूयात् । देवान् ह यज्ञं तन्वानान् असुररक्षांस्यभिचेरिरे यज्ञपर्वणि,यज्ञमेषां हनिष्यामस्तृतीय-सवनं प्रति तृतीयसवने ह यज्ञस्त्वरिष्टो बलिष्ठः प्रतनुमेषां यज्ञं हनिष्याम इति । ते वरुणं दक्षिणतोऽयोजयन्, मध्यतो बृहस्पतिमुत्तरतो विष्णुम् । तेऽब्रुवन् एकैकाः स्मः, नेदमुत्सहामह इति, स्तु [अस्तु] नो द्वितीयो येनेदं सह व्यश्नवामहा इति । तानिन्द्रोऽब्रवीत्, सर्वे मद्द्वितीया स्थेति । ते सर्व इन्द्रं द्वितीयाः, तस्मादैन्द्रा-वारुणमैन्द्राबार्हस्पत्यमैन्द्रावैष्णवमनुशस्यते । द्वितीयवन्तो ह वा एतेन स्वा भवन्ति, द्वितीयवन्तो मन्यन्ते, य एवं वेद ॥ ६ ॥

कण्डिका ६ ॥ होताओं और होत्रक लोगों के उक्थों का वर्णन और असुरों से यज्ञ की रक्षा ॥

(तत् आहुः, कथं होता द्व्युक्थः एकसूक्तः होत्राः एकोक्थाः द्विसूक्ताः इति) वे कहते हैं—कैसे होता दो उक्थ वाला और एक सूक्त वाला होता है, और होत्रक

[सहायक होता लोग] एक उक्थ वाले और दो सूक्त वाले होते हैं। (असौ वै होता यः असौ तपति, सः वै एकः एव, तस्मात् एकसूक्तः) [उस का उत्तर] वह ही [सूर्य] होता [जल का दाता और ग्रहीता] है जो वह तपता है वह ही [सूर्य] एक ही है, इस लिये वह एक सूक्त वाला है। (सः यत् विध्यातः द्वौ इव भवति तेजः एव मण्डलम् भाः अपरं शुक्लम् अपरं कृष्णम्, तस्मात् द्व्युक्थः) वह [सूर्य] जब विविध प्रकार ध्यान किया गया, दो के समान तेज होता है, तेज ही मण्डल और किरण है, [सामने की ओर अथवा किरण में] एक शुक्ल रूप और दूसरा [पिछली ओर अथवा किरण में] कृष्ण रूप है इस लिये वह [होता] दो उक्थ वाला है। (रश्मयः वाव होत्राः ते वै एकैकम्, तस्मात् एकोक्थाः) किरणों [के सामने] ही होत्रक लोग हैं, वे [दोनों किरण और होत्रक] निश्चय करके एक एक हैं, इस लिये वे [होत्रक] एक उक्थ वाले होते हैं। (तत् यत् एकैकस्य रश्मेः द्वौ द्वौ वर्णौ भवतः, तस्मात् द्विसूक्ताः) फिर जो एक एक किरण के दो दो रूप [शुक्ल और कृष्ण] होते हैं। इस लिये वे [होत्रक] दो सूक्त वाले होते हैं ॥

(संवत्सरः वाव होता, सः वै एकः एव, तस्मात् एकसूक्तः) संवत्सर [के समान] ही होता है, वह निश्चय करके एक ही है, इस लिये वह [होता] एक सूक्त वाला है। (तस्य यत् द्व्यानि [द्व्ययनानि] अहानि भवन्ति अन्यानि शीतानि अन्यानि उष्णानि, तस्मात् द्व्युक्थः) उस [संवत्सर] के जो दो अयन [सूर्य के मार्ग, दक्षिणायन और उत्तरायण] वाले होते हैं, एक शीत और एक उष्ण, इस लिये वह [होता] दो उक्थ वाला होता है। (ऋतवः वाव होत्राः, ते वै एकैकं, तस्मात् एकोक्थाः) ऋतुओं [के समान] ही होत्रक लोग हैं, वे ही एक एक हैं, इस लिये वे [होत्रक] एक उक्थ वाले हैं। (तत् यत् एकैकस्य ऋतौ [=ऋतोः] द्वौ द्वौ मासौ भवतः, तस्मात् द्विसूक्ताः) सो जो एक एक ऋतु के दो दो महीने होते हैं इस लिये वे [होत्रक] दो सूक्त वाले हैं ॥

(पुरुषः वाव होता, सः वै एकः एव तस्मात् एकसूक्तः) पुरुष [के समान] ही होता है वह निश्चय करके एक ही है, इस लिये वह [होता] एक सूक्त वाला है।

६—(आहुः) कथयन्ति (विध्यातः) वि+ध्यै चिन्तने—क्तः। विविधचिन्तितः (भाः) किरणः (वर्णौ) शुक्लादिरूपे (द्व्यानि) द्व्ययनानि द्वे अयने दक्षिणायनमुत्तरायणं च येषां तानि (ऋतौ) ऋतोः (प्रत्यङ्) प्रति+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। पश्चाद्देशभवः (द्युतिः) कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः (पा० ५। २। १३८) द्वि—तिः[1] मत्वर्थे, वर्णव्यत्यये सति सम्प्रसारणेन वकारस्य उकारः इकारस्य यकारः। द्वित्वयुक्तम् (अतिरिच्येते) अधिके वर्तेते (व्यवच्छि-

---

१—द्वि शब्द से न तो ति प्रत्यय का विधान है, न ही व के स्थान पर उ करने मात्र से द्युति बन सकता है। इस प्रकार अर्थ भी सङ्गत नहीं हो पाता। अतः यह शब्द दीप्ति अर्थ वाली द्युत धातु से औणादिक इन् प्रत्यय करके बनाना समीचीन प्रतीत होता है ॥ सम्पा० ॥

(सः यत् पुरुषः अन्यथा एव प्रत्यङ् भवति, अन्यथा प्राङ् भवति, तस्मात् द्व्युक्थः) सो जो पुरुष एक प्रकार से ही पीछे की ओर होता है और दूसरे प्रकार से सामने की ओर, इसलिये वह [होता] दो उक्थ वाला है। (अङ्गानि वाव होत्राः, तानि वै एकैकं, तस्मात्, एकोक्थाः) अङ्गों [के समान] ही होत्रक लोग हैं, वे [अङ्ग] ही एक एक हैं, इसलिये वे [होत्रक] एक उक्थ वाले हैं। (तत् यत् एकैकम् अङ्गं द्युतिः भवति, तस्मात् द्विसूक्ताः) उस [पुरुष] का जो एक एक अङ्ग [जैसे हाथ और पांव] दो अवयव वाला होता है, इसलिये वे [होत्रक] दो सूक्त वाले होते हैं॥

(तत् आहुः, यत् द्व्युक्थः एकसूक्तः होता, एकोक्थाः द्विसूक्ताः होत्राः, कथं तत् समं भवति) वे कहते हैं—जो दो उक्थ वाला और एक सूक्त वाला होता है, और एक उक्थ वाले और दो सूक्त वाले होत्रक होते हैं, कैसे यह कर्म समान होता है। (यत् एव द्विदेवत्याभिः यजन्ति, अथो यत् द्विसूक्ताः होत्राः इति ब्रूयात्) जब ही दो देवता वाली ऋचाओं से यज्ञ करते हैं, और जब दो उक्थ वाले होत्रक हैं, वह यह बतलावे। (तत् आहुः यत् अग्निष्टोमे एव यज्ञे सति होतुः द्वे उक्थे अतिरिच्येते कथं तः होत्राः न व्यवच्छिद्यन्ते इति) जब अग्निष्टोम ही यज्ञ होने पर होता के दो उक्थ बढ़ते हैं, कैसे उससे होत्रक लोग नहीं अलग अलग होते। (यत् एव द्विदेवत्याभिः यजन्ति, अथो यत् द्विसूक्ताः होत्राः इति ब्रूयात्) [उत्तर] जब ही दो देवता वाली ऋचाओं से वे यज्ञ करते हैं, फिर जब दो सूक्त वाले होत्रक हैं [इसलिये वे अलग अलग नहीं होते]— यह कहे। (तत् आहुः यत् अग्निष्टोमे एव यज्ञे सति सर्वाः देवताः सर्वाणि छन्दांसि आप्याययन्ति, अथ कतमेन छन्दसा कया देवतया अयातयामानि उक्थानि प्रणयन्ति इति) वे कहते हैं—जब अग्निष्टोम ही यज्ञ होने पर सब देवताओं और सब छन्दों को वे बढ़ाते हैं, फिर कौन से छन्द से और किस देवता से समय के अनुकूल उक्थों को वे आगे लाते हैं। (गायत्रेण छन्दसा अग्निना देवतया इति ब्रूयात्) गायत्री छन्द से और अग्नि देवता से [समय के अनुकूल उक्थों को वे आगे लाते हैं]—ऐसा वह कहे। (यज्ञं तन्वानान् देवान् ह असुररक्षांसि यज्ञपर्वणि अभिचेरिरे, एषां यज्ञं तृतीयसवनं प्रति हनिष्यामः) यज्ञ फैलाते हुये देवताओं से असुर और राक्षस यज्ञ के उत्सव में अभिचार [छल प्रयोग] करने लगे—इनके यज्ञ को तीसरे सवन में हम नष्ट कर देंगे, (तृतीयसवने ह अरिष्टः यज्ञः तु बलिष्ठः, एषां प्रतनुं यज्ञं हनिष्यामः इति) तीसरे सवन में ही बिना बिगड़ा हुआ यज्ञ अति बलवान् होता है, इनके फैले हुए यज्ञ को हम नष्ट कर देंगे। (ते दक्षिणतः वरुणं, मध्यतः बृहस्पतिं, उत्तरतः विष्णुम् अयोजयन्) उन [देवताओं] ने दक्षिण ओर वरुण को, बीच में बृहस्पति को और उत्तर

द्यन्ते) विभिद्यन्ते। विनश्यन्ते (अयातयामानि) न यातो गतो याम उचितसमयो येषां तानि। समयानुकूलानि (अभिचेरिरे) अभिचारं कपटविचारं चक्रुः (अरिष्टः) अहिंसितः। सुरक्षितः (प्रतनुम्) विस्तृतम् (हनिष्यामः) नाशयिष्यामः (स्तु) अकारलोपः। अस्तु (व्यश्नवामहै) प्राप्नुयाम। समापयाम (मद्द्वितीयाः) अस्मद्—द्वितीय। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (पा० ७।२।९८) इति

में विष्णु को नियुक्त किया। (ते अब्रुवन्, एकैकाः स्मः इदं न उत्सहामहे इति, स्तु [अस्तु] नः द्वितीयः येन सह इदं व्यश्नवामहै इति) वे [तीनों] बोले--हम एक एक हैं, इस काम में हम उत्साह नहीं कर सकते, इसलिए हमारा कोई दूसरा [सहायक] हो। जिसके साथ इस काम को हम प्राप्त कर लें। (तान् इन्द्रः अब्रवीत्, सर्वे मद्-द्वितीयाः स्थ इति) उनसे इन्द्र बोला--तुम सब मुझे दूसरा [सहायक] रखने वाले हो। (ते सर्वे इन्द्र (= इन्द्रेण) द्वितीयाः, तस्मात् ऐन्द्रावारुणम्, ऐन्द्राबार्हस्पत्यम्, ऐन्द्रावैष्णवम् अनुशस्यते) वे सब इन्द्र के साथ सहाय वाले हैं, इसलिए इन्द्र-वरुण वाला, इन्द्र बृहस्पति वाला और इन्द्र-विष्णु वाला सूक्त निरन्तर बोला जाता है। (द्वितीयवन्तः ह वै एतेन स्वाः भवन्ति, द्वितीयवन्तः [= द्वितीयवान्] मन्यते, यः एवं वेद) इस [विधान] से ही दूसरे [सहायक] वाले अपने लोग होते हैं, दूसरे [सहायक] वाला वह माना जाता है जो ऐसा विद्वान् है ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य को चाहिये कि संसार में सङ्घटन करके कार्य सिद्धि करे ॥ ६ ॥

विशेषः—इस कण्डिका के लिए देखो ऐ० ब्रा० ६ । १३ तथा १४ ॥

कण्डिका ७ ॥

आग्नेयीषु मैत्रावरुणस्योक्थं प्रणयन्ति, वीर्यं वा अग्निः, वीर्येणैवास्मै तत् प्रणयन्ति। ऐन्द्रावारुणमनुशस्यते, वीर्यं वा इन्द्रः, क्षत्रं वरुणः, पशव उक्थानि, वीर्येणैव तत् क्षत्रेण चोभयतः पशून् परिगृह्णाति स्थित्या अनपक्रान्त्यै। ऐन्द्रीषु ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थं प्रणयन्ति, वीर्यं वा इन्द्रः वीर्येणैवास्मै तत् प्रणयन्ति। ऐन्द्राबार्हस्पत्यमनुशस्यते, वीर्यं वा इन्द्रः, ब्रह्म बृहस्पतिः पशव उक्थानि, वीर्येणैव तद्ब्रह्मणा चोभयतः पशून् परिगृह्णाति स्थित्या अनपक्रान्त्यै। ऐन्द्रीष्वच्छावाकस्योक्थं प्रणयन्ति, वीर्य्यं वा इन्द्रः, वीर्य्येणैवास्मै तत् प्रणयन्ति। ऐन्द्रावैष्णवमनुशस्यते, वीर्य्यं वा इन्द्रः, यज्ञो विष्णुः, पशव उक्थानि, वीर्येणैव तद्यज्ञेन चोभयतः पशून् परिगृह्य क्षत्रेऽन्ततः प्रतिष्ठापयति। तस्माद् क्षत्रियो भूयिष्ठं हि पशूनामीशते योऽधिष्ठाता प्रदाता, यस्मै प्रत्ता वेदा अवरुद्धाः तान्येतान्यैन्द्राणि। जागतानि शंसन्ति, अथो एतैरेव सेन्द्रं तृतीयसवनमेतैर्जागतं सवनं, धराणि ह वा अस्यैतान्युक्थानि भवन्ति, यन्नाभानेदिष्ठो बालखिल्यो वृषाकपिरेवयामरुत्, तस्मात् तानि सार्द्धमेवोपेयुः, सार्द्धमिदं रेतः सिक्तं समृद्धं, एकधा प्रजनयामेति ये ह वा एतानि नानूपेयुः, यथा रेतः सिक्तं विलुम्पेत कुमारं वा जातमङ्गशो विभजेत् तादृक् तत्। तस्मात्तानि सार्द्धमेवोपेयुः। सार्धमिदं रेतः सिक्तं समृद्धमेकधा प्रजनयामेति। शिल्पानि शंसति, यदेव शिल्पानि, एतेषां वै शिल्पानामनुकृतिर्हि शिल्पमधिगम्यते, हस्ती कंसो वासो हिरण्यमश्वतरी रथशिल्पं, शिल्पं हास्य समधिगम्यते, य एवं वेद, यदेव शिल्पानि शंसति तत् स्वर्गस्य

रूपसिद्धिः । अहं द्वितीयः सहायको येषां ते (इन्द्रम्) इन्द्रेण । वीर्येण—क० ७ (अनु) निरन्तरम् (मन्यते) ज्ञायते ॥.

लोकस्य रूपम् । यद्वेव शिल्पानि, आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पान्यात्मानमेवास्य तत् संस्कुर्वन्ति ॥ ७ ॥

कण्डिका ७ ॥ यज्ञ में उक्थों और शिल्पों का वर्णन ॥

(आग्नेयीषु मैत्रावरुणस्य उक्थं प्रणयन्ति) अग्नि देवता वाली ऋचाओं में मैत्रावरुण ऋत्विज् के उक्थ [स्तोत्र] को आगे लाते हैं । (वीर्यं वै अग्निः, वीर्येण एव अस्मै तत् प्रणयन्ति) वीर्य [पराक्रम] ही अग्नि है, वीर्य के साथ ही इस [यजमान] के लिये उस [उक्थ] को आगे लाते हैं । (ऐन्द्रावारुणम् अनुशस्यते) इन्द्र-वरुण देवता वाला [उक्थ] फिर बोला जाता है । (वीर्यं वै इन्द्रः क्षत्रं वरुणः, पशवः उक्थानि, तत् वीर्येण एव क्षत्रेण च उभयतः पशून् स्थित्याः अनपक्रान्त्यै परिगृह्णाति) वीर्य ही इन्द्र है, राज्य वरुण है, सब पशु उक्थ हैं, तप वीर्य के साथ और राज्य के साथ ही दोनों ओर से पशुओं को स्थिति [ठहराव] की अचलता [दृढ़ता] के लिये वह [यजमान] ग्रहण करता है । (ऐन्द्रीषु ब्राह्मणाच्छंसिनः उक्थं प्रणयन्ति) इन्द्र देवता वाली ऋचाओं में ब्राह्मणाच्छंसी के उक्थ को आगे लाते हैं । (वीर्यं वै इन्द्रः, वीर्येण एव अस्मै तत् प्रणयन्ति) वीर्य [पराक्रम] ही इन्द्र है, वीर्य के साथ ही इस [यजमान] के लिये उस [उक्थ] को आगे लाते हैं । (ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् अनुशस्यते) इन्द्र-बृहस्पति वाला उक्थ फिर बोला जाता है । (वीर्यं वै इन्द्रः, ब्रह्म बृहस्पतिः, पशवः उक्थानि, तत् वीर्येण एव ब्रह्मणा च उभयतः पशून् स्थित्याः अनपक्रान्त्यै परिगृह्णाति) वीर्य ही इन्द्र है, ब्रह्म [वेदज्ञान] बृहस्पति है, सब पशु उक्थ हैं, तब वीर्य के साथ और ब्रह्म के साथ ही दोनों ओर से पशुओं को स्थिति [ठहराव] की अचलता के लिये वह [यजमान] ग्रहण करता है । (ऐन्द्रीषु अच्छावाकस्य उक्थं प्रणयन्ति) इन्द्र देवता वाली ऋचाओं में अच्छावाक के उक्थ को आगे लाते हैं । (वीर्यं वै इन्द्रः, वीर्येण एव अस्मै तत् प्रणयन्ति) वीर्य [पराक्रम] ही इन्द्र है, वीर्य के साथ ही इस [यजमान] के लिये उस [उक्थ] को आगे लाते हैं । (ऐन्द्रावैष्णवम् अनुशस्यते) इन्द्र-विष्णु वाला उक्थ फिर बोला जाता है । (वीर्यं वै इन्द्रः, यज्ञः विष्णुः पशवः उक्थानि, तत् वीर्येण एव च यज्ञेन उभयतः पशून् परिगृह्य क्षत्रे अन्ततः प्रतिष्ठापयति) वीर्य ही इन्द्र है, यज्ञ [देव पूजनादि] विष्णु [व्यापक] है, सब पशु उक्थ हैं, तब वीर्य से साथ और यज्ञ के साथ ही दोनों ओर से पशुओं को ग्रहण करके राज्य पर अन्त में [यजमान को] स्थापित करता है । (तस्मात् उ क्षत्रियः भूयिष्ठं हि पशूनाम् ईशते यः अधिष्ठाता प्रदाता, यस्मै प्रत्ताः वेदाः अवरुद्धाः, तानि एतानि ऐन्द्राणि) इसलिये ही क्षत्रिय [राजा] बहुत करके ही पशुओं का स्वामी है, जो अधिष्ठाता और बड़ा दाता है और जिसके लिये [ऋषियों को] दिये हुये वेद रक्षित हैं, वह ही यह सब इन्द्र के कर्म हैं ॥

(जागतानि शंसन्ति) जगती छन्द वाले [उक्थों] को वे बोलते हैं । (अथो एतैः एव सेन्द्रं तृतीयसवनम्, एतैः जागतं सवनम्) फिर इन [उक्थों] करके ही

७—(आग्नेयीषु) अग्निदेवताकासु ऋक्षु (प्रणयन्ति) प्रकर्षेण प्राप्नुवन्ति (अनपक्रान्त्यै) अचलतायै (प्रतिष्ठापयति) स्थापयति (ईशते) ईष्टे । ईश्वरो

इन्द्र सहित तीसरा सवन है, इन ही करके जागत [जगत् का उपकारक] सवन है। (धराणि ह वै अस्य एतानि उक्थानि भवन्ति, यत् नाभानेदिष्ठः, बालखिल्यः वृषाकपिः, एवयामरुत्) धारण योग्य ही इस [सवन] के यह उक्थ हैं, जो नाभानेदिष्ठ [इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा, और ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता''''' ऋ० १० । ६१ तथा ६२, यह नाभानेदिष्ठ [वेद सम्बन्ध में अति समीप ऋषि वाले दो सूक्त], बालखिल्य [अभि प्रवः सुराधस''''' आदि, ऋ० ८ । ४९ । ५९ यह बालखिल्य [स्वीकार योग्य के ग्रहण करने वाले नाम के ग्यारह सूक्त], वृषाकपि [वि हि सोतोरसृक्षत'' ऋ० १० । ८६, यह वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले ऋषि वाला सूक्त] और एवयामरुत् [प्र वो महे मतयो यन्तु'''''ऋ० ५ । ८७] यह एवयामरुत् [पाने योग्य का प्राप्त कराने वाला शत्रुनाशक ऋषि का सूक्त] है । (तस्मात् तानि सार्द्धम् एव उपेयुः) इस लिये इन को एक साथ ही वे प्राप्त करें । (इदं रेतः सार्द्धं सिक्तं समृद्धम्, एकधा प्रजनयाम इति) यह वीर्य एक साथ सींचा हुआ सफल होता है, [इस लिये] एक प्रकार से [एक साथ] हम उत्पन्न करें । (ये ह वै एतानि न अनूपेयुः यथा रेतः सिक्तं विलुम्पेत, कुमारं वा जातं अङ्गशः विभजेत्, तादृक् तत्) जो [ऋत्विज् लोग] इन [उक्थों] को न लगातार प्राप्त करें, जैसे वीर्य सींचा हुआ छिन्न भिन्न हो जावे [तब] वह कुमार [गर्भस्थ बालक] अथवा उत्पन्न हुये बालक को अङ्ग अङ्ग से खण्डित कर देवे, वैसे ही वह [यज्ञ कर्म खण्डित] होता है । (तस्मात् तानि सार्द्धम् एव उपेयुः) इस लिये उन

भवति (अवरुद्धाः) रक्षिताः (धराणि) धारणीयानि । सहचराणि (नाभानेदिष्ठः) नहो भश्च (उ० ४ । १२६) णह बन्धने—इञ्, हस्य भः । सुपां सुलुक्० (पा० ७ । १ । ३९) नाभि—डा । अन्तिक–इष्ठन् । अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ (पा० ५ । ३ । ६३) नेदादेशः । नाभौ वेदसम्बन्धे नेदिष्ठोऽतिसमीपः । ऋषिविशेषः । नाभादिष्ठेन दृष्टम् उक्थम् (वालखिल्यः) वृञ् वरणे—घञ्, रस्य लः + खल कणशआदाने—क्यप् । व लं पर्व वृणोतेः—निरु० ११ । ३१ । वरणीयस्य स्वीकरणीयस्य ग्राहयिता । वालखिल्यसंज्ञकानि सूक्तानि (वृषाकपिः) कनिन् युवृषितक्षि० (उ० १ । १५६) वृष सेचने पराक्रमे च—कनिन्, यद्वा इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० ३ । १ । १३५) इति कप्रत्ययः । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च (उ० ४ । १४४) कपि चलने—इप्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते (पा० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घः । वृषाकपिः पदनाम—निघ० ५ । ६ । अथ यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद्वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः—निरु० १२ । २७ । हरविष्णू वृषाकपी—अमरः २३ । १३० । वृषाकपिः = विष्णुः शिवः, अग्निः, इन्द्रः, सूर्यः,—इति शब्दकल्पद्रुमः । वृषा बलवान्, कपिः कम्पयिता चेष्टयिता इन्द्रो जीवात्मा । ऋषिविशेषः । वृषाकपिदृष्टसूक्तम् (एवयामरुत्) इण्शीभ्यां वन् (उ० १ । १५२) इण् गतौ—वन् + या प्रापणे–कः, आर्षो दीर्घः । मृग्रोरुतिः (उ० १ । ९४) मृङ् प्राणत्यागे—उतिः । एवयः प्रापणीयस्य प्रापकश्चासौ मरुत् शत्रूणां मारयिता च । ऋषिविशेषः । एवयामरुत्संज्ञकेन दृष्टं सूक्तम् (उपेयुः) उप—ईयुः । प्राप्नुयुः (प्रजनयाम) उत्पाद-

[चार उक्थों] को एक साथ ही प्राप्त करें । (इदं रेतः सार्द्धं सिक्तं समृद्धम्, एकधा प्रजनयाम इति) यह वीर्य एक साथ सींचा हुआ सफल होता है, [इसलिये] एक प्रकार से [एक साथ] हम उत्पन्न करें ।।

(शिल्पानि शंसति) शिल्प [कला कौशल वाले नाभानेदिष्ठ ऋषि के सूक्तों, ऋ० १० । ६१, ६२] को वह बोलता है । (यत् एव शिल्पानि, एतेषां शिल्पानां वै अनुकृतिः, हि शिल्पम् अधिगम्यते) जो ही शिल्प सूक्त हैं, वे इन शिल्पों का अनुकरण [दृष्टान्त] हैं, क्योंकि [इनसे] शिल्प समझा जाता है। (हस्ती कंसः, वासः, हिरण्यम् अश्वतरी रथशिल्पम्) हाथी, कंस [चमकीला द्रव्य वा पात्र], वस्त्र, सुवर्ण आभूषण और खच्चरी रथ के शिल्प हैं। (शिल्पं ह अस्य समधिगम्यते, यः एवं वेद) शिल्प ही उस पुरुष का अच्छे प्रकार समझा जाता है, जो ऐसा विद्वान् है। (यत् एव शिल्पानि शंसति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो ही वह शिल्प सूक्तों को बोलता है, वह स्वर्ग लोक का रूप है । (यत् उ एव शिल्पानि, वै आत्मसंस्कृतिः, शिल्पानि एव अस्य आत्मानम् तत् संस्कुर्वन्ति) जो ही शिल्प कर्म हैं, वे ही आत्मा के संस्कार [शुद्ध वासनायें] हैं, शिल्प कर्म ही इस [मनुष्य] के आत्मा को तव संस्कार युक्त करते हैं ।। ७ ।।

भावार्थः – मनुष्यों को चाहिये कि वेदमन्त्रों को भली भांति विचार कर और शिल्पशास्त्र आदि विद्याओं में निपुण होकर आनन्द भोगें ।। ७ ।।

विशेषः—इस कण्डिका के लिये देखो ऐ० ब्रा० ५ । १५ तथा ६ । २७ ।।

कण्डिका ८ ।।

नाभानेदिष्ठं शंसति, रेतो वै नाभानेदिष्ठः । रेत एवास्य तत् कल्पयति । तद्रेतो मिश्रं भवति, क्षमया रेतः सञ्जग्मानो निषिञ्चदिति, रेतसः समृध्या एव । तं नाराशंसं शंसति, प्रजा वै नरः, वाक् शंसः, प्रजासु तद्वाचं दधाति । तस्मादिमाः प्रजा अदन्त्यो जायन्ते । तं हैके पुरस्तात् प्रगाथानां शंसन्ति, पुरस्तादायतना वागिति वदन्ते, उपरिष्टादेके । उपरिष्टादायतना वागिति वदन्तो मध्य एव शंसेत्, मध्यायतना वा इयं वाग्, उपरिष्टान्नेदीयसीव तं होता रेतोभूत शस्त्वा मैत्रावरुणाय सम्प्रयच्छति । एतस्य त्वं प्राणान् कल्पयेति बालखिल्याः शंसति, प्राणा वै बालखिल्याः, प्राणानेवास्य तत् कल्पयति । ता विहृताः शंसति, विहृता वै प्राणाः प्राणेनापानो अपानेन व्यानः । स पच्छः प्रथमे सूक्ते विहरति, अर्द्धर्चशो

याम (विलुम्पेत) लुप्लृ छेदेने । विनाशयेत् (विभजेत्) विभक्तं कुर्यात् (शिल्पानि) खष्पशिल्पशष्पवाष्प० (उ० ३ । २८) शील समाधौ—पः, ह्रस्वत्वम् । कौशलानि । शिल्पसूक्तानि (अनुकृतिः) अनुकरणम् । सदृशीकरणम् (कंसः) वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उ० । ३ । ६२) कमु कान्तौ—सः । तैजसद्रव्यं पात्रम् (हिरण्यम्) सुवर्णभूषणम् (आत्मसंस्कृतिः) आत्मनः शुद्धवासना (संस्कुर्वन्ति) शोधयन्ति ।।

द्वितीये, ऋक्शस्तृतीये । स यत् प्रथमे सूक्ते विहरति, वाचं चैव तन्मनश्च विहरति। यद् द्वितीये चक्षुश्चैव तच्छ्रोत्रं च विहरति । यत्तृतीये प्राणं चैव, तदात्मानं च विहरति । तदुपाप्तो विहरेत्, कामः, अन्ये तु वै प्रगाथाः कल्पयन्तेऽतिमर्शं समेव विहरेत् । तथा वै प्रगाथाः कल्पयन्ते । यदेवातिमर्शं, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेवातिमर्शं, आत्मा वै बृहती, प्राणाः सतोबृहती, स बृहतीमशंसीत् । स आत्माथ सतोबृहतीं, ते प्राणा अथ बृहतीमथ सतोबृहतीं, तदात्मानं प्राणैः परिवृहन्नेति । यद्वेवातिमर्शं, आत्मा वै बृहती, प्रजाः सतोबृहती स बृहतीमशंसीत् । स आत्माथ सतोबृहतीं ते प्रजा अथ बृहतीमथ सतोबृहतीं तदात्मानं प्रजया परिवृहन्नेति। यद्वेवातिमर्शं आत्मा वै बृहती पशवः सतोबृहती, स बृहतीमशंसीत् । स आत्माथ सतोबृहतीं, ते पशवो थ बृहतीं, अथ सतोबृहतीं तदात्मानं पशुभिः परिवृहन्नेति। तस्य मैत्रावरुणः प्राणान् कल्पयित्वा ब्राह्मणाच्छंसिने सम्प्रयच्छति । एतस्य त्वं प्रजनयेति, सुकीर्त्तिं शंसति, देवयोनिर्वै सुकीर्तिः तद्यज्ञियायां देवयोन्यां यजमानं प्रजनयति । वृषाकपिं शंसति, आत्मा वै वृषाकपिः, आत्मानमेवास्य तत् कल्पयति। तं न्यूङ्खयति, अन्नं वै न्यूङ्खः, अन्नाद्यमेवास्मै तत् सम्प्रयच्छति, यथा कुमाराय जाताय स्तनम् । स पाङ्क्तो भवति, पाङ्क्तो ह्ययं पुरुषः पञ्चधा विहितः लोमानि त्वगस्थिमज्जामस्तिष्कम् । स यावानेव पुरुषस्तावन्तं यजमानं संस्कृत्याच्छावाकाय सम्प्रयच्छति । एतस्य त्वं प्रतिष्ठां कल्पय, इत्येवयामरुतं शंसति, प्रतिष्ठा वा एवयामरुत् प्रतिष्ठाया एवैनमन्ततः प्रतिष्ठापयति । याज्यया यजति, अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यमेवास्मै तत् प्रयच्छति ॥ ८ ॥

कण्डिका ८ ॥ नाभानेदिष्ट, नाराशंस, बालखिल्य, प्रगाथ, बृहती, सतोबृहती, वृषाकपि, न्यूङ्ख, एवयामरुत् और याज्या का विनियोग ॥

(नाभानेदिष्ठं शंसति) नाभानेदिष्ठ [नाभानेदिष्ठ ऋषि वाले सूक्त—क० ७] को वह [होता] बोलता है । (रेतः वै नाभानेदिष्ठः, अस्य रेतः एव तत् कल्पयति) वीर्य ही नाभानेदिष्ठ [वेद सम्बन्ध में अति समीप पदार्थ] है, इस [यजमान] के वीर्य को ही उस से वह समर्थ करता है । (तत् रेतः मिश्रं भवति, क्षमया सञ्जग्मानः रेतः निषिञ्चत् इति, रेतसः समृध्यै एव) फिर वीर्य [रज के साथ] मिला हुआ होता है, [जैसे] पृथिवी के साथ संगति करता हुआ [सूर्य] जल सींचता रहता है [वैसे ही] वीर्य की सफलता के लिए ही [यह कर्म है]। (तं नाराशंसं शंसति) उस नाराशंस [नाभानेदिष्ठ ऋषि वाले सूक्त—ऋ० १० । ६२ । १–११] को वह बोलता है । (प्रजाः वै नरः वाक् शंसः, प्रजासु तत् वाचं दधाति) प्रजायें ही नर हैं, और वाणी शंस है [अर्थात् नर + शंस = नाराशंस] प्रजाओं में उससे वाणी [जिह्वा] को वह स्थापित

८—(कल्पयति) समर्थयति (मिश्रम्) रजसा मिश्रितम् (क्षमया) भूम्या—निघ० १ । १ (रेतः) वीर्यम् । उदकम्—निघ० १ । १२ (सञ्जग्मानः)

करता है। (तस्मात् इमाः प्रजाः अदन्त्यः जायन्ते) इस लिए यह प्रजायें बिना दांत वाली उत्पन्न होती हैं [क्योंकि जीभ बिना दांत की है]। (तं ह एके प्रगाथानां पुरस्तात् शंसन्ति, पुरस्तादायतना वाक् इति वदन्ते) उस [नाराशंस सूक्त] को ही कोई २ ऋषि प्रगाथों [दो दो मन्त्रों के समूहों] के पहिले बोलते हैं, [मुख में] पहिले स्थान वाली वाणी है - ऐसा वे कहते हैं। (एके उपरिष्टात्, उपरिष्टादायतना वाक् इति वदन्तः) कोई कोई [प्रगाथों के] पीछे [बोलते हैं], पीछे [मुख के मूर्धा आदि] स्थान वाली वाणी है—ऐसा वे कहते हैं। (मध्ये एव शंसेत्, मध्यायतना वै इयं वाक्) [प्रगाथों के] मध्य में ही [नाराशंस] बोले, मध्य [शरीर में नाभि हृदय आदि] स्थान वाली ही यह वाणी है। (उपरिष्टात् नेदीयसि इव तं रेतोभूतं शस्त्वा होता मैत्रावरुणाय संप्रयच्छति) उपरान्त अत्यन्त निकट वाले [नाभानेदिष्ठ के सूक्त के अन्त के अत्यन्त समीप भाग] में ही उस वीर्य रूप सूक्त को बोल कर होता मैत्रावरुण को [यजमान को] देता है—(एतस्य प्राणान् त्वं कल्पय इति) इसके प्राणों को तू समर्थ कर ॥

(बालखिल्याः शंसति) बालखिल्य ऋचाओं को [क० ७] वह [मैत्रावरुण] बोलता है। (प्राणाः वै बालखिल्याः अस्य प्राणान् एव तत् कल्पयति) प्राण ही बालखिल्य [स्वीकार योग्य के ग्रहण कराने वाले] हैं, इस [यजमान] के प्राणों को ही उससे वह समर्थ करता है। (ताः विहृताः शंसति, विहृताः वै प्राणाः, प्राणेन अपानः, अपानेन व्यानः) उन्हें आपस में मिली हुई वह बोलता है, आपस में मिले हुये ही प्राण [श्वास मात्र] हैं, प्राण [भीतर जाने वाले श्वास] के साथ अपान [बाहर निकलने वाला श्वास], और अपान के साथ व्यान [समस्त शरीर में फैला वायु मिला हुआ है]। (सः पच्छः प्रथमे सूक्ते विहरति, अर्धर्चशः द्वितीये, ऋक्शः तृतीये) वह पाद पाद करके पहिले सूक्त में [बालखिल्य ऋचाओं को] बोलता है आधी आधी ऋचाओं से दूसरे में ऋचा ऋचा से तीसरे में। (सः यत् प्रथमे सूक्ते विहरति, तत् वाचं च एव मनः च विहरति) वह जो पहिले सूक्त में [बालखिल्य ऋचाओं को] संयुक्त करता है उस से वाणी और मन को ही संयुक्त करता है। (यत् द्वितीये, तत् चक्षुः च एव श्रोत्रं च विहरति) वह जो दूसरे में [संयुक्त करता है।] उससे आंख और कान को ही संयुक्त करता है। (यत् तृतीये, तत् प्राणं च एव आत्मानं च विहरति) वह जो तीसरे [सूक्त] में [जोड़ता है], उससे प्राण को और आत्मा को ही वह जोड़ता है। (तत् उपाप्तः कामः, विहरेत्) उससे कामना प्राप्त हुई, वह [वैसा ही] जोड़े। (अन्ये तु वै प्रगाथाः कल्पयन्ते, अतिमर्शम् एव सं विहरेत्) कोई कोई तो प्रगाथाओं को मानते

सङ्गं प्राप्तः (निषिश्चत्) निषिश्चति (अदन्त्यः) नञ्+दन्त—ङीप्। दन्तशून्याः (पुरस्तादायतना) पूर्वभागस्थाना (उपरिष्टादायतना) उपरिष्टात् मूर्ध्नि आयतनं स्थानं यस्याः सा (मध्यायतना) शरीरमध्ये नाभ्यादौ स्थानं यस्याः सा (उपरिष्टान्नेदीयसि) उपरिष्टात् नाभानेदिष्ठसूक्तस्यावसानभागस्यात्यन्तसमीपवर्तिनि भागे (इव) एव (विहृताः) परस्परव्यतिषिक्ताः। परस्परसंगताः (पच्छः) पद्—शः। पादेन पादेन (विहरति) योजयति। शंसति (उपाप्तः) प्राप्तः

हैं, अतिमर्श [मन्त्रों के अत्यन्त संयोग] को ही वह बोले—(तथा वै प्रगाथाः कल्पयन्ते) इस प्रकार से ही वे प्रगाथाओं को मानते हैं । (यत् एव अतिमर्शम्, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो ही अतिमर्श [मन्त्रों का मिलान] है, वह स्वर्गलोक का रूप है ।(यत् उ एव अतिमर्शम्, आत्मा वै बृहती, प्राणाः सतोबृहती) जो ही अतिमर्श [मिलान] है, आत्मा ही बृहती छन्द है और प्राण सतोबृहती छन्द हैं । (सः बृहतीम् अशंसीत्, सः आत्मा, अथ सतोबृहतीम्, ते प्राणाः अथ बृहतीम् अथ सतोबृहतीं तत् आत्मानं प्राणैः परिवृहन् एति) [जो] वह बृहती छन्द बोलता है, वह आत्मा है, फिर सतोबृहती छन्द को, वे प्राण हैं, फिर बृहती फिर सतोबृहती को [बोलता है], उससे आत्मा को प्राणों के साथ बढ़ाता हुआ वह चलता है । (यत् उ एव अतिमर्शम्, आत्मा वै बृहती, प्रजाः सतोबृहती) क्योंकि यह ही अतिमर्श [मिलान] है, आत्मा ही बृहती है, और प्रजायें सतोबृहती । (सः बृहतीम् अशंसीत् सः आत्मा, अथ सतोबृहतीं, ते [=ताः], प्रजाः, अथ बृहतीम् अथ सतोबृहतीं तत् आत्मानं प्रजया परिवृहन् एति) वह जो बृहती को बोलता है वह आत्मा है, फिर जो सतोबृहती को, वे प्रजायें हैं, फिर जो बृहती को फिर सतोबृहती को [मिला कर बोलता है], उस से आत्मा को प्रजा के साथ बढ़ाता हुआ वह चलता है । (यत् उ एव अतिमर्शम्, आत्मा वै बृहती, पशवः सतोबृहती) क्योंकि यह भी अतिमर्श [अत्यन्त विचार] है—आत्मा ही बृहती है और पशु सतोबृहती हैं । (सः बृहतीम् अशंसीत् सः आत्मा, अथ सतोबृहतीम्, ते पशवः, अथ बृहतीम् अथ सतोबृहतीं, तत् आत्मानं पशुभिः परिवृहन् एति) [जो] वह बृहती छन्द बोलता है वह आत्मा है फिर सतोबृहती को, वे सब पशु हैं, फिर बृहती को फिर सतोबृहती को [बोलता है], उससे आत्मा को पशुओं के साथ बढ़ाता हुआ वह चलता है ॥

(मैत्रावरुणः तस्य प्राणान् कल्पयित्वा ब्राह्मणाच्छंसिने सम्प्रयच्छति-त्वम् एतस्य प्रजनय इति) मैत्रावरुण इस [यजमान] के प्राणों को समर्थ करके [उसे] ब्राह्मणाच्छंसी को देता है—तू इस का उत्तम जन्म कर । (सुकीर्त्तिं शंसति, देवयोनिः वै सुकीर्तिः, तत् यज्ञियायां देवयोन्यां यजमानं प्रजनयति) वह [ब्राह्मणाच्छसी] सुकीर्ति [सुकीर्ति ऋषि के देखे हुये सूक्त—अप प्राच इन्द्र विश्वाँ—ऋ० १० । १३१ । १–७] को बोलता है, देवों [दिव्य गुणों] की उत्पत्ति स्थान सुकीर्ति [उत्तम बड़ाई] है, तब पूजनीय दिव्य गुणों की उत्पत्ति स्थान में यजमान को उत्तम जन्म देता है । (वृषाकपिं शंसति, आत्मा वै वृषाकपिः अस्य आत्मानम् एव तत् कल्पयति) वृषाकपि [वृषाकपि के देखे सूक्त—क० ७] को वह बोलता है आत्मा ही वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाला] है, उस के आत्मा को ही तब वह समर्थ करता है । (तं न्यूङ्खयति) उस [वृषाकपि सूक्त] को न्यूङ्ख युक्त करता है [क० १] । (अन्नं वै न्यूङ्खः, अन्नाद्यम् एव अस्मै तत्

(कल्पयन्ते) रचयन्ति (अतिमर्शम्) संयोगम् (परिवृहन्) परिवर्धयन् (एति) गच्छति । प्रवर्तते (सुकीर्तिम्) सुकीर्तिनामकेन ऋषिणा दृष्टं सूक्तम्—ऋ० १० । १३१ (तं न्यूङ्खयति) तं वृषाकपिं न्यूङ्खयुक्तं करोति (पाङ्क्तः) पङ्क्तिविंशति० (पा० ५ । १ । ५९) पञ्चन्—तिप्रत्ययः, टिलोपः, पङ्क्ति—

सम्प्रयच्छति, यथा जाताय कुमाराय स्तनम्) अन्न ही न्यूङ्ख है, खाने योग्य अन्न ही उस [यजमान] को तब वह देता है, जैसे उत्पन्न हुये बच्चे को स्तन [माता देती है]। (सः पाङ्क्तो भवति, पाङ्क्तः हि अयम् पुरुषः पञ्चधा विहितः, लोमानि त्वक् अस्थि मज्जा मस्तिष्कम्) वह न्यूङ्ख पाङ्क्त [पङ्क्ति छन्द पाँच पाद वाला] है, पाङ्क्त [पाँच परिमाण वाला] ही यह पुरुष है [जो] पाँच प्रकार से विधान किया गया है—लोम, त्वचा, हड्डी, मज्जा और मस्तिष्क [भेजा] ।।

(यावान् एव पुरुषः, सः तावन्तं यजमानं संस्कृत्य अच्छावाकाय सम्प्रयच्छति त्वम् एतस्य प्रतिष्ठां कल्पय इति) जितना ही पुरुष है, वह [ब्राह्मणाच्छंसी] उतना यजमान को शुद्ध करके अच्छावाक को देता है—तू इस [यजमान] की प्रतिष्ठा कर । (एवयामरुतं शंसति) वह [अच्छावाक] एवयामरुत् सूक्त [क० ७] बोलता है । (प्रतिष्ठा वै एवयामरुत्, प्रतिष्ठायै एव एनम् अन्ततः प्रतिष्ठापयति) प्रतिष्ठा [गौरव] ही एवयामरुत् [पाने योग्य का प्राप्त कराने वाला शत्रु नाशक] है, प्रतिष्ठा के लिये ही इस [यजमान] को अन्त में वह स्थापित करता है । (याज्यया यजति) वह याज्या [ऋचा] से यज्ञ करता है । (अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यम् एव अस्मै तत् प्रयच्छति) अन्न ही याज्या है, खाने योग्य अन्न ही इस [यजमान] को वह उससे देता है ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य वेद मन्त्रों के तत्त्व को समझकर आत्मपुष्टि करते हैं, वे ही अपनी और दूसरों की उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

विशेषः—इस कण्डिका को मिलाओ—ऐ० ब्रा० ६ । २७, २८, २९, ३० ॥

कण्डिका ९ ॥

तानि वा एतानि सहचरणानीत्याचक्षते, यन्नाभानेदिष्ठो बालखिल्यः, वृषाकपिरेवयामरुतानि सह वा शंसेत् सह वा न शंसेत् । यदेषामन्तरीयात् तद्यजमानस्यान्तरीयात् । यदि नाभानेदिष्ठं रेतोस्यान्तरीयात्, यदि बालखिल्याः प्राणानस्यान्तरीयात्, यदि वृषाकपिमात्मानमस्यान्तरीयात्, यदेवयामरुतं प्रतिष्ठा वा एवयामरुत्, प्रतिष्ठाया एवैनन्तꣳ श्रावयेत्, दैव्याश्च मानु[1]ष्याश्च तानि सह वा शंसेत्, सह वा न शंसेत् । स ह बुडिल आश्वितरा स्युर्विश्वजितो होता सन्नो[2]क्षाञ्चक्रे, एतेषां वा एषां शिल्पानां विश्वजिति सांवत्सरिके द्वे होतुरुक्थे माध्यन्दिनमभिप्रच्यवेते । हन्ताहमिच्छमेवयामरुतं शंस[3]यानीति, तद्ध तथा शंसयाञ्चक्रे। तद्ध तथा शंसमाने गोश्ल आजगाम । स होवाच, होतः कथा ते शस्त्रं विचक्रं प्लवत इति, किं ह्यभूदित्येवयामरुदयमुत्तरतः शस्यत इति । स होवाच, इन्द्रो वै माध्यन्दिनः, कथेन्द्रं माध्यन्दिनान्यनीकसीति, नेन्द्रं माध्यन्दिनान्यनीषा-

---

अण् । पञ्चपरिमाणयुक्तः । पञ्चधाविहितः (संस्कृत्य) संशोध्य । अन्यद् गतम्—क० ७ ॥

---

१. पू. सं. 'मनुष्याश्च' इति पाठः ॥ २. पू. सं. 'सदीक्षाञ्चक्रे इति पाठः ॥
३. पू. सं. 'शस्ययानि' इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

मिति । स होवाच, छन्दस्त्वदमु माध्यन्दिनं, सातिजागतं वातिजागतं वा स उ मारुतो मैवं संसृष्टेति [शंसिष्टेति]। स होवाच, अरमच्छावाकेत्यथास्मिन्ननुशासनमीषे। स होवाच, इन्द्रमेष विष्णुन्यङ्गानि शंसति, अथ त्वं होतुरुपरिष्टाद्रौद्रिया धाय्या, या पुरस्तान्मारुतस्य सूक्तस्याप्यस्यधा इति। तथेति। तदप्येतर्हि तथैव शस्यते, यथा षष्ठे पृष्ठ्याहनि। कल्पत एव यज्ञः, कल्पते यजमानस्य प्रजापतिः, कथमत्राशस्त एव नाभानेदिष्ठो भवति। अथ बालखिल्याः शंसति, रेतो वा अग्रेऽथ प्राणाः एवं ब्राह्मणाच्छंस्यशस्त एव नाभानेदिष्ठो भवति। अथ वृषाकपिं शंसति, रेतो वा अग्रेऽथात्मा, कथमत्र यजमानस्य प्रजापतिः, कथं प्राणा अवरुद्धा भवन्तीति। यजमानं वा एतेन सर्वेण यज्ञक्रतुना संस्कुर्वन्ति, स यथा गर्भो योन्यामन्तरेव[1] सम्भवञ्छेते, न ह वै सकृदेवाग्रे सर्वं सम्भवति, एकैकं वाङ्गं सम्भवति। सर्वाणि चेत्समानेऽहनि क्रियेरन्, कल्पत एव यज्ञः, कल्पते यजमानस्य प्रजापतिः। अथ हैव एवयामरुतं होता शंसेत्, तस्यास्य प्रतिष्ठा, तस्या एवैनमन्ततः प्रतिष्ठापयति प्रतिष्ठापयति ॥ ८ ॥

कण्डिका ९ ॥ नाभानेदिष्ठ, बालखिल्य, वृषाकपि और एवयामरुत् सहचरणों का वर्णन तथा बुडिल और गोश्ल के प्रश्नोत्तर ॥

(तानि वै एतानि सहचरणानि इति आचक्षते, यत् नाभानेदिष्ठः, बालखिल्यः, वृषाकपिः एवयामरुत्, तानि सह वा शंसेत्, सह वा न शंसेत्) वे ही यह सहचरण [एक दिन में बोले गये सूक्त] हैं, ऐसा वे [ब्रह्मवादी] कहते हैं, जो नाभानेदिष्ठ, बालखिल्य, वृषाकपि और एवयामरुत् [क० ७] हैं, उनको अथवा वह एक साथ ही बोले, अथवा एक साथ न बोले। (यत् एषाम् अन्तरीयात्, तत् यजमानस्य अन्तरीयात्) जो इनमें से कुछ वह छोड़ दे, उससे यजमान का नाश करे। (यदि नाभानेदिष्ठम्, अस्य रेतः अन्तरीयात्) यदि नाभानेदिष्ठ को [छोड़े], इस के वीर्य को वह नष्ट करे, (यदि बालखिल्याः, अस्य प्राणान् अन्तरीयात्) यदि बालखिल्याओं को [वह छोड़े !] इस के प्राणों को वह नष्ट करे। (यदि वृषाकपिम्, अस्य आत्मानम् अन्तरीयात्) यदि वृषाकपि को [वह छोड़े] वह इस के आत्मा को नष्ट करे। (यत् एवयामरुतम्, प्रतिष्ठा वै एवयामरुत्, दैव्याः च मानुष्याः च प्रतिष्ठायाः एव एनं तं श्रावयेत्) यदि एवयामरुत् को वह छोड़े प्रतिष्ठा ही एवयामरुत् है, दैवी [दिव्य गुण वाली] और मानुषी [मननशीलों वाली] प्रतिष्ठा से ही इस [यजमान] को वह निकाल देवे। (तानि सह वा शंसेत्, सह वा न शंसेत्) उनको अथवा वह एक साथ ही बोले, अथवा एक साथ न बोले ॥

९—(सहचरणानि) एकस्मिन् दिने सह शंसनीयानि शिल्पसूक्तानि (अन्तरीयात्) विच्छेदो भेदो भवेत्। विनाशयेत् (श्रावयेत्) श्रु गतौ। गमयेत्। च्यावयेत् (दैव्याः) देवसंबन्धिन्याः (मानुष्याः) मनुष्यसम्बन्धि-

---

१. योन्यामन्तरेव इत्यस्यानन्तरं जर्मनसंस्करणे "प्राणानस्यान्तरियाद्यदि वृषाकपिमात्मानमस्यान्तरियाद्यद्येव या" इत्यधिकः पाठः ॥ सम्पा० ॥

(सः ह बुडिलः, आश्वितराः स्युः, विश्वजितः होला सन् ईक्षांचक्रे एतेषां वै एषां शिल्पानां सांवत्सरिके विश्वजिति होतुः द्वे उक्थे माध्यन्दिनम् अभि प्रच्यवेते) वह [प्रसिद्ध] बुडिल [त्यागी ऋषि] यह विचार कर, कि [यह लोग] बलवान् पुरुषों के तराने वाले हों, विश्वजित् यज्ञ का होता होकर विचारने लगा—इन शिल्पों [नाभानेदिष्ठ आदि] के संवत्सर रहने वाले विश्वजित् यज्ञ में होता के दो उक्थ माध्यन्दिन सवन पर होते हैं। (हन्त, अहम् इच्छम् एवयामरुतं शंसयानि इति, तत् ह तथा शंसयाश्चक्रे) हर्ष है—मैंने चाहा है—मैं एवयामरुत् सूक्त बोलूँ—उसको उसने उसी प्रकार उच्चारण कराया। (तत् ह तथा शंसमाने गोश्लः आजगाम) तब ही वैसा बोले जाने पर गोश्ल [वेदवाणी का सेवक, ऋषि] आ गया। (सः ह उवाच, होतः कथा ते शस्त्रं विचक्रं प्लवते इति) वह गोश्ल बोला—हे होता! कैसे तेरा स्तोत्र बिना पहिये चलता है। (किं हि अभूत् इति) [बुडिल बोला] क्या ही [दोष] हुआ है। (एवयामरुत् अयम् उत्तरतः शस्यते [शंसति] इति)। [गोश्ल बोला] एवयामरुत् सूक्त को यह [अच्छावाक] उत्तर ओर से बोलता है। (सः ह उवाच, इन्द्रः [ऐन्द्रः] वै माध्यन्दिनः, कथा इन्द्रं माध्यन्दिनानि अनीकसि इति) वही [गोश्ल फिर] बोला—इन्द्र देवता वाला ही माध्यन्दिन सवन है, कैसे इन्द्र को माध्यन्दिन सूक्तों से तूने निकाला है। (इन्द्रं माध्यन्दिनानि न अनीषाम् इति) [बुडिल बोला] इन्द्र को माध्यन्दिन सूक्तों से मैंने नहीं निकाला। (सः उवाच, इदम् उ छन्दः तु माध्यन्दिनं साति जागतं वा अतिजागतं वा) वह [गोश्ल] बोला—यह छन्द तो माध्यन्दिन के अवसान में जगती छन्द वा अतिजगती छन्द [तो ठीक है, परन्तु] (सः उ मारुतः, एवं मा संसृष्ट [शंसिष्ट] इति) वह [स्तोम] मरुत् देवता वाला है, इस प्रकार वह [उसे] न बोले। (सः ह उवाच अरम् अच्छावाक इति, अथ अस्मिन् अनुशासनम् ईषे) वह [बुडिल] बोला—हे अच्छावाक! बस [चुप रह], क्योंकि इसमें [गोश्ल का] अनुशासन मैं मानता हूं। (सः ह उवाच एषः इन्द्रं विष्णुं न्यङ्गानि शंसति=शंसतु) वह [गोश्ल] बोला—यह अच्छावाक इन्द्र को विष्णु के चिह्नों सहित

न्याः (बुडिलः) बुड त्यागे संवरणे च—इलच्, कित्। त्यागी। ऋषिविशेषः (आश्वितराः) अश्व—इञ् स्वार्थे+तॄ तारणे—अप् आश्वीनाम् अश्वानां बलवत्पुरुषाणां तारकाः (ईक्षाञ्चक्रे) विचारितवान् (अभि) अभिलक्ष्य (प्रच्यवेते) प्रवर्तेते (हन्त) हर्षोऽस्ति (इच्छम्) लङि आर्षरूपम्। ऐच्छम् (शंसयाञ्चक्रे) शंसनं कारितवान् (गोश्लः) गो+श्रिञ् सेवायां—डप्रत्ययः, रस्य लः। वेदवाणीसेवकः। ऋषिविशेषः (कथा) कथम् (विचक्रम्) चक्ररहितं (प्लवते) गच्छति प्रवर्तते (उत्तरतः) उत्तरस्यां दिशि (अनीकसि) णीञ् प्रापणे—लुङ्, आर्षम्। अनैषीः। प्रेरितवान् असि (अनीषाम्) लुङ्, आर्षम्। अनैषम्। प्रेरितवान् अस्मि (साति) ऊतियूतिजूतिसाति० (पा० ३।३।९७) षो अन्तकर्मणि यद्वा षै क्षये—क्तिन्, विभक्तेर्लुक्। सातौ। अवसाने (मा संसृष्ट) मा शंसिष्ट। शंसनं मा करोतु (अरम्) अलम्। पर्याप्तम् (ईषे) ईष गतौ। गच्छामि। प्राप्नोमि (विष्णुम्) विष्णोः (न्यङ्गानि) लिङ्गानि (होतुः)

मन्त्रों [ऋ० ६ । २० । १-१३ जिसके दूसरे मन्त्र में विष्णु शब्द है और जो इन्द्र देवता वाला है] बोले । (अथ त्वम् होतुः [होतः] उपरिष्टात् या रौद्रिया धाय्या, अस्य मारुतस्य सूक्तस्य पुरस्तात् अपि धाः इति) और तू हे होता ! अन्त में जो रुद्र देवता वाली धाय्या है, [उसको] इस मारुत सूक्त के पहिले ही धारण कर । (तथा इति)। [बुडिल बोला] वैसा ही हो । (तत् अपि एतर्हि तथा एव शस्यते, यथा षष्ठे पृष्ठ्याहनि) वह अब भी वैसा ही बोला जाता है, जैसे पृष्ठ्याह यज्ञ के छठे दिन ॥

(यज्ञः एव कल्पते, यजमानस्य प्रजापतिः कल्पते, कथम् अत्र नाभानेदिष्ठः अशस्तः एव भवति) यज्ञ ही समर्थ होता है और यजमान का प्रजापालक व्यवहार समर्थ होता है, कैसे यहाँ नाभानेदिष्ठ स्तोम बिना बोला हुआ ही रहता है । (अथ बालखिल्याः शंसति, रेतः वै अग्रे अथ प्राणाः, एवं ब्राह्मणाच्छंसी [ब्राह्मणाच्छंसिना] नाभानेदिष्ठः अशस्तः एव भवति) फिर वह बालखिल्य ऋचायें बोलता है, वीर्य ही पहिले है फिर प्राण हैं, इस प्रकार ब्राह्मणाच्छंसी करके नाभानेदिष्ठ स्तोम बिना बोला हुआ ही होता है । (अथ वृषाकपिं शंसति, रेतः वै अग्रे अथ आत्मा, कथम् अत्र यजमानस्य प्रजापतिः कथं प्राणाः अवरुद्धाः भवन्ति इति) फिर वृषाकपि [वृषाकपि वाले स्तोम] को वह बोलता है, वीर्य ही पहिले फिर आत्मा होता है, कैसे यहाँ यजमान का प्रजापालक व्यवहार [समर्थ होता है], और कैसे प्राण रक्षित होते हैं । (यजमानं वै एतेन सर्वेण यज्ञक्रतुना संस्कुर्वन्ति, यथा सः गर्भः योन्याम् अन्तः एव सम्भवन् शेते) [उत्तर] यजमान को ही इस सब यज्ञ कर्म से वे संस्कार युक्त करते हैं, जैसे गर्भ गर्भाशय के भीतर ही उत्पन्न होता हुआ रहता है । (सर्वं सकृत् एव अग्रे न ह वै सम्भवति, एकैकं वा अङ्गं सम्भवति) सब एक बार ही पहिले नहीं समर्थ होता, एक एक ही अङ्ग समर्थ होता है । (सर्वाणि चेत् समाने अहनि क्रियेरन्, यज्ञः एव कल्पते, यजमानस्य प्रजापतिः कल्पते) जो सब [शिल्प स्तोत्र] एक दिन में किये जावें, यज्ञ अवश्य समर्थ होता है, और यजमान का प्रजापालक व्यवहार समर्थ होता है । (अथ ह एव एवयामरुतं होता शंसेत्, तस्य अस्य प्रतिष्ठा, तस्यै एव एनम् अन्ततः प्रतिष्ठापयति प्रतिष्ठापयति) फिर ही एवयामरुत् स्तोम को होता बोले, उस [यजमान] की प्रतिष्ठा है, उस [प्रतिष्ठा] के लिए ही इस [एवयामरुत् स्तोम] को अन्त में वह स्थापित करता है, वह स्थापित करता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य यज्ञ के अङ्ग अङ्ग के विचार के साथ यज्ञ सिद्धि करके प्रतिष्ठा पावे ॥ ६ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका के लिये देखो पीछे क० ७ । ८ और ऐ० ब्रा० ५ । १५ और ६ । ३०, ३१ ॥

विशेषः २—संकेतित मन्त्रों में से दो मन्त्र यहाँ लिखते हैं, शेष वेद में देखो—द्यौर्न य इन्द्राभि भूमार्यस्तस्थौ रयिः शवसा पृत्सु जनान् । तं नः सहस्र-

---

हे होतः (धाः) अधाः । धेहि (प्रजापतिः) प्रजातिः । जन्म (अवरुद्धाः) रक्षिताः (संस्कुर्वन्ति) संस्कारयुक्तं कुर्वन्ति (योन्याम्) गर्भाशये (सम्भवन्) उत्पन्नः सन् (शेते) वर्तते (कल्पते) समर्थयते ॥]

भरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम् । १ । दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सत्रा-सुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम् । अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः । २ । ऋ० ६ । २० । १, २ ॥

१—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यः रयिः) जो धन (द्यौः न भूम) सूर्य के समान सत्तामात्र को, (शवसा) बल से (पृत्सु) सङ्ग्रामों में (अर्यः = अरेः) वैरी के (जनान्) मनुष्यों को (अभि तस्थौ) वश में करता है। (सहसः सूनो) हे बल से प्रेरणा करने वाले [शूर !] (नः) हमें (तम्) उस (सहस्रभरम्) सहस्रों पदार्थ धारण करने वाले, (उर्वरासाम्) उपजाऊ भूमि के सेवने वाले (वृत्रतुरम्) शत्रुओं के नाश करने वाले [धन] को (दद्धि) दें ॥ १ ॥

२—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (दिवः = दिवे न) सूर्य समान (तुभ्यम्) तेरे लिये (सत्रा) सत्य से (विश्वम्) सब (असुर्यम्) असुरों का ऐश्वर्य (देवेभिः) विद्वानों करके (अनु धायि) निरन्तर धारण किया गया है। (ऋजीषिन्) हे सरल धर्म वाले ! (यत्) जब कि तूने (वृत्रम्) वैरी को, (विष्णुना) बिजुली से (सचानः) मिले हुए [सूर्य के समान] (अपः) जलों को (वव्रिवांसम्) बांटने वाले (अहिम्) मेघ को (हन्) मारा है ॥ २ ॥

कण्डिका १० ॥

देवक्षेत्रं वै षष्ठमहः । देवक्षेत्रं वा एत आगच्छन्ति, ये षष्ठमहरागच्छन्ति । न वै देवा अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति, नर्त्तुर्ऋतोर्गृहे वसतीत्याहुः, तद्यथायथ-मृत्विज ऋतुयाजान् यजन्त्यसम्प्रदायम्, तद्यदृतून् कल्पयति, यथायथं जनिता। तदाहुः नर्त्तुप्रैषी प्रेष्येयुर्नर्त्तुप्रैषी वषट्कुर्युः, वाग्वा ऋतुप्रैषा, आप्यायते वै वाक् षष्ठेऽहनीति । यदृतुप्रैषी प्रेष्येयुः, यदृतुप्रैषी वषट्कुर्युः, वाचमेव तदाप्तां शान्तामृक्तवतीं वहरावणीमृच्छेयुः, अच्युताद्यज्ञस्य च्यवेरन्, यज्ञान् प्राणान् प्रजायाः पशुभ्यो जिह्मायेयुः, तस्मादृग्मेभ्य एव प्रेषितव्यमृग्मेभ्योऽधि वषट्कृत्यम् । तन्न वाचमाप्तां शान्तामृक्तवतीं वहरावणीमृच्छन्ति, नाच्युताद्यज्ञस्य च्यवेरन्, यज्ञान् प्राणान् प्रजायाः, पशुभ्यो जिह्मायन्ति । पारुच्छेपीरुपदधति, द्वयोः सव-नयोः पुरस्तात् प्रस्थितयाज्यानाम् । रोहितं वै नामैतच्छन्दः, यत् पारुच्छेपम् । एतेन ह वा इन्द्रः सप्त स्वर्गाल्लोकानारोहत् । आरोहति सप्त स्वर्गाल्लोकान्, य एवं वेद । तदाहुः, यत् पञ्चपद एव पञ्चमस्याह्नोरूपं, षट्पदात् षष्ठस्य, अथ कस्मात् सप्तपदात् षष्ठेऽहनि शस्यन्त इति । षड्भिरेव पदैः षष्ठमहरवाप्नुवन्ति, विच्छिद्ये[1] वै तदहः, यत् सप्तमम् । तदेव सप्तमेन पदेनाभ्यारुह्य वसन्ति, सन्त-तैस्त्र्यहैरव्यवच्छिन्नैर्यन्ति, य एवं विद्वांस उपयन्ति ॥ १० ॥

कण्डिका १० ॥ षडह यज्ञ में पारुच्छेपी ऋचाओं का प्रयोग ॥

(देवक्षेत्रं वै षष्ठम् अहः) देवक्षेत्र [विद्वानों का घर] ही छठा दिन है। (देवक्षेत्रं वै एते आगच्छन्ति, ये षष्ठम् अहः आगच्छन्ति) विद्वानों के घर ही यह

१. "विच्छिद्यैवैतद्" पाठोऽत्र समीचीनः ॥ सम्पा० ॥

[यजमान लोग] आते हैं, जो छठे दिन आते हैं । (न वै देवाः अन्योन्यस्य गृहे वसन्ति, न ऋतुः ऋतोः गृहे वसति इति आहुः) न तो देवता [सूर्य वायु आदि] एक दूसरे के घर में बसते हैं, न ऋतु [वसन्त आदि] ऋतु के घर में बसता है—ऐसा लोग कहते हैं। (तत् यथायथं ऋत्विजः असम्प्रदायम् ऋतुयाजान् यजन्ति, यत् तत् जनिता यथायथम् ऋतून् कल्पयति) फिर यथायोग्य स्थान पर बैठे ऋत्विज् लोग दूसरे को स्थान न देकर ऋतुओं के यज्ञों को करते हैं, जिससे तब जनिता [ऋतुओं का ठीक करने वाला ऋत्विज्] यथायोग्य स्थान पर बैठा हुआ ऋतुओं को समर्थ करता है । (तत् आहुः ऋतुप्रैषी न प्रेष्येयुः न ऋतुप्रैषी वषट्कुर्युः) फिर कहते हैं--ऋतुप्रैषी [ऋतु यज्ञ के मन्त्र बतलाने वाला] प्रेष्य मन्त्र [होता यक्षदिन्द्रम्--इत्यादि यजु० २१ । ४५] को न बोले और न ऋतुप्रैषी वषट्कार [समाप्ति कर्म] करे । (वाक् वै ऋतुप्रैषा, वाक् वै षष्ठे अहनि आप्यायते इति) वाणी ही ऋतुप्रैष मन्त्र है, वाणी ही छठे दिन में समाप्त हो जाती है । (यत् ऋतुप्रैषी प्रेष्येयुः यत् ऋतुप्रैषी वषट्कुर्युः, तत् आप्तां शान्तां ऋक्तवतीं वहरावणीं वाचम् एव ऋच्छेयुः यज्ञस्य अच्युतात् च्यवेरन्) यदि ऋतुप्रैषी प्रैष मन्त्रों को बोले, और जो ऋतुप्रैषी वषट्कार करे, वह तब समाप्त हुई थकी हुई शून्य वाली [निरर्थक] और बोझ से चिल्लाती हुई वाणी को ही प्राप्त करें और यज्ञ के न गिरते हुए प्रयोग से वे गिर पड़ें । (यज्ञान् प्राणान् प्रजायाः पशुभ्यः जिह्मायेयुः) यज्ञों और प्राणों को प्रजा से और पशुओं से वे टेढ़ा [प्रतिकूल] करें । (तस्मात् ऋग्मेभ्यः एव प्रेषितव्यम्, ऋग्मेभ्यः अधि वषट्कृत्यम्) इसलिये ऋचा [तुभ्यं हिन्वानो वसिष्ठ--ऋ० २ । ३६ । १] को पहिले बोलकर ही प्रैष मन्त्र बोले और ऋचा को ही पहिले बोलकर वषट्कार बोले । (तत् आप्तां शान्ताम् ऋक्तवतीम् वहरावणीं वाचं न ऋच्छन्ति, न यज्ञस्य अच्युतात् च्यवेरन्, [न] यज्ञान् प्राणान् प्रजायाः पशुभ्यः जिह्मायन्ति) तब वे समाप्त हुई, थकी हुयी, शून्य वाली [निरर्थक] बोझ से चिल्लाती हुई वाणी को नहीं प्राप्त करते,

---

१०--(देवक्षेत्रम्) क्षि निवासे--ष्ट्रन् । देवानां विदुषां गृहम् (अन्योन्यस्य) परस्परस्य (यथायथम्) यथायोग्यम् । स्वस्वस्थानग्रहणेन (असंप्रदायम्) नञ्+सम्+प्र+ददातेः—णमुल् । युक् च, स्वस्थानम् अन्यस्मै अदत्वा (ऋतुप्रैषी) ऋतुप्रैष--इनिः । ऋतुप्रैषाणाम् ऋतुयाजार्थं मन्त्राणां प्रवर्तकः (प्रेष्येयुः) प्रेष्येत । प्रवर्तेत (ऋतुप्रैषा) ऋतुप्रवर्तिका (आप्यायते) आ समाप्तौ+प्यैङ् वृद्धौ--लट् । समाप्यते (आप्ताम्) समाप्ताम् (शान्ताम्) श्रान्ताम् । खेदयुक्ताम् (ऋक्तवतीम्) रिचिर् विरेचने पृथग्भावे च--क्तः, मतुप् [1]आर्षरूपम् । ऋक्तां शून्याम् (वहरावणीम्) वह+रवण--स्वार्थे --अण्, ङीप्, । वहेन गुरुभारेण रवणं रोदनं यस्याः ताम् (ऋच्छेयुः) प्राप्नुयुः (अच्युतात्) अनष्टात् प्रयोगात् (च्यवेरन्) पतनं प्राप्नुयुः (जिह्मायेयुः) जहातेः सन्वदाकारलोपश्च (उ० १ । १४१) ओहाक् त्यागे--मन्, जिह्म इति नामधातुः । कुटिलान् विरुद्धान् कुर्युः (ऋग्मेभ्यः) ऋच+माङ् माने--कः । ऋक्शिरस्केभ्यः प्रैषमन्त्रेभ्यः ऊर्द्ध्वम् (जिह्मायन्ति) कुटिलान् कुर्वन्ति (पारुच्छेपीः)

---

१. यहाँ "रिक्त" पाठ ही शुद्ध होना चाहिये ॥ सम्पा० ॥

और न यज्ञ के न गिरे हुए प्रयोग से गिरते और [न] यज्ञों और प्राणों को प्रजा से और पशुओं से टेढ़ा करते हैं ॥

(पारुच्छेपीः द्वयोः सवनयोः प्रस्थितयाज्यानां पुरस्तात् उपदधति) पारुच्छेपी [परुच्छेप की देखी ऋचाओं--अग्नि होतारं मन्ये--इत्यादि, ऋ० १ । सूक्त १२७--१३९] ऋचाओं को दोनों [पहिले] सवनों में प्रयोग के योग्य याज्याओं के पहिले वे धरते हैं। (रोहितं वै नाम एतत् छन्दः यत् पारुच्छेपम्) रोहित [चढ़ने योग्य] ही नाम यह छन्द है जो पारुच्छेप [परुच्छेप ऋषि के सूक्तों वाला] है। (एतेन ह वै इन्द्रः सप्त स्वर्गान् लोकान् आ-अरोहत्) इस [रोहित छन्द] से ही इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जीव] सात स्वर्ग लोकों [अर्थात् भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् सात व्याहृतियों से जिनका सम्बन्ध शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पाद और शिर से है] को चढ़ा। (सप्त स्वर्गान् लोकान् आरोहति, यः एवं वेद) सात स्वर्ग लोकों को वह चढ़ता है जो ऐसा विद्वान् है। (तत् आहुः यत् पञ्चपदः एव पञ्चमस्य अह्नः रूपम्, षट्पदात् षष्ठस्य, अथ कस्मात् सप्तपदात् षष्ठे अहनि शस्यन्ते इति) फिर वे कहते हैं—पांच पाद वाली ऋचायें ही पाँचवें दिन का रूप हैं, छह पद वाले मन्त्र से छठे का [रूप है], फिर किस लिए सात पाद वाले मन्त्र से छठे दिन में वे स्तुति करते हैं। (षड्भिः एव पदैः षष्ठम् अहः अवाप्नुवन्ति, विच्छिद्य वै तत् अहः यत् सप्तमम्) छह ही पादों से छठे दिन को वे प्राप्त करते हैं, काट लेने पर [सातवाँ पाद निकाल देने पर] ही वह दिन है जो सातवाँ है [पारुच्छेपी सूक्त छन्दों और अतिछन्दों वाले हैं और अतिछन्दों में पाँच, छह और सात पाद है]। (तत् एव सप्तमेन पदेन अभ्यारुह्य वसन्ति, संततैः अव्यवच्छिन्नैः त्र्यहैः यन्ति, ये एवं विद्वांसः उपयन्ति) तब ही वे लोग सातवें पाद से चढ़कर बसते हैं और फैले हुए और न टूटे हुए तीन दिन वाले यज्ञों से चलते हैं, जो ऐसे विद्वान् आते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः—मन्त्रों के यथावत् विचारपूर्वक प्रयोग करने से यज्ञ सिद्धि करनी चाहिए ॥१०॥

विशेषः—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ५ । १७, १० से मिलाओ ॥

कण्डिका ११ ॥

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त। ते देवा षष्ठेनाह्ना एभ्यो लोकेभ्योऽसुरान् पराणुदन्त। तेषां यान्यन्तर्हस्तानि वसून्यासन्, तान्यादायन् समुद्रं प्रारूप्यन्त। तेषां वै देवा अनुहायैतेनैव च्छन्दसा अन्तर्हस्तानि वसून्याददत। तदेवैतत् पदं, पुनःपदम्। स वांकुश आकुञ्चनाया द्विषतो वसु दत्ते, निरेवैनमेभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यो नुदते, य एवं वेद। द्यौर्वै देवता[1] षष्ठमहर्वहति, त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं

परुच्छेपेन महर्षिणा दृष्टाः ऋचः (प्रस्थितयाज्यानाम्) प्राप्तयाज्यानाम् (पञ्चपदः) पंचपादोपेताः (षट्पदात्) षट्पादयुक्ताच्छन्दसः (सप्तपदात्) सप्तपादयुक्तात् (विच्छिद्य) छिदिर् द्वैधीकरणे--क्यप्। विच्छेदनीये सति (सन्ततैः) सम् + तनु विस्तारे--क्तः। विस्तृतैः (अव्यवच्छिन्नैः) विच्छेदरहितैः। परस्परसंयुक्तैः ॥

१. पू. सं. 'देवताः' इति पाठः ॥

सामातिच्छन्दश्छन्दो यथादैवतमनेन यथास्तोमं यथासाम यथाछन्दः समृध्नोति, य एवं वेद। यद्वै समानोदर्कं, तत् षष्ठस्याह्नो रूपम्। यद्येव प्रथममहः, तदुत्तममहः, तदेवैतत् पदम्। पुनर्यत् षष्ठं, यदश्ववद्यद्रथवद्यत् पुनरावृत्तं, यत् पुर्निवृत्तं, यदन्तरूपं, यदसौ लोकोऽभ्युदितः, यन्नाभानेदिष्ठं, यत् पारुच्छेपं, यन्नाराशंसं, यद् द्वैपदा, यत् सप्तपदा, यत् कृतं, यद्रैवतं, तत्तृतीयस्याह्नो रूपम्। एतानि वै षष्ठस्याह्नो रूपाणि छन्दसामु ह षष्ठेनाह्नाक्तानां रसो निनेजत्, तं प्रजापतिरुदानए नाराशंᳬस्या गायत्र्या रैभ्या त्रिष्टुभा पारिक्षित्या जगत्या गाथया अनुष्टुभा एतानि वै छन्दांसि षष्ठेऽहनि शस्तानि भवन्ति अयातयामानि, छन्दसामेव तत् सरसताया अयातयामतायै। सरसानि हास्य छन्दांसि षष्ठेऽहनि शस्तानि भवन्ति, सरसैः छन्दोभिरिष्टं भवति, सरसैः छन्दोभिर्यज्ञं तनुते य एवं वेद ॥ ११ ॥

कण्डिका ११ ॥ देवासुर सङ्ग्राम की आख्यायिका, यज्ञों में छठे दिन के कर्म ॥

(देवासुराः वै एषु लोकेषु समयतन्त) देवता और असुर इन लोकों में युद्ध करने लगे। (ते देवाः षष्ठेन अह्ना एभ्यः लोकेभ्यः असुरान् पराणुदन्त) उन देवताओं ने छठे दिन [के यज्ञ] द्वारा इन लोकों से असुरों को निकाल दिया। (तेषां यानि अन्तर्हस्तानि वसूनि आसन्, तानि आदायन् समुद्रं प्रारूप्यन्त) उन [देवताओं] के जो हाथों में धन थे, उन्हें वे [असुर] ले गये और समुद्र में फेंक दिया। (देवाः वै तेषाम् अनुहाय एतेन एव छन्दसा अन्तर्हस्तानि वसूनि आददत) देवताओं ने उनका पीछा करके इस ही [पारुच्छेप] छन्द से [उनके] हाथ में के धनों को ले लिया। (तत् एव एतत् पदं, पुनःपदम्) वह ही यह पाद है, [जो] पुनःपद [छह पाद के बोले जाने के पीछे सातवां पाद] है। (सः वा अंकुशः आकुञ्चनाय, द्विषतः वसु आ दत्ते, एनम् एभ्यः सर्वेभ्यः लोकेभ्यः एव निर् नुदते, यः एवं वेद) वह ही समेटने के लिये अंकुश है, वह बैरी के धन को ले लेता है, और इसको इन सब लोकों से ही निकाल देता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥

(द्यौः वै देवता षष्ठम् अहर्वहति, त्रयस्त्रिंशः स्तोमः, रैवतं साम अतिच्छन्दः छन्दः, अनेन यथादैवतम्, यथास्तोमम्, यथासाम, यथाछन्दः समृध्नोति, यः एवं वेद) प्रकाशमान सूर्य देवता [यज्ञ के] छठे दिन को ले चलता है, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत साम और अतिछन्द छन्द होता है। इस [विधान] से देवता के अनुसार, स्तोम के अनुसार,

---

११—(समयतन्त) सग्रामं कृतवन्तः (पराणुदन्त) परा—अनुदन्त। निःसारितवन्तः (अन्तर्हस्तानि) हस्तगतानि। अधिकारप्राप्तानि (आदायन्) आ+अदायन्। गृहीतवन्तः (प्रारूप्यन्त) प्र—अरूप्यन्त। रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—णिच्। प्रक्षिप्तवन्तः (अनुहाय) अनु+ओहाङ् गतौ—ल्यप्। पृष्ठतो गत्वा (आददत) आ—अददत। गृहीतवन्तः (तत्) तत्र। पारुच्छेपीषु ऋक्षु (पुनःपदम्) षट्सु पादेषु समाप्तेषु पुनः पश्चात् उच्चार्यमाणः सप्तमः पादः (अङ्कुशः) वक्राग्रलौहास्त्रभेदः (आकुञ्चनाय) आकर्षणाय (आ दत्ते) गृह्णाति

सामगान के अनुसार और छन्द के अनुसार वह समृद्ध होता है, जो ऐसा विद्वान् है। (यत् वै समानोदर्कं, तत् षष्ठस्य अह्नः रूपम्) जो ही समान अन्त कर्म है, वह छठे दिन का रूप है । (यदि एव प्रथमम् अहः, तत् उत्तमम् अहः, तत् एव एतत् पदम्) जो ही पहिला दिन है, वह ही सबसे पिछला दिन है [पहिले दिन के समान पिछले दिन काम होता है], वह ही वह पाद है । (पुनः यत् षष्ठं, यत् अश्ववत्, यत् रथवत्, यत् पुनरावृत्तम् यत् पुर्नानिवृत्तं, यत् अन्तरूपं, यत् असौ अभ्युदितः लोकः यत् नाभानेदिष्ठं यत् पारुच्छेपं यत् नाराशंसं, यत् द्वैपदा, यत् सप्तपदा, यत् कृतं, यत् रैवतं, तत् तृतीयस्य अह्नः रूपम्) फिर जो छठा [दिन] है, जो अश्व शब्द वाला, जो रथ शब्द वाला, जो आवृत्ति वाला और जो पुर्ननिवृत्ति वाला, और जो अन्तरूप वाला छन्द है, जो वह [सूर्य] उदय होता हुआ लोक है, जो नाभानेदिष्ठ, जो पारुच्छेप और जो नाराशंस सूक्त है, जो दो पाद वाली ऋचा और सात पाद वाली ऋचा है, जो कृत [भूत काल] है और जो रैवत साम है, वह तीसरे दिन का रूप [चिह्न] है । (एतानि वै षष्ठस्य अह्नः रूपाणि, षष्ठेन अह्ना अक्तानां छन्दसाम् उ रसः निनेजत्) यह ही छठे दिन के रूप हैं, छठे दिन के साथ मिले हुये छन्दों का रस पुष्ट किया जावे । (तं [तस्मै] प्रजापतिः उदानः ए [एव]) उस [यजमान] के लिये उदान वायु ही प्रजापालक है । (नाराशंस्या गायत्र्या रैभ्या त्रिष्टुभा पारिक्षित्या जगत्या गाथया अनुष्टुभा) नाराशंसी, गायत्री, रैभी, त्रिष्टुप् पारिक्षिती [पारिक्षित शब्द वाली] जगती, गाथा और अनुष्टुप् ऋचा साथ [यह काम होता है] । (एतानि वै छन्दांसि षष्ठे अहनि अयातयामानि शस्तानि भवन्ति, तत् छन्दसाम् एव सरसतायै अयातयामतायै) यह ही छन्द छठे दिन में उचित समय के अनुकूल बोले गये होते हैं, यह काम छन्दों के ही रसीलेपन और उचित समय के अनुकूलपन के लिये है । (अस्य ह सरसानि छन्दांसि षष्ठे अहनि शस्तानि भवन्ति, सरसैः छन्दोभिः इष्टं भवति, सरसैः छन्दोभिः यज्ञं तनुते यः एवं वेद) उसके ही रसीले छन्द छठे दिन में बोले गये होते हैं, रसीले छन्दों से वह इष्ट [प्रिय पदार्थ] पाता है, और रसीले छन्दों से वह यज्ञ फैलाता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥ ११ ॥

भावार्थः-- कण्डिका १० के समान है ॥ ११ ॥

(द्यौः) प्रकाशलोकः । सूर्यः (वहति) निर्वहति । प्रवर्तयति (अतिच्छन्दः) गायत्र्यादि-सप्तछन्दोभ्यो अधिकाक्षरयुक्तं छन्दः (समानोदर्कम्) तुल्यसमाप्तिकम् (पुनरावृत्तम्) पुनरावृत्तियुक्तम् (पुर्निनिवृत्तम्) पुर्निनिष्पादितं । पुनः सिद्धम् (पारुच्छेपम्) परुच्छेपेन दृष्टम् (द्वैपदा) द्विपादोपेता ऋक् (सप्तपदा) सप्तपादोपेता । यथा पारुच्छेपी (कृतम्) भूतार्थवाचि प्रत्यययुक्तं धातुमात्रम् (अक्तानाम्) सङ्गतानाम् (निनेजत्) णिजिर् शौचपोषणयोः । शोधयेत् । पोषयेत् (पारिक्षित्या) परिक्षित्— अण्, ङीप् । परीक्षिच्छब्देनोपेतया (अयातयामानि) उचितसमययोग्यानि (इष्टम्) अभिलषितम् । प्रियम् (भवति) प्राप्नोति (तनुते) विस्तारयति ॥

विशेषः—इस कण्डिका के लिये अगली कण्डिका १२ और ऐतरेय ब्राह्मण ५ । ११, १२ तथा ६ । ३२ देखो ॥

कण्डिका १२ ॥

अथ यद् द्वैपदौ स्तोत्रियानुरूपौ भवतः, इमा नु कं भुवना सीषधामेति । द्विपाद्वै पुरुषः, द्विप्रतिष्ठः पुरुषः, पुरुषो वै यज्ञः, तस्माद् द्वैपदौ स्तोत्रियानुरूपौ भवतः । अथ सुकीर्त्ति शंसति, अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानिति । देवयोनिर्वै सुकीर्त्तिः, स य एवमेतां देवयोन्यां सुकीर्त्ति वेदकीर्ति प्रतिष्ठापयति, भूतानां कीर्त्तिमान् स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद । अथ वृषाकपिं शंसति, वि हि सोतोरसृक्षतेति । आदित्यो वै वृषाकपिः तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपिः, तद् वृषाकपेर्वृषाकपित्वं वृषाकपिरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति, य एवं वेद । तस्य तृतीयेषु पादेष्वाद्यन्तयोर्न्यूङ्खनिनर्दां करोति, अन्नं वै न्यूंखः, बलं निनर्दः, अन्नाद्यमेवास्मै तद् बले निदधाति । अथ कुन्तापं शंसति कुयं ह वै नाम कुत्सितं भवति, तद्यत्तपति, तस्मात् कुन्तापाः, तत् कुन्तापानां कुन्तापत्वम् । तप्यन्तेऽस्मै कुयानिति तप्तकुयः स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद । तस्य चतुर्दश प्रथमा भवन्ति, इदं जना उपश्रुतेति । ताः प्रग्राहं शंसति, यथा वृषाकपिं वार्षरूपं हि वृषाकपेस्तन्न्यायमित्येव । अथ रैभीः शंसति, बच्यस्व रेभ बच्यस्वेति । रेभन्तो वै देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन्, तथैवैतद्यजमाना रेभन्त एव स्वर्गं लोकं यन्ति, ताः प्रग्राहमित्येव । अथ पारिक्षितीः शंसति, राज्ञो विश्वजनीनस्येति । संवत्सरो वै परिक्षित्, संवत्सरो हीदं सर्वं परिक्षियतीति । अथो खल्वाहुः, अग्निर्वै परिक्षिद् अग्निर्हीदं सर्वं परिक्षियतीति । अथो खल्वाहुः,गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित इति । स नस्तद्यथा कुर्य्यात्, गाथा एवैतस्य शस्ता भवन्ति । यद्यु वै गाथा अग्नेरेव गाथाः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात्, यद्यु वै मन्त्रोऽग्नेरेव मन्त्रः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात् ताः प्रग्राहमित्येव । अथ कारव्याः शंसति इन्द्रः कारुमबूबुधदिति । यदेव देवाः कल्याणं कर्माकुर्वंस्तत् कारव्याभिरवाप्नुवन्, तथैवैतत् यजमानाः यदेव देवाः कल्याणं कर्मकुर्वन्ति, तत् कारव्याभिरवाप्नुवन्ति, ताः प्रग्राहमित्येव । अथ दिशां क्लृप्तीः, पूर्वं शस्त्वा यः सभेयो विदथ्य इति । जनकल्पा उत्तराः शंसति, योनाऽक्ताक्षो अनभ्यक्त इति, ऋतवो वै दिशः प्रजननः, तद्यद् दिशाङ्क्लृप्तीः पूर्वं शस्त्वा यः सभेयो विदथ्य इति जनकल्पा उत्तराः शंसति, ऋतूनेव तत् कल्पयति, ऋतुषु, प्रतिष्ठापयति । प्रतिष्ठन्तीरिदं सर्वमनुप्रतितिष्ठति । प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद । ता अर्धर्चशः शंसति प्रतिष्ठित्या एव । अथेन्द्रगाथाः शंसति, यदिन्द्रादो दाशराज्ञ इति । इन्द्रगाथाभिर्ह वै देवा असुरानाज्ञायाथैनानन्या[1]यन्, तथैवैतत् यजमाना इन्द्रगाथाभिरेवाप्रियं भ्रातृव्यमागायाथैनमागायाथैनमतियन्ति, तामर्द्धर्चशः शंसति, प्रतिष्ठित्या एव ॥ १९ ॥

---

१. जर्मनसंस्करणे "अत्यायन्" इति पाठः, स च सङ्गतः ॥ सम्पा० ॥

कण्डिका १२ ।। षडह यज्ञ में स्तोत्रिय, अनुरूप, सुकीर्ति, वृषाकपि, कुन्ताप [अथर्व० २० । १२७-१३६], रैभी, पारिक्षिती, कारव्या, दिशां क्लृप्ती और इन्द्र गाथाओं का वर्णन ।।

१--(अथ यत् द्वैपदौ स्तोत्रियानुरूपौ भवतः इमा नु कं भुवना सीषधाम इति) फिर जो दो पाद वाले स्तोत्रिय और अनुरूप स्तोत्र होते हैं—इमा नु कं भुवना सीषधाम--अथर्व० २० । ६३ । १, द्विपात् त्रिष्टुप्, यह मन्त्र बोला जाता है। (द्विपाद् वै पुरुषः, द्विप्रतिष्ठः पुरुषः, पुरुषः वै यज्ञः, तस्मात् द्वैपदौ स्तोत्रियानुरूपौ भवतः) दो पांव वाला ही पुरुष है, दो प्रतिष्ठा वाला [दोनों स्थूल और सूक्ष्म शरीर का आश्रय वाला] पुरुष है, पुरुष ही यज्ञ है, इसलिये दो पाद वाले स्तोत्रिय और अनुरूप होते हैं ।।

२—(अथ सुकीर्ति शंसति अपेन्द्र प्राचो मववन्नमित्रान् इति) फिर सुकीर्ति [सुकीर्ति ऋषि के देखे सूक्त] को वह बोलता है—अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान्-अथर्व० २० । १२५ । १-७, यह सूक्त है। (देवयोनिःवै सुकीर्तिः, सः यः एवं देवयोन्याम् एतां सुकीर्ति वेदकीर्ति प्रतिष्ठापयति, भूतानां कीर्तिमान् स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति) विद्वानों का उत्पत्ति स्थान ही सुकीर्ति [उत्तम यश] है, वह जो पुरुष इस प्रकार विद्वानों के उत्पत्ति स्थान में इस सुकीर्ति, वेद कीर्ति को स्थापित करता है, वह प्राणियों के बीच कीर्तिमान् होता हुआ स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठा पाता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति, यः एवं वेद) प्रजा से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा विद्वान् है ।।

३—(अथ वृषाकपिं शंसति, वि हि सोतोरसृक्षत—इति) फिर वृषाकपि [वृषाकपि ऋषि के देखे सूक्त] को वह बोलता है, वि हि सोतोरसृक्षत ... अथर्व० २० । १२६ । १—२३, यह सूक्त है। (आदित्यः वै वृषाकपिः यत् तत् कम्पयमानः रेतः वर्षति, तस्मात् वृषाकपिः, तत् वृषाकपेः वृषाकपित्वम्) सूर्य ही वृषाकपि [वृष्टि का कपाने वाला] है, क्योंकि वह कांपता हुआ जल बरसाता है, इसलिये वृषाकपि है, यह ही वृषाकपि का वृषाकपित्व है। (वृषाकपिः इव वै सर्वेषु लोकेषु भाति, यः एवं वेद) वृषाकपि, सूर्य के समान ही सब लोकों में वह चमकता है जो ऐसा विद्वान् है। (तस्य तृतीयेषु पादेषु आद्यन्तयोः न्यूङ्खनिनर्दां करोति) उस [सूक्त] के तीसरे पादों के बीच आदि अन्त में न्यूङ्ख [ओंकार सहित मन्त्र उच्चारण] के सहित निनर्द [ध्वनि विशेष] करता है। (अन्नं वै न्यूङ्खः, बलं निनर्दः, अन्नाद्यम् एव अस्मै तत्

१२—(द्वैपदौ) द्विपादयुक्तौ (कम्) सुखम् (सीषधाम) साधयेम (द्विप्रतिष्ठः) द्वे प्रतिष्ठे स्थूलसूक्ष्मशरीररूपाश्रयौ यस्य सः (भूतानाम्) प्राणिनां मध्ये (वृषाकपिम्) गो० उ० ६ । ७ । वृष्टेः कम्पयितारं चेष्टयितारं सूर्यम् (वि) वियोगे (सोतोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (पा० ३ । ४ । १३) षुञ् अभिषवे--तोसुन् । अभिषोतुम् । तत्त्वरसं निष्पादयितुम् (असृक्षत) विसृष्टवन्तः । त्यक्तवन्तः (रेतः) जलम् (वृषाकपिः) वृष्टेः कम्पयिता सूर्यः (न्यूङ्खनिनर्दाम्) न्यूङ्खेन सह निनर्दं ध्वनिविशेषम् (कुन्तापम्) कुङ् आर्तस्वरे—डु,

बले निदधाति) अन्न ही न्यूङ्ख है, और बल निनर्द है, खाने योग्य अन्न को ही इस [यजमान] के लिये उससे वह बल में स्थापित करता है ॥

४—(अथ कुन्तापं शंसति) फिर वह कुन्ताप सूक्त [अथर्व० २०। १२७—१३६] को बोलता है। (कुयं ह वै नाम कुत्सितं भवति, तत् यत् तपति तस्मात् कुन्तापाः, तत कुन्तापानां कुन्तापत्वम्) कुय, यह कुत्सित [निन्दित] का नाम है क्योंकि वह उसे तपाता है, इसलिये वे कुन्ताप [पाप के भस्म करने वाले] हैं, वह ही कुन्तापों का कुन्तापत्व [पापनाशक व्यवहार] है। (अस्मै कुयान् [=कुयाः] तप्यन्ते इति, तप्तकुयः स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति) इस [यजमान] के लिये पाप भस्म किये जाते हैं, इसलिये पाप भस्म किया हुआ वह स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठा पाता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एव वेद) प्रजा से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा पाता है, जो ऐसा विद्वान् है। (तस्य चतुर्दश प्रथमाः भवन्ति, इदं जना उपश्रुत इति) उस [कुन्ताप] के चौदह पहिले मन्त्र हैं—इदं जना उपश्रुत······अथर्व० २०। १२७। १—१४, यह ऋचायें हैं। (ताः प्रग्राहं शंसति, यथा वृषाकपिम्) उन [ऋचाओं] को पाद पाद ग्रहण करके और ठहर कर वह बोलता है जैसे वृषाकपि सूक्त को। (वार्षरूपं हि वृषाकपेः) वृष्टि वाला रूप ही वृषाकपि का है। (तत् न्यायम् इति एव) सो वह ठीक ही है॥

५—(अथ रैभीः शंसति, वच्यस्व रेभ वच्यस्व—इति) फिर रेभ शब्द वाली ऋचाओं को वह बोलता है—वच्यस्व रेभ वच्यस्व······अथर्व० २०। १२७। ४—६, यह ऋचायें हैं। (रेभन्तः वै देवाः च ऋषयः च स्वर्गं लोकम् आयन्) रेभ [स्तुति] करते हुये ही देवों [विद्वानों] और ऋषियों [सन्मार्गदर्शकों] ने स्वर्ग लोक पाया है। (तथा एव एतत् यजमानाः रेभन्तः एव स्वर्गं लोकं यन्ति) वैसे ही इस [विधान] से यजमान रेभ [स्तुति] करते हुये ही स्वर्ग लोक पाते हैं। (ताः प्रग्राहम् इति एव) इन [ऋचाओं] को पाद पाद ग्रहण करके और ठहर कर [वह बोलता है], यह ही विधान है॥

६—(अथ पारिक्षितीः शंसति, राज्ञः विश्वजनीनस्य इति) फिर परिक्षित् शब्द वाली ऋचायें वह बोलता है, राज्ञो विश्वजनीनस्य······अथर्व० २०। १२७। ७—१० यह ऋचायें है। (संवत्सरः वै परिक्षित्, संवत्सरः हि इदं सर्वं परिक्षियति

यद्वा कुयं कुत्सितं+तप दाहे—घञ्। पापस्य दुःखस्य तापकं दाहकम् (तप्तकुयः) भस्मीकृतपापः (प्रग्राहम्) पादे पादे प्रगृह्य अवसाय च (न्यायम्) न्याय्यम्। उचितम् (रैभीः) रेभशब्दयुक्ताः (वच्यस्व) ब्रवीतेर्यङ्। ब्रूहि। उपदिश (रेभ) रेभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। अच्। हे स्तोतः। हे विद्वन् (रेभन्तः) स्तुवन्तः (पारिक्षितीः) परिक्षित् इति शब्दयुक्ताः (परिक्षित्) परि+क्षि निवासे ऐश्वर्ये च—क्विप्, तुक्। सर्वतो निवासकः (कारव्याः) कारुशब्दयुक्ताः (राज्ञः) शासकस्य (परिक्षितः) सर्वत ऐश्वर्ययुक्तस्य (विश्वजनीनस्य) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः (पा० ५। १। ९) विश्वजन—

इति) संवत्सर ही परिक्षित् [सब ओर से बसने वाला] है, क्योंकि संवत्सर ही इस सब में सब ओर से वास करता है। (अथो खलु आहुः, अग्निः वै परिक्षित्, अग्निः हि इदं सर्वं परिक्षियति इति) फिर कोई कहते हैं—अग्नि ही परिक्षित् है, क्योंकि अग्नि इस सब में सब ओर से वास करता है। (अथो खलु आहुः, गाथाः एव एताः कारव्याः राज्ञः परिक्षितः इति) फिर कोई कोई कहते हैं—यह कारु शब्द वाली ऋचायें गाथा हैं [जिनमें] राज्ञः परिक्षितः पद आये हैं अथर्व० २०। १२७। ६, १०। (सः नः तत् यथा कुर्यात्, गाथाः एव एतस्य शस्ताः भवन्ति) वह [ऋत्विज्] हमारे लिये उस विधान से जैसा करे, यह ऋचायें, इस [सूक्त] की गाथायें ही बोली हुई होती हैं। (यदि उ वै गाथाः अग्नेः एव संवत्सरस्य वा गाथाः इति ब्रूयात्) यदि वे गाथायें हैं, वे अग्नि की वा संवत्सर की गाथायें हैं—ऐसा वह बतलावे। (यदि उ वै मन्त्रः अग्नेः एव संवत्सरस्य वा मन्त्रः इति ब्रूयात्) जो वह मन्त्र है, वह अग्नि का वा संवत्सर का मन्त्र है—यह वह बतावे। (ताः प्रग्राहम् इति एव) इन [ऋचाओं] को पाद पाद ग्रहण करके और ठहर कर [वह बोलता है], यह ही विधान है॥

७—(अथ कारव्याः शंसति, इन्द्रः कारुमबूबुधत्—इति) फिर कारु [स्तोता] शब्द वाली ऋचायें वह बोलता है-इन्द्रः कारुमबूबुधत्..... अथर्व० २०। १२७। ११, यह मन्त्र है। (यत् एव देवाः कल्याणं कर्म अकुर्वन् तत् कारव्याभिः अवाप्नुवन्) जो कुछ भी विद्वानों ने कल्याण कर्म किया है, वह कारु शब्द वाली ऋचाओं से पाया है। (तथा एव एतत् यजमानाः) वैसे ही इससे यजमानों ने [कल्याण कर्म पाया है]। (यत् एव देवाः कल्याणं कर्म कुर्वन्ति तत् कारव्याभिः अवाप्नुवन्ति) जो ही विद्वान् लोग कल्याण कर्म करते हैं वह कारु शब्द वाली ऋचाओं से ही पाते हैं। (ताः प्रग्राहम् इति एव) उन [ऋचाओं] को पाद पाद ग्रहण करके और ठहर कर [वह बोलता है] यह ही विधान है॥

८—(अथ दिशां क्लृप्तीः, यः सभेयः विदथ्यः इति पूर्वं शस्त्वा) फिर दिशां क्लृप्ती [दिशाओं की रचना वाली ऋचाओं] को, यः सभेयः विदथ्यः.....—अथर्व० २०। १२८। १, इस मन्त्र को पहिले बोलकर [वह बोलता है]। (जनकल्पाः उत्तराः शंसति योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्त इति) जनकल्प वाली ऋचाओं को वह पीछे बोलता है,

---

खप्रत्ययः। सर्वजनेभ्यो हितस्य (कारुम्) कृवापाजि० (उ० १। १) करोतेः—उण्। कार्यकर्तारम्। स्तोतारम्--निघ० ३। १६ (अबूबुधत्) प्रबोधितवान् (अकुर्वन्) कृतवन्तः (क्लृप्तीः) कृपू सामर्थ्ये रचनायां च--क्तिन्। रचनाः (सभेयः) सभा—ढः। सभ्यः (विदथ्यः) विदथेषु विद्वत्सु साधुः (जनकल्पाः) जनकल्पाभिधा ऋचः (अनाक्ताक्षः) नञ्+आ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्तः+अक्षू व्याप्तौ—अच्। अशुद्धव्यवहारयुक्तः (अनभ्यक्तः) नञ्+अञ्जू व्यक्तौ--क्तः। अव्यक्तः। अविख्यातः (अर्धर्चशः) पादे पादे अर्धर्चेन अर्धर्चेन (यत्) यदा (अदः) तत् (दाशराज्ञे) दाशृ दाने--घञ्+राजृ ऐश्वर्ये—कनिन्। दाशानां दानपात्राणां भृत्यानां स्वामिहिताय (आज्ञाय) आकारोऽत्र अवशब्दार्थे। अवज्ञाय। अवज्ञातवन्तः।

यो ऽनाक्ताक्षः अनभ्यक्तः……अथर्व० २० । १२८ । ६, यह मन्त्र है । (ऋतवः वै दिशः प्रजननः [प्रजननाः]) ऋतुयें ही दिशा के उत्पन्न करने वाले हैं । (तत् यत् दिशां क्लृप्तीः, यः सभेयः विदथ्यः इति पूर्वं शस्त्वा जनकल्पाः उत्तराः शंसति, ऋतून् एव तत् कल्पयति, ऋतुषु प्रतिष्ठापयति) फिर जो दिशां क्लृप्तीः को, यः सभेयः विदथ्यः…… इस मन्त्र को पहिले बोलकर, [बोलता है] और जनकल्प ऋचाओं को पीछे बोलता है, ऋतुओं को ही वह उससे समर्थ करता है और ऋचाओं में [यजमान को] स्थापित करता है । (प्रतिष्ठन्तीः अनु इदं सर्वं प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठा वाली ऋचाओं के साथ यह सब [जगत्] प्रतिष्ठा पाता है । (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति यः एवं वेद) प्रजा से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा पाता है जो ऐसा विद्वान् है । (ताः अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उन ऋचाओं को आधी आधी ऋचाओं करके प्रतिष्ठा के लिये ही वह बोलता है ॥

९—(अथ इन्द्रगाथाः शंसति यदिन्द्रादो दाशराज्ञः इति) फिर इन्द्रगाथाओं को वह बोलता है, यदिन्द्रादो दाशराज्ञः……अथर्व० २० । १२८ । १२—१६, यह मन्त्र हैं । (इन्द्रगाथाभिः ह वै देवाः असुरान् अथ एनान् अन्यान् आज्ञाय) इन्द्र गाथाओं से ही देवताओं ने असुरों को और इन दूसरों को निन्दित किया । (तथा एव एतत् यजमानाः इन्द्रगाथाभिः एव अप्रियं भ्रातृव्यम् अथ एनम् आगाय अतियन्ति) वैसे ही यह है—यजमान लोग इन्द्र गाथाओं से ही अप्रिय बैरी को फिर इस [शत्रु] को चढ़ाई करके लाँघते हैं । (ताम् अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उस ऋचा को आधी आधी ऋचा करके प्रतिष्ठा के लिये ही वह बोलता है ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्य वेदविहित कर्म करने से बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को हराकर संसार में उन्नति करें ॥ १२ ॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६ । २९, ६ । ३२, ६ । ३३ से मिलाओ ।

विशेषः २—प्रतीक वाले सूक्तों के पहिले पहिले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं, शेष मन्त्र वेद में देखो ॥

१—दो स्तोत्रियानुरूप—इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥—अ० २० । ६३ । १—९, तथा देखो ऋ० १० । १५७ । १—५, यजु० २५ । ४६, साम उ० ४ । १ । तृच २३ ॥ (इमा) यह (भुवना) उत्पन्न पदार्थ, (च) और (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (च) और (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग हम (नु) शीघ्र (कम्) सुख को (सीषधाम) सिद्ध करें । (आदित्यैः सह) अखण्ड व्रतधारी विद्वानों के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [मेल मिलाप आदि] (च) और (तन्वम्) शरीर (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] को (च) भी (चीक्लृपाति) समर्थ करें ॥

तिरस्कृतवन्तः (आगाय)आ + गाङ् गतौ—ल्यप् । आभिमुख्येन प्राप्य (अतियन्ति) उल्लंघयन्ति । जयन्ति ॥

२--(अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व । अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥ १ ॥ अ० २० । १२५ । १-७, ऋ० १० । १३१ । १--७ ।) यह मन्त्र आ चुका है—गो० उ० ६ । ४ ॥

३—वृषाकपि सूक्त—वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत । यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥ अ० २० । १२६ । १--२३, ऋ० १० । ८६ । १—२३ ॥ (हि) क्योंकि (सोतोः) तत्त्वरस का निकलना (वि असृक्षत) उन्होंने [लोगों ने] छोड़ दिया है, [इसी से] (देवम्) विद्वान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य आत्मा] को (न) (अमंसत) उन्होंने नहीं जाना, (यत्र) जहां [संसार में] (अर्यः) स्वामी (मत्सखा) मेरा [देह वाले का] साथी (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् कपाने वाले अर्थात् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] ने (पुष्टेषु) पुष्टिकारक धनों में (असदत्) आनन्द पाया है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणीमात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥

४—कुन्ताप सूक्त—इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते । षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥ १ ॥ अ० २० । १२७ । १—१४, कुन्ताप सूक्त—(जनाः) हे मनुष्यो ! (इदं) यह (उप) आदर से (श्रुत) सुनो, [कि] (नराशंसः) मनुष्यों में प्रशंसा वाला पुरुष (स्तविष्यते) बड़ाई किया जावेगा । (कौरम) हे पृथिवी पर मरण करने वाले राजन् ! (षष्टिम् सहस्रा) साठ सहस्र (च) और (नवतिम्) नब्बे [अर्थात् अनेक दानों] को (रुशमेषु) हिंसकों के फैंकने वालों के बीच (आ दद्महे) हम पाते हैं ॥

५--रैभी ऋचायें—वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः । नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥४॥ अ० २० । १२७ । ४--६ ॥ (रेभ) हे विद्वान् ! (वच्यस्व) उपदेश कर, (न) जैसे (शकुनः) पक्षी (पक्वे) फल वाले (वृक्षे) वृक्ष पर [चहचहाता है] । (नष्टे) दुख व्यापने पर (भुरिजोः) दोनों धारण पोषण करने वाले [स्त्री पुरुष] की (इव) ही (जिह्वा) जीभ (चर्चरीति) चलती रहती है, (न) जैसे (क्षुरः) छुरा [केशों पर चलता है] ॥

६--पारिक्षिती ऋचायें—राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति । वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ अ० २० । १२७ । ७–११ ॥ (यः) जो (देवः) देव [विजय चाहने वाला पुरुष] (मर्त्यान् अति) मनुष्यों में बढ़कर [गुणी है] (विश्वजननीस्य) सब लोगों के हितकारी, (वैश्वानरस्य) सबके नेता, (परिक्षितः) सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) उस राजा की (सुष्टुतिम्) उत्तम स्तुति को (आ) भले प्रकार (सुनोत) मथो ॥

७—कारव्या ऋचायें—इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् । ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥ अ० २० । १२७ । ११ ॥ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने (कारुम्) काम करने वाले को (अबूबुधत्) जगाया है—(उत्तिष्ठ) उठ और (जनम्) लोगों में (वि चर) विचर, (मम इत् उग्रस्य) मुझ ही तेजस्वी की

[भक्ति] (चर्कृधि) तू करता रहे, (सर्वः) प्रत्येक (अरिः) बैरी (इत्) भी (ते) तेरी (पृणात्) तृप्ति करे ॥

८—दिशां क्लृप्ति ऋचायें—यः सभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः। सूर्यं चामू रिशादसस्तद् देवाः प्रागकल्पयन्॥ अ० २०। १२८। १—१६॥ (यः) जो (सभेयः) सभ्य [सभाओं में चतुर], (विदथ्यः) विद्वानों में प्रशंसनीय, (सुत्वा) तत्त्व रस निकालने वाला (अथ) और (यज्वा) मिलनसार (पूरुषः) पुरुष है। (अमू) उस (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रतापी] को (च) निश्चय करके (तत्) तब (रिशादसः) हिंसकों के नाश करने वाले (देवाः) विद्वानों ने (प्राक्) पहले [ऊँचे स्थान पर] (अकल्पयन्) माना है ॥

९, उत्तर जनकल्प ऋचा—योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः। अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता॥ अ० २०। १२८। ६॥ (यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [वेदज्ञानी] का (पुत्रः) पुत्र (अब्रह्मा) अब्रह्मा [वेद न जानने वाला, कुमार्गी] (अनाक्ताक्षः) अशुद्ध व्यवहार वाला और (अनभ्यक्तः) अविख्यात है। वह (अमणिवः) मणियों [रत्नों] का न रखने वाला और (अहिरण्यवः) तेज ही न होवे, (तोता) यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित है ॥

१०, इन्द्रगाथा ऋचायें—यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः। विरूपः सर्वस्मा आसीत् सह यक्षाय कल्पते॥ अ० २०। १२८। १२—१६॥ (यत्) जब, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (दाशराज्ञे) दानपात्र सेवकों के राजा के लिये [अर्थात् अपने लिये] (अदः) उस [वेदोक्त] (मानुषम्) मनुष्य के कर्म को (वि गाहथाः) तूने बिलो डाला है [गड़बड़ कर दिया है]। (सर्वस्मै) सबके लिये (विरूपः) वह दुष्ट रूप वाला व्यवहार (आसीत्) हुआ है। यह [मनुष्य] (यक्षाय) पूजनीय कर्म के लिये (सह) मिल कर (कल्पते) समर्थ होता है ॥

कण्डिका १३ ॥

अथैतशप्रलापं शंसति, एता अश्वा आप्लवन्त इति। ऐतशो ह मुनिर्यज्ञस्यायुर्ददर्श। स ह पुत्रानुवाच, पुत्रका यज्ञस्यायुरभिददृक्षं तदभिलपिष्यामि मा मा तृप्तं मन्यध्वमिति। तथेति तदभिललाप। तस्य ह इत्यग्निरैतशायनो ज्येष्ठः पुत्रोऽभिदुद्रुत्य मुखमपि जग्राह, ब्रुवन्, तृप्तो नः पितेति। स होवाच, धिक् त्वा जाल्मापरस्य पापिष्ठान्ते प्रजां करिष्यामीति। यो मे मुखं प्राग्र[1]हीष्यो यदि जाल्म मे मुखं प्राग्रहीष्यः, शतायुषं गामकरिष्यं सहस्रायुषं पुरुषमिति। तस्मादभ्यग्नय ऐतशायना आजानेयाः सन्तः पापिष्ठा अन्येषां बलिहृतः पितायच्छन् ताः स्वेन प्रजापतिना स्वया देवतया। यदैतशः, प्रलापः, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्। यद्वेवैतशः प्रलापः, यातयामा वा क्षितिः, ऐतशैतशः प्रलापोऽयातयामा मे यज्ञोऽसदक्षितिर्मे[2] यज्ञोऽसदिति। तं वा ऐतशैतशप्रलापं शंसति, पदावग्राहन्तासामुत्तमेन पदेन प्रणौति, यथा निविदः। अथ प्रवह्लिकाः पूर्वं[3] शस्त्वा विततौ किरणौ द्वाविति प्रतिराधानुत्तराः शंसति, भुगित्यभिगत इति

१ पू. सं. "प्रागृहीष्यः" इति पाठः। २. पू. सं. अक्षिति मे इति पाठः ॥
३. पू. सं. पूर्वशस्त्वा इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

प्रवह्लिकाभिर्ह वै देवा असुराणां रसान् प्रववृहुः। तद्यथाभिर्ह वै देवा असुराणां रसान् प्रववृहुः, तस्मात् प्रवह्लिकाः, तत् प्रवह्लिकानां प्रवह्लिकात्वम्। ता वै प्रतिराधैः प्रत्यराध्नुवन्। तद्यत् प्रतिराधैः प्रत्यराध्नुवन्, तस्मात् प्रतिराधाः, तत् प्रतिराधानां प्रतिराधत्वम्। प्रवह्लिकाभिरेव द्विषतां भ्रातृव्याणां रसान् प्रवह्लिकास्ता वै प्रतिराधैः प्रतिराध्नुवन्ति, ताः प्रग्राहमित्येव। अथाजिज्ञासेन्याः शंसति, इहेत्थ प्रागपागुदगधरागिति। आजिज्ञासेन्याभिर्ह वै देवा असुरानाज्ञाय अथैनानत्यायन्, तथैवैतद्यजमाना आजिज्ञासेन्याभिरेवाप्रियं भ्रातृव्यमागायाथैनमतियन्ति। ता अर्द्धर्चशः शंसति, प्रतिष्ठित्या एव। अथातिवादं शंसति, वी३मे देवा अक्रंसतेति। श्रीर्वा अतिवादस्तमेकर्च्चं शंसति, एकस्ता वै श्रीस्तां वै विरेभं शंसति, विरेभैः श्रियं पुरुषो वहतीति। तामर्द्धर्चशः शंसति, प्रतिष्ठित्या एव ॥ १३ ॥

कण्डिका १३ ॥ कुन्ताप सूक्तों में ऐतशप्रलाप, प्रवह्लिका, प्रतिराध, आजिज्ञासेन्या, और अतिवाद मन्त्रों का प्रयोग ॥

(अथ ऐतशप्रलापं शंसति, एता अश्वा आप्लवन्ते, इति) अब ऐतशप्रलाप [ऐतश ज्ञानवान् ऋषि का आलाप] वह [ऋत्विज्] बोलता है—एता अश्वा आप्लवन्ते······अथर्व० २०। १२६। १–२०, यह सूक्त है। (ऐतशः ह मुनिः यज्ञस्य आयुः ददर्श) ऐतश [ज्ञानवान्] मुनि ने [इस सूक्त में] यज्ञ के आयु [जीवन काल] को देखा। (सः ह पुत्रान् उवाच, पुत्रकाः यज्ञस्य आयुः अभिददृक्षम् तत् अभिलपिष्यामि, मा मा तृप्तं मन्यध्वम् इति) वह पुत्रों से बोला—हे प्यारे पुत्रो ! यज्ञ के जीवन काल को मैंने देखा है; उसको मैं आलापूंगा, मुझको तुम मत तृप्त मानों [मत रोको]। (तथा इति) [वे बोले] ऐसा ही हो। (तत् अभिललाप) उसने उसे आलापा। (तस्य ह इति अग्निः ऐतशायनः ज्येष्ठः पुत्रः अभिदुर्दृत्य मुखम् अपि जग्राह, ब्रुवन् नः पिता तृप्तः इति) अग्नि नामक ऐतश गोत्र में उत्पन्न उसके जेठे पुत्र ने निरादर करके मुँह पकड़ लिया यह बोलते हुये—हमारा पिता बस करे। (सः ह उवाच, धिक् त्वा जाल्मापरस्य ते प्रजां पापिष्ठां करिष्यामि इति) वह बोला—तुझे धिक्कार है, तुझ क्रूर व्यवहार वाले की प्रजा

१३—(ऐतशप्रलापम्) इणस्तशन्तशसुनौ (उ० ३। १४९) इण् गतौ—तशन्, एतश—अण् ऐतशम्। ऐतशस्य ब्राह्मणस्य सम्बन्धिनं प्रलापम् आलापम् (अश्वाः) अशूङ् व्याप्तौ—क्वन्, टाप्। व्यापिकाः प्रजाः (आ) आगत्य (प्लवन्ते) गच्छन्ति (आयुः) एतेर्णिच्च (उ० २। ११८) इण् गतौ—उसिः णित्। जीवनम्। जीवनज्ञानम् (पुत्रकाः) हे प्रियपुत्राः (अभिददृक्षम्) दृष्टवानस्मि (अभिलपिष्यामि) अभितः कथयिष्यामि (ऐतशायनः) अश्वादिभ्यः फञ् (पा० ४। १। ११०) एतश ऐतश वा—फञ् बाहुलकात्। ऐतशस्य गोत्रोत्पन्नः (अभिदुर्दृत्य) अनादृत्य (ब्रुवन्)

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐतश मुनि के पुत्र ने ऐतश को मनोविकृत बताया है जो कि इसके अग्रिम प्रलाप से स्पष्ट है ॥ सम्पा० ॥

को महादुखी कर दूंगा, (यः मे मुखं प्राग्रहीष्यः यदि जाल्म मे मुखं प्राग्रहीष्यः) जिस तूने मेरे मुँह को पकड़ा है, यदि हे क्रूर ! तूने मेरे मुँह को पकड़ा है। (शतायुषं गाम् अकरिष्यं सहस्रायुषं पुरुषम् इति) [नहीं तो] सौ बरस वाली गाय और सहस्र वर्ष वाला पुरुष को मैं कर देता। (तस्मात् अभ्यग्नयः ऐतशायनाः आजानेयाः सन्तः पापिष्ठाः अन्येषां बलिहृतः, पिता ताः स्वेन प्रजापतिना स्वया देवतया अयच्छन् [= अयच्छत्]) इसलिये ऐतश के गोत्र वाले अभ्यग्नि नाम वाले आजानेय [बड़ी गति से ले चलने वाले उत्तम घोड़ों के समान] होते हुये महादुखी, दूसरों के अन्न पाने वाले [हुये, क्योंकि] पिता ने उन [प्रजा लोगों] को अपने प्रजापालक व्यवहार से अपने देवता द्वारा रोका [शाप दिया]। (यत् ऐतशः, प्रलापः तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो यह ऐतश आलाप है, वह स्वर्ग लोक का रूप है। (यत् उ एव ऐतशः प्रलापः यातयामा वा क्षितिः) क्योंकि उचित समय बीता हुआ ही ऐतशप्रलाप हानि है। (अयातयामा) [= अयातयामः] ऐतशैतशः प्रलापः मे यज्ञः असत् अक्षितिः मे यज्ञः असत् इति) उचित समय बिना चूका हुआ ऐतशप्रलाप वाला मेरा यज्ञ होवे, हानि रहित मेरा यज्ञ होवे। (तं वै ऐतशैतशप्रलापं पदावग्राहं शंसति, तासाम् उत्तमेन पदेन यथा निविदः प्रणौति) उस ही ऐतशप्रलाप को एक एक पाद लेकर वह बोलता है, [उन ऋचाओं] के पिछले पाद से निविद् मन्त्रों के समान प्रणव [ओङ्कार] करता है॥

(अथ प्रवह्लिकाः पूर्वं शस्त्वा, विततौ किरणौ द्वौ, इति प्रतिराधान् उत्तराः शंसति, भगित्यभिगतः इति) फिर प्रवह्लिका [शत्रुओं को चलायमान करने वाली ऋचायें] पहले बोलकर—विततौ किरणौ द्वौ इति ···अथर्व० २०। १३३। १—६, यह मन्त्र हैं, प्रतिराधों [शत्रुओं को रोकने वाले मन्त्रों] को पीछे वाली ऋचायें करके वह बोलता है—भुगित्यभिगतः इति ···· अथर्व० २०। १३५। १–३, यह प्रतिराध मन्त्र हैं। (प्रवह्लिकाभिः ह वै देवाः असुराणां रसान् प्रववृहुः) प्रवह्लिका ऋचाओं से ही देवताओं [विद्वानों] ने असुरों के रसों [पराक्रमों] को उखाड़ दिया। (तद्

कथयन् सन् (तृप्तः) पर्याप्तः (जाल्मापरस्य) आर्षो दीर्घः। जल आच्छादने—मण्। जाल्मे क्रूरव्यवहारे परस्य[1] तत्परस्य (प्राग्रहीष्यः) प्र–अग्रहीष्यः। प्रकर्षेण गृहीतवान् असि (गाम्)—ऐ० ब्रा० ६। ३३। धेनुम् (सहस्रायुषम्) सहस्रवर्षजीवनयुक्तम् (आजानेयाः) अज गतिक्षेपणयोः—घञ् + आ + णीञ् प्रापणे—यत्। आजेन गमनेन आनेतारः। उत्तमघोटका इव (बलिहृतः) आहारस्य प्रापकाः (अयच्छन्) अयच्छत् नियमितवान् (यातयामा) विगतयोग्यः समयः (क्षितिः) हानिः (अयातयामा) प्राप्तयोग्यसमयः (असत्) भवेत् (पदावग्राहम्) पादेन पादेन अवगृह्य (प्रणौति) प्रणवेन ओङ्कारेण सह शंसति (प्रवह्लिकाः) प्र + ह्वल चलने—ण्वुल्, टाप्, प्रत्ययस्थात् कात्०(पा० ७।३।४४) इतीत्वम् प्रवह्लिकाख्याः ऋचः (प्रतिराधान्) प्रतिराधकान्।

---

१. मूलपाठ पर नहीं, अपितु अपर है। अतः यह समास अर्थयुक्त नहीं बन सकेगा। 'अपरः जाल्मः' जाल्मापरः,—राजदन्तादित्वात् परनिपातः' यह उचित जान पड़ता है॥ सम्पा०॥

यथा आभिः ह वै देवाः असुराणां रसान् प्रववृहुः, तस्मात् प्रवह्लिकाः, तत् प्रवह्लिकानां प्रवह्लिकात्वम्) सो जैसे इन [ऋचाओं] से ही विद्वानों ने असुरों के रसों को उखाड़ दिया, इसलिये यह प्रवह्लिका [चलायमान करने वाली ऋचायें] हैं—यही प्रवह्लिकाओं का प्रवह्लिकापन है । (ताः वै प्रतिराधैः प्रत्यराध्नुवन्) उन [ऋचाओं] ने ही प्रतिराध मन्त्रों से [असुरों के पराक्रमों को] हटा दिया । (तत् यत् प्रतिराधैः प्रत्यराध्नुवन्, तस्मात् प्रतिराधाः, तत् प्रतिराधानां प्रतिराधत्वम्) सो जो प्रतिराध मन्त्रों से हटा दिया, इसलिये वे प्रतिराध मन्त्र हैं, यह ही प्रतिराध मन्त्रों का प्रतिराधपन है । (प्रवह्लिकाभिः एव द्विषतां भ्रातृव्याणां रसान् प्रवह्लिकाः, ताः वै प्रतिराधैः प्रतिराध्नुवन्ति, ताः प्रग्राहम् इति एव) प्रवह्लिका ऋचाओं से ही अप्रिय वैरियों के पराक्रमों को वे चलायमान करने वाली ऋचायें ही प्रतिराध मन्त्रों से हटा देती हैं, उनको पाद पाद करके [वह बोलता है] ॥

(अथ आजिज्ञासेन्याः शंसति, इहेत्थ प्रागपागुदगधरागिति) फिर आजिज्ञासेन्याओं [शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली ऋचाओं] को वह बोलता है— इहेत्थ प्रागपागुदगधराक् इति" अथ० २० । १३४ । १-४, यह मन्त्र है । (आजिज्ञासेन्याभिः ह वै देवाः असुरान् आज्ञाय अथ एनान् अत्यायन् तथा एव एतत् यजमानाः आजिज्ञासेन्याभिः एव अप्रियं भ्रातृव्यम् आगाय अथ एनम् अतियन्ति ।) आजिज्ञासेन्या ऋचाओं से ही विद्वानों ने असुरों को तिरस्कार करके फिर उनको उल्लंघन किया; वैसे ही अब यजमान लोग आजिज्ञासेन्या ऋचाओं से ही अप्रिय बैरी पर चढ़कर फिर उसको उल्लंघन करते हैं । (ताः अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उन [ऋचाओं] को आधी आधी ऋचाओं से प्रतिष्ठा के लिये वह बोलता है ॥

(अथ अतिवादं शंसति, वी३मे देवा अक्रंसत इति) फिर वह अतिवाद [शत्रुओं के अधिक्षेप अर्थात् घुड़कने वाले मन्त्र] को वह बोलता है—वी३मे देवा अक्रंसत इति..... अथर्व० २० । १३५ । ४, यह वह मन्त्र है । (श्रीः वै अतिवादः, तम् एकर्चं शंसति) श्री ही [सम्पत्ति का हेतु] अतिवाद है । उस एक ऋचा वाले को वह बोलता है । (एकः ताः [एका सा] श्रीः, तां वै विरेभं शंसति, विरेभैः श्रियं पुरुषः वहति इति) एक ही वह श्री है, उस [ऋचा] को विविध ध्वनि से वह बोलता है, विविध

प्रतिराधसंज्ञान् मन्त्रान् (भुक्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—क्विप् । पालकः परमात्मा (अभिगतः) आभिमुख्येन प्राप्तः (रसान्) वीर्याणि (प्रववृहुः) वृह उद्यमने—लिट् । उद्यतवन्तः । उत्पाटितवन्तः (प्रग्राहम्) पादेन पादेन गृहीत्वा (आजिज्ञासेन्याः) आकारो अत्र अवशब्दार्थे । आज्ञातुमवज्ञातुमिच्छा आजिज्ञासा, तामर्हन्तीति तत् साधनीभूता ऋचः (इत्थ) इत्थम् । अनेन प्रकारेण (प्राक्) प्राच्यां दिशि (अपाक्) प्रतीच्यां दिशि (उदक्) उदीच्यां दिशि (अधराक्) नीच्यां दक्षिणस्यां दिशि (आज्ञाय) अवज्ञातवन्तः (आगाय) आभिमुख्येन प्राप्य (अतिवादम्) अतिक्षेपम् । तिरस्कारम् । अतिवादाख्यं सूक्तम् (इमे)

ध्वनियों से श्री को पुरुष पाता है । (ताम् अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उसको आधी आधी ऋचा करके प्रतिष्ठा के लिये ही वह बोलता है ॥ १३ ॥

भावार्थ:—जो मनुष्य वेदों को विचार कर प्रयत्न के साथ वैरियों को निर्बल करते हैं, वे ही श्रीमान् होते हैं ॥१३॥

विशेष: १—इस कण्डिका को ऐ० ब्रा० ६ । ३३ से मिलाओ ॥

विशेष: २—प्रतीक वाले सूक्तों के पहिले पहिले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं । शेष मन्त्र वेद में देखो--

कुन्तापसूक्तानि ॥

१, ऐतश सूक्त—एता अश्वा आप्लवन्ते ॥ १ ॥ प्रतीपं प्राति सुत्वनम् ॥२॥ अथ० २० । १२९ । १—२० ॥ (एता:) यह (अश्वा:) व्यापक प्रजायें (प्रतीपम्) प्रत्यक्ष व्यापक (सुत्वनम् प्राति) ऐश्वर्य वाले [परमेश्वर] के लिये (आ) आकर (प्लवन्ते) चलती हैं ॥ १, २ ॥

२, प्रवह्लिका ऋचायें—वितती किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः । न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ अथ० २० । १३३ । १—६ ॥ (द्वौ) दोनों (किरणौ) प्रकाश की किरणें [शारीरिक बल और आत्मिक पराक्रम] (विततौ) फैले हुये हैं, (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) पुरुष [देहधारी जीव] (आ) सब ओर से (पिनष्टि) पीसता है [सूक्ष्म रीति से काम में लाता है] । (कुमारि) हे कुमारी ! [कामना योग्य स्त्री] (वै) निश्चय करके (तत्) वह (तथा) वैसा (न) नहीं है, (कुमारि)हे कुमारी ! (यथा) जैसा (मन्यसे) तू मानती है ॥

३, प्रतिराध सूक्त – भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः । दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव ॥ अथ० २० । १३५ । १–३ ॥ (भुक्) पालने वाला [परमात्मा] (अभिगतः) सामने पाया गया है--(इति) ऐसा है, (शल्) शीघ्रगामी वह (अपक्रान्तः) सुख से आगे चलता हुआ है--(इति) ऐसा है, (फल्) सिद्धि करने वाला वह (अभिष्ठितः) सब ओर ठहरा हुआ है--(इति) ऐसा है । (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (दुन्दुभिम्) ढोल को (आहननाभ्याम्) दो डंकों से (आ) सब ओर (उथामः) हम उठावें [बल से बजावें] ॥

४, आजिज्ञासेन्या ऋचायें—इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अरालागुदभर्त्सथ-- अथ० २० । १३४ । १–४ ॥ (इह) यहाँ (इत्थ) इस प्रकार (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में और (अधराक्) दक्षिण में--(अरालागुदभर्त्सथ) हिंसा की गति को धिक्कारने वाला परमात्मा है ॥

प्रसिद्धाः (अक्रंसत) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिप्तवन्तः । अग्रेगताः (विरेभम्) ध्वनिविशेषम् (वहति) प्राप्नोति ॥

५—अतिवाद मन्त्र—वीमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर। सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि—अथ० २० । १३५ । ४ ॥ (इमे देवाः) इन विद्वानों ने (वि) विविध प्रकार (अक्रंसत) पैर बढ़ाया है, (अध्वर्यो) हे हिंसा न करने वाले विद्वान् ! (क्षिप्रम्) शीघ्र (प्रचर) आगे बढ़ और (प्रखुदसि) बड़े आनन्द में (असि) तू हो, (असि) तू हो, [यह वचन] (गवाम्) स्तोताओं [गुण व्याख्याताओं] का (सुसत्यम् इत्) बड़ा ही सत्य है ॥

कण्डिका १४ ॥

अथादित्याश्चाङ्गिरसीश्च शंसति, आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्निति । तद्देवनीथमित्याचक्षते । आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्द्धन्त, वयं पूर्वे स्वरेष्यामो वयं पूर्व इति । ते हाङ्गिरसः श्वःसुत्यां ददृशुः । ते हाग्नि[1] मूचुः, परेह्यादित्येभ्यः श्वःसुत्यां प्रब्रूहीति । अथादित्या अद्यसुत्यान्ददृशुः, ते हाग्नि[1] मूचुः, अद्यसुत्यास्माकं, तेषां नस्त्वं होतासीत्युदुपेमस्त्वामिति । स एत्याग्निरुवाच, अथादित्याः अद्यसुत्यामीक्षन्ते, कं वो होतारमवोचन्. वाह्वयन्ते युष्माकं वयमिति । ते हाङ्गिरसश्चु[2]क्रुधुः, मा त्वं गमो नु वयमिति । नेति हाग्निरुवाच, अनिन्द्या वै माह्वयन्ते किल्बिषं हि तद्योऽनिन्द्यस्य हवन्न इति । तस्माददतिदूरमत्यल्पमिति, यजमानस्य हवमियादेव देवाः । किल्बिषं हि तद्योऽनिन्द्यस्य हवन्न इति । तान् हादित्यानङ्गिरसो याजयाश्चक्रुः, तेभ्यो हीमां पृथिवीं दक्षिणां निन्युः, तां ह न प्रतिजगृहुः सा हीयं, निवृत्तोभयतःशीर्ष्णा दक्षिणाः शुचाविद्धाः शोचमाना व्यचरन् कुपिताः, मा नः प्रत्यग्रहीषुरिति । तस्मा एते[3] निरदीर्यन्त, य एते प्रदरा[4] अधिगम्यन्ते । तस्मान्निवृत्तदक्षिणां नोपाकुर्य्यात् नैनां प्रमृजेन्नेद्दक्षिणां प्रमृणजानीति । तस्माद्य एवास्य समानजन्मा भ्रातृव्यः स्याद् वृणुहूयुः, तस्मा एनां दद्यात् । तन्नः पराची दक्षिणा विवृणक्ति, द्विषति भ्रातृव्येऽन्ततः शुचं प्रतिष्ठापयति । योऽसौ तपति स वै शंसति, आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् तां ह जरितः प्रत्यायन्निति, न हीमां पृथिवीं प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन्निति, प्रतिहितेषु मायंस्तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन्निति, न हीमां पृथिवीं प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन्निति, प्रगृह्यादित्यमगृभ्णन्नहानेतरसन्न वि चेतनानीति । एष ह वा अह्नां विचेता, योऽसौ तपति । स वै शंसति, यज्ञानेतरसं न पुरोगवाम इति । एष ह वै यज्ञस्य पुरोगवी, यद्दक्षिणा यथार्हामिः स्रस्तमितिरेतदन्तेत्येष एवेश्वर उन्नेता । उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः । उतेमाशु मानं पिपर्तीत्येष एव श्वेत एष शिषुपत्येष उतो पद्याभिर्यविष्ठः, उतेमाशु मानं पिपर्त्तीति, आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रतिगृभ्णीह्यङ्गिरः । इदं राधो विभुः प्रभुरिदं राधो बृहत् पृथुः । देवा ददत्वासुरन्तद्वो अस्तु सुचेतनम् । युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायतेति । तद्यदादित्याश्चा-

---

१. पू. सं. "हाग्निर" इति पाठः ॥ २. पू. सं. "चक्रुधुः" इति पाठः ॥ ३. पू. सं. "एताः" इति पाठः ॥ ४. पू. सं. "प्रतरा" इति पाठः ॥ सम्पा० ॥

ङ्गिरसीश्च शंसति, स्वर्गताया एवैतदहरहः शंसति, यथा निविदोऽथ भूतेच्छन्दः शंसति, त्वमिन्द्र शर्म रिणा इतीमे वै लोका भूतेच्छन्दोऽसुरान् ह वै देवा अन्नं सेचिरे। भूतेन भूतेन जिघांसन्तस्तितीर्षमाणास्तानिमे देवाः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽच्छादयन्। तद्यदेतानिमे देवाः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽच्छादयन्, तस्माद्भूतेच्छन्दस्तद् भूतेच्छन्दां [भूतेच्छन्दसां] भूतेच्छन्दस्त्वम्। छादयन्ति ह वापरमिमे लोकाः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो निरघ्नन्। सर्वेभ्यो भूतेभ्यो छन्दते, य एवं वेद ॥ १४ ॥

कण्डिका १४ ॥ कुन्ताप सूक्तों में आदित्या और आङ्गिरसी ऋचाओं अथवा देवनीथ सूक्त का प्रयोग, आदित्यों का अङ्गिराओं को पृथिवी की दक्षिणा, पृथिवी की विषमता और भूतेच्छन्द का प्रयोग ॥

(अथ आदित्याः च आङ्गिरसीः च शंसति, आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् इति) फिर आदित्या और आङ्गिरसी ऋचाओं [आदित्य और अङ्गिर शब्द वाली ऋचाओं] को वह बोलता है—आदित्या ह जरितर ·· अथ० २०। १३५। ६, यह मन्त्र है। (तद् देवनीथम् इति आचक्षते) उसको देवनीथ [विद्वानों करके पाने योग्य]—ऐसा वे कहते हैं। (आदित्याः च ह वै अङ्गिरसः च स्वर्गे लोके अस्पर्धन्त, वयं पूर्वे स्वः एष्यामः, वयं पूर्वे इति) आदित्य लोग [ऋषि विशेष] और अङ्गिरा लोग [ऋषि विशेष] स्वर्ग लोक के विषय में झगड़ने लगे—हम पहिले स्वर्ग जायेंगे, हम पहिले। (ते अङ्गिरसः ह श्वःसुत्यां ददृशुः) उन अङ्गिराओं ने श्वःसुत्या [आगामी कल्य होने वाले सोम यज्ञ] को देखा [करना विचारा]। (ते ह अग्निम् ऊचुः, परे हि आदित्येभ्यः श्वःसुत्यां प्रब्रूहि इति) वे अग्नि [अग्नि नाम वाले पुरुष] से बोले—जा, और आदित्य ऋषियों को श्वःसुत्या का कह दे [बुलवा दे]। (अथ आदित्याः अद्यसुत्यां ददृशुः) फिर [अग्नि के बुलावा देने पर] आदित्य लोगों ने अद्यसुत्या [आज होने वाले सोम यज्ञ] को देखा [करना विचारा]। (ते ह अग्निम् ऊचुः अस्माकं अद्यसुत्या, तेषां नः त्वम् इति होता असि, त्वाम् उपेमः इति) वे अग्नि से बोले—हमारा अद्यसुत्या यज्ञ है तू ही उनका और हमारा होता [हवन कराने हारा] है हम तुझको पहुँचते हैं [उनके सहित तुझे बुलाते हैं]। (सः अग्निः एत्य उवाच, अथ आदित्याः अद्यसुत्याम् ईक्षन्ते, कं वः होतारम् अवोचन् वा आह्वयन्ते,

---

१४—(आदित्याः) अखण्डब्रह्मचारिणः। आदीप्यमानाः सूर्यकिरणाः (ह) एव (जरितः) हे स्तोतः (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानिभ्यः। प्राणवायुभ्यः (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठादानम् (अनयन्) प्रापितवन्तः। दत्तवन्तः (देवनीथम्) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २। २) देव+णीञ् प्रापणे—क्थन्। विद्वद्भिः प्रापणीयम् (अस्पर्धन्त) स्पर्धां विजयेच्छां कृतवन्तः (एष्यामः) गमिष्यामः (श्वःसुत्याम्) आगामिदिने भव्यं सोमयागम् (अग्निम्) अग्निनामानं पुरुषम् (अद्यसुत्याम्) अद्यतनसोमयागम् (उपेमः) उपगच्छामः (एत्य)

युष्माकं वयम् इति) वह अग्नि आकर बोला--अब आदित्य लोग अद्यसुत्या यज्ञ देखते हैं [करना विचारते हैं], सुख से तुम्हारे होता को वे कहते हैं और बुलाते हैं, तुम्हारे हम [होता] हैं । (ते ह अङ्गिरसः चुक्रुधुः, त्वं नु मा गमः, वयम् इति) वे अङ्गिरा ऋषि क्रोधित हुये—तू अब मत जा, हम [भी न जावेंगे]। (न इति ह अग्निः उवाच) ऐसा नहीं यह अग्नि बोला । (अनिन्द्याः वै मा आह्वयन्ते, तत् हि किल्बिषं यः अनिन्द्यस्य हवं न इति) अनिन्दनीय [श्रेष्ठ पुरुष] मुझे बुलाते—हैं, यह पाप है, जो मैं अनिन्दनीय के बुलावे को न [मानूं] । (तस्मात् अतिदूरम् अत्यल्पम् इति) इसलिये यह बहुत दूर [अश्लील] और बहुत तुच्छ बात है । (देवाः यजमानस्य हवम् इयात् एव, तत् हि किल्विषं यः अनिन्द्यस्य हवन्न इति) देवताओं [विद्वान् लोगों] ने यजमान के बुलावे को माना है, यह पाप है, जो मैं अनिन्दनीय के बुलावे को न [मानूं]॥

(तान् आदित्यान् ह अङ्गिरसः याजयांचक्रुः) उन आदित्य ऋषियों को अङ्गिराओं ने यज्ञ करा दिया ।(तेभ्यः हि इमां पृथिवीं दक्षिणां निन्युः, तां ह न प्रतिजगृहुः) उन [अङ्गिराओं] को उन्होंने यह पृथिवी दक्षिणा दी, उसको उन [अङ्गिराओं] ने न लिया । (सा हि इयं निवृत्ता उभयतःशीर्ष्णी) सो ही यह त्यागी हुई [पृथिवी] दो ओर शिर वाली [उत्तर और दक्षिण ध्रुव रूप शिर वाली] है । (दक्षिणाः शुचाविद्धाः शोचमानाः कुपिताः व्यचरन्, नः मा प्रत्यग्रहीषुः इति) वह दक्षिणायें सोच में छिदी हुई, शोक करती हुई, कुपित होकर विचरने लगी--उन्होंने हमें नहीं ग्रहण किया है । (तस्मं [=तस्मात्] एते निरदीर्यन्त, ये एते प्रदराः अधिगम्यन्ते) इसलिये यह फट गये हैं, जो यह खड्डे [पहाड़ नदी आदि विषम स्थान] जाने जाते हैं । (तस्मात् निवृत्तादक्षिणां न उपाकुर्यात्, न एनां दक्षिणां प्रमृजेत् नेद् प्रमृणजानीति) इसलिये त्यागी हुई दक्षिणा को न लेवे, न इस दक्षिणाको सजावे और न नष्ट करे । (तस्मात् अस्य यः एव समानजन्मा वृणुहूयुः भ्रातृव्यः स्यात्, तस्मै एनां दद्यात्) इसलिये इस [यजमान] का समान जन्म वाला, सुख छीनने वाला शत्रु होवे, उसको यह [दक्षिणा] देवे । (तत् पराची दक्षिणा नः विवृणक्ति, द्विषति भ्रातृव्ये अन्ततः शुचं प्रतिष्ठा-

---

आगत्य (कम्) सुखेन (चुक्रुधुः) क्रोधितवन्तः (अनिन्द्याः) अनिन्दनीयाः । श्रेष्ठाः (किल्बिषम्) पापम् (हवम्) आवाहनम् (इयाः) इयुः । प्रापुः (याजयाञ्चक्रुः) यज्ञं कारितवन्तः (निन्युः) आनीतवन्त. दत्तवन्तः (प्रतिजगृहु) स्वीकृतवन्तः (निवृत्ता) त्यक्ता (उभयतःशीर्ष्णी) उत्तरदक्षिणध्रुवरूपशिरोयुक्ता (शुचाविद्धाः) व्यध ताडने—क्तः । शोकेन बाधिताः (निरदीर्यन्त) विदारिता वर्त्तन्ते (प्रदराः) प्रदराः--ऐ० ब्रा० ६ । ५ । विदारणानि (अधिगम्यन्ते) ज्ञायन्ते । दृश्यन्ते (उपाकुर्यात्) स्वीकुर्यात् (प्रमृजेत्) मृजू शौचालङ्कारयोः । अलङ्कुर्यात् (प्रमृणजानीति) मृण हिंसायाम्, आर्षरूपम् प्रमृणीयात् । नाशयेत् (वृणुहूयुः) पृभिदिव्यधि० (उ० १ । २३) वृण प्रीणने--कुः । यजिमनिशुन्धि० (उ० ३ । २०) हु दानादानयोः अदने च--युच्, दीर्घः । सुखस्य ग्रहीता (पराची) पर+अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन्, ङीप् । शत्रुगता (विवृणक्ति) वृजी वर्जने ।

पयति) सो वह शत्रुको पहुँची हुई दक्षिणा हमें त्याग देती है, अप्रिय शत्रु पर अंत में शोक स्थापित करती है ॥

(यः असौ तपति, सः वै शंसति, आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्. तां ह जरितः प्रत्यायन् इति, न हि इमां पृथिवीं प्रत्यायन्) जो वह [सूर्य] तपता है वह ही प्रशंसा किया जाता है—आदित्या ह······अथ० २० । १३५ । ६; [मन्त्र के पहिले तीन पाद हैं] उन्होंने [अङ्गिराओं] ने इस पृथिवी को प्रत्यक्ष नहीं पाया है। (तामु ह जरितः प्रत्यायन् इति प्रतिहितेषु मा आयन्) तामु ह जरितः प्रत्यायन् [उस मन्त्र का चौथा पाद] प्रत्यक्ष रक्खे पदार्थों में [उन्होंने उसको] नहीं पाया। (तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन् इति, न हि इमां पृथिवीं प्रत्यगृभ्णन्) तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन् [उसी सूक्त के मन्त्र ७ का पहिला पाद] उन्होंने इस पृथिवी को प्रत्यक्ष नहीं लिया है। (तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन् इति, प्रगृह्य आदित्यम् अगृभ्णन्) तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णन् [उसी मन्त्र का दूसरा पाद] [पृथिवी को] ग्रहण करके सूर्य को उन्होंने ग्रहण किया। (अहानेतरसं न वि चेतनानि इति, एष ह वै अह्नां विचेता, यः असौ तपति, सः वै शंसति) अहानेतरसं न वि चेतनानि [उसी मन्त्र का तीसरा पाद], यह ही दिनों का जताने वाला है जो वह तपता है, वही प्रशंसा किया जाता है। (यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः इति, एषः ह वै यज्ञस्य पुरोगवी, यत् दक्षिणाः यथा अर्हामः एषः एव ईश्वरः उन्नेता अन्ता स्रस्तम् इतिरेतत्) यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः [उसी का चौथा पाद] यह ही यज्ञ का अग्रगामी है, क्योंकि जैसे हम दक्षिणाओं के योग्य होते हैं, यह ही समर्थ ऊंचा ले जाने वाला [सूर्य] अन्त में गिरे हुये [शत्रु] को हरा देता है। (उत श्वेतः आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः। उतेमाशु मानं पिपर्ति इति, एषः एव श्वेतः एषः शिशु।ति, एषः उतो पद्याभिः यविष्ठः उत ईम् आशुमानं पिपर्ति इति) उत श्वेतः आशुपत्वा······[उसी सूक्त का मन्त्र ८] यही

वर्जयति । त्यजति (प्रति) प्रत्यक्षम् (आयन्) अगच्छन्, प्राप्नुवन् (प्रतिहितेषु) प्रत्यक्षधृतेषु पदार्थेषु (अगृभ्णन्) गृहीतवन्तः (अहानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः (उ० २ । ८६) अह व्याप्तौ—आनच् । तरो बलनाम-निघ० २ । ६ । ततः अर्शआद्यच् । अहाने व्याप्तौ तरसं बलयुक्तं व्यवहारम् (चेतनानि) चेतनाः । ज्ञानानि (विचेता) विचेतिता । विज्ञापकः (यज्ञानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः (उ० २ । ८६) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—आनच्, नकारश्छान्दसः । यज्ञे बलियुक्तं व्यवहारम् (न) सम्प्रति (पुरोगवामः) गु गतौ—लट्, परस्मैपदम् । गवते गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अग्रे भूत्वा गच्छामः प्राप्नुमः । (पुरोगवी) अग्रगामी (स्रस्तम्) पतितम् । शत्रुम् (इतिरेतत्) अतरेत् । अविभवेत् । (अन्ता) अन्ते (श्वेतः) शुक्लवर्णः सूर्यः (आशुपत्वाः) अशूप्रुषिलटि० (उ० १ । ५१) आशु+पत्ल गतौ—क्वन् । हे शीघ्रगामिनः (उतो) निश्चयेन (पद्याभिः) पादयत्, पद्भावः । पादाय गमनाय हिताभिर्गतिभिः (यविष्ठः) युवन्—इष्ठन् । अतिशयेन बलवान् (उत) अवश्यम् (ईम्) प्राप्तव्यम् (आशु) शीघ्रम्

श्वेत है यही हिंसक [विघ्न] का गिराने वाला है और यही चलने योग्य गतियों से अति बलवान् होकर अवश्य पाने योग्य परिमाण को शीघ्र पूरा करता है। (आदित्या रुद्रा वसवस्त्वे नु त इदं राधः प्रतिगृभ्णीह्यङ्गिरः। इद राधो विभुः प्रभुरिदं राधो बृहत् पृथुः ॥ देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनं। युष्माँ अस्तु दिवे दिवे प्रत्येव गृभायत इति) आदित्या रुद्रा .....बृहत् पृथु। देवा ददत्वासुरं ... गृभायत इति [यह दो उसी सूक्त के मन्त्र ९, १० भेद से हैं]। (तत् यत् आदित्याः च आङ्गिरसीः च शंसति, स्वर्गतायै एव एतत् अहरहः यथा निविदः शंसति) सो जो आदित्या और अङ्गिरसी ऋचाओं को वह बोलता है, स्वर्ग प्राप्ति के लिये ही इसको निविदों के समान [मन्त्र के अन्त में भी ओम् बोल कर] दिन दिन वह बोलता है॥

(अथ भूतेच्छन्दः शंसति) फिर भूतेच्छन्द [ऐश्वर्य में शत्रु को ढकना] वह बोलता है। (त्वमिन्द्र शर्म रिणा इति, इमे वै लोकाः भूतेच्छन्दः असुरान् ह वै देवाः अन्नं सेचिरे) त्वमिन्द्र शर्म रिणाः ... [उसी सूक्त के मन्त्र ११–१३] इन ही लोकों में भूतेच्छन्दों द्वारा असुरों से ही देवताओं ने अन्न सेवन किया। (भूतेन भूतेन तान् जिघांसन्तः तितीर्षमाणाः इमे देवाः सर्वेभ्यः भूतेभ्यः अच्छादयन्) प्रत्येक ऐश्वर्य से उन [शत्रुओं] को मारना चाहते हुये और हराना चाहते हुये इन देवताओं ने सब प्राणियों के लिये ढक दिया। (तत् यत् एतान् इमे देवाः सर्वेभ्यः भूतेभ्यः अच्छादयन् तस्मात् भूतेच्छन्दः, तत् भूतेच्छन्दाम् [=भूतेच्छन्दसाम्] भूतेच्छन्दस्त्वम्) सो जो इन [शत्रुओं] को इन देवताओं ने सब प्राणियों के लिये ढक दिया, इसलिये यह भूतेच्छन्द [ऐश्वर्य में ढकने वाला] है. यही भूतेच्छन्दों का भूतेच्छन्दस्त्व है। (इमे लोकाः सर्वेभ्यः लोकेभ्यः ह वा अपरम् छादयन्ति निरघ्नन्) यह लोक [देवता लोग] सब प्राणियों के लिये निश्चय करके वैरी को ढक लेते और मार निकालते हैं। (सर्वेभ्यः भूतेभ्यः छन्दते यः एवं वेद) सब प्राणियों से [शत्रुओं को] वह ढक देता है, जो ऐसा विद्वान् है॥ १४॥

(मानम्) परिमाणम् (पिपर्ति) पूरयति (शिषुपति) पॄभिदिव्यधि० (उ० १।२३) शिष हिंसायाम्—कुः। सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४। ११८) पत अधोगतौ—इन्, विभक्तिलुक्। हिंसकानां विघ्नानामधोगमयिता (अनु) अनुसृत्य (ते) प्रसिद्धाः (राधः) धनम् (प्रति) प्रत्यक्षेण (गृभ्णीहि) गृहाण (अङ्गिरः) हे विज्ञानिन् (विभुः) व्यापकम् (प्रभुः) समर्थम् (बृहत्) बहु (पृथुः) विस्तृतम् (ददतु) प्रयच्छन्तु (आसुरम्) असुर--अण् भावे। असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्थाः--निरु० १०। ३४। बुद्धिमत्त्वम् (वः) युष्माकम् (सुचेतनम्) प्रशस्तज्ञानम् (गृभायत) गृह्णीत (भूतेच्छन्दः) सर्वधातुभ्यो असुन् (उ० ४। १८९) भूते + छदि आच्छादने—असुन्। ऐश्वर्ये शत्रुछादनम्। एतन्नामसूक्तम् (शर्म) शरणम्। सुखम् (रिणा) रिणाः। अरिणाः। प्रापितवानसि (सेचिरे) षच सेवने। सेवितवन्तः (जिघांसन्तः) हन्तुमिच्छन्तः (तितीर्षमाणाः) तरितुमभिभवितुमिच्छन्तः (अच्छादयन्) आच्छादितवन्तः (निरघ्नन्) नाशितवन्तः (छन्दते) आच्छादयति शत्रून्॥

भावार्थ:—जो मनुष्य नीति निपुण होकर उपद्रवी शत्रुओं को निकाल देते हैं, वे ही अपनी और प्रजा की रक्षा कर सकते हैं ॥ १४ ॥

विशेष: १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ६ । ३४, ३५, ३६ से मिलाओ ॥

विशेष: २ –प्रतीक वाले मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं ॥

१—आदित्या और आङ्गिरसी ऋचायें—आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् । तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन्—अथ० २० । १३५ । ६ ॥ (आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारियों ने (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (दक्षिणाम्) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] को (अनयन्) प्राप्त कराया है । (ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्होंने प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उस [दक्षिणा] को (उ) निश्चय करके (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्होंने प्रत्यक्ष पाया है ॥

२—तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः । अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः—अथ० २० । १३५ । ७ ॥ (ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णन्) उन्होंने [विज्ञानियों ने—मन्त्र ६] प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उसको (उ) निश्चय करके (ह) ही (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णः) तूने प्रत्यक्ष पाया है । (न) अभी (अहानेतरसम्) व्यक्ति में बल रखने वाले व्यवहार को, (वि) विविध (चेतनानि) चेतनाओं को, और (न) अभी (यज्ञानेतरसम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान] में बल रखने वाले व्यवहार को (पुरोगवामः) हम आगे होकर पावें ॥

३—उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः । उतेमाशु मानं पिपर्ति—अथ० २० । १३५ । ८ ॥ (आशुपत्वाः) हे शीघ्रगामी पुरुषो ! (श्वेतः) श्वेत वर्ण वाला [सूर्य] (उत) भी (यविष्ठः) अत्यन्त बलवान् होकर (पद्याभिः) चलने योग्य गतियों से (उतो) निश्चय करके (उत) अवश्य (ईम्) प्राप्ति योग्य (मानम्) परिमाण को (आशु) शीघ्र (पिपर्ति) पूरा करता है ॥

४—आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः । इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु—अथ० २० । १३५ । ९ ॥ [हे शूर सेनापति !] (ते) वे (आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारी [अथवा १२ महीने], (रुद्राः ज्ञान दाता [अथवा ११ रुद्र, १० प्राण और आत्मा] और (वसवः) श्रेष्ठ विद्वान् लोग [अथवा पृथिवी आदि ८ वसु [(त्वे अनु) तेरे पीछे पीछे हैं, (अङ्गिरः) हे विज्ञानी पुरुष ! (इदम्) इस (राधः) धन को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (गृभ्णीहि) तू ग्रहण कर । (इदम्) यह (राधः) धन (विभु) व्यापक और (प्रभु) बल युक्त है, (इदम्) यह (राधः) धन (बृहत्) बहुत और (पृथु) विस्तीर्ण है ॥

५—देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम्। युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत—अथ० २०। १३५। १०॥ [हे मनुष्यो!] (देवाः) विद्वान् लोग (आसुरम्) बुद्धिमत्ता (ददतु) देवें, (तत्) वह (वः) तुम्हारे लिये (सुचेतनम्) सुन्दर ज्ञान (अस्तु) होवे। (युष्मान्) तुमको वह (दिवेदिवे) दिन दिन (अस्तु) होवे, [उसको] (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (एव) ही (गृभायत) तुम ग्रहण करो॥

६—भूतेच्छन्द मन्त्र—त्वमिन्द्र शर्म रिणा हव्यं पारावतेभ्यः। विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह—अथ० २०। १३५। ११, मन्त्र १२, १३ वेद में देखो॥ (इन्द्र) हे इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू ने (शर्म) शरण और (हव्यम्) हव्य [विद्वानों के योग्य अन्न] (पारावतेभ्यः) पार और अवार देश वाले लोगों के लिये (रिणाः) पहुँचाया है। (स्तुवते) स्तुति करने वाले (विप्राय) बुद्धिमान् के लिये (वसुवनिम्) धनों का सेवन (दुरश्रवसे) दुष्ट अपयश मिटाने को (वह) प्राप्त करा॥

कण्डिका १५॥

अथाहनस्याः शंसति, यदस्या अंहुभेद्या इत्याह, न स्याद्वा इदं सर्वं प्रजातमाह, न स्याद्वा एतदधिप्रजायतेऽस्यैव सर्वस्याप्त्यै प्रजात्यै। ता वै षट् शंसेत्; षड् वा ऋतवः, ऋतवः पितरः, पितरः प्रजापतिः प्रजापतिराह, न स्यात् तादृशं शंसेदिति। शाम्भव्यस्य वचः, दशाक्षरा विराड्, वैराजो यज्ञः, तद्गर्भा उपजीवन्ति। श्रीर्वै विराड्, यशोऽन्नाद्यं, श्रियमेव तद्विराजं यशस्यन्नाद्ये प्रतिष्ठापयति। प्रतिष्ठन्तीरिदं सर्वमनु प्रतितिष्ठति। प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिः, य एवं वेद। तिस्रः शंसेदिति वात्स्यः। त्रिवृद्वै रेतः सिक्तं सम्भवत्याण्डमल्पं जरायुस्त्रिवृत् प्रत्ययं, माता पिता यज्जायते, तत् तृतीयम्, अभूतोद्यमेवैतत्, यच्चतुर्थीं शंसेत्। सर्वा एव षोडश शंसेदिति हैके। कामार्त्तो वै रेतः सिञ्चति, रेतसः सिक्ताः प्रजाः प्रजायन्ते प्रजानां प्रजननाय। प्रजावान् प्रजनयिष्णुर्भवति, प्रजात्यै प्रजायते प्रजया पशुभिः, य एवं वेद॥ १५॥

कण्डिका १५॥ कुन्ताप सूक्तों में आहनस्या ऋचाओं का प्रयोग॥

(अथ आहनस्याः शंसति, यदस्या अंहुभेद्या इति आह) फिर आहनस्यायें [संयोग सूचक ऋचायें] वह बोलता हैं—यदस्या अंहुभेद्या—अथ० २०। १३६। १—१६, यह सूक्त बोलता है। (आह इदं सर्वं प्रजातं वै न स्यात्, न स्यात् एतत् वै अधिप्रजायते, अस्य सर्वस्य एव आप्त्यै प्रजात्यै) वह कहता है—यदि यह सब प्रकट किया गया न होवे, यह भी न होवे कि यह [जगत्] प्रकट होवे, इस सब [जगत्] की प्राप्ति और उत्पत्ति के लिये [यह कर्म है]। (ताः वै षट् शंसेत्) उन छह ही [ऋचाओं] को बोले। (षट् वै ऋतवः, ऋतवः पितरः, पितरः प्रजापतिः) छह ही ऋतुयें हैं, ऋतुयें

१५—(आहनस्याः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) आ+हन हिंसागत्योः—असुन्, आहनस्—यत्, टाप्। आहनसः आहननस्य संयोगस्य सम्बन्धिनीः ऋचः (अंहुभेद्या) भृमृशीङ्० (उ० १। ७) अम रोगे पीडने च—उ प्रत्ययः हुक् च।

पितर [पालनेवाले] हैं, पितर प्रजापति [प्रजापालक] हैं। (प्रजापतिः आह, न स्यात्, तादृशं शंसेत् इति) प्रजापति कहता है--अब ऐसा होवे, वैसा बोले [सृष्टि उत्पादन मन्त्र बोले] । (शाम्भव्यस्य वचः, दशाक्षरा विराट्, वैराजः यज्ञः, गर्भाः तम् उपजीवन्ति) शाम्भव्य ऋषि का वचन है—[दस ऋचायें बोले] दस अक्षर वाला विराट् छन्द है विराट् [विविध ऐश्वर्य] वाला यज्ञ है, गर्भ उस [यज्ञ] के आश्रय जीते हैं। (श्रीः वै विराट् यशः, अन्नाद्यं, तत् श्रियम् एव विराजं यशसि अन्नाद्ये प्रतिष्ठापयति) श्री [सम्पत्ति] ही विराट्, यश और खाने योग्य अन्न है, तब श्री [अर्थात्] विराट् को यश में और खाने योग्य अन्न में वह स्थापित करता है। (प्रतिष्ठन्तीः अनु इदं सर्वं प्रतितिष्ठति) ठहरी हुई [प्रजाओं] के साथ साथ यह सब प्रतिष्ठा पाता है। (प्रजया पशुभिः प्रतितिष्ठति, यः एवं वेद) प्रजा से और पशुओं से वह प्रतिष्ठा [ठहराव] पाता है, जो ऐसा विद्वान् है। (तिस्रः शंसेत् इति वात्स्यः) तीन [ऋचायें] बोले, यह वात्स्य [कहता है] । (त्रिवृत् वै रेतः सिक्तं सम्भवति—आण्डम् अल्प जरायुः त्रिवृत् प्रत्ययम्) तीन विधि से वर्तमान ही सींचा हुआ वीर्य समर्थ होता है—आण्ड [अण्डज पक्षी आदि], अल्प [सूक्ष्म, अङ्कुर वृक्ष आदि] और जरायु [जरायुज मनुष्य आदि] यह तीन विधि से वर्तमान प्रतीति है। (माता पिता यत् जायते, तत् तृतीयम्) माता और पिता [दो] और जो उत्पन्न होता है वह तीसरा है [यह भी त्रिवृत् है] । (अभूतोद्यम् एव एतत्, यत् चतुर्थीं शंसेत्) भविष्य कर्म का कथन ही यह है जो चौथी [ऋचा] को बोले। (सर्वाः एव षोडश शंसेत् इति ह एके) सब ही सोलह [ऋचाओं] को बोले—यह कोई कोई [कहते हैं] । (कामार्तः वै रेतः सिञ्चति, रेतसः सिक्ताः प्रजाः प्रजानां प्रजननाय प्रजायन्ते) काम से पीड़ित पुरुष ही वीर्य सींचता है, वीर्य से सींची हुई प्रजायें प्रजाओं के उत्पन्न करने के लिये उत्पन्न होती हैं। (प्रजनयिष्णुः प्रजावान् भवति, प्रजात्यै प्रजया पशुभिः प्रजायते, यः एवं वेद) उत्पन्न करने वाला पुरुष प्रजाओं वाला होता है, प्रजा की उत्पत्ति के लिये प्रजा से और पशुओं से वह बढ़ता है, जो ऐसा विद्वान् है ॥ १५ ॥

अंहुरः=अंहस्वान्--निरु० ६ । २७ । अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः (उ० ३ । १५८) भिदिर् विदारणे—ईप्रत्ययः । अंहुना तापेन भेदनीया विदारणीया या सा अंहुभेदी तस्याः प्रजायाः (न) निषेधे । सम्प्रति (त्रिवृत्) त्रिविधवर्तमानम् (सम्भवति) समर्थं भवति (आण्डम्) ञमन्ताड्डः (उ० १ । ११४) अम संयोगे—डः, अण् । पक्ष्यादिप्रादुर्भावकोषजम् । अण्डजम् (अल्पम्) पानीविषिभ्यः पः (उ० ३ । २३) अल वारणपर्याप्तिभूषासु—पः । सूक्ष्मम् । अङ्कुरजम् (जरायुः) किंजरयोः श्रिणः (उ० १ । ४) जरा+इण् गतौ—उण् । गर्भाशयः । गर्भजम् (प्रत्ययम्) प्रतीतिः (अभूतोद्यम्) वद कथने—क्यप् । अभूतस्य अनतीतस्य अनागतस्य भविष्यकर्मणः कथनम् (प्रजनयिष्णुः) णेश्छन्दसि (पा० ३ । ३ । १३७) प्रजनयतेः—इष्णुच् । प्रजनयिता ॥

भावार्थः—जो मनुष्य वेदों के तत्त्व सार को समझ कर संसार में काम करते हैं, वे धन धान्य, प्रजा और पशुओं से समृद्ध होते हैं ॥१५॥

विशेषः १—इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ६ । ३६ से मिलाओ ॥

विशेषः २—सोलह मन्त्रों में से प्रतीक वाला एक अर्थ सहित दिया जाता है, शेष वेद में देखो ॥

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् । मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव--अथ० २० । १३६ । १—१६, तथा मन्त्र १, यजुर्वेद २३ । २८ ॥ (यत्) जब (अस्याः) इस (अंहुभेद्याः) पाप से नाश होने वाली [प्रजा] के (कृधु) छोटे और (स्थूलम्) बड़े [पाप] को (उपातसत्) वह [राजा] नाश करता है । (अस्याः) इस [प्रजा] के (मुष्कौ इत्) दोनों ही चोर [स्त्री और पुरुष चोर अथवा रात्रि और दिन के चोर] (गोशफे) गौ के खुर के गढ़े में (शकुलौ इव) दो मछलियों के समान (एजतः) कांपते हैं [डरते हैं] ॥

कण्डिका १६ ॥

अथ दाधिक्रीं शंसति, दधिक्राव्णो अकारिषमिति । तत उत्तराः पावमानीः शंसति, सुतासो मधुमत्तमा इति । अन्नं वै दधिक्राः, पवित्रं पावमान्यः, तदु हैके पावमानीभिरेव पूर्वं शस्त्वा तत उत्तरा दाधिक्रीं शंसति । इयं वागन्नाद्या, यः पवत इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्य्यात्, उपनश्यति ह वागशनायती । स दाधिक्रीमेव पूर्वं शस्त्वा तत उत्तराः पावमानीः शंसति । तद्यद्दाधिक्रीं शंसति, इयं वागाहनस्यां वाचमवादीत्, तद्देवपवित्रेणैव वाचं पुनीते । सा वा अनुष्टुप् भवति । वाग्वा अनुष्टुप्, तत् स्वेनैव छन्दसा वाचं पुनीते । तामर्द्धर्चशः शंसति, प्रतिष्ठित्या एव । अथ पावमानीः शंसति, पवित्रं वै पावमान्यः, इयं वागाहनस्यां वाचमवादीत्, तत्पावमानीभिरेव वाचं पुनीते । ताः सर्वा अनुष्टुभो भवन्ति, वाग्वा अनुष्टुप्, तत्स्वेनैव छन्दसा वाचं पुनीते । ता अर्द्धर्चशः शंसति, प्रतिष्ठित्या एव, अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदिति । एतं तृचमैन्द्राबार्हस्पत्यं सूक्तं शंसति । अथ हैतदुत्सृष्टं, तत् यदेतं, तृचमैन्द्राबार्हस्पत्यमन्त्यं तृचमैन्द्राजागतं शंसति, सवनधारणमिदं गुल्मह इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् । त्रिष्टुबायतना वा इयं वाक् एषां होत्रकाणां, यदैन्द्राबार्हस्पत्या तृतीयसवने । तद्यदेतं तृचमैन्द्राबार्हस्पत्यमन्त्यं तृचमैन्द्राजागतं शंसति, स्व एवैनं तदायतने प्रीणाति, स्वयोर्देवतयोः कामं नित्यमेव परिदध्यात्, कामं तृचस्योत्तमया । तदाहुः, संशंसेत्, षष्ठेऽहनि न संशंसेत्, कथमन्येष्वहःसु संशंसति कथमत्र न संशंसतीति । अथो खल्वाहुः, नैव संशंसेत् स्वर्गो वै लोकः, षष्ठमहरसमा ये वै स्वर्गो लोकः कश्चिद्वै स्वर्गे लोके शमयतीति । तस्मान्न संशंसति यदेव न संशंसति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम् । यद्वेवैनाः संशंसति, यन्नाभानेदिष्ठो बालखिल्यो वृषाकपिरेवयामरुत् । एतानि वा अत्रोक्थानि भवन्ति । तस्मान्न संशंसति । ऐन्द्रो वृषाकपिः सर्वाणि छन्दांस्यैतशः प्रलाप उपाप्तो यदैन्द्राबार्हस्पत्या तृतीयसवने, तद्यदेतं तृचमैन्द्राबार्हस्पत्यं सूक्तं शंसति, ऐन्द्राबार्हस्पत्या परिधानीया

विशो अदेवीरभ्याचरन्तीरिति अपरजना ह वै विशो अदेवीः, न ह्यस्यापरजनं भयं भवति, शान्ताः प्रजाः क्लृप्ताः सहन्ते, यत्रैवंविदं शंसति यत्रैवंविदं शंसतीति ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

इत्यथर्ववेदस्य गोपथब्राह्मणोत्तरभागे षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

कण्डिका १६ ॥ कुन्ताप सूक्तों में दाधिक्री, पवमानी और ऐन्द्राबार्हस्पत्य ऋचाओं का प्रयोग, षडह यज्ञ की समाप्ति ॥

(अथ दाधिक्रीं शंसति, दधिक्राव्णो अकारिषम् इति) फिर दाधिक्री [दधिक्रा शब्द वाली ऋचा] को वह बोलता है—दधिक्राव्णो अकारिषम् ''' अथ० २० । १३७ । ३, यह मन्त्र है । (ततः उत्तराः पावमानीः शंसति, सुतासो मधुमत्तमाः इति) फिर पीछे वाली पावमानी [शुद्ध करने वाली ऋचायें] वह बोलता है—सुतासो मधुमत्तमाः''''''अथ० २० । १३७ । ४—६, यह ऋचायें हैं । (अन्नं वै दधिक्राः, पवित्रं पावमान्यः) अन्न ही दधिक्रा [धारण करने वाला और ले चलने वाला] है, और पवित्र [शुद्ध आचरण] पावमानी [शुद्ध करने वाली क्रियायें] हैं । (तत् उ ह एके पावमानीभिः [=पावमानीः] एव पूर्वं शस्त्वा ततः उत्तरा [=उत्तरां] दाधिक्रीं शंसति) फिर ही कोई कोई [कहते हैं]--पावमानी ऋचाओं को पहिले बोलकर उससे पीछे दाधिक्री बोलता है । (इयं वाक् अन्नाद्या, यः पवते--इति वदन्तः तत् उ तथा न कुर्यात् अशनायती ह वाक् उपनश्यति) यह वाक् अन्नाद्या [अन्न खाने वाली है, यः पवते—यह [ब्राह्मण वचन] वे बोलते हैं, इसलिये वह वैसा न करे [पावमानियों को पहिले न बोले], भूखी वाणी नष्ट हो जाती है । (सः दाधिक्रीम् एव पूर्वं शस्त्वा ततः उत्तराः पावमानीः शंसति) वह दाधिक्री ही ऋचा पहिले बोलकर फिर पीछे वाली पावमानियों को बोलता है । (तत् यत् दाधिक्रीं शंसति इयं वाक् आहनस्यां वाचम् अवादीत्, तत् देवपवित्रेण एव वाचं पुनीते) फिर वह जो दाधिक्री ऋचा बोलता है यह वाणी आहनस्या वाणी [संयोग वाली ऋचा--कण्डिका १५]

१६—(दाधिक्रीम्) दधि+क्रमु पादविक्षेपे—विट्, अनुनासिकस्य आकारः, दधिक्रा—अण्, ङीप् । दधिक्री एव दधिक्रावा । दधिक्राशब्दयुक्तामृचम् (दधिक्राव्णः) डुधाञ् धारणपोषणयोः—किः, दधि+क्रमु पादविक्षेपे वनिप् । दधिक्रावा अश्वनाम—निघ० १ । १४ । दधत् क्रामतीति—निरु० २ । २७ । धारणशीलस्य क्रमणशीलस्य च (अकारिषम्) अहं कर्म कृतवानस्मि (उत्तराः) अनन्तराः (पावमानीः) पवित्रव्यवहारसूचिका ऋचः (सुतासः) निष्पादिताः (मधुमत्ताः) मधुना ज्ञानेन अतिशयेन युक्ताः (अशनायती) अशन—क्यच् शतृ, ङीप् । बुभुक्षिता (आहनस्याम्) आहननस्य संयोगस्य सूचिकामृचम् (अवादीत्) वदति (पुनीते) शोधयति (पवित्रेण) शुद्धव्यव-

को बोलती है, तब विद्वानों की पवित्रता से ही वाणी को शुद्ध करता है । (सा वै अनुष्टुप् भवति) वह ही अनुष्टुप् छन्द है । (वाक् वै अनुष्टुप्, तत् स्वेन एव छन्दसा वाचं पुनीते) वाणी ही अनुष्टुप् है [निघ० १ । ११], तब वह अपने ही छन्द से वाणी को शुद्ध करता है । (ताम् अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उस [दाधिक्री] को आधी आधी ऋचा से प्रतिष्ठा के लिये ही वह बोलता है ॥

(अथ पावमानीः शंसति) फिर पावमानी ऋचायें वह बोलता है । (पवित्रं वै पावमान्यः, इयं वाक् आहनस्यां वाचम् अवादीत्, तत् पावमानीभिः एव वाचं पुनीते) पवित्र आचरण ही पावमानी ऋचायें [शुद्ध व्यवहार क्रियायें] हैं, यह वाणी आहनस्या वाणी को बोलती है । तब पावमानी ऋचाओं से ही वाणीको वह शुद्ध करता है । (ताः सर्वाः अनुष्टुभः भवन्ति, वाक् वै अनुष्टुप् तत् स्वेन एव छन्दसा वाचं पुनीते) वे सब अनुष्टुप् छन्द हैं, वाणी ही अनुष्टुप् है, तब वह अपने ही छन्द से वाणी को शुद्ध करता है । (ताः अर्धर्चशः प्रतिष्ठित्यै एव शंसति) उनको आधी आधी ऋचा करके प्रतिष्ठा के लिये ही वह बोलता है ॥

(अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठत् इति, एतं तृचम् ऐन्द्राबार्हस्पत्यं सूक्तं शंसति) अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठत् इति······अथ० २० । १३७ । ७—९, इस तृच इन्द्र और बृहस्पति देवता वाले सूक्त को वह बोलता है । (अथ ह एतत् उत्सृष्टं, तत् यत् एतं तृचम् ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् अन्त्यं तृचम् ऐन्द्राजागतं शंसति इदं सवनधारणं, गुल्महः इति वदन्तः, तत् उ तथा न कुर्यात्) फिर यह सूक्त छोड़ा हुआ है, इसलिये जो वह इस इन्द्र और बृहस्पति देवता वाले तृच को और पिछले इन्द्र देवता वाले जगती [वा त्रिष्टुप्] छन्द के तृच को वह बोलता है, यह [तीनों] सवनों का धारण करना है, गुल्महः [शत्रु सेना का नाश करने वाला इन्द्र है] यह वह बोलते हैं, इसलिये ही वह वैसा न करे [इन तृचों को न बोले]। (त्रिष्टुबायतना वै एषां होत्रकाणाम् इयं वाक्, यत् ऐन्द्राबार्हस्पत्या तृतीयसवने) त्रिष्टुप् छन्द वाली ही इन सहायक होताओं की यह वाणी है, इन्द्र और बृहस्पति देवता वाली तीसरे सवन में है। (तत् यत् एतम् ऐन्द्राबार्हस्पत्यं तृचम् अन्त्यम् ऐन्द्राजागतं तृचं शंसति, तत् एनं स्वे एव आयतने प्रीणाति) सो जो इस इन्द्र और बृहस्पति वाले तृच और पिछले इन्द्र देवता वाले जगती [वा त्रिष्टुप्] छन्द के तृच को बोलता है उससे इस [इन्द्र] को ही अपने स्थान पर वह प्रसन्न करता है । (स्वयोः देवतयोः कामं नित्यम् एव परिदध्यात्, कामं तृचस्य

हारेण (अनुष्टुप्) स्तोभति अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । अनु+ष्टुभ स्तम्भे स्तुतौ च—क्विप् । निरन्तरस्तुतिशीला । वाक्—निघ० १ । ११ । (द्रप्सः) वृतवदिवचि० (उ० ३ । ६२) दृप हर्षमोहनयोः, गर्वे च—सप्रत्ययः । गर्ववान् (अंशुमतीम्) मृगय्वादयश्च (उ० १ । ३७) अंश विभाजने—कुः । विभागवतीं सीमायुक्तां नदीम् (अव अतिष्ठत्) अवस्थितवान् (उत्सृष्टम्) त्यक्तम् (गुल्महः)

उत्तमया) अपने ही दोनों देवताओं के [तृच से] चाहे नित्य ही पूरा करे, चाहे तृच की सबसे पिछली ऋचा से [पूरा करे] ॥

(तत् आहुः, षष्ठे अहनि संशंसेत्, न संशंसेत्) फिर लोग कहते हैं— छठे दिन में [शिल्पसूक्तों को] मिलाकर बोले, [अथवा] न मिलाकर बोले। (कथम् अन्येषु अहःसु संशंसति कथम् अत्र न संशंसति इति) कैसे दूसरे दिनों में वह मिलाकर बोलता है और कैसे यहाँ [छठे दिन में] वह नहीं मिलाकर बोलता। (अथो खलु आहुः न एवं संशंसेत्) [उत्तर] तब वे कहते हैं—वह मिलाकर न बोले। (स्वर्गः वै लोकः षष्ठम् अहः, असमाः ये [= असमः यः] वै स्वर्गः लोकः, कश्चित् वै स्वर्गे लोके शमयति इति) स्वर्ग ही लोक छठा दिन है, वह असम [सबके लिये असमान अर्थात् न मिलने योग्य] है जो स्वर्ग लोक है, कोई ही [पुण्यात्मा] स्वर्ग लोक में शान्ति पाता है। (तस्मात् न संशंसति) इसलिये वह मिलाकर नहीं बोलता। (यत् एव न संशंसति, तत् स्वर्गस्य लोकस्य रूपम्) जो वह मिलाकर नहीं बोलता, वह स्वर्ग लोक का रूप है। (यत् उ एव एनाः संशंसति, यत् नाभानेदिष्ठः बालखिल्यः वृषाकपिः एवयामरुत् एतानि वै अत्र उक्थानि भवन्ति, तस्मात् न संशंसति) जो ही वह इन [ऋचाओं] को मिलाकर बोलता है, जो नाभानेदिष्ठ, बालखिल्य, वृषाकपि और एवयामरुत् [कण्डिका ८] हैं, यह ही यहाँ [छठे दिन वाले यज्ञ में] उक्थ [प्रधान स्तोत्र] हो जाते हैं, इसलिये [इनको] मिलाकर न बोले। (ऐन्द्रः वृषाकपिः ऐतशः प्रलापः सर्वाणि छन्दांसि उपाप्तः यत् ऐन्द्राबार्हस्पत्या तृतीयसवने) इन्द्र देवता वाला वृषाकपि और ऐतश प्रलाप [सूक्त] सब छन्दों को प्राप्त हैं, जो इन्द्र और बृहस्पति देवता वाली [स्तुति] तीसरे सवन में है (तत् यत् एतं तृचम् ऐन्द्राबार्हस्पत्यं सूक्तं शंसति, ऐन्द्राबार्हस्पत्या परिधानीया, विशो अदेवीरभ्याचरन्तीः इति) सो जो इस तृच इन्द्र और बृहस्पति देवता वाले सूक्त को वह बोलता है, वह इन्द्र बृहस्पति वाली परिधानीया [समाप्ति सूचक ऋचा] है—विशो अदेवीरभ्याचरन्तीः......अथ० २०। १३७। ९ पाद ३, ४ यह बोली जाती है। (अपरजनाः ह वै अदेवीः विशः) [इस ऋचा में] बैरी लोग ही कुव्यवहार वाली प्रजायें हैं। (अस्य हि अपरजनं भयं न भवति, शान्ताः क्लृप्ताः प्रजाः सहन्ते, यत्र एवंविदं शंसति यत्र एवंविदं शंसति इति ब्राह्मणम्) उस [पुरुष] को बैरी से उत्पन्न भय नहीं होता है,

---

गुड वेष्टने रक्षणे च—मक्+हन हिंसागत्योः डः। शत्रुसेनानाशकः (परिदध्यात्) समापयेत् (संशंसेत्) ऐकाहिकानि सूक्तानि सम्भूय शंसेत् (शमयति) शान्ति तृप्ति प्राप्नोति (उक्थानि) प्रधानस्तोत्राणि (परिधानीया) समाप्तिक्रिया (विशः) प्रजाः (अदेवीः) कुव्यवहारवतीः (अभि) सर्वतः (आचरन्तीः) विचरन्तीः (अपरजनम्) शत्रुजनितम् (क्लृप्ताः) समर्थाः (एवंविदम्) विद ज्ञाने—क्विप् सम्पदादिः। एवं ज्ञानम् ॥

[उसकी] शान्ति युक्त समर्थ प्रजायें [वैरी को] हराती हैं, जहाँ ऐसे ज्ञान को वह बोलता है, जहाँ ऐसे ज्ञान को वह बोलता है--यह ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] है [द्विरावृत्ति ग्रन्थ समाप्ति सूचक है] ।। १६ ।।

भावार्थः—जो चतुर मनुष्य समझ बूझ कर शुभ कामों को अन्त तक पहुँचाते हैं वे शत्रुओं को हटाकर प्रजा को सुखी करके यश पाते हैं ।। १६ ।।

विशेषः १--इस कण्डिका को ऐतरेय ब्राह्मण ६ । ३६ और ६ । २६ से मिलाओ ।।

विशेषः २—प्रतीक वाले एक एक मन्त्र अर्थ सहित लिखे जाते हैं, शेष मन्त्र वेद में देखो ।।

१, दाधिक्री ऋचा—(दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत्—अथ० २० । १३७ । ३) । (दधिक्राव्णः) चढ़ा कर चलने वाले वा हींसने वाले, (जिष्णोः) जीतने वाले, (वाजिनः) वेग वाले (अश्वस्य) घोड़े के (अकारिषम्) कर्म को मैंने किया है। वह [कर्म] (नः) हमारे (मुखा) मुखों को (सुरभि) ऐश्वर्य युक्त (करत्) करे और (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ावे ।।

२, पावमानी तृच—(सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः । पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः-अथ० २० । १३७ । ४–६, ऋ० ९ । १०१ । ४—६, साम० उ० २ । २ । तृच १५) । (सुतासः) निचोड़े हुये, (मधुमत्तमाः) अत्यन्त ज्ञान करने वाले, (मन्दिनः) आनन्द देने वाले, (पवित्रवन्तः) शुद्ध व्यवहार वाले (सोमाः) सोम [तत्त्वरस] (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिए (अक्षरन्) बहे हैं, (मदाः) वे आनन्द देने वाले [तत्त्व रस] (वः) तुम (देवान्) विद्वानों को (गच्छन्तु) पहुँचें ।।

३, ऐन्द्राबार्हस्पत्य तृच—(अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः । आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त— अथ० २० । १३७ । ७—९, ऋ० ८ । ९६ [सायण भाष्य ८५] । १३–१५, साम० पू० ४ । ४ । १) । (द्रप्सः) घमंडी, (कृष्णः) कौवा [के समान निन्दित लुटेरा शत्रु] (दशभिः सहस्रैः) दस सहस्र [बड़ी सेना] के साथ (इयानः) चलता हुआ (अंशुमतीम्) विभाग वाली [सीमा वाली नदी] पर (अव-अतिष्ठत्) ठहरा है।

(नृमणाः) नरों के समान मन वाले (**इन्द्रः**) इन्द्र [बड़े प्रतापी शूर] ने (**तम् धमन्तम्**) उस हांफते हुये को (**शच्या**) बुद्धि से (**आवत्**) बचाया है और (**स्नेहिताः**) अपनी मारु सेनाओं को (**अप अधत्त**) हटा लिया है ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम ***श्रीसयाजीराव गायक वाडाधिष्ठित*** बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन ***श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना*** अथर्ववेदभाष्यकारेण कृते गोपथब्राह्मणभाष्य उत्तरभागे षष्ठः प्रापाठकः समाप्तः ॥

अयं प्रपाठको ग्रन्थश्च प्रयागनगरे भाद्रमासे कृष्णजन्माष्टम्यां तिथौ १९८१ तमे [एकाशीत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे सुसमाप्तिमगात् ॥

[मुद्रितम्—मार्गशीर्षकृष्णा ८ संवत् १९८१ वि० ता० १९ नवम्बर सन् १९२४ ई० ॥]

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग,
[अलाहाबाद]
भाद्रकृष्ण ८ संवत् १९८१ वि०
ता० २२ अगस्त १९२४ ई० ॥

जन्म, कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५
विक्रमीय [ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी]
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर—मडराक,
जिला अलीगढ़ ॥
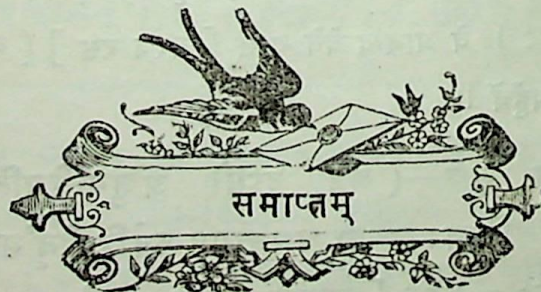
ओ३म्

गोपथब्राह्मण भाष्य में वेदमन्त्र, ब्राह्मण वचन आदि की वर्णानुक्रमणसूची ।।

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० १९।६२।१ ॥

प्रिय मोहि करौ देव तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले औ शूद्र और अर्य में ॥

Make me beloved the Gods,
beloved among the princes, make.
Me dear to every one who sees,
To sudra and to Aryanman,

Griffith's Trans,

Atharva 19. 62. I

संकेत सूची

सङ्केत	सङ्केत विषय
अ० अथर्व०	अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र
अष्टा०	अष्टाध्यायी अध्याय, पाद, सूत्र
उ०	उणादिकोष, पाद सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित)
ऋ० ऋग्०	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण, पञ्चिका, कण्डिका
गो०ब्रा०उ०	गोपथ ब्राह्मण उत्तरभाग प्रपाठक कण्डिका
गो०ब्रा०पू०	गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग प्रपाठक कण्डिका
ज०सं०	जर्मनसंस्करण
निघ०	निघण्टु, अध्याय, खण्ड (यास्क मुनिकृत)
निरु०	निरुक्त अध्याय खण्ड (यास्क मुनिकृत)
पा०	पाणिनि व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय पाद सूत्र
पू० सं०	पूर्व संस्करण
य० यजु०	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र
वा०	वार्तिक
श० क० द्रु०	शब्दकल्पद्रुम कोष (राजा राधाकान्त देव बहादुर विरचित)
सा० वे० उ०	सामवेद, उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच
सा० वे० पू०	सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र
( )	इस [illegible]ष्ठ में मूल ग्रन्थ के पद हैं।
[ ]	ऐसे [illegible] के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं।